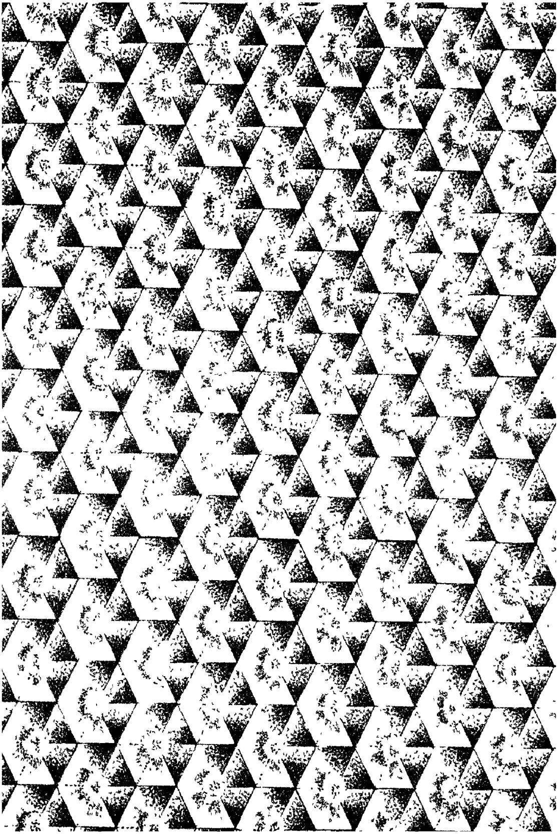


卐 श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति-पिन्डवाडा-संचालितायां

आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर-कर्मसाहित्य-जैन-ग्रन्थमालायां द्वितीयो (२) ग्रन्थः

बन्धविहाणे

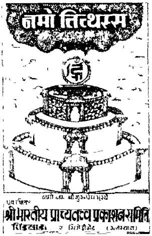
तत्थ

मूलपयडि-

ठिइ-बंधो

(मूलप्रकृति-स्थितिबन्धः)

'प्रेमप्रभा' टीका-समलङ्कृतः



प्रेरका मार्गदर्शकाः संशोधकाश्च :—

सिद्धान्तमहोदधि—कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समितिः, पिन्डवाडा ।

प्रथम आवृत्ति ५०० प्रति	मूल्य २५) रु०	वीर संवत २४९२ विक्रम संवत २०२२

※ प्राप्तिस्थान ※

१. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति,
C/o रमणलाल लालचन्द,
२३४/१३७ जवेरी बजार, बम्बई २

•

२. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति,
C/o शा. समरथमल रायचन्दजी,
पिंडवाड़ा, स्टे० सिरोहीरोड (राज०)

•

३. शा. मनरूपजी अचलदास,
९, मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २

•

४ शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल,
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद

•

मुद्रक—

फार्मः– २ थी ७, ६ थी १९
अजन्ता प्रिंटर्स, जयपुर,
(राजस्थान)

शेषफार्म – ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस,
पिन्डवाड़ा, स्टे. सिरोहीरोड
[राजस्थान]

—: पदार्थसंग्रहकाराः :—

कर्मशास्त्रधुरीण-गच्छाधिपा-ऽऽचार्यदेव--श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वर-विनीत विनेय-प्रभावक-प्रवचनकार-पंन्यामप्रवर-श्रीभानुविजयगणिवर्य-विनेयमुनिवर्यश्री-धर्मघोपविजयान्तिषदो विद्वद्वर्य-गीतार्थमुनिश्री जयघोषविजयाः, पंन्यामप्रवरश्री-भानुविजयगणिवर्य-विनेया मुनिश्री-धर्मानन्दविजयाः, गच्छाधिपतिविनीतविनेय-गीतार्थमूर्धन्य-पंन्यामप्रवर-श्रीहेमन्तविजयगणिवर्य-विनेयमुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री-राजशेखर-विजय-शिष्याणवो मुनिश्रीवीरशेखरविजयाश्च ।

✶

—: मूलगाथाकाराः :—

प्राकृतविशारदा मुनिश्रीवीरशेखरविजयाः ।

✶

— टीकाकारः :—

पंन्यामपवरश्री-भानुविजयगणिवर्य-विनेयरत्न-स्वर्गत-पंन्यामप्रवरश्री-पद्मविजयगणिवर-विनेय-मुनि जगच्चन्द्रविजयः ।

✶

— संशोधकाः —

कर्मशास्त्रविशारद-गच्छाधिपति-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टप्रभावका आगमप्रज्ञा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद् विजयजम्बूसूरीश्वराः पदार्थसंग्रहकारमुनिप्रवराश्च ।

First Edition
Copies 500

Price
Rs. 20/-21

A. D. 1966

AVAILABLE FROM :

1. **BHARATIYA PRACHYATATTVA PRAKASHANA SAMITI,**
C/o Shah Ramanlal Lalchand,
135/37 Zaveri Bazzar,
Bombay-2.

★

2. **BHARATIYA PRACHYATATTVA PRAKASHAN SAMITI,**
C/o Shah Samarathmal Rayachandji,
PINDWARA, [St Sirohi Road]
(Rajasthan)

★

3. Shah Manarupji Achaldas,
2, Maskati Market,
Ahmedabad-2.

★

4. Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
Ahmedabad-2.

★

Printed by :

Formes-2 to 7 & 9 to 19
Ajanta Printers, Jaipur, [Raj.]

Remaining :
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA,
(St. Sirohi Road) Raj.

Acharyadeva--Shrimad-Vijaya--Premasurishwara-Karma-Sahitya-Granthamala
GRANTH No. 2.

BANDHA VIHANAM
MULA PAYADI
THIEEBANDHO

[Along with **"PREMA PRABHA"** commentary]
By
GROUP OF DISCIPLES

卐

Inspired and Guided by

His Holiness Acharya Shrimad Vijaya
PREMASURISWARJI MAHARAJA
the leading authority of the day
on Karma philosophy.

Bharatiya Prachya Tattva Prakashana Samiti, Pindwara.

– – सम्पादकीय – –

अनन्तउपकारी भवोदधितारक दीर्घसंयमी सिद्धांतमहोदधि परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् **विजयप्रेमसूरिश्वरजी महाराजानी** कृपामयी आज्ञाथी **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रथनी प्रेमप्रभाटीकानुं** आलेखन देव-गुरु कृपाए मारा हाथे थयाथी धन्यता अनुभवु छु, ते साथे पूज्यश्रीनी कृपाए प्राप्त थयेली ते श्रुतसाहित्यना सम्पादननी आ प्रथम तक पण मारा जीवनने कृतार्थ करी रही छे.

मारा पूज्य परमगुरुदेव तपोनिधि पन्यासप्रवर श्री **भानुविजयजी** गणिवर्यना महत्वना सूचनो तेमज बीजा अनेक मुनिभगवंतोनी सहायथी सम्पादन सन्तोषप्रद थइ शक्युं छे. मारा परमउपकारी स्व० गुरुदेव पू० पंन्यासप्रवरश्री **पद्मविजयजी** गणिवर्य आ टीकाग्रंथना आलेखन वखते विद्यमान हता. अने तेओश्रीनी प्रेरणा अने प्रोत्साहननुं पण अपूर्व बल एमां हतुं.

ग्रन्थनु आलेखनकार्य चालुं हतुं त्यारेज परमपूज्यतारक सिद्धान्तमहोदधि गच्छाधिपति आचार्यदेव वांची शके तेवा मोटा अक्षरोमां प्रेसकॉपी कराववामां आवी, तेनुं पूज्यपाद आचार्यभगवते सूक्ष्मदृष्टिए अवलोकन करी योग्य सुधारा बधारा सूचवी महान उपकार कर्यो.

पूज्य आगमप्रज्ञ आचार्यदेव श्रीमद् **विजयजंबूसूरीश्वरजी महाराजे** तथा कर्मसाहित्यना प्रखर-विद्वान पूज्य **मुनिराजश्री जयघोषविजयजी महाराज**, पूज्य मुनिराजश्री **धर्मानन्दविजयजी महाराज** तथा **मुनिश्री वीरशेखरविजयजीए** पण ग्रन्थनुं वांचन करी अशुद्धिओनुं समार्जन करी आपी उपकृत कर्यो छे.

महेसाणा जैनश्रेयस्करमंडळना प्राध्यापक पंडितवर्य सुश्रावक **पुखराजजी**, तथा वढवाणशहेरनी पाठशाळाना प्राध्यापक सुश्रावक पडित **अमुलखभाइ अने** अमदावाद श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य **जैनपाठशाळाना** प्रधानाध्यापक सुश्रावक पंडित **धीरुभाईए** पण फर्माओ वांची दृष्टिदोष वगेरे कारणे रही गयेली भूलो खूब काळजीथी सुधारी छे. ए पण धन्यवादार्ह छे.

आ ग्रन्थसर्जनमां पूज्य संयमत्यागतपोमूर्ति आचार्यदेवेशनी पुण्यप्रेरणा, हार्दिकलागणी परमकृपा अने उत्साहदाननी हूफ छे पदार्थसंग्रहकार मुनिभगवंतोनो अवर्णनीय सहयोग छे सर्जन सम्पादनमां आशरे चारवर्षना समयनो भोग छे.

गाथा, गाथाना प्रतिको, अधिकारो अने द्वारोना शिर्षको अने शास्त्रपाठोनी अलगता माटे तेमज वाचकोनी अनुकूळता माटे मोटा नाना टाइपोनी पसंदगी करयामां आवी छे. विषयनो रहस्यार्थ, घटना के विस्तरार्थना संबोधक 'इदं तु बोध्यम्' 'इदमत्र हृदयम्' 'एतदुक्तं भवति' 'भावार्थः पुनरयम्' 'तथाहि' 'तद्यथा' 'अयमत्र

विशेषः' वगेरे शब्दो तथा शंका-समाधानना सूचक 'ननु' 'इति चेद्' वगेरे पदो वाचकोने शीघ्र नजरे चढे तेमाटे ते ब्लेकटाईपमां राख्या छे.

२७ थी ६७ आसपासना ४० फर्मा पिंडवाडा ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेसमां अनेक मासना टुंकसमयमां छपाया हता. तेना छेल्ला प्रूफनुं वांचन तथा मूळकोपी साथे मेळववाना कार्यमां पूज्य मुनिराजश्री अशोकविजयजी महाराजे सारी सहाय करी हती. ते सिवायना फर्माओनां प्रूफोमां पदार्थसंग्रहकार मुनिवर्योनी अने शुद्धिपत्रकादिना फर्माओमां मारा गुरुबंधु पूज्य मित्रानंदविजय महाराजनी पण सहाय घणी उपकारक निवडी छे.

ग्रंथना सम्पादनकार्यथी सतत स्वाध्याययोग, चित्तनी अेकाग्रता, दीर्घकाळ सुधी अेकज आसने बेसी कार्य करवानी स्थिरता, वारंवार प्रूफवांचनथी ग्रंथना समग्रविषयनुं वधुनेवधु विशद दर्शन आवा अनेक लाभो थया उपरांत आगमप्रभाकर उदारमनस्क मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराज तरफथी जेसलमेरना भंडारनी कर्मप्रकृतिचूर्णी अने तेना टीप्पणनी फोटोग्राफी हस्तप्रतिओनना वांचननी तक मळी.

हवे जिज्ञासु मुमुक्षुजनो जैनशासनना निधानरूप आ अमूल्यशास्त्रनो स्वाध्यायादिथी अधिकाधिक लाभ उठावे अने श्रेय साधे अेज अेक मंगलकामना.

अन्ते प्रूफ संशोधन अने शुद्धिपत्रक घणी चोकसाईथी करवा छतां दृष्टिदोष, प्रेसदोष, छद्मस्थदोषथी तथा पहेल पहेलो संपादननो प्रसंग होई ते कारणे रही जवा पामेल भूलो वाचकवर्ग सुधारीने वांचे अने मने जणावे एवी आशा राखुं छुं.

प्रान्ते पूज्यपाद करुणासिंधु आचार्यदेवो, मारा पूज्यगुरुदेवो, पदार्थसंग्रहकार पूज्य मुनिवरो, पूज्य अशोकविजय महाराज वडिलगुरुबंधु पूज्य मित्रानंदविजय महाराज, पंडितवर्यो तथा अन्यसहायक मुनिवरोना धर्मऋणना बदलामां आग्रंथनी प्रशस्ततानो यश तेमने अर्पुं छु.

लि०

१३, श्रीपालनगर आश्रमरोड
वि० सं० २०२२ पोष वद १३
अहमदाबाद-१३.

सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर-
अन्तेवासी पंन्यासप्रवर भानुविजयगणिवर्यनो प्रशिष्य,
स्वर्गतपन्यासपद्मविजयगणिवरपादपद्मभ्रमर
—मुनि जगच्चन्द्रविजय.

卐

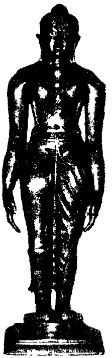
卐 अनुक्रम 卐

पिण्डवाडा (राजस्थान) ना वीरविक्रमप्रासादना मूळनायक आसन्नउपकारी चरमतीर्थपति

श्री महावीरस्वामी



यत्पादभक्त्या भुवि भव्यलोकाः, सत्कीर्तिकान्त्यादियुता भवन्ति ।
पुष्णातु शं वो जिनवर्धमानः, श्रीपिण्डवाडापुरमण्डनः सः ॥१॥





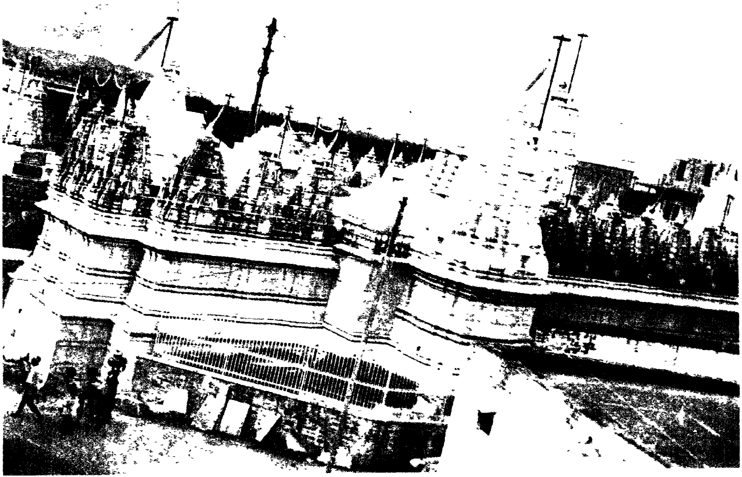






पिन्डवाडा (राजस्थान) ना वीरविक्रमप्रासादमां रहेलां केटलांक अतिप्राचीन
अनुपम शिल्पयुक्त प्रभावशाली पञ्चधातुमय जिनबिम्बो

जे पिंडवाडा श्री संघ जैन संघ तरफथी मळेल ज्ञानखातानी उदार सहायथी आ 'स्थितिबंध' ग्रंथरत्ननु प्रकाशन थयु छे ते पिंडवाडा (राजस्थान) नो बावनजिनालययुक्त गगनचुंबी श्री वीरविक्रमप्रासाद



ताजेतरमां जेनो जीर्णोद्धार पिंडवाडा श्रीसंघे कराव्यो छे. यात्रिको माटे आ एक दर्शनीय अने आराध्य यात्राधाम छे.

प्रकाशक की ओर से

★

तपोगच्छगगनदिनमणि आबालवृद्ध तपस्वी विद्वान् शासनप्रभावक करीबन २५० मुनिगणके माननीय नेता दीर्घसंयमी सिद्धान्तमहोदधि पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी म० सा० ने वि० सं० २०१५ का चातुर्मास ५४ मुनिवरों के साथ सुरेन्द्रनगर में किया। वहाँ आपके शिष्यप्रशिष्यों के आगमादिशास्त्रों के पठनपाठन का अवलोकन कर कोई भी अत्यन्त प्रसन्न हुए बिना व बारबार जिनेश्वरदेव व जिनशासन के ज्ञान व चारित्रमार्ग का मन ही मन अनुमोदन किए बिना नहीं रह सकता था।

इसी अर्से में **'जैन साहित्य विकास मण्डल'** अंधेरी-बम्बई के मेनेजिंग ट्रस्टी माननीय महाशय **अमृतलाल कालिदास दोशी B. A.** जो कि पूज्यश्री के मुनिओं द्वारा कुछ साहित्य का संशोधन करवाने के लिए आये थे, प्रासंगिक बातचीत से कर्मसाहित्य के विस्तृत-सर्जनको जानकर आपकी निश्रा में लिखे गये व भविष्य में लिखे जाने वाले 'खवगसेढी' आदि कर्मसाहित्य को प्रकाशित करने का सहर्ष स्वीकार किया। पूज्य आचार्यदेवश्री का वि० सं० २०१६ का चातुर्मास शिवगंज में और वि० सं० २०१७ का चातुर्मास पिण्डवाडा में हुआ। उन दिनों में भी श्रीयुत अमृतलाल कालीदास भाई पिण्डवाडा आए और कर्मसाहित्य के प्रकाशन की पूज्यश्री से अनुमति प्राप्तकर बम्बई गए व अपनी 'जैन साहित्य विकास मण्डल' संस्था की मीटिंग बुलाकर प्रस्तुत साहित्य अपनी संस्था की ओर से प्रकाशित करवाने का निर्णय किया।

बड़े सौभाग्य की बात है कि पूज्यश्री से कर्मसाहित्यविषयक परामर्श करते ही पिण्डवाडा के धर्मप्रेमी भाईयों को पूर्वकालीन परनारीसहोदर परमार्हत् श्रीकुमारपाल महाराजा, श्रीवस्तुपाल, तेजपाल और ३६००० सोनामहोरके न्योछावर से श्रीभगवतीसूत्र का श्रवण करने वाले मांडवगढ के महामात्य श्रीपेथडशाह आदि श्रुतभक्त महाश्रावकों का स्मरण हो आया और श्रुतभक्ति से प्रेरित हो पूज्यश्री से प्रस्तुतकार्य जिसे कि श्रीयुत अमृतलाल कालीदास दोशी ने करवाने का स्वीकार किया था, पिंडवाडा के भाईयों ने करवाने की नम्र प्रार्थना की। प्रथम तो पूज्यश्री ने पिंडवाडा के भाईयों की मांग का स्वीकार न किया क्योंकि अमृतलालभाई से साहित्य के प्रकाशनादि संबंधी बातचीत पहेले हो चूकी थी मगर जब पिंडवाडा के साधर्मिक बंधुओं का अत्यन्त आग्रह व उत्साह देखा तो आपने श्रुतभक्ति का अपूर्व लाभ प्रदान कर उन बन्धुओं को अनुगृहीत किया। इस मंगल कार्य में पिण्डवाडा श्रीसंघ का पूर्ण सहयोग रहा।

प्रस्तुत कर्मसाहित्य के प्रचार-प्रकाशनादि विराट कार्य की जिम्मेवारी को समझकर पिण्डवाडा के उत्साही भाईयों ने-

(१) शेठ रमणलाल दलसुखभाई खंभात
(२) शा समरथमल रायचंदजी पिण्डवाडा
(३) शा लालचंद छगनलालजी ,,
(४) शा खूबचंद अचलदासजी ,,
(५) शा भूरमलजी सरेमलजी पिण्डवाडा
(६) ,, मन्नालाल रिखबाजी लुणावा
(७) ,, हिम्मतमल रुघनाथमलजी बेडा

इन ७ सदस्यों की वि० सं० २०१८ में 'भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति' की स्थापना की। समिति के सदस्यों ने कर्मसाहित्य को जयपुर और ब्यावर में छपवाना शुरु किया करीब तीन साल काम चलता रहा, काम सुन्दर होने पर भी जिस गति से हो रहा था सम्भव है उस गति से आज तक एक ग्रन्थ भी पुरा नहीं छप पाता अतः छपाई शीघ्र व सुन्दर हो इस वास्ते समिति के सदस्यों ने समिति का निजी प्रेस पिण्डवाडा में लगवाया। साहित्य व छपाई आदि का कार्य समिति के सदस्यों के शुभ प्रयत्न से ठीक तरह से चलता था व सदस्यों की उदारता व प्रयत्न से आर्थिक समस्या भी हल हो रही थी। मगर कर्मसाहित्य का प्रकाशन व प्रचार आदि का प्रस्तुत कार्य अति विशाल होने से सदस्यों की संख्या बढाना आवश्यक समझकर सं० २०२१ की साल में शेठ जीवतलाल प्रतापशी आदि महानुभावों को समिति के सदस्य बनाए—

आज हमारी समिति का ट्रस्टीमण्डल इस प्रकार है—

१	शेठ रमणलाल दलसुखभाई (प्रमुख)	खंभात
२	शेठ माणेकलाल चुनीलाल	बम्बई
३	शेठ जीवतलाल प्रतापशी	बम्बई
४	शा० खूबचंद अचलदासजी	पिण्डवाडा
५	शा० समरथमल रायचंदजी (मंत्री)	पिण्डवाडा
६	शा० शान्तिलाल सोमचन्द (भाणाभाई) (मंत्री)	खंभात
७	शा० लालचन्द छगनलालजी (मंत्री)	पिण्डवाडा
८	शेठ रमणलाल वजेचन्द	अहमदाबाद
९	शा० हिम्मतमल रुगनाथमलजी	बेडा
१०	शेठ जेठाभाई चुनीलाल घीवाले	बम्बई
११	शा० इन्द्रमल हीराचंदजी	पिण्डवाडा
१२	शा० मन्नालालजी रिखबाजी	लुणावा

ज्ञानपिपासु जनता को जानकर हर्ष होगा कि स्वल्पकाल में **'खवगसेढी'** व **'ठिइबंधो'** ये दो ग्रन्थरत्न हम पाठकों के करकमल में अर्पित कर रहे हैं **'रसबंधो'** तथा **'पएसबंधो'** जो दो ग्रन्थ छप रहे हैं वे भी स्वल्पसमय में पाठकों के करकमलों में अर्पित किए जायेंगे।

आत्मकल्याण में हेतुभूतस्वाध्याय के लिये प्रस्तुत ग्रन्थराशि अत्यन्त उपयोगी है इसका विशेष खयाल ग्रन्थों की प्रस्तावना व विषयपरिचय पढने पर पाठक पा सकेंगे।

आत्मिक शान्ति देने वाले तात्त्विक आध्यात्मिक ग्रन्थों का आलेखन करके मुनिभगवंतों ने अपना कर्तव्य बजाया है। आलेखित ग्रन्थों को ताडपत्र व ताम्रपत्र आदि पर प्रतिलेखित करवाकर ज्ञानभंडारों में सुरक्षित रखना व यन्त्रालय आदि द्वारा मुद्रित करवाकर मुमुक्षुजनसमाज में उसका प्रचार करना यह हमारा गृहस्थों का फर्ज है। शास्त्रों में सुनते हैं कि सम्यग् ज्ञानको पढने पढाने व लिखने लिखाने वालों की भाँति उसका रक्षण व प्रचार करने वाले भी केवलज्ञानादि आत्मरिद्धि के भोक्ता बनते हैं। इसी शास्त्रवचन को स्मरण में रखकर हमने इन शास्त्रग्रन्थों के प्रकाशन का प्रस्तुत कार्य हाथ में लिया है। ग्रन्थों का प्रकाशन व प्रचारादि सुचारु रूप से हो यह हमारी समिति का उद्देश है। हम गच्छाधिपति सिद्धान्तमहोदधि परमपूज्य आचार्य भगवंत **श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज से अत्यन्त उपकृत** हैं जिन्होंने जैनशासन के निधानरूप इस भव्यातिभव्य कर्मसाहित्य का सर्जन करवाया व जिनकी असीम कृपा से हमने श्रुतभक्ति का अपूर्व अलभ्य लाभ पाया, उन पुण्यपुरुष के पुनीत-चरणों में वन्दन कर हम अपनी आत्मा को धन्य मानते है।

पदार्थसंग्रहकार विद्वान मुनिवरों, **गाथाकार** मुनिराज, **टीका-विवेचनकार** मुनिराज इन सब महात्माओं को वन्दना करते हैं। जिन्होंने अथाग परिश्रम लेकर कर्मसिद्धांत को विशद रूप दिया है। तथा अपने अमूल्यसमय का व्यय करके इस 'स्थितिबन्ध' ग्रन्थ की सुन्दर-विशद प्रस्तावना लिखकर पू० **मुनिराज श्री मित्रानन्दविजयजी** महाराज ने बडा अनुग्रह किया है इन सब पूज्य पुरुषों के प्रति सवन्दन कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं इस 'स्थितिबन्ध' ग्रन्थ के प्रकाशन में रू० १००००) जैसे प्रचुर ज्ञानद्रव्य का विनियोग कर श्री पिण्डवाडा श्वे० मू० जैन संघ ने हमारी समिति को बड़ा सहयोग दिया है। हम इस पूजनीय श्रीसंघ के आभारी हैं। इस प्रकाशन कार्य में जिन्होंने अपने तन मन धन का स्वल्प भी व्यय किया है उन सबको भी बारबार धन्यवाद।

इस अवसर पर **ज्ञानोदय प्रेस** के मैनेजर श्रीयुत **फतेहचन्दजी जैन** व प्रेसकॉपी करने वाले **श्री पन्नालालजी** सी० जैन बाफना व प्रेस के अन्य कर्मचारी भी स्मृति पथ में आ रहे हैं जिन्होंने इस कार्य में आत्मीयता प्रकट की है।

हस्ताक्षर

पिन्डवाडा
स्टे० सिरोहीरोड (राजस्थान)
ब्राच—१३५/३७ जोहरीबजार
बम्बई २

१ शा० लालचन्द छगनलालजी (मन्त्री)
२ शा० शान्तिलाल सोमचन्द (भाणाभाई) चोकसी (मन्त्री)
३ शा० समरथमल रायचन्दजी (मन्त्री)
भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन समिति.

प्रस्तावना

लेखकः-पूज्य विद्वान मुनिराजश्री मित्रानंद विजयजी महाराज

★

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा [राजस्थान] द्वारा संचालित आचार्यदेव श्रीमद्‌विजयप्रेमसूरीश्वर कर्मसाहित्य जैनग्रंथमाळाना द्वितीय पुष्प तरीके प्रगट थयेलो 'मूलपयडिठिइबंधो' [मूलप्रकृति-स्थितिबन्ध] ग्रंथ वाचकोना-दर्शकोना करकमलमां आवी रह्यो छे.

भा० प्रा० प्र० समिति, ग्रंथमाला तरफथी हाल मुख्य त्रण ग्रन्थो प्रकाशित करवानी तैयारी करी रही छे. १ खवगसेढी [क्षपकश्रेणि], २ उपशमनाकरण, ३ बंधविहाण [बन्ध-विधान]. आ त्रणमां बंधविहाण अेक महाकाय ग्रंथ छे. अेना लगभग १४ भाग पडे छे अेटले १४ मोटा पुस्तक [वोल्युम] प्रमाण आ ग्रंथ थशे.

बंधविधानमहाशास्त्र :—

प्रथमखण्ड	प्रकृतिबन्ध	
	भा० १ मूलप्रकृतिबन्ध	
	भा० २ उत्तरप्रकृतिबन्ध	
	भा० ३ ,, ,,	स्थानप्ररूपणा १
	भा० ४ ,, ,,	,, २
	भा० ५ ,, ,,	भूयस्कारादिबन्ध
द्वितीयखण्ड	स्थितिबन्ध	
	भा० १ मूलप्रकृति स्थितिबन्ध	
	भा० २ उत्तरप्रकृति स्थितिबन्ध	
	भा० ३ ,, ,,	भूयस्कारादिस्थितिबन्ध
तृतीयखण्ड	रसबन्ध	
	भा० १ मूलप्रकृति रसबन्ध	
	भा० २ उत्तरप्रकृति रसबन्ध	
	भा० ३ ,, ,,	भूयस्कारादिरसबन्ध
चतुर्थखण्ड	प्रदेशबन्ध	
	भा० १ मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध	
	भा० २ उत्तरप्रकृति प्रदेशबन्ध	
	भा० ३ ,, ,,	भूयस्कारादिप्रदेशबन्ध

आम आ ग्रन्थमालानो प्रथम सेट आशरे १६ ग्रंथपुष्पोनो थशे. प्रस्तुत **मूलपयडिठिइबंधो [मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध]** ग्रन्थ बंधविधान महाशास्त्रना बीजा खंडना प्रथमभागरूप छे. अेनी विद्वान मुनिराजश्री **वीरशेखरविजयजीओे रचेली ८७६ गाथाओ** प्राकृतभाषामां छे अने तेना उपर प्रेमप्रभा नामनुं **मुनिराज श्री जगच्चन्द्रविजयजीओे करेलुं** २०हजार श्लोकप्रमाण विस्तृत विवेचन-टीका संस्कृतमां छे. बन्धविधानना प्रथमखण्डनो प्रथमभाग **'मूलप्रकृतिबंध'** लखाईने तैयार थई गयो छे पण तेना लेखक मुनिराज श्री **गुणरत्नविजयजी 'खवगसेढी'** ना सम्पादनकार्यमां रोकायेला होवाथी ते ग्रंथ हवे पछी प्रगट थशे.

विश्वव्यवस्थानो विचार जैनदर्शने खूबज यथार्थदृष्टिथी कर्यो छे तेथीज जैनदर्शननी तात्त्विकता प्रत्ये विश्वना तत्त्वचिंतकोनुं मस्तक नमी पडे छे.

जैनदर्शने समजाव्युं छे के जगत १ जीव-आत्मा २. पुद्गल ३. धर्मास्तिकाय ४. अधर्मास्तिकाय ५. आकाशास्तिकाय अने ६. काळ-आ छ द्रव्यमय छे.

जीवद्रव्य-आत्मद्रव्य बीजाद्रव्योथी, यावत् शरीरथी पण स्वतंत्र अस्तित्व धरावे छे अने अे प्रमाणोथी साबीत छे. आ आत्मानी बाबतमां अनेक दृष्टिबिंदुथी प्रकाश पाथरतो यथार्थ **आत्मवाद**-जैनदर्शनमां मले छे.

आत्मद्रव्यना पण बे भेद छे.-१. मुक्तात्माओ २. संसारी आत्माओ. **मुक्तात्माओ कर्म**-मलरहित राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, देह, मन, वचन तेमज पुद्गलद्रव्यना संगमात्रथी रहित, अनन्तज्ञानादिमय अने स्फटिकरत्नवत् निर्मल आत्मस्वरूपने वरेला छे अने तेओ लोकना मस्तकस्थाने सिद्धशिला उपर लोकान्तने स्पर्शीने रहेला छे, **संसारीआत्माओनुं** मूलभूत-असलस्वरूप मुक्तात्माओ जेवुं होवा छतां अनादिकाळथी कर्ममलथी मलिन, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान तेमज सुखदुःखादि लागणीओने पराधीन, शरीरादि पुद्गलद्रव्यना संगवालुं छे. अेकेन्द्रियथी मांडी पंचेन्द्रियपणासुधीनी भिन्न भिन्न अवस्थाओमां अने संसारनी चारगतिओमां तेओ परिभ्रमण करी रह्या छे. संसारी जीवोनी आ विकृत अवस्था कर्माणुओना संबंधने आभारी छे. अनंतशक्तिने वरेलो, अनंतगुणथी भरेलो आत्मा पण कर्मनी पराधीनताने कारणे अज्ञान, रागद्वेषादि अनंतदोषमय अेवी भारे दयापात्र दशा अनुभवी रह्यो छे, आत्माना सहजस्वरूपने दबावी देनार कर्मसत्तानी अनंत जटिलताने विवेचतां **कर्मवाद-कर्मविज्ञाननी** अेक अनोखी देण जगतने अेकमात्र जैनदर्शने ज करी छे.

जीवमात्रना सुखदुःखमां अने संसारपरिभ्रमणमां मुख्यभाग भजवनार कर्म अने तेना ज्ञानविज्ञान**नी अर्थरूपे प्रथमप्ररूपणा अनंतउपकारी श्री तीर्थङ्करभगवंतोअे** करी अने **श्रीगणधरभगवंतोअे अेने सूत्ररूपे** गुंथी. चौदपूर्वमां अनेक स्थले कर्मवादनुं विज्ञान संगृहीत कर्युं. तेमांना बीजा आग्रायणीपूर्वना क्षणलब्धि (वचनलब्धि) नामनी पांचमी वस्तुना कर्मप्रकृति नामना चोथा प्राभृतमां थयेला कर्मवादना उद्धार अंगे **जुओ प्राचीनशतकचूर्णिनो शास्त्रपाठः**—

'किं, परिकम्म-सुत्त-पढमाणुओग-पुव्वगयचुलियामइयातो सव्वाओ दिट्ठिवायाओ कहेसि ? न इत्युच्यते-पुव्वगयाओ। किं उप्पायपुव्व अग्गेणिय जाव लोगबिंदुसाराओ त्ति एयाओ चोद्दस विहाओ सव्वाओ पुव्वगयाओ कहेसि ? न इत्युच्यते-अग्गेणियातो बीयाओ पुव्वातो ।......... खणलद्धीणामपंचमं वत्थुं तातो.........पंचमस्स वत्थुस्स चउत्थं पाहुडं कम्मपगडीनामधेज्जं ततो कहेमि ।

काळबळे पूर्वशास्त्रोनो विच्छेद थतो गयो तेम बहुश्रुतपूर्वाचार्यभगवंतोए अनेक विषयोपर 'पूर्व'शास्त्रना झरणारूप ग्रंथो रच्या एना विस्तृत विवेचनो लख्या अने ए रीते अगाधसागरसम पूर्वज्ञानना अंशरूप रहस्योने जीवंत राख्या. परंतु काळनी विकराळ फाळ जगतउपर पडी रही छे तेम ते ते काळना संयोगे घणुं रक्षण करवा छतां आ ज्ञाननो खजानो काळनो भोग बनतो ज रह्यो अने घणा मौलिक शास्त्रग्रंथोनो ह्रास अने नाश थतो रह्यो. छतां आपणा कंईक सद्भाग्ये कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह,प्राचीनकर्मग्रंथो, नव्यकर्मग्रंथो, शतक, शतकभाष्य, शतकचूर्णी, कर्मप्रकृतिचूर्णीनुं टीप्पण, सित्तरिचूण्णी, सप्ततिकाभाष्य, कषायप्राभृत, कषायप्राभृतचूर्णी, षट्खंडागम वगेरे कर्मसाहित्य तेमज एने अंगे सहायक श्रीभगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, जीवाजीवाभिगमसूत्र, वगेरे आगमग्रंथो तेमज लोकप्रकाश. जीवसमास आदि प्रकरणग्रंथो उपलब्ध थाय छे.

कर्मविषयक आ वाङ्मय आपणने कदाच घणुं लागशे अने कर्मविज्ञानने संगीनरीते समझवा पुरतुं लागशे पण एम नथी, कालना प्रभावे मतिमान्द्य पण गति करी रह्युं छे, बुद्धिनिधान पूर्वाचार्यभगवंतोना प्रौढ संस्कृत-प्राकृतभाषामां रचायेला ग्रंथो शब्दसंक्षिप्त अने अर्थगंभीर होय छे. ए महापुरुषोए शास्त्रग्रंथोमां जरुरी लागतुं विवेचन कर्या पछी दरिया जेवा कर्मविज्ञाननी एक एक वातने सूक्ष्मताथी तेमज ऊंडाणथी विचारवामाटे गत्यादिमार्गणाद्वारोनुं सूचन कर्युं छे.

१बीजा आग्रायणी पूर्वनी पांचमी क्षण(वचन-चयन)लब्धि नामनी वस्तुना कर्मप्रकृतिनामना चोथा-प्राभृतना चोवीस अनुयोगद्वारोमांना छट्ठा बन्धनद्वारना ४ विभाग पडे छे–१ बन्ध २ बन्धक ३ बन्धनीय ४ बन्धविधान. तेमांना ४ था बन्धविधानमा प्रकृतिबन्धादि चारे प्रकारना बन्धनुं निरूपण छे ते जेमां उद्धृत थयुं छे ते शतकचूर्णिना पाठनो भावार्थ—

'शुं परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत [चौदपूर्व] अने चुलिकामय समग्र दृष्टिवादमांथी उद्धृत-करीने शतकप्रकरणनुं निरूपण करशो ? ना, मात्र चोथा पूर्वगतमांथी.शुं उत्पाद आग्रायणी थी मांडी बिन्दुसार सुधीना चौदेपूर्वमांथी उद्धृत.........करशो ? ना, चौदमांना बीजा आग्रायणीपूर्वमांथी. शुं आठ वस्तुप्रमाण समग्र आग्रायणी पूर्वमांथी करशो? ना,आग्रायणी पूर्वनी पांचमी क्षणलब्धिवस्तुमांथी करीशुं. शुं पांचमीवस्तुना वीसेवीसप्राभृतमांथी करशो ? ना, चोथा कर्मप्रकृति नामना प्राभृतमांथी करीशुं. शुं कर्मप्रकृतिप्राभृतनां चोवीस अनुयोगद्वारो छे ते सर्वमांथी उद्धृत करशो ? ना, चोवीसमांथी छट्ठा बन्धद्वारना चोथा बन्धविधान अनुयोगद्वारमांथी उद्धृत करीने निरूपण करीशुं'.

आम कर्मविज्ञान पूर्वशास्त्रोमांथी उद्धृत थयुं छे. ए स्पष्टरीते साबीत थाय छे.

जुओ-कर्मप्रकृतिनो शास्त्रपाठ—

"करणोदयसंताणं सामित्तोघेहिं सेसगं णेयं।

गइआइमग्गणासुं संभवओ सुट्ठु आगमिय ॥५३॥"

अर्थ–आठकरण तेमज उदय अने सत्तानुं स्वामित्व ओघथी कह्युं. बाकीनुं बधुं गत्यादि-मार्गणाओमां ज्यां जे रीते घटे ते रीते पूर्वापर विचार करी जाणी लेवुं.

गत्यादिमार्गणाद्वारोमां विचारवामाटे आजनुं उपलब्ध कर्मसाहित्य आपणने भरपूरसामग्री पूरी पाडे छे. अे रीते कर्मविज्ञान-विषयनो विचार थाय तो सामान्यरीते मर्यादित लागतो अे विषय अतिशय विस्तृत प्रतीत थाय छे.

अे कर्मसाहित्योद्धारक महाविभूतिः—

परमपूज्य संघकौशल्याधार सिद्धांतमहोदधि सुविशालगच्छाधिपति आचार्यभगवंत श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा** जेम अेक विशुद्धसंयमना पालक महासंयमी छे, बहुश्रुत महान-ज्ञानी पुण्यपुरुष छे. अनेक आबालवृद्ध, शासनप्रभावक, विद्वान, संयमी अने उग्रतपस्वी शिष्य-रत्नोने तैयार करनार तेमज वर्तमानकाले शासननी अेक प्रौढविभूति छे, तेम सूक्ष्मातिसूक्ष्म अने गहन अेवा कर्मसाहित्यना मर्मज्ञ अद्वितीय महापुरुष छे. तेओअे वर्षोसुधी मखतत्याग साथे कर्म-शास्त्रोना वाचन-मनन-परिशीलन पछी अेना अंतस्थ महारसने चाख्यो छे.

श्रीठाणांगसूत्रादि शास्त्रग्रंथोमां धर्मध्यानना चारपाया (प्रकार)मां विपाकविचयने अेक पायो (प्रकार) कह्यो छे. द्रव्य-क्षेत्र-काळ-भाव अने भवनुं निमित्तपामी कर्मो केवी रीते बंधाय छे. अे कर्मोना शुभाशुभ केवा विचित्र फळो मळे छे तेनो उंडो विचार आ ध्यानमां समाय छे.

पूजनीय आचार्यभगवंते वर्षोसुधी दिवस रातो आवा ध्यान-चिंतन पाछळ पसार करी छे अने अेक नोंधपात्र आत्मरमणता अने कषायोनी मंदता अनुभवी छे.

गहनातिगहन कर्मशास्त्रोनी मर्मज्ञतानुं जैनशासननी परंपरामां अेक विशिष्ट गौरव मनायुं छे. सकळसंघमां मान्य कर्म **साहित्यना** महान **निष्णात तरीकेनी सुप्रसिद्धि तेओश्रीने** वरी छे. तेओश्रीए कर्मशास्त्रोना चिंतन-मननना परिपाकरूपे **कर्मसिद्धि, संक्रमकरण** भा. १-२, **मार्गणाद्वारविवरण** वगेरे मौलिकग्रंथोनी अनेक शास्त्रोना नवनीतरूपे सुबोधशैलीमां रचना करी. तेम छतां तेओश्रीने संतोष न हतो. तेओश्रीनुं अंतर झंखतुं हतुं के '**वर्तमानमां उप-लब्ध कर्मसाहित्य, आगमग्रंथो अने प्रकरणग्रंथोना आधारे सत्पदादिद्वारोमां तेमज गत्यादिमार्गणाद्वारोमां विस्तृत सरळ अने सुबोध शैलीमां कर्मशास्त्रोनुं नवसर्जन थाय, केटलाक विषम लगता पदार्थो चिंतन मननने अंते सुगम अने निर्णीत थाय तो जैनशासनना कर्मविज्ञाननी मौलिकता, विस्तार जगतने जोवा, जाणवा मळे. सेंकडो वर्षोसुधी ग्रंथारूढ नहि थयेलो परंपरागत आ वारसो**

भव्यजीवोने चिंतन-मननादि द्वारा कर्मनिर्जरामाटे लाभदायी निवडे अने आत्मकल्याणनुं अेक अंग बने' आ शुभमनोरथने सक्रियरूप आपवा वि० सं० २००४ ना खंभातना चातुर्मासमां तेओश्रीअे **'बंधनकरण'** उपर लखवानुं शरू कर्युं पण विशाल साधु-समुदाय, संघ अने शासननी अनेक शुभप्रवृत्तिओमां अे लेखनकार्यने वेग आपी शकायो नहि.

आ शुभकार्यमां शिष्योनो साथ :—

पोताना समग्र जीवनने सुविशुद्ध संयमना रंगे रंगी नाखनार आ चारित्रनिष्ठ महापुरुषने भोग-विलासना आ झेरीयुगमां पण भव्यात्माओने कठोरसंयमना मार्गे, अध्यात्मज्ञानना राहे सफल प्रयाण करावबानी जाणे लब्धि न वरी होय ! तेओश्रीनी शांत-प्रशान्त विरागमुद्राना दर्शन, चारित्रप्रभाव अने सत्प्रेरणाथी सेंकडो भव्यात्माओ संयमना पंथे प्रयाण करी चूक्या हता. सं० २००५-२००६ मां मुंबई अने पालीताणाखाते तेमज सं०२००७ २००८-२००९-२०१०-२०११-२०१२ नी सालमां मुंबई वगेरे क्षेत्रोमां संख्याबंध युवको तेमज कुटुंबोना, कुटुंबो पूज्य आचार्यभगवंतनी ज्वलंत वैराग्यप्रेरणाथी अने पूज्य प्रभावकप्रवचनकार गुरुदेव पं० **श्री भानुविजयजी गणिवर्यनी** वैराग्यरसतरबोळ धर्मदेशनाना श्रवणथी मुक्तिमार्गना पथिक बन्या. ते सर्वने दीक्षादान पछी ग्रहणशिक्षा अने आसेवनशिक्षा आपवानुं महत्त्वनुं कार्य पूज्य आचार्यभगवंते तथा तेओश्रीना शिष्यप्रशिष्यरत्नो **पू० पं० श्री हेमंतविजयजी गणिवर्य, पू० पं० श्री भानुविजयजी गणिवर्य** तथा **पू० पं० श्रीपद्मविजयजी गणिवरे** उपाडी लीधुं. आदर्शसाधुओ तैयार करवानी पूज्य आचार्य-भगवंतनी इच्छाना तेओ रजे रज पारखनारा हता. पूज्यश्रीनी छत्रछायामां त्रणे पंन्यासप्रवरोअे साधु-ओने ग्रहण-आसेवनशिक्षा आपवानुं कार्य खूब खंतथी कर्युं. तेओअे आपेली उपदेशमाळा-पुष्पमाळा, यतिदिनचर्या, यतिशिक्षा, धर्मरत्नप्रकरण, श्री महानिशीथसूत्र प्रथम बे अध्ययन, आचारांगसूत्र, नंदी-सूत्र, आवश्यकसूत्र, पाक्षिकसूत्रटीका वगेरेनी वाचनाओअे अपूर्व चेतना जगावी, तेनोज सुंदर प्रभाव छे के आजे आ मुनिवरो संयम, त्याग, तप, समितिगुप्तिना पालननी चीवट, आदर्श गुरुभक्ति, स्वाध्यायरतता आंतरमुखता, आज्ञापालकतादिगुणोथी शोभी रह्या छे.

संसारथी पराङ्मुख बनेला आ विरागी मुनिओ संयमसाधना अने श्रुतोपासनामां सुलीन बनी गया. थोडो अभ्यासक्रम आगळ वध्या पछी पू० आचार्यभगवंतनी इच्छा मुनिओने न्यायदर्शननुं अध्ययन कराववानी थई त्यारे **पू० गुरुदेव पंन्यासप्रवरश्री भानुविजयजी महाराजे** पूज्य आचार्यभगवंतने विनंति करी के न्यायना अध्ययनमाटे तो हुं बेठो छुं. आप कृपाळु कहेशो त्यारे करावीश, हमणां आप कर्मसाहित्यनो अभ्यास करावो तो मुनिओने आपनो आ खास विषय संगीन रीते मळी जाय. पूज्यपाद आचार्यदेवने ते ठीक लाग्युं तेथी पूज्य गुरुदेवे मुनिओने अेक अठवाडीयुं जैनशासनना आत्मा, कर्म, कर्मबंधना हेतुओ, गुणस्थानक, बंध, उदयादि उपर प्रकाश

पाथरती समजुती आपी. आ सात दिवसनी वाचनाअे कर्मवादनो सारो परिचय मुनिओने आप्यो. आ रीते सागर समा कर्मसाहित्यमां प्रवेशमाटे उत्साहित कर्या त्यारबाद पूज्य आचार्यभगवंते कर्मसाहित्यनु अध्ययन कराव्युं. बारमास जेटला समयमां तो छ कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रहना निष्णात बनावी दीधा.

पूज्यश्री पासे ते विषयनु तलस्पर्शी संगीन ज्ञान हतु. मुनिओनी बुद्धि कुशाग्र हती. विनयनी पात्रता हती. अध्ययननी अपूर्व खंत हती. टुंक समयमां मुनिओ विषयना अगाध उंडाणमां उतरी गया विषयनी सूक्ष्मता अने गहनताने कारणे घणाओने निरस अने कंटाळा रूप लागता आ कर्मसाहित्यमां तेओए भारे रस चाख्यो. चिंतन-मनन-परस्पर पर्यालोचन जटिल-पूर्वपक्ष अने शास्त्रसिद्ध युक्तिओ भर्या अकाट्य उत्तरपक्ष द्वारा मुनिओए पूज्य आचार्यभगवंतश्रीने आनंद विभोर, आश्चर्यमुग्ध अने परम संतुष्ट कर्या. पुनामां २०११ना चोमासामां पू० गुरुदेव पंन्यासजी महाराजे १८-२० साधुओने न्यायदर्शनना प्राथमिक ग्रन्थोनो अभ्यास कराव्यो. पूज्यपाद आचार्यभगवंते अनेक मुनिवरोने आ रीते तैयार थयेला जोया अने पोताना शुभमनोरथने सक्रिय रूप आपवानी सुशक्यता देखाई. तेओश्रीए २०१४मां अमदावादमां पोतानो मनोगत मंगलमनोरथ शिष्यमंडळ आगळ जाहेर कर्यो, आ मनोरथ जाहेर थतांज परमगुरुभक्त शिष्योए एने अंतरथी वधावी लीधो.

अे मंगल प्रयाण हजो :–

सुरेन्द्रनगरना श्रीसकलसंघनी अत्याग्रहभरी विनंतिथी पू० आचार्यदेवादि ठाणा ५४ नु वि० सं०२०१५ नु चातुर्मास सुरेन्द्रनगरमां थयुं, बारमा तीर्थपति श्रीवासुपूज्यस्वामीनी शीतल-मंगल छायामां प्राचीनसाहित्यना आधारे श्रीकर्मसाहित्यना विस्तृतसर्जन नो मंगल प्रारंभ थयो। शरुआतमां मुनिराज श्री **जयघोषविजयजी**, मुनिराजश्री **धर्मानंदविजयजी** तथा मुनिराजश्री **हेमचन्द्रविजयजी** आ त्रण मुनिवरोअे कार्यनो आरंभ कर्यो, पाछळथी विद्वान **मुनिराजश्री गुणरत्नविजयजी** पण आ कार्यमां जोडाया तेमां सर्वप्रथम **क्षपकश्रेणि** अने **उपशमनाकरणना** पदार्थो-विषयो नु व्यवस्थित संकलन कर्युं, अनेक शास्त्रग्रंथोना आधारे अने गुरुभगवंतोना महानविनयथी परिकर्मित बुद्धिना सहारे करेलु आ विषयोनु पर्यालोचन अेटलु तो उंडु अने विस्तृत हतु के अेना मोटा बे ग्रंथो तैयार थया।

उपशमनाकरण अने क्षपकश्रेणिना विषयनी नोंध मारा लघु गुरुबांधव विद्वान मुनिराज श्री हेमचंद्रविजयजीअे करी हती जे गणितनी प्रक्रियाथी भरपूर हती पाछळथी मुनिराज श्री गुणरत्न विजयजी अे क्षपकश्रेणिना समग्रविषयने प्राकृतगाथाओ रची ग्रंथरूपे गुंथ्यो तेमज लगभग १८थी २० हजार श्लोकप्रमाण संस्कृतमां टीका रची. ते **खवगसेढी** ग्रंथरत्न पण आ साथेज प्रकाशित थई रह्यो छे।

बंधविधान महाशास्त्रनुं सर्जन :

खवगसेढी अने **उपशमनाकरण** आ बे ग्रंथोना पदार्थोनुं संकलन तैयार थया बाद **'बंधविधान'** ग्रंथनुं कार्य मुनिओओ प्रारंभ्युं, परमपूज्य आचार्यदेवना शुभाशीर्वाद मेळवी ग्रंथनुं मंगल कर्युं, आ ग्रंथमां बंधनकरण अने शतकादिग्रंथोना विषयनो संग्रह अने विस्तार करवानो हतो. प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध, प्रदेशबंध आ चारे प्रकारना बंधना मूल-उत्तर **भेद, भूयस्कार,** तेना **पदनिक्षेप, वृद्धिआदि** तथा **स्थानादि** प्ररूपणानो **सत्पदादिद्वारोमां** तथा **गत्यादिमार्गणाओमां** विस्तृत विचार करता आ ग्रंथनुं सर्जन दोढथी बे लाख श्लोकप्रमाण थाय अेवुं लाग्युं. अने अेना लगभग १४-१५ चोपडा (वोल्युम) तैयार थाय अेटलुं विराट कार्य हतुं, आ कार्य बे चार व्यक्तिओथी थवुं शक्य न हतुं तेथी कर्मप्रकृत्यादिनो अभ्यास करी तैयार थयेला बीजा ८-१० मुनिवरोने पू० आचार्यभगवंते आ कार्यभारना सहयोगी बनाव्या.

पदार्थ संग्राहक मुनिवरो :

पूज्यपाद करुणासिंधु आचार्यभगवंतनी परमकृपाना पात्र **मुनिराजश्री जयघोषविजयजी** तथा **मुनिराजश्री धर्मानंदविजयजी** आ बे मुनिवरो कर्मसाहित्यना नवनिर्माणना कार्यमां स्थंभभूत छे, तेमांना **प्रथम मुनि, पूज्य पंन्यासप्रवरश्री भानुविजयजी गणिवर्यना शिष्यरत्न मुनिराजश्री धर्मघोष विजयजी**ना शिष्यरत्न छे. आगमो शास्त्रो, प्रकरणग्रंथो अने खासकरीने छेदग्रंथोना तेओ विद्वान छे, **बीजा मुनि,** पूज्य **पंन्यासप्रवरश्री भानुविजयजी गणिवर्यना शिष्यरत्न** छे, तेओ पण आगमो, प्रकरणोना सारा अभ्यासी छे, कर्मसाहित्यमां गणितानुयोगनो विषय सारा प्रमाणमां आवे छे ते गहन होय छे; तेने आ मुनि सुंदररीते स्पष्ट करे छे.

कर्मसाहित्यना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयनी गहनताने भेदवानुं सौभाग्य आ बे मुनिओओ प्राप्त कर्युं छे. तेमनुं गंभीर शास्त्रवांचन, अगाध चिंतन अने रातदिवस अेनुं परिशीलन छे. विषयना अेकअेक मुद्दाने अनेक ग्रन्थो वांची अेनो परस्पर समन्वय करेछे, ज्यां शंकास्पद लागे त्यां बीजा आगमग्रंथो, प्रकरणग्रंथोनी सहाय लई पू० आचार्यभगवंत साथे अेनी विचारणा थया बाद शांत-स्वस्थचित्ते अनुप्रेक्षा करी समाधान चोक्कस करे छे. अने यथार्थ उकेल लावे छे. ते पछी मुनिओने अेनुं विवरण समजावे छे त्यारबाद गाथाना आधारे मुनिओ टीकानुं आलेखन करे छे.

पदार्थसंग्रहकार तथा गाथाकार मुनिराजश्री वीरशेखरविजयजी :

आ मुनिराजश्री मुंबई दादर खाते **पूज्यगीतार्थ गच्छ हितचिंतक पंन्यास प्रवर श्री हेमंत विजयजी गणिवर्यना** सं० २००७-२००८ ना चातुर्मासमां १३ वर्षनी वये अट्ठाई तथा

उपधानतप कर्यो त्यारथी वैराग्यवासित थया . त्यारबाद पूज्यपाद आचार्यभगवंतनी प्रेरणाथी सं० २०११ मां १६वर्षनी वये चारित्र अंगीकारी पू० पंन्यासजी **महाराजना शिष्यरत्न मुनिराजश्री ललितशेखरविजयजीना शिष्यरत्न मुनिराजश्री राजशेखरविजयजीना शिष्यरत्न थया** . आ मुनिवरनो शास्त्रव्यासंग आदर्श छे नानीवयमां संस्कृत प्राकृतव्याकरण प्रकरणग्रंथो, न्याय वगेरेना अध्ययनमां सारो विकास साध्यो छे . **बन्धविधान** ग्रंथना पदार्थ-संकलनमां तथा गणितविभागने सरल बनाववामां तेमनो मज्बनो फाळो छे. गाथारूपे गुंथवाना पदार्थोनी चिंतनपूर्वक नोंधकरी उपर्युक्त बन्ने पदार्थसंग्रहकार मुनिवरो साथे विचारणा करी तेमनी पासेथी विशेषपदार्थो मेळवी पदार्थ-विषयनो निर्णय करीने आर्याछंद अने तेना पेटा भेदोमां गाथाओ बनावेछे . बन्धविधान ग्रंथनी आशरे १५००० प्राकृत गाथाओ रचवानुं महानकार्य पूज्य आचार्य भगवंतनी आज्ञाथी तेओओ कर्युं छे ग्रंथनो अतिविस्तार न थाय तेनी चीवट राखी शक्य तेटला संक्षेपमां विषयने समाववानी सारी कुशलता अेमणे दाखवी छे .

विवेचनग्रंथनुं शुभनाम 'प्रेमप्रभा' :—

'**बंधविधान**' ग्रंथ उपर जुदा जुदा मुनिवरोओ संस्कृतमां रचेला विवेचननुं सान्वर्थनाम '**प्रेमप्रभा**' टीका राखवामां आव्युं छे. आ विराट कर्मसाहित्यना सर्जनमां प्रेरणादाता,प्रकाशदाता अने चेतना जगावनार होय तो ते पुण्यनामधेय आचार्य भगवंत श्रीमद् **विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा** छे.

आजना वाणीस्वातंत्र्य अने विचारस्वातंत्र्यना युगमां यौवनना थनगनाट वखते महज्जनुरूप लोकप्रसिद्धि, आदि बाह्यभावमां न खेंचातां वर्षो सुधी श्रमसाध्यकार्यमां लीन बनी बहु टुंक-समयमां मुनिवरो आ महानकार्य करी शक्या छे ते कोई मात्र अेमनी पोतानी शक्तिथी नहि पण सदैव स्मरणीय पू. आचार्य भगवंतनी परमकृपाथी अने दिव्यआशीर्वादथी करी शक्या छे. तेथीज ते परमगुरुदेवना अनंतउपकारोनी चिरस्मृतिमाटे तेओश्रीना प्रेमनी-सम्यग्ज्ञानदानादिवात्सल्यनी प्रभारूप सार्थक नामनी पसंदगी करवामां आवी छे.

अनेक शास्त्रग्रंथोना दोहनरूपे आग्रंथ तैयार थयो छे. ते ते विषयने स्पर्शनी वातो,विचारो-हेतुओ अनेक शास्त्रग्रंथोना आधारे चर्चवामां आव्या छे. विषमस्थलो विस्तृत अने स्पष्ट विवेचन पूर्वक सरल सुज्ञेय बनाव्या छे. अनेक ग्रंथोना संकडो साक्षीपाठोथी समृद्ध,यंत्रो अने चित्रोथी भरपूर आ ग्रंथ ज कहो आपशे के केटला श्रम अने समयना बलिदानपूर्वक अेने तैयार करवामां आव्यो छे,

रचना संस्कृत-प्राकृतभाषामांज केम करी ?

अनेक मुनिवरोनी वर्षोनी महेनतने अंते तैयार थयेल आ जीवनोपयोगी मननीय साहित्यना

सर्जनमाटे गुजराती, हीन्दी, अंग्रेजी भाषा पसंद न करतां संस्कृत प्राकृत भाषानी पसंदगी शामाटे करी ? आ प्रश्नतुं समाधान अे छे के (१) संस्कृत प्राकृतभाषा सर्वदेशीय अने सर्वकालिक छे. अेमां परिवर्तननो भाग्येज आवे छे, आ भाषाओनी हजारो वर्षोथी प्रायः अेक सरखी पद्धति चाली आवे छे. (२) आ भाषाओनी खूबी अे छे के विषयना गमे तेवा विस्तार के अतिविस्तारने जे रीते वधुमां वधु संक्षेपमां आ भाषाओमां रजू करी शकाय छे ते रीते प्रायः बीजी भाषाओमां रजू करवो अशक्य छे. प्रस्तुत विषयना अगाध विस्तारने सांकेतिक शब्दोने के यंत्रोने धारी रीते बीजी भाषाओमां कोइ रीते न समावी के समझावी शकाय. (३) गुजराती वगेरे भाषाओ प्रत्येक युगमां पलटाती रहे छे. दरेक प्रान्तोमां पण ते अंगे घणी भिन्नता प्रवर्ते छे तेथी युगपरिवर्तन साथे आ ग्रंथो पण अनुपादेय बनी जाय. आवा अनेक कारणोथी संस्कृत-प्राकृतभाषानो आश्रय लेवायो छे छतां ग्रंथमां विषयपरिचय साररूपे गुजरातीभाषामां आप्यो छे.

'स्थितिबंध' ना टीकाकार मुनिवर्य श्री जगच्चंद्रविजयजीः—

आ प्रस्तुतमां प्रकाशित थइ रहेलो **मूलपयडी ठिइबंधो [मूलप्रकृति स्थितिबन्ध]** ग्रंथनी **'प्रेमप्रभा'** नामनी २० **हजार** श्लोक प्रमाण टीका [विवेचन] ना रचयिता मारा लघु गुरुबांधव **मुनिराजश्री जगच्चंद्रविजयजी** छे. पूज्य परमगुरुदेव पंन्यासप्रवरश्री **भानुविजयजी गणिवरना** शिष्यरत्न मारा पूज्य गुरुदेव पंन्यासप्रवरश्री **पद्मविजयजी गणिवर्यना**- तेओ शिष्यरत्न छे. प्रथमथी ज आ मुनिवरनी बुद्धि कुशाग्र अने तर्कप्रधान हती. अदम्यउत्साहथी गुरुसेवा अने ज्ञानोपासना साथे तेमणे आजे १४ वर्षने अंते पण लगभग नित्य अेकासणानो तप अजोड त्याग साथे चालुज राख्यो छे. आ टीकाग्रंथनी रचनामां तेमणे अपूर्व बुद्धिकौशल वापर्युं छे. न्याय, व्याकरण, आगम, प्रकरण अने कर्मसाहित्यविषयक अेमनी विद्वत्ता आ टीकाग्रंथमां देखाइ आवे छे.

आ 'प्रेमप्रभा' टीकाग्रंथनी मौलिकता :—

(१) मूलगाथाना प्रतीको पद्धतिसर जरूर पड़े त्यां टीकामां उतार्या छे. (२) ते प्रतीकोना **स्पष्टशब्दार्थ** करवामां आव्यो छे. (३) जरूर पड़े त्यां अे प्रतीकोनो तथा समग्रगाथानो **रहस्यार्थ** खोलवामां आव्यो छे. (४) पदार्थने सचोट सिद्ध करती प्रबल युक्तिओ आपी छे. (५) प्रसंगोपात ६० उपरांत शास्त्रग्रन्थोना ३०० लगभग साक्षी पाठो आप्या छे. (६) शंका अने तेना समाधानो द्वारा विषयने रसमय अने सुबोध बनाव्यो छे. (७) कोइक स्थले मूलगाथामां न कहेला ते ते विषयना मतांतरो टीकाकार विद्वानमुनिवरे अन्य शास्त्रग्रंथोनुं अवलोकन करी पदार्थसंग्रहकार मुनिवरो साथे विचारणा करी संगृहीत कर्या छे. (८) सूक्ष्म बाबतोने समजवानी सरळता माटे घणे ठेकाणे दृष्टान्तो आपी विषयनुं विशदीकरण कर्युं छे जुओ—

पृ० १३, १४, १७, २६, २८, ६३५. (९) सूक्ष्म विषयोने दृष्टान्तोथी स्थापना करी यंत्र रूपे पण गोठव्या छे. जुओ–पृ० १४, २०, ३४१, ५१३, ६३६, ६४६, ६५४, ६६३. (१०)आ ग्रंथना छ अे अधिकारोना प्रत्येक द्वारोना समग्रविषयने १ के २ पृष्ठमां संक्षेपमां बतावी देतां आरिसा जेवा यंत्रो(कोठाओ)आ ग्रंथनु ं महत्त्वनु ं अंग छे, आ मुनिवरे सर्वप्रथम आवा यंत्रोनी कलात्मकशैलीनो चीलो पाडी पछीना बधाज ग्रंथो माटे अेक सु ंदर मार्ग चींध्यो छे. पृ० नं० १९४ उपर कायस्थितिप्रदर्शकयंत्रमां तो जबर खूबी वापरी छे, एकज पेजमां १७० मार्गणाओने जुदी जुदी संज्ञाओ-संकेतो आपी नीचे फूटनोटमां तेनी जघन्यकायस्थिति, उत्कृष्ट-कायस्थिति,मतांतरे मनाती कायस्थिति दर्शावी छे अने ते ते कायस्थितिनो गाथांक पण आप्यो छे.

यंत्रोमां व्यवस्थित कोठाओ पाडी ते ते द्वारोना संपूर्ण विषयने संक्षेपमां अे रीते रजु कर्यो छे के विषयना जाणकारने यंत्र उपरथीज अध्ययन करावव ु ं होय तो करावी शके. अध्ययन-करनार अेकवार विस्तारथी वांची गया पछी आ यंत्रो उपरथी विषयनु ं पुनरावर्तन करी शके, गाथाओमां मार्गणाओ कदाच आगल पाछल गोठवायेली होय तो यंत्रनी सहायथी पदार्थ शोधी शके. यंत्रोमां आपेल गाथानंबरथी पदार्थनो विस्तार जोवानी खूब सारी अनुकूळता थई छे.विषयने दीवा जेवो स्पष्टकरी आपनार आवा ७८ यन्त्रोथी मुनिश्रीअे आ स्थितिबंध ग्रंथने अलंकृत कर्यो छे. यंत्रोनी कला अेटले शास्त्रसागरने गागरमां समाववानी कला. यंत्रोमां विषयोनी गोठवण केवी खूबीभरी छे ते नीचे बतावेली यंत्रजोवानी २-३ रीतो परथी ख्यालमां आवशे.

यन्त्रमा गु ंथेला पदार्थोने समजवानी केटलीक रीतो :—

A कार्मणकाययोगमार्गणामां आयुष्य सिवायना सातकर्मनी जघन्यस्थितिबंधनु प्रमाण केटलु ं ? अने केम ? अे जाणवु ं छे तो १. यंत्रोनी अनुक्रमणिका जोई सातकर्मना जघन्यस्थितिबंधनु ं यंत्र काढवु ं, २. अे यंत्रनी उभी कोलममां योगमार्गणाना नीचेना खानामां कार्मणकाययोगमार्गणा जोवी, ३. तेनी सामे आडी कोलममां पहेला खानामांज कार्मणकाययोगमार्गणामां थतां सात कर्मना जघन्यस्थितिबंधनु ं लखेलु ं प्रमाण मली आवशे. ४. अेटलु ं प्रमाण शामाटे ? अे जाणवा यंत्रनी आडी कोलममां छेल्ला खानामां गाथा नंबर जोई ते गाथानी टीकामां करेला पदार्थना स्पष्टीकरणमां अेनो हेतु मली शकशे.

B पर्याप्तपंचेन्द्रियमार्गणामां आयुष्यकर्मना अजघन्यस्थितिबंधकोनी स्पर्शना केटली ? ते जाणवा माटे १. ते कर्मनी ते स्थितिना बंधकोनी स्पर्शनानु ं यंत्र अनुक्रमणिकाना आधारे काढवु ं, २. तेमां पहेली उभी कोलममां इन्द्रियमार्गणाभेद जोवो, ३. तेना त्रीजा खानामां प्रस्तुत मार्गणाभेद देखाशे. ते खानानी उपरना खानामां स्पर्शनानु ं ८ राज प्रमाण देखाशे नीचे छेल्ला खानामां गाथानो अंक मलशे. ते गाथानी टीकाना आधारे अेनो हेतु पण जाणी शकाय छे.

C मोहनीयकर्मनी असंख्य-संख्यभाग वगेरे स्थितिबन्ध वृद्धिहानीओ अने स्थितिबन्ध अवस्थित-अवक्तव्यना बंधकोथी उत्पन्न थतां भांगा केटला थाय ते जाणवुं छे तो ते माटे १. यन्त्रानुक्रममांथी सातकर्मना स्थितिबंधवृद्धिआदिना बंधकोना भंगविचयनुं यंत्र काढवुं, २. पूर्वनी जेम लोभकषाय-मार्गणाना खानामां जोतां २१८७ भांगा जाणवा मलशे. अेनो हेतु जाणवा माटे गाथाना आधारे टीका जोवी.

आम यंत्रोनी जोवानी रीत जाण्या पछी सागर जेवा विशाल ग्रंथमांथी जोइअे ते पदार्थनुं अन्वेषण सहेलाईथी करी शकाय छे.

(११) त्रीजा भूयस्काराधिकारना अने पाचमां वृद्धिबंधअधिकारना भंगविचयद्वारमां तेमज छट्ठा अध्यवसायसमुदाहारअधिकारना स्थितिसमुदाहार द्वारमां आवती क्लिष्ट गणितप्रक्रियाने मुनिश्रीअे सुयोग्य शब्ददेह आपी सुगम बनावी छे.

(१२) कोईक स्थळे अनेक मतो प्रवर्तता होई ते सर्वमतोनो निर्देशरूपे मूळगाथामां संग्रह करवामां आव्यो छे. टीकाकारे ते सर्वमतो ते ते शास्त्रपाठो साथे टीकामां रजू कर्या छे. जुओ-पृ० ९४, गाथा ७२ नी टीका.

(१३) आ ग्रंथमां आवता जरूरी विषयोने तर्क-न्यायशैलीनी सरणपर चढाववानुं पण मुनिश्री चूक्या नथी, अे रीते विषयनी विषमताने अने विषयनी साथे संभवित दलीलोने भेदीने सत्यार्थ साबीत करायो छे. दा० त० जुओ ५ मो वृद्धिअधिकार पृ० ६५५-६५६ गाथा ७४७-७४८ नी टीका. जुओ. ४ था पदनिक्षेपाधिकार पृ० ५३०-५३१ गाथा ७०६ नी टीका. आ रीते अनेकस्थलो तर्कसिद्ध लेखीनीथी आलेख्या छे.

(१४) केटलेक स्थळे कोई अेक चोक्कस अने इष्टविवक्षा-अभिप्रायथी आवा य विषयनुं निरूपणकरी ते पदार्थनुं बीजी विवक्षाथी पण निरूपण थई शके अने कोई तेम करे तो अे अविरुद्ध छे अे जणाववा पूर्वक बीजी विवक्षानुं रहस्य पण विद्वान मुनिराजे व्यक्त कर्युं छे. जुओ पृ० ४५३-४५६ गा० ५७५.

(१५.) टीकाकार विद्वान मुनिराजे पदार्थोनुं-विषयोनुं क्यारेक क्षीणवटभर्युं विवेचन स्वच्छ प्रतिभाथी कर्युं छे अेवा चारेक मुद्दाओ नमुनारूपे अहिं रजू करुं छुं.

(1) मूळ आठप्रकृतिमां उत्कृष्टस्थितिबंधना छेल्ला निषेक सुधी कर्मदलिकोनी निषेक रचना विशेषहीन क्रमे थाय छे. आ पदार्थने युक्तिपूर्वक घटाववतां लगभग १०० श्लोकप्रमाण पूर्वपक्ष कर्यो छे, तेमां अनेक वितर्को कर्या छे अने पछी तेना सचोट समाधानो आप्या छे. जुओ पृ० ३३-३७. पृष्ठ ३६ उपर पूर्वपक्षने अनुसारे दलिकरचनानो ख्याल आवे स्थापना चित्र पण आप्युं छे.

(ii) अकेन्द्रियादिमार्गणामां सातकर्मना अनुत्कृष्टस्थितिबंधनो काळ अंतर्मुहूर्त ज आवे अ पदार्थना समर्थनमां ते अकेन्द्रियादिमार्गणामां भवचरमान्तर्मुहूर्तमां(जीवनना छेल्ला अन्तर्मुहूर्तमां) उत्कृष्टस्थितिने बांधतो जीव त्यांथी मृत्यु पामीने पाछो अकेन्द्रियमां ज उत्पन्न थाय, अज रीते बीजी मार्गणाओमां पण तेवी अवस्थामां मरतो जीव चोक्कस स्थानोमां ज उत्पन्न थाय. आ हकीकतना समर्थनमां 'भवचरमअन्तर्मुहूर्तमां सर्वाधिक संक्लेशवाळा जीवोनुं मरीने पोताने योग्य सर्वकनिष्ठस्थानमां ज जवानुं थाय छे' इत्यादि नियम बतावीने अ नियमनी अनेकरीते घटना करी छे, अहीं वाचकोने पदार्थविवेचननी मार्मिक सूक्ष्मता देखाया विना नहि रहे.

(iii) छट्ठा अधिकारमां स्थितिबंधना अध्यवसायोना द्विगुणवृद्धिस्थानो अने तेवा बे द्विगुणवृद्धिना स्थानो वच्चेना अक अंतरमां रहेला स्थितिबंधस्थानोना अल्पबहुत्वमां द्विगुणवृद्धिनां स्थानो अंगुलना वर्गमूलना छेदनकोना असंख्यातमां भाग जेटला होय छतां अक आंतराना स्थानो करतां ओछां कह्यां अ बाबतमां पूर्वपक्षथी विरोध उठावी अेनुं समाधान कंईक अधिक अर्धराजलोक जेटली लांबी सूचिश्रेणिना छेदनको पण अढी उद्धारसागरोपमना समयोथी थोडांक ज अधिक थाय छे ए वात दृष्टांतो अने बीजा हेतुओथी सिद्धकरवाद्वारा कर्युं छे अने ते प्रसंगे जरुरी पल्योपम सागरोपमभेदोना स्वरूप अने प्रयोजन वगेरे पण बताव्या छे. जुओ पृ० ४२८-४३४.

(iv) 'कर्मप्रकृतिसंग्रहणी'नी अनुभागबंधनी चूर्णिमां अनुकृष्टिनुं विधान करवा द्वारा उपरनी अधिक अधिक स्थितिना बंध वखते प्राप्त थतां रसबंधना अध्यवसायोने नीचेनी न्यून न्यून स्थितिना बंध वखते बताव्या होई केटलांक नीचेनां स्थितिबंधस्थानोमां चार ठाणीयानी जेम त्रण ठाणीया अने बे ठाणीया रसबन्धना अध्यवसायो पण प्राप्त थाय छे, ज्यारे अहीं स्थितिबंधग्रन्थमां ते ते स्थितिबंधस्थानो मात्र चार ठाणीया के त्रण ठाणीया विगरे अक अक प्रकारना रसबन्धना अध्यवसायवाळा जीवोने ज बताव्या छे, अेम बंने ग्रन्थनी वातोमां पूर्वपक्षथी विरोध बतावी समाधानमां युक्तिपूर्वक बंने ग्रन्थनी वातनो समन्वय करी बताव्यो छे. जुओ- पृ० ६४४-६४९.

महत्त्वना परिशिष्टो :—

(१) प्रथम परिशिष्टमां '**स्थितिबंध**' नी टीकामां जे जे शास्त्रग्रन्थोनी साक्षीओ मूकवामां आवी छे ते ग्रंथोनुं तथा साक्षीपाठोनी संख्यानुं लीस्ट छे.

(२) बीजा परिशिष्टमां **जेसलमेरना ज्ञानभंडारनो समर्थशास्त्रकार आचार्य भगवान मुनिचंद्रसूरीश्वरजी महाराज** विरचित **कर्मप्रकृतिचूर्णिना टीप्पणनो** अक उपयोगी अंश आपवामां आव्यो छे, **तेमां साकार अनाकार उपयोगनी विचारणा** अक जुदीज शैलीथी करवामां आवी छे तेथी अध्ययनकर्ताओने ते उपयोगी थशे. आ टीप्पण ग्रंथ हजी मुद्रित थयो नथी.

(३) मार्गणाओमां जीवद्रव्योना प्रमाण (संख्या)नुं निरूपण स्थूलथी तो आवे छे पण पणा अधिकारोमां प्रत्येक मार्गणामां चोक्कस जीवद्रव्योनी संख्यानुं प्रमाण जाणवुं अगत्यनुं छे तेथी मुनिराजश्रीओ ११ गाथाओमां द्रव्यप्रमाणप्रकरणनी रचना करी जीवद्रव्योनुं प्रमाण संकलित कर्युं छे अने तेना उपर सामान्यविवेचनरूप संस्कृतमां पोतेज अवचूरि रची छे, आम आ परिशिष्ट नानकडी ग्रंथरचनारूप अने अगत्यनुं छे.

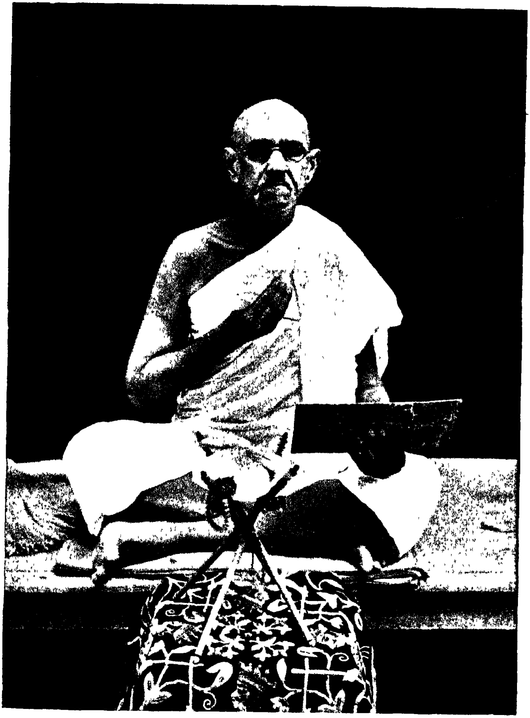
आ गहन विषयोना स्पष्टीकरणनो प्रयत्न जोतां लागे छे के टीकाकार जाणे पत्थरने पल्लवित न करी रह्या होय. पूर्वकालना श्रुतभक्त श्रमणोपसकोना पगले पिंडवाडानी भारतीय प्राच्यतत्वप्रकाशन समितिओ परमतारक अने प्रकाशक श्रुतने भाविजीवो सुधी पहोंचाडवा अनुं रक्षण-प्रकाशन अने प्रचार-द्वारा श्रुतनी परंपरा अविच्छिन्न राखवानुं सुकृत हाथ धर्युं छे।

अंते, सुखना भ्रमथी पापना अने दुःखना राहे दोडी रहेला जगतने आ तात्त्विक-आध्यात्मिक ग्रन्थो दीवादांडीरूप बनो. मोक्षाभिलाषी भव्यात्माओ आ ग्रंथरत्नना वांचनथी कर्मनी कुटीलताने समजी अप्रमत्त-जागृतिमय जीवन जीवे, आत्मा अने कर्मना अनादि संयोगने भेदनारी समता-सामायिकभाव प्राप्त करे अेज अेक मंगलकामना।

शुभस्थल :
शा. सकरचंद छोटालाल
बं.नं.१३ आश्रमरोड, अमदावाद १३.
वी० सं० २४९२ महा सुद २ रविवार
स्वर्गीय परमगुरुदेव दानसूरीश्वर
स्वर्गारोहण शुभदिन

लि०
भवोदधितारक संयमत्यागतपोमूर्ति पूजनीय आचार्यदेव श्रीमद्
विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजाना विद्वान-विनीत-शिष्यरत्न
पू० प० भानुविजयजी गणिवर्यनां शिष्यरत्न स्व० पू०
पं० श्री पद्मविजयजी गणिवर्य शिष्याणु मुनि
मित्रानन्दविजय

सकलागमरहस्यवेदि-सूरिपुरन्दर-बहुश्रुतगीतार्थ-परमज्योतिर्वित्-परमपूज्य-परमगुरुदेव-



श्रीमद्-विजयदानसूरीश्वराः

8252

विषय-परिचय

★

सचराचर विश्वमां विद्यमान वस्तुमात्रनुं पृथक्करण त्रण विभागमां थई शके,—

(१) प्रथम विभागमां मात्र जड वस्तुओ, जेवी के-सूक्ष्म परमाणु, द्व्यणुक वगेरे △औदारिकादि पुद्गलवर्गणाओ, अचेतन काष्ठ वगेरे तथा धर्मास्तिकायादि आवे,

(२) द्वितीय विभागमां केवळ चैतन्यमय अनन्ता सिद्धपरमात्माओ आवे, अने

(३) तृतीय विभाग के जेमां जड (पुद्गलो) अने चेतन (आत्मा) ए बंनेना दूध-पाणी जेवा या लोहअग्नि जेवा बन्धथी (संबंधथी) उत्पन्न थयेलां सचेतन पृथ्वी, पाणी, अग्नि, पवन, वनस्पति यावत् स्वेच्छया गमनागमनादि चेष्टा करता दृष्टिगोचर थता मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडा आदि आवे.

अनादि काळथी जीवनुं भिन्न-भिन्न अनिष्ट स्थितिओमां (अवस्थाओमां) गमन अने मन-गमती अवस्थाओमां अस्थैर्य (नहि टकवापणुं) ए रूप संसारपरिभ्रमण जड-चेतनना दूधपाणी जेवा बंधथी उत्पन्न थयेला त्रीजा विभागमां लागु पडे छे. अने तेथी ज संसार परिभ्रमण अटकावी शुद्धचैतन्यस्वरूप मोक्ष मेळववामां कारणभूत सर्वज्ञशास्त्रनां कहेल तत्त्वोनां श्रवण-चिन्तन-मनन अने विधि-निषेधनां अनुष्ठान वगेरे आ त्रीजा विभागने उद्देशीने छे.

बन्धना अनेक प्रकारः—

जडनो चेतन साथेनो ते बंध=संबंध जड-पुद्गलोनी तेवी तेवी विशेषताओने कारणे अनेक प्रकारनो मान्यो छे. जेमके—

(१) औदारिकबन्ध,
(२) वैक्रियबन्ध,
(३) आहारकबन्ध,
(४) तैजसबन्ध अने
(५) कार्मणबन्ध के कर्मबन्ध.

औदारिकबन्ध एटले जड एवा पुद्गलसमूहमां रहेला चोक्कसप्रकारना बीजा जडपुद्गलस्कन्धो करतां विलक्षण औदारिकवर्गणा नामना पुद्गलो साथेनो आत्मानो संबंध. आ पुद्गलोमांथी

△विश्वमा रहेला अचेतन द्रव्योमा रूप रस गध अने स्पर्शवाला प्रत्येक द्रव्योने पुद्गल द्रव्यो कहेवाय छे. आ पुद्गलद्रव्यो एक परमाणुं, बे परमाणु, त्रण परमाणुं, चार परमाणु एम उत्तरोत्तर एकेक परमाणु वधता यावत् केटलाक असख्यातपरमाणुंओना बनेला अने केटलाक अनन्तपरमाणुंओना बनेला होय छे आमां परमाणुओ एटले जेना बे विभाग पण न थई शके तेवा अविभाज्य पुद्गलद्रव्यो छे, ज्यारे बे त्रण वगेरे परमाणुओथी बनेला द्व्यणुक त्र्यणुक वगेरे पुद्गलद्रव्यो विभाज्य पुद्गलद्रव्यो छे आ परमाणुं सिवायना द्व्यणुक त्र्यणुक वगेरे अनन्ताणुक सुधीना दरेक द्रव्योने स्कन्ध कहेवाय छे. आ स्कन्धोमाथी अमुक चोक्कस सख्याना परमाणुंओ वाला स्कन्धोने औदारिकवर्गणा वगेरे वर्गणाओ कहेवाय छे, आ वर्गणाओ शास्त्रोमां २६ प्रकारनी कही छे ते उत्तरोत्तर अधिक अधिक परमाणुओवाला

पृथ्वी पाणी वगेरेनां अने मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडा वगेरेनां नजरे चढतां भौतिक शरीरो बने छे. औदारिकवर्गणानां पुद्गलो करतां विलक्षणकोटीनां पुद्गलस्कन्धोनो समूह के जेमांथी देव नारकोनां शरीरो वगेरे बने छे ते वैक्रियवर्गणा पुद्गलो कहेवाय छे. वैक्रियवर्गणानां पुद्गलोनो

स्कन्धोनी होय छे. तेमाथी ग्रही उपयोगी औदारिकथी कार्मणवर्गणा सुधीनी वर्गणाग्रो, ग्रने तेमां, ग्रावता स्कन्धो जघन्यथी ग्रने उत्कृष्टथी केटला परमाणुग्रोना बनेला होय छे ते नीचेना कोष्टकथी जाणी शकाशे —

क्रम	वर्गणानु' नाम	जघन्यथी केटला परमाणु' होय	उत्कृष्टथी केटला परमाणु होय ?
१	ग्रौदारिक ग्रग्राह्य* वर्गणा	१ परमाणु	ग्रभव्यथी ग्रनतगुण एवी सिद्धना ग्रनतमा भाग वाली सख्या जेटला.
२	ग्रौदारिक वर्गणा (ग्राह्य)	उपरनीवर्गणानाउत्कृष्ट + १परमाणु	स्वजघन्य + स्वजघन्यनो ग्रनन्तमो भाग.
३	वैक्रिय ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त卐.
४	वैक्रिय वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यनो ग्रनन्तमो भाग
५	ग्राहारक ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त
६	ग्राहारक वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यनो ग्रनतैमो भाग.
७	तैजस ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त
८	तैजस वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यनो ग्रनन्तगो भाग
९	भाषा ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त
१०	भाषा वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यनो ग्रनन्तमो भाग
११	उच्छ्वास ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त
१२	उच्छ्वाम वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यना ग्रनन्तमो भाग
१३	मन ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त.
१४	मन वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यनो ग्रनन्तमा भाग
१५	कार्मण ग्रग्राह्य वर्गणा	,, ,, + ,,	,, ,, × ग्रनन्त.
१६	कार्मण वर्गणा (ग्राह्य)	,, ,, + ,,	,, ,, + स्वजघन्यनो ग्रनन्तमा भाग

१७ मी वगेरे वर्गणाना नाम ग्रा प्रमाणे छे (१७)ध्रुवाचित्तवर्गणा, (१८)ग्रध्रुवाचित्तवर्गणा, (१९) प्रथमशून्यवर्गणा, (२०) प्रत्येकशरीरवर्गणा,(२१) द्वितीय शून्य वर्गणा, (२२) बादरनिगोद वर्गणा,(२३) तृतीय शून्यवर्गणा, (२४)सूक्ष्म-निगोदवर्गणा, (२५) चतुर्थ शून्य वर्गणा, (२६) ग्रचित्तमहास्कन्ध । ग्रा वर्गणाग्रोनु स्वरूप विशेषथी कर्मप्रकृति वगेरे ग्रन्थोथी जाणी लेवु ग्रही 'विषय परिचय' मा ग्रौदारिक वगेरे वर्गणाने समजवा ग्राटलु पर्याप्त छे.

* ग्रा १६ वर्गणाग्रोमा बीजी, चोथी, छट्ठी वगेरे वर्गणाग्रो के जे वर्गणाग्रोना स्कन्धोमाथी मनुष्य वगेरेना ग्रौदारिकशरीरो, देव वगेरेना वैक्रियशरीरो, पूर्वधरमुनिग्रोना प्रसंगवशात् बनावाना ग्राहारकशरीरो वगेरे बनता होई ते वर्गणाग्रो ग्रौदारिकादिवर्गणाग्रो (ग्रौदारिकादि ग्राह्य वर्गणाग्रो) कहेवाय छे. ज्यारे ग्रौदारिकादि ते ते वर्गणाना पूर्व पूर्वनी पहेली, त्रीजी, पाचमी वगेरे वर्गणाग्रोमा रहेला स्कन्धोमाथी ग्रौदारिकादि शरीर नहि बनी शकता होवाथी ते पहेली त्रीजी वगेरे ग्रौदारिकग्रग्राह्य, वैक्रियग्रग्राह्य वगेरे नामवाली वर्गणाग्रो कहेवाय छे

卐 ग्रहीया गुणक ग्रभव्यथी ग्रनन्तगुण एवो सिद्धना ग्रनन्तमा भाग जेवडो छे. ए प्रमाणे नीचे पण ज्यां 'ग्रनत' कह्यु छे त्या गुणक तेटलो ग्रभव्यथी ग्रनन्तगुण ग्रने सिद्धोना ग्रनन्तमा भाग जेवडो समजवो ।

आत्मा साथे संबंध ते वैक्रियबन्ध कहेवाय छे. एज रीते आहारकवगेरे बन्धो तेवां तेवां आहारक-वर्गणादि पुद्गलोनी विशेषताओने कारणे भिन्न भिन्न स्वरूपवाळा जाणवा, एमां कार्मणवर्गणाना पुद्गलोनो आत्मा साथे संबन्ध एने कार्मणबन्ध कहेवाय छे तेम **कर्मबन्ध पण कहेवाय छे.**

अनेकविध बन्धमां कर्मबन्ध मुख्य :—

औदारिकादि अनेकविध बन्धो कर्मबन्धने आभारी छे. केमके आत्माना मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग अने सम्यक्त्वादि रूप शुभाशुभ भावोथी उत्पन्नथयेल कर्मबन्धनी विलक्षणताओ शेष औदारिकादि बन्धोना निर्माणमां हेतु छे. एटलुं ज मात्र नहि, अनन्तज्ञानदर्शनमय अनन्तसुखमय एवा आपणा प्यारा आत्मामां जडता, अल्पज्ञता, मोहमूढता वगेरे कर्मबन्धने कारणे छे. अने तेथी ज ज्ञानी महापुरुषोए औदारिकादिबन्धोने संसारनुं कारण न कहेतां कर्मबन्धने संसारनुं कारण कह्युं छे. आ कर्मबन्धने शास्त्रकारोए 'बन्ध' शब्दथी पण संबोध्यो छे.

कर्मबन्धना ज्ञाननी आवश्यकता :—

यद्यपि कर्मबन्धनां कारणो मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, कषाय, दुर्ध्यान वगेरे छे, अने तेथी विपरीत एवां सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, संयम, शुभध्यान वगेरे कर्मबन्धनी अल्पता अने कर्मबन्धना सर्वथा उच्छेदनां कारणो छे तो पण कर्मबन्धनी प्रक्रियानुं ज्ञान कर्मबन्धरूप महारोगनी जडने अने भयंकरताने बतावबा द्वारा कर्मबन्धना कारणोथी आत्माने दूरने दूर राखवा, तथा कर्मबन्धनां उच्छेदक सम्यक्त्व संयमादिमां आदर करावनारुं छे. एटलुं ज नहि, कर्मबन्धनी प्रक्रियाने जाणवा माटेनो प्रयास (प्रवृत्ति) ए द्रव्यानुयोगनुं चिन्तन छे. केजे द्रव्यानुयोगना चिन्तनमां तल्लीन थयेला अनेक संयमी आत्माओ शुक्लध्यान अने क्षपकश्रेणि मांडी अनादिपरंपरावाळा कर्मोना फुरचा उडाडी अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुखसंपत्तिने प्राप्तकरनारा बन्या छे. आ रीते कर्मबन्धना स्वरूपनुं ज्ञान आत्महितसाधनानुं एक महान अंग होई मुमुक्षुजनोने अति आवश्यक छे.

कर्मबन्धना ज्ञाननी प्राप्तिनुं साधन कर्मसाहित्य अने तेमां बन्धविधान :—

पूर्वकाळना ज्ञानी महर्षिओए भावी प्रजाना हितने अनुलक्षीने ज्ञानना अखूट खजाना **दृष्टिवाद** महाशास्त्रमांथी उद्धरी **शतक, कर्मप्रकृति, कषायप्राभृत** वगेरे कर्मविषयक अनेक प्रकरण-शास्त्रोनुं निर्माण कर्युं हतुं. जेमांनां **शतक कर्मप्रकृति** वगेरे अतिप्राचीन शास्त्रो तथा त्यार-बाद रचायेला ते ते ग्रन्थोनां महत्त्वपूर्ण विवरणो अने ते ग्रन्थोने आधारे रचायेला **कर्मविपाकादि कर्मग्रन्थो** वगेरे कर्मविषयक साहित्य आपणा पुण्य योगे आजे पण मोजूद छे. आ बधा शास्त्रोमां कर्मबन्धना प्रतिपादक **बन्धनकरण** वगेरे शब्दसंक्षिप्त अने अर्थगंभीर ग्रन्थांशो आवेला छे के जे ग्रन्थांशोने अवलम्बीने 'बन्धविधान' ग्रन्थ उद्भव पाम्यो छे. आ बन्धविधानग्रन्थमां अनेक अभि-

कारोमां सत्पदादि विविध द्वारोने आश्रयी सामान्यथी अने विशेषथी एम बे रीते प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध वगेरे भेदपूर्वक कर्मबन्धनी विचारणा विस्तारथी करवामां आवी छे.

'बन्धविधान' एवुं ग्रन्थनाम सार्थक छे :—

उक्त कर्मबन्धनी प्रक्रियाने बन्धप्रक्रिया, बन्धविधान, बन्धविधि, बन्धनकरण एम समानअर्थक भिन्न भिन्न शब्दोथी पण उल्लेखी शकाय छे. अने ए रीते आ महाग्रन्थनुं 'बन्धविधान' एवुं नाम सार्थक (अर्थानुसारी) छे. अथवा बन्धविधानना अर्थ बन्धना भेदो एवो पण थई शके. अने आ ग्रन्थमां प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, प्रदेशबन्ध एम बन्धना अनेक भेदोनुं प्ररूपण आवतुं होई आ बीजो अर्थ पण घटी शकवाथी प्रस्तुत ग्रन्थनुं 'बन्धविधान' एवुं नाम सार्थक कहेवामां कोई ज वांधो नथी.

बन्धना मुख्य चार भेदो :—

उक्त कर्मबन्ध कहो, बन्धातां कर्म कहो के बन्ध कहो पण ते वखते आत्मा साथे जोडाई रहेलां कार्मणवर्गणानां पुद्गलोमां ते वखतनी आत्मानी कषायादिपरिणतिने अनुसारे अनेकविध विशेषताओ उत्पन्न थाय छे जेमांनी चार मुख्यविशेषताओने आश्रयीने एकज काळे थयेलो ते बन्ध ते ते विशेषताने मुख्य करीने ४ प्रकारनो कहेवाय छे. ते आ प्रमाणे—

(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) रसबन्ध, (४) प्रदेशबन्ध.

प्रकृतिबन्ध अने तेना भेद-प्रभेद :-

प्रकृति एटले स्वभाव, ते स्वभावनुं उत्पन्न थवुं ते प्रकृतिबन्ध; जेम सूंठनो स्वभाव पित्त करवानो, गोळनो स्वभाव कफकरवानो, तेम अमुक चोकस समये योगने अनुसारे आत्मा साथे संबंधमां आवतां कार्मणवर्गणानां दलिकोमांथी (पुद्गलप्रदेशोमांथी) केटलांक दलिकोमां आत्माना ज्ञानगुणने आवरवानो स्वभाव उत्पन्न थाय छे. तो वळी ते सिवायनां बीजां केटलांक दलिकोमां आत्माना दर्शनगुणने आवरवानो स्वभाव उत्पन्न थाय छे, ते सिवायना बीजां कटलांक दलिकोमां सुख दुःख आपवानो स्वभाव उत्पन्न थाय छे. एम भिन्न भिन्न जे स्वभावो उत्पन्न थाय छे ते अनुसारे प्रकृतिबन्धना पण अनेक भेद पडे छे; जे मुख्यपणे आठ छे. ते आ प्रमाणे—

(१) ज्ञानावरणीय प्रकृति,	(५) आयु प्रकृति,
(२) दर्शनावरणीय प्रकृति,	(६) नाम प्रकृति,
(३) वेदनीय प्रकृति,	(७) गोत्र प्रकृति,
(४) मोहनीय प्रकृति,	(८) अन्तराय प्रकृति.

आ ८ प्रकारनी प्रकृति-स्वभावमांथी ज्ञानावरणादि ते ते स्वभावने पामेलां एक एक जातनां

कर्मदळियांमां मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि भिन्न भिन्न ज्ञानने, तेम चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन वगेरे भिन्न भिन्न दर्शन वगेरेने आवरवा वगेरेनो स्वभाव उत्पन्न थयेलो होय छे. ते स्वभावभेद प्रमाणे ते ते दलिकोने पुनः जुदा जुदा विभागमां गणवामां आवे त्यारे ज्ञानावरणप्रकृतिना दलिकोना (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण,(४) मनःपर्यवज्ञानावरण अने (५) केवळज्ञानावरण एम पांच भेद पडे छे. एम एक ज्ञानावरणमूलप्रकृतीना पांच उत्तरप्रकृति-भेद थया. एज रीते दर्शनावरणादि दरेक मूळप्रकृतिना क्रमशः ९, २, २६, ४, ६७, २ अने५ उत्तरप्रकृतिभेदो थाय छे, जो के अतिसूक्ष्मदृष्टिए एना विभाग करतां असंख्याता भेद थई शके, पण मुख्यरूपे कर्मप्रकृति, शतकचूर्णि वगेरे शास्त्रोमां बंधथी प्राप्त थता उत्तरप्रकृतिभेदो उपरोक्त ५, ९, २ वगेरे बताव्या छे. अने आ ग्रन्थमां पण तेटला भेदो उपर विचारणा करवामां आवी छे. आ उत्तरप्रकृतिभेदोनां नाम 'कर्मविपाक' ग्रन्थ(कर्मग्रन्थ १ ला) मांथी जाणी लेवां.

प्रश्नः–उपरोक्त ज्ञानावरणादि प्रकृतिओनो ते ते स्वभाव ते ते कर्मदलियां आत्मासाथे जोडाय ते ज वखते उत्पन्न थई जाय छे तेम कह्युं, तो शुं ते ते ज्ञानावरणादि प्रकृति बन्ध-समयथी पोतपोताना स्वभाव प्रमाणे ज्ञानादिगुणने आवरवा वगेरे रूप फळने आपनार बने छे ?

उत्तरः–ना, केमके जेम सूंठनो स्वभाव पित्त करवानो होवा छतां अने ते खाधा छतां ज्यां सुधी परिणाम पामती नथी(पचती नथी)त्यां सुधी पित्तकरवारूप फळने उत्पन्न करती नथी, अथवा झेरनो स्वभाव प्राणनाशकतानो होवा छतां कोठामां गयेलुं एवुं पण ते ज्यां सुधी परिणाम पाम्युं नथी होतुं त्यां सुधी पोतानो स्वभाव छतां प्राणनाश रूप फळने आपतुं नथी, पण तेने परिणाम पामवाने जेटलो समय जरूरी होय तेटलो समय पसार थये ज्यारे परिपाक (परि-णाम) पामे छे त्यारे मृत्युरूप फळने निपजावनारुं बने छे, तेम ज्ञानावरणादिस्वभावने पामेलां ते ते कर्मदळियां जरूरी काळ (अबाधाकाल) पसार थया पछी के अन्यरीते परिपाक पामे छे (उदयमां आवे छे) त्यारे पोताना स्वभावअनुसारे फळ आपनारां बने छे.

स्थितिबन्धः–

उपर कही गया ते प्रमाणे समये समये आत्मा साथे संबंधमां आवतां कार्मणवर्गणानां दलिकोमां ते वखते जेम आत्माना ज्ञानादिगुणोने आवरवानो तथा सुख दुःखादि आपवा वगेरेनो स्वभाव उत्पन्न थाय छे तेज रीते तेज वखते ते कर्मदलिकोमां आत्मा उपर (आत्मा साथे) ते स्वभावे केटलो काळ सुधी टकशे ते पण चोकस थाय छे, अर्थात् अमुककाळसुधी आत्मा साथे जोडाई रहेवानी योग्यता पण तेज वखते ते कर्मपुद्गलोमां उत्पन्न थाय छे. अने ए योग्यताने अनुसारे (जो उदीरणाकरणादिनो व्याघात न आवे तो) तेटलो काळ ते स्वरूपे आत्मा साथे जोडाई रहे छे. अहींयां प्रकृतिबन्धवखते ज ते कर्मपुद्गलोमां आत्मा साथे अमुककाळ सुधी जोडाई रहेवा माटेनुं

जे नक्की थयुं ते ज स्थितिबंध, अने ते कर्मदळियां आत्मा साथे जोडाई रहेवा माटे जेटलो काळ नक्की थयो ते काळनुं प्रमाण ते स्थितिबंधनुं प्रमाण कहेवाय छे.

दा० त० अमुक समये आत्मा साथे जोडातां कर्मदलिकोमां जे केटलांक दलिकोमां ज्ञानावरणस्वभाव उत्पन्न थयो ते दलिकोमांथी असंख्यातमा भाग जेटलां अमुक दलिकोमां एकहजार वर्ष सुधी आत्मा साथे जोडाई रहेवानुं नक्की थयुं छे. तो ते दलिकोना हिसाबे एक हजारवर्षनो स्थितिबंध थयो गणाय. ते सिवायनां बीजां असंख्यातमा भाग जेटलां दलिको के जेमां एक हजार वर्षने एक समय सुधी आत्मा साथे जोडाई रहेवानुं नक्की थयुं छे ते दलिकोना हिसाबे एकहजार वर्ष अने एक-समयप्रमाण स्थितिबन्ध गणाय. एम वळी बीजां केटलांक दलिको के जेमां एक हजार वर्ष अने बे समय सुधी आत्मा साथे जोडाई रहेवानुं नक्की थयुं छे. ते दलिकोना हिसाबे एक हजार वर्ष अने बे समयप्रमाण स्थितिबन्ध गणाय. एज रीते ज्ञानावरणादि एक एक प्रकृति तरीके बनतां दलिकोमां जे समय समय हीनाधिक काळ सुधी आत्मा साथे जोडाई रहेवानुं नक्की थाय छे, ते काळ प्रमाणे ते ते दलिकोनुं स्थितिबन्धप्रमाण गणाय छे.

अहीं आटलुं ध्यानमां राखवुं जरूरी छे के ते ते समये ज्ञानावरणादि एक एक प्रकृति-रूपे बनी रहेलां अनंतानंत कर्मदलिकोमांथी असंख्यातभाग जेटलां जेटलां भिन्न भिन्न दलिकोमां परस्पर समय बेसमयादि वडे हीनाधिक काळ सुधी आत्मा साथे ते रूपे रहेवानुं नक्की थयाना हिसाबे स्थितिबन्धप्रमाणना असंख्याता भेद पडता होवा छतां एक समये बंधाता ज्ञानावरणादि प्रकृतिना स्थितिबन्धनुं प्रमाण तो जे दलिकोमां शेष ज्ञानावरणादि दलिको करतां वधारे काळ सुधी ते रूपे रहेवाने नक्की थयेलुं होय छे ते दलिकोना स्थितिकाळने अनुसारे ज गणाय छे. नहि के शेष समय बेसमयादि हीनकाल रहेवाने नक्की थयेलां दलिकोना हिसाबे. एज रीते दर्शनावरणादि एक एक प्रकृति-ना स्थितिबन्धप्रमाण माटे पण समजवुं. आ स्थितिबन्धप्रमाणनी हीनाधिकता ते वखते प्रवर्तमान कषायोदयना परिणामनी तीव्रतामन्दताने आधीन छे.

रसबन्धः–

ज्ञान वगेरेने आवरवुं अने सुख–दुःखने आपवुं वगेरे ते ते स्वभावने पामेलां ते ते कर्म-दलिको ज्ञान वगेरे स्वआवार्यगुणने एक सरखी रीते आवरवाने शक्तिमान नथी होतां, तेम वेदनी-यादि प्रकृतिनां दलिको पण एक सरखी रीते सुख-दुःखादिने उत्पन्न करवाने शक्तिमान नथी होतां किन्तु भिन्न भिन्न दलिकसमूहोमां ओछीवत्ती शक्ति होय छे. अने तेथी ते ते रूपे उदय पामे त्यारे तेनाथी उत्पन्न थयेला कार्यमां पण भेद पडे छे. दा० त० ज्ञानावरणनो उदय दरेक जीवने होवा छतां एक जीव अत्यन्त जड जेवो होय छे, ज्यारे बीजो जीव एनाथी ओछो जड होय छे. त्रीजानी जडता वळी ते करतां पण ओछी होई तेने बोध शीघ्र अने ऊंडो थाय छे. आ भेद ज्ञानावरण-

कर्मनी शक्तिभेदने कारणे छे. ज्ञानादिना आवरण रूपे एक स्वभावने धारण करतां एवां कर्म-दलिकोमां भिन्न भिन्न विपाकने (फळने) उत्पन्न करती ते ते दलिकसमूहमां रहेली शक्ति तेज रस अथवा अनुभाग कहेवाय छे. अने पूर्वे कही गया तेम प्रकृतिबन्ध वखते जे ते ते दलिकोमां आत्माना ते वखतना कषायादिपरिणामने अनुसारे तेवा रसनु ं निर्माण थवु ं ते रसबन्ध कहेवाय छे. आ रसबन्धना पण स्थितिबन्धप्रमाणनी जेम अनेक भेद पडे छे. जेमांना अतीन्द्रिय एवा पण एक-ठाणीया बेठाणीया वगेरे स्थूलभेदोने बाळजीवोने समजाववा शास्त्रोमां लींबडा वगेरेना तथा शेरडी वगेरेना रसोनां दृष्टान्तो द्वारा सारो प्रयत्न पूर्वना महापुरुषोए कर्यो छे.

प्रदेशबन्धः–

पूर्वे कही गया तेवा स्वरूपवाळी विश्वना रंचे रंचमां पथराईने पडेली, गमे तेटला समूहमां पण दृष्टिनो विषय नहि बनती एवी सूक्ष्म कार्मणवर्गणा नामनी वर्गणामांथी जीव प्रत्येक समये पोताना मन-वचन-कायाना योगने अनुसारे अनन्तानन्त छतां ओछीवत्ती संख्यामां प्रदेशोने ग्रहण करे छे (जीव साथे प्रत्येक समये भिन्न भिन्न संख्यामां पुद्गलद्रव्यो जोडाय छे), ते भिन्न भिन्न संख्यामां प्रदेशोनु ं जीव साथे क्षीर-नीरनी जेम एकमेक थवु ं ते छे प्रदेशबन्ध.

ग्रहण थतां पुद्गलोनी संख्याने अनुसारे प्रदेशबंधना अनेक भेदो पडे छे. अर्थात् मन-वचन-कायानो योग=प्रवृत्ति मंद होय छे तो आत्मा साथे जोडाता ते कर्मप्रदेशो ओछी संख्यामां होय छे. अने योग वधारे प्रमाणमां होय छे तो ते प्रदेशोनी संख्या पण वधारे होय छे. ते प्रत्येक समये आत्मा साथे जोडाता अनन्ता दलिको (प्रदेशो) मांथी अमुक चोकस भागे प्राप्त थतां दलिकोमां ज ज्ञानावरणस्वभाव उत्पन्न थाय छे, ते ज रीते दर्शनावरण वगेरे स्वभाव पण तेटलां तेटलां चोकसभागे आवतां दलिकोमां ज उत्पन्न थाय छे. इत्यादि घणी विचारणाओ प्रदेशबन्धना विषयमां पण छे.

प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबंध अने प्रदेशबन्धना स्वरूपना सामूहिक दृष्टांत तरीके शास्त्रोमां मोदकनु ं दृष्टान्त ग्रहण करवामां आवे छे. जेम के मोदकमां सु ंठ-गोळ वगेरे होय ते पित्त-कफ वगेरे चोकस प्रकारना फळोने उत्पन्न करनार होई प्रकृतिबन्धस्थानीय गणाय. मोदकनु ं अमुककाळ सुधी ते स्वरूपे रहेवु ं ते स्थितिबन्धस्थानीय गणाय. तेमां रहेली तीखाश मीठाश वगेरेनी तरत-मताने अनुसारे पित्तादिनी मन्दता तीव्रता आधार राखे छे तेथी तीखाश मीठाश वगेरे रस-बन्धस्थानीय गणाय. ज्यारे मोदक नानो मोटो होई तेमां आवेलु ं ओछु ं वत्तु ं दळ ते प्रदेशबन्ध-स्थानीय गणाय.

अनुयोगद्वारो अने मार्गणाओः—

अतीन्द्रिय पदार्थोनु ं पण चिंतन मनन तथा सूक्ष्म अवबोध करवा माटे शास्त्रोमां अनेक-

विध द्वारो (अनुयोगद्वारो) अने अनेकविध मार्गणाओ बताववामां आवी छे के जे द्वारो अने मार्गणाओनो आश्रय करी ते ते पदार्थोनुं चिन्तन वगेरे करतां अतीन्द्रिय पदार्थो पण इन्द्रियगोचर पदार्थोनी जेम मानसपट उपर भासमान थाय छे. आ बन्धविधानग्रन्थना प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध वगेरे दरेक विभागमां आवता प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध वगेरे भिन्न भिन्न बन्धोने पण सत्पद, स्वामित्व, साद्यादि, काळ, अन्तर, संनिकर्ष, भङ्गविचय, भाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शना वगेरे ते ते अनुयोगद्वारोने अवलंबी 'गइ इंदिये य काये' इत्यादि मूलमार्गणास्थानोमां तथा नरकगतिआदि मार्गणाओना भेद-प्रभेदरूप प्रथमपृथ्वीनरकभेद वगेरे उत्तरमार्गणाओमां एम ★ १७४ जेटली मार्गणाओमां तेमज 'एगिंदिय-सुहुमियरा' इत्यादि १४ जीवभेद वगेरे आश्रयी यथासंभव विचारणा करवामां आवी छे.

प्रस्तुतग्रन्थ 'मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध' अने एना ६ अधिकारो

कर्मबन्धना प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध अने प्रदेशबन्ध एम चार भेद आगळ कही गया, अने त्यां ज साथे साथे प्रकृतिना ८ मूळभेद अने १२० उत्तरभेद पण बतावी गया. हवे ते ते प्रकृतिने आश्रयी स्थितिबन्ध रसबन्ध, अने प्रदेशबन्धनी विचारणा थती होवाथी स्थिति-बन्धादिनी विचारणा पण मूळ उत्तर भेदथी थाय छे. तेमां प्रस्तुत ग्रंथमां **मूलस्थितिबन्धनी** (मूळप्रकृतिस्थितिबन्धनी) विचारणा ६ अधिकारोने आश्रयी करवामां आवी छे, के जे अधिकारो-मां अनुक्रमे ४, १५, १३, ३, १३ अने ३ द्वारो छे.

प्रथम अधिकार अने एनां ४ द्वारो :—

पूर्वे स्थितिबन्धनो अर्थ कही गया अने साथे साथे एक एक समये थता स्थिति-बन्धनुं प्रमाण ते वखते ज्ञानावरण वगेरे ते ते प्रकृति तरीके बनतां दलिकोमां वधारेमां वधारे स्थिति-काळवाळां दलिकोने हिसाबे गणाय छे ते पण कही गया. हवे तेमां जे दलिकोने हिसाबे स्थिति-बन्धनुं प्रमाण नक्की थाय छे ते दलिकोनो स्थितिकाळ बे रीते गणी शकाय छे, एक तो—बन्ध-समयथी मांडीने अने बीजो—ते वखते ज्ञानावरणादि ते ते प्रकृति तरीके थयेलां दलिकोमांथी कोई पण दलिको उदीरणाकरणआदिनी मदद वगर स्वाभाविक रीते उदयमां न आवी शके तेटलो काळ (अबाधाकाल) बाद करीने. आ बेमां पहेली रीते गणाता काळने 'कर्मरूपताअवस्थानलक्षण स्थितिकाळ' कहेवाय छे, ज्यारे बीजी रीते गणाता काळने 'अनुभवयोग्य स्थितिकाळ' कहेवाय छे. अने ते हिसाबे स्थिति-बन्धप्रमाण के जे सौथी वधारे स्थितिवाळां दलिकने आधीन छे ते पण बे प्रकारनुं कहेवाय छे.

दा० त० असुकसमये आत्मा साथे जोडातां असत्कल्पनाए १ करोड कर्मदलिकोमांथी १ लाख जेटलां कर्मदलिकोमां ज्ञानने आवरवानो स्वभाव उत्पन्न थाय छे. ते वखते ते लाख जेटलां दलिको-

★ जुओ पृष्ठ ९७ उपरनो यन्त्र.

मांथी १०००जेटलां दलिकोमां बीजां दलिको करतां ओछो काळ- ४ समय सुधी ते रूपे रहेवानु नक्की थयु छे ज्यारे बीजां केटलांक केटलांक दलिकोमां ५ समय, ६ समय, ७ समय, ८ समय, एम एक एक समय वधारतां केटलांक दलिकोमां सौथी वधारे ३०० समय सुधी रहेवानु नक्की थयु छे. हवे जोईये तो ते वखते ज्ञानावरणतरीके बनतां दलिकोमांथी जेमां सौथी वधारे काळ सुधी ते रूपे रहेवानु नक्की थयु छे, अर्थात् जे दलिकोना हिसाबे ते वखते बंधाती ज्ञानावरणीय प्रकृतिनु स्थितिबंधप्रमाण गणाय छे ते दलिकोनो स्थितिकाळ बंधसमयथी ३०० समयनो छे. एटले ते समये बंधातां दलिको स्वभावथी (अपवर्तनादि करण न लागे तो) ३०० समय सुधी ज्ञानावरणरूपे मळी शकतां होवाथी ते ३०० समय स्थितिबन्धप्रमाण कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिकाळने हिसाबे थयु. आ ३०० समय स्थितिबन्धप्रमाणने कर्मरूपतावस्थानलक्षण स्थितिबन्धनु प्रमाण कहेवाय. हवे उपर कह्यु ते ज समये बन्धायेलां ते ज दलिकोनो, ते दलिको स्वाभाविकरीते उदयमां आवीने अनुभव करावी शके तेवो काळ विचारीअे तो ते बंधसमयथी जे चोथो समय त्यारथी मांडीने बंधसमयथी जे ३०० मो समय त्यां सुधीनो मळे छे, केमके ओछामां ओछी स्थितिवाळां दलिको पण ४ समयनी स्थितिवाळां कयां छे. अने तेथी बन्धसमयथी * ३ समय पसार न थाय त्यां सुधी(ते समये बंधायेल ज्ञानावरणदलिकोमांनु)कोईपण दलिक स्वाभाविकरीते उदयमां आवी शके नहि. अर्थात् बन्धसमयथी चोथो समय ते अनुभवनो प्रथम समय, अने बन्धसमयथी ३००मो समय, ते अनुभवनो छेल्लो समय; एम अनुभवयोग्यस्थितिनी अपेक्षाए स्थितिबन्धनु प्रमाण कर्मरूपतास्थितिबन्धप्रमाण करतां (त्रण समय) ओछु थाय. आ रीते अनुभवयोग्यस्थितिबन्धप्रमाण अने कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धप्रमाण वच्चे तफावत छे. प्रस्तुत ग्रन्थमां मुख्यरूपे कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धप्रमाणने आश्रयी सर्व प्ररूपणा करवामां आवी छे.

उपरोक्तस्थितिबन्धप्रमाण कोई वखते ओछामां ओछु अन्तर्मुहूर्तादि होय छे. ज्यारे कोई वखते तेनाथी कंईक वधारे, यावत् कोई वखते सौथी वधारे ३० कोटीकोटी सागरोपमादि होय छे पण तेथी वधारे नहि ज. ते मूळ प्रकृतिने आश्रयी आ प्रमाणे छे:—

	प्रकृति →	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	नाम	गोत्र	अन्तराय	आयुष
स्थितिबन्धप्रमाण	जघन्यथी	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१२ मुहूर्त	अन्तर्मुहू०	८ मुहूर्त	८ मुहूर्त	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०
	उत्कृष्टथी	३०कोटीकोटी सागरोपम.	३०कोटीकोटी सागरो०	३०कोटाकोटी सागरो०	७०कोटाकोटी सागरो०	२०कोटाकोटी सागरो०	२० कोटाकोटी सागरो०	३० कोटाकोटी सागरो०	३३ सागरोपम० △

*आ त्रण समय काळने अबाधाकाळ कहेवाय छे, केमके तेटलो काळ ते चोक्कस वखते बन्धायेला कोई दलिकनी स्थिति पूर्ण नहि थती होवाथी तेनो उदय पण न होई ते निमित्तक कोई बाधा पण जीवने नथी.

△ अहींयां कर्मरूपतावस्थानलक्षण स्थितिबन्धप्रमाण कहेवानु छे. ते प्रमाण अबाधा सहित होवाथी कोटीपूर्वना त्रीजा भागवडे अधिक ३३ सागरोपम जाणवु.

आ रीते अन्तमुर्हूर्तादिथी मांडीने यावत् वधारेमां वधारे ३० कोटीकोटी सागरोपम वगरे भिन्न भिन्न स्थितिओ बन्धाई शकती होई ते एक एक स्थितिदीठ एक एक स्थितिबन्धस्थान गणाय. आवां स्थितिबन्धस्थानो एकेन्द्रियादि जीवभेदे जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणनी तरतमताने कारणे ओछांवत्तां होय छे. ते एकेन्द्रियादि १४ जीवभेदोमां प्राप्त थतां स्थितिबन्धस्थानोना ओछावत्तापणानुं, तथा ते ते एकेन्द्रियादि जीवोने बन्धप्रायोग्य स्थितिबन्धस्थानोना कारणभूत अध्यवसायोनुं तथा स्थितिबन्धस्थानोनुं अने अध्यवसायस्थानोनुं प्रमाण जेने आधीन छे तेवा तेओना जघन्य-उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणनुं ज्यां अल्पबहुत्व बतावावामां आव्युं छे. **ते स्थितिबन्धस्थान** (प्ररूपणा) **नामनुं पहेला अधिकारनुं पहेलुं द्वार छे.**

उपर कह्या प्रमाणे बंध समये ज्ञानावरणादि एक एक प्रकृतिरूपे बधातां दलिकोमांथी केटलांक दलिको अन्तमुर्हूर्तादि जघन्यस्थितिकाळवाळां होय छे अने केटलांक दलिको वधारेमां वधारे ३० कोटीकोटी सागरोपमादि स्थितिकाळवाळां होय छे. ज्यारे बाकीनां दलिकोमांथी केटलांक केटलांक दलिको वचली प्रत्येकस्थितिवाळां होय छे. अहींयां ते ते स्थितिकाळवाळां दलिको परस्पर सरखां नथी होतां पण कंईक नियमानुसार हीनाधिक (वत्तां ओछां) होय छे. आ नियत हीनाधिकतानी प्ररूपणा बे रीते करवामां आवे छे. एक तो पासे पासेनां निरन्तर बे स्थाननी अपेक्षाए अने बीजी पल्योपमना असंख्यभागने अंतरे अंतरे रहेलां बे बे स्थानोनी अपेक्षाए; तेमां पहेला प्रकारने अनन्तरोपनिधा अने बीजा प्रकारने परंपरोपनिधा कहेवाय छे. अहीं तेटलां तेटलां ओछां वत्तां दलिकोमां तेटला तेटला स्थितिकाळनी व्यवस्था थवी तेने निषेक कहेवाय छे. पहेला अधिकारना बीजा **निषेकद्वारमां उक्त बंने रीते दलिकनिषेकनुं प्रतिपादन करवामां आव्युं छे.**

आगळ कही गया ते प्रमाणे बंधसमये ज्ञानावरणादि ते ते प्रकृतिरूपे थतां एक एक प्रकारनां दलिकोमांथी केटलांक दलिकोनो जे ओछामां ओछो स्थितिकाळ होय छे ते काळ पसार न थाय त्यां सुधी मात्र तेटला स्थितिकाळवाळां कोई दलिको न होवाथी कोई ज दलिक स्वाभाविकरीते उदयमां न आवी शके, अर्थात् तेटलो काळ ते दलिकोना ज्ञानावरणादि स्वभाव निमित्तक जीवने कोई बाधा पण न थती होवाथी तेटलो काळ ते ते प्रकृतिना हिसाबे अबाधाकाळ कहेवाय छे. आ काळ जघन्यथी अन्तमुर्हूर्त अने उत्कृष्टथी हजारो वर्ष, एटले के-ज्ञानावरणादिनो जेटला कोटाकोटी सागरोपमप्रमाण स्थितिबन्ध थाय तेटला सो वर्ष प्रमाण होय छे. **दा० त०** ज्ञानावरणनो उत्कृष्टस्थितिबन्ध ३० कोटीकोटीसागरोपमप्रमाण थतो होवाथी तेनो अबाधाकाळ ३००० वर्ष प्रमाण होय छे, अर्थात् ते उत्कृष्टस्थितिबन्ध वखते ओछामां ओछा स्थितिकाळवाळां दलिकोना स्थितिकालनुं प्रमाण ३००० वर्ष+१ समय होय छे. आ अबाधाकाळ पण स्थितिबन्धप्रमाणनी हीना-

धिकताने अनुसारे ओछोवत्तो–कोई वखत समयन्यूनउत्कृष्ट, तो कोई वखत बेसमयन्यूनउत्कृष्ट, एम, यावत् कोई वखत समयाधिक जघन्य पण होय छे

अबाधाकाळ स्थितिबन्धप्रमाणना आधारे वधघट थतो होवा छतां ते अनियमित रीते वधघट नथी थतो पण कईक नियमसर वधघटने पामे छे. अर्थात् ज्यारे उत्कृष्टस्थिति बंधाती होय त्यारे जेटलो अबाधाकाळ होय तेटलोज अबाधाकाळ समयन्यून उत्कृष्टस्थिति बंधाती होय त्यारे पण होय छे. ते ज रीते बेसमयन्यूनउत्कृष्ट स्थितिबंध वखते पण तेटलोज अबाधाकाळ होय छे, एम स्थितिबंध ओछो ओछो थतो यावत् पल्योपमना असंख्यातमा भाग जेटलो घटे (पल्योपमना एक असंख्यातमा भाग वडे न्यून उत्कृष्टस्थितिबंध जेटलो थाय) त्यां सुधी अबाधाकाळ तेटलो ज (उत्कृष्ट ज) होय छे; एक समय पण न्यून नहि. पण ज्यारे स्थितिबन्ध तेथी पण वधारे घटे छे त्यारे अबाधाकाळ एक समय घटे छे. ते पण ज्यां सुधी बीजो पल्योपमनो असंख्यातमो भाग जेटलो स्थितिबन्ध घटे त्यां सुधी तेटलो ज (एकसमयन्यूनउत्कृष्ट ज) रहे छे. एम आगळ वधतां पल्योपमना बे असंख्यातभाग वडे न्यून उत्कृष्टस्थितिबंध थतो होय त्यारे अबाधाकाळमांथी बीजो एक समय घटे छे. अर्थात् अबाधाकाळ बेसमयन्यून उत्कृष्ट होय छे. एम उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमांथी पल्योपमना असंख्यातमा भाग जेटला जेटला निरन्तर स्थितिबन्धप्रमाणना घटाडे घटाडे एक एक समय अबाधा घटे छे. ते पण आयुष सिवायना सात कर्ममां ज. **इत्यादि प्ररूपणा त्रीजा अबाधाकण्डक द्वारमां आवी छे.**

पहेला अधिकारना पहेला त्रण द्वारोमां स्थितिबन्धस्थान,अबाधास्थान वगेरे एक एक विषयने लई तेनुं स्वरूप,१४ जीवभेदोमां तेनुं अल्पबहुत्व वगेरे प्रासङ्गिक उपयोगी विषय साथे विवेच्या पछी **पहेला अधिकारना छेल्ला अल्पबहुत्वद्वारमां**–एक एक जीवभेदमां स्थितिबन्धस्थान, अबाधास्थान अबाधाकण्डक, जघन्य उत्कृष्ट अबाधा, जघन्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध वगेरे पहेला त्रण द्वारमां बतावेला पदार्थोनां परस्पर=परस्थान अल्पबहुत्वो बतावavामां आव्यां छे.

आ स्थळे टीकाग्रन्थमां विशेषमां एक एक जीवभेदमां आठे कर्मना स्थितिबन्धस्थान, अबाधास्थान वगेरे पदोनुं सामूहिक अल्पबहुत्व तथा चौदे जीवभेद अने आठे कर्मथी उत्पन्न थतां स्थितिबन्धस्थानादिनां ३०० करतांये वधारे पदोनुं एक मोटुं अल्पबहुत्व बतावायुं छे. जो के आ अल्पबहुत्वो मात्र मिथ्यात्वगुणस्थानके रहेला जीवोने आश्रयी बतावायां छे छतां तेमां बतावायेल प्रासंगिक घटनाओथी अन्यगुणस्थानके रहेला जीवोनीअपेक्षाए पण अल्पबहुत्वोने काढवानुं मार्गदर्शन तेमांथी मळी शके तेम छे.

बीजो अधिकार अने एनां १५ द्वारो

बीजा अधिकारमां उपरोक्तस्वरूपवाळा(कर्मरूपतावस्थानलक्षण) स्थितिबन्धनुं प्रमाण ओघथी= सामान्यथी (जीवसामान्यनी अपेक्षाए) अने आदेशथी=विशेषथी अमुक चोक्कस जीवोनी (नरकगति-

ओघ,प्रथमनरक वगेरे,तेम तिर्यंचओघ वगेरे ते ते मार्गणाओवर्ती जीवोनी)अपेक्षाए जघन्य=ओछामां ओछु' अने उत्कृष्ट=वधारेमां वधारे केटलु' ते,तथा ते जघन्य के उत्कृष्ट स्थितिबन्धना स्वामी=बन्धक, ते जघन्य अने उत्कृष्ट तथा तेना प्रतिपक्षी अजघन्य अने अनुत्कृष्ट एम चार प्रकारमांथी एक एक प्रकारनो स्थितिबन्ध [1]सादि छे, [2]अनादि छे, [3]सान्त छे के [4]अनन्त छे ते रूप साद्यादिनी, तथा काळ, अन्तर अने संनिकर्षनी एक जीवाश्रयी स्थितिबन्धप्रमाणादि ते ते द्वारोथी तथा उत्कृष्टादि स्थितिबन्धना नानाजीवाश्रय भंगविचय वगेरेनी भंगविचयादि ते ते द्वारोथी विचारणा करवामां आवी छे. ते द्वारोना नाम आ प्रमाणे छेः—

(१) स्थितिबन्धप्रमाण, (२) स्वामित्व, (३) साद्यादि, (४) काळ, (५) अन्तर, (६) संनिकर्ष, (७) भङ्गविचय, (८) भाग, (९) परिमाण, (१०) क्षेत्र, (११) स्पर्शना (१२) काळ, (१३) अन्तर, (१४) भाव अने (१५) अल्पबहुत्व.

स्थितिबंधप्रमाण द्वारमां—उपर कही गया तेम कर्मरूपतावस्थानलक्षण स्थितिबन्धने आश्रयी ओघथी अने △१७० मार्गणास्थानोमां गुणस्थानको,लेश्याओ, एकेन्द्रियादि जातिओ, पर्याप्त-अपर्याप्तत्वादि अवस्थाओ, उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि वगेरेमां वर्तमान जीवोना समावेश असमावेशना आधारे प्राप्तथता उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्धनु' प्रमाण बतावी टीकाग्रन्थमां शास्त्रान्तरनी साक्षीओ अने युक्तिओ पूर्वक विवेचन करवामां आव्यु' छे. अने द्वारने अन्ते मार्गणास्थानोनु' यन्त्र बतावी उत्कृष्टादि स्थितिबन्धप्रमाणनां पण यन्त्रो बताववामां आव्यां छे. आ रीते आगळ पण ते ते द्वारोने अन्ते द्वारमां आवेला पदार्थो यन्त्रोमां संकलित करवामां आव्या छे.

बीजा स्वामित्व द्वारमां-ओघथी अने आदेशथी पहेला स्थितिबन्धप्रमाणद्वारमां कहेला जघन्य उत्कृष्ट स्थितिबन्धने करनारा जीवो कया अने केवा होय एरूप स्वामिओनु' (बन्धकोनु') प्रतिपादन करवामां आव्यु' छे. दा० त० ओघथी साकारउपयोगमां रहेला निद्रा वगरना जे कोई पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवो कषायोदयजन्य उत्कृष्टसंक्लेशमां के तेथी कईक मन्दसंक्लेशमां वर्तता होय ते आयुष सिवाय सात कर्मनी उत्कृष्टस्थितिना बन्धक छे.

त्रीजा साद्यादि द्वारमां-ओघथी अने आदेशथी १७० मार्गणास्थानोमां एक एक मूलप्रकृतिना उत्कृष्ट, * अनुत्कृष्ट, जघन्य अने □ अजघन्य एम चार प्रकारना स्थितिबन्धमांथी एक एक प्रकारनो स्थितिबंध एकजीवने आश्रयी सादि छे ? अनादि छे ? सान्त छे? के अनन्त छे,? ए विचारवामां आव्यु' छे अने ते ते स्थितिबन्ध सादि अनादि वगेरे भांगे छे तो केवी रीते छे ? नथी तो केम नथी ? वगेरे बताववा साथे कुल भांगा बतावी अन्ते एवु' यंत्र आलेख्यु' छे.

△कुल १७४ मार्गणाओ अधिकृत होवा छतां अकषाय, केवलज्ञान,केवलदर्शन अने यथाख्यातसंयम मार्गणामां स्थितिबन्ध ज न थतो होवाथी ते ४ मार्गणा सिवायनी १७० मार्गणाओ समजवी.

* अनुत्कृष्ट एटले उत्कृष्ट सिवायनो स्थितिबन्ध. □ अजघन्य एटले जघन्य सिवायनो स्थितिबंध .

चोथा एकजीवाश्रय काळद्वारमां–ओघथी अने आदेशथी ते ते मार्गणास्थानोमां रहेल कोई एक जीव ज्ञानावरणादि ते ते मूलकर्मनो उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट वगेरेमांथी एक एक प्रकारनो स्थितिबन्ध निरन्तरपणे ओछामां ओछो केटलो काळ सुधी करे, अने वधारेमां वधारे केटलो काळ सुधी करे ते रूप बन्धकाळनुं जघन्य उत्कृष्ट प्रमाण बतावीने ते काळ क्यांक जघन्यथी समयमात्र ज अथवा अन्तर्मुहूर्तमात्र ज होय के तेथी वधारे ज होय, जेमके-नरकगतिओघमार्गणामां ज्ञानावरणादि कर्मनो अजघन्यस्थितिबन्धनो जघन्यकाळ बेसमयन्यून दशहजारवर्ष होय, तो ते तेटलो शा माटे ? तेथी ओछो केम नहि ? इत्यादि विवेचनद्वारा स्पष्टकरी बताव्युं छे. एम उत्कृष्टकाळने पण हेतुओ द्वारा सिद्ध करवामां आव्यो छे.

आ द्वारमां १४७ मी गाथामां एकेन्द्रियओघ वगरे केटलीक मार्गणाओमां ज्ञानावरणादिना अनुत्कृष्टस्थितिबन्धनो जघन्यकाळ एकसमय नहि बतावतां अन्तर्मुहूर्त बताव्यो छे, जे सिद्ध करतां टीकाग्रन्थमां भवना छेल्ला अन्तर्मुहूर्तमां उत्कृष्टस्थितिबन्धने करनारा जीवो, पोताने प्रायोग्य हलकामां हलकी गति जाति वगेरेमां जनारा होय छे इत्यादि विस्तृत विवेचन द्वारा समजाववामां आव्युं छे के जे विवेचनमां वर्णवायेला पदार्थो आगळना ग्रन्थने समजवामां बहु उपयोगी छे, ते उपरांत ग्रन्थ-लाघव माटे आगळ अने पाछळ(उत्तरस्थितिबन्ध रसबन्ध प्रदेशबन्ध)ना ग्रन्थमां ते ते मार्गणाओनी एकजीवाश्रय कायस्थितिनी भलामण करी होवाथी अहीं (१५०थी १८४ सुधीनी गाथाओ वडे) १७० मार्गणाओनी एकजीवाश्रयी उत्कृष्ट अने जघन्य कायस्थिति केटलाक मतान्तर पूर्वक बतावी छे जे श्रीप्रज्ञापनाआगम वगेरे ग्रन्थान्तरनी साक्षीओ वगेरे वडे विवेचाई छे, एटलुं ज मात्र नहि पण कालद्वारनां यन्त्रो दर्शावतां पहेलां लगभग एकज पत्र उपर क्रमशः १७० मार्गणानी जघन्य अने उत्कृष्ट कायस्थितिनो गाथानंबर साथेनो यंत्र अने ते कायस्थितिमां केटलीक मार्गणाओमां भवस्थितिनी भलामण करी होवाथी जघन्य अने उत्कृष्ट भवस्थितिनो यंत्र पण साथे साथे आप्यो छे.

पांचमा एकजीवाश्रयी अन्तरद्वारमां—पूर्वनी जेम ओघथी अने आदेशथी १७० मार्गणास्थानोमां कोई एक जीव मूळप्रकृतिनो उत्कृष्टादि विवक्षित एकप्रकारनो स्थितिबन्ध न करे तो ओछामां ओछो केटलो काळ न करे, ए रूप जघन्य अन्तर, अने वधारेमां वधारे केटलो काळ न करे ते रूप उत्कृष्ट अन्तरनुं प्रमाण बताववामां आव्युं छे (आ काळनी आदिमां अने अन्तमां ते विवक्षित स्थितिबन्ध होय तो ज ते अन्तर तरीके गण्यो छे,) अने टीकामां ते अन्तरने सिद्ध करी घटनाओ करवामां आवी छे, एमां केटलीक मार्गणाओमां ज्यां ते ते अन्तरनुं प्रमाण देशोनकायस्थिति बताव्युं छे त्यां '**देशोन**' थी अन्तर्मुहूर्त, बे अन्तर्मुहूर्त वगरे केटलो काळ कायस्थितिमांथी वर्जनीय छे एनी एकादमार्गणामां भावना करी बाकीनी मार्गणाओ माटे दिग्दर्शन कराव्युं छे.

ते ते जीवोने चालुभवनो त्रीजो, नवमो, सत्तावीसमो वगेरे भाग जेटलुं आयुष बाकी होय

त्यारे त्यारे अमुक चोक्कस समयथी ज प्राप्त थता आयुषबन्धमाटे योग्य काळे श्रीप्रज्ञापना आगममां कहेला आयुषबन्धना आकर्षोनी अपेक्षाए आयुषना उत्कृष्टादि स्थितिबन्धनुं अन्तर अधिकृत होवाथी मुख्यरूपे ते रीते घटना करी होवा छतां एकभवमां एक ज वखत आयुषबन्ध थवानां वचनोने हिसाबे आयुषना ते ते स्थितिबन्धनुं अन्तर केटलुं अने केवी रीते प्राप्त थाय तेनुं पण मार्गदर्शन कराव्युं छे.

छट्ठा एकजीवाश्रयी संनिकर्ष द्वारमां—पूर्ववत् ओघ अने आदेशथी कोई एक जीव ज्ञानावरणीयादि ते ते मूळकर्मनो उत्कृष्ट स्थितिबंध करतो होय त्यारे ते जीवने बाकीनी सात प्रकृतिओमांथी केटली प्रकृतिओ बंधाय ? अने ते प्रकृतिओनी उत्कृष्टस्थिति बंधाय के अनुत्कृष्ट स्थिति बंधाय ? जो अनुत्कृष्टस्थिति बन्धाय तो ते उत्कृष्टस्थिति करतां केटली ओछी बंधाय, शुं असंख्यातभागहीन बंधाय, संख्यातभागहीन बंधाय के पछी ते करतां पण वधारे संख्यातगुणहीन के असंख्यातगुणहीन बन्धाय ? वगेरे वर्णववामां आव्युं छे. एवीज रीते एक प्रकृतिनी जघन्यस्थितिने बांधता जीवने ते सिवायनी प्रकृतिओ अने तेना स्थितिबंधनुं प्रमाण केटलुं केटलुं होय छे ते बताव्युं छे. अने ते सर्वे पदार्थोनुं विवेचन करी पूर्वनी जेम ते पदार्थो यन्त्रोमां गुंथी लेवाया छे.

सातमा नानाजीवाश्रय भङ्गविचयद्वारमां—ज्ञानावरणादि ते ते मूळकर्मनी उत्कृष्टादि ते ते स्थितिना बंधकोनी अने (उत्कृष्टादि विवक्षित स्थितिनी प्रतिपक्षभूत जे अनुत्कृष्टादिस्थिति तेना बन्धकरूप) अबन्धकोनी ते ते काळे थती प्राप्ति अप्राप्तिने अनुसारे उपलब्ध थता भांगा बताववामां आव्या छे. जेमके—भङ्ग पहेलो-'एक बंधक'. भंग बीजो-'एक अबन्धक'. भंग त्रीजो-'सर्वे बन्धको'. भंग चोथो-'सर्वे अबन्धको'. भंग पांचमो-'एक बन्धक, एक अबन्धक'. भंग छट्ठो-'एक बन्धक, अनेक अबन्धको'. भंग सातमो-'अनेक बन्धको, एक अबन्धक'. भङ्ग आठमो-अनेक बन्धको, अनेक अबन्धको' .आ आठ भांगामांथी क्यां कोना केटला भंग प्राप्त थाय ते बताव्या छे अने टीकाग्रन्थमां ओघथी के विवक्षितमार्गणामां विवक्षित उत्कृष्टादि स्थितिना बन्धकजीवोनी संख्या अतिशय (असंख्यलोकप्रदेशप्रमाण के तेथी अधिक) होवाथी अने तेनी प्रतिपक्षभूतस्थितिना बन्धकोनी संख्या ते करतां पण वधारे होवाथी हंमेशां (कोई पण समये) ते विवक्षितस्थितिनो उपरोक्त आठ भङ्गमांथी मात्र आठमो भंग ज मळे छे पण बाकीना सात भंग मळता नथी. एज रीते क्यांक विवक्षित स्थितिना बन्धकोनी संख्या ओछी होवाथी मात्र त्रण भांगा, तो क्यांक मार्गणानी ज अध्रुवता (मार्गणामां जीवो क्यारेक बीलकुल न होवारूप मार्गणानी अनियमितता) वगेरे कारणे आठे आठ भांगा मळे छे इत्यादि नियमो बताववा साथे सिद्ध करी बताव्युं छे.

आठमा नानाजीवाश्रय भागद्वारमां-ओघथी अने ते ते मार्गणामां ते ते कर्मनी उत्कृष्टादि स्थितिना बन्धको त्यां रहेला सर्व स्थितिबन्धकोना केटलामा भागे छे ? शुं संख्यातमे भागे छे के असंख्यातमे भागे छे· के पछी अनंतमे भागे छे ते बताववामां आव्युं छे·

नवमा नानाजीवाश्रय परिमाण द्वारमां–पूर्ववत् बन्ने रीते ते ते कर्मनी ते ते स्थितिना बन्धकोनुं परिमाण (संख्याता छे, असंख्याता छे के पछी अनंता छे ते रूप) बताव्युं छे. अर्थात् ते ते बन्धकोनी वधारेमां वधारे संख्या केटली होई शके ते जणाववामां आव्युं छे. अहीं मूळग्रन्थमां के टीकाग्रन्थमां ते परिमाण संख्यात वगेरे त्रणभेदे ज बताव्युं होई तेने विशेषरूपे जाणवा माटे, तथा कोई कोई स्थळे ते परिमाण मार्गणागत सर्वजीवसंख्याने अधीन होवाथी, तेमज आगळ त्रीजा वगेरे अधिकारमां तो कोई कोई स्थळे ते परिमाणने मार्गणागत जीवसंख्याने भळाव्युं होवाथी के मार्गणागत जीवसंख्या द्वारा साधवानुं कह्युं होवाथी मार्गणागत जीवपरिमाण जाणवुं आवश्यक बने छे, अने तेथी परिशिष्ट त्रीजामां १७० मार्गणामां प्राप्त थता जीवोनुं परिमाण प्रदर्शित करतुं ११ गाथानुं द्रव्यप्रमाणप्रकरण मूकवामां आव्युं छे. के जे आगळ पाछळना ग्रन्थमां विशेषरूपे बन्धक परिमाणादि जाणवामां आधारभूत छे.

दशमा नानाजीवाश्रय क्षेत्रद्वारमां–टीकाग्रन्थमां सर्वप्रथम समस्त बन्धविधान ग्रन्थमां क्षेत्रद्वारमां कहेवातुं क्षेत्र अने स्पर्शनाद्वारमां कहेवाती स्पर्शना ए बन्ने वच्चे शुं तफावत छे ते जीवसमासग्रन्थानुसारे वर्तमान अने अतीत एम बे प्रकारना काळभेदथी बताव्यो छे अर्थात् क्षेत्र एकसमयवर्ती बन्धको संबंधी, अने स्पर्शना नाना-अनेक समयवर्ती बन्धको संबंधी अहीं अधिकृत छे तेम स्पष्ट कराव्युं छे अने त्यार बाद मूळग्रन्थमां कहेलुं ते ते स्थितिना बन्धकोनुं सर्वलोक, लोकअसंख्यभाग वगेरे क्षेत्र मार्गणागत सर्वजीवोनुं क्षेत्र बताववा पूर्वक सिद्ध करवामां आव्युं छे

अगियारमा नानाजीवाश्रय स्पर्शना द्वारमां–उपरोक्त स्वरूपवाळी स्पर्शनानुं प्रमाण ओघ आदेश बन्ने रीते पूर्ववत् ते ते स्थितिने आश्रयी बताव्युं छे अने तेने टीकाग्रन्थमां युक्ति वगेरेथी सिद्ध कर्युं छे अहींयां मूळग्रन्थमां कहेल ते ते बन्धकोनी १३ भाग १२ भाग वगेरे स्पर्शनाना विषय तरीके घनीकृत लोकना १३ भागादि याने तेटला घन राजलोक न लेतां त्रसनाडी अन्तर्गत क्षेत्रना ज १३ भागादि लेवा एज युक्तियुक्त छे ते पण सिद्ध करवामां आव्युं छे.

बारमा नानाजीवाश्रय काळद्वारमां–पूर्ववत् ओघ आदेश बंने रीते ते ते स्थितिना बन्धको निरन्तरपणे जघन्यथी अने उत्कृष्टथी केटलो काळ मळे ते रूप बे प्रकारनो काळ बताववामां आव्यो छे.

नानाजीवाश्रयकाळ एटले 'ओघमां के मार्गणाओमां जे काळना प्रत्येक समये नाना=अनेक (एक करतां वधारे) जीवो विवक्षितस्थितिना बन्धक तरीके मळता होय ते काळ', एवो अर्थ न करवो पण 'ओघथी के मार्गणागत नाना=समस्त जीवोमांथी निरन्तरपणे एक या अनेक जीवो ते विवक्षित स्थितिना बन्धक तरीके जे काळे मळता होय ते काळ नानाजीवाश्रयकाळ कहेवाय,' एवो करवो आवश्यक छे. अन्यथा दोष छे. एम टीकाग्रन्थमां आक्षेप-परिहार साथे सिद्ध करी मूलोक्त काळ ने सिद्ध करवामां आव्यो छे.

तेरमा नानाजीवाश्रय अन्तरद्वारमां–ओघ आदेश बंने प्रकारे विवक्षित मूळकर्मनी उत्कृष्टादि विवक्षितस्थितिना बन्धक तरीके नाना=सर्वे जीवो न होय, अर्थात् कोई पण जीवो न होय, तेवो काळ जघन्य उत्कृष्ट भेदथी बताव्यो छे.

चौदमा भावद्वारमां–ओघ-आदेश बंने प्रकारे आठे कर्मना उत्कृष्टादि चारे प्रकारना स्थितिबन्धने औदयिकभावे बताव्यो छे, त्यां ते पदार्थने सिद्ध करतां औदयिकादि भावोनुं स्वरूप के जे ग्रन्थान्तरोमां पूर्वना महापुरुषोए विस्तारथी बतावेलुं छे ते न बतावतां मात्र प्रस्तुत बन्ध औदयिक भावे ज केम ? ए यथामति शंका-समाधानपूर्वक बताववा प्रयत्न कर्यो छे.

बीजा अधिकारना छेल्ला अल्पबहुत्व द्वारमां—ओघ आदेश बंने रीते ते ते मूळ-कर्म संबंधी उत्कृष्टादि ते ते स्थितिबन्ध प्रमाण अने स्थितिबन्धकप्रमाण एम मूल बे प्रकारने आश्रयी सात अल्पबहुत्व बताववामां आव्यां छे. ते आ प्रमाणे—

अल्पबहुत्व

- स्थितिबन्धकप्रमाण
  - (१) उत्कृष्ट,अनुत्कृष्ट स्थितिना बन्धकरूप बे पदोनुं
  - (२) जघन्य,अजघन्य स्थितिना बन्धकरूप बे पदोनु
  - (३) उत्कृष्ट, जघन्य अने अजघन्यानुत्कृष्ट स्थितिना बन्धकरूप त्रण पदोनुं
- स्थितिबन्धप्रमाण
  - स्वस्थाने
    - (४) उत्कृष्ट अने जघन्य स्थितिबन्धप्रमाण रूप बे पदोनु
  - परस्थाने*
    - (५) उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाण.
    - (६) जघन्यस्थितिबन्धप्रमाण
    - (७) जघन्य अने उत्कृष्ट स्थितिबन्धप्रमाणने आश्रयी

त्रीजो 'भूयस्कार' नामक अधिकार अने एनां द्वारो

स्थितिबन्धना जघन्य उत्कृष्ट वगेरे भेदोनी जेम भूयस्कार,अल्पतर, अवस्थित अने अवक्तव्य ए रीते पण चार भेद पडी शके छे, तेनां लक्षण पांचमा कर्मग्रन्थमां 'एगादहिगे भूओ' इत्यादि गाथा वडे बतावेल प्रकृतिबन्धना भूयस्कार अल्पतरादिना लक्षण जेवां छे. ते आ प्रमाणे—

(१) ज्ञानावरणादि ते ते प्रकृतिना अन्तर्मुहूर्तादि (समयादिवडे हीनाधिक नहि तेवा) चोक्कस प्रमाणवाला स्थितिबन्धने करता जीवने ते बन्धना निरन्तर उत्तरसमये प्रवर्तता समयादिवडे अधिक स्थितिबन्ध प्रथमसमये **भूयस्कार स्थितिबन्ध** कहेवाय.

(२) भूयस्कारस्थितिबन्ध करतां विपरीत एटले के पूर्वसमये थता कोई एक चोक्कसप्रमाणवाला स्थितिबन्ध करतां निरन्तरउत्तरसमये थता ते करतां ओछा स्थितिप्रमाणवाला बन्धना पहेला समये **अल्पतर स्थितिबन्ध** कहेवाय.

(३) पूर्वसमये थयेला कोई एक नियत स्थितिप्रमाणवाला बन्धना निरन्तर उत्तरसमयमां थता तेटला ज स्थितिप्रमाणवाळा बन्धने **अवस्थित स्थितिबन्ध** कहेवाय, ज्यारे–

* परस्थाने एटले आठ मूल प्रकृतिनुं भेगुं.

(४) ज्ञानावरणादि ते ते प्रकृतिनो स्थितिबन्ध सर्वथा न थतो होय एवा जीवने ते स्थितिबन्ध शरू थतां पहेला समये ते ते प्रकृतिनो **अवक्तव्य स्थितिबन्ध** कहेवाय.

आ चार प्रकारना स्थितिबन्धमां भूयस्कारबन्धना प्राथम्यना हिसाबे टूंकामां अधिकारनुं नाम 'भूयस्कार' एवुं छे. आ अधिकारमां [1]सत्पद, [2]स्वामित्व, [3]काल, [4]अन्तर, [5]भङ्गविचय, [6]भाग, [7]परिमाण, [8] क्षेत्र, [9]स्पर्शना, [10]काल, [11]अन्तर, [12]भाव अने [13]अल्पबहुत्व एम पूर्ववत् तेर द्वारोथी भूयस्कारादि स्थितिबन्धोनी सत्पद, स्वामित्वआदि प्ररूपणा करवामां आवी छे.

पहेला सत्पद द्वारमां–पूर्ववत् ओघथी अने आदेशथी (१७०) मार्गणास्थानोमां कया मूलकर्मनां भूयस्कारादि कयां स्थितिबन्धपदो सत् (सद्भूत) छे. ते बतावी तेने टीकाग्रन्थमां सिद्ध करवामां आव्यां छे. जेमके–ओघथी आयुष सिवाय सात मूलकर्मनां भूयस्कारादि चारे प्रकारनां स्थितिबन्धपदो सत् छे, ज्यारे आयुष कर्मनां अवक्तव्य अने अल्पतर नामनां बे ज स्थितिबन्धपदो सत् छे, बाकीनां बे पदो असत् छे, केमके कोई पण जीवने पोताना जीवित दरमियान आयुष कर्म क्यारेक ज बन्धाय छे, तथा स्थितिबन्धनुं प्रमाण कर्मरूपताअवस्थानलक्षण स्थितिबन्धना हिसाबे अधिकृत होवाथी आयुषकर्मनी बंधाती स्थितिना प्रमाणमां अबाधा अन्तर्गत गणेली छे अने तेम होवाथी आयुषबन्धकालना बीजा त्रीजा वगेरे समयोमां अनुभवयोग्यस्थितिबन्धनुं प्रमाण पहेला समय जेटलुं ज रहेवा छतां भोगवाता आयुषनी शेषस्थितिने अधीन एवी अबाधा समये समये घटे छे तेथी आयुषबन्ध शरू थतां बीजा समयथी पूर्व पूर्व समय करतां उत्तर उत्तर समयोमां कर्मरूपता-अवस्थानलक्षणस्थितिबन्धप्रमाण समय समय ओछुं प्राप्त थतुं होई पहेलो समय छोडी दरेक समयोमां अल्पतर स्थितिबन्धो ज मळे छे, अने पहेला समये अवक्तव्य स्थितिबन्ध ज मळे छे, पण आयुष्यनां भूयस्कार के अवस्थित स्थितिबन्ध ए बे पदो नहि मलतां होवाथी असत् छे.

मनुष्यगतिओघ वगेरे केटलीक मार्गणाओ छोडीने नरकगतिओघ, तेना उत्तरभेद, तिर्यंचगतिओघ, तेना उत्तरभेद, देवगतिओघ, तेना उत्तरभेद एकेन्द्रियादि अने पृथ्वीकायादि ओघ-मार्गणाओ तथा तेना उत्तरभेदो वगेरे वगेरे घणी मार्गणाओमां सात कर्मनो अवक्तव्य स्थितिबन्ध पण असत् छे(मलतो नथी). जो के देवगतिओघ वगेरे केटलीक मार्गणाओमां उपशान्तमोह वगेरे गुणस्थानके मरण पामीने देवपणे उत्पन्न थता जीवने पूर्वसमये ज्ञानावरणादिनी स्थितिनो अबन्ध अने ते पछीना देवभवना प्रथम समये ते ते स्थितिनो बन्ध मलतो होई अवक्तव्यबन्ध सत् कही शकाय, पण अहींयां ते ते मार्गणाने अनुरूप देवत्वादि (देवपणुं वगेरे) चोकस पर्यायमां वर्तता जीवने पूर्वोत्तरसमये थता अधिक-हीनादि स्थितिबन्धने लईने भूयस्कारादि स्थितिबन्धनी अने तेवाज चोकसपर्यायवर्ती जीवने प्राप्त थता ते ते कर्मनी स्थितिना अबन्ध-बन्धने लईने

अवक्तव्यबन्धनी विवक्षा करवामां आवी होई देवगतिओघादि मार्गणाओमां ज्ञानावरणादिकर्मनो अवक्तव्यस्थितिबन्ध सत् नथी गण्यो. आ वातने सत्पदादि पहेलां त्रण द्वारोनी टीकामां अवसरे अवसरे स्पष्ट करवामां आवी छे अने त्रीजा एकजीवाश्रय कालद्वारमां ५७५ मी गाथानी टीकामां तो ते गाथामां कहेला अर्थनी घटना ज चालु विवक्षा करतां जुदाप्रकारनी विवक्षाथी करीने ते ते विवक्षाथी थता लाभालाभने दर्शाव्यो छे.

सत्पदद्वार पछी **स्वामित्वादि शेषद्वारोमां**—त्रीजा अधिकारनी जेम पहेला द्वारमां बतावेला ज्ञानावरणादि ते ते कर्मना भूयस्कारादि ते ते स्थितिबन्धसत्पदोना स्वामीओ, ते पदोनो एकजीवाश्रय जघन्य उत्कृष्ट काळ, अन्तर, नानाजीवाश्रय भांगा, बन्धकभाग, बन्धकपरिमाण वगेरे बताव्युं छे. जेनुं टीकाग्रन्थमां पूर्वनी जेम समर्थन करवामां आव्युं छे. अने ते ते द्वारोने अन्ते द्वारोमां आवेला पदार्थोने टूंकमां संग्रहकरतां यन्त्रोनुं आलेखन करवामां आव्युं छे.

चोथो 'पदनिक्षेप' नामनो अधिकार अने एनां ३ द्वारो

भूयस्कार अधिकार पछी चोथा 'पदनिक्षेप'अधिकारमां सत्पद, स्वामित्व अने अल्पबहुत्व नामनां त्रण द्वारो छे, जेमां [1]उत्कृष्ट वृद्धि, [2]उत्कृष्ट हानि, [3]उत्कृष्ट अवस्थान, [4]जघन्य वृद्धि, [5]जघन्य हानि, [6]जघन्य अवस्थान रूप ६ प्रकारना स्थितिबन्धनो विचार करवामां आव्यो छे, आ ६ प्रकारना स्थितिबन्धो भूयस्कारादिस्थितिबन्धोना विशेषरूप ज छे. ते आ प्रमाणे—

(१) उत्कृष्ट वृद्धि पदः–ज्ञानावरणादि ते ते कर्मनो चोक्कस प्रकारनो भूयस्कारस्थितिबन्ध के जे भूयस्कारस्थितिबन्ध शेष भूयस्कारस्थितिबन्ध करतां अधिकतम (वधारेमां वधारे) स्थितिबन्धना वधवाथी थतो होय ते उत्कृष्टवृद्धिपद कहेवाय.

(२) उत्कृष्ट हानि पदः–ज्ञानावरणादि ते ते कर्मनो चोक्कस प्रकारनो अल्पतरस्थितिबन्ध के जे अल्पतरस्थितिबन्ध शेष अल्पतरस्थितिबन्ध करतां अधिकतम स्थितिबन्धना घटवाथी थतो होय ते उत्कृष्टहानिपद कहेवाय.

(३) उत्कृष्ट अवस्थान पदः–अवस्थितस्थितिबन्धना पूर्वमां थयेला ते ते भूयस्कार के अल्पतर स्थितिबन्धोमां अधिकतमस्थितिबन्धतारतम्यथी थयेला भूयस्कार के अल्पतर स्थितिबन्धनी उत्तरमां थयेलो अवस्थितस्थितिबन्ध ते उत्कृष्ट अवस्थानपद कहेवाय, आ उत्कृष्टअवस्थान स्थितिबन्ध कोई मार्गणाओमां उत्कृष्टवृद्धिपदना अनन्तरसमयोमां होय छे. तो वळी कोई मार्गणाओमां उत्कृष्टहानिपदना अनन्तरसमयोमां होय छे, केमके तेवी मार्गणाओमां उत्कृष्टवृद्धि पछी अवस्थान ज नथी होतुं, अथवा उत्कृष्टवृद्धिपद करतां उत्कृष्टहानिपद वधारे स्थितिबन्धतारतम्यथी मळतुं होय छे. कोई कोई मार्गणाओमां तो उत्कृष्टवृद्धि के उत्कृष्टहानिना अनन्तर समयोमां उत्कृष्टअवस्थान न मळतां अन्य कोई भूयस्कार के अल्पतरना अनन्तरसमयोमां उत्कृष्टअवस्थान मळे छे.

(४) जघन्य वृद्धि पद, (५) जघन्य हानि पद अने (६) जघन्य अवस्थान पदः–उत्कृष्ट-

वृद्धि वगेरे उपर कहेलां त्रण पदो करतां विपरीत लक्षणवाळो एटले के सर्वस्तोक-समयमात्र स्थितिबन्धना तारतम्यथी प्राप्तथतां स्थितिबन्धभूयस्कारादि ते जघन्यवृद्धि आदि त्रण पद तरीके छे.

सत्पद द्वारमां—ओघथी अने ते ते (१७०) मार्गणाओमां उपरोक्त स्वरूपवाळां ६ पदोमांथी केटलां अने कयां पदो मळे छे ते बताव्युं छे, ज्यारे पूर्ववत् **स्वामित्व द्वारमां**—ते ते सत्पदोना स्वामी=बन्धको केवी अवस्थामां ते ते वृद्धयादिपदना बन्धक बने छे ते दर्शाव्युं छे. त्रीजा **अल्पबहुत्व द्वारमां**—त्रण उत्कृष्टपदोनुं एक अल्पबहुत्व बताव्युं छे के जेमां उत्कृष्टपदो जे स्थितिबन्धतारतम्यथी उत्पन्न थायछे ते स्थितिबन्धतारतम्योनी परस्परना हीनाधिकता दर्शावाई छे, अने तेज रीते जघन्यपदोनुं एक अल्पबहुत्व बताव्युं छे. टीकाग्रन्थमां उक्त त्रणे द्वारमां कहेला पदार्थोने स्पष्ट करी अधिकारना अन्ते त्रणे द्वारना पदार्थोनुं संग्राहक यन्त्र पण आलेख्युं छे.

पांचमो वृद्धि अधिकार अने एनां १३ द्वारो

पदनिक्षेप अधिकार पछी पांचमो वृद्धिअधिकार आवे छे. वृद्धिअधिकारमां मूळआठकर्मना स्थितिबन्धनी वृद्धि, हानि, अवस्थान अने अवक्तव्य एम चार विषयो उपर सत्पद, स्वामित्व आदि द्वारोमां पूर्वनी जेम जीवसामान्यने आश्रयीने अने (१७०) मार्गणास्थानवर्ति जीव विशेषने आश्रयीने विचारणा करवामां आवी छे. एम छतां भूयस्कारअधिकारनी जेम अधिकारनुं नाम वृद्धिअधिकार एवुं राख्युं छे.

जेम पदनिक्षेप अधिकारमां कही गया तेम जो के अहींयां पण वृद्धि भूयस्कारस्थितिबन्धविशेषरूप ज छे तेमज हानि अल्पतरस्थितिबन्धविशेषरूप ज छे, छतां पदनिक्षेप अधिकारमां वृद्धि अने हानि उत्कृष्टपदमां अने जघन्यपदमां रहेली ज, अर्थात् वधारेमांवधारे स्थितिबन्धतारतम्यथी प्राप्त थती अने ओछामां ओछा स्थितिबन्धतारतम्यथी प्राप्त थती लईने ते उपर विचारणा कराई छे ज्यारे अहींयां वृद्धिअधिकारमां वृद्धि चार प्रकारनी-(१) असंख्यभागस्थितिबन्धवृद्धि, (२) संख्यातभागस्थितिबन्धवृद्धि, (३) संख्यातगुणस्थितिबन्धवृद्धि, अने (४) असंख्यातगुणस्थितिबन्धवृद्धि. तेवीज रीते हानि पण चार प्रकारनी-(५) असंख्यभागस्थितिबन्धहानि, (६) संख्यातभागस्थितिबन्धहानि, (७) संख्यातगुणस्थितिबन्धहानि अने (८) असंख्यातगुणस्थितिबन्धहानि एम आठ प्रकारना स्थितिबन्धविशेषो पर विचारणा कराई छे.

जेमके—ज्ञानावरणादि ते ते मूळकर्मनी असंख्यातभागस्थितिबंधवृद्धि वगरे ते ते वृद्धिमांथी अने असंख्यातभागस्थितिबंधहानि वगेरे ते ते हानिमांथी जीवसामान्यमां अने नरकगतिओघ वगरे मार्गणाओमां कई कई वृद्धिओ अने कई कई हानिओ सत् छे (मळी शके छे). ते ते वृद्धिना अने हानीना स्वामी (बंधक) कोण छे. ते ते वृद्धि के हानिनो एकजीवाश्रय काळ जघन्यथी अने उत्कृष्टथी केटलो छे. एज रीते एकजीवाश्रय अंतर जघन्यथी अने उत्कृष्टथी केटलुं छे. ओघथी अने ते ते

मार्गणास्थानोमां कहेलो समस्त सत्पदोना एक-अनेक बन्धकोथी ते ते काळविशेषमां प्राप्त थता नानाजीवाश्रय भांगा केटला छे वगरेनी विचारणा त्रीजा अधिकारनी जेम सत्पदादि ते ते द्वारोमां कराई छे.

अहींयां आठे मूळकर्मनो अवस्थानस्थितिबन्ध अने अवक्तव्यस्थितिबन्ध पण अधिकृत छे पण ते सर्वथा त्रीजा भूयस्कारअधिकारमां कहेवाई गयेला अवस्थानस्थितिबन्ध अने अवक्तव्य स्थितिबन्ध जेवो छे. अने तेथी ते संबंधी प्ररूपणा अने आयुःकर्मनो अल्पतरस्थितिबन्ध के जे भूयस्कारअधिकारमां कहेवाई गयो छे ते मात्र असंख्यभागहानिलक्षण एकज हानिरूप होवाथी ते विषयक प्ररूपणा भूयस्कारअधिकारमां कहेवाई गयेला अवस्थानस्थितिबन्ध वगेरे ते ते स्थितिबन्धने मळावी दईने ग्रन्थलाघव करवामां आव्युं छे. मात्र छेल्ला अल्पबहुत्वद्वारमां विशेषता होवाथी एम न मळावतां त्यां अल्पबहुत्वोने कहेवामां आव्यां छे. टीकाग्रन्थमां ते ते पदार्थोने व्याप्तिओ वगेरे द्वारा सिद्ध कर्या छे अने अधिकारना अन्ते समग्रवृद्धिअधिकारमां आवेला पदार्थोनो संग्रह करतां यन्त्रो द्वारवार आलेख्यां छे.

छट्ठो 'अध्यवसायसमुदाहार' अधिकार अने एनां ३ द्वारो

पांचमा अधिकार पछी छट्ठा अध्यवसायसमुदाहार नामना अधिकारमां पूर्वना पांच अधिकारमां बतावायेला कार्यरूप स्थितिबन्धना कारणभूत एवा कषायउदयथी उत्पन्न थता आत्माना अध्यवसायोने आश्रयीने [1]स्थितिसमुदाहार, [2]प्रकृतिसमुदाहार, अने [3]जीवसमुदाहार नामनां त्रण मूलद्वारो अने 'प्रगणना' 'अनुकृष्टि' वगेरे अवान्तरद्वारोथी निरूपण करवामां आव्युं छे. तेमां–

स्थितिसमुदाहार नामना पहेला द्वारमां-प्रगणना, अनुकृष्टि, अने तीव्रतामन्दता नामना त्रण अवान्तरद्वारो छे. तेमां प्रगणनाद्वारमां-ज्ञानावरणादिमूलकर्मनो एक एक स्थितिविशेष (स्थितिबन्धस्थान)केटला भिन्न भिन्न ★अध्यवसायोथी बन्धाई शके ते, तथा स्थितिबन्धना कारणभूत ते अध्यवसायो दरेक स्थितिविशेषे सरखा (समान संख्यामां) नथी होता पण अधिक अधिक स्थितिबन्धमां वधारे वधारे होय छे ते बताव्युं छे. अने ते अधिक अधिक स्थितिबन्ध माटे समर्थ एवा अध्यवसायोनी पूर्वे कही गया तेम अनन्तरोपनिधा अने परम्परोपनिधा एम बे रीते प्ररूपणा करी छे. त्यार बाद अध्यवसायोनी द्विगुणवृद्धिनां स्थानो, अने निरन्तर एवां बे द्विगुणवृद्धिस्थानो वच्चेना स्थितिबन्धस्थानोनुं अल्पबहुत्व बताव्युं छे के जेने टीकाग्रन्थमां युक्तिप्रयुक्ति अने असत्कल्पनाओपूर्वक अने पल्योपम-सागरोपमना भेदो, एनुं स्वरूप, एनो उपयोग विगेरे प्रासंगिक विषयो सहित सविस्तर घटाववामां आव्युं छे.

अनुकृष्टिद्वारमां–जेम कोई चोक्कस स्थितिबन्धवखते संभवता **रसबन्धना अध्यवसायो-**

★ भिन्न भिन्न कषायना उदयथी आत्मामां उत्पन्न थता भिन्न भिन्न परिणामो.

मांना केटलाक अध्यवसायो अथवा ते बधाज अध्यवसायो ते चोक्कस स्थितिबन्धकरतां समयाधिक स्थितिबन्ध करती वखते अथवा समयहीन स्थितिबन्ध करती वखते पण होई शके छे, अर्थात् एकस्थितिबन्धवखते सम्भवता रसबन्धना अध्यवसायो बीजा स्थितिबंधवखते पण होई शके तेरूप रसबन्धअध्यवसायनी अनुकृष्टि (एक स्थितिबन्धस्थानगत रसबन्धअध्यवसायोनुं बीजा स्थितिबन्धस्थानोमां अनुकर्षण=खेंचावुं एरूप) होय छे तेम स्थितिबन्धना अध्यवसायोनी अनुकृष्टि नथी होती, अर्थात् एक स्थितिबन्धने योग्य अध्यवसायोथी बीजी स्थिति बन्धाई शकती ज नथी, एम स्थितिबन्धना अध्यवसायोनी अनुकृष्टिनो निषेध करवामां आव्यो छे अने टीका ग्रन्थमां तेने वधारे स्पष्ट करवा असत्कल्पनाओनो अने असत्कल्पनानुसारी यन्त्रोनो आश्रय लेवामां आव्यो छे.

त्यार बाद तीव्रतामन्दतानामक त्रीजा अवान्तरद्वारमां–एक एक स्थितिबन्धने अनुरूप भिन्न भिन्न अध्यवसायोमां परस्पर, अने ते अध्यवसायोनी ते सिवायना बीजा स्थितिबन्धने माटे योग्य अध्यवसायोनी साथे उदितकषायो द्वारा रसनी अपेक्षाए तीव्रतामन्दता केवी अनन्तगुण होय छे ते व्यक्त करायुं छे.

बीजा मूळद्वार प्रकृतिसमुदाहारमां–दरेक मूळप्रकृतिने आश्रयी स्थितिबन्धना अध्यवसायो केटला होय छे ते तथा मूळप्रकृतिओने आश्रयी स्थितिबन्धना अध्यवसायस्थानोनुं अल्पबहुत्व प्रदर्शित करायुं छे.

त्रीजा मूळद्वार जीवसमुदाहारमां–जेनुं प्ररूपण मुख्यपणे रसबन्धग्रन्थमां करवामां आवे छे तेवा बे, त्रण अने चार ठाणीआ रसने बांधता भिन्न भिन्न अध्यवसायवाला जीवोनुं ते ते रसबन्धक तरीके विभाजन करीने ते ते विभागगत जीवोने बन्धप्रायोग्य स्थितिओ अने स्थितिबन्धस्थानोनुं प्रमाण बतावता पूर्वक ते ते स्थितिबन्धस्थानोने बांधनार जीवो अधिक अधिक स्थितिए कया क्रमथी अने क्यां सुधी वधती संख्यामां अने घटती संख्यामां होय छे अने ते जीवसमूहने ते ते स्थितिबन्धस्थान उपर स्थापतां केवी यवनी जेम चड-उतर आकारवाळी आकृतिओ बने छे, तथा ए यवाकृतिओना मध्यभागथी (सौथी वधारे जीवो होय तेवा पहोळा भागथी) बे बाजुए उतरता जता भागो उपर आवेलां स्थितिबन्धस्थानोमांथी केटलां केटलां अने कयां कयां स्थितिबन्धस्थानो मात्र साकारउपयोगमां वर्तता जीवोने ज बन्धप्रायोग्य होय छे, ते ज रीते केटलां अने कयां स्थानो साकार अने अनाकारमांथी कोईपण उपयोगमां वर्तता जीवोने बन्धप्रायोग्य होय छे. ए बताववामां आव्युं छे. अने त्यारबाद शुभ अशुभ प्रकृतिओना बे त्रण अने चार ठाणीआ रसना बन्धकोने बन्धप्रायोग्यतरीके छ भागमां वहेंचायेलां स्थितिबन्धस्थानो, वळी पाछां ते स्थितिबन्धस्थानो ते ते यवाकृतिना उपर–नीचेना ते ते भागमां रहेलां होवारूपे बे बे भागमां वहेंचाईने

१२ भागमां थयेलां स्थितिबन्धस्थानो, अने ते १२ भागमांथी कोई कोई भागमां केटलांक मात्र साकारोपयोगमां बन्धप्रायोग्य, तो वळी केटलांक बन्नेमांथी कोईपण उपयोगमां बन्धप्रायोग्य एम पुनः बे बे विभागमां वहेंचायेलां स्थितिबन्धस्थानो, आ रीते अनेक विभागमां वहेंचायेलां स्थितिबन्धस्थानो परस्पर केटला प्रमाणमां ओछा वत्तां छे अने एज स्थितिबन्धस्थानो शाता अशाता वेदनीयकर्मना जघन्य उत्कृष्ट वगेरे स्थितिबन्धप्रमाणना समयो करतां, तेमज अन्तःकोटी-कोटीसागरोपम तरीके बन्धाता वधारेमांवधारे(उत्कृष्ट)स्थितिबन्धना समयो करतां केटलां वत्तां ओछां छे वगेरेनुं प्रतिपादन करतुं एक मोटुं अल्पबहुत्व बतावता द्वारा स्थितिबन्धमां कारणभूत क्रोधादिकषायथी आत्मामां उत्पन्न थता अध्यवसायो कया जीवोने केवा अने केटला प्रमाणमां होई शके ए वधु स्पष्ट कर्युं छे. त्यार बाद जीवसमुदाहारनो उपसंहार करतां अन्ते पूर्वे कही गया तेवा बे ठाणीआ वगेरे ते ते रसना बन्धकजीवोनुं परस्पर अल्पबहुत्व आप्युं छे. आ पदार्थोने टीकाग्रन्थमां ग्रन्थान्तरनी साक्षीओ, असत्कल्पनाओ, स्थापनाचित्रो अने यन्त्रोना आलेखन तथा शंका समाधान अने सरल विवेचन वडे सुगम अने स्पष्ट करवामां आव्या छे अने ए रीते मूल-प्रकृति स्थितिबन्धग्रन्थ समाप्त करवामां आव्यो छे, ए जिज्ञासु वाचकवर्ग स्वयं जोई शकशे.

संस्कृत-प्राकृत निबद्ध २०,००० श्लोकप्रमाण महाकायग्रन्थनो आ टूंको विषय-परिचय कोई महासमुद्रना रेखा-चित्र समो ज छे. समुद्रनी ऊंडाई पहोळाई वगेरे रेखाचित्रथी केटली समजावाय ? एना तल भागोमां रहेलां रत्न-मौक्तिकवगेरेनी रंगीली प्रभा ए चित्रमां केटली पूराय ? छतां य संस्कृत प्राकृतना अनभिज्ञ जीवोने गुजरातीभाषा निबद्ध आ 'विषय-परिचय' कर्म-बन्धविषयक यत्किञ्चित् बोध साथे ग्रन्थनी महात्ताने हृदयस्थ कराववा द्वारा जैनशासनना कर्म-साहित्यउपर अने जैन शासन उपर अथाग श्रद्धा-बहुमान करावनारो बनशे, तेमज स्थितिबन्धविषयक सूक्ष्म अवबोधना अभिलाषी कर्मग्रन्थादिना अभ्यासीओने प्रस्तुत मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध ग्रन्थना अध्ययन माटे अवश्य प्रेरशे.

१३, श्रीपालनगर, आश्रमरोड
वि० सं० २०२२ पोष वद १३
ता.१९ –१–१९६६
अमदावाद–१३.

सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर
अन्तेवासी पंन्यासप्रवर भानुविजयगणिवर्य शिष्य
स्वर्गत पंन्यास पद्मविजयगणिवर शिष्याणु
—मुनि जगच्चन्द्रविजय

गुरुस्तुतयः

卐

आज्ञातीतं कुमतमसकृत् खण्डखण्डं विधाय,
मूर्तेरर्चा समयवचसा येन सिद्धान्तिता हि ।
आत्मारामेति मधुरगिरा संस्तुतो यस्तु लोके,
स न्यायाम्भोनिधिरिति बुधैर्बोधितः पातु भव्यान् ॥१॥ (मन्दाक्रान्ता)

卐

सद्वीर्यमण्डित-सुधी-मुनिवृन्दसेव्य-
श्चारित्रवार्धि-शमकृद्-धृतनिस्पृहत्वः ।
सूरीन्द्र इन्द्रवदनः कमलाभिधानः,
श्रेयः सदैव वितनोतु स देहभाजाम् ॥१॥ (वसंततिलका)

卐

कर्मेन्धनौघदहने दहनाः प्रचण्डा,
धर्मद्रुमौघभरणे जलदा अमन्दाः ।
जैनेन्द्रशासननभोमणयो जयन्तु,
श्री वीरपूर्वविजयोत्तरपाठका हि ॥१॥ (वसंत०)

卐

मोक्षार्थिनामसुमतां समजायतोच्चैः,
सच्चूर्णि-भाष्य-विवृति प्रमुखं प्रमथ्य ।
यद्तत्त्वतत्तरसमूहनिबद्धमाला,
तत्त्वं बुभुत्सुकृतिनां वरपाठमाला ॥१॥ (वसंत०)
स श्रेयसेऽस्तु सकलश्रुतहार्दवेदी,
ज्योतिर्विदार्यजनपूजितपादपद्मः ।
सद्धर्मदानकुशलः कुशलौघकारी,
सूरीन्द्रदानविजयः सुदृशां सदैव ॥२॥ (वसंत०)

卐

कर्मग्रन्थविदारणैकसुभटो भव्याब्जभानुप्रभः,
कर्मग्रन्थविचारणेऽतिचतुरः सिद्धान्तपारङ्गतः ।
सेव्यः सार्धशतद्वयाधिकमुनिव्रातेन वात्सल्यभूः,
त्रैलोक्ये जयतात् प्रशस्तचरणः स प्रेमसूरिप्रभुः ॥१॥ (शार्दूलवि०)

अर्घ्यांजलि

जे महापुरुषे अनेक जन्मोथी सिद्धज्ञानगर्भित वैराग्यथी यौवनना प्रारम्भमां ज संसारना बंधनोने फगावी अपूर्वगुरुभक्ति, विनय, बहुमान आदि द्वारा रत्नत्रयीनी उज्ज्वल आराधना करी आजे जैनशासनमां अजोड गच्छाधिपतित्व प्राप्त कर्युं छे,

जे शासनज्योतिर्धरनी परमपावनी निश्राने तथा करुणानिभृतदृष्टिने पामीने मारा जेवा अनेक आत्मानो संयमनी उत्तरोत्तर विशुद्धिने प्राप्त करवा समर्थ बन्या छे,

ते सेंकडो मुमुक्षुजनोना मुक्तिमार्गमां भोमीया, विषय-व्याधिथी पीडाता जीवात्माओना धन्वंतरी, भव-जंगल वटावी रहेला भव्योना सार्थवाह, अज्ञान-अंधकारमां अटवाताओना प्रकाशदाता, दर्शनमात्रथी कुवृत्तिओना प्रशामक, परमनिस्पृह, करुणाभृतहृदय, वात्सल्यवारिधि, सच्चारित्रचूडामणि, सिद्धान्तमहोदधि, कर्मशास्त्रनिष्णात, प्रातःस्मरणीय, परमाराध्यपाद, गच्छाधिपति, प्रगुरुमह, आचार्यभगवंत श्रीमद् **विजयप्रेमसूरीश्वर महाराजा**ना पावन करकमलमां तेओश्रीना ज परम प्रभावथी रचायेल आ ग्रन्थरत्न अर्पण करीने यत्किंचित् कृतज्ञतानो आनंद अनुभवुं छुं.

—सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वर
अन्तेवासी पन्यासप्रवर भानुविजयगणिवर्य शिष्य
स्वर्गत पंन्यास पद्मविजयगणिवर शिष्याणु
मुनि जगच्चन्द्रविजय

आ ग्रन्थसर्जनना प्रेरक, मार्गदर्शक अने संशोधक



सिद्धान्तमहोदधि सुविशालगच्छाधिपति संघकौशल्याधार कर्मशास्त्ररहस्यवेदी शासनशिरताज

परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

विषयानुक्रमः

★

❁ द्वितीयोऽधिकारः ❁

(पृष्ठ ६५ तः ४३२)

विषयः — पृष्ठांकः

* कालद्वारम् *

(एकजीवमाश्रित्य)

* अन्तरद्वारम् *

(एकजीवमाश्रित्य)

* संनिकर्षद्वारम् *

* भङ्गविचयद्वारम् *

* भागद्वारम् *

* परिमाणद्वारम् *

* क्षेत्रद्वारम् *

❀ तृतीयो भूयस्काराधिकारः ❀

(पृष्ठ ४३३ तः ५१८)

❀ चतुर्थः पदनिक्षेपाधिकारः ❀

(पृष्ठ ५१९ तः ५४२)

❀ पञ्चमो वृद्ध्यधिकारः ❀

(पृष्ठ ५४३ तः ६२४)

❀ षष्ठोऽध्यवसायसमुदाहारः ❀

(पृष्ठ ६२५ त. ६६३)

❀ टीकाकृत्प्रशस्तिः ❀

(पृष्ठ ६६५ त: ६७२)

* परिशिष्टानि *

★ यन्त्र-चित्राद्यनुक्रमः ★

[बन्धविधानमूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रेमप्रभाटीकान्तर्गतयन्त्र-चित्रादीनामनुक्रमः]

★ ग्रन्थपठनात्पूर्वमेव संशोध्या अशुद्धयः ★

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०	पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
२	६	ससज्जु०	प्रणिन्यु०	४५	१३	पल्योपमसं०	पल्योपमाऽसं०
११	२६	पल्योपमसं०	पल्योपमा-ऽसं०	"	१४	पल्योपमाऽसं०	पल्योपमसं०
३६	९	विशेषाधिक०	सख्येयगुण०	४७	७	वर्गमललक्षण०	वर्गमूलाऽसंख्य-भागलक्षण०
३७	८	संख्येयगुण०	संख्येयभाग०				
४०	१४	०स्तुल्यत्वे	०स्तुल्यप्रायत्वे				
४१	१०	असंख्येयगुणानि	संख्येयगुणानि	४७	१६	अबाहा।	जहण्णिया अबाहा।

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
४८	३	पुव्वुत्तं।	पुव्वुत्तं। तओ एग-गुणहाणिट्ठाणंतरं असंखिज्जगुणं, कारण पुव्वुत्तं
५२	१०	०लक्षणा	०सागरोपमलक्षणा०
५४	२४	पर्याप्तसंज्ञि०	०पर्याप्ताऽसंज्ञि०
८३	२५	देवनरकप्रायोग्य०	देवनरप्रायोग्य०
८५	१८	हीनकर्म०	हीनजघन्यकर्म०
८६	२४	यद्यसज्ञिनां गति०	यद्यसज्ञिनामागति०
१०४	३	तावान दशवर्षसहस्राणि,	तावान्
१०५	१५	अनुदितनिद्रोदय	अनुदितनिद्र
१३४	१९	तथा संख्ये०	तथाऽसख्ये०
१६८	३	पणवय-	पणमण-वय-
१६६	५	०यादधिका,	०यादधिका न लभ्यते तद्योयोत्कृष्टकाय-स्थिति,
१७२	२४	ऽचक्खूण	चक्खूण
२१६	१४	समयोना०	समयाधिका०
२३५	।	सागरोपम०	१८ सागरोपम०
२४१	२३	यावत्सप्त-	यावदष्ट-
२४२	२०	ऽनुत्कृष्ट०	ऽजघन्य०
२४९	२४	०यन्तीति संख्ये०	०यन्तीत्यसख्येय०
२८१	४	स्थानात्वासंख्येय-भागरूपदे-	स्थानासख्येयभाग-रूपत्वादे-
२९०	१९	०पुरुत्कृष्ट०	०षुरनुत्कृष्ट०
२९१	१२/१३ (इद पंक्तिद्वयमत्र नैव वक्तव्यम्)		
३०३	२९	पद्म-अजघन्या:	अजघन्यायाः
३१२	१६	सम्पद्यते	सम्पद्यत इति समस्ता नव रज्जव. स्पर्शना।
३३२	८	र्गणानामुत्कृष्ट०	र्गणानामनुत्कृष्ट०
३३६	७	०सत्कोत्कृष्ट०	०सत्कानुत्कृष्ट०
३७१	१२	-पर्याप्त०	सर्वैकेन्द्रियभेद-पर्याप्त०
,,	१३	०यौघा-ऽपर्याप्त०	०यौघ-पर्याप्त०
३७९	९	कुतोऽजघन्य०	कुतो जघन्य०
,,	१२	द्विषष्ट्यु-	त्रिषष्ट्यु-
३९१	४	पञ्चमनो०	सर्वकायभेदाः, पञ्च-मनो०
३९२	२३	सप्त-	षण-
३९३	,,	रूपजघन्य०	रूपोत्कृष्ट०
४००	१५	आयुषो	मोहनीयस्य जघन्य-स्थितिबन्धः स्तोकः, स चान्तर्मुहूर्तमानः, ततस्तस्योत्कृष्टोऽ-सख्येयगुणः, सप्तति-कोटाकोटीसागरोपम-प्रमाणत्वात्। आयुषो
४०१	१४	संख्येय०	असख्येय०
४०६	११	०मार्गणाद्वये	०मार्गणासु
४१२	४	०द्येकोननवति-	०द्येकनवति-
४१८	२	वैक्रियकाय०	वैक्रियमिश्रकाय०
४५७	१७	०वस्थायां प्रत्या०	०वस्थायामप्रत्या०
४६२	२७	०योगादिचतुःपञ्चा	०योगाद्येकपञ्चा-
४६२	२८	०द्विषोडशोत्तर०	०द्येकोनविंशत्युत्तर०
४६३	४	०कोनत्रिंशत०	०कोनचत्वारिंशत०
,,	७	षोडशाभ्य०	एकोनत्रिंशत्यभ्य०
४६५	१२	०दर्शन	०दर्शना-वधिदर्शन-
४७३	१८	०ऽवस्थित०	०ऽवक्तव्य०
४७२	२	०मनुष्य-काययोगौघ-	०मनुष्य-
४८५	१०	०सर्वा	०त्रिविधस्थिति-
४९६	२६	-दारिक०	-दारिकौ-दारिक०
४९७	१४	०त्येवमेक०	०त्वेवं द्वि०
५००	२८	०माणं संख्येय	०माणमसख्येय
५०३	२६	ऽवस्थिता०	ऽल्पतरा०
५०४	२१	प्रतिषिद्ध,	प्रतिपादित.,
५०५	४	ऽवस्थित०	ऽल्पतर०
,,	११	०स्तथाऽपर्याप्त०	०स्तथा पर्याप्त०
५०९	६	निरयगति-	निरयदेवगति-
५१०	यन्त्रे	२ मुहूर्ता	१२ मुहूर्ताः
५१०	यन्त्रे	सर्वाद्धा	नास्ति
५१६	१८	अवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽल्पतरस्य	संख्येयगुणाः, तेभ्यो-ऽवस्थितस्य
५३१	२४	"पणिंदिया"	"एगिंदिया"
५३६	२३	तिघाईणं	तिअघाईणं
५३७	१४	०सम्यक्त्वौघो०	०सम्यक्त्वौघ-वेदकौ०

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
५४१ यन्त्रे	८	तुल्य०	संख्यातगुण०
	९	संख्यातगुण०	तुल्य०
,,	चतु- श्चरमा	०प्रथम० ०द्वितीय०	०द्विचरम० ०चरम०
५४२ यन्त्रे	पञ्च	०द्विचर०	०प्रथम०
		चरम, ०चरम०	०द्वितीय०
५४९	४	०लेश्या-ऽभव्य०	०लेश्या-भव्य०
५५०	१८	०मात्राधिक०	०मात्रहीन०
५५७	२८	पट्सयम०	पञ्चसंयम०
५६२	२१	र्जवन्य काल	र्जघन्यमन्तरं
,,	,,	निकालवत्	न्यन्तरवत्
,,	२६	वृद्धिहान्योराह	गुणवृद्धिहानीनामाह-
५६८	२४	तदेव यन्नाह-	तदेवं भणितं सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरमादेशतः, अधुना सख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योस्तद्दर्शयन्नाह-
५६९	९/१०	सख्येयगुण०	संख्येयभागगुण०
५७१	४	भागादि०	भाग०
,,	४	नीनामु०	निपदद्वयस्यो०
,,	५	द्विनवति०	एकनवति०
५७५	१५	०भेदेषु, अपर्याप्त०	०भेदेषु, सवेदेवभेदेषु, सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, अपर्याप्त०
५७५	२८	द्वयो.,	द्वयोर्मनुजगतिभेदयोर्द्वयोः,
५८०	१७	अपर्याप्त०	मनुष्यौघः, अपर्याप्त०
५८०	२२	संख्येयभागा-ऽ	संख्येयभाग-
५८३	२३	०योगेषु,	०योगेषु, नपुंसकवेद-कषायचतुष्कयोः,
५८४	२	त्रिंशदुत्तर०	विंशत्युत्तर०
५८५	१२	काययोग०	प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तदपर्याप्तयो., काययोग०
५८६	२	बादरा-	बादर-
५९६	७	मेकजीवा०	मनेकजीवा०
६१२	२०	गतपदे०	गतवेद०
६१६	५	तेभ्यो संख्यये०	तेभ्योऽसख्येय०
६१९	त्रिचरमा	६०	९१
६४१	१८	०वृत्त सन्न०	०वृत्तयो सतोर०
६५६	८	स्थिति०	मिश्रोपयोगे बन्धप्रायोग्याणि स्थिति०
६७२	११	याद्भू०	यावद्भू०

卐

बन्धविहाणे

मूलपयडि-

ठिदिबंधो

(मूलप्रकृति-स्थितिबन्धः)

'प्रेमप्रभा'टीकासमलङ्कृतः

卐 卐

卐

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं नमः ॥

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ॥

* 卐 *

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पुण्यतमनिश्रायां तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-वीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीवीरशेखरविजय-विरचितमूलगाथाकं प्रेमप्रभाटीकाविभूषितम्

बंधविहाणं

तत्र

मुनिश्रीजगच्चन्द्रविजयविरचित-
प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

(मूलपयडि-)

ठिइबंधो

(स्थितिबन्धः)

卐

([1]प्रेमप्रभाटीका)—

[2]मथितमोहमहारिपुमीश्वरं , विशदवस्तुविभासविभावसुम् ।
नतसुनाकिनृनाथनिषेवितं , चरमतीर्थपतिं प्रणमाम्यहम् ॥१॥

[3]ध्येया मोक्षार्थिभिर्ये सकलगुणधरा यान्नतो भव्यवर्गो,
यैः सृष्टं तीर्थमुच्चैर्नम उदयकृते येभ्य आप्ताश्च नान्ये ।
येषां पादे प्रणेमुः सुरनरपतयो येषु भक्तिः सतां ते ,
पान्तूत्तीर्णा जिनेन्द्राः परमकरुणया पद्मपादाश्रितं माम् ॥२॥

---

[1]श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरगुरूणां प्रभया सम्पन्ना इति सान्वर्थनामा । [2]द्रुतविलम्बितम् । [3]स्रग्धरा ।

[1]भव्येभ्यः सुखदां जिनेन्द्रमुखजां वाचं निशम्योन्नतां,
प्रव्रज्यां प्रतिपद्य वीरविभवे यैरर्पितं जीवनम् ।
यन्नामाऽपि निहन्ति पापतिमिरं मार्तण्डरश्म्योघवद्,
वन्देऽहं शिवकाङ्क्षया गणभृतां वृन्दं हि तेषां मुदा ॥३॥

[2]शतक-कषायप्राभृत-कर्मप्रकृतीः ससृजुराप्ता ये । तासां चूर्णि वृत्तिं प्रवितेनुश्चूर्णिटीप्पनकम् ॥४॥
[2]कर्मग्रन्थाँश्चान्यान् कर्मविपाकादिभेदतो भिन्नान् । कृतवन्तो ये△कर्मस्वरूपवेदुडुविसरचन्द्राः ॥५॥
[3]विजयन्तां भुवि ते शिवशर्माचार्या-ऽऽर्यमङ्गुगुर्वाद्याः ।
श्रीनागहस्तिपादा नन्दावभिनन्दिताश्च यतिवृषभाः ॥६॥
[2]श्रीमन्मुनिचन्द्राश्च श्रीदेवेन्द्रविजयाश्च सूरिवराः । मलयगिरिजसमसमरसभाजो मलयगिरिसूरीन्द्राः ॥७॥
[3]मलधारीया हेमाचार्या न्याये विशारदा नव्ये । बुधवर्ययशोविजया यावच्छ्रीप्रेमसूरयो गुरवः ॥८॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

*दोषद्रुमौघदाहाय, येन दावानलायितम् । गुणगुल्मप्ररोहाय, मेघधारायितं तथा ॥९॥
*ज्ञातागमरहस्याय, +ज्योतिर्विद्गच्छपायिने । सूरये दानपूर्वाय, तस्मायस्तु नमो नमः ॥१०॥
(युग्मम्)

[4]यस्य प्रसादवशतो व्रतमध्यगच्छम्, यस्यान्तिके च समता स्थिरताऽप्यवाप्ता ।
यस्य ध्रुवं समयशिक्षणतो विबुद्धः, स प्रेमसूरिगुरुराड् जयतात्सदैव ॥११॥

[5]कृत्वा तीव्रं तपोऽपि व्रतत उपसृतान् मुक्तिमार्गं जनान् ये,
शास्त्राण्यध्यापयन्ति प्रणतमुनिगणं सारयन्ति प्रयासैः ।
पूज्यास्ते मे गुरूणां गुरव उपगता देशनायां पटुत्वम्,
पंन्यासा भानुसंज्ञा ददतु वरमतिं तर्कशास्त्रे ❀नदीष्णाः ॥१२॥

[6]दुस्सह्यमामं★सुसमाधिना यं, सोढ्वा विनाश्याऽशुभकर्मचक्रम् ।
स्वर्गं गतास्तान् हितदान् हितार्थं, पंन्यासपद्माख्यगुरून् नमामि ॥१३॥

[7]भवति खलु जडोऽपि प्राज्ञसेव्यः कवीन्द्रः, कलकवननिधायी संततं यत्प्रसादात् ।
सरससरलटीकां कर्तुकामस्य मे सा, झगिति भवतु देवी भारती भव्यस्फूर्त्यै ॥१४॥

*ग्रन्थेऽस्मिन्नतिगूढार्थे, साहाय्यकं व्रतिव्रजम् । नत्वा स्वपरभद्राय, स्थितिबन्धः प्रतन्यते ॥१५॥

---

[1]शार्दूलविक्रीडितम् । [2]आर्या । [3]गीति । * अनुष्टुप् । [4]वसन्ततिलका । [5]स्रग्धरा । [6]इन्द्रवज्रा । [7]मालिनी ।
△कर्मस्वरूपस्य वेदिन एव उडूनि=तारका, तेषां विसर=समूहः, तत्र चन्द्रा इव चन्द्रा, शेषाऽतिशायिभास्वत्त्वादिति ।
+ज्योतिर्विच्चासौ गच्छपायीति कर्मधारयस्ततश्चतुर्थी । ❀ प्रवीणा इत्यर्थः, तदुक्तं शेषनाममालायां कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः –'अथ प्रवीणे क्षेत्रज्ञो नदीष्णो निष्णा इत्यपि' इति । ★अर्बुदाभिधम्, केन्सर इति लोके ।

इह खल्वनवरतं सम्परायादिसंतापसमूहसंतप्तासुमत्सम्पूरिते संसारकान्तारे कथमपि सुदुर्लभं मानुष्यं सुकुलोत्पत्त्यादिमोक्षसामग्रीं च समुपलभ्य स्वहितेप्सुभिर्भव्यैः केवलालोकलोकितलोकालोकेन सकलसंसृतिसम्भवरागद्वेषादियुग्मवियुक्तेन प्रणताखिलाखण्डलोष्णीषरत्नरोचिर्विलिप्तपादपीठेन श्रीमता भगवता तीर्थकृता समुपदिष्टः श्रेयोमार्गः समाराधनीयः, स च सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणः।

उक्तं च **वाचकमुख्यैः**—

"सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इति ॥ (तत्त्वार्थसूत्रम् ॥१॥१॥)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयं प्रति द्रव्यानुयोगः परमोपकारी भवति। **तथाहि**—द्रव्यानुयोगे उत्पत्त्याद्येकान्तवादिदुर्नयैः स्वीकृतं प्रथितं च सकलभावानामपारमार्थिकस्वरूपं निराकृत्य सुनयप्रमाणबलेन स्याद्वादाधीनं जीवाजीवादिसर्वभावानामुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं तात्त्विकं सत्त्वं संस्थाप्यते, ईदृग्द्रव्यानुयोगेन तत्त्वविषयकविप्रतिपत्तेर्व्युदासात् तत्त्वश्रद्धानलक्षणस्य सम्यग्दर्शनस्य दार्ढ्यमुपजायते। तथैव द्रव्यानुयोगे स्याद्वादसिद्धानां जीवाजीवादिभावानां तत्त्व-भेद-पर्यायैः सत्पद-स्वामित्व-द्रव्यप्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-काला-ऽन्तर भावादिभिरनुयोगद्वारैश्च चिन्तनस्यापि प्रस्तुतत्वात् सम्यक् तत्त्वावबोधो भवति। किञ्च तत्त्वभेदादिभिर्जीवाजीवादिभावान् विभावयतः शास्त्रविहित-प्रहरपञ्चकीयस्वाध्यायं निर्वहतः संयतवर्गस्य चेतोवृत्तौ बाह्यनिमित्ततस्सम्भाव्यमानोत्पत्तिकानां वैषयिक-काषायिकवृत्तीनां निरवकाशीकरणद्वारेण चारित्रं प्रत्यपि द्रव्यानुयोगस्यानुपमोपकारित्वं सुसिद्धमस्ति। इत्थं हि द्रव्यानुयोगस्य रत्नत्रय्युपकारकत्वात् पूर्वाचार्यैर्यथा चरणकरणाद्यन्यानुयोगविषयाणि प्रकरणानि विरचितानि तथा द्रव्यानुयोगमहोदधिदृष्टिवादैकदेशतः शतक-कर्मप्रकृत्यादयोऽनेके ग्रन्था विनिर्मिताः, ते चातिगम्भीरार्थाः संक्षिप्ताश्चेति कृत्वा पश्चादन्यैराचार्यैर्विवृताः। एतेषु शतक-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थेषु तच्चूर्णि वृत्ति-टीप्पनकादौ च कर्मणो बन्धविषयाः साक्षादर्थतश्च पृथक् पृथगभिहिता ये पदार्थास्तान् प्रज्ञापनाद्यागमप्रसिद्धसत्पदाद्यनुयोगद्वार-गत्यादिमार्गणास्थानेषु सविस्तरं विचिन्त्य संकलय्य च निर्मिते बन्धविधानाख्ये प्रकृतग्रन्थे प्रवेष्टुकामानां स्वाध्यायपरायणचेतसां साध्वादीनां सुखप्रवेशार्थं तस्य प्रकृति-स्थित्य-नुभाग-प्रदेशबन्धप्रयुक्ताश्चत्वारः खण्डग्रन्थाः प्रकल्पिताः तत्कृता। तत्राद्य नानाविधैर्भिन्नभिन्नाधिकारद्वारादिभिः प्रकृतिबन्धं निरूप्य क्रमप्राप्तं स्थितिबन्धं निरूपयितुमना मङ्गलादिपूर्वकं प्रारभते—

अह जीराउलणाहं वंदिअ णिस्सीमसत्तिसंजुत्तं।
सिरिपासपहुं भासिमु ठिइबंधं गुरुपसायाओ ॥ १ ॥

(प्रे०)"**अह जीराउलणाहं**" इत्यादि, अत्र अथशब्द आनन्तर्ये, ततश्च प्रकृतिबन्धनिरूपणाऽनन्तरम्, न तु सर्वप्रथममित्यर्थः, अस्य च "**भासिमु ठिइबंधं**" इत्यनेन योगः। तत्र स्थानं स्थितिः 'स्त्रियां क्ति' (५।३।९१) इत्यनेन भावे क्तिप्रत्ययः; स्थीयतेऽनया स्थितिः करणे क्तिप्रत्ययो वा। प्रथमतो बध्यमानत्वेनोपस्थितानां कर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशेषु क्षीरनीरवदत्यन्तसंयोगेनाऽवस्थानमित्यर्थः। तस्याः स्थितेरियत्तानिर्माणं स्थितिबन्धः।

इदमुक्तं भवति–यदा हि मिथ्यात्वादिपरिणत्या परिणत आत्माऽञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलेभ्यः स्वाऽवगाढक्षेत्रगताननन्तान् पुद्गलस्कन्धान् लोहाऽग्निसंयोगवदत्यन्तमम्बन्धकरणद्वारेण कर्मतया परिणमयति तदा तेषु पुद्गलस्कन्धेषु यथा ज्ञानाद्यात्मगुणावरोधस्वभावः समुत्पद्यते, तथा तेष्वेव पुद्गलेषु तदानीमेव तात्कालिककाषायिकपरिणत्यनुरूपो योऽन्तर्मुहूर्तादित्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालं यावत्तेनैव रूपेणात्मप्रदेशेष्ववस्थानस्वभावोऽपि शक्तिविशेषरूपः संजायते, येन पश्चादुदीरणादिकरणजन्यबाधाया अभावे तानि कर्मपुद्गलानि तेन रूपेण तावन्तमन्तर्मुहूर्तादिकालं यावदात्मप्रदेशेषु तिष्ठन्ति, स स्थितिबन्ध उच्यते ।

उक्तं च शतकवृत्तौ–

"स्थितिः कर्मणोऽवस्थानशक्तिः, तस्या बन्धः स्थितिबन्धः" इति ।

अन्यत्राप्युक्तम्–"इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः ।
तासां य स्थितिकालनिबन्धः स्थितिबन्ध उक्तः सः ॥" **इति** ।

एवंस्वरूपं स्थितिबन्धं "**भासिमु**" त्ति भाषामहे, "सत्सामीप्ये सद्वद् वा" (सिद्धहेम० ५।४।१) इत्यनेन वर्तमानकालस्य सामीप्ये भविष्यत्यर्थे वर्तमानप्रत्ययः, ततश्चाविलम्बेन भाषिष्यामहे, प्रकृतिबन्धवर्णनाऽधिकारद्वाराद्युपन्यासेन वर्णयिष्याम इति भावः । अनेन वक्ष्यमाणग्रन्थविषयप्रतिज्ञां कृतवान् ।

ननु पूर्वमेव–"भणिमु सपरसेयत्थं बंधविहाणं जहासुत्तं" इति वदता ग्रन्थकृता बन्धविधाने भणनीयतया प्रतिज्ञाते तदेकदेशरूपः स्थितिबन्धोऽपि भणनीयतया प्रतिज्ञात एव, किं पुनरपि प्रतिज्ञाकरणेन ? **इति चेद्**, **न**, "चिरतः प्रकृतिबन्धं शृण्वन्तोऽवधारयन्तश्च विनेयाः 'साम्प्रतमपि प्रकारान्तरेण प्रस्तुतं प्रकृतिबन्धमेव प्रतिपादयन्ति गुरवः' इत्येवं प्रकृतिबन्धश्रवणोद्देशेन तत्रैव दत्तचित्ताः स्थितिबन्धं सम्यग् नैवावधारयेयुरन्यमनस्कतया वा विपरीतं मा गृह्णीयु"रिति परहितपरायणचेतसा ग्रन्थकृता शिष्यमनसि वक्ष्यमाणस्थितिबन्धविषयकशुश्रूषाप्ररोहणाय प्रकरणप्रारम्भे यथोक्तप्रतिज्ञा कृता, **अथवा** वक्ष्यमाणस्थितिबन्धग्रन्थो बन्धविधानैकदेशरूपः सन्नपि स्वस्थान एव नानाऽधिकारादीन् संगृह्णन्नतिमहत्कायतया ग्रन्थान्तररूप एव, अत एवात्र 'जीराउलणाहं' इत्यादिनाऽऽदिम-मध्यमादीनि मङ्गलान्याचरिष्यति ग्रन्थकारः । इत्थं हि ग्रन्थान्तरवत्प्रकृतग्रन्थप्रारम्भेऽपि मङ्गलाद्यनुबन्धचतुष्टयमभिधातव्यम्, तत्र स्थितिबन्धभणनप्रतिज्ञाकरणद्वारेणानुबन्धचतुष्टयान्तर्गतमभिधेयमेव ग्रन्थकृता ग्रन्थप्रारम्भे कथितमिति न किञ्चित्पुनर्वचनमिति ।

अथ प्रारिप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तये कृतमिष्टदेवतानमस्कृत्यात्मकं मङ्गलं शिष्टजनानुवृत्त्या शिष्यजनानुशास्त्यै च ग्रन्थे निबध्नन्नाह–"**जीराउलणाहं**" इत्यादि, जीराउलनाथं निस्सीमशक्तिसंयुक्तं श्रीपार्श्वप्रभुं वन्दित्वेति क्रियान्वयः, तत्र वन्दित्वेति निर्मलमानसप्रणिधानोपेतेन वचोयोगेन संस्तुत्य काययोगेन प्रणम्य चेत्यर्थः; "वदुङ् स्तुत्यभिवादनयो"रिति वचनात्, कं वन्दित्वेत्युक्तं '**श्रीपार्श्वप्रभु**' पार्श्वाभिधस्य वैयावृत्यकरयक्षविशेषस्य प्रभुः-अर्य इति पार्श्वप्रभुः; अर्यः, प्रभुः,

स्वामी, पतिर्नाथ इत्यादीनामनर्थान्तरत्वात् । यदाहुर्हेमचन्द्रसूरिपादा अभिधानचिन्तामणौ–
"पतीन्द्रस्वामिनाथार्याः प्रभुर्भर्तेश्वरो विभु."इत्यादि । अथवा स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः, यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति निरुक्तात् पार्श्वः । 'प्र' इति प्रकर्षार्थोऽव्ययः,ततश्च प्रकर्षेण–प्राक् तृतीयभवनिकाचिततीर्थकरनामकर्मोदयाद्भव्यजनगणोद्धरणैककरणशासनस्थापनाय भवति इति प्रभुः "शं-सं-स्वयं-वि-प्राद् भुवो डुः" इति डुप्रत्ययः (५।२।८४। सिद्धहेम०) । पार्श्वश्चासौ प्रभुश्चेति पार्श्वप्रभुः । श्रिया-त्रैकालिकनिखिलभावावभासिन्या केवलज्ञानलक्ष्म्याऽष्टप्रातिहार्यलक्षणया शोभया वा समन्वितः पार्श्वप्रभुरिति श्रीपार्श्वप्रभुः तम् ।

किं विशिष्टं श्रीपार्श्वप्रभुमित्याह– **'निस्सीमशक्तिसंयुक्तम्'**निस्सीमा–निर्गतमर्यादा या शक्तिः–वीर्यान्तरायकर्मणः सर्वथा क्षयात्प्रादुर्भूता आत्मगुणरूपा वीर्यापरपर्याया, तया संयुक्तः–भेदाभेदसम्बन्धेन सम्बद्धस्तम् निस्सीमशक्तिसंयुक्तम् ; अपरिमितबलवैभवसंपन्नमिति यावत् । उक्तं च–
"जं केसवस्स उ बल तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥"इति ।

पुनः किं विशिष्टमित्याह–**"जीराउलणाहं"**ति पुरा जीरापल्ल्याख्यया वर्तमाने तु जीराउला इति नामधेयेन विख्यातं यत्स्थावरं तीर्थं तस्य नाथम् ,पार्श्वप्रभोस्तत्र प्रतिष्ठितत्वेन तत्तीर्थस्य सेवकानां योग-क्षेमभावात् । ननु अश्वसेननृपनन्दनस्य पार्श्वप्रभोर्जीरापल्ल्यां प्रतिष्ठानं न कुत्रचित् श्रूयते, तत्कथं पार्श्वप्रभोस्तत्रावस्थानमूलकं जीरापल्लीतीर्थावलम्बिनां योगक्षेमत्वप्रतिपादनं संजाघटीति ? इति चेत् , उच्यते, भावतीर्थकरस्य श्रीपार्श्वप्रभोस्तत्रावस्थानाभावेऽपि स्थापनाद्वारेण तु पार्श्वप्रभोरवस्थानं तत्र विद्यत एव । न च तेन प्रभोः किमायातं येन पार्श्वप्रभोस्तत्र प्रतिष्ठानं कथ्यत इति वाच्यम् , स्याद्वादिभिर्नाम-स्थापनादीनां कथञ्चिद्भेदस्येव कथञ्चिदभेदस्याप्यभिमतत्वेन तत्स्थापनावस्थानेऽपि तदवस्थानकथनस्याविरोधात् । अत्र पार्श्वप्रभोर्जीराउलानाथत्वं तु जीरापल्लीतीर्थोत्पत्तिव्यतिकरादेवाऽवसेयम् । स च व्यतिकरः पण्डितप्रवरश्रीमत्**सोमधर्मगणि**विरचितायामु**पदेशसप्ततिकायाम्**—

"श्रीजीरिकापल्लिपुरीनितम्बिनी,–कण्ठस्थले हारतुला दधाति य ।
प्रणम्य तं पार्श्वजिनं प्रकाश्यते, तत्तीर्थसम्बन्धकथा यथाश्रुतम ॥ १ ॥
पुरा नन्दाभ्रेश(११०९)सङ्ख्ये, वर्षे ब्रह्माणनामनि । महास्थाने भूरिजैन,-शैवप्रासादसुन्दरे ॥१॥"

इत्यादिना ग्रन्थेन विस्तरतः प्रदर्शितः, स च जिज्ञासुना तत एव विज्ञेयः ।

तदेवं 'जिराउलणाहं वंदिअ णिस्सीमसत्तिसंजुत्तं सिरिपासपहुं' इत्यनेन मङ्गलं निबद्धम् , 'भासिमु ठिइबंधं' इत्यनेनाभिधेयं च कथितम् । साम्प्रतं सम्बन्धमभिधित्सयाऽऽह–**"गुरुपसायाओ"** त्ति गृणाति तत्त्वमिति गुरुः–सम्यक् तत्त्वोपदेष्टा, स चार्थमधिकृत्य श्रीमत्तीर्थकरभगवान् , सूत्रापेक्षया तु श्रीमद्गौतमगणधराद्याः सूरयः । यतः सूत्रलक्षणमिदम्—
"सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च । सुयकेवलिणा रइयं,अभिन्नदसपुव्विणा रइयं ॥" इति ।

यद्वा सूत्रार्थतो वाचनादिदातॄणामपि तत्त्वोपदेशकत्वमविरुद्धम् , ततश्चास्मदादीनां गुरुपर्यन्ता

आचार्यादयोऽपि गुरुपदाभिधेयाः, तेषां 'प्रसादात्'–अनुग्रहात् । विशेषतस्तु- यस्यान्तिके निवसन् सम्यक्त्वादिविशिष्टगुणगौरवभागभवं तस्याविरतिकूपादुद्धृत्य संयमसुवर्णगिरावारोहकस्य प्रकृतग्रन्थ-सङ्कलने प्रकृष्टप्रेरणाप्रदातुर्गच्छाधिपतेराचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरगुरोः प्रसादादिति । अनेन च स्वस्यौद्धत्यं परिहृतम् , तथा गुरुकुलवासे निवसता मयाऽयं ग्रन्थो गुम्फित इत्येवं दर्शयता शास्त्रसम्बन्ध-श्चाभिहितः । **तथाहि**–यथा मयाऽयं ग्रन्थो गुरुनिश्रया तदाज्ञापुरस्सरं विनिर्मितस्तथा मद्गुरुणा स्वीयगुरोर्निश्रयाऽध्ययनादिकं कृतम् , एवं पूर्वं पूर्वं चरणेन यावत् श्रीमताऽऽर्यजम्बूस्वामिना स्वीय-गुरुसुधर्मागणधरेभ्य आगमाध्ययनं सम्पादितम् , तैश्च स्वीयगुरुश्रीमत्तीर्थकरभगवतः सकाशादर्थतः समुपलब्धमिति । इत्थं च प्रकृतग्रन्थस्य स्वेच्छापरिकल्पितत्वाऽऽशङ्काऽनवकाशीकृता, शिष्यैः सर्व-कार्याणि गुरुनिश्रयाऽऽचरितव्यानीत्युपदिष्टं चेति । अयं हि सम्बन्धः श्रद्धानुसारिणं प्रति बोद्धव्यः, तर्कानुसारिणं प्रति त्वसौ साध्य-साधनभावलक्षणः साक्षादनुक्तोऽपि विज्ञेयः ; तथैव प्रयोजनमपि । यतः प्रयोजनमनन्तरपरम्परभेदाद् द्विविधम् , तदपि शास्त्रकृच्छ्रोतृभेदाद् द्विधा भवति । तत्र शास्त्रकर्तुरनन्तरं प्रयोजनं भव्यजनबोधानुग्रहः , श्रोतृणां त्वनन्तरप्रयोजनं शास्त्रतत्त्वावबोधः,उभयोरपि परम्परप्रयोजनमपवर्गावाप्तिलक्षणम् , तस्यैव पुरुषार्थप्राधान्यात् सम्यग्दृशामभिप्रेतत्वाच्च । न चैतद-नेन शास्त्रेण कथं सेत्स्यतीति वाच्यम् , प्रकृतशास्त्रस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वेन श्रेयोभूतत्वात् पारम्पर्येण श्रेयोजनकत्वाच्च तत्सिद्धेरित्यलं विस्तरेणेति ॥ १ ॥

तदेवं विघ्नविघाताय कृतमङ्गलाचरणादिरधिकृताऽभिधेयाभिधानविषयप्रतिज्ञां निर्वाहयितुमना मन्दबुद्धीनां निर्मोहनहेतवे मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभेदभिन्नायां स्थितिबन्धप्ररूपणायामादौ तावन्मूलप्रकृति-स्थितिबन्धाधिकारनामानि तद्गतद्वारसङ्ख्यया सह दर्शयन्नाह—

मूलपयडिठिइबंधे छहिगारा पढम-बीअ-भूगारा ।
पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवमाणसमुदाहारो ॥२॥
तेसु पढमाईसु अहिगारेसु चउरो य पंचदस ।
तेरस तिण्णि य तेरस तिण्णि कमा हुन्ति दाराणि ॥३॥

(प्रे०) "**मूलपयडिठिइबंधे**" इत्यादि, मौलानां शतकचूर्ण्यादिषूक्तनिरुक्तादीनां ज्ञानावर-णादीनामष्टप्रकृतीनां "**ठिइबंधे**" त्ति भणितुमारब्धे स्थितिबन्धग्रन्थे "**छहिगारा**" त्ति '**षडधिकाराः**'-स्थितिबन्धसामान्यमनुपेक्ष्य तत्तत्स्थितिबन्धस्थानाद्यधिकृतविशेषविषयप्रतिपादनपराः, सन्तीति शेषः । तानेव नामत आह–"**पढमबीअभूगारा**" इत्यादि, तत्र "**पढम**" त्ति द्वितीयाद्यधिकारेष्ववक्ष्यमाणानां स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वादीनां नानाऽर्थानां प्रतिपादनपरः स्थितिबन्धस्थानाद्यधिकारः प्रथमाधिकार-तया बोद्धव्य इत्यर्थः। "**बीअ**"त्ति द्वितीयोऽधिकारः,अयमपि उत्कृष्टादिस्थितिबन्धप्रमाण-तत्स्वामित्व-तत्साद्यादि-तत्कालादिद्वाराण्यधिकृत्य भिन्नभिन्नविषयोऽपि स्थितिबन्धसामान्यप्रतिपादनादपरिच्युतः 'दुइए अहिगारे अह' इत्यादिना वक्ष्यमाणाधिकारो द्वितीयाधिकारतया विज्ञेयः । "**भूगार**" त्ति भूय-

स्कारः, "पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए" इत्यादिना वक्ष्यमाणस्थितिबन्धविशेषप्रतिपादनपरस्तृतीयाधिकारो भवति, अत्र ह्यधिकारेऽल्पतरादयः स्थितिबन्धविशेषा अपि प्ररूपणीयास्तथाऽप्यधिकारनामप्रस्तावे लाघवार्थं भूयस्कारस्यैव ग्रहणं कृतम्, तेनैवोपलक्षणादन्येऽपि बोद्धव्या इति । "**पयणिक्खेवो**" त्ति "परमा वड्ढी परमा हाणी परमं तहा अवट्ठाणं"(गा० ६९०)इत्यादिना वक्ष्यमाणः पदनिक्षेपाख्यश्चतुर्थाधिकारो भवति, तत्र पदनिक्षेपो भूयस्कारादिविशेषरूप एव, भूयस्कारादीनां स्थितिबन्धविशेषाणां जघन्योत्कृष्टपदद्वये निक्षेपणात्, जघन्योत्कृष्टवृद्ध्यादिरूपेण चिन्तनादिति भावः । "**वड्ढी**" त्ति "अत्थि अवत्तव्वत्त बंधस्स असखभागहाणी य"(गा० ७३२)इत्यादिना वक्ष्यमाणो वृद्ध्यधिकारः पञ्चमाधिकारतयाऽवसातव्यो भवति; अयमपि भूयस्कारादिविशेषरूप एव, केवलं पदनिक्षेपाधिकारे भूयस्कारादितया जायमानस्थितिबन्धवृद्ध्यादयो जघन्योत्कृष्टपदद्वयगता एव चिन्तयिष्यन्ते, अत्र तु ते संख्येयभागाऽसंख्येयभागप्रभृतिवृद्ध्यादिरूपेण वर्णयिष्यन्ते ।

इदमुक्तं भवति–मुख्यवृत्त्याधिकृतो कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धोऽपि यदा पूर्वसमयादुत्तरसमयेऽधिको भवति तदा भूयस्कार इत्युच्यते, यदा तु पूर्वसमयादुत्तरसमये हीनो भवति तदाऽल्पतरोऽभिधीयते, एवं तावन्मात्रस्थितिबन्धभावेऽवस्थितोऽबन्धात्प्रथमत एव भावे त्ववक्तव्यश्च संगीयते, वक्ष्यते च—

"पुव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं । बंधो स भूअगारोऽप्पयरं बंधइ स अप्पयरो ॥५५५॥
तावइयं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो । होउं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो" इति ।

एते भूयस्कारादयः सत्पदादिद्वारैरोघत आदेशतश्च यत्र चिन्तयिष्यन्ते स भूयस्काराधिकारः । भूयस्काराधिकारविषयभूतोऽनियतेन समयादिना यथासम्भवं हीनाधिकोऽपि यो भूयस्कारादितत्तत्स्थितिबन्धो तेन तेन नियतेन सर्वाधिकवृद्धिहानिरूपेण यत्र चिन्तयिष्यते स पदनिक्षेपाधिकारः । **अयम्भावः**–भूयस्कारचिन्तायां विवक्षितसमयादुत्तरसमये जायमानं समयद्विसमयादिना वृद्धं कमपि स्थितिबन्धमधिकृत्य सामान्येनैव यथा सत्पद-स्वामित्वादिकं प्ररूप्यते, एवं हान्यादिकं च समाश्रित्य सत्पदादयः प्ररूप्यन्ते, न तथा पदनिक्षेपाधिकारेऽपि; किन्तु विवक्षितसमयादुत्तरसमये जायमानमधिकतमवृद्धस्थितिबन्धलक्षणं भूयस्कारविशेषरूपमुत्कृष्टवृद्धेः पदम्, एवमधिकतमहीनस्थितिबन्धलक्षणमल्पतरविशेषरूपमुत्कृष्टहानेः पदम्, तथा उत्कृष्टवृद्धिहान्यन्यतरस्योत्तरसमये प्राप्यमाणमुत्कृष्टावस्थानपदमधिकृत्य, इत्थमेव वैपरीत्येन विवक्षितसमयादनन्तरोत्तरसमये जायमानं स्तोकतमवृद्धस्थितिबन्धलक्षणं भूयस्कारविशेषात्मकं जघन्यवृद्धेः पदम्, तथैव वैपरीत्येन जघन्यहानेः पदम्, जघन्यावस्थानपदं चाधिकृत्य सत्पदादयश्चिन्तयिष्यन्ते; इत्येवं भूयस्काराधिकारापेक्षयाऽस्य पार्थक्यम् । वृद्ध्यधिकार इत्यत्र वृद्धिपदमपि हान्यादेरुपलक्षकं, तत्र वृद्धिर्हानिश्च प्रत्येकं संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुण-संख्येयभागा-ऽसंख्येयभागभेदाच्चतुर्धैव, न पुनरनन्तभागा-ऽनन्तगुणभेदादन्यविधाऽपि, सर्वोत्कृष्टस्याऽपि स्थितिबन्धस्याऽसंख्येयसमयप्रमाणत्वेनाऽनन्तगुणवृद्धिहान्योरसम्भवात् । तत्र भूयस्कारोऽधिकबन्धरूपतया वृद्धिरूपः, अल्पतरबन्धस्तु हीनबन्धरूपतया हानिरूपः, अवस्थानावक्तव्यौ तु भूयस्काराधिकारे वक्ष्यमाणाऽवस्थिता-

ऽवक्तव्यवन्धापेक्षयाऽविशेषावेव । इत्थं हि भूयस्काराल्पतरविशेषरूपाणां संख्येयगुणादिस्थितिबन्धवृद्धि-हानीनां पदनिक्षेपाधिकारविषयभूतजघन्योत्कृष्टपदद्वयापेक्षया विलक्षणत्वाद् वृद्धयादेर्भूयस्कारादिरूपत्वेऽपि प्ररूपणीयविषयभेदात्पार्थक्यं वेदितव्यमिति ।

"**अज्झवसाणसमुदाहारो**" त्ति समुदाहरणं समुदाहारः, प्ररूपणेत्यर्थः । स्थितिबन्धहेतुभूतान् कषायोदयजन्यान् जीवपरिणामविशेषानधिकृत्य यत्र प्ररूपणा क्रियतेऽसावध्यवसानसमुदाहारोऽध्यवसायसमुदाहारो वा "पइठिइबंधमसखा लोगा अठ्ठणह अज्झवसणाणं" (गा० ८४५) इत्यादिना वक्ष्यमाणः षष्ठाधिकारतयाऽवगन्तव्य इति ।

प्रत्येकमधिकारास्तु नानाऽनुयोगद्वारनिष्पन्नाः । तद्यथा–प्रथमाधिकारे चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, (१) स्थितिबन्धस्थानानि, (२) निषेकः, (३) अबाधाकण्डकम् (४) अल्पबहुत्वं च; एतेषु प्रत्येकं चतुर्दशजीवभेदानधिकृत्य स्थितिबन्धस्थानादीनामल्पबहुत्वादिकं प्ररूपयिष्यते । द्वितीयाधिकारे तु पञ्चदशानुयोगद्वाराणि; तत्र प्रथमं (१) स्थितिबन्धप्रमाणद्वारम्, ततः (२) स्वामित्वद्वारम्, ततः (३) साद्यादिद्वारम्, तदनन्तरं (४) कालद्वारम्, ततो (५) ऽन्तरद्वारम्, ततः (६) संनिकर्षद्वारम्, एतेषु षड्द्वारेष्वेकजीवं समाश्रित्य प्ररूपणं करिष्यते, ततः प्रभृति भङ्गविचयादिष्वल्पबहुत्वान्तेषु नवद्वारेषु पुनर्नानाजीवान् प्रतीत्य बन्धकभङ्गादयो वक्ष्यन्ते; भङ्गविचयादीनि पुनरिमानि–(७) भङ्गविचयद्वारम्, (८) भागद्वारम्, (९) परिमाणद्वारम्, (१०) क्षेत्रद्वारम्, (११) स्पर्शनाद्वारम्, (१२) कालद्वारम्, (१३) अन्तरद्वारम्, (१४) भावद्वारम्, (१५) अल्पबहुत्वद्वारं चेति । एतेषु प्रत्येकमोघतः स्थितिबन्धकभूतसमस्तजीवराशिमपेक्ष्य, तथाऽऽदेशतो गत्यादिभेदप्रभेदनिष्पन्नाः सप्तत्युत्तरशतमार्गणा अधिकृत्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं तत्स्वामि-जघन्योत्कृष्टतदितरस्थितिबन्धसाद्यादि-कालप्रभृतयश्च चिन्तयिष्यन्ते, तत्राप्यल्पबहुत्वद्वारे तु जघन्यादिस्थितिबन्धप्रमाणमधिकृत्य स्वस्थानपरस्थानाल्पबहुत्वे तथा जघन्यादिस्थितेर्बन्धकानामल्पबहुत्वमित्येवं नानाविधान्यल्पबहुत्वानि प्ररूपयिष्यन्ते । भूयस्काराख्ये तृतीयाधिकारे तु त्रयोदश द्वाराणि, तत्राद्यं (१) सत्पदद्वारम्, ततः (२) स्वामित्वद्वारम्, तदुत्तरं (३) कालद्वारम्, ततो (४) ऽन्तरद्वारम्, तदनन्तरं तु पूर्वोक्तक्रमेण नानाजीवानधिकृत्य भङ्गविचयादीन्यल्पबहुत्वान्तानि नवानुयोगद्वाराणि सन्ति । एतेष्वपि प्रत्येकं भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिबन्धमधिकृत्य सत्पदादीनि चिन्तयिष्यन्ते । चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे तु सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वलक्षणानि त्रीण्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । अत्रापि जघन्योत्कृष्टपदद्वयगतानां भूयस्कारादिविशेषाणां सत्पदादीनि प्ररूपयिष्यन्ते । पञ्चमे वृद्धयधिकारेऽप्युक्तलक्षणा भूयस्कारादिविशेषरूपाः संख्येयगुणप्रभृतिवृद्धयादयः सत्पदाद्यल्पबहुत्वान्तत्रयोदशद्वारेषु भूयस्काराधिकारवदेव प्ररूपयिष्यन्ते । चरमेऽध्यवसानसमुदाहारे तु त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तानि च स्थिति-प्रकृति-जीवानधिकृत्य स्थितिबन्धकारणीभूताध्यवसायचिन्तनरूपाणीति । एतान्येव षडधिकारसत्कानुयोगद्वाराणि संख्यामात्रेण निर्दिशन्नाह–"**तेसु**" इत्यादि, गतार्थम् । नामपूर्वकं विशेषव्याख्यानं तु प्रत्यधिकारप्रारम्भे दर्शयिष्याम इति ॥२-३॥

॥ प्रथमाधिकार ॥

साम्प्रतं "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायेन प्रथमाधिकारं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमाधिकार-द्वाराणि नामग्राहं गृह्णाति—

तह आइमअहिगारे चउरो दाराणि हुन्ति जहकमसो ।
ठिइठाणाणि णिसेगो अबाहकंडं य अप्पबहू ॥४॥

(प्रे०) "तह आइमअहिगारे" इत्यादि, तत्र-अनन्तरोद्दिष्टषडधिकारेषु "आइमअहिगारे" त्ति आदिमे-प्रथमेऽधिकारे चत्वारि द्वाराणि भवन्ति, तान्येव नामतः क्रमतश्च दर्शयन्नाह—"जहकमसो" इत्यादि, तत्र "ठिइठाणाणि" त्ति बन्धस्य प्रकृतत्वात् स्थितिबन्धस्य स्थानानि स्थितिस्थानानि, मध्यमपदस्य लुप्तत्वात् । बन्धप्रायोग्याः स्थितिविशेषा इत्यर्थः । अयम्भावः—केनचिज्जीवेन या जघन्या स्थितिर्बध्यते तद् एकं स्थितिबन्धस्थानम्, तेनैव जीवेनाऽन्येन वा जीवेन यो समयाधिक-जघन्यस्थितिबन्धः क्रियते तमपेक्ष्य द्वितीयं स्थितिबन्धस्थानम्, इत्थमेव केनाऽपि द्विसमयाधिक-जघन्यस्थितिबन्धः क्रियते तमपेक्ष्य तृतीयं स्थितिबन्धस्थानम्, एवं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तावद् वाच्यम्; ततश्च जघन्यस्थितिबन्धमादौ कृत्वोत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद् यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानानि भवन्ति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

'जहण्णगठितिं आदिं काउण जाव उक्कस्सिता ठिति एसिं मज्झे जत्तिया ठितिविगप्पा ते उक्कसियाए ठितिए समं ठितिबन्धठ्ठाणा वुच्चंति" इति ।

अत्र हि चतुर्दशजीवभेदानधिकृत्य स्थितिबन्धस्थानानां तत्कारणीभूताध्यवसायस्थानाना-मेतयोः स्थितिबन्धस्थानाध्यवसायस्थानयोः प्रमाणनियामकस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य चाऽल्प-बहुत्वत्रयं प्रतिपादयिष्यते ।

"णिसेगो" त्ति निषेचनं निषेकः "भावाऽकर्त्रोः" (सि. हे. ५-३-१८) इत्यनेन "घञ्" प्रत्ययः; निषेचनम्-व्यवस्थापनम्, प्रकृतत्वाद् बध्यमानस्थितिषु कर्मदलस्य रचनेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—वेदनार्थं बध्यमानकर्मदलानामबाधावर्जस्थितिस्थानेषु हीन-हीनतर-हीनतमादिक्रमेण रचनं-व्यवस्थापनं निषेक उच्यते । उक्तं च शतकवृत्तौ—

"निषेको नाम प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीनं तृतीयसमये हीनतरं ततो हीनतमं कर्मदलिकं रच्यते यत्र स एवंभूत कर्मदलिकरचनाविशेषो निषेक उच्यते, अबाधां विहाय तत ऊर्ध्वं वेदनार्थं कर्मनिषेको भवतीति भावः ।" इति

"अबाहकंडं" त्ति अबाधाकण्डकद्वारम्, यत्राबाधाकण्डकानि प्ररूप्यन्ते । तत्राबाधा तु बन्धकाले निषिच्यमानदलिकानां निषेकायाऽयोग्यः कालः, यस्मिन् काले यथानिषिक्तं कर्मदल-

मुदीरणादिकरणान्तरस्य साहाय्यमन्तरेण स्वभावत एवोदयं नैवाऽऽयाति, जीवस्य बाधां नोत्पादयति स इति भावः । उक्तं च शतकभाष्ये--

"होइ अबाहाकालो जो किर कम्मस्स अणुउदयकालो" इति ।

कण्डकमिति समूहः, तच्च कण्डकं स्थितिबन्धस्थानानां बोद्धव्यम्, न त्वबाधास्थानानाम् । ततश्चैकसमयाबाधाहानावुत्कृष्टतो यावती स्थितिर्हीयते तावत्याः स्थितेः समयप्रमाणानां स्थिति-बन्धस्थानानां समूह एकमबाधाकण्डकमुच्यते, एवम्भूतान्यबाधाकण्डकान्यत्र द्वारे चिन्तयिष्यन्त इति । चकारस्तु समुच्चये ।

"अप्पबहू" त्ति भावप्रधानोऽयं निर्देशस्ततोऽल्पबहुत्वद्वारम्, यत्र गतद्वारत्रयेऽभिहितार्थानां स्थितिबन्धस्थानादीनां परस्परमल्पबहुत्वं हीनाधिक्यलक्षणं प्रदर्शयिष्यत इति ।

तदेवमुद्दिष्टानि प्रथमाधिकारगतद्वाराणि । साम्प्रतं 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायेन प्रथमद्वारे स्थितिबन्धस्थानान्यधिकृत्य प्ररूपणा कर्तव्या; तत्रादौ चतुर्दशजीवभेदेषु प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनां सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वं तुल्यमिति कृत्वा तत्, तथा तद्वदेव स्थितिबन्ध-स्थानकारणीभूतानां संक्लेशविशुद्धिस्थानानामल्पबहुत्वस्यापि तुल्यत्वात् तदपि सममेव प्रतिपिपाद-यिषुर्गाथाद्वयमाह—

ठिइबंधट्ठाणाइं सुहुमियराण असमत्तियरगाणं ।
असमत्तियराण कमा बितिचउइंदियअसण्णिसण्णीणं ॥५॥ (गीतिः)
संखेज्जगुणाणि परं अपज्जबेइंदियस्स ठाणाणि ।
हुन्ति असंखगुणाइं सव्वत्थ विसुद्धिइयराणं ॥६॥

(प्रे०) "ठिइबंधठाणाइ"मित्यादि, स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्तीत्युत्तर-गाथायामन्वयः, यथोत्तरमिति शेषः । केषां स्थितिबन्धस्थानानि यथोत्तरं संख्येयगुणानि भवन्तीत्यत्राह-'सुहुमियराणे'त्यादि, तत्र "सुहुमियराण असमत्तियरगाणे"त्यत्र बहुवचनं प्राकृतत्वात्, यतः प्राकृते द्विवचनस्थाने बहुवचनं भवति । यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वप्राकृतलक्षणे—"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सि० है० ८-३-१३०) इति । ततश्च सूक्ष्मस्य तदितरस्य बादरस्य चेत्यर्थः । एते सूक्ष्मबादराः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विधा भवन्ति, अतस्तत्रापि क्रमनियमार्थमुक्तम् "असमत्तियरगाणं" त्ति असमाप्तस्य,-अपर्याप्तस्येत्यर्थः, अपर्याप्तानामेवासमाप्तपर्याप्तिकत्वेनासमाप्तपदवाच्यत्वादिति भावः । ततश्च तदितरस्य पर्याप्तस्येत्यर्थः । अमू द्वे विशेषणे गाथान्यस्तक्रमात् प्रत्येकं योज्येते । आदावपर्याप्तविशेषणं प्रत्येकं योज्यं, ततः पर्याप्तविशेषणं प्रत्येकं योज्यमितिभावः । इत्थं चायं क्रमः प्राप्तः—प्रथममपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्येति । अग्रेऽपि क्रमव्यवस्थापनार्थमाह—"असमत्तियराणे"त्यादि, प्राग्वत्

"बितिचउ" इत्यादिपदानि पर्याप्त-तदितरापर्याप्तयोः प्रत्येकं क्रमेण योज्यन्ते, ततः पर्याप्तबादरै-केन्द्रियानन्तरमपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य, ततः पर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रि-यस्य, ततः पर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तस्य संज्ञि-पञ्चेन्द्रियस्येति । सूत्रलाघवार्थं 'संख्येयगुणाणी'ति पदस्यानुवृत्तौ प्रयुक्तायां सत्यां याऽतिप्रसक्ति-र्जाता तां निराकुर्वन्नाह—"परं अपज्जबेइंदियस्स ठाणाणि" इत्यादि, परम्-नवरम् अपर्याप्तद्वीन्द्रिय-स्य स्थितिबन्धस्थानानि असंख्येयगुणानि भवन्तीति क्रमप्राप्तबादरैकेन्द्रियस्थितिबन्धस्थानेभ्यस्तान्य-संख्येयगुणानि वक्तव्यानि, न पुनर्द्वितीयादिपदेष्विव संख्येयगुणानीति भावः । उक्तोऽक्षरार्थः ।

घटना पुनरित्थम्—स्थितिबन्धस्थानानि जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालाधीनानि, तच्चान्तरालं सूक्ष्मापर्याप्तजीवानां शेषजीवभेदापेक्षयाऽल्पम्, अतोऽपर्याप्तसूक्ष्मजीवस्य स्थितिबन्धस्था-नानि सर्वस्तोकानि, तानि च पल्योपमस्यासंख्येयतमभागगतसमयतुल्यानि भवन्ति । तेभ्योऽपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, यतः सूक्ष्मापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽ-स्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया चास्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषहीनः, तथा च सत्यस्यापर्याप्तबादरस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालं पूर्वोक्तान्तरालापेक्षया बृहत्, तच्च पूर्वापेक्षया संख्येयगुणमित्यतोऽपर्याप्तबादरस्य स्थितिस्थानान्यपि संख्येयगुणानि । ननु बादरापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धः सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिबन्धापेक्षया विशेषहीनः, उत्कृष्टस्थितिबन्धश्च विशेषाधिकश्चेत्तदा तयोरन्तरालं कथं संख्येयगुणमिति चेद् ? उच्यते, योऽत्र स्थितिबन्धो विशेषहीनो विशेषाधिकश्चोक्तः स सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया, न तु सूक्ष्मापर्याप्तस्य स्थितिबन्धस्थानान्यपेक्ष्य, सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धौ तु ज्ञानावरणादीनामग्रे वक्ष्यमाणौ पल्योपमासंख्येयभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणौ, तदपेक्षया निरुक्तायां वृद्धौ हानौ च प्राप्यमाणानि स्थितिबन्धस्थानानि प्रत्येकं पल्योपमस्यासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि जायन्ते, न चात्र कश्चिद् विरोधः, सागरोपमादिस्थितिबन्धमपेक्ष्य विशेषाधिकांशे पल्योपमसंख्येयभागस्यापि प्रवेशात्, एवं विशेषहान्यंशेऽपि बोद्धव्यम् । नवरमत्र हानिसत्को यः पल्योपमस्यासंख्यांशः स सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिबन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणोऽस्ति यश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धाभिमुखं चरणेन पल्योपम-स्यासंख्यांशो वर्धतेऽसौ पुनर्हानिसत्कांशापेक्षयाऽपि संख्येयगुणोऽस्ति, तथा च सति बादरापर्याप्तै-केन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालमपि संख्येयगुणं भवतीति । अपर्याप्तबादरस्य स्थिति-बन्धस्थानापेक्षया पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीत्येतदपि बादरापर्याप्त-स्थितिबन्धस्थानवज्जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालस्य संख्येयगुणत्वापेक्षया भावनीयम्, नवरं सूक्ष्मा-पर्याप्तस्थाने बादरापर्याप्तजीवं गृहीत्वा बादरापर्याप्तस्थाने सूक्ष्मपर्याप्तजीवं च गृहीत्वेति । इत्थ-मेवानन्तरवर्तिषु बादरपर्याप्तादिजीवभेदेष्वपि भावना द्रष्टव्या, नवरं द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य स्थितिबन्ध-

स्थानानि यान्यसंख्येयगुणानि कथितानि तानि तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरस्य पल्योपमसंख्येयभागतुल्यत्वात् । इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयोत्कृष्टः स्थितिबन्धः पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिको जायते, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तानां तु प्रत्येकं स्वस्वजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसंख्येयभागेनाभ्यधिको जायते, तथा च सति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि पल्योपमस्यासंख्येयभागगतसमयतुल्यानि, द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य स्थितिबन्धस्थानानि तु पल्योपमसंख्येयभागगतसमयतुल्यानि, अतो भवन्त्यमूनि पूर्वापेक्षयाऽसंख्येयगुणानि । अत्र गुणकराशिरावलिकाया असंख्येयभागगतसमयतुल्योऽवगन्तव्यः कुतः ! समनियतपल्योपमासंख्यभागप्रमाणस्थितिस्थानैर्निष्पद्यमानानामबाधाकण्डकानामेकेन्द्रियेष्वावलिकाया असंख्येयभागगतसमयतुल्यानां भावात्, द्वीन्द्रियेषु त्वावलिकायाः संख्येयभागप्रमाणानां लाभाच्च । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं अबाहाट्ठाणाणि अबाहाकण्डगाणि य दोवि तुल्लाणि सव्वत्थोवाणि । ताणि य आवलियाए संखेज्जत्तिभागमेत्ताणि" इति । तथा—

"एगिंदियाणं सुहुमाणं बादराणं पज्जत्तअपज्जत्तगाणं आउगवज्जाण सत्तण्णं कम्माणं अबाहाठाणाणि अबाहाकण्डगाणि दोवि तुल्लाणि सव्वत्थोवाणि । ताणि आवलियाए *असंखेज्जतिभागमेत्ताणि" इति ।

प्रकृताल्पबहुत्वं कर्मप्रकृतिचूर्णावित्थमेव । तथा च तद्ग्रन्थः—

"सव्वथोवाणि सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स ठितिबंधट्ठाणाति । बायरअपज्जत्तगस्स ठितिबंधठाणाणि संखेज्जगुणाणि । सुहुमस्स पज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । बायरस्स पज्जत्तगस्स ठितिबंधट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । एवं एतेसिं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागमेत्ताणि ठितिबन्धट्ठाणाणि । ततो बिइंदियस्स अपज्जत्तगस्स ठितिबंधट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाइं । कह ? बेतिंदियादिणं ठितिबन्धट्ठाणाति पलिओवमस्स संखेज्जइभागमेत्ताणि त्ति काउं । तस्सेव पज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाति संखेज्जगुणानि तेइंदियस्स अपज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाइं संखेज्जगुणाइ । तस्सेव पज्जत्तगस्स ठितिबंधट्ठाणाइं संखेज्जगुणाइं । चउरिंदियस्स अपज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाति संखेज्जगुणाइ । तस्सेव पज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाति संखेज्जगुणाइं । असण्णिपंचेंदियस्स अपज्जत्तस्स ठितिबन्धट्ठाति संखेज्जगुणाणि । तस्सेव पज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाति संखेज्जगुणाणि । सण्णिपंचिंदियअपज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणानि संखेज्जगुणाणि । तस्सेव पज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाति संखेज्जगुणाइं ।" इति ।

अत्र प्रमाणमधिकृत्य स्थितिबन्धस्थानान्येकेन्द्रियसत्केषु चतुर्षु जीवभेदेषु प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागगतसमयतुल्यानि, अपर्याप्तद्वीन्द्रियादिष्वष्टजीवभेदेषु प्रत्येकं पल्योपमस्य संख्येयभागगतसमयतुल्यानि, अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तु तान्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणां समयतुल्यानि, पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तु पुनस्तानि देशोनत्रिंशत्कोटिकोटीसागरोपमादिसमयतुल्यानि, ज्ञानावरणादीन् समाश्रित्यावसेयानीति । न चाशङ्क्यं यदपर्याप्तद्वीन्द्रियादिष्वष्टसु जीवभेदेषु प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानानां पल्योपमस्य संख्येयभागप्रमाणत्वेऽपि तेषु यथोत्तरं संख्येयगुणत्वं विरुध्येत ? यतो यथैकेन्द्रियसत्क-

*जेसलमेरशास्त्रागारस्थकर्मप्रकृतिचूर्णिप्रतिसत्कोऽयं पाठ, मुद्रितप्रतौ तु 'अ'कारो न दृश्यते ।

चतुर्भेदेषु प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानानां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वेऽप्यसंख्येयस्यासंख्येयभेदभिन्नतया न कश्चिद्विरोधस्तथात्रापि विरोधाभाव एवेति ।

अत्र मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्थमसत्कल्पनया त्रिगुणप्रभृतेर्यावत्पञ्चदशगुणानि तावत्संख्येयगुणानीति कल्प्यन्ते, विंशतिगुणादीनि त्वसंख्यगुणानीति कल्प्यन्ते, तथाऽसत्कल्पनयाऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्ध एकाधिकलक्षसमयप्रमाणो (१००००१) जायते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिक इति पञ्चाधिकलक्षसमयप्रमाणो (१००००५) जायते, अतस्तस्य स्थितिबन्धस्थानानि पञ्च लभ्यन्ते । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषहीनो भवति, स चात्र षडशीत्यभ्यधिकनवशतयुतनवनवतिसहस्रसमयप्रमाणः (९९९८६) कल्प्यते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धो योऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिको जायते सः पञ्चाशदधिकलक्षसमयप्रमाण; (१०००५०) कल्प्यते, तथा च सत्यपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि पञ्चषष्टिः (६५) प्राप्यन्ते, तानि चापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानापेक्षया त्रयोदशगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन्, त्रिगुणादारभ्य पञ्चदशगुणपर्यन्तानामनन्तरमेव संख्येयगुणतया परिकल्पितत्वात् । बादरापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषहीन इत्येकनवत्यभ्यधिकसप्तशतान्वितनवनवतिसहस्रसमयप्रमाणो (९९७९१) जायते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धः पुनरपर्याप्तबादरापेक्षया विशेषाधिक इति पञ्चत्रिंशदभ्यधिकषट्शतयुतलक्षसमयप्रमाणो(१००६३५)भवति, तथा च सति पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि (८४५) पञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकाष्टशतान्यभवन्, तानि चापर्याप्तबादरस्य स्थितिबन्धस्थानापेक्षया त्रयोदशगुणानीति संख्येयगुणान्येव । पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषहीन इति षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयसमन्वितसप्तनवतिसहस्रसमयप्रमाणो (९७२५६) जायते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धः पर्याप्तसूक्ष्मोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिक इति चत्वारिंशदभ्यधिकशतद्वययुताष्टसहस्रान्वितलक्षसमयप्रमाणो (१०८२४०) भवति, तथा च सत्यस्य पर्याप्तबादरस्य स्थितिबन्धस्थानानि (१०९८५) पञ्चाशीत्यभ्यधिकनवशतयुतदशसहस्राण्यलभ्यन्त, तानि तूपर्युक्तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्थितिबन्धस्थानेभ्यस्त्रयोदशगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन् । द्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धश्चोभावपि पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया संख्यातगुणौ भवतः, तत्र यो द्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः सोऽत्रासत्कल्पनया षष्ट्यभ्यधिकपञ्चशतान्वितद्विसप्ततिसहस्रयुतनवलक्षसमयप्रमाणो (९७२५६०) गृह्यते, स चैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽऽसन्नदशगुण इति संख्येयगुणोऽभवत् , द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु षष्ट्यभ्यधिकशतद्वययुतद्विनवतिसहस्रान्वितैकादशलक्षसमयप्रमाणो (११९२२६०) जायते, तथा च सति द्वीन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानानि सप्तशताभ्यधिकैकोनविंशतिसहस्रयुतलक्षद्वयं (२१९७००) प्राप्यन्ते, तानि च पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानापेक्षया विंशतिगुणानीत्यसंख्येयगुणान्यभवन् , इत्थमेवोत्तरवर्तिस्थानेष्वपि यथासम्भवं द्रष्टव्यमिति ॥

अत्राऽसत्कल्पनया कल्पितानां स्थितिबन्धस्थानादीनां स्थापना—

जीवभेदा	जघ०स्थितिबन्धोऽसत्कल्पनया समया. ।	अल्पबहु०	उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसत्कल्पनया समया ।	अल्पबहु०	स्थितिबन्धस्थानानि	
सूक्ष्माऽपर्या०	१००००१	सर्वाधिक	१००००५	स्तोक	५	स्तोकानि
बादराऽपर्या०	९९९८६	विशेषहीन	१०००५०	विशेषाधि०	६५	संख्येयगुण०
सूक्ष्मपर्याप्त०	९९७९१	,,	१००६३५	,,	८४५	,,
बादरपर्याप्त०	९७२५६	,,	१०८२४०	,,	१०९८५	,,
द्वीन्द्रियाऽपर्या०	९७२५६०	संख्येयगुण	११९२२६०	संख्येयगुण	२१९७००	असंख्येयगुण०

अन्यच्च यदुक्तं प्राग् "नवरमत्र हानिमत्को यः पल्योपमस्यासंख्यांशः सः सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिबन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणोऽस्ति, यश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धाभिमुखं चरणेन पल्योपमस्यासंख्यांशो वर्धतेऽसौ पुनर्हानिमत्कांशापेक्षयाऽपि संख्येयगुणोऽस्ति" इत्येतदप्यत्र स्थापनायां दृश्यते तथापि तदेव भाव्यते, अपर्याप्तसूक्ष्मस्य जघन्यस्थितिबन्धो य एकाधिकलक्षसमयप्रमाणः (१००००१) कल्पितस्ततोऽधस्तनमपर्याप्तबादरस्य जघन्यस्थितिबन्धः षड्शीत्यभ्यधिकनवशतयुतनवनवतिसहस्रसमयप्रमाण–(९९९८६) स्तावच्चरणे (१५) पञ्चदशस्थितिबन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, तानि च सूक्ष्मापर्याप्तस्य स्थितिबन्धस्थानापेक्षया त्रिगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन्, त्रिगुणस्याप्यत्रासत्कल्पनायां संख्येयगुणतया परिकल्पितत्वात् । अपर्याप्तसूक्ष्मस्य (१००००५) पञ्चाभ्यधिकलक्षसमयप्रमाणोत्कृष्टस्थितिबन्धादुपरितनमपर्याप्तबादरस्योत्कृष्टस्थितिबन्धं यावच्चरणेन पुनः पञ्चचत्वारिंश–(४५) त्स्थितिबन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, कुतः ? अपर्याप्तबादरस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः पञ्चाशदभ्यधिकलक्षसमयप्रमाणः (१०००५०), ततश्चापर्याप्तसूक्ष्मस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे पञ्चाभ्यधिकलक्षसमयप्रमाणे (१००००५) विशोधिते सति (४५) पञ्चचत्वारिंशत्स्थितिबन्धस्थानानां प्राप्यमाणत्वात् । तानि च अपर्याप्तबादरस्य पञ्चचत्वारिंशत्स्थितिबन्धस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तजघन्यस्थितिबन्धादधस्तनचरणेन लब्धपञ्चदशसंख्याकेभ्यः स्वकीयस्थितिबन्धस्थानेभ्यस्त्रिगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन्, इत्थं च बादरापर्याप्तस्य सर्वस्थितिबन्धस्थानानि (६५) पञ्चषष्टिरभवन् । कुतः ? बादरापर्याप्तस्याधस्तनस्थितिबन्धस्थानानां पञ्चदशसंख्याकानामुपरितनस्थानानां पञ्चचत्वारिंशत्संख्याकानां, मध्यमानां च पञ्चसंख्याकानां स्थितिबन्धस्थानानामेकत्रसंकलने पञ्चषष्टिस्थितिबन्धस्थानलाभात् । अपर्याप्तबादरस्य जघन्यस्थितिबन्धादधस्तनसूक्ष्मपर्याप्तजघन्यस्थितिबंधं यावच्चरणे सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चनवत्यभ्यधिकशतस्थितिबन्धस्थानानि (१९५) लभ्यन्ते, तानि चापर्याप्तबादरस्य सर्वस्थितिबन्धस्थानेभ्यस्त्रिगुणानीति संख्येयगुणान्यजायन्त, तेभ्यो बादरापर्याप्तोत्कृष्टस्थितिबन्धादुपरितनचरणेन लभ्यमानान्यस्यैव सूक्ष्मपर्याप्तस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि सन्ति, कुतः ? उपरि चरणेन (५८५) पञ्चाशीत्यभ्यधिकपञ्चशतस्थितिबन्धस्थानानां लाभात्, तेषां च पूर्वोक्तपञ्चनवत्यधिकश-

तस्थितिबन्धस्थानेभ्यस्त्रिगुणत्वात् । इत्थमेवानन्तरवर्तिजीवस्थानेष्वप्यसत्कल्पनया विभावनीयम् । न चात्र परम्परोपनिधया चिन्त्यमाने कल्पितानि सूक्ष्मापर्याप्तस्य पञ्च स्थितिबन्धस्थानान्यपेक्ष्य सूक्ष्मपर्याप्तस्याष्टशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि स्थितिबन्धस्थानानि विंशतिगुणादप्यधिकानीति कृत्वाऽसंख्येयगुणानि भवन्ति, तच्चासङ्गतम्, सूक्ष्माऽपर्याप्तस्य सर्वस्थितिबन्धस्थानेभ्यः सूक्ष्मपर्याप्तस्य सर्वस्थितिबन्धस्थानानामपि संख्येयगुणत्वादिति वाच्यम् । प्रकृतासत्कल्पनायाः परम्परोपनिधामनपेक्ष्यानन्तरोपनिधापेक्षया दर्शितत्वात्, तदपेक्षया सुसङ्गतेश्चेति । तदेवमभिहितं स्थितिबन्धस्थानाल्पबहुत्वम् ।

अथ संक्लेशविशुद्धिस्थानाल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—"सव्वत्थ विसुद्धिइयराण" मिति "ठाणाणि हुन्ति असखगुणाइं" इत्येतद् देहलीदीपकन्यायेनात्रापि सम्बध्यते, ततो विशुद्धेरितरस्य संक्लेशस्य वा स्थानानि-भेदाः सर्वत्र-सर्वेषु जीवस्थानेष्वसंख्येयगुणानि भवन्ति, क्रमादिति शेषः । तद्यथा—सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य संक्लेशस्थानानि सर्वस्तोकानि, तेभ्योऽपर्याप्तबादरस्याऽसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मस्याऽसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तबादरस्याऽसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्याऽसंख्येयगुणानि, एवं पर्याप्तद्वीन्द्रियाऽपर्याप्तपर्याप्तत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वाच्यानि । एवमेव विशुद्धिस्थानान्यपि यथोत्तरजीवभेदेऽसंख्येयगुणानीत्यपि द्रष्टव्यमिति । अत्र वर्धमानकषायोदयजन्या आत्मपरिणामाः संक्लेशा उच्यन्ते, हीयमानकषायोदयजन्यास्तु त एव विशुद्धयः । तथाहि—कर्मणां स्थितिबन्धे कारणीभूता आत्मनः क्रोधादिकषायजन्या आत्मपरिणामाः सामान्यतोऽध्यवसाया अध्यवसानानि वोच्यन्ते, ते एव मन्दकषायोदयात्तीव्रतीव्रतरादिकषायोदयाभिमुखाश्चरन्तः पूर्वपूर्वापेक्षया संक्लिश्यमानाः सन्तः सक्लेशा अभिधीयन्ते, यदा तु तीव्रकषायोदयान्मन्दमन्दतरकषायोदयाभिमुखं चरन्ति, तदा विशुध्यमानाः सन्तो विशुद्धय इति व्यपदिश्यन्ते इति ।

ननु चतुर्दशजीवभेदेष्वपि स्थितिबन्धकारणीभूतानि संक्लेशस्थानानि यथोत्तरमसंख्येयगुणान्येव कस्माद्भवन्ति ? उच्यते,–यथोत्तरजीवभेदेषु स्थितिबन्धस्थानानामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणस्य चाधिक्यात्, अधिकाधिकतरादिस्थितिबन्धेऽधिकाधिकतरादिसंक्लेशस्थानानां हेतुत्वाच्च । तथाहि–प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानं नानाजीवान् समाश्रित्यासंख्यातलोकाकाशप्रदेशप्रमितैः संक्लेशस्थानैर्बध्यते, वक्ष्यते च—

"पइठिइबंधमसंखा लोगा अट्ठएह अज्झवसणाण ।" इति ।

तत्रापि सूक्ष्मापर्याप्तस्य यत्सर्वजघन्यस्थितिबन्धात्मकं स्थितिस्थानं तस्य बन्धे हेतुभूतानि संक्लेशस्थानानि स्तोकानि, तेभ्यः समयाधिकस्थितिबन्धस्थाने संक्लेशस्थानानि विशेषाधिकानि, द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थाने तु ततोऽपि विशेषाधिकानि संक्लेशस्थानानि, तेभ्यस्त्रिसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थाने संक्लेशस्थानानि विशेषाधिकानि भवन्ति, एवं तावद्वाच्यं यावदुत्कृष्टस्थिति-

बन्धः । अत्र चाऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धस्थानेषु जघन्यस्थितिबन्धादारभ्य पल्योपमस्याऽसंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थितिबन्धस्थानं तत्कारणीभूतसंक्लेशस्थानानि जघन्यस्थितिबन्धस्थानकारणीभूतसंक्लेशस्थानापेक्षया द्विगुणानि भवन्ति, इदं हि संक्लेशस्थानानां द्विगुणवृद्धेराद्यं स्थानमुच्यते, पुनरपि ततः प्रभृति तावन्ति पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थितिबन्धस्थानं तत्कारणीभूतसंक्लेशस्थानानि प्रथमद्विगुणवृद्धिस्थानापेक्षया द्विगुणानि भवन्ति, जघन्यस्थितिबन्धस्थानापेक्षया त्वत्र चतुर्गुणानि संक्लेशस्थानानि सन्ति, इदं हि स्थितिबन्धस्थानं संक्लेशस्थानान्यधिकृत्य द्वितीयं द्विगुणवृद्धिस्थानमुच्यते, इतो द्वितीयद्विगुणवृद्धिस्थानादारभ्य पूर्ववद् यदा पल्योपमस्याऽसंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यन्ते तदा तृतीयं द्विगुणवृद्धिस्थानं प्राप्यते, अत्र तृतीये द्विगुणवृद्धिस्थाने संक्लेशस्थानानि द्वितीयद्विगुणवृद्धिस्थानापेक्षया द्विगुणानि सन्ति, जघन्यस्थितिबन्धाऽऽत्मकस्थितिबन्धस्थानापेक्षया त्वष्टगुणानि सन्ति, एवं पुनरपि पल्योपमासंख्यभागप्रमाणस्थितिस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य यथोत्तरं द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति; वक्ष्यते च—

> "सत्तण्ह जहण्णाओ कमा विसेसाहियाणि आ चरमा ।
> पलियाऽसंखियभागं गंतु गंतु दुगुणवड्ढी ॥" इति ॥

एवंभूतानि द्विगुणवृद्धिस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धादारभ्य तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद्गमनेनाऽसंख्येयानि प्राप्यन्ते, कुतः ? द्विगुणवृद्धिनिष्पादकपल्योपमासंख्येयभागस्य सूक्ष्मापर्याप्तसत्कसमग्रस्थितिबन्धस्थानापेक्षयाऽप्यसंख्येयगुणहीनत्वात् । अत एव बादरापर्याप्तादिजीवस्थानेषु यथोत्तरं संक्लेशस्थानान्यसंख्येयगुणानि प्राप्यन्ते, तथाहि—सूक्ष्मापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया बादरापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो योऽधिको जायते स सूक्ष्मापर्याप्तस्य स्थितिबन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणेन पल्योपमासंख्येयभागेनाधिको जायते इति प्रागेवोक्तमसत्कल्पनया भावितं च, सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धे यानि संक्लेशस्थानानि तेभ्यस्तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थाने तान्यसंख्येयगुणानि सन्ति; कुतः ? सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धादुत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद् गमनेनासंख्येयानां संक्लेशसत्कद्विगुणवृद्धिस्थानानां लाभात् । यदि च सूक्ष्मापर्याप्तोत्कृष्टस्थितिबन्धादूर्ध्वं चरणेन प्राप्तेभ्यो बादरापर्याप्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयभागप्रमाणेषु स्थितिबन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेषु संक्लेशस्थानान्यसंख्येयगुणानि लभ्यन्ते, तदा तेभ्यः—सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणेषु बादरापर्याप्तस्योर्ध्वंचारप्राप्तेसु स्थितिबन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेषु तानि संक्लेशस्थानानि नियमेनासंख्येयगुणानि लभ्येरन्, इत्थमेव शेषजीवभेदेष्वपि भावनीयम्, यथोत्तरजीवभेदे स्थितेर्दीर्घत्वात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"कहं असंखेज्जगुणाणि ? भण्णइ—सुहुमअपज्जत्तस्स जहण्णगे ठितिबन्धे जाणि संकिलेसट्ठाणाणि ततो बितियाए ठितिए विसेसहियाणि, एवं जाव तस्सेवुक्कसियाए ठितीए ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि असंखेज्ज-

गुणाणि लब्भंति त्तिकाउं । ततो बादरस्स अपज्जत्तगस्स ठितिबन्धट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि, ठितिदीहत्ताए सु संकिलेसट्ठाणा असंखेज्जगुणा लब्भंति एवं णेयव्वं।" इति ।

अत्र तन्त्रान्तरे कैश्चित्कृता भावना इत्थं बोद्धव्या—यज्जघन्यस्थितिबन्धादारभ्य यावदाद्यं द्विगुणवृद्धिस्थानं तावत् प्रतिसमयं संक्लेशस्थानानि विशेषाधिकानि भवन्तीत्युक्तम्, तत्र संक्लेशस्थानानां विशेषवृद्ध्यंशः सर्वत्र समानो बोद्धव्यः, तत आद्यद्विगुणवृद्धिस्थानानन्तरस्थानात् पुनर्द्वितीयद्विगुणवृद्धिस्थानं तावद् विशेषवृद्ध्यंशः सर्वत्र समान एव बोद्धव्यः, नवरं पूर्वापेक्षया द्विगुणः, ततोऽपि द्वितीयद्विगुणवृद्धिस्थानानन्तरस्थानादारभ्य यावत्तृतीयं द्विगुणवृद्धिस्थानं तावत्प्रतिस्थितिबन्धस्थानं वृद्ध्यंशोऽनन्तरगतवृद्ध्यंशापेक्षया द्विगुणो भवति, प्रथमगृहीतविशेषवृद्ध्यंशापेक्षया तु चतुर्गुणो भवति, एवं यावदन्त्यं द्विगुणवृद्धिस्थानं तावत्संक्लेशस्थानानां विशेषवृद्ध्यंशो द्विगुणवृद्धिस्थानाऽनन्तरस्थानात्प्रारभ्य द्विगुणो द्विगुणो बोद्धव्यः, अन्यथा द्विगुणवृद्धिस्थानान्तरालवर्तिपल्योपमासंख्येयभागनैयत्यभङ्गः स्यात् । न च भवतु नैयत्यभङ्गः, को दोष इति वाच्यम् । तथा च सति कुतश्चिदपि स्थितिबन्धस्थानात्प्रतिनियतपल्योपमासंख्येयभागातिक्रमणेन संक्लेशस्थानानि द्विगुणानि नैव लभ्येरन्निति । अत्रासत्कल्पनया जघन्यस्थितिबन्धरूपप्रथमस्थितिस्थानस्य बन्धे कारणीभूताः संक्लेशात्मका अध्यवसाया ये समयाधिकस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेभ्यः स्तोका उक्तास्तेऽष्टादश गृह्यन्ते, समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धरूपे द्वितीयस्थितिबन्धस्थाने पूर्वापेक्षया तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया विशेषाधिकाः सन्ति, अत्रासत्कल्पनायामसावधिकांशो द्विरूपो गृह्यते, तथा च सत्यस्मिन् द्वितीयस्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया विंशतिः संजाताः, द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धरूपे तृतीयस्थितिबन्धस्थानेऽध्यवसाया विशेषाधिका इति द्विरूपेणाधिकाः सन्तो द्वाविंशतिर्भवन्ति, एवं यथोत्तरं द्विरूपेण विशेषेणाधिका अधिका भवन्तोऽध्यवसायाः पल्योपमासंख्येयभागेऽतिक्रान्ते प्रथमस्थानापेक्षया द्विगुणा भवन्ति, अत्रासत्कल्पनायामसौ पल्योपमासंख्येयभागो नवसमयप्रमाणः परिकल्प्यते, तथा च सति जघन्यस्थितिबन्धरूपप्रथमस्थितिबन्धस्थानादारभ्य नवस्थितिबन्धस्थानेषु गतेषु सत्सु दशमे स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसायाः प्रथमस्थितिबन्धस्थानापेक्षया द्विगुणा इति षट्त्रिंशत् सम्पद्येरन्, तथाहि—चतुर्थे स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसायास्तृतीयस्थितिबन्धस्थानापेक्षया विशेषाधिका इति पूर्वापेक्षया द्विरूपेणाधिकाश्चतुर्विंशतिः सन्ति, तेनैव प्रकारेण पञ्चमे स्थितिबन्धस्थाने षड्विंशतिरध्यवसाया लभ्यन्ते, षष्ठे स्थितिबन्धस्थाने तु तेऽष्टाविंशतिः, सप्तमे तु त्रिंशत्, अष्टमे पुनर्द्वात्रिंशदध्यवसायाः, नवमे चतुस्त्रिंशत्, दशमे स्थितिबन्धस्थाने तु तद्बन्धहेतुभूताध्यवसायाः षट्त्रिंशदभवन्, अत्र हि नवसमयात्मकः कल्पितपल्योपमासंख्येयभागोऽतिलङ्घितः, अत्र चाध्यवसायाः प्रथमस्थानापेक्षया द्विगुणा अभवन् । इत आरभ्यानन्तरपल्योपमासंख्यभागतया परिकल्पितेषु नवस्थानेषु विशेषवृद्धौ गृह्यमाणांशः प्रथमनवस्थानानि यावद् गृहीतांशापेक्षया द्विगुणो ग्राह्यः, स च चतूरूपो भवति, अतश्चतूरूपस्य विशेषस्य

वर्धने सत्येकादशे स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसायाश्चत्वारिंशद्भवन् , द्वादशे स्थितिबन्धस्थाने तु ते चतुश्चत्वारिंशद् भवन्ति, इत्थमेव नवसमयात्मके द्वितीये पल्योपमासंख्येयभागेऽतिक्रान्ते एकोनविंशतितमे च स्थाने प्राप्ते तत्र तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया द्वासप्ततिर्लभ्यन्ते. इदं हि द्विगुणवृद्धेर्द्वितीयं स्थानम्, अत्र द्वौ पल्योपमाऽसंख्येयभागावतिक्रान्तौ, अत्र पूर्वनिर्दिष्टगुणवृद्धिस्थानापेक्षया द्विगुणा अध्यवसायाः, जघन्यस्थितिबन्धस्थानापेक्षया तु चतुर्गुणाः, यतः प्रथमे स्थितिबन्धस्थानेऽष्टादशाध्यवसाया आसन् , अत्र तु द्विसप्ततिः, ते च पूर्वापेक्षया चतुर्गुणाः सन्ति, इतस्तु तृतीयपल्योपमासंख्यांश आरब्धः, तस्माद् यथोक्तं नवस्थानेषु विशेषवृद्धिरनन्तरगतविशेषवृद्ध्यपेक्षया द्विगुणा भवति, तथा च सति विंशतितमे स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताऽध्यवसाया अशीतिरभवन्, एवमेव यथोक्तं द्रष्टव्यम् । अनेन प्रकारेण संख्यावृद्धिं प्राप्नुवन्तोऽध्यवसायाः कुतश्चिदपि स्थानात् पल्योपमासंख्येयभागेऽतिक्रान्ते द्विगुणा लभ्यन्त इत्येतदप्यत्रासत्कल्पनायां दृश्यते, तद्यथा—समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धात्मके द्वितीयस्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया विंशतिः सन्ति, ततो नवस्थितिबन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वेकादशे स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसायाश्चत्वारिंशद्भवन्ति, तृतीयस्थितिबन्धस्थानात्प्रारभ्य नवस्थितिबन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वध्यवसायास्तृतीयस्थितिबन्धस्थानापेक्षया द्विगुणा लभ्यन्ते, यतस्तृतीये स्थाने द्वाविंशतिरध्यवसायाः, द्वादशे तु चतुश्चत्वारिंशत् , द्वादशस्थानात् पुनरपि नवस्थानात्मके पल्योपमासंख्यांशेऽतिक्रान्ते एकविंशतितमे स्थाने त्वध्यवसाया द्विगुणा इति अष्टाशीतिर्लभ्यन्ते, ते तु तृतीयस्थानापेक्षया चतुर्गुणाः, अनेनैव प्रकारेणानुक्तस्थानेष्वपिद्रष्टव्यं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धः । अत्र चतुःपञ्चाशत्स्थितिबन्धस्थानान्याश्रित्य स्थापना—*

इदन्तु बोध्यम्—यदत्र प्रतिस्थितिबन्धस्थानं तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया असंख्यलोकप्रमाणा उक्तास्ते नैकं जीवमाश्रित्य न वा एकं समयमाश्रित्य किन्तु नानाजीवान् सर्वकालं चाश्रित्य बोद्धव्याः । तथाहि—एका स्थितिः कैश्चिज्जीवैस्तत्प्रायोग्यविवक्षितेनैकेनाध्यवसायेन बध्यते, सैव स्थितिरन्यैः कैश्चिज्जीवैस्तैरेव पूर्वोक्तजीवैर्वा कालान्तरेऽध्यवसायान्तरेण निर्बध्यते, एवं सैव स्थितिरपरैर्जीवैर्भिन्नाध्यवसायविशेषेण जन्यते, इत्येवं जीवानां कालस्य चानन्त्यात् प्रतिस्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता अवाप्यन्ते । न च जीवानां कालस्य चानन्त्याद् भिन्नभिन्नाध्यवसायैरेकस्य विवक्षितस्थितिबन्धस्य सम्भवाच्चैकस्थितिबन्धे तद्बन्धहेतुभूताध्यवसाया अनन्ता अपि लभ्येरन्निति वाच्यम् । यत एका स्थितिः स्वभावतोऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितैर्नियताध्यवसायैरेव बध्यते, जीवानामानन्त्येऽपि समानाध्यवसायेन स्थितिं बध्नतां जीवानामध्यवसायो ज्ञान्यपेक्षयैक एव गण्यते, इत्थमेव कालान्तरेण प्राप्तसदृशाध्यवसायविषयेऽपि बोद्धव्यम् । ततश्च जीवानां कालस्य चानन्त्येऽपि नास्त्यनन्तानामध्यवसायानामेकस्थितिबन्धहेतुत्वावकाशः, किंच

*अत्रालेख्या स्थापना पर्याप्तावकाशाभावाद् विंशतितमे पृष्ठे आलेखिता, सा तत्र द्रष्टव्या ।

सर्वेऽपि स्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या एव, तत्कुत एकस्थितिबन्धे तद्बन्धहेतुभूता अध्यवसाया अनन्ता लभ्येरन् ? न कुतश्चिदपीत्यलं विस्तरेणेति ॥५।६॥

चतुर्दशजीवस्थानेषु स्थितिबन्धस्थानाऽध्यवसायस्थानाल्पबहुत्वादीनां यन्त्रम्

क्रमः	चतुर्दशजीवस्थानानि	स्थितिबन्धस्थानानाम् अल्पबहुत्वम्	स्थितिबन्धस्थानानाम् प्रमाणम्	अध्यवसायस्थानानामल्पबहुत्वम्
१	अपर्या० सू० एकेन्द्रिय०	स्तोक०	पल्योपमस्य असं० भाग०	असंख्येयगुण०
२	अप० बादरैकेन्द्रिय०	संख्येयगुण०	,, ,,	,,
३	पर्या० सूक्ष्मैकेन्द्रिय०	,,	,, ,,	,,
४	पर्या० बादरैकेन्द्रिय०	,,	,, ,,	,,
५	अप० द्वीन्द्रिय०	असंख्यगुण०	,, संख्येयभाग०	,,
६	पर्या० द्वीन्द्रिय०	संख्येयगुण०	,, ,,	,,
७	अप० त्रीन्द्रिय०	,,	,, ,,	,,
८	पर्या० त्रीन्द्रिय०	,,	,, ,,	,,
९	अप० चतुरिन्द्रिय०	,,	,, ,,	,,
१०	पर्या० चतुरिन्द्रिय०	,,	,, ,,	,,
११	अप० असंज्ञिपञ्चे०	,,	,, ,,	,,
१२	पर्याप्त० असंज्ञिपञ्चे०	,,	,, ,,	,,
१३	अपर्याप्त-संज्ञिपञ्चे०	,,	अन्त कोटाकोटी-सागरोपम०	,,
१४	पर्याप्त-संज्ञिपञ्चे०	,,	देशोन ३० कोटाकोटि-सागरोपमादि०	,,

(अष्टादशे पृष्ठे प्रदर्शनीया पञ्चाशत्स्थितिबन्धस्थानान्याश्रित्याध्यवसायस्थानानामसत्कल्पनया स्थापना)

जघन्यस्थितिबन्धादारभ्य
नवस्थानात्मका यथोत्तरपल्यल्योपमाऽसंख्येयभागाः

	आद्य	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पञ्चम.	षष्ठ
जघन्यस्थितिबन्धाऽऽत्मकं प्रथमं स्थानम् ——→	१ * १८	१० ३६	१९ ७२	२८ १४४	३७ २८८	४६ ५७६
समयोत्तरं द्वितीयं स्थानम्→	२ २०	११ ४०	२० ८०	२९ १६०	३८ ३२०	४७ ६४०
द्विसमयोत्तरं तृतीयं स्थानम्→ एवम् उत्तरत्रापि.	३ २२	१२ ४४	२१ ८८	३० १७६	३९ ३५२	४८ ७०४
	४ २४	१३ ४८	२२ ९६	३१ १९२	४० ३८४	४९ ७६८
*अष्टादश-त्रिंशत्याद्या प्रथमा-	५ २६	१४ ५२	२३ १०४	३२ २०८	४१ ४१६	५० ८३२
दिस्थितिबन्धस्थानहेतुभूताध्य-	६ २८	१५ ५६	२४ ११२	३३ २२४	४२ ४४८	५१ ८९६
वसायसंख्या ।	७ ३०	१६ ६०	२५ १२०	३४ २४०	४३ ४८०	५२ ९६०
	८ ३२	१७ ६४	२६ १२८	३५ २५६	४४ ५१२	५३ १०२४
प्रतिपल्योपमासंख्येयभागं	९ ३४	१८ ६८	२७ १३६	३६ २७२	४५ ५४४	५४ १०८८
यावद् जायमानविशेषस्य वृद्धि ——→	↑ द्वाभ्यां	↑ चतुर्भिः	↑ अष्टभिः	↑ षोडशभिः	↑ द्वात्रिंशद्भिः	↑ चतुःषष्टिभिः

तदेवं दर्शितं चतुर्दशजीवभेदेषु संक्लेशविशुद्धिस्थानानामप्यल्पबहुत्वम् । सम्प्रति चतुर्दशजीवभेदेष्वेव सविशेषभेदप्रभेदानधिकृत्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वं गाथापञ्चकेनाह—

सव्वऽप्पो ठिइबंधो जहण्णो इहगो तओ असंखगुणो ।
बायरपज्जत्तस्स तओ समत्तसुहुमस्स अब्भहियो ॥७॥
एआउ विसेसऽहियो कमा अपज्जत्तबायरियराणं ।
सुहुमियरापज्जाणं परमो पज्जसुहुमियराणं ॥८॥
पज्जत्तस्स कणिट्ठो तओ अपज्जस्सऽणू तओ परमो ।
तो पज्जत्तस्स परो कमसो बेइंदियस्स भवे ॥९॥

तेइंदियचउइंदियअमणाण कमा तहेव णायव्वो ।
णवरि लहू संखगुणो समत्तबिंदिय-असण्णीणं ॥१०॥
संखगुणोऽतो जइणो परमो देसस्स हस्सियरो ।
पज्जाईणुत्तकमसो चउरो सम्मत्तिमिच्छाणं ॥११॥उपगीतिः

(प्रे०) "सव्वऽप्पो" इत्यादि, सर्वाल्पः–अनन्तरवक्ष्यमाणशेषसर्वस्थानेभ्यः स्तोक इत्यर्थः । क इत्याह–"ठिइबधो जइणो डहरो" त्ति यतेः 'डहरो'–जघन्यः स्थितिबन्धः । यतोऽयं सूक्ष्मसम्परायक्षपकस्य जायते, तस्य सूक्ष्मसम्परायक्षपकस्य लोभसूक्ष्मकिट्टीवेदकस्य कषायोदयक्तशेषसर्वजीवापेक्षया विशुद्धेराधिक्याज्जघन्योऽन्तर्मुहूर्तादिमात्रः स्थितिबन्धो भवति । इत उपरिष्टाद् यद्यपि सातवेदनीयस्य सामयिको बन्धो भवति, तथापि तस्य समयादधिकावस्थानाभावात्स्थितिबन्धे गणनैव न क्रियते । वस्तुतः काषायिकः स्थितिबन्ध एव प्रकृतेऽधिकृतः, स तूपशान्तमोहादिगुणस्थानेषु नैव भवति, उपशान्तमोहादिषु सूक्ष्मस्याऽपि कषायोदयस्याभावात् । 'तत्रो" त्ति ततः–यतिनो जघन्यस्थितिबन्धात् 'असंखगुणो बायरपज्जस्स" त्ति बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुण इत्यर्थः, डहरोशब्दस्यात्रापि योजनात् । कुतोऽसंख्येयगुणः ? उच्यते, बादरपर्याप्तजघन्यस्थितिबन्धस्यापि देशोनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणत्वात्, एतच्चाग्रे स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे ग्रन्थकारः स्वयमेव दर्शयिष्यति । 'तत्रो" त्ति ततो-बादरपर्याप्तजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया "समत्तसुहुमस्स अब्भहियो" त्ति समाप्तस्य–स्वप्रायोग्यपर्याप्तीरपेक्ष्य पर्याप्तस्य, अर्थात् करणपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिबन्ध इति पूर्ववद्द्रष्टव्यम्, प्रथमोपात्तस्य 'डहरो' इति शब्दस्याधस्तनस्थानेष्वपि योजनात् । "एश्राउ" त्ति एतस्मात्-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजघन्यस्थितिबन्धात् "विसेसऽहियो कमा" इत्यादि, विशेषाधिकः क्रमात् 'अपज्जत्तबायरियराण ' त्ति अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्येतरपदेन चापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य, जघन्यस्थितिबन्ध इति तु पूर्ववदिति । 'सुहमियरापज्जाण परमो" त्ति, सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य परमः–उत्कृष्टस्थितिबन्धः, इतरपदेन बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धश्चेत्यर्थः । "पज्जसुहमियराण" मिति, परमशब्दस्य देहलीदीपकन्यायेनाऽत्रापि योजनात्,पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः,इतरस्य पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धश्च । अन्यानपि क्रमगतान् द्वीन्द्रियादीनां जघन्यादिस्थितिबन्धानाह—"पज्जत्तस्स कणिट्ठो" इत्यादिना, अत्र "पज्जत्तस्से"त्यादिषष्ठ्यन्तानां गाथायाः पर्यन्ते "बेइंदियस्स भवे" इत्यनेनान्वयः, तथा च सति 'पज्जत्तस्स कणिट्ठो तत्रो" त्ति ततः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धात् पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य कनिष्ठः–जघन्यस्थितिबन्धः । "अपज्जस्सणु" त्ति ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्याणुः—जघन्यस्थितिबन्धः, "तत्रो परमो" त्ति ततस्तस्यैवापर्याप्तद्वीन्द्रियस्य परमः–उत्कृष्टः स्थितिबन्धः । "तो पज्जत्तस्स परो" त्ति ततः पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य परः–उत्कृष्टः स्थितिबन्धः "कमसो बेइंदियस्स भवे" इति योजितम् । "तेइंदिये"त्यादि,

पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरं त्रीन्द्रियस्य चतुरिन्द्रियस्य तथा "अमण" त्ति अमनाऽसंज्ञी तस्य, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्येत्यर्थः "कमा" त्ति अमीषां त्रयाणां क्रमात् 'तहेव णायव्वो" त्ति तथैव-यथा द्वीन्द्रियस्य प्रथमतः पर्याप्तस्य जघन्यस्ततोऽपर्याप्तस्य जघन्यस्ततोऽपर्याप्तस्योत्कृष्टस्ततः पर्याप्त-स्योत्कृष्टः स्थितिबन्ध इत्येतेन क्रमेणोक्तस्तेनैव क्रमेण ज्ञातव्यः, अयम्भाव —पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यो-त्कृष्टस्थितिबन्धात् त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धः, ततस्तस्यैव त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः, ततस्तस्यैवापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः, ततस्तस्यैव त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः, ततः पुनश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः, ततस्तस्यैव चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यः, ततस्तस्यैवा-पर्याप्तस्योत्कृष्टः, ततस्तस्यैव चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः, ततः पुनरनेनैव क्रमेणा-संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः, ततोऽपर्याप्तस्य जघन्यः, ततोऽपर्याप्तस्योत्कृष्टः, ततः पर्याप्तस्यो-त्कृष्टश्च; एते एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुक्तक्रमेण दर्शिता जघन्यादि-स्थितिबन्धाः वक्ष्यमाणापवादं विवर्ज्य यथोत्तरं विशेषाधिका द्रष्टव्याः । कुत एवं गम्यते ? "एत्थाउ विसेसऽहियो" इति प्रागुक्तस्य "विशेषाधिक" इति पदस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धं यावदनुकर्षणात् । एवं सामान्यतः सर्वत्र यथोत्तरं विशेषाधिकेऽभिहिते याऽतिप्रसक्तिस्तां निराकर्तु-मपवदति—"णवरि लहू" इत्यादि, नवरं लघुः—जघन्यः स्थितिबन्धः संख्यगुणः । कस्य कस्ये-त्याह—"समत्तबिदियअसण्णीण" त्ति अत्र "समत्त" इति शब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य, पर्याप्तस्यासंज्ञिनश्चेत्यर्थः । वक्तव्य इति शेषः । इदमुक्तं भवति—पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-स्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति कथनानन्तरं पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको न वक्तव्यः, किन्तु संख्येयगुणो वक्तव्यः, तथैव चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इत्यभिधानानन्तरमसंज्ञिनः पर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको न वक्तव्यः, किन्तु संख्येयगुणो वक्तव्यः, तदन्येषु स्थानेषु पुनर्विशेषाधिक एव वक्तव्य इति । पर्याप्तासंज्ञिन उत्कृष्टस्थितिबन्धादूर्ध्व-मप्याह—"सखगुणोऽतो जइणो" इत्यादि, अत्र लुप्ताकारस्य योजनात् 'सखगुणो अतो' त्ति इत आरभ्यानन्तरवक्ष्यमाणस्थानेषु यथोत्तरं जघन्य उत्कृष्टो वा स्थितिबन्धः सर्वत्र संख्यगुणः, द्रष्टव्य इति शेषः, तमेवाह—'जइणो परमो" इत्यादिना, तत्र "जइणो परमो" त्ति यतेः—संयतस्य परमः—उत्कृष्टस्थितिबन्धः, जघन्यस्थितिबन्धस्तु तस्य प्रागेव सर्वाल्पस्थितिबन्धतयोक्तः, अयं तूत्कृष्टः । "देसस्स हस्सियरो" त्ति ततो देशविरतस्य ह्रस्वः स्थितिबन्धस्ततस्तु तस्यैवेतरः—उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, "पज्जाईणुत्तकमसो" त्ति ततः पुनः पर्याप्तादीनामुक्तक्रमात्, यो द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तादिसत्कजघन्यादि-स्थितिबन्धेषु क्रम उक्तस्तेन क्रमेणेत्यर्थः । तेन क्रमेण किमित्याह—"चउरो" त्ति चत्वारः स्थितिबन्धाः, केषां पुनः पर्याप्तादिसत्काश्चत्वारः स्थितिबन्धा इत्याह—"सम्मत्तिमिच्छाणं" त्ति आदावविरत-सम्यग्दृशः पर्याप्तादिसत्काश्चत्वारः स्थितिबन्धास्ततो संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृशः पर्याप्तादिसत्काश्चत्वारः स्थितिबन्धाः प्रागुक्तद्वीन्द्रियसत्कचतुर्विधस्थितिबन्धानां क्रमेण वक्तव्या इत्यर्थः । तद्वक्तव्यता त्वेवं

भवति—देशविरतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धात् पर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धः, ततोऽपर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धः, ततस्तस्यैवापर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्धः, ततस्तु पर्याप्तस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्धः, ततः पुनः पर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धः, ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेर्जघन्यस्थितिबन्धः, ततोऽपर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्धः, ततः पर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टस्थितिबन्धः, इत्यनेन क्रमेण यथोत्तरं संख्येयगुणा भवन्ति "संखगुणोऽतो" इति वचनात्। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

"सव्वत्थोवो संजयस्स जहण्णगो ठितीबंधो। एगिंदियबादरपज्जत्तगस्स जहण्णउ ठितिबंधो असंखेज्जगुणो। सुहुमस्स पज्जत्तगस्स जहण्णगो ठितिबंधो विसेसाहितो। अपज्जत्तगस्स बायरस्स जहण्णगो विसेसाहिओ। सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णगो विसेसाहिओ। तस्सेवुक्कस्सगो ठितिबंधो विसेसाहिओ। बादरस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसो विसेसाहिओ। सुहुमस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसो विसेसाहिओ। बादरस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसो विसेसाहिओ। ततो बेइंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णओ संखगुणो। तस्सेव अपज्जत्तगस्स जहण्णओ विसेसाहिओ। तस्सेवुक्कस्सगो विसेसाहिओ। बेइंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसो विसेसाहिओ। तओ तेइंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णो विसेसाहिओ। तस्सेव अपज्जत्तगस्स जहण्णओ विसेसाहितो। तस्सेवुक्कोसो विसेसाहिओ। तेइंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसो विसेसाहिओ। चउरिंदियपज्जत्तस्स जहण्णओ विसेसाहिओ। तस्सेव अपज्जत्तगस्स जहण्णओ विसेसाहिओ। तस्सेव उक्कोसो विसेसाहिओ। तस्सेव पज्जत्तगस्स उक्कोसो विसेसाहिओ। असण्णिपंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णओ संखेज्जगुणो। तस्सेव अपज्जत्तगस्स जहण्णओ विसेसाहिओ। तस्सेवुक्कस्सगो विसेसाहिओ। असण्णिपंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसो ठितिबंधो विसेसाहिओ। ततो संजतस्स उक्कोसगो ठितिबंधो संखेज्जगुणो। "विरते देसजइदुगे सम्मचउक्के य संखगुणो" त्ति ततो देसविरतस्स जहण्णओ ठितिबंधो संखेज्जगुणो। तस्सेव उक्कस्सगो ठितिबंधो संखेज्जगुणो। सम्मचउक्कं त्ति असंजयसम्मदिट्ठीपज्जत्तापज्जत्तगाण जहण्णुक्कोसगं ति भणितं होति। देसविरयस्स उक्कोसा ठितिबंधातो असंजतसम्मदिट्ठीयस्स पज्जत्तगस्स जहण्णओ ठितिबंधो संखेज्जगुणो। तस्सेव अपज्जत्तगस्स जहण्णओ ठितिबंधो संखेज्जगुणो। तस्सेवुक्कस्सओ ठितिबंधो संखेज्जगुणो। असंजतस्स सम्मदिट्ठिस्स पज्जत्तगस्स उक्कस्सगो ठितिबंधो संखेज्जगुणो। असंजयसम्मदिट्ठिस्स पज्जत्तगस्स उक्कस्सगातो ठितिबंधातो सण्णिपंचेंदियपज्जत्तगस्स जहण्णओ ठितिबंधो संखेज्जगुणो। तस्सेव अपज्जत्तगस्स जहण्णओ ठितिबंधो संखेज्जगुणो। तस्सेवुक्कस्सगो ठितिबंधो संखेज्जगुणो" इत्यादि।

अत्र संयतस्य जघन्यस्थितिबन्धः क्षपकश्रेणिगतत्व इति कृत्वा सर्वाल्प इति तु प्रागेवाभिहितम्, ततश्च पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुण इत्यत्रापि पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य स्थितिबन्धो जघन्यतोऽपि देशोनसागरोपमत्रिसप्तभागादिमानो जायते इति हेतुर्दर्शितः, तत आरभ्य क्रमेणोक्तेष्वेकेन्द्रियसत्केषु सप्तस्वपि स्थानेषु यथोत्तरं विशेषाधिकः स्थितिबन्ध उक्तः, यत एकेन्द्रियभेदेषु जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयोत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धः पल्योपमासंख्येयभागेनैवाधिको जायते। ननु भवदुक्तनीत्या विशेषाधिकस्तथापि यथोक्तक्रमे कः प्रयोजकः? उच्यते, उत्कृष्टादिस्थितिबन्धहेतुभूतायां

कषायोदयस्य तीव्रतायां मन्दतायां च पर्याप्तत्वाद्यवस्थाविशेषाः सहकारिणो भवन्ति, तथा च सति यादृश्यौ कषायोदयस्य तीव्रतामन्दते बादरस्य सम्भवतस्तादृश्यौ तीव्रतामन्दते सूक्ष्मस्य न सम्भवतः । कुतः ? तथाविधतीव्रमन्दकषायोदयसहकारिणो विरहात्, एवं यादृश्यौ कषायोदयस्य तीव्रतामन्दते पर्याप्तस्य सम्पद्येते तादृश्यौ तीव्रतामन्दतेऽपर्याप्तस्य न सम्पद्येते, एवमेव यादृश्यौ तीव्रतामन्दते द्वीन्द्रियादीनां सम्भवतस्तादृश्यौ नैकेन्द्रियस्य, इत्थमेवासंज्ञ्यादिष्वपि प्रतिपक्षभेदमादाय द्रष्टव्यम् । एतेन कारणेन पर्याप्तबादरायेकेन्द्रियाणां जघन्यादिस्थितिबन्ध उत्तरक्रमेणाधिकाधिकतरो लभ्यते, स चोत्तरतरस्थानेषु पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकोऽभ्यधिक इति कृत्वा तथैवोक्त इति । एकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चविंशतिगुणो जायते । वक्ष्यते च—

"मोहगुरुट्ठिइभत्तो सत्तण्ह ओहजेट्ठठिइबंधो ।
सो जेट्ठो सव्वेसु एगिंदियपंचकायभेएसु ॥४२॥
स हयो पणवीसाए पण्णासाए सयेण सहस्सेण ।
सत्तण्ह गुरू कमसो समत्थविगलेसु असण्णिम्मि ॥४३" ॥ इत्यादि ॥

स च द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमस्य संख्येयभागेन न्यूनः सन् द्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो भवति, तस्य च बन्धकाः प्रागुक्तनीत्या पर्याप्तद्वीन्द्रियाः, न पुनरपर्याप्तद्वीन्द्रियाः, अपर्याप्तद्वीन्द्रियाणां तथाविधसामग्र्यभावेन पर्याप्तद्वीन्द्रियाणामिव स्तोकस्थितिबन्धहेतुभूतविशुद्धेरसम्भवात्, अत एव पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण उक्तः ।

ननु मा भवत्वपर्याप्तद्वीन्द्रियाणां पर्याप्तद्वीन्द्रियापेक्षया स्तोकः स्थितिबन्धः, तथाविधसामग्र्यभावात्, किन्त्वपर्याप्तैकेन्द्रियापेक्षया त्वमीषामपर्याप्तद्वीन्द्रियाणां विशिष्टा सामग्री विद्यते, ततश्चतेषामेकेन्द्रियापेक्षया मन्दकषायोदयोऽपि सम्भवति, इत्थं चापर्याप्तद्वीन्द्रियाणामपर्याप्तैकेन्द्रियापेक्षया स्थितिबन्धः स्तोको भवेत्, ततोऽपि त्रीन्द्रियादीनां मन्द–मन्दतरकषायोदयप्रयोजकसामग्रीसद्भावात् स्तोकस्तोकतरस्थितिबन्धो लभ्येत, तत् कुत एकेन्द्रियापेक्षया द्वीन्द्रियाणां ततोऽपि त्रीन्द्रियाणामित्येवं वैपरीत्येनाल्पबहुत्वमुच्यते ? इति चेद्, न, एकेन्द्रियादिषु जातिभेदेन स्वस्थाने पर्याप्तत्वादिसामग्रीप्रयुक्तं यथोक्तं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वं प्राप्यते, न पुनः परस्थानापेक्षयाऽपि, यत एकेन्द्रियापेक्षया द्वीन्द्रियाणां, तदपेक्षया त्रीन्द्रियाणामेवं यथोत्तरमुक्तसामग्रीप्रयुक्तस्य विशुद्ध्याधिक्यस्य सम्भवेऽपि बालमध्यमादिपुरुषाहारवत् तथास्वभावाद् द्वीन्द्रियादीनां यथोत्तरं जघन्यतोऽपि महान् महत्तरः स्थितिबन्धो जायते । उक्तं च शतकवृत्तौ—

"विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु तु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते । केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतकर्मणां महतीस्थितिमुपरचयन्तीति ।"

ततः पुनर्द्वीन्द्रियसत्केषु शेषत्रिस्थानेषु यथोत्तरं विशेषाधिक उक्तस्तत्रापि तादृशक्रमे पूर्ववत् पर्याप्तत्वस्य काषायिकतीव्रतामन्दताविषये उपष्टम्भकत्वेन पल्योपमसंख्येयभागेन स्थितिबन्धाधिक्यादिति

हेतुर्बोद्धव्यः । इत्थमेव त्रीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तानां पर्याप्तादिसत्कजघन्यादिस्थितिबन्धानां निरुक्तक्रमेण विशेषाधिकये विभावनीयम् । नन्वेकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया यथा द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण उक्तस्तथा द्वीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः, एवं त्रीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धश्च संख्येयगुणो कथं नोक्तः ? उच्यते, यथैकेन्द्रियाणां स्थितिबन्धापेक्षया द्वीन्द्रियाणां स्थितिबन्धः सामान्यतः पञ्चविंशतिगुणो भवति, तथा त्रीन्द्रियाणां पञ्चाशद्गुणो भवति, चतुरिन्द्रियाणां तु शतगुणः, तथा च सत्यसावेकेन्द्रियस्थितिबन्धापेक्षया पञ्चाशद्गुणोऽपि त्रीन्द्रियाणां स्थितिबन्धो द्वीन्द्रियस्थितिबन्धापेक्षया द्विगुण एव भवति, तत्रापि द्वीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया त्वमौ पर्याप्तत्रीन्द्रियाणां जघन्यस्थितिबन्धो द्विगुणोऽपि न भवति, तस्माद्विशेषाधिक उक्तः । इत्थमेवैकेन्द्रियस्थितिबन्धापेक्षया शतगुणोऽपि चतुरिन्द्रियाणां स्थितिबन्धस्त्रीन्द्रियस्थितिबन्धापेक्षया द्विगुण एव, तत्रापि त्रीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यस्थितिबन्धस्तु द्विगुणादपि हीनः, अतोऽसौ विशेषाधिक उक्तः । यः पुनरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्थितिबन्धः स त्वेकेन्द्रियस्थितिबन्धापेक्षया सहस्रगुणः, तथा च सत्यसौ चतुरिन्द्रियस्य स्थितिबन्धापेक्षया दशगुणः, अतोऽसौ जघन्यतः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनोऽपि सन् चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुण एव जायते, अत एव पर्याप्तस्यासंज्ञिनो जघन्यः स्थितिबन्धश्चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिको न उक्तः, किंतु संख्येयगुण उक्तः । शेषेष्वसंज्ञिसत्कत्रिस्थानेषु पूर्वोक्तहेतुना विशेषाधिक इति प्रागेवाभिहितम् । असंज्ञ्यपेक्षया संज्ञिनां श्रेणिगतबन्धवर्जशेषस्थितिबन्धः संख्येयगुण एव भवति, तत्रापि संयतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंज्ञिपर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणोऽपि सन् शेषसंज्ञ्यपेक्षया संख्यातभागप्रमाण एव जायते, तस्मादसौ प्रागुपात्तः । ननु शेषसंज्ञ्यपेक्षया कस्मादसौ संयतस्याल्पो भवति ? उच्यते, संयतस्यानन्तानुबन्धिनामिवाप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायाणामप्यनुदयात् शेषदेशविरताद्यपेक्षया मन्दः संक्लेशः, तथा च सति स्थितिबन्धोऽप्यल्प इति । सर्वविरत्यभिमुखानामपि देशविरतानां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामप्युदयात् मिथ्यात्वाभिमुखसर्वविरत्यपेक्षया विशुद्धिरल्पा, तथा च सति तेषां स्थितिबन्धः संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणो भवति, मिथ्यात्वाभिमुखानां देशविरतानां तु संक्लिष्टत्वात् स्वीयजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽपि संख्येयगुणः स्थितिबन्धो जायते, तस्मात् तेषु त्रिषु स्थानेष्वपि यथोत्तरं संख्येयगुण उक्तः । ननु सर्वविरत्यभिमुखो विशुद्धयमानः, मिथ्यात्वाभिमुखस्तु संक्लिश्यमानः, यद्येवं तर्हि कथमनयोर्विशुद्धिसंक्लेशयोस्तारतम्यं हेतुतया चिन्त्यते, यतः स्वस्थानेष्वेव संक्लेशेन सह संक्लेशस्य, विशुद्धया समं विशुद्धेर्वा हीनाधिक्यचिन्तासम्भवः; न तु परस्परविरुद्धयोः संक्लेश-विशुद्धयोरिति । अत्र प्रतिविधीयते—अभिप्रायापरिज्ञानात् , यदस्माभिः प्रागुक्तमेव यानि संक्लेशस्थानानि तान्येव विशुद्धिस्थानानि इत्यादि; व्यपदेशभेदस्त्वनन्तरप्राप्यावस्थाविशेषमधिकृत्य, यतस्तान्यारोहत्परिणामस्य विशुद्धय इति व्यपदेशभाञ्जि, पतत्परिणामस्य तु

संक्लेशा इति, सिद्धाचलाद्यारुह्यमानावरुह्यमानयोरेकस्मिन्नेव सोपानवर्तिनोर्व्यपदेशभेदवत् , उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"जाणि चेव संकिलेसमाणस्स संकिलेसट्ठाणाणि ताणि चेव विसुज्झमाणस्स विसोहिट्ठाणाणि। सोवाणारोहण-ओयरणदिट्ठंतेण णायव्वाणी" त्ति।

अविरतसम्यग्दृशामप्रत्याख्यानावरणकषायाणामप्युदयो विद्यते, तथा च सति स्थितिबन्धो देशविरतापेक्षयाऽप्यधिकः, शेषं तु पूर्ववत्। इत्थमेव संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिविषयकस्थितिबन्धेऽपि विभावनीयम्, मिथ्यादृशामनन्तानुबन्धिकषायाणामप्युदयात्, तत्रापि पर्याप्तापर्याप्तस्थितिबन्धविषयकयथोक्तक्रमे हेतुर्द्वीन्द्रियादिवद्द्रष्टव्य इति। अत्रेदं बोध्यम्—असंज्ञिपर्यन्तेषु पदेषु यत्र यावान् स्थितिबन्धो भवति तावान् दर्शितः, संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धपदादारभ्यापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्ट्युत्कृष्टस्थितिबन्धपर्यन्तेषु दशपदेषु यथोत्तरं संख्येयगुणोऽपि स्थितिबन्धः सर्वत्रान्तःकोटीकोटीसागरोपममात्रः, अन्तिमपदे त्वमौ ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीः समाश्रित्य त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिवक्ष्यमाणप्रमाणो बोद्धव्य इति।

इदन्त्ववधारणीयम्—प्रकृतद्वारे प्ररूपितानि त्रीण्यप्यल्पबहुत्वानि मूलकारेणाऽनिर्दिष्टेऽप्यायुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानादिविषयाणि बोद्धव्यानि। आयुषः स्थितिबन्धस्थानादिविषयकाल्पबहुत्वानि तु सुगमत्वात्स्वयमेवोह्यानि। तद्यथा-संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तजीवभेदद्वयवर्जानां शेषाणामेकेन्द्रियादीनां प्रत्येकमायुषः स्थितिबन्धस्थानानि स्तोकानि परस्परं च तुल्यानि; यतोऽमीषामेकेन्द्रियादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोटीवर्षप्रमाणः पारभविकायुषः स्थितिबन्धो जायते। तेभ्यश्चासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुषः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, कुतः? अस्योत्कृष्टतः पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणायुर्बन्धभावात्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्याऽऽयुःसत्कस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुषः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियैरुत्कृष्टमायुस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं बध्यत इति।

आयुषः स्थितिबन्धहेतुभूतानां संक्लेशविशुद्धिस्थानानामल्पबहुत्वमपीत्थमेव बोद्धव्यम्। यत आयुषः स्थितिवृद्धौ नियमेनासंख्येयगुणसंक्लेशविशुद्धिस्थानानां वृद्धिर्भवति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"आउगस्स जहण्णिगाए ठितिए ठितिबन्धज्झवसाणट्ठाणाणि थोवाणि। बितियाए असंखेज्जगुणाणि। ततियाए असंखेज्जगुणाणि। एवं जाव उक्कोसिता ठितित्ति ॥ ८७ ॥ इति"

आयुषो जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणाल्पबहुत्वं पुनरित्थम्—चतुर्दशविधानामपि जीवानां जघन्यस्थितिबन्धः सर्वस्तोकः परस्परं च तुल्यः। कुतः? प्रत्येकं जीवभेदेषु क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितिबन्धभावात्। ततः सूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां तथा संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रिययोरपर्याप्तयोरित्येतेषामन्यतमस्याप्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः

सविशेषचतुर्दशजीवभेदेषु जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वयन्त्रम्

क्रमः	जीवभेदाः	बन्धः	अल्पबहु०	क्रमः	जीवभेदाः	बन्धः	अल्पबहु०
१	संयमिन	जघ०	स्तोक	१६	अपर्याप्तस्य-चतुरिन्द्रियस्य	जघ०	विशेषाधिक.
२	पर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	,,	असंख्येयगु०	२०	अपर्याप्तस्य-चतुरिन्द्रियस्य	उत्कृ०	,,
३	पर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	,,	विशेषाधिक.	२१	पर्याप्तस्य-चतुरिन्द्रियस्य	,,	,,
४	अपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	,,	,,	२२	पर्याप्तस्य-असंज्ञिपञ्चेन्द्रि०	जघ०	संख्येयगुण.
५	अपर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	,,	,,	२३	अपर्याप्तस्य ,,	,,	विशेषाधिक.
६	अपर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	उत्कृ०	,,	२४	अपर्याप्तस्य ,,	उत्कृ०	,,
७	अपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	,,	,,	२५	पर्याप्तस्य ,,	,,	,,
८	पर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	,,	,,	२६	संयतस्य	,,	संख्येयगुण.
९	पर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	,,	,,	२७	देशसंयतस्य	जघ०	,,
१०	पर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	जघ०	संख्येयगुण.	२८	देशसयतस्य	उत्कृ०	,,
११	अपर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	,,	विशेषाधि०	२९	पर्याप्तस्याविरत-सम्यग्दृष्टेः	जघ०	,,
१२	अपर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	उत्कृ०	,,	३०	अपर्याप्त ,,	,,	,,
१३	पर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	,,	,,	३१	अपर्याप्त ,,	उत्कृ०	,,
१४	पर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	जघ०	,,	३२	पर्याप्त ,,	,,	,,
१५	अपर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	,,	,,	३३	पर्याप्त-संज्ञिमिथ्यादृश	जघ०	,,
१६	अपर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	उत्कृ०	,,	३४	अपर्याप्त ,,	,,	,,
१७	पर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	,,	,,	३५	अपर्याप्त ,,	उत्कृ०	,,
१८	पर्याप्त-चतुरिन्द्रियस्य	जघ०	,,	३६	पर्याप्त ,,	,,	,,

परस्परं त्वमीषामसौ तुल्य एव । यतोऽमिभिः प्रत्येकमायुष उत्कृष्टा स्थितिः पूर्वकोटीप्रमाणा निर्वर्त्यते, सा च षट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावलिकाप्रमाणक्षुल्लकभवापेक्षया संख्येयगुणा भवति । ततः पुनरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात्तस्य । ततोऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वादिति ॥७।८।९।१०।११॥ तदेवमभिहितं जीवभेदेषु मूलप्रकृतिसत्कजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमपि; इत्थं च गतं "ठिइठाणाणि" इत्यनेनोद्दिष्टं प्रथमं द्वारम् ।

अथ क्रमप्राप्ते द्वितीयद्वारे निषेकस्य प्ररूपणा कर्तव्या, तत्र निषेकपदार्थस्तु कर्मदलरचनाविशेष इति प्रागभिहितम्, तस्य च प्ररूपणाऽनन्तरोपनिधा–परम्परोपनिधाभेदेन द्विधा क्रियते, तत्रादावनन्तरोपनिधयाऽऽह—

चउदसविहजीवेसु अट्ठण्ह भवे दलं सगमबाहं ।
मोत्तूण पढमसमये बहुं कमित्तो विसेसूणं ॥१२॥

(प्रे०) "**चउदसविहजीवेसु**" मित्यादि, चतुर्दशविधेषु जीवेषु–जीवस्थानेषु ज्ञानावरणीयादीनामष्टानां मूलकर्मणां प्रत्येकं स्वकामबाधां मुक्त्वा प्रथमसमये यद्दलं–कर्मप्रदेशाग्रं तद् बहु भवेत्, इतो द्वितीयादिसमयेषु क्रमाद्विशेषोनं, दलं भवेदिति पूर्वतो योज्यमिति संक्षेपः । विस्तरतस्तु–सूक्ष्मैकेन्द्रियबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इत्येते सप्ताऽपि प्रत्येकं पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाद्द्विधेति कृत्वा चतुर्दशजीवस्थानानि, उक्तं च—

"एगिंदियसुहुमियरा, सन्नियरपणिंदिया य सबितिचउ ।
अपजत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥" १ ॥ इति ॥

एतेषु प्रत्येकं ज्ञानावरणीयादेर्बन्धप्रायोग्यामुत्कृष्टां स्थितिमपेक्ष्य याऽऽबाधा दलिकनिषेकायोग्यकालरूपा प्राप्यते तां मुक्त्वा प्रथमसमये-अबाधाकालानन्तरवर्तिसमये यद्दलिकं निषिच्यते तद् द्वितीयादिसमयेषु प्रत्येकं निषिच्यमानदलिकापेक्षयाऽधिकं भवति, इतः प्रथमसमयादूर्ध्वं द्वितीयादिसमयेषु प्रत्येकं यथोत्तरं विशेषहीनं विशेषहीनं दलिकं भवति, प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमये विशेषहीनम्, द्वितीयसमयापेक्षया तु तृतीयसमये विशेषहीनम्, ततोऽपि चतुर्थसमये विशेषहीनं दलिकम्, एवं यथोत्तरसमयेषु वाच्यमिति । उक्तं च श्रीमन्मलयगिरिपूज्यैः **कर्मप्रकृतिटीकायाम्**–

"तत्र प्रथमायां स्थितौ समयलक्षणायां प्रभूततरं द्रव्य-कर्मदलिकं निषिञ्चति । "तत्तो विसेसहीणं" त्ति—इत प्रथमस्थितेरूर्ध्वं द्वितीयादिषु समयसमयप्रमाणासु विशेषहीनं विशेषहीनं कर्मदलं निषिञ्चति । तथाहि—प्रथमस्थितेः सकाशात् द्वितीयस्थितौ विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयस्थितौ विशेषहीनं ततोऽपि चतुर्थस्थितौ विशेषहीनमित्यादि ।"

ननु चतुर्दशजीवभेदेषु प्रत्येकं ज्ञानावरणीयादीनां कियतीमबाधां विवर्ज्य कर्मदलं निषिञ्चति ? उच्यते, अबाधानियमानुसारेण यावत्यबाधा लभ्यते तावतीमबाधां विवर्ज्य । वक्ष्यते चाबाधानियमः—

"सागरकोडाकोडी बन्धो सत्तएह जत्तिआऽऽबाहा ।
ताओ च्चिय सयसमा तदूणिओ कम्मणिसेगो ॥३४॥
सत्तएह अबाहा खलु ठिइबंधा अंतकोडिकोडीए ।
सगलहुठिइबंधं जा सव्वह हवए मुहुत्तंतो ॥"३५॥ इति ।

तथा च सति पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवभेदे सर्वकर्मणामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य भावाद्-बाधाऽप्युत्कृष्टा लभ्यते । तथाहि—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां चतुःकर्मणामुत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यो भवति, वक्ष्यते च—

"ठिइबंधो उक्कोसो पढमदुइअतइअअट्ठमाए भवे ।
सागरकोडाकोडी तीसा तुरिअस्य खलु सयरी ॥३७॥
आउस्स गुरू णेयो ठिइबंधो सागराणि तेत्तीसा ।
वीसा कोडाकोडी जलहीएं णामगोआणं ॥"३८॥ इति ।

इत्थं च तथाविधनियमात् तेषां ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णां प्रत्येकं त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा लभ्यते, अतस्त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधां विवर्ज्य यत्प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तत्प्रभूततरम्, यद् द्वितीयसमये कर्मदलं निषिक्तं तत् पूर्वापेक्षया विशेषहीनम् , यत्तु तृतीयसमये कर्मदलं निषिक्तं तद् द्वितीयसमयनिषिक्तदलिकापेक्षया विशेषहीनम् , एवं विशेषहीनं विशेषहीनं तावद्वाच्यं यावत् ज्ञाना-वरणीयादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमाणि । प्रस्तुते पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-जीवभेदे मोहनीयस्य सप्ततिकोटिकोटीसागरोपमाण्युत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति, अबाधानियमलब्धां तस्य सप्तसहस्रवर्षाण्यबाधां मुक्त्वा यत्प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तद् बहुकं भवति, यद् द्वितीय-समये कर्मदलं निषिक्तं तत्ततो विशेषहीनम् , यत् तृतीयसमये कर्मदलं निषिक्तं तत्ततोऽपि विशेषहीनम् , एवं विशेषहीनं विशेषहीनं यावन्मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमाणि । नामगोत्रयोस्तु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिकोटीकोटीसागरोपमाणि जायते, उक्तनियमलब्धां तयोर्द्विवर्षसहस्रप्रमाणाबाधां मुक्त्वा यत् प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तद् बहुकम्, यद् द्वितीयसमये निषिक्तं तद् विशेषहीनम् , तृतीयसमये निषिक्तं विशेषहीनम् , एवं विशेषहीनं विशेषहीनं यावत् नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिकोटीकोटीसागरोपमाणि, इत्थमेवायुष उत्कृष्टाबाधा पूर्वकोटी-त्रिभागप्रमाणा, तां विवर्ज्य यत्प्रथमसमये निषिक्तं दलं तद् बहुकम् , यद् द्वितीयसमये निषिक्तं दलं तद्विशेषहीनम् , यत्तृतीयसमये निषिक्तं दलं तद्विशेषहीनम् , एवं विशेषहीनं विशेषहीनं यावदायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । उक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"पंचेंदियाणं सण्णीणं मिच्छद्दिट्ठिण पज्जत्तगाणं णाणावरणीय-दंसणावरणीय-वेयणीय-अंतराइयाणं तिन्नि वाससहस्साणि अबाहं मोत्तूण जं पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं तं बहुगं, बितीयसमए विसेसहीणं, ततीयसमये विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीउ त्ति । पंचेंदियाण सण्णीण मिच्छद्दिट्ठीणं पज्जत्तगाणं मोहणिज्जस्स सत्तवाससहस्साणि अबाहं मोत्तूणं जं

पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं तं बहुगं, बितियसमये विसेसहीणं, ततीयसमये विसेसहीणं एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेण सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीउत्ति । पंचिंदियाणं सण्णीणं मिच्छदिट्ठिणं पज्जत्तगाणं आउगस्स पूव्वकोडितिभागं अबाह मोत्तूण ज पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं तं बहुगं, बितिए विसेसहीणं, ततिए विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेण तेत्तीससागरोवमाणीत्ति । पंचिंदियाणं सण्णीणं मिच्छादिट्ठिण पज्जत्तगाण णामगोयाण बे वाससहस्साणि अबाहं मोत्तूण जं पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं त बहुगं, बितियसमए विसेसहीण, ततिए विसेसहीण, एव जाव उक्कोसेणं वीससागरोवम-कोडाकोडीउत्ति ।"

इत्थमेव शेषत्रयोदशजीवस्थानेष्वपि वक्तव्यम्, नवरं तत्तज्जीवस्थानेषु ज्ञानावरणादीनां या उत्कृष्टाबाधा भवेत्, तां मुक्त्वा प्रथमसमयाद्यथोत्तरं विशेषहीनं विशेषहीनं कर्मदलं यावत्तेषां ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः । तथाहि—संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्यायुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि, तेषां सप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तमबाधा । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमसहस्रस्य त्रयः सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमसहस्रस्य सप्त सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ प्रतिपूर्णौ, एतेषां सप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तमबाधा । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्यापि सप्तकर्मणामित्थमेव, नवरं ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो यः सागरोपमसहस्रस्य त्रिसप्तभागादयः प्रतिपूर्णा इत्युक्तः सोऽत्र पल्योपमस्य संख्येयभागेनोनोऽवगन्तव्यः । चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमशतस्य त्रयः सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमशतस्य सप्त सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपशतस्य द्वौ सप्तभागौ प्रतिपूर्णौ, अबाधा तु सप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तम् । इत्थमेव चतुरिन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य, नवरं ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो यः सागरोपमशतस्य त्रिसप्तभागादयः प्रतिपूर्णा इत्युक्तः, सोऽत्र पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनो वक्तव्यः । चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्येव त्रीन्द्रियपर्याप्तस्यापि, नवरं त्र्यादिसप्तभागाः पंचाशत्सागरोपमसत्का वक्तव्याः । त्रीन्द्रियपर्याप्तवत् त्रीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्यापि, नवरं ते पञ्चाशत्सागरोपमसत्कास्त्र्यादिसप्तभागा अत्र पल्योपमसंख्येयभागेनोना ज्ञानावरणादिसप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्ध इति विशेषः । द्वीन्द्रियपर्याप्ता-पर्याप्तजीवस्थानयोरपि चतुरिन्द्रियादिवत् ज्ञानावरणीयादिसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धाऽबाधे, नवरं ज्ञानावरणीयादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणे ये त्र्यादिसप्तभागास्तथा पल्योपमसंख्येयभागेनोना-स्त्र्यादिसप्तभागा उक्तास्तेऽत्र पञ्चविंशतिसागरोपमसत्का अभिधातव्याः । बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, मोहनीयस्य कर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमस्य सप्त सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, सम्पूर्णमेकं सागरोपममिति भावः । नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ

प्रतिपूर्णौ, ज्ञानावरणादिसप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तमबाधा च । पर्याप्तबादरैकेन्द्रियवद् बादरैकेन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तयोश्च जीवभेदयोः प्रत्येकं वक्तव्यम्, नवरं सागरोपमस्य त्र्यादिसप्तभागा न प्रतिपूर्णाः, किन्तु पल्योपमस्याऽसंख्येयतमभागेन न्यूना द्रष्टव्या इति । आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धाबाधे त्वित्थम्—संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्याऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटिवर्षाणि, आयुष उत्कृष्टाबाधा त्वन्तर्मुहूर्तम् । इत्थमेवासंज्ञि पञ्चेन्द्रियापर्याप्तचतुरिन्द्रियापर्याप्तत्रीन्द्रियापर्याप्तद्वीन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियापर्याप्तानां सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तयोश्च वक्तव्यम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमस्याऽसंख्येयतमभागप्रमाणः, पूर्वकोटीत्रिभागस्त्वबाधा । चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, अबाधा तु द्वौ मासौ । त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, साधिकषोडशाहोरात्रमबाधा । द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, चत्वारि वर्षाण्यबाधा । बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, सप्तवर्षसहस्राणि सातिरेकाण्यबाधेति । एतेषु सर्वजीवस्थानेषूक्ताबाधां मुक्त्वा यत्प्रथमसमये निषिक्तं कर्मदलं तद्बहुकम्, द्वितीयसमये निषिक्तं कर्मदलं तु प्रथमसमयनिषिक्तकर्मदलापेक्षया विशेषहीनम्, तृतीयसमये निषिक्तं कर्मदलं पुनर्द्वितीयसमयनिषिक्तदलापेक्षया विशेषहीनम्, एवं विशेषहीनं विशेषहीनं तावद्वाच्यं यावत् तत्तज्जीवस्थानेषु निरुक्तस्तत्तत्कर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः । उक्तं च कर्मप्रकृति चूर्णौ—

"पंचिंदियाणं सण्णीणं अपज्जत्तयाण आउअवज्जाण सत्तण्हं कम्माण अंतोमुहुत्तं अबाह मोत्तूणं जंपढमसमए पदेसग्गं निसित्तं तं बहुयं बितियसमये विसेसहीणं, ततीए विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेण अंतोकोडाकोडित्ति । पचंदियाणं सण्णीणं* असण्णीण चतुरिंदियतिइन्दियबिइन्दियबादरएगिन्दियअपज्जत्तगाण सुहुमएगिंदियपज्जत्तअपज्जत्तगाण च आउस्स अंतोमुहुत्तं अबाहं मोत्तूणं जं पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं तं बहुगं, बितियसमए विसेसहीणं, ततिय समये विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेण पुव्वकोडित्ति ।

पंचिंदियाण असण्णीण पज्जत्तगाणं आउअवज्जाणं सत्तण्ह कम्माण अंतोमुहुत्तं अबाहं मोत्तूणं जं पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं त बहुतं बितियसमये विसेसहीणं, ततियसमये विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीण जाव सागरोवमसहस्सस्स तिण्णि सत्तभागा, सत्त सत्तभागा, बिसत्तभागा पडिपुण्णत्ति । पंचिंदियाण असण्णीणं पज्जत्तयाणं आउअस्स पुव्वकोडितिभागं अबाहं मोत्तूण जं पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं तं बहुगं, बितियसमये विसेसहीणं, ततियसमए विसेसहीण, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेण पलिओवमस्स असंखिज्जतिभागो ।

पंचिंदियाणं असण्णीणं चउरिंदियाणं तेइन्दियाणं बेइन्दियाणं अपज्जत्तगाण आउअवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं अंतोमुहुत्तं अबाहं मोत्तूणं ज पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं तं बहुगं, बितियसमए विसेसहीणं, ततियसमए विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं, जाव उक्कोसेण सागरोवमसहस्सस्स सागरोवमसतस्स,

*अयं पाठो जेसलमेरशास्त्रसंग्रहस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिसत्कः, मुद्रितप्रतौ तु "सण्णीणं" इतिपदं न दृश्यते ।

सागरोवमपरणासाए, सागरोवमपणुवीसाए, तिरिण सत्तभागा, सत्त सत्तभागा, बिसत्तभागा, पलिओवमस्स ※संखेज्जत्तिभागेण उणयत्ति। चउरिंदियाणं तेइंदियाणं बेइंदियाण बादरएगिंदियाणं पज्जत्तगाणं आउगवज्जाण सत्तण्हं कम्माणं अबाहं मोत्तूणं जं पढमसमए पदेसग्गं णिसित्त तं बहुगं बितिए विसेसहीणं, ततिए विसेसहीणं, एवं विसेसहीण विसेसहीणं जावुक्कोसेण सागरोवमसतस्स, सागरोवमपरणासाए, सागरोवमपणुवीसाए, सागरोवमस्स य तिरिण सत्तभागा सत्त सत्तभागा, बिसत्तभागा पडिपुरणत्ति।

चउरिंदियतेइंदियबेइंदियबायरएगिंदियपज्जत्तगाणं आउगस्स बे मासा, सोलस राइंदियाणि साइरेगाणि, चत्तारि वासाणि, सत्तवाससहस्साणि सातिरेगाणि अबाहं मोत्तूण जं पढमसमए णिसित्तं तं बहुगं, बितियसमए विसेसहीणं, ततियसमए विसेसहीण, एवं विसेसहीण विसेसहीणं जाव उक्कोसेण पुव्वकोडित्ति।

बादरएगिंदियाण अपज्जत्तगाण सुहुमएगिंदियपज्जत्तगापज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं अंतोमुहुत्तं अबाहं मोत्तूण जं पढमसमए णिसित्तं त बहुगं, बितिए विसेसहीणं, ततीए विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उक्कोसेण सागरोवमस्स तिरिण सत्तभागा सत्त सत्तभागा बे सत्तभागा लितोवमस्स असंखेज्जतिभागेण ऊणियत्ति।" ॥ इति ॥१२॥

तदेवं गताऽनन्तरोपनिधया निषेकप्ररूपणा। साम्प्रतं परम्परोपनिधया चिकीर्षुराह—

पल्लाऽसंखियभागं गच्चा गच्चा भवे दुगुणहीणं।
एवं उक्कोसठिइं जा अप्पप्पस्स णायव्वं ॥१३॥

(प्रे०) "पल्लासखियभागमि"त्यादि, अनन्तरोक्तामबाधां मुक्त्वा यत्प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तस्मात् समयसमयात्मिकायां स्थितौ प्रोक्तनित्या यथोत्तरं विशेषहीनं विशेषहीनमारच्यमानं दलिकम् 'पल्लाऽसंखियभागं'' त्ति भीमो भीमसेन इति न्यायत एकदेशेन समुदायस्यापि गम्यमानत्वात् पल्योपमस्यासंख्येयभागं गत्वा गत्वा द्विगुणहीनं द्विगुणहीनं भवेत्। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"परंपरोवणिहियाए अबाहं मोत्तूणं ज पढमसमए पदेसग्गं णिसत्तं ततो पढमसमयाओ पलिओवमस्स असंखेज्जत्तिभागमेत्तीओ ठिती गंतूण जा ठिती तीए पदेसग्ग दुगुणहीणं भवति। ततो पुणो तत्तियं चेव गंतूण दुगुणहीणं भवति" इत्यादि।

एवं पल्योपमासंख्येयभागं गत्वा गत्वा द्विगुणहीनं द्विगुणहीनमपि तावज्ज्ञातव्यं यावद् आत्मन आत्मन उत्कृष्टस्थितिर्भवेत्। इदमुक्तं भवति-अनन्तरोपनिधायामनन्तरसमये विशेषहीनं दलिकं निषिक्तं भवतीत्येतद् दर्शितम्, अत्र परंपरोपनिधायां तु पारम्पर्येण पल्योपमासंख्येयभागेऽतिक्रान्तेऽन्तराऽन्तरा कियद्धीनं दलिकं निषिक्तं भवतीत्येतद्द्रष्टव्यम्, तत्र चतुर्दशजीवस्थानेष्वपि ज्ञानावरणीयादीनां या प्रागबाधा उक्ता, तां मुक्त्वा दलिकनिषेको भवति, तत्राद्यसमये बहुकं दलिकं तत आरभ्य पल्योपमासंख्येयभागातिक्रमणेन यत्स्थितिस्थानं तत्र यद्दलिकं तत् प्रथमसमयापेक्षया द्विगुणहीनं-अर्धं भवति, इदं ह्याद्यं द्विगुणहानिस्थानम्, ततोऽपि पल्योपमासंख्येयभागं गत्वा

※अयमपि पाठो जेसलमेरशास्त्रसंग्रहस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिसत्क, मुद्रितप्रतौ त्वकारस्याधिकत्वाद् 'असंखेज्जतिभागेण' इति पाठ।

यत्स्थितिस्थानं तत्र निषिक्तं दलिकं तु प्रथमद्विगुणहानिस्थानापेक्षया पुनरप्यर्धं भवति, इदं हि द्वितीयं द्विगुणहानिस्थानम्, अत आरभ्य पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागोऽतिक्रम्यते, तदाऽनन्तरवर्तिसमये तृतीयं द्विगुणहानिस्थानं भवति, अत्र निषिक्तं दलिकं पूर्ववर्तिद्विगुणहानिस्थाने निषिक्तदलिकापेक्षयाऽर्धमस्ति, एवं तावद्वाच्यं यावत्तत्तज्जीवभेदेषूक्तस्तत्तत्कर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः; केवलं पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदद्वयं विवर्ज्य शेषेषु जीवभेदेष्वायुषः स्थितिबन्धे न वक्तव्यम्, तेषूत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोटीस्थितिकायुर्बन्धस्य भावात्। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"परंपरोवणिहिताए पंचिंदियाणं सण्णीणं असण्णीणं पज्जत्तगाणं अट्ठण्हं कम्माणं पंचिंदियाणं सण्णीणं असण्णीणं अपज्जत्तगाणं चउरिंदियतेइंदियबेइंदियबायरेगिंदियाणं सुहुमएगिंदियाणं पज्जत्तगापज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं अबाहं मोत्तूणं पढमसमए पएसग्गाओ ततो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं गंतूण दुगुणहीणं पदेसग्गं। ततो पुणो तत्तियं चेव गंतूण दुगुणहीणं पदेसग्गं। ततो पुणो तत्तियं चेव गंतूण दुगुणहीणं पदेसग्गं। एवं दुगुणहीणं दुगुणहीणं जाव अप्पप्पणोक्कस्सिगा ठिती। इति"

अत्र हि उत्कृष्टस्थितेश्चरमनिषेकं यावदनन्तरोपनिधायां विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण दलनिषेको दर्शितस्तत्र यथोत्तरस्थितिषु प्रतिनिषेकं दलिकहानिः स्वपूर्वसमयनिषिक्तदलापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राऽवगन्तव्या, न पुनः संख्येयभागमात्रा, संख्येयेषु स्थितिस्थानेष्वतिक्रान्तेषु निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानापत्तेः। न च सेष्यते, पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणेष्वसंख्येयेषु स्थितिस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वेव द्विगुणहीनदलनिषेकस्याभिमतत्वात्, अत एवाऽनन्तरोत्तरस्थितिस्थाने जायमानाऽनन्तरोपनिधाविषयीभूता दलिकहानिर्नाऽनन्तभागमात्रेत्यपि विज्ञेयम्।

ननु प्रतिसमयं ज्ञानावरणादितत्तत्प्रकृतितया बध्यमानदलिकेभ्योऽनन्ततमैकभागः सर्वघातिप्रकृतितया परिणमति, शेषानन्तबहुभागदलिकं च सर्वघातिवर्जबध्यमानप्रकृतितया परिणमति, उक्तं च प्रदेशबन्धं विवृण्वद्भिश्चिरन्तनाचार्यैः कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

''जं सव्वघातिपत्तं'' ति जं सव्वघातिजोग्गं 'सगकम्मपएसाणंतिमो भागो' त्ति अप्पप्पणो कम्मपएसाणंतिमो भागो सव्वघाती भवति। कहं? भण्णइ—सव्वकम्मपएसाणं जे णिद्धयरा पोग्गला ते थोवा सव्वकम्मदव्वाणं अणंतिमो भागो, ते च सव्वघातिजोग्गा। अणंतिमे भागे फिट्टे सेसस्स कम्मदलियस्स सेसकम्मेहिं भागो। 'आवरणाण चउद्धा तिहा य' त्ति णाणावरणदंसणावरणाणं जहकम्मेण चत्तारि तिन्नि य भागा। णाणावरणस्स जं दलितं ततो केवलणाणावरणीयस्स अणंतिमो भागो फेडिज्जति, सेसं चत्तारिभागा कीरति, आभिणिबोहियणाणावरणादीणं चउण्हं'' इत्यादि।

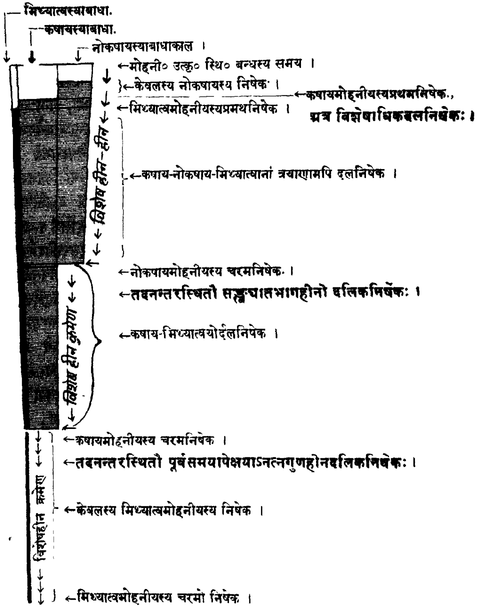
किञ्च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टायां स्थितौ बध्यमानायां सर्वासां ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरेव बध्यत इति न नियमः, किन्तु कासाञ्चित्समय-द्विसमयप्रभृतेर्यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टस्थितिरपि बध्यते। इत्थं च यदा मूलप्रकृतेर्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदा यदि केवलज्ञानावरणस्यैव त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीलक्षणोत्कृष्टस्थितिबन्धः, शेषाणां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां तु समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदा पञ्चानामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टाबाधा

वर्षसहस्रत्रयम्, अतो वर्षसहस्रत्रयं मुक्त्वा यत्प्रथमसमयः, प्रथमो ज्ञानावरणसत्कदलनिषेक इत्यर्थः। तत्र निषिक्तं दलं बहुकम्, तदनन्तरवर्तिनि द्वितीयसमये निषिक्तं दलं तु ततोऽसंख्येयभागेन हीनम्, तृतीयसमये ततोऽप्यसंख्येयभागहीनम्, एवं तावल्लभ्यते यावज्ज्ञानावरणस्य द्विचरमसमयः, मतिज्ञानावरणस्य तदानीं बध्यमानस्थितेश्चरमसमय इत्यर्थः। न पुनरेवं ज्ञानावरणस्य चरमसमयेऽपि तत्र देशघातिकानां मतिज्ञानावरणादीनां दलिकनिक्षेपाभावात्, निक्षिप्तस्य सर्वघातिनः केवलज्ञानावरणस्य दलिकानां तु पूर्वसमये निषिक्तदेशघातिदलापेक्षयाऽनन्ततमैकभागमात्रत्वेनाऽनन्तगुणहीनत्वात्। इत्थं हि स्थितेऽबाधां विहायोत्कृष्टस्थितेश्चरमदलनिषेकं यावद्यथोत्तरमसमयेऽसंख्येयभागहीनमसंख्येयभागहीनं दलिकम्, तथा पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणस्थितीरुल्लङ्घ्योल्लङ्घ्य निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानि चेन्येवमुभयविधप्ररूपणा कथमुपपद्येत। न च यदा सर्वासामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदानीं यो दलिकनिषेकस्तस्य चरमसमयं यावत्पञ्चानामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनां निषेकस्य प्राप्त्या चरमसमयं यावदुक्ताऽसंख्यभागहीनक्रमेण दलिकनिषेकस्य लभ्यमानत्वात् तदपेक्षया मूलोक्तानन्तरोपनिधा-परम्परोपनिधालक्षणा द्विविधप्ररूपणोपपद्येत इति वाच्यम्। एवंरीत्या ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणादीनां वा तदुपपत्तेरपि मोहनीयाख्यमूलप्रकृतिमाश्रित्य तदनुपपत्तेर्दुर्वारत्वात्, कथम्? इति चेत्, मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरतुल्यत्वात्। तथाहि—यदा हि मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटिकोटीलक्षणा उत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते तदा न सा सर्वासां बध्यमानानां मोहनीयोत्तरप्रकृतीनां तावत्येव, किन्तु बध्यमानानामनन्तानुबन्ध्यादिषोडषकषायाणां चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, शेषाणां तु शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सा-नपुंसकवेदलक्षणानां पञ्चानां नोकषायप्रकृतीनां विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, अत्र हि मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले बध्यमानासु मिथ्यात्वमोहनीयादिषु द्वाविंशतिप्रकृतिषु मिथ्यात्वमोहनीयं संज्वलनवर्जा द्वादशकषायाश्चेत्येवं त्रयोदशप्रकृतयः सर्वघातिन्यः, किञ्च यथोक्तप्रदेशविभाजननियमाद् बध्यमानमोहनीयदलिकेषु मिथ्यात्वादित्रयोदशप्रकृतितयाऽनन्ततमभागमात्रं दलिकं परिणमति, शेषसंज्वलनचतुष्क-शोकाऽरत्यादिनोकषायपञ्चकतया त्वनन्तबहुभागं दलिकं परिणमति; इत्थं च स्थिते "सागरकोडाकोडी बन्धो सत्तएह जत्तिआऽबाहा। तावइआ च्च सयसमा तदूणिआो कम्मणिसेगो।" इत्यबाधानियमाद् बध्यमानानां पञ्चानां नोकषायाणां वर्षसहस्रद्वयमबाधां त्यक्त्वा प्रथमसमये प्रभूतदलनिषेकः, ततस्तु समयोत्तरासु द्वितीयादिस्थितिष्वसंख्येयभागहीनक्रमेण दलिकनिषेको भवति, स च तावद्भवति यावत्संज्वलनचतुष्कस्योत्कृष्टाबाधा चत्वारि वर्षसहस्राणि, तदनन्तरसमये तु षोडषकषायसत्कप्रथमदलनिषेकस्याऽपि प्राप्तेः समुदितो मोहनीयदलनिषेकः पूर्वसमयापेक्षया संख्येयगुणः प्राप्यते, न पुनर्विशेषहीनः। तदुत्तरसमयात् विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणनोकषायोत्कृष्टस्थितिं यावत्पुनरप्यसंख्येयभागहीनक्रमेणैव, तावत्पर्यन्तेषु सर्वेषु स्थितिस्थानेष्वनन्तरपूर्वसमयवत् चतुष्कषाय-पञ्चनोकषायात्मकानां नवानामपि देशघातिप्रकृतीनां दलनिषेकस्य प्राप्यमाणत्वात्, एतावत्स्थितिस्थानेष्वेकस्या

अपि देशघातिमोहनीयप्रकृतेर्बन्धस्याऽवर्धनादविच्छेदाच्चेत्यर्थः । न च यथोक्ताबाधानियमान्मिथ्यात्वस्य सप्तवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टाबाधोत्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्य वर्धनात्तस्मिन् समये तत्पूर्वसमयापेक्षया विशेषाधिको दलनिषेकः स्यादिति वाच्यम् । यतस्तत्र मिथ्यात्वमोहनीयदलनिषेकसम्बन्धिप्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकस्य वर्धनेऽपि तन्मिथ्यात्वदलिकं पूर्वसमयनिषिक्तदलिकापेक्षयाऽनन्ततमभागमात्रमस्ति, सर्वघातिप्रकृतेः सर्वदलिकस्य देशघात्यादिदलिकापेक्षयाऽनन्ततमभागमात्रत्वात्, इत्थं च पूर्वसमयापेक्षया मिथ्यात्वमोहनीयप्रथमनिषेके दलवृद्धिरनन्तभागमात्रा, हानिः पुनरसंख्येयभागमात्रा, पूर्वसमयनिषिक्तदेशघातिदलिकापेक्षयाऽत्र निक्षिप्तदेशघातिदलिकस्याऽसंख्येयभागहीनत्वात्; एवं हि पूर्वसमयनिषिक्तदलापेक्षयाऽनन्तरोत्तरे मिथ्यात्वमोहनीयप्रथमनिषेकसमये मोहनीयदलनिषेकोऽसंख्येयभागहीन एव, न पुनर्विशेषाधिकः। इत्थं कषायमोहनीयद्वितीयस्थितिनिषेकप्रभृतेर्नोकषायमोहनीयचरमनिषेकयावन्निर्व्याघातेन यथोत्तरसमयेष्वसंख्येयभागहीनक्रमेणैव दलनिषेकः प्राप्यते। नोकषायमोहनीयचरमनिषेके गते तदुत्तरसमये यन्निषेकस्तत्र तु यद् देशघातिदलिकं तत्कषायमोहनीयसत्कमेव, तच्च पूर्वसमयनिषिक्तकषाय-नोकषायमोहनीयसत्कद्विविधदेशघातिदलिकराश्यपेक्षया संख्येयभागहीनं विद्यते, न पुनरसंख्येयभागहीनम् । कुतः ? नोकषायमोहनीयसर्वदलिकापेक्षया संज्वलनचतुष्कसर्वदलिकस्यापि विशेषाधिकतया नोकषायमोहनीय-कषायमोहनीयसमुदितदलिकापेक्षया कषायमोहनीयसर्वदलिकस्य किञ्चिदधिकार्धतया संख्येयभागहीनत्वात् । तदुत्तरसमयात् कषायमोहनीयस्य चत्वारिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिं यावत्तु पुनरपि यथोत्तरसमये प्राग्वदसंख्येयभागहीनक्रमेणैव दलनिषेकः प्राप्यते। कषायमोहनीयचरमनिषेके गते तु तदुत्तरसमयात्केवलस्य मिथ्यात्वमोहनीयसत्कदलिकस्य निषेकोऽवशिष्यते, मिथ्यात्वस्य तु सर्वघातिप्रकृतितया तदीयभागाऽवाप्तदलिकं संज्वलनकषायप्रधानकषायमोहनीयदलिकराश्यपेक्षयाऽनन्ततमभागमात्रम्, अतः कषायमोहनीयचरमस्थितौ निषिक्तमोहनीयदलिकापेक्षयाऽनन्तरोत्तरसमये निषिक्तं दलिकमनन्तगुणहीनं प्राप्यते, न त्वसंख्येयभागहीनम्, इत्थं च मोहनीयकर्मणः सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितौ बध्यमानायामपि तासामुत्कृष्टस्थितेरत्राऽतुल्यत्वादबाधां विहाय कुत्रचित्स्थितिविशेषे संख्येयगुणाधिकदलनिषेकः, यथा—बन्धसमयाच्चत्वारिंवर्षसहस्राण्यतिक्रम्य कषायमोहनीयप्रथमस्थितौ। कुत्रचित्तु संख्यातभागहीनदलनिषेकः, यथा—नोकषायमोहनीयचरमनिषेकादनन्तरोत्तरसमये। कुत्रचित्पुनरनन्तगुणहीनदलनिषेकः, यथा—कषायमोहनीयचरमस्थितिनिषेकादनन्तरोत्तरसमये । अत्र स्थापना— (३६ तमे पृष्ठे)

एवं हि मौलस्य मोहनीयकर्मणो दलनिषेकेऽनन्तरोपनिधायां समयसमयोत्तरासु सर्वासु स्थितिष्वसंख्येयभागहीनक्रमेण दलिकस्यानुपपत्तिरेव, ततश्च परम्परोपनिधायामपि नियतपल्योपमाऽसंख्येयभागातिक्रमणेन दलिकानां द्विगुणहानयोऽप्यनुपपन्ना एव ? इति चेत्, समाधीयते, यद्भवताऽभिहितं तदेतत्सर्वमेवाधिकृतविवक्षाया अपरिज्ञानात्, यतो नात्र बध्यमानसर्वोत्तरप्रकृतिसत्कदलिकसमुदायमादायानन्तरोपनिधया परम्परोपनिधया वा प्ररूपणा कृता, किन्तु यस्या ज्ञानावरणादिसत्कोत्तरप्रकृते-

मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धसमये बध्यमानसर्वदलिकापेक्षया निषेकस्य स्थापना—



त्कृष्टस्थितिबन्धः शेषोत्तरप्रकृत्यपेक्षयाऽधिको जायते तामुत्तरप्रकृतिं प्रधानीकृत्य तदपेक्षया मौलस्य ज्ञानावरणादेर्निषेकप्ररूपणा कृता विद्यते, अत एव "पंचिंदियाण सण्णीणं मिच्छदिट्ठीणं पज्जत्तगाणं मोहणीज्जस्स सत्तरिवाससहस्साणि अबाहं मोत्तूणं जं पढमसमए पएसग्गं णिसित्तं तं बहुगं" इत्यादिना

कर्मप्रकृतिचूर्णौ मोहनीयस्य सप्तवर्षसहस्राण्यबाधा वर्जनीयतयाऽभिहिता, अन्यथा–भवदुक्तविवक्षया सा वर्षसहस्रद्वयमेव वक्तव्या स्यात्, तदुत्तरसमयप्रभृतेरेव नोकषायतया परिणतस्य मोहनीयदलनिषेकस्य प्राप्तेः। इत्थं मोहनीयस्य मिथ्यात्वमोहनीयलक्षणोत्तरप्रकृतेः शेषकषायाद्युत्तरप्रकृत्यपेक्षयाऽधिकस्थितित्वेन तदीयदलनिषेकप्राधान्यात् मोहनीयकर्मण्यप्यनन्तरोपनिधया परम्परोपनिधया च कृता मूलोक्तप्ररूपणा सूपपन्नैव, सप्तवर्षसहस्राण्यबाधां विहाय प्रथमसमये बहुदलिकस्य ततश्च समयसमयोत्तरासु सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तासु सर्वस्थितिषु मिथ्यात्वमोहनीयदलिकानामसंख्येयगुणहीनक्रमेणैव प्राप्तेरित्यलं विस्तरेण ॥१३॥ तदेवमुत्कृष्टस्थितिं यावत्पल्योपमासंख्येयभागं गत्वा गत्वा निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानि प्राप्यन्ते इत्युक्ते किं खल्वेतानि द्विगुणहान्योरेकान्तरालवर्त्तीनि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि निषेकस्थानान्युत्कृष्टस्थितौ निष्पद्यमानेभ्यो निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानेभ्यस्तोकान्युताधिकानीत्याशङ्कायां सपरिमाणमल्पबहुत्वमाह—

णाणंतरठाणाइं असंखियथमोऽत्थि पल्लमूलंसो ।
तत्तो असंखियगुणं इगंतरमसंखमूलं हि ॥१४॥

(प्रे०) "णाणंतरठाणाइमि"त्यादि, नानाप्रकाराणि यान्यन्तराणि अन्तरालजातानि स्थानानि नानाऽन्तरस्थानानि, निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानीत्यर्थः। तानि "असंखियथमोऽत्थि पल्लमूलंसो" त्ति प्रागवत् पल्यस्य-पल्योपमस्य मूलस्य-प्रथमवर्गमूलस्यांशः पल्यमूलांशोऽसंख्येयतमोऽस्ति, पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्यभागगतसमयतुल्यानि भवन्तीत्यर्थः। उक्तं च **कर्मप्रकृतिवृत्तौ**— "नानाप्रकाराणि यान्यन्तराणि—अन्तरा जातानि द्विगुणहानिस्थानानि तान्युत्कृष्टस्थितिबन्धे पल्योपमस्य सम्बन्धिन प्रथमवर्गमूलस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त समयास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति।" इति। "तत्तो" त्ति तेभ्यो द्विगुणहानिस्थानेभ्यः "असंखियगुणं इगंतरं" ति द्विगुणहान्योरेकमन्तरम्,–द्विगुणहान्योरेकस्मिन्नन्तरे यानि निषेकस्थानानि तान्यसंख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः। उक्तं च—"एकस्मिन् द्विगुणहान्योरन्तरे निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि।" इति।

ननु कस्मादेतद् द्विगुणहान्योरेकमन्तरमसंख्येयगुणमित्याह—"असंखमूलं हि" त्ति हि-यस्मात् कारणात् तद् द्विगुणहान्योरेकमन्तरम् असंख्येयमूलं-पल्योपमस्यासंख्येयवर्गमूलप्रमाणम्, असंख्येयपल्योपमानां प्रथमवर्गमूलप्रमाणमिति भावः। इति ॥१४॥

तदेवं कृतं परम्परोपनिधयाऽपि निषेकप्ररूपणम्, तथा च कृते गतम् "णिसेगो" इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयं द्वारम्। साम्प्रतं क्रमप्राप्ताबाधाकण्डकद्वारेऽबाधाकण्डकप्ररूपणां कुर्वन्नाह—

पल्लासंखियभागं गंतूण खणे खणे अबाहखण ।
सत्तण्ह पराअ हवइ अबाहकंडं जहण्णा जा ॥१५॥

(प्रे०) "पल्लासंखियभागमि"त्यादि, अबाधायाः खणे खणे खणे–समये समये, समय-समयप्रमाणाबाधाक्षये सतीत्यर्थः। आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेः प्रारभ्य पल्योपमासंख्येयभागम् "गंतूण" इति शब्दो द्विरावर्तते, ततो गत्वा गत्वाऽबाधाकण्डकमेकमेकं भवति यावज्जघन्या स्थिति-रित्यर्थः। इदमुक्तं भवति—आयुर्विवर्ज्य कस्यचिदपि कर्मण उत्कृष्टस्थितौ बध्यमानायामबाधाऽप्युत्कृष्टा भवति, समयमात्राबाधाहानौ पुनरुत्कृष्टा स्थितिर्नियमेन पल्योपमासंख्येयभागेनोना बध्यते, एवं द्विसमयाबाधाहानौ तूत्कृष्टा स्थितिरपि द्वयेन पल्योपमासंख्येयभागेनोना बध्यते, एवमबाधाहानौ प्रतिसमयं स्थितिबन्धोऽपि पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनो न्यूनो जायते इति द्रष्टव्यं यावदेकत्र जघन्याबाधाऽन्यत्र च जघन्यस्थितिबन्धः। अयम्भावः–उत्कृष्टस्थितिबन्धे यथोत्कृष्टाऽबाधा भवति, तथा समयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धेऽप्युत्कृष्टाबाधैव भवति, एवं द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धेऽप्यबाधा उत्कृष्टैव भवति, त्रिसमयोनोत्कृष्टस्थितिबन्धेऽपि तावत्येवोत्कृष्टाबाधा भवति, न तु समयमात्रेणापि न्यूना, एवं यावत्समयोनपल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तावदबाधा तूत्कृष्टैव। इतस्तु समयद्विसमयादिना हीने स्थितिबन्धेऽबाधा न उत्कृष्टा, किन्तु समयोनोत्कृष्टा भवति, एवं तावद्द्रष्टव्यं यावत्समयोनद्वितीयपल्योपमासंख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिबन्धः, तावदबाधा तावत्येव समयोनोत्कृष्टा भवति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"आउगाणि मोत्तूणं सेसाणं सव्वकम्माणं उक्कस्सिगाए अबाहाए वट्टमाणो उक्कस्सट्ठितिं वा समयूणं वा बिसमयूणं वा जाव पलिओवमस्स असंखेज्जभागूणं वा ठिइ बन्धइ। जइ अबाहा एगेण समएण ऊणा तो णियमादेव पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागमेत्तेणं कंडगेण ऊणियं उक्कोसियं ठितिं बन्धइ।" इत्यादि।

अत्रैकसमयाबाधाहानौ पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणस्थितीनां हानिर्भवति, तेन पल्योपमा-संख्येयभागप्रमाणस्थितीनां समूह एकसमयाबाधोपलक्षितः सन्नेकमबाधाकण्डकमुच्यते, एवम्भूतान्य-बाधाकण्डकान्युत्कृष्टस्थितावबाधास्थानतुल्यानि भवन्ति, अत्र "जहण्णा जा" इत्यत्र या जघन्य-स्थितिरुक्ता सा श्रेणिसमारूढजीववर्जशेषजीवापेक्षया बोद्धव्या। इदं हि सामान्यतोऽभिहितमपि पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्म-बादरैकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवभेदेषु प्रत्येकं विशेषत इत्थमेव बोद्धव्यम्, सर्वत्र तुल्यवक्तव्यत्वात्। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"एवं एगिंदियाण सव्वेसिं समाणं।" इति।

ननु कथमत्रायुषोऽबाधा कण्डकानि नोच्यन्ते? भण्यते—आयुषोऽबाधा नाऽऽयुषः स्थितिबन्धप्रमाणस्याधीना, एवमायुरपि नाऽबाधाप्रमाणाधीनम्, ततश्च तत्राबाधाकण्डकान्यपि न भवन्ति। इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणादीनामिवाऽऽयुषोऽबाधाविषये न कश्चित्तथाविधो नियमः, यद् "इयदायुष्येतावत्याऽबाधया भवितव्यम्" इति, न चाबाधया सममनियते आयुःकर्मण्यबाधा-कण्डकसम्भवः, यतः कदाचिदुत्कृष्टायामेवाबाधायां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतश्च समयादिवृद्ध्या यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुर्बध्यते, कदाचित्तु तदेव जघन्यमुत्कृष्टं तदन्तस्थं वाऽऽयुः समयोनो-

त्कृष्टाबाधायां बध्यते, कदाचिच्च द्विसमयोनोत्कृष्टाबाधायां बध्यते, एवं यथासम्भवं समयादिहान्या यावदन्तर्मुहूर्तात्मिकायां जघन्याऽबाधायामपि बध्यते, इत्येवं तथाविधनियमाभावादायुष्यनेके भङ्गा भवन्ति । तद्यथा—जघन्यायुर्जघन्याबाधा, जघन्यायुरजघन्याबाधा, जघन्यायुरुत्कृष्टाबाधा, जघन्यायुरनुत्कृष्टाबाधा, उत्कृष्टायुर्जघन्याबाधा, उत्कृष्टायुरजघन्याबाधा, उत्कृष्टायुरुत्कृष्टाबाधेत्यादि । अत एवायुःकर्मण्यबाधाकण्डकानि नोक्तानीत्यलं विस्तरेण ॥१५॥

तदेवं गतं "अबाहाकंडं" इत्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं द्वारम् । इत्थं च स्वस्थानाल्पबहुत्वादिभणनद्वारेण कृता स्थितिबन्धस्थानादिद्वारत्रयविषया प्ररूपणा । साम्प्रतं क्रमप्राप्ताऽल्पबहुत्वद्वारे तेषामेव स्थितिबन्धाऽऽबाधास्थानादीनां परस्थानाल्पबहुत्वमभिधित्सुरादौ तावत्संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तयोर्द्वयोर्जीवस्थानयोरायुर्वर्जशेषसप्तकर्माण्यधिकृत्य तदाह—

पज्जेयरसण्णीसुं सत्तण्हऽप्पा जहण्णऽबाहा तो ।
संखगुणाणि अबाहाअ ठाणकंडाणि तुल्लाणि ॥१६॥
तत्तो विसेसअहिया जेट्ठाऽबाहा हवेज्ज ताहिन्तो ।
णाणागुणहाणीणं ठाणाणि असंखियगुणाणि ॥१७॥
ताउ असंखगुणाइं हवन्ति एगंतरस्स ठाणाणि ।
ताउ असंखेज्जगुणं अबाहकंडं भवे एगं ॥१८॥
ताउ असंखगुणोऽणू ठिइबंधो ताउ संखियगुणाइं ।
ठिइबंधट्ठाणाइं तोऽब्भहियो परमठिइबंधो ॥१९॥

(प्रे०) 'पज्जेयरसण्णीसुं" इत्यादि, "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इति न्यायेन संज्ञिशब्दस्य पर्याप्तेतरयोः प्रत्येकं योजनात् पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे, इतरे-अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे चेत्यर्थः । "सण्णीसु" इत्यत्र बहुवचनं प्राकृतत्वात् । एतस्मिन् जीवभेदद्वये किमित्याह—"सत्तण्ह" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं 'प्पा" त्ति प्राकृतलक्षणेनाऽकारस्य लुप्तत्वात् "अप्पा" त्ति अल्पा-सर्वस्तोकेत्यर्थः, का इत्याह—"जहण्णऽबाहा" जघन्याऽबाधा । अस्याः संख्येयावलिकारूपत्वेन लघ्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् "तो" त्ति ततः,-जघन्याबाधापेक्षयेत्यर्थः "संखगुणाणि अबाहाअ ठाणकंडाणि" त्ति संख्येयगुणान्यबाधायाः स्थानकण्डकानि, अबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च, एते द्वे पदेऽपि प्रत्येकं संख्येयगुण इत्यर्थः । अबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि परस्परं तु "तुल्लाणि" त्ति तुल्यानि-समसङ्ख्याकानि, यतः प्रत्यबाधास्थानमबाधाकण्डकं निष्पद्यते, पूर्वापेक्षया संख्येयगुणत्वं तु जघन्याबाधान्यूनोत्कृष्टाबाधाया ये समयास्तैरेकरूपाधिकैस्तुल्यत्वादबाधास्थानानामबाधाकण्डकानां चेति । "तत्तो विसेसअहिया जेट्ठाऽबाहा हवेज्ज" त्ति तेभ्योऽबाधा-

स्थानाऽबाधाकण्डकैकतरेभ्यो विशेषाधिका ज्येष्ठा-उत्कृष्टाबाधा भवेद्, अबाधास्थानसंख्येयभागमात्राया जघन्याबाधाया अत्र प्रवेशात्। "ताहिन्तो" त्ति तस्या ज्येष्ठाबाधायाः "णाणागुणहाणीणं ठाणाणि असंखियगुणाणि" त्ति नानाऽन्तरनिष्पन्नानि निषेकसत्कद्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानीत्यर्थः। कुतः ? पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे प्रकृतसप्तानामुत्कृष्टाबाधा संख्येयशतवर्षमात्रा, अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे च साऽन्तर्मुहूर्तमात्रा भवति, निषेकसत्कद्विगुणहानिस्थानानि पुनः पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्यासंख्येयभाग-तुल्यानि सन्त्यपि असंख्येयवर्षसमयतुल्यानि, ततश्चेमान्यसंख्येयगुणानि जायन्त इति। "ताउ असंखगुणाइ हवन्ति" त्ति तेभ्यो नानागुणहानिस्थानेभ्योऽसंख्यगुणानि भवन्ति, कानीत्याह— एगंतरस्स ठाणाणि" त्ति निषेकसत्कद्विगुणहान्योरेकान्तरस्य स्थानानि, यत इमानि पल्योपमस्या-संख्येयप्रथमवर्गमूलतुल्यानि। उक्तं च प्राग्—"इगंतरमसंखमूलं हि" इति। 'ताउ असखेज्जगुण अबाहाकंड भवे एगं" ति तेभ्य एकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणं भवेत्। कुतः ? उच्यते, एकस्या-न्तरस्य स्थानान्यानयनायाऽबाधाहीनोत्कृष्टस्थितिः पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्यांशगतसमयैर्विभज्यते, अबाधाकण्डकमानयनाय तु जघन्यस्थित्या न्यूनोत्कृष्टस्थितिर्देशोनत्रिसहस्रादिवर्षसमयतुल्यैरबाधास्थानै-र्विभज्यते, एवं च भाज्यसंख्यायास्तुल्यत्वे सति भागहारसंख्याया अन्तर्मुहूर्तेन्यूनत्रिसहस्रवर्षादिसमय-तुल्यायाः पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्यांशगतसमयापेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनत्वेन भागफलस्यासंख्येय-गुणाधिकलाभात्। भागफलप्रमाणस्थानानां ह्येकं कण्डकमिति तु सुगममिति। "ताउ असखगुणोऽणू ठिइबंधो" त्ति तस्मादेककण्डकस्थानात्, एककण्डकगतस्थितिस्थानेभ्य इत्यर्थः। असंख्यगुणोऽणुः– जघन्यः स्थितिबन्धः, सप्तप्रकृतीनामिति सर्वत्राऽनुवर्तते। सुगमं चैतत्, यतः संज्ञिनां जघन्योऽपि स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो जायते। ननु संयतस्य जघन्यस्थितिबन्धः प्रागन्त-र्मुहूर्ततया सर्वस्तोको दर्शितः, संयतानां संज्ञित्वेन स एव संज्ञिनां जघन्यस्थितिबन्धो भवति, तत्कथमत्र संज्ञिनां जघन्योऽपि स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो जायते इत्युच्यते ? भण्यते—अत्र श्रेणिमनारूढानां संज्ञिनां यः सर्वस्तोकः स्थितिबन्धः स जघन्यस्थितिबन्धतया ग्राह्यः, न पुनः श्रेणिं समारूढानाम्, कर्मप्रकृतिवृत्तौ मलयगिरिपादैः प्रकृताल्पबहुत्ववृत्तौ तथैव व्याख्यातत्वात्, सङ्गतेश्च। यदुक्तं तैः—" ·········· ··· ··· ··। तस्माज्जघन्य. स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, अन्त.सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, संज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि श्रेणिमनारूढा जघन्यतोऽपि स्थितिबन्धमन्तः-सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमेव कुर्वन्तीति।" इति।

"ताउ संखियगुणाइ ठिइबधट्ठाणाइ" त्ति तस्माज्जघन्यस्थितिबन्धात् स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। यतो जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपममात्रो गृहीतः, स्थितिबन्धस्थानानि तु जघन्यस्थितिबन्धादारभ्योत्कृष्टस्थितिमभिव्याप्य यावन्तः समयास्तावन्ति भवन्तीति। "तोऽब्भहियो परमठिइबधो" त्ति ततोऽभ्यधिकः–विशेषाधिक उत्कृष्टस्थितिबन्धः, सप्तानामित्यनुवर्तत एव। सुगमं चेदमपि, जघन्यस्थित्या अत्र प्रक्षेपादिति। कर्मप्रकृतिचूर्णौ प्रकृताल्पबहुत्वमित्थमेव। तथा च

तद्ग्रन्थः—पंचिंदियाणं सन्नीणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं सव्वत्थोवा जहन्निगा अबाहा सा य अंतोमुहुत्तमेत्ता। तत्तो अबाहाठाणाणि अबाहाकंडगाणि य दोवि तुल्लाणि *असंखेज्जगुणाणि। किं कारणं? भन्नइ–तिण्हं वाससहस्साणं जहन्नाबाहूणाणं जत्तिया समया तत्तियाणि अबाहाठाणाणि कंडगाणि य त्ति काउं। तत्तो उक्कोसिया अबाहा विसेसाहिया। जहन्नाबाहासहिअत्तिकाउं।

पर्याप्ताऽपर्याप्तसञ्ज्ञिजीवभेदयोरायुर्वर्जसप्तकर्मणां प्रत्येक स्थितिबन्धस्थानादिदशपदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्

क्रम	पदानि	अल्पबहुत्वम्	परिमाणम्
१	जघन्याबाधा	सर्वस्तोका	अन्तर्मुहूर्तमात्रा
२	अबाधास्थानानि	असंख्येयगुणानि	अन्तर्मुहूर्तन्यूनवर्षसहस्रत्रयादि-
३	अबाधाकण्डकानि	परस्परतुल्यानि	समयप्रमाणानि
४	उत्कृष्टाबाधा	विशेषाधिका	जघन्याबाधयाधिका
५	निषेकस्य द्विगुणहानय	असंख्येयगुण०	पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयभागमाना
६	द्विगुणहान्योरन्तरम्	,,	असंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूलम्
७	अबाधाकण्डकम्	,,	पल्योपमस्याऽसंख्येयभागप्रमाणम्
८	जघन्यस्थितिबन्ध	,,	अन्तःकोटिकोटिसागरोपमम्
९	स्थितिबन्धस्थानानि	संख्येयगुणानि	पर्याप्तस्य—देशोन ३० कोटिकोटीसागरोपमादीनाम्, अपर्याप्तस्या–ऽन्त कोटिकोटीसागरोपमादीनां च समयप्रमाणानि,
१०	उत्कृष्टस्थितिबन्ध.	विशेषाधिक	पर्याप्तस्य–३०कोटिकोटिसागरोपमादि., अपर्याप्तस्या–ऽन्तःकोटिकोटिसागरोपम०

ततो नानापएसगुणहाणिठाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि। पलिओवमवग्गमूलस्स असंखेज्जतिभागोत्ति काउं। तओ एगपएसगुणहाणिठाणंतरं असंखेज्जगुणं, असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि त्ति काउं। तओ एगं अबाहाकंडगं असंखेज्जगुणं। कि कारणं? तिण्हं वाससहस्साण जहन्नाबाहूणाणं जत्तिया समया ततिमो भागो जहन्नगठितिऊणाए उवरिल्लीए ठितिए एगं अबाहाकंडगं ति काउं। जहन्नगो ठितिबंधो असंखेज्जगुणो, अंतो

*अयं पाठो जेसलमेरशास्त्रसंग्रहस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिसत्क, मुद्रितप्रतौ तु "असंखेज्जगुणाणि" इति पाठः।

सागरोवमकोडाकोडीत्ति काउं। ततो ठितिबंधठाणाणि संखेज्जगुणाणि, जहन्नगठितिऊणा सव्वठितित्तिकाउं। तत्तो उक्कोसिया ठिती विसेसाहिया, जहन्नगठितिए अबाहाए य सहियत्ति काउं॥" इति॥१६।१७।१८।१९॥

तदेवमुक्तं संज्ञिपर्याप्ता-ऽपर्याप्तजीवभेदद्वये आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः, जघन्यस्थितिबन्धः, उत्कृष्टाबाधा, जघन्याबाधा, अबाधाकण्डकानि, अबाधास्थानानि, स्थितिबन्धस्थानानि, निषेकसत्कद्विगुणहान्योरन्तरम्, निषेकसत्कद्विगुणहानिस्थानानि, अबाधाकण्डकपरिमाणमित्येतेषां दशपदानामल्पबहुत्वम्। साम्प्रतमेतदेव शेषद्वादशजीवभेदेषु दिदर्शयिषुराह—

बारहसुं सेसेसुं जीवसमासेसु हुन्ति सत्तण्हं।
थोवाणि अबाहाए तुल्लाइं ठाणकंडाइं ॥२०॥
तो संखगुणाऽबाहा हस्सा तत्तो परा विसेसहिया।
ताउ असंखगुणाइं ठाणाइं दुगुणहाणीणं ॥२१॥
ताउ असंखगुणाइं हवन्ति एगंतरस्स ठाणाइं।
ताउ असंखेज्जगुणं अबाहकंडं भवे एगं ॥२२॥
ताउ असंखगुणाइं णायव्वाणि ठिइबंधठाणाणि।
तो संखगुणो हस्सो ठिइबंधो तो परोऽब्भहियो ॥२३॥
णवरि असंखेज्जगुणा चउसुं एगिंदिसक्कभेएसुं।
हस्साऽबाहाऽत्थि तहा लहुठिइबंधो जहाठाणं ॥२४॥

(प्रे०) "बारहसुं सेसेसुं" इत्यादि अनन्तरोक्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तजीवभेदद्वयवर्जा ये सूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदनिष्पन्ना द्वादश शेषा जीवसमासाः–जीवभेदास्तेषु प्रत्येकम् "हुन्ति" त्ति भवन्ति, किमित्याह—"सत्तण्हे"-त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "थोवाणि अबाहाए तुल्लाइ ठाणकंडाइ" ति स्तोकानि, वक्ष्यमाणपदापेक्षयाऽल्पान्यबाधायाः "ठाणकंडाइं" ति स्थानानि कण्डकानि च स्थानकण्डकानीति समासः, अबाधायाः स्थानान्यबाधायाः कण्डकानीत्येते द्वेऽपि पदे प्रत्येकमित्यर्थः। 'तुल्लाणि" त्ति परस्परं तु तानि तुल्यानीत्यर्थः। सुगमम्। "तो" त्ति तेभ्योऽबाधास्थानाऽबाधाकण्डकैकतरेभ्यः "संखगुणाऽबाहा हस्सा" त्ति ह्रस्वा-जघन्याऽबाधा संख्येयगुणा। ननु संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तजीवभेदयोरनन्तरं जघन्याबाधापेक्षयाऽबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि संख्येयगुणान्यभिहितानि, तत्प्रकृते पुनः कथं वैपरित्येनाबाधास्थानाऽबाधाकण्डकेभ्यो जघन्याबाधा संख्येयगुणाऽभिधीयते? उच्यते, प्रकृते द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तलक्षणेष्वष्टजीवभेदेषु प्रस्तुतानां ज्ञानावरणादीनां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि चावलिकायाः संख्येयभागगत-

समयतुल्यानि भवन्ति । कुतः ? प्रत्येकं स्थितिस्थानानां पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वेन तावन्मात्राणां स्तोकानामेवाबाधास्थानानां निष्पत्तेः । इदमुक्त भवति—अधिकृतजीवभेदेषु न संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तापर्याप्तजीवभेदयोरिव सप्तानां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालं संख्येयसागरोपमादिप्रमाणम्, किन्तु पल्योपमसंख्येयभागमात्रमेव । वक्ष्यते चात्रैव ग्रन्थे स्थितिबन्धप्रमाणं निरूपयता ग्रन्थकृता—"सव्वविगलेसु सगगुरुठिइबंधो पलियसंखभागूणो । सत्तण्ह लहू णेयो" इत्यनेन, इत्थं हि जघन्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धान्तरालाधीनानि स्थितिबन्धस्थानान्यपि प्रकृते स्तोकानि पल्योपमसंख्येयभागमात्राणि प्राप्यन्ते, तानि चैकाबाधास्थाननिष्पादकपल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणैर्नियतसंख्याकैः स्थितिबन्ध-स्थानैर्यदा विभज्यन्ते तदाऽऽवलिकायाः संख्येयभागगतसमयप्रमाणं भागफलं लभ्यते, भागफल-तुल्यान्येवाबाधास्थानानीति तु सुगमः । यावन्त्यबाधास्थानानि तावन्त्यबाधाकण्डकानीति तु प्राग् दर्शितमेव, अन्तर्मुहूर्तमात्राऽपि जघन्याबाधा तु संख्येयावलिकाप्रमाणा, अत एव प्रकृतेऽबाधास्थाना-ऽबाधाकण्डकेभ्यो जघन्याबाधा संख्येयगुणाऽभिहितेति । इदं हि संख्येयगुणत्वं सूक्ष्मबादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तात्मकैकेन्द्रियसत्कजीवभेदचतुष्कसम्बधिष्वल्पबहुत्वेषु न सङ्गच्छते, यत एकेन्द्रियाणां जघन्य-स्थितिबन्धापेक्षयोत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेनैवाधिको जायते, तथा च सति तेषां स्थितिबन्धस्थानान्यप्यतीवस्तोकानि पल्योपमासंख्येयभागमात्राणि, तानि च पूर्ववदेकाबाधास्थान-निष्पादकपल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणैर्नियतसंख्याकैः स्थितिबन्धस्थानैर्यदा विभज्यन्ते तदाऽऽवलि-काया असंख्येयभागगतसमयप्रमाणं भागफलं प्राप्यते । जघन्याबाधाऽपि प्रकृतसूक्ष्मबादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियजीवभेदेषु यद्यपि द्वीन्द्रियाद्यपेक्षया स्तोका, तथाऽपि संख्येयावलिकाप्रमाणैव, कुतः ? द्वीन्द्रियाणां जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयैकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिबन्धस्य संख्येयभागगतत्वेनाबाधाया अपि संख्येयभागगतत्वात् । इत्थं ह्येकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदसम्बन्ध्यल्पबहुत्वेष्वावलिकाया असंख्येय-भागगतसमयप्रमाणेभ्योऽबाधास्थानेभ्यः संख्येयावलिकाप्रमाणा जघन्याबाधाऽसंख्येयगुणा भवति । न चैतावन्मात्रम् , किं तर्हि ? उत्तरत्र "तो संखगुणो ठिइबधो" इत्यनेनाधिकृतशेषद्वादशजीवभेदेषु वक्ष्यमाणं स्थितिबन्धस्थानापेक्षया जघन्यस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वमपि चतुर्ष्वेकेन्द्रियसत्कजीव-भेदेषु न सङ्गच्छते, कुतः ? उक्तहेतोरेव, एकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदेषु स्थितिबन्धस्थानानां पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, तत एव पल्योपमासंख्येयभागेनोनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणस्य ज्ञानावरणादिसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणत्वादिति भावः । ननु यद्येवं तर्हि कथमे-केन्द्रियसत्काश्चत्वारो जीवभेदाः शेषद्वादशजीवभेदेषु संगृह्याल्पबहुत्वमभिहितम् ? लाघवार्थम्, पदद्वयं विवर्ज्य शेषपदेषु तुल्यवक्तव्यत्वाच्च, न चैवं सत्यतिप्रसक्तिः स्यादिति वाच्यम् । यत एकेन्द्रिय-सत्कचतुर्जीवभेदापेक्षयाऽघटमानपदद्वये—"णवरि असंखेज्जगुणा" इत्यादिना ग्रन्थकारः स्वयमेवा-पवदिष्यतीत्यलं प्रसङ्गेन । अथ प्रकृतम्—"तत्तो परा" त्ति उक्तसप्तकर्मसत्का परा–उत्कृष्टा, अबाधा इत्यनुवर्तते, कियतीत्याह—"बिसेसाहिया" त्ति विशेषाधिकाः, संख्येयभागमात्रेणाधिकेत्यर्थः ।

कुतः ? रूपोनाबाधास्थानैरधिकत्वादिति । "ताउ असंखगुणाइं" ति तस्या अनन्तरोक्तोत्कृष्टाबाधाया असंख्येयगुणानि, कानीत्याह—"ठाणाइं दुगुणहाणीणं" ति असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिप्रायोग्योत्कृष्ट-स्थितौ निषेकस्य द्विगुणहानीनां स्थानानि, पल्योपमप्रथमवर्गमूलासंख्येयभागप्रमाणत्वात्तेषामिति । उक्तं चानन्तरमेव—"णाणंतरठाणाइं असंखियमोऽत्थि पल्लमूलंसो" इति । "ताउ असखगुणाइ हवंति" त्ति तेभ्यो निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानेभ्योऽसंख्यगुणानि भवन्ति, कानीत्याह—"एगतरस्स ठाणाइ" ति निषेकस्य द्विगुणहान्योरेकान्तरस्य स्थानानि, एकान्तरगतनिषेक-स्थानानीत्यर्थः । कथम् ? पूर्ववत् पल्योपमस्यासंख्येयानां प्रथमवर्गमूलानां समयप्रमाणत्वादिति । "ताउ असंखेज्जगुणं" ति तेभ्योऽसंख्येयगुणं भवेदिति परेणान्वयः, किं तदित्याह—"अबाहाकंडं भवे एगं" ति एकमबाधाकंडकमेकसमयाबाधाहानौ हीयमानस्थितिबन्धस्थानसमूहभूतं प्रागुक्तस्वरूप-मित्यर्थः, संज्ञिजीवभेदसत्काल्पबहुत्वानुसारेण भावनीयमिदमसंख्येयगुणत्वमिति । "ताउ असखगुणाइं णायव्वाणि" त्ति तस्मादेकस्मादबाधाकण्डकाद् असंख्यगुणानि ज्ञातव्यानि, कानीत्याह—"ठिइबंधट्ठाणाणि" त्ति निरुक्तलक्षणानि स्थितिबन्धस्थानानि । सुगमम् । "तो संखगुणो हस्सो ठिइबधो" त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तासंज्ञ्यादीनां प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानेभ्यस्तेषामेव प्रत्येकं संख्येयगुणो ह्रस्वः स्थितिबन्धः । असंज्ञि-विकलेन्द्रियाणां प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणत्वेन तेषां जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो जायते, न पुनरेकेन्द्रियाणाम्, तेषां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात्, अत इदं विकलेन्द्रिया-संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदप्राधान्येन सामान्यतोऽभिहितम्, एकेन्द्रियजीवभेदापेक्षया त्वनन्तरं विशेषतो वक्ष्यतीति । "तो परोऽब्भहियो" त्ति ततः परः–उत्कृष्टः स्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते, कियानित्याह–"ब्भहियो" त्ति अभ्यधिकः–विशेषाधिकः, असंज्ञि-विकलेन्द्रियसत्काष्टजीवभेदेषु पल्योपमसंख्येय-भागेन, शेषेषु चतुर्ष्वेकेन्द्रियसत्कजीवभेदेषु तु पल्योपमासंख्येयभागेनेत्यर्थः । सूक्ष्मबादरपर्याप्ताऽपर्याप्त-भेदभिन्नेष्वेकेन्द्रियसत्कचतुर्षु जीवभेदेषु सामान्येनाभिहितमतिप्रसक्तमर्थं निराचिकीर्षुराह—"णवरि" इत्यादि, नवरं-परमयं विशेषः, कोऽयमित्याह—"असखेज्जगुणा" इत्यादि, व्याख्यात-प्रायम्, नवरं तथाशब्दः सादृश्ये, यथाऽबाधा तथा लघुस्थितिबन्धोऽसंख्यगुण इत्यर्थः, "जहाठाण" ति यथोक्तस्थान इत्यर्थः । अयम्भावः—अनन्तरमबाधास्थानेभ्यो ह्रस्वाऽबाधा संख्येयगुणा उक्ता तथा स्थितिबन्धस्थानेभ्यो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण उक्तः, एतद्द्वयमप्येकेन्द्रियसत्केषु चतुर्ष्वपि जीवस्थानेषु न सङ्गच्छते, अतस्तेषु चतुर्ष्वपि जीवभेदेष्वबाधास्थानेभ्यो ह्रस्वाबाधा-ऽसंख्येयगुणा वक्तव्या, तथा स्थितिबन्धस्थानेभ्यो लघुस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणोऽभिधातव्य इति । इदमप्यल्पबहुत्वं कर्मप्रकृतिचूर्णावित्थमेवाभिहितम्, केवलमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रिसत्कजीवभेदेषु तथैकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदेषु तुल्यमिति कृत्वा निरपवादं पृथक्पृथगभिहितम्। तथा च तद्ग्रन्थः,—

आयुर्वर्जसप्तकर्मसत्कस्थितिबन्धस्थानादीनां दशानां पदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्					
पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-लक्षणेष्वष्टसु जीवभेदेषु				सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तै-केन्द्रियलक्षणेषु चतुर्षु जीवभेदेषु	
१	अबाधास्थानानि	स्तोकानि	आवलिकाया संख्येय-भागप्रमाणानि	स्तोकानि	आवलिकाया असंख्यभागमात्राणि
२	अबाधाकण्डकानि	तुल्यानि		तुल्यानि	
३	जघन्याबाधा	संख्येयगुणा	संख्येयावलिकामात्रा	असंख्येयगुणा	संख्येयावलिकामात्रा
४	उत्कृष्टाबाधा	विशेषाधिका	,,	विशेषाधिका	,,
५	निषेकद्विगुण-हानय	असंख्येयगुण०	एकपल्योपमप्रथमवर्ग मूलस्याऽसंख्यभागमात्रा	असंख्यगुण०	एकपल्योपमप्रथमवर्ग-मूलस्याऽसंख्येयभागः
६	द्विगुणहान्योरे-कमन्तरम्	,,	असंख्येयपल्योपम-प्रथमवर्गमूलम्	,,	असंख्येयपल्योपम-प्रथमवर्गमूलम्
७	अबाधाकण्डकम्	,,	पल्योपमसंख्येयभाग.	,,	पल्योपमासंख्येयभाग.
८	स्थितिबन्ध-स्थानानि	,,	पल्योपमासंख्येयभागस्य समयप्रमाणानि,	,,	पल्योपमासंख्येयभागस्य समयप्रमाणानि
९	जघन्यस्थिति-बन्ध	संख्येयगुणः	पल्योपमसख्येयभागोना. -२५-५०-१००-१०००- सागरोपमत्रिसप्तादिभागा	असंख्यगुण	पल्योपमासंख्येय-भागेनोना सागरोपम-त्रिसप्तादिभागा.
१०	उत्कृष्टस्थितिबन्ध	विशेषाधिक.	पर्याप्तेषु-२५-५०-१००-१००० सागरोपमाणां सम्पूर्णास्त्रि-सप्तादिभागा. अपर्याप्तेषु ते देशोना ✽	विशेषाधिक	बादरपर्याप्ते-सम्पूर्णाः सागरोपमत्रिसप्तादि-भागा । शेषत्रये—ते देशोना ×,

"पंचिंदियाणं असन्नीणं चउरिंदियाणं तेइंदियाण बेइंदियाणं पज्जत्तगअपज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं अबाहाट्ठाणाणि अबाहाकंडगाणि य दो वि तुल्लाणि सव्वत्थोवाणि ताणि य आउलियाए +सखेज्जइभागमेत्ताणि । ततो जहन्निया अबाहा संखेज्जगुणा । अंतोमुहुत्तमिति काउं । उक्कस्सिया अबाहा विसेसाहिया, ✽अबाहाट्ठाणसहियत्ति काउं । तओ नाणापएसगुणहाणिट्ठाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि । तओ एगं पएसगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखेज्जगुणं । एगं अबाहाकण्डगं असंखेज्जगुणं । तओ ठितिबंधट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि, पलिओवमस्स संखेज्जइभागमितिकाउं । जहन्नगो ठितिबधो संखेज्जगुणो । उक्कस्सियाठिति विसेसाहिया ॥"

+अयं पाठो जेसलमेरग्रन्थागारस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिप्रतीसत्क , मुद्रितप्रतौ तु "असंखेज्जइ भागमेत्ताणि" इति पाठ. । ✽पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूना. । ×पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूना. ।

"एगिंदियाणं सुहुमाणं बादराणं पज्जत्तअपज्जत्तगाणं आउवज्जाणं अबाहाठाणाणि अबाहाकंडगाणि य दो वि तुल्लाणि सव्वत्थोवाणि, ताणि य आवलियाए असंखेज्जत्तिभागमेत्ताणि। जहन्निया अबाहा असंखेज्जगुणा। अंतोमुहुत्तमिति काउं। उक्कस्सिया अबाहा विसेसाहिया। ※अबाहाठाणसहियत्तिकाउं। नाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि। एगं अंतरं असंखेज्जगुणं। एगं अबाहाकंडगं असंखेज्जगुणं। ठितिबंधट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि। जहन्नगो ठितिबंधो असंखेज्जगुणो। उक्कस्सिगो ठितिबन्धो विसेसाहिओ ॥ २०/२१/२२/ २३/२४ ॥

तदेवमभिहितं चतुर्दशस्वपि जीवभेदेष्वायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानाबाधास्थानादीनां दशवस्तुनां परस्थानाल्पबहुत्वम्। साम्प्रतमवशेषस्यायुःकर्मणः स्थितिबन्धाबाधास्थानादीनां परस्थानाल्पबहुत्वं प्रचिकटयिषुरादौ तावत्पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिरूपयोर्द्वयोर्जीवभेदयोस्तदाह—

पज्जामणसण्णीणं आउस्सऽप्पा जहण्णगाऽबाहा ।
तत्तो संखेज्जगुणो जहण्णगो होइ ठिइबंधो ॥ २५ ॥
ताओ संखगुणाइं अबाहठाणाणि हुन्ति ताहिन्तो ।
उक्कोसिया अबाहा होएइ विसेसओऽब्भहिया ॥ २६ ॥
ताउ असंखगुणाइं हवन्ति ठाणाणि दुगुणहाणीणं ।
ताउ असंखगुणाइं ठाणाइं अंतरे एगे ॥ २७ ॥
ताउ असंखगुणाइं णायव्वाणि ठिइबंधठाणाणि ।
ताहिन्तो अब्भहियो ठिइबंधो होइ उक्कोसो ॥ २८ ॥

(प्रे०) "पज्जामणसण्णीणं आउस्सऽप्पा" इत्यादि, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्, पर्याप्तामनस्कपर्याप्तसंज्ञिनोः, पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदे पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे च प्रत्येकमित्यर्थः। बहुवचनं तु प्राकृतवशात्। तयोः किमित्याह—"आउस्से"त्यादि, उक्तशेषस्यायुःकर्मणः "प्पा जहण्णगाऽबाहा" त्ति लुप्ताकारस्य दर्शनादल्पा-अनन्तरवक्ष्यमाणजघन्यस्थितिबन्धादिपदापेक्षया स्तोका जघन्यकाऽबाधा, "तत्तो सखेज्जगुणो जहण्णगो होइ ठिइबधो" त्ति तत आयुषो जघन्य एव जघन्यकः स्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवति, कुतः? इति चेत्, क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितिकाऽऽयुष्मतामपि जीवानां वेद्यमानायुषस्त्रिभागत्रिभागत्रिभागाद्यवशेषप्रकारेण चरमान्तर्मुहूर्तेऽवशेषेऽपि पारभविकायुर्बन्धसम्भवादिति। "ताओ" त्ति तेभ्यो संख्यगुणान्यबाधास्थानानि भवन्ति, आयुष इत्यनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि "आउस्स" इत्यस्य पदस्यानुवृत्तिर्बोद्धव्या, कुतोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि? इति चेत्, आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः क्षुल्लकभवप्रमाणः, अबाधास्थानानि त्वन्तर्मुहूर्त-

※अयं पाठोऽपि जेसलमेरग्रन्थागारस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिप्रतीसत्क, मुद्रितप्रतौ तु स्थानद्वयेऽपि क्रमेण "जहन्नियाअबाहासहियत्ति काउं।" जहन्निआबाहासहियत्ति काउं।" इति पाठः।

जघन्याबाधया न्यूनपूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणानि, अर्थात्षट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावलिकाप्रमाणजघन्यायुर्बन्धापेक्षया संख्येयवर्षप्रमाणान्यबाधास्थानानि सुतरां संख्येयगुणानि भवन्तीति। **"ताहिन्तो"** त्ति तेभ्योऽबाधास्थानेभ्यः **"उक्कोसिया अबाहा होएइ विसेसओऽब्भहिया"** त्ति उत्कृष्टाऽबाधा विशेषतोऽभ्यधिका, विशेषाधिका भवतीत्यर्थः। कुतः ? पूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणत्वादिति। **"ताउ असखगुणाइं हवन्ति"** त्ति ततोऽसंख्यगुणानि भवन्ति, कानीत्याह—**"ठाणाणि दुगुणहाणोण"** त्ति निषेकस्य द्विगुणहानीनां स्थानानीत्यर्थः, कुतः ? पल्योपमप्रथमवर्गमूललक्षणयथोक्तप्रमाणत्वात्। ततोऽसंख्यगुणानि **"ठाणाइ अतरे एगे"** त्ति आयुषो निषेकस्य द्विगुणहान्योरेकस्मिन्नन्तरे यानि निषेकस्थानानि तानीत्यर्थः, कुतः ? असंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूललक्षणयथोक्तप्रमाणत्वात्। **"ताउ-असंखगुणाइं णायव्वाणि"** त्ति तेभ्योऽसंख्यगुणानि ज्ञातव्यानि भवन्ति, कानीत्याह—**"ठिइबंध-ठाणाणि"** त्ति आयुषः स्थितिबन्धस्थानानि, यत इमानि पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिजीवभेदयोः क्रमेण समयोनषट्पञ्चाशदधिकशतद्वयावलिकान्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपम – पल्योपमासंख्येयभागसमयतुल्या – नीति। **"ताहिन्तो"** त्ति तेभ्यः–आयुषः स्थितिबन्धस्थानेभ्यः **"अब्भहियो ठिइबधो होइ उक्कोसो"** त्ति आयुष उत्कृष्टः स्थितिबन्धो'ऽभ्यधिकः'–विशेषाधिको भवति, समयोनक्षुल्लकभवग्रहणस्य तत्र प्रक्षेपादिति। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

"पचिंदियाण सन्नीणं असन्नीणं पज्जत्तगाणं आउगस्स सव्वत्थोवा अबाहा। सा य असंखिज्जद्धा। ततो जहन्नगो ठितिबंधो सखेज्जगुणो। सो य खुड्डागभवो त्ति काउं। ततो अबाहाट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि।

पर्याप्तसञ्ज्ञि–पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदयोरायुःकर्मणः स्थितिबन्धस्थानादी–नामष्टपदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्

१	जघन्याबाधा	सर्वस्तोका	असंक्षेप्याद्धा
२	जघन्यस्थितिबन्ध	संख्येयगुण.	क्षुल्लकभव
३	अबाधास्थानानि	संख्येयगुणानि	देशोनपूर्वकोटितृतीयभागसमयतुल्यानि
४	उत्कृष्टाबाधा	विशेषाधिका	पूर्वकोटितृतीयभाग०
५	निषेकद्विगुणहानय.	असंख्येयगुणा	पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयभागप्रमाणा.
६	द्विगुणहान्योरन्तरम	असंख्येयगुणम्	असंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूलम्
७	स्थितिबन्धस्थानानि	असंख्येयगुणानि	क्षुल्लकभवन्यूनोउत्कृष्टस्थितिबन्धसमयतुल्यानि
८	उत्कृष्टस्थितिबन्ध.	विशेषाधिकः	३३ सागरो पमाणि तथा पल्यासंख्यभागः क्रमेण

पूव्वकोडितिभागो जहण्णाबाहूणो त्ति काउं। उक्कोसिआ अबाहा विसेसाहिया। जहण्णाबाहासहिय त्ति काउं। ततो णाणापएसगुणहाणिठाणंतराणि असंखिज्जगुणाणि। कारणं पुव्वुत्तं। तओ ठितिबंधट्ठाणाणि असंखेज्जगुणाणि, जहण्णगठितिहीणा सव्वठितित्ति काउं। तओ उक्कोसगो ठितिबंधो विसेसाहिओ जहण्णगठितिसहिओत्ति काउं॥ इति॥ २५/२६/२७/२८॥

अथोक्तशेषद्वादशजीवभेदेषु प्रकृतमायुषः स्थितिबन्धस्थानादीनामल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

बारहसुं सेसेसुं जीवसमासेसु आउगस्सऽप्पा।
हस्साऽबाहा तत्तो संखगुणो हस्सठिइबंधो॥२९॥
ताओ संखगुणाइं अबाहठाणाणि हुन्ति ताहिंतो।
उक्कोसिया अबाहा होएइ विसेसओऽब्भहिया॥३०॥
तत्तो संखगुणाइं णायव्वाणि ठिइबंधठाणाइं।
ताहिन्तो अब्भहियो ठिइबंधो होइ उक्कोसो॥३१॥

(प्रे०) "बारहसुं सेसेसु"मित्यादि, अनन्तरोक्तपर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदद्वयं विहाय सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु द्वादशसु शेषेषु जीवसमासेसु-जीवभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः, एतेषु प्रत्येकं किमित्याह— "आउगस्सऽप्पा" इत्यादि, आयुष्कस्य ह्रस्वा-जघन्याऽबाधाऽल्पा, वक्ष्यमाणपदेभ्यः स्तोकेत्यर्थः। इयं ह्यायुषो बन्धकालेन न्यूनासंक्षेप्याद्धाप्रमाणा सती संख्येयावलिकातुल्या भवति।

ननु कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु साऽसंक्षेप्याद्धाप्रमाणा दर्शिता, अत्र तु ततोऽपि न्यूनाभिधाने कथं न विरोधः ? इति चेद्, न, विवक्षाभेदेनेत्थमभिधानेऽपि न कश्चिद्विरोधः, "जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-संवरनिर्जरा-मोक्षा-स्तत्त्वम्" इत्यनेन सप्तविधतत्त्वप्रतिपादने "जीवाजीवा पुण्णं, पावा-सव-संवरो य निज्जरणा। बंधो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा" इत्यनेन नवविधतत्त्वाभिधानेऽप्यविरोध इव। इदमुक्तं भवति,—कुत्रचिद्ग्रन्थे जघन्याबाधाऽसंक्षेप्यद्धामानाऽभिहिता। यथा कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"आउगस्स सव्वत्थोवा जहण्णिया अबाहा, सा य असंखिप्पद्धा" इत्यनेन। ततश्च कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण यस्या अर्वाक् पूर्वमबद्धपारभविकायुष्कजीवेन नियमेनायुर्बन्धो समाप्यते सा वेद्यमानायुरवशेषरूपाऽसंक्षेप्याद्धेति ज्ञायते, तस्या एवायुषो जघन्याबाधात्वेन संघटनात्। प्रज्ञापनावृत्त्यादौ तु "त्रिभागादिना प्रकारेण या संक्षेप्तुं न शक्यते सा असंक्षेप्या सा चासौ अद्धा च असंक्षेप्याद्धा" इत्येवंव्याख्यानाद् यस्या अर्वाक् पूर्वमबद्धपारभविकायुर्जीवो नियमेनायुर्बन्धं प्रारभते सा असंक्षेप्याद्धा, इत्येवमसंक्षेप्याद्धाऽऽयुर्बन्धकालेनाधिकजघन्याबाधाप्रमाणा लक्ष्यते, आयुषोऽबाधा तु यावति वेद्यमानायुष्यवशेषे परभवायुर्बन्धः समाप्यते तावन्माना सर्वेषामभिप्रेता, प्रकृते च जघन्याबाधा प्रज्ञापनावृत्त्याद्यभिप्रेताऽसंक्षेप्याद्धाव्याख्यानानुसारेण भाविता, कर्मप्रकृत्यभि-

प्रायेण त्वन्यथाऽपि भावनीया । इत्थं ह्युभयापेक्षयाऽपि जघन्याबाधायाः समानत्वात् न कश्चिद्विरोधः, पदार्थान्तरं वेति ।

अथ प्रकृतम्—"तत्तो सखगुणो हस्सठिइबंधो" त्ति ततः संख्येयगुणो ह्रस्वः—जघन्यः स्थितिबन्धः, आयुष इत्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि "आउगस्स" इत्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । "ताओ संखगुणाइ अबाहठाणाणि हुन्ति" त्ति तस्मादायुषो जघन्यस्थितिबन्धादायुषोऽबाधा-स्थानानि संख्येयगुणानि भवन्ति । जघन्याबाधोनस्वोत्कृष्टायुस्त्रिभागसमयप्रमाणत्वादिति । "ताहिंतो" त्ति तेभ्योऽबाधास्थानेभ्यः "उक्कोसिया अबाहा होएइ विसेसओऽब्भहिया" त्ति सुगमम्, जघन्याबाधाया अत्र प्रक्षेपादिति । "तो संखगुणाइं णायव्वाणि ठिइबंधठाणाइं" ति सुगमम्, स्थितिबन्धस्थानानामन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीसमयप्रमाणत्वात् । "ताहिन्तो अब्भहियो ठिइबंधो होइ उक्कोसो" त्ति सुगमम्, समयोनक्षुल्लकभवलक्षणस्यान्तर्मुहूर्तकालस्यात्र प्रक्षेपादिति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ —

"पंचिंदियाण सन्नीणं असन्नीण अपज्जत्तगाणं चउरिंदियाणं तेइंदियाणं बेइंदियाणं बायरएगिंदियाणं सुहुमएगिंदियाणं पज्जत्तगअपज्जत्तगाण आउगस्स सव्वत्थोवा जहण्णिया अबाहा, सा य असंखेप्पद्धा । जहण्णगो ठितिबंधो संखेज्जगुणो, खुड्डागभवग्गहणंत्ति काउ । अबाहट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । उक्कसिया अबाहा विसेसाहिया । ठितिबंधट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि, पुव्वकोडीजहन्नगट्ठिति (ऊ) णत्ति काउ । उक्कस्सगो ठितिबंधो विसेसाहिओ" । इति ।

पर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिवर्जद्वादशजीवभेदेष्वायुषः स्थितिबन्धस्थानादीनामल्पबहुत्वयन्त्रम्

क्रम	पदानि	अल्पबहुत्वम्	प्रमाणम्
१	जघन्याबाधा	सर्वस्तोका	असंक्षेप्याद्धाप्रमाणा
२	जघन्यस्थितिबन्ध.	संख्येयगुण·	क्षुल्लकभवप्रमाण·
३	अबाधास्थानानि	सख्येयगुणानि	देशोनस्वोत्कृष्टायुस्त्रिभागसमयतुल्यानि
४	उत्कृष्टाबाधा	विशेषाधिका	स्वोत्कृष्टायुस्त्रिभागप्रमाणा
५	स्थितिबन्धस्थानानि	संख्येयगुणानि	देशोनपूर्वकोटिसमयप्रमाणानि
६	उत्कृष्टस्थितिबन्ध·	विशेषाधिक.	एका पूर्वकोटि·

तदेवं व्याख्यातानि चतुर्थद्वारे प्रत्येकं मूलकर्मणां पृथक् पृथक् स्थितिबन्धस्थानादेः परस्था-नाल्पबहुत्वानि । अथैतान्येव मूलोक्ताल्पबहुत्वानि बीजपदीकृत्याष्टकर्मणां परस्थानतस्तानि सामस्त्ये-नोपपादयितुं युज्यन्ते, एवं गुणस्थानेषु जीवस्थानान्यधिकृत्य पृथक् पृथक् सामस्त्येन च चिन्ता-

विषयीकर्तव्यानि भवन्ति विदुषां विविदिषाविच्छेदायेति मन्यामहे, तथाऽपि न तानि सर्वाणि ग्रन्थ-विस्तरभयाद्वितन्मः, किन्तु प्रथमगुणस्थाने भव्याभव्यसाधारणबन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानादीन्यधिकृत्याऽष्टानामपि मूलकर्मणां परस्थानत एकैकजीवभेदेषु पार्थक्येन, चतुर्दशजीवभेदेषु सामस्त्येन चोच्यन्ते। तत्र पृथग्वक्तव्ये आदौ तावत्पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे—(१) आयुषो जघन्याबाधा सर्वस्तोका, क्षुल्लकभवत्रिभागादपि सुबहून्यूनत्वात्तस्याः। (२) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, क्षुल्लकभवप्रमाणत्वात्। (३) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा, अन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि क्षुल्लकभवापेक्षया संख्येयगुणबृहदन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। (४) ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायलक्षणस्य ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य जघन्याबाधाऽन्तर्मुहूर्तमात्रा सत्यपि विशेषाधिका, कुतः ? नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽस्य चतुष्कस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य विशेषाधिकत्वात्, जघन्याबाधाया जघन्यस्थितिबन्धाधीनत्वाच्च। ननु नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति कथं ज्ञायते ? भण्यते—आयुर्वर्जसप्तमूलकर्मणामेकेन्द्रियादिस्वामिकानां जघन्यस्थितिबन्धानामुत्कृष्टस्थितिबन्धानां च प्रमाणस्यौघोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणानुसारेण भावात्। इदमुक्तं भवति—ओघतो नाम-गोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य विंशतिसागरोपम-कोटीकोटीलक्षणस्यापेक्षया ज्ञानावरणादेः प्रत्येकमुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो विशेषाधिकः, त्रिंशत्काटाकोटीसागरोपमप्रमाणत्वात्, एवमेवौघतो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, यतो मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिरोघतः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा बध्यते, यस्य च नामादेः कर्मण ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया स्तोकस्तस्य जघन्य-स्थितिबन्धोऽप्येकेन्द्रियादिजीवैरुत्कृष्टस्थितिबन्धवत् स्तोकः क्रियते, यस्य च ज्ञानावरणादेरुत्कृष्ट-स्थितिबन्ध ओघतो नामादेः कर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिको मोहनीयस्य संख्येयगुणो वा तस्योत्कृष्टो वा जघन्यो वा स्थितिबन्धोऽप्येकेन्द्रियादिजीवैस्तथाविध ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धानुसारी विशेषाधिकः संख्येयगुणो वा क्रियते। यतो यस्या यस्या मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतेरोघोत्कृष्टस्थिति-बन्धो ज्ञानावरणादिमूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धतुल्यो जायते, ताः प्रकृतयः प्रथमगुणस्थानके ओघतो बध्यन्ते, तीर्थकरनामा-ऽऽहारकद्विकवर्जानां सप्तदशाभ्यधिकशतसंख्याकानामुत्तरप्रकृतीनां बन्धस्य मिथ्यात्वगुणस्थानेऽभिधानात्। न चैवं सासादनादिगुणस्थानेष्वपि, मोहनीयाख्यमूलप्रकृतेरुत्कृष्ट-स्थितिबन्धतुल्योत्कृष्टस्थितिबन्धाया अद्वितीयाया मिथ्यात्वमोहनीयप्रकृतेः सासादनगुणे केषामपि जीवानामबन्धात्, एवमेवोत्तरत्रापि तथाविधप्रकृतीनां विच्छेदात्, इत्थं हि मिथ्यात्वमोहनीयादि-प्रकृतीनां बन्धकः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवो वाऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवो वैकेन्द्रियादीनामन्यतमो वा जीवो नामगोत्रयोर्यावतीमुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति तदपेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां तां विशेषाधिकां बध्नाति, ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयस्य तु तां संख्येयगुणां बध्नाति, यथा उत्कृष्टां तथा जघन्यामपि नामगोत्रयोरपेक्षया ज्ञानावरणादेर्विशेषाधिकां, तदपेक्षया मोहनीयस्य संख्येयगुणां च बध्नाति, अत

एव नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया ज्ञानावरणादिचतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक उच्यते। इत्थमेव ज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धस्थानाऽबाधास्थान-जघन्योत्कृष्टाबाधादीनां निषेकद्विगुणहान्य-बाधाकण्डकवर्जानां पदानां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्ध-तदन्तरालाधीनतया तेषां वक्ष्यमाणसंख्येयगुण-त्वादिकस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुसारेण भावना कर्त्तव्येति। अथ प्रस्तुतम्—(५) ज्ञानावरणादि-चतुष्कस्य जघन्याबाधापेक्षया मोहनीयस्य जघन्याबाधान्तर्मुहूर्तमात्रा सत्यपि संख्येयगुणा, अस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वात् (६) ततो नामगोत्रयोरबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, कुतः ? अन्तर्मुहूर्तोनवर्षसहस्रद्वयप्रमाणत्वात्। (७) ततोऽनयोरेवोत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, समयोनजघन्या-बाधायास्तत्र प्रवेशात्। (८) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्याबाधास्थानानि विशेषाधिकानि, नाम-गोत्रयोरपेक्षया ज्ञानावरणादेर्जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरालस्य विशेषाधिकत्वात्, अबाधास्थानानां तदधीनत्वाच्च। (९) ततोऽस्यैव चतुष्कस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, समयोनजघन्याबाधायाः प्रक्षेपात्। (१०) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, अस्यौघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वेन जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्यापि संख्येयगुणत्वात्,। (११) ततोऽस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा-विशेषाधिका, समयोनजघन्याबाधायुतत्वेन सप्तवर्षसहस्रमितत्वात्। (१२) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीत्रिभागतुल्यत्वात्। (१३) तत आयुष उत्कृष्टाबाधाविशेषाधिका, समयोनजघन्याबाधायास्तत्र प्रवेशेन पूर्वकोटीत्रिभागतुल्यत्वात्। (१४) ततोऽस्यैवायुष उत्कृष्टस्थिति-बन्धे निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात्। (१५) ततो नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि, अनयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वात्। (१६) ततो ज्ञाना-वरणादिचतुष्कस्य तानि विशेषाधिकानि, अस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य विशेषाधिकत्वात्। (१७) ततो मोहनीयस्य तानि निषेकद्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि, अस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येय-गुणत्वात् निषेकद्विगुणहानिस्थानानां तदधीनत्वाच्च। (१८) ततोऽष्टानामपि ज्ञानावरणादीनां निषेक-द्विगुणहानिस्थानयोरेकमन्तरमसंख्येयगुणम्, द्विगुणहानिस्थानान्तरस्याऽसंख्यपल्योपमप्रथमवर्गमूल-तुल्यनियतपरिमाणतया सर्वत्र द्विगुणहानिस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादत्रापि तथैव बोद्धव्यम्। एवमेवोत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। विशेषभावना तु मूलोक्ताल्पबहुत्ववृत्त्यनुसारेण स्वमेव कर्तव्या। (१९) अनन्तरोक्तनिषेकद्विगुणहानिस्थानयोरेकान्तरापेक्षयाऽऽयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम्, अस्यापि पल्योपमासंख्येयभागतुल्यत्वेऽपि सर्वत्र निषेकद्विगुणहानिस्थानान्तरापेक्षयाऽसंख्येय-गुणत्वेन नियतत्वादेवासंख्येयगुणत्वमवसातव्यम्। इत्थमेवोत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। अत्रापि विशेष-भावना प्रागिव कर्तव्या। (२०) अनन्तरोक्तैकाबाधाकण्डकापेक्षयाऽऽयुषः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येय-गुणानि, देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात्। (२१) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणेनाऽन्तर्मुहूर्तेनाधिकत्वात्। (२२) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येय-गुणः, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमितत्वात्। (२३) ततो ज्ञानावरणादिचतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धो

विशेषाधिकः, तेषामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नामगोत्रयोरोघोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिकत्वात्, भव्याभव्यसाधारणजघन्यस्थितिबन्धस्य तदधीनत्वाच्च। (२४) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणः सन्नपि संख्येयगुणः, ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वात्। (२५) ततो नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमन्यूनविंशतिसागरोपमकोटीकोटीनां समयतुल्यत्वात्। (२६) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, सम्पूर्णविंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। (२७) ततो ज्ञानावरणादिचतुर्णां स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि, देशोनत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणतया द्विगुणादपि हीनत्वात्। (२८) ततस्तेषामेव चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, समयोनजघन्यस्थित्या अन्तःकोटीकोटीलक्षणायास्तत्र प्रवेशेन परिपूर्णत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। (२९) ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमन्यूनसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। (३०) ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणजघन्यायाः स्थितेस्तत्र प्रवेशादिति।

अथाऽपर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेद आयुष उत्कृष्टस्यापि स्थितिबन्धस्य पूर्वकोटीवर्षप्रमाणत्वेन निषेकद्विगुणहानिस्थान-तदन्तरयोरसम्भवात् पदद्वयवर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धस्थानादीनामल्पबहुत्वम्। तत्र—(१) आयुषो जघन्याबाधा सर्वस्तोका, (२) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, (३) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, (४) तत आयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, (५) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा, (६) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका, (७) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा, (८) ततो नामगोत्रयोरबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, (९) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, (१०) ततो ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि. (११) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, (१२) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, (१३) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, (१४) तत आयुषः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, पूर्वकोटीवर्षप्रमाणत्वात्। (१६) ततो नामगोत्रयोर्निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि, (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि, (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानयोरन्तरमसंख्येयगुणम्, अत्र हेतुः पूर्वोक्तसंज्ञिपर्याप्तजीवभेदवज्ज्ञेयः। (२०) ततस्तेषामेवैकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम्, अत्रापि हेतुः पूर्वोक्तसंज्ञिपर्याप्तजीवभेदवज्ज्ञेयः। (२१) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः। (२२) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२३) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (२४) ततो नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (२५) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः।

(२६) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि। (२७) ततो ज्ञानावरणादिचतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२८) ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। इति।

अथ पर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे प्रकृताल्पबहुत्वम्—तत्र (१) नामगोत्रयोरबाधास्थानानि अबाधाकण्डकानि स्तोकानि परस्परं तुल्यानि च, स्थितेरल्पत्वेनावलिकाया लघुसंख्यभागगतसमयतुल्यत्वात् (२) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्याबाधास्थानानि विशेषाधिकानि,। (३) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि। (४) तत आयुषो जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (६) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (७) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (८) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका। (९) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१०) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (११) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१२) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि। (१३) तत आयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१४) तत आयुषो द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि। (१५) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि। (१६) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि। (१७) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि। (१८) ततोऽष्टकर्मणां द्विगुणहान्योरन्तरमसंख्येयगुणम्। (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम्। (२०) तत आयुषः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि। (२१) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२२) ततो नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि। (२३) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि। (२४) ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (२५) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (२६) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२७) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२८) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः (३०) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। इति।

अथाऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे—(१) नामगोत्रयोरबाधास्थानानि स्तोकानि, (२) ततो ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि,। (३) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि। (४) तत आयुषो जघन्याबाधा संख्येयगुणा, संख्येयावलिकाप्रमाणत्वात्। (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (६) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि। (७) तत आयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (८) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (९) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टबाधा विशेषाधिका। (१०) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका। (११) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१२) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (१३) ततो

मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१४) तत आयुषः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि। (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि। (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि। (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां द्विगुणहानिस्थानयोरन्तरमसंख्येयगुणम्, उक्तनियमात्। (२०) ततस्तेषामेवैकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम्, अत्रापि पूर्ववत्। (२१) ततो नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमसंख्येयभागतुल्यत्वात्। (२२) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि। (२३) ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (२४) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, संख्येयसागरोपमतुल्यत्वात्। (२५) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२६) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२७) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२८) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। इति।

अथ पर्याप्तचतुरिन्द्रियजीवभेदे प्रकृताल्पबहुत्वम्, तत्र—(१) नामगोत्रयोरबाधास्थानानि स्तोकानि, पूर्ववदावलिकासंख्येयभागतुल्यत्वात्। (२) ततो ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि। (३) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि। (४) तत आयुषो जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (६) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (७) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (८) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका। (९) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१०) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा। (११) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१२) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि। (१३) तत आयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१४) तत आयुषः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, देशोनपूर्वकोटीवर्षसमयमितत्वात्। (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि।

इतस्तु सप्तदशप्रभृतीन्येकोनत्रिंशत्तमपर्यन्तानि शेषपदान्यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदवदेव द्रष्टव्यानि, तुल्यवक्तव्यत्वादिति। पर्याप्तत्रीन्द्रियजीवभेदे पर्याप्तद्वीन्द्रियजीवभेदे च प्रकृताल्पबहुत्वमविशेषेण चतुरिन्द्रियजीवभेदवदेव द्रष्टव्यम्, स्थितिबन्धस्थानादीनां प्रमाणस्य नानात्वेऽपि तदीयाल्पबहुत्ववक्तव्यतायास्तुल्यत्वात्। इत्थमेवाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियलक्षणेषु त्रिषु जीवभेदेषु प्रकृताल्पबहुत्वान्यपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदवदभिधातव्यानि, प्रत्येकं पूर्ववत्प्रमाणनानात्वेऽप्यल्पबहुत्ववक्तव्यतायाः सदृशत्वात्। तदेवं गतानि पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-द्वीन्द्रियलक्षणेषु दशजीवभेदेषु प्रत्येकमष्टकर्मणां परस्परं स्थितिबन्ध स्थानादीनामल्पबहुत्वम्।

साम्प्रतं पर्याप्तबादरैकेन्द्रियजीवभेदे प्रकृताल्पबहुत्वं प्रदर्श्यते—(१) नामगोत्रयोरबाधास्थानानि सर्वस्तोकानि, स्थितिस्थानानामल्पत्वेनावलिकाया असंख्यभागतुल्यत्वात् । (२) ततो ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (३) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (४) तत आयुषो जघन्याबाधाऽसंख्येयगुणा । (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (६) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (७) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (९) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (११) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१२) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, साधिकसप्तवर्षसहस्रतुल्यत्वात् । (१२) तत आयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, देशोनपूर्वकोटीवर्षसमयतुल्यत्वात् । (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि । (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि । (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां द्विगुणहान्योरन्तरमसंख्येयगुणम् । (२०) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् । (२१) ततो नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (२२) ततो ज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२३) ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (२४) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । (२५) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । इति ।

अथाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियजीवभेदे प्रस्तुताल्पबहुत्वम्—तत्र (१) नामगोत्रयोरबाधास्थानानि स्तोकानि । (२) ततो ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (३) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (४) तत आयुषो जघन्याबाधाऽसंख्येयगुणा । (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (६) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (७) तत आयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (९) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यबाधा विशेषाधिका । (११) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टबाधा विशेषाधिका । (१२) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (१३) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि । (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि । (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां द्विगुणहान्यो-

रन्तरमसंख्येयगुणम् । (२०) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् । (२१) ततो नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (२२) ततो ज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२३) ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (२४) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । (२५) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक । (२७) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । इति ।

अथ पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियलक्षणयोर्द्वयोः शेषजीवभेदयोस्तु प्रस्तुताल्पबहुत्वमपर्याप्तबादरैकेन्द्रियजीवभेदवदेव द्रष्टव्यम् , तुल्यवक्तव्यत्वात् । इति । गता चतुर्दशजीवभेदेषु पृथक् पृथक् प्रकृताल्पबहुत्ववक्तव्यता ।

साम्प्रतं चतुर्दशजीवभेदानां समुदितं स्थितिबन्धस्थानाद्यल्पबहुत्वं दर्श्यते–(१) सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च स्तोकानि परस्परं तुल्यानि च । (२) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि, परस्परं तु तानि तुल्यानि । (३) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि, परस्परं तु प्राग्वत्तुल्यान्येव । (४) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि, परस्परं तु प्राग्वत्तुल्यान्येव । (५) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि, परस्परं तु प्राग्वत्तुल्यान्येव । एवमेवोत्तरत्रापि तुल्यानीति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । (६) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (७) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (८) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (९) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१०) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (११) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (१२) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१३) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि चाऽसंख्येयगुणानि । (१४) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (१५) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१६) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (१८) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१९) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य

नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२०) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (२१) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२२) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२३) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (२४) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२५) ततश्चतुरिन्द्रियाऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२६) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (२७) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२८) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (२९) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (३०) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (३१) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (३२) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (३३) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (३४)ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि (३५) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (३६) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानान्यबाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (३७) ततश्चतुर्दशजीवभेदानामायुषो जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (३८) ततश्चतुर्दशजीवभेदानामायुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (३९) ततः सप्तानामपर्याप्तानां जीवभेदानामायुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (४०) ततस्तेषामेव सप्तानामुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (४१) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (४२) ततस्तस्यैव पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (४३) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (४४) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (४५) ततो बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (४६) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (४७) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (४८) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (४९) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (५०) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (५१) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (५२) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (५३) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (५४) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (५५) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (५६) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य

ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (५७) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (५८) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (५९) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (६०) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (६१) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (६२) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (६३) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (६४) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (६५) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (६६) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (६७) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (६८) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (६९) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (७०) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (७१) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (७२) ततो द्वीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (७३) ततो द्वीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (७४) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (७५) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (७६) ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (७७) ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (७८) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (७९) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (८०) ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (८१) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८२) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८३) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (८४) ततो द्वीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (८५) ततो द्वीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८६) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८७) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (८८) ततश्चतुरिन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (८९) ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (९०) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (९१) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (९२) ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (९३) ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (९४) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (९५) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (९६) ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (९७) ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा

विशेषाधिका । (९८) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (९९) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (१००) ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (१०१) ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०२) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०३) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (१०४) ततस्तस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (१०५) ततस्तस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०६) ततस्तस्य पर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०७) ततस्तस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (१०८) ततस्तस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (१०९) ततस्तस्यापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (११०) ततस्तस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१११) ततस्तस्य पर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (११२) ततस्तस्यापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा विशेषाधिका । (११३) ततस्तस्याऽपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टबाधा विशेषाधिका । (११४) ततस्तस्य पर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (११५) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (११६) ततस्तस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (११७) ततस्तस्य पर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (११८) ततस्तस्यापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (११९) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (१२०) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (१२१) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१२२) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१२३) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (१२४) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१२५) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१२६) ततस्तस्यैवापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१२७) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्यायुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१२८) ततस्तस्यैवाऽऽयुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१२९) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्यायुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१३०) ततस्तस्यैवायुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१३१) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्यायुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१३२) ततस्तस्यैवायुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१३३) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१३४) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१३५) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरबाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (१३६) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१३७) ततस्तस्यैव मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१३८) ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१३९) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्यायुषोऽबाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (१४०) ततस्तस्यैवायुष उत्कृष्टाबाधा

विशेषाधिका। (१४१) ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिययोरायुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, परस्परं तु तानि तुल्यानि। (१४२) ततस्तयोरेवायुष उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका। (१४३) ततः शेषद्वादशजीवभेदानामायुषः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (१४४) ततस्तेषामेवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (१४५) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्यायुषो निषेकद्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि (१४६) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तान्यसंख्येयगुणानि। (१४७) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१४८) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१४९) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१५०) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१५१) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१५२) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१५३) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१५४) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि। (१५५) ततो बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१५६) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१५७) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१५८) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि। (१५९) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१६०) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१६१) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१६२) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१६३) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१६४) ततस्त्रीन्द्रियाऽपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१६५) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१६६) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१६७) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१६८) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१६९) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१७०) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्यायुषस्तानि विशेषाधिकानि। (१७१) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१७२) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१७३) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१७४) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१७५) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१७६) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि। (१७७) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि। (१७८) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि। (१७९) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि। (१८०) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि।

(१८१) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (१८२) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि विशेषाधिकानि । (१८३) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (१८४) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (१८५) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (१८६) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (१८७) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (१८८) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (१८९) ततश्चतुर्दशजीवभेदानां तत्तत्कर्मणां निषेकद्विगुणहान्योरेकमन्तरमसंख्येयगुणम् । (१९०) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमबाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् । (१९१) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्यायुषः स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (१९२) ततस्तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (१९३) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोः **स्थितिबन्धस्थानानि** असंख्येयगुणानि । (१९४) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (१९५) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (१९६) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (१९७) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (१९८) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (१९९) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२००) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२०१) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२०२) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२०३) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२०४) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२०५) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तान्यसंख्येयगुणानि । (२०६) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२०७) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२०८) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२०९) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२१०) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२११) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२१२) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२१३) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२१४) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२१५) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२१६) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२१७) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२१८) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि विशेषाधिकानि । (२१९) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२२०) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयो-

स्तानि संख्येयगुणानि । (२२१) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२२२) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२२३) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२२४) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२२५) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२२६) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि । (२२७) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेस्तानि विशेषाधिकानि । (२२८) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य तानि संख्येयगुणानि । (२२९) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२३०) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३१) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३२) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३३) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३४) ततो बादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३५) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३६) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३७) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३८) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२३९) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४०) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४१) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४२) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४३) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४४) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४५) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२४६) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः (२४७) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४८) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२४९) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियाऽपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५०) ततो बादरैकेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५१) ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५२) ततो बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५३) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२५४) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५५) ततो

द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५६) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५७) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५८) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२५९) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६०) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६१) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६२) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६३) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६४) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६५) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६६) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६७) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६८) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२६९) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७०) ततो द्वीन्द्रियाऽपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७१) ततो द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७२) ततो द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७३) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७४) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७५) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७६) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७७) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्यायुषः स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२७८) ततस्तस्यैवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२७९) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८०) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८१) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८२) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८३) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८४) ततस्त्रीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८५) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८६) ततस्त्रीन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८७) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८८) ततश्चतुरिन्द्रियाऽपर्याप्तस्य मोहनीयजघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२८९) ततश्चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२९०) ततश्चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । (२९१) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । (२९२) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया-

ऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९३) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९४) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९५) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९६) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९८) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (२९९) ततस्तस्यैव मोहनीयजघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (३००) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३०१) ततस्तस्यैव मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३०२) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३०३) ततः **संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य** नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (३०४) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३०५) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (३०६) ततः **संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तस्य** नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (३०७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः (३०८) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। (३०९) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (३१०) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३११) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि। (३१२) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३१३) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि (३१४)। ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३१५) ततः **संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य** नामगोत्रयोः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (३१६) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३१७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि। (३१८) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। (३१९) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि। (३२०) ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति ॥२९-३०-३१॥

तदेवमभिहितं प्रसङ्गात्प्रथमगुणस्थाने प्रतिजीवभेदं समुदितजीवभेदेषु च मूलप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धस्थानादिपदानामल्पबहुत्वम्। तस्मिँश्चाभिहिते समाप्तं प्रथमाधिकारचरमद्वारम्। तत्समाप्तौ च समाप्तः प्रथमोऽधिकारः ॥

इत्थमधिकारमाद्यं विवृत्य मयकाप्तसुकृतगुरुदण्डैः।
निहताः कुकर्मचौरा न विशन्तु कदाऽपि भव्यजीवगृहे ॥ (गीतिः)

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे प्रथमेऽधिकारे चतुर्थमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम्॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने-मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे प्रथमोऽधिकार ॥

॥ द्वितीयाधिकारः ॥

अथ द्वितीयोऽधिकारः, तत्र पञ्चदशानुयोगद्वाराणीति प्राक् संख्यामात्रेणाभिहितम् । साम्प्रतम-धिकारप्रारम्भे तानि नामत आविर्चिकीर्षुराह—

दुइए अहिगारे अह पंचदसदुआरगाणि ठिइमाणं ।
सामित्त–साइआई कालंतरसण्णियासा य ॥२२॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्तफोसणा कालो ।
अंतरभावऽप्पबहू इइ णेयाइं जहाकमसो ॥ २३॥

(प्रे०) "दुइए अहिगारे अह" इत्यादि, अत्र अथशब्दो व्युत्क्रमेणादौ योज्यः, ततः प्रथमाधिकारनिरूपणानन्तरं द्वितीयाधिकारे "पंचदस दुआरगाणि" त्ति प्राक् संख्यातः कथितानि पञ्चदशानुयोगद्वाराणि, नामत इमानीति वाक्यशेषः । तान्येवाह—"ठिइमाण"मित्यादिना, तत्र "ठिइमाण" ति बन्धविधानस्य प्रकृतत्वाद् बन्धमधिकृत्य स्थितेः–उक्तस्वरूपाया मानम्–प्रमाणं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नम्—"ठिइबंधो उक्कोसो पढम–दुइअ–तइअ–अट्ठमाण भवे । सागरकोडाकोडी तीसा तुरिअस्स खलु सयरी ॥" इत्यादिना यत्र प्ररूपयिष्यते तत् स्थितिमानम्, स्थितिबन्धप्रमाणद्वारमित्यर्थः ।

"सामित्त" त्ति स्वामित्वम्–बन्धकत्वेनाधिपत्यम् । स्थितिबन्धप्रमाणद्वारोक्तजघन्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धयोः स्वामिनां–बन्धकानाम्—"सागारो जागारोसु ओघउत्तो पणिंदियो सण्णी । पज्जत्तो सव्वाहि पज्जत्तीहि चउगइट्ठो ॥" इत्यादिना स्वरूपं यत्र दर्शयिष्यते तत्स्वामित्वद्वारम् ।

"साइआई" त्ति साद्यादि, जघन्योत्कृष्टतत्प्रतिपक्षस्थितिबन्धानाम्—"सत्तण्ह कम्माणं भंगा साई अणाइधुवअधुवा । चउरो अजहण्णाए ठिईअ बंधे मुणेयव्वा ॥" इत्यादिना तदीयैकस्वाम्यपेक्षया साद्यादिभावस्य यत्र चिन्तनं करिष्यते तत्साद्यादिद्वारम् । अत्रादिपदादनादि–ध्रुवा-ऽध्रुवभावानां परिग्रहो बोद्धव्यः । "कालंतरसण्णियासा" त्ति कालद्वारम्, अन्तरद्वारम्, संनिकर्षद्वारमित्यर्थः ।

तत्र कालद्वारे—"सत्तण्ह गुरूअ लहू कालो समयो गुरू मुहुत्तंतो । अगुरूअ मुहुत्तंतो लहू असंखपरिअट्टियरो ॥" इत्यादिना उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यादिचतुर्विकल्पानां स्थितिबन्धानामेक-जीवाश्रयो निरन्तरप्रवृत्त्यवधिकः कालो जघन्योत्कृष्टभेदतश्चिन्तयिष्यते ।

अन्तरद्वारे तु—"सत्तण्हुक्कोसाए ठिईअ लहुमंतरं मुहुत्तंतो । परममसंखपरट्टा अगुरूअ लहुं भवे समयो ॥" इत्यादिना तेषामेवैकजीवाश्रयोत्कृष्टादिस्थितिबन्धानां स्वनिमित्तापगमेन विरतानां भाविनि नियमेन प्रवर्तनशीलानां यो विरहकाल उत्कृष्टादिसदृशबन्धद्वयान्तराललक्षणः स एवान्तरम्, तज्जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयिष्यते ।

संनिकर्षद्वारे पुनः—"पढमस्सुक्कोसठिइं बधंतो बधगो चिञ्च हवेज्जा। छण्हं उक्कोसाए वाऽणुक्कोसाञ्च व ठिईए ॥" इत्यादिगाथाकदम्बकेन समकालप्रवर्तनेन संनिकृष्टानां–परस्परं सम्बन्धमुपगतानां ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकृतिसत्कैकजीवाश्रयस्थितिबन्धानामुत्कृष्टादिस्वरूपं प्रतिपादनीयं भवेत्। **किमुक्तं भवति**—कस्यचिदेकजीवस्य ज्ञानावरणकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने तदन्येषां कर्मणां स्थितिबन्धः प्रवर्तते न वा ?। प्रवर्तते चेद्, उत्कृष्टः प्रवर्तते, अनुत्कृष्टो वा ?। अनुत्कृष्टः प्रवर्तते चेत्, संख्येयभागेन हीनः प्रवर्तते, असंख्येयभागेन हीनो वा प्रवर्तते ? इत्यादि, इत्थमेव दर्शनावरणादिप्रकृतीरधिकृत्य जघन्यस्थितिबन्धमधिकृत्य चाऽप्रश्नपूर्वकमेव प्रदर्शयिष्यते।

"**भंगविचयो**" इत्यादिगाथा। तत्र तुकारो पूर्वापेक्षया विशेषद्योतनार्थः, तेन चानन्तराभिहितसंनिकर्षद्वारपर्यन्तानि द्वाराण्येकजीवमाश्रित्याभिधास्यन्ते, भङ्गविचयादीनि तु-पुनर्नानाजीवानाश्रित्येत्यर्थः। '**भंगविचयो**' त्ति भङ्गविचयद्वारम्। भङ्गाः-विकल्पाः, ते च मूलप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिस्थितेरेकानेकबन्धकाऽबन्धकनिष्पन्नाः कालभेदतो नानारूपेण सम्पद्यमानाः, तेषां भङ्गानां विचयः-समुहश्चिन्तनं वा भङ्गविचयः, स एव—"अट्ठण्हुक्कोसाए सिञ्चा तुरिय-छट्ठ-अट्ठमा भंगा। अट्ठम-सत्तम-तइञ्चाऽणुक्कोसाए ठिईए य ॥" इत्यादिना यत्र प्रदर्शयिष्यते तद्भङ्गविचयद्वारम्।

"**भागो**" त्ति भागद्वारम्। यत्र—"उक्कोसाञ्च ठिईए अणतभागोऽत्थि बंधगाऽट्ठण्हं। होञ्चति बंधगा खलु अणंतभागा अजेट्ठाए ॥" इत्यादिना ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकाः शेषबन्धकानामियतिथे भागे वर्तन्ते,—संख्येयतमेऽसंख्येयतमेऽनन्ततमे संख्येयतमादिबहुभागेषु वा वर्तन्ते, इत्यादि प्रदर्शनीयं भवति।

"**परिमाणं**" ति परिमाणद्वारम्। यत्र—"उक्कोसाञ्च ठिईए अट्ठण्हं बधगा असखेज्जा। हुन्ति अणुक्कोसाए ठिईञ्च उण बंधगाऽणंता ॥" इत्यादिना ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानां संख्येयाऽसंख्येयादिरूपेण परिमाणम्–संख्यामानं प्ररूपयिष्यते।

"**खेत्त**" त्ति क्षेत्रद्वारम्। यत्र—"लोगस्स असखयमे भागे होञ्चन्ति बंधगाऽट्ठण्हं। उक्कोसाञ्च ठिईएऽणुक्कोसाञ्च पुण सव्वजगे ॥" इत्यादिना ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादितत्तत्स्थितेर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयं क्षेत्रम्—कस्मिन्नप्येकसमये वर्तमानानामुत्कृष्टपरिमाणवतामाधारभूतं यल्लोकसंख्येयाऽसंख्येयभागादिरूपं तत्प्रतिपादयिष्यते।

"**फोसणा**" त्ति स्पर्शनाद्वारम्। यत्र—"फुसिञ्चा तेरह भागा सत्तण्हं बधगेहिं जेट्ठाए। परिफासिञ्च ठिईएऽणुक्कोसाए जगं सव्वं ॥" इत्यादिना प्रत्येकं मूलप्रकृतेरुत्कृष्टादितत्तत्स्थितेर्बन्धकैरनन्तेऽतीतकाले स्वस्थानमारणसमुद्घातादित इयद् रज्जु-द्विरज्जु-त्रिरज्ज्वादिप्रमाणं क्षेत्रं स्पृष्टमित्येतत्प्रकटयिष्यते।

"**कालो**" त्ति कालद्वारम्। यत्र—"सत्तण्ह बंधगाणं समयो हस्सो ठिईञ्च जेट्ठाए। पल्लाऽसंखियभागो परमो अणुरुञ्च सव्वद्धा ॥" इत्यादिना पूर्ववत् सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा-

दितत्स्थितिमधिकृत्य जघन्येतरभेदेन कालः प्ररूपयिष्यते। केवलं पूर्वं कालद्वारे एकजीवाश्रयोऽसावभिधास्यते, अत्र तु नानाजीवाश्रय इति विशेषः।

"अतर" त्ति अन्तरद्वारम्। यत्र—"अंतरमट्ठएहं लहुं जेट्ठाश्र ठिईश्र बंधगाए खणो। अंगुल-असंखभागो परमं अगुरूश्र णेव भवे॥" इत्यादिगाथाकदम्बकेन ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टादि-चतुर्विकल्पानामपि स्थितिबन्धानां प्रत्येकमधिकृत्य नानाजीवाश्रयं स्थितिबन्धद्वयान्तराललक्षणं बन्धक-विरहकालप्रमाणमन्तरं जघन्येतरभेदतः कथयिष्यते।

"भाव" त्ति भावद्वारम्। यत्र—"अठ्ठएहं कम्माए चउव्विहाए वि ठिईए भावेणं। ओदइ एए बंधो॥" इत्यादिनाधिकृतोत्कृष्ट-जघन्यादिस्थितिबन्ध औपशमिकादिभावानां मध्ये केन भावेन निर्वर्त्यत इत्येतत्प्ररूपयिष्यते।

"प्पबहु" त्ति प्राकृतवशेनाऽकारस्य लुप्तत्वात् निर्देशस्य भावप्रधानत्वाच्चाल्पबहुत्वद्वारम्। यत्र—"उक्कोसाश्र ठिईए अठ्ठएहं बंधगा मुणेयव्वा। सव्वत्थोवा तत्तोऽणुक्कोसाए अणंतगुणा॥" इत्यादिगाथासमुहेन स्थितेर्बन्धकपरिमाणस्य बन्धप्रमाणस्य चेत्येवं मुख्यतया द्विविधमल्पबहुत्वं प्रतिपादयिष्यते, अवान्तरभेदतस्तु तत्र नानाविधान्यल्पबहुत्वानि दर्शयिष्यन्ते, तद्यथा—(१) उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धरूपपदद्वयापेक्षया, (२) जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धरूपपदद्वयापेक्षया, तथा (३) उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धरूपपदत्रयापेक्षयाऽष्टानामपि कर्मणां प्रत्येकमित्येवं त्रिविधानि बन्धकाल्पबहुत्वानि। स्थितिबन्धप्रमाणस्य तु मूलाष्टकर्मणां स्वस्थान-परस्थानभेदाद्द्विधाऽल्पबहुत्वचिन्ता, तत्र स्वस्थाने (४) उत्कृष्ट-जघन्यपदद्वयमपेक्ष्यैकमल्पबहुत्वम्, परस्थाने तु त्रीणि, तद्यथा—(५) आद्यं केवलमुत्कृष्टपदमधिकृत्य, (६) द्वितीयं केवलजघन्यपदमपेक्ष्य, (७) तृतीयं पुनर्जघन्योत्कृष्टपदद्वयं प्रतीत्येति। "इइ" त्ति इति, स च द्वितीयाधिकारगतानुयोगद्वारनामप्रदर्शनसमाप्तौ। नन्वेतानि द्वाराणि केन क्रमेण प्ररूपणाविषयीकरिष्यन्त इत्याशंक्याह—"णेयाइं जहाकमसो" त्ति यथाक्रमशः-यथोक्तक्रमेण, आदौ स्थितिबन्धप्रमाणम्, ततः स्वामित्वमित्येवं मूलोक्तक्रमेण ज्ञातव्यानीत्यर्थः, मूलोक्तक्रमेणैतेषु द्वारेषु स्थितिबन्धप्रमाणादीनां प्ररूपणं करिष्यत इति भावः। इदन्तु बोध्यम्—प्रत्येकं द्वारे ओघत आदेशतश्च द्विधा प्ररूपणं करिष्यते, तत्रापि स्थितिबन्धप्रमाण-स्वामित्वादि-कतिपयद्वारेषूत्कृष्ट-जघन्यस्थितिबन्धरूपपदद्वयमपेक्ष्य, साद्यादि-काला-ऽन्तरादिकतिपयद्वारेषु तूत्कृष्ट-जघन्य-तदितरस्थितिबन्धात्मकपदचतुष्टयमधिकृत्येति ॥३२।३३॥

॥ अथ स्थितिबन्धप्रमाणद्वारम् ॥

अथ प्रथमतः स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे स्थितिबन्धप्रमाणमभिधातव्यम्। तच्चोत्कृष्टजघन्य-भेदाद्द्विविधम्। तत्र कालत्रयेऽपि केनापि जीवेन यतोऽधिका स्थितिर्न बध्यते तस्याः स्थितेर्बन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्ध उच्यते। एवं कालत्रयेऽपि केनापि जीवेन यतः स्तोका स्थितिर्न बध्यते तस्याः स्थितेर्बन्धो जघन्यस्थितिबन्ध उच्यते, केवलमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य वा प्रमाणं तु तस्या उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्बन्धकाले येषां बध्यमानकर्मदलिकानां सर्वचरमस्थितौ निषेको

भवति तेषामवस्थानकालेयत्तामपेक्ष्य प्रदर्श्यते, न तु तदन्येषां द्विचरम-त्रिचरमादिस्थितिषु निषिक्त-दलिकानामियत्तामपेक्ष्य । इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले त्रिसहस्रवर्ष-प्रमाणामबाधां विवर्ज्यानन्तरसमयप्रभृतिषु निरन्तरास्वसंख्येयवर्षप्रमाणस्थितिषु प्रत्येकं यथोत्तरं कर्म दलिकानां विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण निषेको भवति । उक्तं च प्राग् निषेकद्वारे—"चउदसविह्जीवेसुं अट्ठण्ह भवे दलं सगमबाहं । मोत्तूण पढमसमये बहुं कमित्तो विसेसूणं ॥ १२ ॥" इति ॥

तत्र यश्चरमनिषेकस्तस्य यावती स्थितिस्तामपेक्ष्योघतो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाण-मुच्यते । एवं ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धकालेऽप्यन्तर्मुहूर्तात्मिकां जघन्यामबाधां विवर्ज्य तदनन्तरसमयात्प्रारभ्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्थितिषु प्रत्येकं यथोत्तरं विशेषहीनक्रमेण कर्मदलिकानां निषेको भवति, तत्र यश्चरमनिषेकस्तदीयस्थित्यपेक्षया जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमुच्यते । एवमेव ज्ञाना-वरणस्य मध्यमस्थितिबन्धप्रमाणविषये, दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टादिस्थितिबन्धप्रमाणविषये चाव-सातव्यम् । इदमपि चरमनिषेकाधीनायाः स्थितेः प्रमाणं बन्धसमयप्रभृतिकं सत् कर्मरूपतावस्थान-लक्षणस्थितिबन्धप्रमाणमुच्यते, यदा तु तदबाधाऽनन्तरप्रथमनिषेकप्रभृतिकं गण्यते तदाऽनुभवयोग्य-स्थितिबन्धप्रमाणमुच्यते । कुतः ? अबाधाकाले बन्धतः प्राप्तस्थितिकानां दलिकानां करणान्तरस्य साहाय्यमन्तरेणाननुभवात् । कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्य प्रमाणं बन्धसमयप्रभृतिकचरम-निषेकपर्यन्तमितिकृत्वा वक्ष्यमाणं ज्ञानावरणादीनां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणं भवति । अनुभवयोग्यस्थितिबन्धस्य तु तदबाधाकालेन हीनं भवति । उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ श्रीमन्मल-यगिरिसूरिपादैः—"अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना" इति । प्रकृते कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थिति-बन्धोऽधिकृतः, स चोक्तनीत्याऽबाधानिषेकोभयरूपः, बन्धसमयप्रभृतिचरमनिषेकपर्यन्तत्वात्तस्य, अत उत्कृष्टजघन्यभेदभिन्नं प्रमाणमपि तदुभयापेक्षया दिदर्शयिषुरादौ तावदबाधा-कर्मदलनिषेकप्रमाणविषयं नियममभिदधाति—

सागरकोडाकोडी बंधो सत्तण्ह जत्तिआऽबाहा ।
तावइआ च्च सयसमा तदूणियो कम्मणिसेगो ॥ ३४ ॥

(प्रे०) "**सागरकोडाकोडी**" इत्यादि "**सत्तण्ह**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**बन्धो**" त्ति प्रकृतत्वात् स्थितिबन्धः "**जत्तिआ**" त्ति यावत्यः । का इत्याह—"**सागरकोडा-कोडी**" त्ति "भीमो भीमसेन" इति न्यायात् 'सागरकोटीकोट्यः'—सागरोपमाणां कोटीकोट्य इत्यर्थः । बध्यन्त इति शेषः । "**बाहा तावइआच्च सयसमा**" त्ति लुप्ताकारस्य दर्शनादबाधा तावत्यः शतसमा एव, । उक्तं च पञ्चसंग्रहमलयगिरीयवृत्तौ—"येषां च कर्मणां यावत्य सागरो-पमकोटीकोट्यस्तेषां तावन्ति वर्षशतान्यबाधाकालः" इति । "**तदूणियो कम्मणिसेगो**" त्ति तयाऽबाधया ऊनः शेषस्थितिबन्धप्रमाणः कर्मनिषेको भवति । कुतः ? अबाधायां कर्मनिषेकाभावादिति । उक्तं च शतकभाष्ये—"होइ अबाहाकालो जो किर कम्मस्स अणुदयकालो । कम्मठिइ अबाहूणा कम्मनिसेगो

त्ति कम्माणं" ॥४२॥ इति । अयमत्राभिप्रायः—ज्ञानावरणादीनां वक्ष्यमाणस्थितिबन्धप्रमाणे प्रत्येकमियत्यबाधाऽबाधोनस्थितिषु कर्मदलनिषेकश्चेत्येतदग्रे पार्थक्येन न वक्ष्यते, अतस्तत्र प्रकृतनियमानुसारेणेयत्यबाधा, अबाधावर्जस्थितिषु कर्मदलनिषेक इत्येतत् स्वयमेव योजनीयमिति ॥ ३४ ॥

तदेवमुक्तः सागरोपमकोटीकोटीतदधिकस्थितिबन्धेष्वबाधाकर्मदलनिषेकविषयो नियमः । साम्प्रतं ततो न्यूनस्थितिबन्धविषयं तं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह अबाहा खलु ठिइबंधा अंतकोडिकोडीए ।
सगलहुठिइबंधं जा सव्वह हवए मुहूत्तंतो ॥ ३५ ॥

(प्रे०) "सत्तण्ह अबाहा" इत्यादि, अत्र खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् व्युत्क्रमेण "मुहूत्तंतो" इत्यस्योत्तरं योजनाच्चायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुक्तस्वरूपाऽबाधा मुहूर्तान्तः-अन्तमुहूर्तमेव भवतीति परेणान्वयः । सप्तानां कियति स्थितिबन्धे सत्यबाधाऽन्तमुहूर्तमेव भवतीत्याह—"ठिइबंधा अंतकोडिकोडीए" इत्यादि, सागरोपमाणामन्तःकोटीकोटीप्रमाणात्स्थितिबन्धादारभ्य यावज्ज्ञानावरणादीनां सप्तानां स्वकीयस्वकीयजघन्यस्थितिबन्धस्तावत्सर्वत्रेत्यर्थः । अन्तःकोटीकोटीसागरोपमगतसर्वस्थितिबन्धविकल्पेष्वन्तमुहूर्तप्रमाणस्थितिषु कर्मदलनिषेको न भवत्यतोऽन्तमुहूर्तं विना शेषकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेको वाच्य इति भावः ॥ ३५ ॥

अथाऽऽयुष उत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाण एव, तर्हि तत्राबाधायाः को नियमः ? इति जिज्ञासायामाह—

आउस्स जाणियव्वो ठिइबंधो चेव कम्मणिसेगो ।
जेट्ठाऽबाहा पुव्वा कोडितिभागो लहू मुहुत्तंतो ॥ ३६ ॥

(प्रे०) "आउस्स जाणियव्वो" इत्यादि, आयुःकर्मणो यावान्स्थितिबन्धो वक्ष्यते तावानन्तमुहूर्तादिप्रमाणः कर्मदलनिषेको ज्ञातव्य इत्यर्थः । कुतः ? यत आयुषोऽबाधाऽऽयुर्दलनिषेकस्याऽनधीना, ततः सा पृथगभिधास्यते । अनधीनाऽपि सा उत्कृष्टतो जघन्यतश्च कियती भवतीत्याह—"जेट्ठाऽबाहा पुव्वा कोडितिभागो" इत्यादि, उत्कृष्टाबाधा एकस्याः कोटेस्त्रिभागः-तृतीयभागः पूर्वाणि, पूर्वकोटीतृतीयभागप्रमाणा भवतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—पृथक् पृथग्भवबद्धयोर्यद्वा वेद्यमानाऽवेद्यमानयोरायुषोः परस्परं संक्रमाभावात् सर्वदा तयोः पार्थक्यमेव, किञ्चाबाधा वेद्यमानायुरवशेषरूपा, बध्यमानायुस्तूत्तरभवसत्कम्, एवं सत्यायुषो निषेकाऽबाधे शेषकर्मनिषेकाबाधापेक्षया विलक्षणेऽनियते च, अनैयत्यं तु तत्र उत्कृष्टायामनुत्कृष्टायां वाऽबाधायामुत्कृष्टस्याऽनुत्कृष्टस्य वाऽऽयुर्बन्धस्यापि भावात् । तद्यथा—पारभविकायुर्बन्धो वेद्यमानायुश्चरमे तृतीयभागे नवमभागे सप्तविंशतितमभागे एवं त्रिभागत्रिभागकरणप्रकारेण चरमैकाशीतितमादिभागे वेदयितुमारब्धे सति क्रियते । किमुक्तं भवति—वेद्यमानायुषश्चरमे तृतीयभागे वेदयितुमनारब्धे न केनाऽपि जीवेन परभवायुर्बन्धः

प्रारभ्यते, न च भवचरमतृतीयभागे वेदयितुं प्रारब्धे सर्वैरपि जीवैरायुर्बन्धः प्रारभ्यत एव, किन्तु कैश्चिज्जीवैरेव प्रारभ्यते, यैस्तु तदाऽऽयुर्बन्धो न प्रारभ्यते तैर्भवनवमभागे वेद्यमाने आयुर्बन्धः प्रारभ्यते, तदापि पारभविकायुर्बन्धो नारब्धश्चेद् भवसप्तविंशतितमे भागे वेदयितुमारब्धे सति पारभविकायुर्बन्धः प्रारभ्यते, एवमवशिष्टायुस्तृतीयतृतीयभागप्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्भवचरमान्तर्मुहूर्ते आयुर्बन्धे कृते जघन्याबाधाऽवशिष्टा भवति। अनया नीत्योत्कृष्टाऽप्यबाधा भवतृतीयभागप्रमाणा प्राप्यते, सा पूर्वकोटीवर्षायुष्कानां मनुष्याणां तिरश्चां वा वेद्यमानायुस्तृतीयभागमपेक्ष्य प्रकृते पूर्वकोटीतृतीयभाग-प्रमाणा दर्शितेति। न चानुत्तरविमानवासिनां सप्तमपृथिवीनैरयिकानां वा भवस्थितेः सर्वदीर्घत्वात् तदपेक्षयोत्कृष्टाऽबाधा द्रष्टव्या भवतीति वाच्यम्। असंख्येयवर्षायुषां तिर्यग्मनुष्याणामिव सर्वेषां देवनारकाणामपि निरुपक्रमायुष्कत्वेन षण्मासेऽनवशेषे स्वीयवेधमानायुषि पारभविकायुर्बन्धो न जायते, इत्थं चोत्कृष्टस्थितिकदेवनारकापेक्षया उत्कृष्टस्थितिकतिर्यग्मनुष्यापेक्षया चोत्कृष्टाऽबाधा षण्मा-सात्मिका एव प्राप्यते न पुनरधिका। उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ—"निरुपक्रमायुषाम्—अनपवर्तनीया-युषां देवनारकाणामसंख्येयवर्षायुषां च तिर्यग्मनुष्याणां परभवायुषो बन्धकानां परभवायुषोऽबाधा षण्मासा-षण्मासप्रमाणा॥" इति। ननु मा भवत्वसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यग्मनुष्यापेक्षया देवनारकापेक्षया वा उक्ताधिकाऽबाधा, पूर्वकोटिवर्षादधिकभवस्थितिकान् संख्येयवर्षायुष्कान् तिर्यग्मनुष्यान् समाश्रित्य तु सा पूर्वकोटित्रिभागादधिका भवेत्? इति चेद्, न, तेषामप्यसंख्येयवर्षायुष्केषु प्रविष्टत्वात्। कथम्? तथैवागमेषु परिभाषणात्। उक्तं च श्रीमदभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गवृत्तौ—"इहासंख्यातवर्षा-युर्जघन्यस्थितिक. प्रक्रान्त, स च सातिरेकपूर्वकोट्यायुर्भवति, तथैवागमे व्यवहृतत्वात्" इति। इत्थं च पूर्वकोट्यधिकसंख्येयवर्षायुषामपि पल्योपमासंख्येयभागाद्यसंख्येयवर्षायुषां जीवानामिव षण्मासेऽनवशेषे स्वायुषि पारभविकायुर्बन्धस्याऽसम्भवः, ततश्च तानपेक्ष्योक्ताधिकाबाधाया अप्यसम्भव एव। यत्पुनः पञ्चसंग्रहे—"पलियासंखेज्जंसं जुगलधम्मीण वयंतन्ने॥४१॥" इत्यनेन मतान्तरेण युग्मिनां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणेऽवशेषे स्वायुषि पारभविकायुर्बन्धोऽभिहितः, सत्वत्र नाधिकृत इति। "लहू मुहुत्ततो" त्ति लघुः-जघन्याऽबाधा तु मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तम्, कुतः? पूर्वमबद्धायुष्कैर्जीवैर-संक्षेप्याद्धाप्रवेशप्रथमसमयादेवायुर्बन्धस्य नियमेन करणात्, असंक्षेप्याद्धाया भवचरमान्तर्मुहूर्तात्मक-त्वाच्च। न चैवं सत्यन्तर्मुहूर्तं यावत्प्रवर्तमान आयुषः स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तात्मिकया असंक्षेप्याद्धया समं निष्ठां गच्छेत्, इत्थं चोभयोर्भवचरमसमये समाप्तिभावे वेद्यमानायुषोऽवशेषरूपाऽबाधा सर्वथैव न लभ्येतेति वाच्यम्। अन्तर्मुहूर्तस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वेनाऽसंक्षेप्याद्धाप्रमाणान्तर्मुहूर्ते आयुर्बन्धा-द्धायास्तदनन्तरभाविजघन्याबाधायाश्चेत्येवमन्तर्मुहूर्तद्वयस्यापि सुखेन समावेशादन्तर्मुहूर्तशेषे वेद्य-मानायुषि पारभविकायुर्बन्धसमाप्त्या वेद्यमानायुरवशेषरूपाऽबाधाऽपि सुखेन लभ्येतेति न कश्चिद्दोष इति। इत्येवं प्रागुक्तनीत्या भिन्न-भिन्नभवसम्बन्धिन्यावायुषो निषेकाबाधे पृथक्पृथग्भवतः। भण्य-माने स्थितिबन्धप्रमाणे मार्गणास्थानेष्वायुष अबाधा तु भिन्नभिन्नप्रमाणा भवति, सा च कर्मरूपता-

वस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्य प्रमाणाभिधानेन न गम्येतेतिकृत्वाऽबाधावर्जस्थितेरेव प्रमाणं वक्ष्यते, अबाधा च पृथग् वक्ष्यते, तथापि कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्य स्थितिबन्धस्य वक्तुं प्रक्रान्तत्वात् तदपेक्षयैव स्वामित्वादिद्वारेषु स्वाम्यादीनां प्ररूपणीयत्वाच्चायुष उत्कृष्टं स्थितिबन्धप्रमाणमुत्कृष्टाबाधां प्रक्षेप्य स्वयमेवानेतव्यम् । एवमेवाऽऽयुषो जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमपि जघन्याबाधा प्रक्षेप्यानेतव्यम् । यावच्च लभ्येत तावत्प्रमाणमपेक्ष्य स्वामित्वादिप्ररूपणमुपपादनीयं चेति ॥३६॥

तदेवमुक्तो ग्रन्थलाघवार्थं पृथगेवाष्टकर्मणामबाधानिषेकप्रमाणनियमः । साम्प्रतमुत्कृष्टजघन्यभेदभिन्नं प्रमाणं द्रष्टव्यम्, तदप्योघतः—सामान्येन सर्वं स्थितिबन्धकजीवराशिमाश्रित्य, तथाऽऽदेशतः-प्रकृतिबन्धवन्निरयगत्याद्यनाहारिपर्यन्तासु मूलोत्तरभेदभिन्नासु मार्गणासु मार्गणागतस्थितिबन्धकजीवराशिमपेक्ष्य प्रदर्श्यते, तत्रादावुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमभिधित्सुरोघत आह—

ठिइबंधो उक्कोसो पढम–दुइअ–तइअ–अट्ठमाण भवे ।
सागरकोडाकोडी तीसा तुरिअस्स खलु सयरी ॥ ३७ ॥
आउस्स गुरू णेयो ठिइबंधो सागराणि तेत्तीसा ।
वीसा कोडाकोडी जलहीणं नामगोआणं ॥ ३८ ॥

(प्रे०) "ठिइबंधो उक्कोसो" इत्यादि, उत्कृस्वरूपः स्थितिबन्धो भवेदिति परेण योगः । कीदृशः ? "उक्कोसो" त्ति उत्कृष्टः-उत्कृष्टपदपतितः, न पुनर्जघन्यः, तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति । उत्कृष्टस्थितिबन्धः केषां कर्मणां कियांश्च भवेदित्याह—'पढमदुइअ" इत्यादि, अत्र प्रथमद्वितीयेत्यादिना ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय–मोहनीया–ऽऽयु–र्नाम–गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानि प्रकृतिबन्धग्रन्थे उक्तनिरुक्तान्यष्टौ मूलकर्माणि क्रमेण गृह्यन्ते । कस्मादेतेन क्रमेण प्रथमादिना ज्ञानावरणादीन्येव गृह्यन्ते ? एतेन क्रमेण तेषां सहेतुकप्रसिद्धेः । उक्तं च चान्यत्रैतेषां दर्शितक्रमोपपत्तिः—

"इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतम, तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात; चेतनालक्षणो हि जीव, तत स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत ? ; ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानम्, तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविचारसन्ततिप्रवृत्तेः । अपि च—सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायन्ते, न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य, "सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स, नो अणागारोवओगोवउत्तस्स" इति वचनप्रामाण्यात् । अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीवः सञ्जायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव, न दर्शनोपयोगोपयुक्तः, दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमये भावात्, ततो ज्ञानम् प्रधानम्, तदावारकं च ज्ञानावरणं कर्म, ततस्तत् प्रथममुक्तम् तदनन्तरं च दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात् । एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवत । तथाहि—ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूरिलोकः, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञयाऽभिजानानो बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते, तथाऽतिनिबिडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसन्दोहं वचनगोचरातिक्रान्तम्, दर्शनावरणक्षयोपशमपटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो

यथावद् वस्तुनिकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयतेऽमन्दमानन्दसन्दोहम्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणम्। वेदनीयं च सुखदुःखे जनयति, अभीष्टानभीष्टविषयसम्बन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तर मोहनीयग्रहणम्। मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भ-परिग्रहप्रभृतिकर्मादानामक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति, ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम्। नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति, तत आयुरनन्तरं नामग्रहणम्। नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यम्, अतो नामग्रहणानन्तर गोत्रग्रहणम्। गोत्रोदये चोच्चैःकुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्, नीचैःकुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदय, नीचजातीनां तथादर्शनात्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणम्॥" इति।

इत्थं च व्यवस्थिते क्रमे "पढमदुइअतइअअट्ठमाण" त्ति प्रथमस्य ज्ञानावरणस्य, द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य, तृतीयस्य वेदनीयकर्मणोऽष्टमस्याऽन्तरायकर्मणश्चेत्येतेषां चतुर्णां प्रत्येकमुत्कृष्टः स्थितिबन्धः 'सागरकोडाकोडी तीसा" त्ति प्रागवत् सागरपदात् सागरोपमेति गम्यमाने त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य इत्यर्थः। "तुरिअस्स खलु सयरी" त्ति तुर्यस्य मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्ततिः, सागरोपमकोटीकोट्य इत्यनुवर्तते। खलुशब्दस्तु वाक्यालङ्कारे। अथ पञ्चमस्याह—"आउस्स" इत्यादिना, आयुःकर्मणो गुरुः-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः "सागराणि तेत्तीसा" त्ति पूर्ववत्पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सागरोपमाणि त्रयस्त्रिंशत्, ज्ञेय इति पूर्वेण योगः; अयं ह्यायुषः स्थितिबन्धोऽनुभवयोग्यतामपेक्ष्य बोद्धव्यः, कर्मरूपतावस्थानलक्षणाधिकृतस्थितिबन्धप्रमाणमानयनाय तु तत्रोत्कृष्टाऽबाधाऽधिकतया प्रक्षेप्येति। अथ शेषयोर्द्वयोर्मूलकर्मणोराह—'वीसा कोडाकोडी" त्ति नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकमुत्कृष्टः स्थितिबन्धो विंशतिर्जलधीनां-सागरोपमाणां कोटीकोट्य इति। अत्र ह्यनन्तरोक्तनियमानुसारेणाऽबाधानिषेकौ स्वयमेव योज्यौ। तद्यथा—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उक्ताऽस्तत्र त्रीणि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः। मोहनीयकर्मणस्तूत्कृष्टस्थितिबन्धः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोट्यस्ततस्तत्र सप्तवर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः। आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि तथाऽपि "आउस्स जाणियव्वो ठिइबंधो चेव कम्मणिसेगो" इति वचनात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि य उत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्प्रमाणः कर्मनिषेकः। अबाधा तर्हि कियती? उत्कृष्टा, उत्कृष्टस्थितिबन्धे उत्कृष्टाऽबाधाया ग्राह्यत्वात्, सा तु "जेट्ठाबाहा पुव्वा कोडितिभागो" इति वचनात् पूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणा बोद्धव्येति। अयमेवायुष उत्कृष्टः स्थितिबन्धः कर्मरूपतावस्थानापेक्षया पूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तत्र पूर्वकोटीतृतीयभागोऽबाधा, अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मनिषेक इति प्रकारान्तरेणाऽपि वक्तुं युज्यते, नवरमत्रोक्तविवक्षयाऽसौ तथा नाभिहित इति। नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो दर्शितस्ततस्तत्र द्वे वर्षसहस्रे ऽबाधा, अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मनिषेको भवति। उक्तं च शतकचूर्णौ—

"णाणावरणीयदंसणावरणीयवेयणीयअंतराइगाणं एएसिं चउण्हं कम्माणं उक्कोसतो ठिइबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिन्नि वाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिआ कम्मठिई कम्मणिसेगो। मोहणिज्जस्स कम्मस्सुक्कोसो ठितिबंधो सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ, सत्तवाससहस्साणि अबाधा, अबाहूणिआ कम्मठिती कम्मणिसेगो। णामगोत्ताणं उक्कोसओ ठिइबंधो वीसं सागरोवमकोडाकोडिओ, बेवाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगो। आउगस्स उक्कोसओ ठितीबंधो तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडीतिभागब्भहियाणि, पुव्वकोडितिभागो अबाहा, अबाहए विणा कम्मट्ठिई कम्मणिसेगो ॥५२॥५३॥" इति।

इत्थमेवानन्तरवक्ष्यमाणमार्गणास्थानेषूत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धविषये सप्तानामबाधावर्जशेषस्थितिषु तथाऽऽयुषः सर्वस्थितिषु कर्मदलनिषेकः स्वयमेव द्रष्टव्य इति ॥३७॥३८॥

तदेवमुक्तं मौलानामष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमोघतः। साम्प्रतमादेशतो व्याजिहीर्पुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदितस–आणताईसुं।
आहारदुगम्मि विउवमीस–उरलमीस–कम्मेसुं ॥ ३९ ॥
चउणाण–संयमेसुं समइअ–छेअ–परिहार–देसेसुं।
ओहि–सुइल–सम्मेसुं खाइअ–वेअग–उवसमेसुं ॥ ४० ॥
सासायण–मीसेसुं तहऽणाहारम्मि होइ सत्तण्हं।
अंतोकोडाकोडी अयरा उक्कोसठिइबंधो ॥ ४१ ॥

(प्रे०) "असमत्तपणिंदि" इत्यादि, तत्राऽपर्याप्ताऽपरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तमनुष्यभेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे चेत्यर्थः, तथा "आणताईसुं" ति आनतकल्पादिषु सर्वार्थसिद्धविमानपर्यन्तेषु द्वादशसु देवगतिसत्कमार्गणाभेदेषु, तथा "आहारदुगम्मि" त्ति आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्यद् द्विकं तस्मिन्नाहारकद्विके, आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां चेत्यर्थः। तथा 'विउवमीसउरलमीसकम्मेसुं" ति वैक्रियमिश्रकाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगरूपासु तिसृषु मार्गणासु, तथा "चउणाणसंयमेसुं" ति केवलज्ञानवर्जेषु चतुर्षु मत्यादिज्ञानमार्गणाभेदेषु संयमौघमार्गणायां चेत्यर्थः। "समइअछेअपरिहारदेसेसुं" ति सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम–देशसंयममार्गणासु, तथा "ओहिसुइलसम्मेसुं" ति अवधिज्ञानस्य-प्राग् मत्यादिज्ञानचतुष्के गृहितत्वाद् "ओहि" इत्यनेनावधिदर्शनमार्गणा गृह्यते, ततोऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघमार्गणासु, तथा "खाइअवेअगउवसमेसुं" ति क्षायिकसम्यक्त्व-वेदक-सम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु "सासायणमीसेसुं" ति सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोः, गाथायां बहुवचननिर्देशस्तु प्राकृतत्वाद्बोद्धव्यः, यतः प्राकृतलक्षणे द्विवचनेऽपि बहुवचनमेव प्रयुज्यते, यथा "हत्था पाया" इति। "तहऽणाहारम्मि" त्ति तथाशब्दः समुच्चये, "णाहारम्मि" इत्यत्राऽकारस्य

दर्शनादनाहारे, अनाहारकमार्गणायामित्यर्थः । एतासु समुदितास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिपञ्च-चत्वारिंशन्मार्गणासु किमित्याह—"होइ सत्तण्ह"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामुत्कृष्ट-स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोट्यः "अयरा" त्ति अतिमहत्त्वादुदधिवत्तरितुमचिरात्पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराः, सागरोपमाणीत्यर्थः । ननु कस्मादेतासु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टोऽपि स्थिति-बन्धोऽन्तःकोटिकोटीसागरोपमाण्येव भवति, न पुनरोघोत्कृष्टः ? इति चेद्, उच्यते,—संज्ञिपर्याप्त-जीवान् विवर्ज्य न केषाञ्चिदपि जीवानामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, संज्ञिपर्याप्तानामपि मिथ्या-त्वोदयादिसामग्रीसद्भावेऽसौ जायते, नान्यथा । वक्ष्यते चात्रैव ग्रन्थे स्वामित्वद्वारे ओघोत्कृष्टस्थिति-बन्धस्वामिनः प्रदर्शयता ग्रन्थकृता यत्—

"सागारो जागारो सुओवउत्तो पणिंदियो सण्णी । पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं चउगइट्ठो ।। ७७ ।।
मिच्छादिट्ठी उ परमसंकेसेणीसिमज्झिमेणं वा । परिणामेणं बंधइ सत्तण्ह ठिइ उ उक्कोसं ।। ७८ ।।" इति ।

किञ्च सासादनाद्यपूर्वकरणान्तगुणस्थानगतानां पर्याप्तानामपर्याप्तानां वा जीवानां मूलसप्त-प्रकृतिसत्क उत्कृष्टो जघन्यो वा स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमेभ्योऽधिको हीनो वा नैव जायते । उक्तं च नव्यशतके देवेन्द्रसूरिपादैः—"साणाइअपुव्वंते अयरंतोकोडिकोडीउ नऽहिगो । बन्धो न हु हीणो" इति । ननु सासादनमार्गणायामेकेन्द्रियादीनामपि प्रवेशात् कथं जघन्योऽपि स्थिति-बन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाण्येव ? इति चेत्, सत्यमेतत्, नवरं स्वल्पकालिनोऽसौ इति कयाचि-द्विवक्षयोपेक्षितः सम्भाव्यते । उक्तं च तट्टीकायामपि—"केवलं कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेतिसंभावयामि" इति । न चैतावन्मात्रं, किं तर्हि ? शुक्ललेश्याकानामपि जीवानां तथाविधसंक्लेशाभावेन सप्तानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमेभ्योऽधिको नैव जायते । इत्थं हि प्रकृते कासुचिदपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु मिथ्यादृष्टिसंज्ञिजीवानां प्रवेशेऽपि तेषामपर्याप्तत्वात्सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि लभ्यते, आनत-कल्पादिदेवगतिभेदेषु शुक्ललेश्यामार्गणायां च पर्याप्तमिथ्यादृष्टिसंज्ञिजीवानां प्रवेशेऽपि तेषां शुक्ल-लेश्यत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि यथोक्त एव लभ्यते, आहारककाययोगादिशेषमार्गणाभेदेषु तु मिथ्या-दृष्टिवर्जानां सासादनाद्यप्रमत्तान्तान्यतमगुणस्थानकवर्तिनां जीवानां प्रवेशाद् यथोक्तोऽन्तःकोटीकोटी-सागरोपमप्रमाण एव स्थितिबन्ध उत्कृष्टतोऽपि प्राप्यत इति ।। ३९।४०।४१।।

अथैकेन्द्रियादिमार्गणासु सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धमानं दर्शयन्नाह—

मोहगुरुट्ठिइभत्तो सत्तण्हं ओहजेट्ठठिइबंधो ।
सो जेट्ठो सव्वेसुं एगिंदिय–पंचकायभेएसुं ।। ४२ ।। (गीतिः)
स हयो पणवीसाए पण्णासाए सयेण सहसेणं ।
सत्तण्ह गुरू कमसो समत्थविगलेसु अमणम्मि ।। ४३ ।।

(प्रे०) "मोहगुरुट्ठिइभत्तो" इत्यादि, मोहनीयकर्मणो 'गुर्व्या'-उत्कृष्टया स्थित्या भक्तः, सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणेनौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धेन विभक्त इत्यर्थः। उक्तमोहनीयोत्कृष्टस्थित्या विभक्तः कः ? इत्याह—"सत्तण्हं ओहजेट्ठठिइबंधो" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां यस्त्रिंशत्कोटीकोटी-सागरोपमाद्यौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धः सः इत्यर्थः। सः विभक्तः सन् कः भवेदित्याह—"सो जेट्ठो" इत्यादि, सः विभक्तः सन्नेकेन्द्रियजातिसत्का ये एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रियौघ-बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय-बादरापर्याप्तैकेन्द्रिय-सूक्ष्मैकेन्द्रियोघ सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रिय-सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियलक्षणाः सप्तमार्गणाभेदाः, एवं पृथिव्यादिवायुकायान्तानां प्रत्येकं सप्त सप्त, तथा पञ्चमस्य वनस्पतिकायस्यौघ-प्रत्येकौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-साधारणौघ-बादरसाधारणौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मसाधारणौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-लक्षणा ये एकादश भेदा एतेषु सर्वेषु ज्ञानावरणादीनां सप्तानां 'ज्येष्ठः'–उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवेत्। "स हयो" त्ति स एव मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या विभक्तो ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो 'हतः'–ताडितः सन्, "सत्तण्ह गुरू" त्ति ज्ञानावरणादीनां प्रकृतानां सप्तानां 'गुरुः'–उत्कृष्टः, स्थितिबन्ध इति परेणान्वयः, भवेदिति पूर्वतो योज्यम्। केन हतः सन् कासु मार्गणासु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्ट-स्थितिबन्धो भवेदित्याह–"पणवीसाए" इत्यादि, "कमसो समत्थविगलेसु" इत्यादि च, उक्त-प्रक्रियाऽऽनीत एकेन्द्रियपृथिव्यादिमार्गणागतजीवानां यो ज्ञानावरणादिसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धः स पञ्चविंशत्या हतः सन् "कमसो" इति वचनाद् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-जातिरूपभेदत्रयात्मक-स्य विकलेन्द्रियस्य यः प्रथमभेदो द्वीन्द्रियजातिस्वरूपस्तस्य 'समस्तेषु'–ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-लक्षणेषु सर्वेषु भेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धो भवेत्। पञ्चाशता हतः–ताडितस्तु सः क्रमप्राप्तद्वितीयभेदस्य त्रीन्द्रियजातिलक्षणस्य समस्तेषु भेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धो भवेत्। इत्थमेव शतेन ताडितः स चतुरिन्द्रिय-जातिसत्कसमस्तभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवेत्। सहस्रेण ताडितस्त्वसंज्ञिमार्गणाभेदे प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धो भवेदित्यर्थः। इयमत्र भावना–ओघतो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्त-रायकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाण उक्तः, तस्य सप्ततिसागरोपम-कोटीकोटीप्रमाणेन मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धेन भागे ह्रियमाणे "शून्यं शून्येन पातयेत्" इति नियमाल्लब्धास्त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः ($\frac{3}{7}$ सागरोपम०), एतावानेकेन्द्रियजाति–पृथिव्यादि-पञ्चकायसत्कभेदेषु ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति। मोहनीयस्योत्कृष्टस्थिति-बन्ध ओघतः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणोऽभिहितः, तस्य तावन्मात्रया मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या भागे ह्रियमाणे उक्तनियमात् शून्येषु पातितेषु लब्ध एकः सागरोपमः (१ सागरोप०), एतावानै-केन्द्रियादिप्रकृतमार्गणासु मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते। इत्थमेवौघतो नामगोत्रयोः प्रत्येकं यो विंशतिकोटिकोटिसागरोपमप्रमाण उत्कृष्टस्थितिबन्ध उदितस्तस्मान् मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या भागे हृते, लब्धौ सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ ($\frac{2}{7}$ सागरोप०), एतावान् प्रकृतमार्गणासु नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽस्तीति।

इदमेव ज्ञानावरणादीनामेकेन्द्रियादिमार्गणासत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं पञ्चविंशत्या ताडितं सद् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं भवति। तद्यथा—एकेन्द्रियौघादिमार्गणासु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धो यः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः प्राप्तास्तस्मिन् पञ्चविंशत्या ताडिते जाताः ($\frac{3}{7}\times२५=\frac{७५}{७}$) सागरोपमस्य पञ्चसप्ततिः ; सप्तभागाः ; एतावान् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते। इत्थमेवैकेन्द्रियसत्कमोहनीयस्थितिबन्धे पञ्चविंशत्या ताडिते (१×२५=२५) पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि प्राप्तानि, एतावान् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति। एकेन्द्रियसत्कनामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धे पञ्चविंशत्या गुणिते प्राप्ताः ($\frac{2}{7}\times२५=\frac{५०}{७}$) सागरोपमस्य पञ्चाशत् सप्तमभागाः, एतावद् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धमानम्।

इत्थमेवैकेन्द्रियमार्गणासत्के ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धे पञ्चाशता हते त्रीन्द्रियजातिसत्कमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं प्राप्यते। तद्यथा—त्रीन्द्रियजातिसत्कमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धमानं पञ्चाशत् शतं च सागरोपमसप्तभागाः ($\frac{१५०}{७}$ सागरोप०)। मोहनीयस्य पञ्चाशत् सागरोपमाणि (५० सागरोपम०)। नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं तु सागरोपमस्य शतसप्तमभागा ($\frac{१००}{७}$ सागरोपम०) इति। चतुरिन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमानयनायैकेन्द्रियसत्को ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धः शतेन गुणितव्यस्ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं सागरोपमस्य त्रिशतानि सप्तमभागा लभ्यते ($\frac{३००}{७}$ सागरोप०)। मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः शतसागरोपमप्रमाणः प्राप्यते, (१०० सागरोपम०)। नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं तु द्विशतसागरोपमसप्तमभागा अवाप्यते ($\frac{२००}{७}$ सागरोप०)। असंज्ञिमार्गणायां त्वेकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे सहस्रेण ताडिते ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो लभ्यते, स च ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां प्रत्येकं त्रिसहस्राणि सागरोपमसप्तमभागाः ($\frac{३०००}{७}$ सागरोप०)। मोहनीयस्य सम्पूर्णानि सहस्रसागरोपमाणि (१००० सागरोपमाणि)। नामगोत्रयोस्तु प्रत्येकं सहस्रद्वयं सागरोपमसप्तमभागा ($\frac{२०००}{७}$ सागरोप०) इति ॥४२।४३॥

इत्थं हि लाघवार्थमेकेन्द्रियोघादिसमुदितमार्गणाभेदेषु युगपदुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणेऽभिहिते कतिपयमार्गणासु याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्दिधीर्षुरपवदन्नाह—

णवरं णेयो बायरअसमत्तेगिंदि–सव्वसुहमेसुं।
बायरअपज्जपुढवाइचउग–पत्तेअवण–णिगोएसुं ॥४४॥ (गीतिः)

पलिओवमस्स हीणो भागेण असंखियेण उक्कोसो ।
संखसेणं हीणो पलियस्स अपज्जविगलेसुं ॥४५॥

(प्रे०) "णवरं णेयो" इत्यादिगाथाद्वयम्, नवरं-परमेकेन्द्रियाद्युक्तमार्गणाभेदेष्वपि "बायर-असमत्तेगिंदि" त्ति बादरापर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणाभेदे, तथा "सव्वसुहुमेसुं" ति ओघपर्याप्ताऽपर्याप्त-भेदभिन्नेषु सर्वेष्वेकेन्द्रियपृथिव्यादिसत्केषु सूक्ष्मैकेन्द्रियोघाद्यष्टादशमार्गणाभेदेषु, तथा "बायरअपज्ज-पुहवाइचउग" त्ति बादरापर्याप्तपृथिवीकाय-बादरापर्याप्ताप्काय-बादरापर्याप्ततेजस्काय-बादरापर्याप्तवायु-कायमार्गणालक्षणा ये बादरापर्याप्तपृथिव्यादिचतुर्भेदास्तेष्वित्यर्थः । तथा "पत्तेअवणणिगोएसुं" ति "बायरअपज्ज" इत्यस्यात्रापि योजनाद् बादरापर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाभेदे बादरापर्याप्त-निगोदभेदे चेत्यर्थः । अत्र प्रत्येकवनस्पतिकायपक्षे बादरेति विशेषणं स्वरूपदर्शकमेवावसातव्यम्, निगोदेत्यनेन साधारणवनस्पतिकायभेदश्च ग्राह्यः । एवमुत्तरत्रापि प्रकरणवशादविरोधेन समन्वयो द्रष्टव्य इति । एतेषु बादरापर्याप्तैकेन्द्रियादिपञ्चविंशतिमार्गणाभेदेषु "पलिओवमस्स हीणो भागेण असंखियेण उक्कोसो" त्ति मोहनीयोत्कृष्टस्थितिभागहरणप्रक्रिययाऽऽनीतो ज्ञानावरणादीनां सागरो-पमस्य त्रिसप्तभागादिप्रमाणः स्थितिबन्धोऽपि पल्योपमस्याऽसंख्येयेन भागेन हीनः सन्नुत्कृष्टस्थिति-बन्धो ज्ञेय इति पूर्वेण योगः । इयमत्र भावना—एकेन्द्रियादिभिन्नभिन्नजातीयजीवानां प्रायोग्यो य उत्कृष्टस्थितिबन्धः स पर्याप्तबादरजीवैरेव क्रियते, न त्वपर्याप्तैः सूक्ष्मैर्वा । इत्थं च बादरापर्याप्तै-केन्द्रियादिप्रकृतपञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं बादरपर्याप्तजीवानामसमावेशेन तास्वसाववपोद्य पल्योपमा-ऽसंख्येयभागेन न्यूनोऽभिहितः, तथा च सति प्रकृतपञ्चविंशतिमार्गणासु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागेनोनाः सागरोपमस्य त्रिसप्तभागा उत्कृष्टस्थिति-बन्धो ज्ञातव्यः । मोहनीयस्य पल्योपमासंख्येयभागेनोनं सागरोपममुत्कृष्टस्थितिबन्धो बोद्धव्यः । नामगोत्रयोरप्येवमेव सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागेनोनौ उत्कृष्टतोऽपि द्रष्टव्य इति । एकेन्द्रिय-पृथिव्यादिसत्केष्वोघ-बादरौघ-बादरपर्याप्तभेदेषु तूक्तकरणेन यथा प्राप्तस्तथैव सागरोपमस्य त्र्यादिसप्तभागाः सम्पूर्णा एव बोद्धव्य इति । अन्यत्र द्वीन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु यत्र पर्याप्तजीवानाम-प्रवेशस्तत्राऽप्यपवदति—"संखसेणं हीणो" इत्यादि, "अपज्जविगलेसु" त्ति अपर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्त-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियलक्षणेसु त्रिषु मार्गणाभेदेषु पञ्चविंशत्यादिगुणनप्रकारेणाऽऽनितः स्थिति-बन्धः पल्योपमसंख्येयभागेन हीनः सन्नुत्कृष्टो ज्ञेय इति पूर्वतोऽनुवर्तत इति । सुगमम् ॥४४।४५॥

अथ कयाऽपि मार्गणयाऽसाम्यमितिकृत्वाऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः पृथक् पृथग् व्याजिहीर्षुरादावपगतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए घाईणं संखसहस्सवरिसाऽत्थि संखसमा ।
मोहस्स अघाईणं असंखियसमो पलियभागो ॥४६॥

(प्रे०) "गयवेए घाईण" मित्यादि, अपगतवेदमार्गणायाम् "घाईणं" ति मोहनीयस्य वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां प्रत्येकं "संखसहस्सवरिसाऽत्थि" त्ति संख्येयानि वर्षसहस्राण्युत्कृष्टस्थितिबन्धोऽस्ति। "संखसमा" त्ति संख्येयाः समाः—वर्षाणि "मोहस्स" त्ति मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि। ततः 'अघाईणं" ति सप्तानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य वक्तुं प्रक्रान्तत्वाद् वेदनीय-नाम-गोत्र-लक्षणानां त्रयाणामघातिकर्मणाम् "असंखिययमो पलियभागो" त्ति असंख्येयतमः पल्योपमभागः, पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाण उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यर्थः। इति ॥४६॥ अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रदर्शयन् लाघवार्थं शेषमार्गणास्वतिदिशंश्चाह—

सुहुमे कमा पुहुत्तं मुहुत्त-मासाण घाइ-इयराणं ।
अहव दिण-समाण कमा पुहत्तमोघव्व सेसासु ॥४७॥

(प्रे०) "सुहुमे कमा पुहुत्त"मित्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां क्रमात् "पुहुत्तं मुहुत्तमासाण" त्ति मुहूर्तानां पृथक्त्वं मासानां पृथक्त्वं चेत्यर्थः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इति गम्यते। केषां कर्मणां क्रमात् मुहूर्तपृथक्त्वं मासपृथक्त्वं चोत्कृष्टस्थितिबन्धः ? इत्याह—"घाइइयराण"मिति सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां तदितरेषां वेदनीय-नाम-गोत्र-लक्षणानां त्रयाणामघातिनां च, त्रयाणां घातिनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो मुहूर्तपृथक्त्वम्, त्रयाणामघातिनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु मासपृथक्त्वमित्यर्थः। अत्रैव विकल्पान्तरं दर्शयितुमाह—'अहव दिणसमाण कमा पुहुत्तं" ति अथवैतेषां त्रयाणां घातिनां त्रयाणामघातिनां च क्रमाद्दिनानां समानां च पृथक्त्वम्, त्रयाणां घातिनां दिवसपृथक्त्वमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रयाणामघातिनां तु वर्षपृथक्त्वमुत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यर्थः। "मोघव्व सेसासु" त्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिवर्जासूक्तशेषासु नरकगत्यादिसप्तषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवानां प्रवेशात् प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्ध ओघवद् भवतीत्यर्थः। उक्तशेषमार्गणा नामत इमाः—नरकगत्योघभेदः, घर्मादिपृथिवीभेदेन सप्तोत्तरभेदाः, इत्थं नरकगतिसत्का अष्टौ भेदाः, तिर्यग्गत्योघभेदसहिताः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीरूपाश्चत्वारो भेदाः, मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपास्त्रयो भेदाः, देवगत्योघभेदः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता अन्ये एकादशेति देवगतिसत्का द्वादशभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदौ, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदौ, मनोयोगसामान्यभेदः, सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृषामनोयोगरूपाश्चत्वार उत्तरभेदाश्च, एवं वचनयोगसामान्य-सत्यवचनयोगा-ऽसत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोग-व्यवहारवचनयोगभेदात् पञ्च वचनयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगरूपास्त्रयः काययोगभेदाः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकाख्या-

स्त्रयो वेदमार्गणाभेदाः, तथैव क्रोधादिकषायभेदाश्चत्वारः कषायमार्गणाभेदाः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानरूपास्त्रयोऽज्ञानभेदाः, असंयममार्गणाभेदः, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनभेदौ, शुक्ललेश्यावर्जाः कृष्णादिपञ्चलेश्यामार्गणाभेदाः, भव्या-ऽभव्यमार्गणे, मिथ्यात्वमार्गणा, संज्ञिमार्गणा-ऽऽहारिमार्गणा चेति ।

ननु प्रस्तुतबन्धविधानग्रन्थप्रारम्भे ग्रन्थकृताऽऽदेशतो नरकगत्यादिचतुःसप्तत्युत्तरशत-मार्गणासु प्रकृत्यादिबन्धचतुष्टयं प्ररूपणीयत्वेन प्रतिज्ञातं, तथैव प्रकृतिबन्धे प्ररूपितं च, अत्रापि तथैव नीत्या चतुःसप्तत्युत्तरशतमार्गणासु प्ररूपितव्यं, तथा च सत्यनन्तरं पृथक् पृथगभिहिता अपर्याप्ततिर्यगादित्र्युत्तरशतमार्गणाः संत्यज्य शेषा एकसप्ततिमार्गणाः शेषमार्गणात्वेन द्रष्टव्या भवन्ति, तत्कथमकषाय-केवलज्ञानादिमार्गणा अपि शेषमार्गणासु न सङ्गृहीताः ? इति चेद्, उच्यते–सर्वा प्ररूपणा सत्पदप्ररूपणापूर्विका कर्तव्या भवति, अन्यथा वस्तुनः सत्त्वा-ऽसत्त्वनिर्णयाभावे किमश्वघटादिवत् सतः स्थितिबन्धस्य प्रमाण-स्वामित्वादिकं प्ररूप्यते, उताकाशकेशवदसतः कल्पना-शील्पिविनिर्मितस्येति संदोहदोलादोलायितविद्वज्जनमनसस्तर्पणं न स्यात्, ततः स्थितिबन्धेऽपि प्रकृतिबन्धवदादौ सामान्येन मार्गणास्थानेषु च सा सत्पदप्ररूपणाऽवश्यं कर्तव्या, किन्तु सुगमत्वात् सा ग्रन्थकृता पृथग् न दर्शिता, तथाऽपि यदा प्रकृतिबन्धवत् स्थितिबन्धोऽपि सत्पदप्ररूपणाविषयी-क्रियते तदा यथा प्रकृतिबन्धे आयुर्बन्धो वैक्रियमिश्रकाययोगाद्येकादशमार्गणावर्जासु शेषमार्गणास्वेव सन् प्राप्तः, न पुनर्वैक्रियमिश्रकाययोगादिमार्गणास्वपि, ततश्च यथा तत्र स्वामित्वादिद्वारेषु वैक्रिय-मिश्रकाययोगादिमार्गणा अधिकृत्यायुषः स्वाम्यादिचिन्ता न कृता, अर्थात् ता वैक्रियमिश्रकाय-योगाद्येकादशमार्गणा आयुर्बन्धविषयचिन्तायां न परिगणितास्तथा कषायोदयप्रत्ययो मूलाष्टकर्मसत्क-स्थितिबन्धोऽपि कषायोदयविरहितास्वकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंयम-केवलदर्शनरूपासु चतसृषु-मार्गणासु न सँल्लभ्यते, इत्थं हि तत्र मार्गणाचतुष्के स्थितिबन्धस्यासत्त्वात् स्थितिबन्धप्रमाण-स्वाम्या-दीनामप्यसम्भव एव, तत एव ताश्चतस्रो मार्गणा मूलत एव न परिगणिताः, उक्तनीत्यैवायुषः स्थितिबन्धे वैक्रियमिश्रकाययोगाद्येकादशमार्गणा न गणयिष्यन्ते च, प्रकृतिबन्धाविना-भावित्वात्स्थितिबन्धस्य । वैक्रियमिश्रकाययोगाद्येकादशमार्गणास्वायुर्बन्धाऽसत्त्वं तु प्राक् प्रकृतिबन्धे आवेदितमेवेत्यलं विस्तरेण ॥४७॥

तदेवं दर्शितं सप्तानां मूलकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमादेशतोऽपि । साम्प्रतमुक्तशेषस्या-ऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं मार्गणास्थानेषु प्ररूपयितुकाम आह—

आउस्स खलु अबाहा सव्वेसु णिरय–सुरेसु विउवे य ।
उक्कोसा छम्मासा उरालमीसे मुहुत्तंतो ॥४८॥
जेट्ठभवठिइतिभागो एगिंदिय-–विगल-–पंचकायेसुं ।
सव्वेसुं सेसेसुं असमत्तेसुं मुणेयव्वा ॥४९॥

(प्रे०) "आउस्स खलु" इत्यादि, आयुषो वेद्यमानायुरवशेषरूपाऽबाधा खलु ज्ञातव्या इति द्वितीयगाथाप्रान्तेऽन्वयः। केषु मार्गणाभेदेषु कियतीत्याह–"सव्वेसु णिरयसुरेसु" इत्यादि, सर्वेषु निरयगतिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु, "विउव्वे य" त्ति वैक्रियकाययोगमार्गणाभेदे चेत्येतेष्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "उक्कोसा छम्मासा" त्ति उत्कृष्टा षण्मासाः। कुतः? देवनैरयिकैर्वेद्यमानायुषि षण्मासेऽनवशेषे पारभविकायुर्बन्धस्याऽकरणात्। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"देवनेरइयअसंखेज्जवासाउयतिरियमणुयाणं आउगस्स अबाहा छम्मासा उक्कोसा भवति।।" इति।।

"उरालमीसे मुहुत्तंतो" त्ति औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाभेदे 'मुहूर्तान्तः'–अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टाबाधा इत्यनुवर्तते। कुतोऽन्तर्मुहूर्तम्? उच्यते, औदारिकमिश्रकाययोग्यवस्थायां ह्यायुषो बन्धका लब्ध्यपर्याप्ता जीवा एव, ते चान्तर्मुहूर्तस्थितिकाः, तथा च सति प्रागुक्तनीत्या भवतृतीयभागावशेषे आयुर्बन्धकरणेऽपि तेषामुत्कृष्टाऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तमेवावाप्यते, न पुनस्तदधिका। लब्ध्यपर्याप्तवर्जानां त्वौदारिकमिश्रकाययोग्यवस्थायामायुर्बन्ध एव न भवति, इत्थं हि प्रकृतमार्गणायामायुष उत्कृष्टाऽप्यबाधाऽन्तर्मुहूर्तमेवोक्तेति। "जेट्ठभवठिइतिभागो" त्ति मार्गणागतजीवेषु यस्य कस्यापि या ज्येष्ठा-उत्कृष्टा 'भवस्थितिः'-वेद्यमानायुर्मानम्, तस्या ज्येष्ठभवस्थितेस्त्रिभागः-तृतीयभागः, उत्कृष्टाबाधा इति प्राग्वद् योज्यम्। केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—"एगिंदियविगलपणकायेसु सव्वेसुं" इत्यादि, एकेन्द्रिय–विकलेन्द्रिय–पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायभेदेषु सर्वेषु, एतेषामेकेन्द्रियादीनामोघ-सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तादिभेदनिष्पन्ना ये पञ्चपञ्चाशद् भेदास्तेषु मूलोत्तरभेदरूपेषु सर्वेष्वित्यर्थः। उक्तं च पञ्चसंग्रहे उत्कृष्टमबाधामानं दर्शयता ग्रन्थकृता—"इगविगलाणं भवट्ठिइंसो" इति। अन्यमार्गणा भेदान् संग्रहीतुमाह—"सेसेसुं असमत्तेसुं" ति अनन्तरगृहीतैकेन्द्रियादिभेदेष्वप्रविष्टा ये शेषा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणाश्चत्वारोऽपर्याप्तभेदास्तेष्वित्यर्थः। इदमुक्तं भवति—देवनिरयवर्जानां संख्येयवर्षायुषां तिर्यङ्मनुष्याणां वेद्यमानायुषश्चरमे तृतीये भागे वेदयितुमनारब्धे पारभविकायुर्बन्धो नैव भवतीत्यादि प्रागस्मिन्नेव प्रकरणे प्रसङ्गाद् व्याख्यातम्, ततश्चेयमेकेन्द्रियादीनां ज्येष्ठभवस्थितितृतीयभागप्रमाणोत्कृष्टाऽबाधा सुखेन गम्यते, तथाहि—एतास्वेकेन्द्रियोघाद्येकोनषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमस्ति संख्येयवर्षायुषां तिरश्चां मनुष्याणां वा समावेशः, तत्रापि पृथिवीकायौघभेद-बादरपृथिवीकायौघ-पर्याप्तबादरपृथिवीकायभेदेषु द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकानां पर्याप्तखरबादरपृथिवीकायजीवानां समावेशादुत्कृष्टाऽबाधा द्वाविंशतिवर्षसहस्रतृतीयभागप्रमाणा लभ्यते। अपर्याप्तबादरपृथिवीकायभेदे तु सा तावती न लभ्यते, कुतः? तस्मिन् तेषामुत्कृष्टस्थितिकानां पर्याप्तखरबादरपृथिवीकायजीवानामप्रवेशात्। तर्हि तस्मिन् कियती लभ्यते? अन्तर्मुहूर्तमात्रा। कस्माद्? उच्यते,–अपर्याप्ततयाऽत्र लब्ध्यपर्याप्ता इष्यन्ते, ते चोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तस्थितिका एव भवन्ति, ततोऽबाधाऽपि तदीयभवतृतीयभागप्रमाणाऽन्तर्मुहूर्तमात्रा भवति। इत्थमेव पृथिव्यादिसत्केषु सर्वाऽपर्याप्तभेदेषु, सर्वसूक्ष्मजीवभेदेषु, सर्वेषु साधारण-

वनस्पतिकायभेदेषु च प्रत्येकमायुष उत्कृष्टाऽप्यबाधाऽन्तर्मुहूर्तमात्रा भावनीया, अन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात् तेषां सर्वेषाम् । तदन्यभेदेषु तूत्कृष्टस्थितिकाप्कायादिजीवानां प्रवेशात् तदीयोत्कृष्टभवस्थित्यनुसारेण सा बोद्धव्या । पृथिवीकायाप्कायादीनामुत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शिका गाथा त्वियम् —

बावीससगतिदसवाससहस्सगणितिदिण वेइंदियाइसु ।
बारसवासुणपणदिणछम्मासतिपलिय ठिई जिट्ठा ॥२५६॥ इति ।

विशेषतस्तु प्रतिमार्गणमुत्कृष्टभवस्थितिः प्राक्प्रकृतिबन्धप्रथमाधिकारान्तद्वारेऽभिहिता इति तत एव द्रष्टव्या इति ॥४८।४६॥

तदेवं निरयगत्यादिनवनवतिमार्गणास्वायुष उत्कृष्टामबाधामभिधाय तास्वेवाऽऽयुषोऽनुभव-योग्यतालक्षणस्थितिबन्धप्रमाणमाह—

एआसु पुव्वकोडी ठिइबंधो आउगस्स उक्कोसो ।

(प्रे०) "एआसु पुव्वकोडी" इत्यादि, एतास्वनन्तरोक्तासु निरयगत्योघादिनवनवतिमार्गणासु प्रत्येकमायुरेवायुष्कस्तस्याऽऽयुष्कस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः "पुव्वकोडी" त्ति पूर्वकोटीवर्षप्रमाणः, भवतीति शेषः । तत्र पूर्वप्रमाणं त्वन्यत्रेत्थमभिहितम्—"पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु वासकोडी लक्खाओ । छप्पन्न च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥२६२॥" इति ॥

अथोक्तशेषासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रस्तुतमायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं दिदर्शयिषुरादौ तास्वबाधामानं दर्शयति—

सेसासु पुव्वाणं कोडितिभागो गुरुअबाहा ॥५०॥

(प्रे०) "सेसासु पुव्वाण" मित्यादि, अभिहितशेषासु वक्ष्यमाणस्थितिबन्धप्रमाणासु तिर्यग्ग-त्योघादिमार्गणासु प्रत्येकं "पुव्वाणं कोडितिभागो गुरुअबाहा" त्ति बध्यमानपारभविकायुषो वेद्यमानायुरवशेषरूपा दलनिषेकाऽयोग्यकाललक्षणा गुरुरबाधा पूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणा भवतीत्यर्थः । अयम्भावः—एतासु शेषमार्गणासु प्रत्येकं प्रविष्टैः पूर्वकोटीवर्षायुष्मद्भिस्तिर्यग्भिर्मनुष्यैर्वा यदा वेद्यमानायुषोर्द्वयोस्त्रिभागयोर्निष्क्रान्तयोस्तृतीयभागप्रारम्भे पारभविकायुर्बन्धः क्रियते तदा प्रकृतोत्कृष्टा-ऽबाधा लभ्यत इति ॥५०॥

एतासु शेषमार्गणासु कर्मदलनिषेकरूपोऽनुभवयोग्यतालक्षणस्थितिबन्धस्तद्युत्कृष्टतः कियान् भवतीत्यत्राह—

परिहारे कालगओ उप्पज्जइ जेट्ठओ सहस्सारे ।
इइ भगवईअ भणियं बिंति परे जलहितेत्तीसा ॥५१॥
ठिइबंधो उक्कोसो अयरा आउस्स णीलकाऊसु ।
दस तिण्णि कमा अण्णे भणन्ति सत्तरह सत्त पुणो ॥५२॥

तेउ–पउमासु अयरा दो अट्ठारह कमा मुणेयव्वा ।
होइ दुवीसा जलही तिरिक्खजोणिमइ–देसेसुं ॥५३॥
जलहीण एगतीसा सासाणे जेट्ठगो असण्णिम्मि ।
पलियासंखियभागो सेसासुं जलहितेत्तीसा ॥५४॥

(प्रे०) "परिहारे" इत्यादिगाथाचतुष्कम्, "परिहारे" त्ति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम् "कालगओ" त्ति कालगतः—मृत्युमितः परिहारविशुद्धिकसंयतः 'उप्पज्जइ जेट्ठओ सहस्सारे' त्ति ज्येष्ठतः–उत्कृष्टतः सहस्राराख्येऽष्टमकल्पे उत्पद्यते, न पुनस्ततः परतः, यतो देवलोके उत्पद्यमानस्य परिहारविशुद्धिकस्योत्कृष्टतः स्थितिर्भगवत्यामष्टादश सागरोपमाण्यभिहिता । तथा च तद्ग्रन्थः—"परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं" इति ।

ततः किम् ? ततो भगवत्यभिप्रायेण परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽष्टादशसागरोपमाणि सम्भवति, न पुनस्तदधिक इति । अत्र महाबन्धकाराभिप्रायमाह—"बिंति परे" इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां परे–महाबन्धकारा जलधयः—सागरोपमाणि त्रयस्त्रिंशदुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवतीति ब्रुवन्ति इति । "अयरा आउस्स" त्ति 'ठिइबंधो उक्कोसो' इत्येतत्पदद्वयमत्रापि सम्बध्यते, ततः प्रकृतस्याऽऽयुषोऽबाधायाः पृथगभिहितत्वात्तया हीनोऽनुभवयोग्यतालक्षणः स्थितिबन्ध उत्कृष्टतोऽतराः–सागरोपमाणि, भवन्तीति शेषः । कस्यां कस्यां मार्गणायां कियन्ति कियन्ति सागरोपमाणीत्याह—"णीलकाऊसु" मित्यादि, नील-कापोतलेश्यामार्गणयोः 'दस तिण्णि कमा" त्ति क्रमाद् दश सागरोपमाणि त्रीणि सागरोपमाणि चेत्यर्थः । एतानि च मूलेऽनुक्तान्यपि साधिकानि बोद्धव्यानि । कस्मात् ? नीललेश्यामार्गणायामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः साधिकानि दशसागरोपमाणि जायत इतिकृत्वा । अत्र योऽधिकांशः स पल्योपमासंख्येयभागमात्रो ग्रन्थकृता लाघवार्थं नाभिहितस्तथाऽप्ययं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायेन व्याख्यानाद् बोद्धव्यो भवति । तदुपपत्तिस्त्वेवम्—नीललेश्यायामुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धका मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा भवन्ति, एतच्चाग्रे स्वामित्वद्वारे वक्ष्यते ग्रन्थकृतैव । ते च नीललेश्याका मनुष्यतिर्यञ्च उत्कृष्टस्थितिकमायुर्निरयसत्कं बध्नन्ति, तत्प्रायोग्यमायुर्बध्नन्त एते तिर्यङ्मनुष्याः पल्योपमासङ्ख्यभागेनाधिकदशसागरोपमेभ्योऽधिकां स्थितिं न बध्नन्ति । कुतः ? तदधिकस्थितिकनरकायुर्बन्धस्य कृष्णलेश्यायां भावात् । एतदपि कुतः ? तदधिकायुषां नारकाणां कृष्णलेश्यत्वात् । उक्तं च द्रव्यलोकप्रकाशे पञ्चमपृथिवीवर्णनायाम्—"केषांचिदाद्यप्रतरे नारकाणां भवेदिह । नीललेश्या यदुत्कृष्टादप्यस्या स्थितिराहिता ॥२५८॥ पल्योपमासंख्यभागाधिका दशपयोधय । ततोऽधिकस्थितीनां तु तेषां कृष्णैव केवलम् ॥२५९॥" युग्ममिति ।

इत्थमेव कापोतलेश्यामार्गणायामपि मूलोक्तस्थितिबन्धः साधिको द्रष्टव्यः, कुतः ? कापोतलेश्याकनैरयिकाणामुत्कृष्टस्थितेः साधिकत्रिसागरोपमप्रमाणत्वात् । उक्तं चोत्तराध्ययनसूत्रे—"दस वाससहस्साइं काऊए ठिई जहन्निया होइ । तिण्णुदही पलियोवमासंखभागं च उक्कोसा ॥४१॥" इति लेश्याध्ययने ।

अत्रैव मार्गणाद्वये मतान्तरेण प्रस्तुतस्थितिबन्धप्रमाणमाह—"अण्णे भणन्ति" इत्यादि, अन्ये केचनाऽऽचार्याः पुनरधिकृतमार्गणाद्वये क्रमात् सप्तदश सप्त च सागरोपमाण्यायुष उत्कृष्टः स्थितिबन्ध इति भणन्तीत्यर्थः। अयम्भावः–पूर्वमतेनाधःपञ्चमपृथिव्याः प्रथमे प्रतरे केषाञ्चिन्नारकाणां नीललेश्याऽभिमता, न पुनस्ततोऽधस्तनप्रस्तटेऽपि, मतान्तरेण तु पञ्चमपृथिव्याश्चरमे प्रतरेऽपि केषाञ्चिन्नारकाणां नीललेश्याऽङ्गीकृता, तत्र च चरमे प्रतरे नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिः सप्तदश सागरोपमाणीतिकृत्वा नीललेश्यामार्गणायामुत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धकाः सप्तदशसागरोपमप्रमाणां स्थितिं निर्वर्तयन्ति। यथा नीललेश्यायां तथा कापोतलेश्यायामप्यायुष उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सप्तसागरोपमाणि तृतीयपृथिव्याश्चरमप्रस्तटेऽपि कापोतलेश्याकनैरयिकाणां सद्भावमङ्गीकर्तुर्मतेन बोद्धव्यः। तत्त्वं त्वतीन्द्रियार्थवेदिगम्यमिति। "तेउपउमासु"त्ति तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां च "अयरा दो अट्ठारह कमा" त्ति प्राग्वद् द्वे सागरोपमे, अष्टादश सागरोपमाणि चाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो ज्ञातव्यः। अत्रापि—"दस वाससहस्साइं तेउए ठिई जहन्निया होइ। दुण्णुदुही पलियोवमसंखभागं च उक्कोस्सा ॥५३॥" इत्यादिवचनात् तेजोलेश्यामार्गणायां मूलोक्तमायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणं पल्योपमासंख्यभागेनाधिकं द्रष्टव्यम्। पद्मलेश्यामार्गणायां तु पद्मलेश्याकदेवानामुत्कृष्टायुरष्टादशसागरोपमप्रमाणापेक्षया प्राग्वद्भावनीयम्।

ननु "जोइसकप्पदुगे तेऊ कप्पतिय पम्हलेसा लताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा" इत्यादिवचनात् पञ्चमब्रह्मदेवलोककल्पादूर्ध्वं न सन्ति पद्मलेश्याकदेवाः, ब्रह्मदेवलोके च देवानामुत्कृष्टमप्यायुर्दशसागरोपमप्रमाणमस्ति, तत्कथं पद्मलेश्याकदेवानामुत्कृष्टायुरष्टादश सागरोपमाणीति सङ्गच्छेत्? इति चेद्, उच्यते, सत्यम्, यदुक्तं भवता "जोइसकप्पदुगे तेऊ कप्पतिय पम्हलेसे"त्यादि, नवरं तस्यैवायमपि मतान्तरो दृश्यते यदष्टमकल्पान्तानां पद्मलेश्याऽस्तीति, कथमन्यथा बन्धस्वामित्वोक्तम्—"उज्जोअचउनिरयबार विणु सुक्का विणुनिरयबार पम्हे"त्यादि सङ्गच्छेद्, यतस्तत्र शुक्ललेश्यामार्गणायामुद्योतादिप्रकृतयो बन्धविषयत्वेन प्रतिसिद्धाः, तासां तिर्यङ्नरकप्रायोग्यत्वात्, पद्मलेश्यामार्गणायां तु निरयद्वादशकं बन्धविषयतया निषिद्धम्, न तूद्योतचतुष्कम्, तस्य तिर्यक्प्रायोग्यत्वात्। उक्तं च तट्टीकायाम्—"विंशत्युत्तरशतमध्यादुद्योतादिचतुष्कं नरकादिद्वादशकं च मुक्त्वा शेषं चतुरुत्तरशतमोघत. शुक्ललेश्यायां बध्यते, उद्योतादिप्रकृतीनां तिर्यङ्नरकप्रयोग्यत्वेन देवनरकप्रयोग्यबन्धकैः शुक्ललेश्यावद्भिरबध्यमानत्वात्" तथा "विंशत्युत्तरशतमध्यान्नरकत्रिकादिप्रकृतिद्वादशकं विना शेषमष्टोत्तरशतं पद्मलेश्यायामोघतो बध्यते, तल्लेश्यावतां सनत्कुमारादिदेवानां तिर्यक्प्रायोग्यबध्नतामुद्योतादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धसम्भवान्नात्र तद्बन्धाभावः" इत्यादि। तथा च सत्यर्थाभिषिद्धं शुक्लेश्याकानां तिर्यग्गतिगमनं नरकगतिगमनं च, पद्मलेश्यावतां तु नरकगतिगमनमेव निषिद्धम्, न तु तिर्यग्गतिगमनमपि। इत्थं हि व्यवस्थितः पद्मलेश्यावतां तिर्यग्गतिप्रायोग्यस्य तिर्यगायुषोऽपि बन्धः, शुक्ललेश्यावतां तु नेति। एवं च स्थिते ब्रह्मदेवलोकपर्यन्तानां देवानामेव पद्मलेश्या, न तु तदुपरितनकल्पवासिनामित्येक एव मतस्तदाऽऽनत-

प्रभृतिविमानवासिनां मनुष्येष्वेवोत्पादः, सनत्कुमारकल्पादिसहस्रारकल्पान्तानां सुराणां तु तिर्यग्गता-वपीति सिद्धान्तः कथं सङ्गच्छेद् ; अभिमतं चैतदपि, यत उक्तमन्यत्र—"जंति सुरा संखाउय-गब्भयपज्जत्तमणुयतिरिएसु। पज्जत्तेसु य बायर-भू-दग-पत्तेयगवणेसु ॥ तत्थवि सणकुमारपभिइ एगिंदिएसु नो जंति। आणयपमुहा चविउं मणुएसु चेव गच्छंति ॥" इति ॥ न च कुत्रचिच्छुक्ललेश्यावतां तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धनिषेधानुसारेण ब्रह्मकल्पादुपरितनवर्तिविमानवासिनां तिर्यग्गतिगमनप्रतिषेधः कृतो दृश्यते, अत एव ज्ञायते यल्लान्तक-शुक्र-सहस्रारकल्पवासिनां पद्मलेश्या मतान्तरेणाभिमता विद्यते, इत्थं च मतविशेषेणायं ग्रन्थः, नातः पद्मलेश्यायामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽष्टादशसागरोपमप्रमाण इत्यत्र कश्चिद्विरोधः, उत्तरत्रापि "पउमाअ तहेव णवरि तइआइगअट्ठमंतसुरो" इत्यनेन वक्ष्यमाणाः पद्मलेश्यामार्गणायां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः सहस्रारान्ता मिथ्यादृष्टयो देवा इत्यादिषु चेति भावितं यथामति, तत्त्वं पुनः बहुश्रुतगम्यमिति न केनापि मतिमताऽऽग्रहो विधेय इति। अथ प्रकृतमेवोच्यते—"होइ दुवीसा जलही तिरिक्खजोणिमइ-देसेसुं" ति आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां देशसंयममार्गणायां च प्रत्येकं द्वाविंशतिर्जलधयः—सागरोपमाणि भवति। सुगमं चैतत्, यतो "जा अच्चुओ सड्ढा" इत्यादिवचनाद् देशसंयतानामुत्कृष्टतोऽप्यच्युतकल्पे उत्पादोऽभिहितः, तत्र चोत्कृष्टा स्थितिर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टतश्च तामेव देशविरतिर्बध्नातीति। तिरश्च्या अप्यधःषष्ठपृथिव्यां नारकतयोत्पादः, न पुनस्ततः परतः सप्तम्यामपि, स्त्रीणामुत्कृष्टतोऽपि षष्ठपृथिवीं यावदुत्पादस्य विहितत्वात्, उक्तं च दुःषमानुभावजनितमोहतिमिरतरणिश्रीमदभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गवृत्तौ—"षष्ठयन्तास्वेव पृथिवीषु स्त्रीणामुत्पत्ते" इति। तिरश्ची तु स्त्रीरेव, इत्थं हि सा उत्कर्षतोऽपि षष्ठपृथिवीसत्कं द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकमेवायुर्बध्नातीति। "जलहीण एगतीसा सासाणे जेट्ठगो" त्ति प्रकृतस्याऽऽयुषो ज्येष्ठ एव ज्येष्ठकः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यर्थः। स च 'जलधीनामेकत्रिंशत्'—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि सासादनमार्गणायां भवतीत्यर्थः। "असण्णिम्मि" त्ति असंज्ञिमार्गणायां "पलियासंखियभागो" त्ति पल्योपमस्यासंख्येयभागः, आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते। सुगमम्।

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतमाह—'सेसासुं जलहितेत्तीसा' त्ति उक्तशेषासु पञ्चपञ्चाशन्मार्गणासु प्रकृत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो जलधीनां त्रयस्त्रिंशत्, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवतीत्यर्थः। शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्यौघ—पर्याप्तमनुष्य—मानुषी—पञ्चेन्द्रियौघ—पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय—त्रसकायौघ—पर्याप्तत्रसकाय—पञ्चमनोयोगपञ्चवचोयोग—काययोगसामान्यौ—दारिककाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेदत्रय-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-मत्यज्ञानाद्यज्ञानत्रिक-संयमौघ-सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनसंयमा-ऽसंयम-चक्षुरादिदर्शनत्रिक-कृष्णलेश्या-शुक्ललेश्या—भव्या—ऽभव्य—सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा इति। एतासु शेषमार्गणासु प्रत्येकं पर्याप्तसंज्ञि-

पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टि-सर्वसंयतैकतरजीवानां प्रवेशात् तेषां चाऽऽयुष ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वा-दुत्कृष्टस्थितिबन्धमानमोघवत् त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्यभिहितमिति ॥५१।५२।५३।५४॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमोघत आदेशतश्च । अथ तासामेव जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघत आह—

घाईण मुहुत्तंतो हस्सो तइअस्स बारहमुहुत्ता ।
आउस्स खुड्डगभवो सेसाण भवे मुहुत्ताऽट्ठ ॥५५॥

(प्रे०) 'घाईण मुहुत्तंतो'' इत्यादि, आत्मनो मूलगुणानां ज्ञानादीनां घातनशीलानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणानां चतुर्णां घातिकर्मणां प्रत्येकं 'मुहूर्त्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तम्। किं तदित्याह-'हस्सो''त्ति ह्रस्वः—जघन्यः, स्थितिबन्ध इति प्रक्रमाद्गम्यते । ''तइअस्स बारहमुहुत्ता''त्ति तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो द्वादशमुहूर्त्ताः, ह्रस्वः स्थितिन्ध इत्यनुवर्तते । इत्थमेवो-त्तरत्राऽप्यनुवृत्तिर्बोद्धव्या । ''आउस्स खुड्डभवो''त्ति आयुषो ह्रस्वस्थितिबन्धः क्षुल्लकभवः, क्षुल्लकः-सर्वजघन्यो यः षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयावलिकाप्रमाणोऽपर्याप्तजीवानां जीवनकालस्तत्प्रमाण इत्यर्थः । उक्तं चान्यत्र—''आवलियाणं दोसयछप्पन्ना एगखुड्डभवे'' इति । 'सेसाण''त्ति प्राकृतत्वाद् द्विवचनान्ते बहुवचनान्तनिर्देशस्ततः शेषयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकम् ''भवे मुहुत्ताऽट्ठ'' त्ति ह्रस्वः स्थितिबन्धोऽष्टौ मुहूर्ता भवेदिति । उक्तं च शतकचूर्णावष्टानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्ध-प्रमाणं दर्शयता चूर्णिकृता—''बारस अतमुहुत्ता वेयणिए अट्ठ नामगोयाण। सेसाणतमुहुत्तं खुड्डभवं आउए जाण ॥' इति । अत्र प्रत्येकं जघन्याबाधाऽन्तर्मुहूर्तमाना, तया हीनकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदल-निषेकश्च प्रागुक्तनीत्या स्वयमेव द्रष्टव्यः, तत्राऽप्यायुःकर्मणो निषेकेऽबाधा न्यूना न द्रष्टव्या, तस्या वेद्यमानायुरवशेषरूपत्वात् । तद्यथा—ज्ञानावरण-मोहनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीनजघन्यकर्मस्थितिः कर्मदलनिषेकः । वेदनीयकर्मणोऽन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीनजघन्य-कर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेकः । आयुषोऽन्तर्मुहूर्तमबाधा, क्षुल्लकभवप्रमाणः कर्मदलनिषेकः । नामगोत्रयोरन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधान्यूनजघन्यकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेक इति । इत्थमेव वक्ष्यमाणमार्गणास्थानेष्वपि स्वयमेव योज्यमिति ॥५५॥

अभिहितमोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धमानम् । अथ तदेवाऽऽदेशतो दिदर्शयिषुरादावायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं देव-भवण-वंतरेसु सव्वेसुं ।
पंचिंदियतिरियेसुं असमत्तमणुसपणिंदियेसुं य ॥५६॥ (गीतिः)
मोहगुरुठिइविभत्तो सहस्सगुणिओ य ओघगुरुबंधो ।
स पलियसंखंसूणो सत्तण्ह लहू मुणेयव्वो ॥५७॥

(प्रे०) "णिरयपढमणिरयेसु"मित्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोस्तथा "देव-भवणवंतरेसु"त्ति देवगत्योघभेदे भवनपतिदेव-व्यन्तरदेवभेदयोः, 'सव्वेसु पंचिंदियतिरियेसुं' ति सर्वेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्त-तिरश्च्यात्मकेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, "असमत्त-मणुसपणिंदियेसुं य"त्ति असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्, अपर्याप्तमनुष्यभेदेऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-जातिभेदे चेत्यर्थः। बहुवचनान्तनिर्देशस्तु प्राकृतलक्षणाद्बोद्धव्यः। एवमेव पूर्वत्रोत्तरत्र च ज्ञातव्यम्। एतासु निरयगत्योघाद्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्यन्तासु परिगणितमार्गणासु प्रत्येकं किमित्याह—"मोहगुरु-ठिइविभत्तो" इत्यादि, मोहनीयस्य या औघिकी सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा गुरुः—उत्कृष्टा स्थितिस्तया मोहगुरुस्थित्या विभक्तः, ततः सहस्रेण गुणितः—ताडितश्च यः "ओघगुरुबंधो" त्ति ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानामौघिको 'गुरुः'—उत्कृष्टो 'बन्धः'—स्थितिबन्धः, स च प्राक् संज्ञिमार्गणाया-मुत्कृष्टपदे यावान् दर्शितस्तावान् भवति, तद्यथा—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं सागरोपमस्य त्रिसहस्राणि सप्तभागाः ($\frac{3000}{7}$ सागरोप०)। मोहनीयस्य सागरोपमसहस्रम् (१००० सागरोप०)। नामगोत्रयोः प्रत्येकं सागरोपमस्य द्वे सहस्रे सप्तभागाः ($\frac{2000}{7}$ सागरोप०)। "स"त्ति मोहनीयगुरुस्थितिविभक्तः सहस्रगुणितश्च ज्ञानावरणादीनां य ओघगुरुबन्धः सः "पलियसंखं-सूणो सत्तण्ह लहू मुणेयव्वो"त्ति पल्योपमस्य संख्येयेन-संख्येयतमैकभागेनोनः—हीनः सन् सप्तानां ज्ञानावरणादीनां लघुः—जघन्यस्थितिबन्धो ज्ञातव्यः, न त्वसंज्ञिनामुत्कृष्टस्थितिबन्धतुल्य एवेति। इदमत्र हृदयम्—एकेन्द्रियजीवाः सप्तानां जघन्यां स्थितीमुत्कृष्टापेक्षया पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन न्यूनां बध्नन्ति, विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तु स्वस्वोत्कृष्टापेक्षया पल्योपमस्य संख्येयभागेन न्यूनां बध्नन्ति, उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"बेइंदियादीणं अप्पप्पणो उक्कसट्ठिती पलिउवमस्स संखे-ज्जतिभागेण ऊणा इयरोत्ति-जहण्णगट्ठिति भवति॥" इति। किञ्चासंज्ञिनश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमाना विग्रहगतौ वर्तमाना जीवाः संज्ञिप्रायोग्यमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणं स्थितिबन्धं न कुर्वन्ति, किन्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेव स्थितिबन्धं निर्वर्तयन्ति, ततश्चोत्पत्तिस्थाने प्रथममाहारं गृह्णन्त एते संज्ञिप्रायोग्यस्थितिबन्धं कुर्वन्ति। इत्थं हि यासु मार्गणासु संज्ञिन एव जीवाः प्रविष्टाः सन्ति, न पुनरसंज्ञिनोऽपि, तासु मार्गणासु यद्यसंज्ञिनां गतिर्विद्यते, तदा तैर्विग्रहगतिस्थैरसंज्ञित आगतैर्जीवैः क्रियमाणं स्थितिबन्धमपेक्ष्य जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानामिव यथोक्तं सागरोपम-स्य पल्योपमसंख्येयभागन्यूनत्रिसहस्रसप्तमभागादिकं लभ्यते। प्रकृतेऽपि नरकौघ-प्रथमनरक-देवौघ-भवनपतिदेव-व्यन्तरदेवरूपासु पञ्चमार्गणासु तथा शतकचूर्ण्यादिमतेनाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां चेत्येतासु षण्मार्गणास्वसंज्ञिजीवानामप्रवेशेऽपि तदीयोत्पादस्य सत्त्वाज्जघन्यः स्थितिबन्धोऽसंज्ञिपञ्चे-न्द्रियाणां प्रायोग्यो दर्शितः, शेषमार्गणाद्वये तु जघन्यस्थितेर्बन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा विद्यन्ते एव, इति तथैवोक्त इति ॥५६।५७॥ अथ शेषनिरय-देवभेदेषु सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणं दिदर्शयिषुस्तत्साम्याद् वैक्रियकाययोगादिमार्गणास्वपि सममेव दर्शयन्नाह—

सेसणिरयदेव-विउवआहारयुगल-विभंग-देसेसुं ।
परिहारे तेउ-पउम-वेअग-सासाण-मीसेसुं ॥५८॥
अंतोकोडाकोडी णेयो सत्तण्ह हस्सठिइबंधो ।

(प्रे०) "सेसणिरयदेवविउवे"त्यादि, अनन्तरोक्तनरकौघ-प्रथमनरकभेदद्वयवर्जा ये शेषा द्वितीयादिपृथिवीभेदभिन्नाः षड् निरयगतिभेदाः, तथैवानन्तरोक्तदेवगतिसत्कभेदत्रयवर्जा ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताः सप्तविंशतिर्देवगतिभेदास्तेषु "विउवआहारयुगल"त्ति युगलशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद्वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणयोर्यद् युगलम्-द्विकं तद्वैक्रिययुगलं तस्मिन्, आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्यदाहारकयुगलं तस्मिन्, तथा विभङ्गज्ञानमार्गणायां देशसंयममार्गणायां चेत्यर्थः । मार्गणान्तरसंग्रहार्थमाह-"परिहारे तेउपउमे"त्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्वित्यर्थः । एतासु द्वितीयपृथिवीप्रभृतिनिरयभेदादिपञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु किमित्याह—"अंतोकोडाकोडी णेयो" इत्याद्युत्तरगाथापूर्वार्धम् । आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां ह्रस्वस्थितिबन्धः "अंतोकोडाकोडी" त्ति अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो ज्ञातव्य इत्यर्थः । सुगमं चैतत्, यतोऽपूर्वकरणगुणस्थानकान्तानां मिथ्यादृष्ट्यादिसंज्ञिनां जघन्यतोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्ध एव भवति । यद्यपि सास्वादनमार्गणायां षडशीतिग्रन्थानुसारेण ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिको लभ्यते, कुतः ? षडशीतावेकेन्द्रियाणामपि सास्वादनसम्यक्त्वस्वीकारात् । उक्तं च तत्र जीवस्थानेषु गुणस्थानप्रतिपादनावसरे—"बायरअसंनिविगले अपज्जि पढमबिय" इति । तथा च तट्टीका—

'ततो बादराश्च-बादरैकेन्द्रिया पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः, असंज्ञी च विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकल, विकलाश्च विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया (द्वन्द्वे) बादरासंज्ञिविकलं तस्मिन् बादरासंज्ञिविकले । किं विशिष्टे ? "अपज्जि"त्ति अपर्याप्ते, कोऽर्थः ? अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु तथाऽपर्याप्तेऽसंज्ञिनि तथा विकलेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु । किमित्याह—पढमबिय" त्ति इह "सव्वगुणा" इति पदाद्गुणशब्दस्याकर्षणं, तत प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं द्वितीयं सासादनगुणस्थानं भवति ।" इत्यादि । (गा० ३)

इत्थं हि षडशीत्यभिप्रायेण सासादनमार्गणायामेकेन्द्रियाणामपि प्रवेशेन सासादनमार्गणायां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः प्राप्यते । यद्वा सिद्धान्ते द्वीन्द्रियान्तानामेव सासादनसम्यक्त्वमभ्युपगतम्, एकेन्द्रियाणां तु नाभ्युपगतम्; एकेन्द्रियाणां ज्ञानित्वपृच्छायां निषिद्धत्वात् । उक्तं च—"एगिंदिया णं भंते किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणी" इति । न चैवं सति षडशीतिकारवचनं सूत्रेण विरुध्येत इति वाच्यम् । यतः षडशीतिकाराः कर्मग्रन्थाभिप्रायेणैकेन्द्रियाणां सासादनगुणस्थानकं वदन्ति, उक्तं च तैः—"नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयंपि" इति । तथा च तट्टीका—

"तथा नैकेन्द्रियेषु "सासाणो" त्ति भावप्रधानोऽयं निर्देश', सासादनभाव , सूत्रे मत., अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत , न चोच्यते, किन्तु विशेषत. प्रतिषिध्यते । तथाहि—"एगिंदियाणं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा । नो नाणी नियमा अन्नाणी" इति । स चेत्थं सासादनभावप्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित्कारणेन कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यत इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणाद् ।" इति ।

इत्थं हि षडशीत्यभिप्रायेण सासादनमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः, सिद्धान्ताभिप्रायेण पुनरेकेन्द्रियेषु सासादनभावस्यानभ्युपगमात् सासादनमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां जघन्योऽपि बन्धो द्वीन्द्रियस्वामिकः तथाऽपि प्रकृते नव्यशतकवदभिप्रायविशेषेण संज्ञिसत्कसासादनभावापेक्षयाऽऽसावन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो दर्शितः । उक्तं च नव्यशतके—

"साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडीकोडीउ नऽहिगो बंधो ।
न हु हीणो न य मिच्छे भवियरसंन्निमि ॥४८॥" इति ।

को भावः ? इति चेद्, एकेन्द्रियादीनां सासादनभावस्य कादाचित्कत्वेनासावत्र न विवक्षितः, ततश्च सासादने जघन्योऽपि स्थितिबन्धः संज्ञिस्वामिकः प्राप्तः, स चान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाण एव। षडशीत्याद्यभिप्रायेण तु मूलोक्तादन्यथाऽप्येकेन्द्रियादिस्वामिको यथासम्भवं बोद्धव्य इति ॥५८॥

साम्प्रतं यासु मार्गणास्वेकेन्द्रियाणां प्रवेशः, न पुनः श्रेण्यारूढानां महात्मनां तासु लाघवाद्युगपदाह—

तिरियम्मि य सव्वेसुं एगिंदिय-पंचकायभेएसुं ॥५९॥
ओरालमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसुं य ॥६०॥
मोहगुरुठिइविभत्तो सत्तण्हं ओघजेट्ठठिइबंधो ।
पलियासंखंसूणो सो सत्तण्हं लहू णेयो ॥६१॥

(प्रे०) "तिरयम्मि य सव्वेसु"मित्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणाभेदे, चः समुच्चये । तथा सर्वेसु षट्चत्वारिंशत्संख्याकेष्वेकेन्द्रियसत्कपृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्कमार्गणाभेदेषु । तत्रैकेन्द्रियपृथिव्यम्बुतेजोवायुकायानां प्रत्येकं सप्त सप्त मार्गणाभेदास्तथा वनस्पतिकायसत्कास्त्वेकादश भेदाः प्राग्वद्बोद्धव्याः । अन्या मार्गणाः संग्रहीतुमेकां गाथामाह—"ओरालमीसे"त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोग–कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान–श्रुताज्ञाना–ऽसंयम-कृष्णादित्र्यशुभलेश्यामार्गणासु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोरसंज्य-ऽनाहारिमार्गणयोश्चेत्यर्थः । एतासु तिर्यग्गत्योघाद्येकोनषष्टिमार्गणासु किमित्याह—"मोहगुरुठिइ" इत्यादि, सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणया मोहनीयस्य गुरुस्थित्या विभक्तो यः सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनाम् "ओघजेट्ठठिइबंधो" त्ति त्रिंशत्सागरोपमकोटी-

कोट्यादिप्रमाण औघिको ज्येष्ठः–उत्कृष्टः स्थितिबन्धः, स च प्रागुक्तैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणो भवति, स पुनः किंविशिष्ट इत्याह–"पलियासंखंसूणो सो" त्ति पल्योपमस्याऽसंख्यांशेनाऽसंख्याततमेनैकभागेनोनः–न्यूनः सः "सत्तण्हं लहू णेयो"त्ति यथासंख्यं ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां सप्तानां लघुः–जघन्यो ज्ञेयः, स्थितिबन्ध इति गम्यते। इदमुक्तं भवति-मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या विभक्तो ज्ञानावरणस्यौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमासंख्यभागेन न्यूनः सन् ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धतया ज्ञेयः, एवं दर्शनावरणादीनामपि ज्ञातव्यः। तद्यथा–ज्ञानावरण–दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमस्या-ऽसंख्येय-भागेन न्यूनाः। मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यून एकः सागरोपमः। नाम-गोत्रयोस्तु प्रत्येकं सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमाऽसंख्यभागेन न्यूनौ जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति। सुगमं चैतत्, यतः प्रकृततिर्यग्गत्यादिमार्गणासु प्रत्येकं विद्यते एकेन्द्रियजीवानां प्रवेशः, न पुनः श्रेणिगतानाम्, एकेन्द्रियास्तु जघन्यतोऽपि निरुक्तस्थितिबन्धाद्धीनं स्थितिबन्धं न कुर्वन्ति, तदन्ये श्रेणिमनारूढा जीवास्त्वधिकमेव स्थितिबन्धं कुर्वन्ति; इत्थं ह्येकेन्द्रियाणां यो जघन्यस्थितिबन्धः स एव प्रकृतसर्वमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धतया प्राप्यते। इदन्त्ववधेयम्–यदत्र प्रत्येकं मार्गणासु ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनाः सागरोपमस्य द्व्यादिसप्तभागा इत्युक्तः, स तद्वाचकशब्दसाम्यादेव, न पुनस्तिर्यग्गत्योघादिप्रकृतसर्वमार्गणास्वसौ तुल्य एव भवति, किं तर्हि? स्वामिभेदेन हीनाधिको भवति। इदमुक्तं भवति–यथा प्राग् जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाल्प-बहुत्वे पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषा-धिकः, ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक इत्येवं तारतम्येन दर्शितस्तथा प्रकृतेऽप्येकेन्द्रियौघमार्गणा-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणा-तदपर्याप्तमार्गणादिभेदेषु स्वामिभेदेन भिन्नो भिन्नो बोद्धव्यः। अत्र प्रस्तुतसर्वमार्गणासु युगपदभिधानं तु बन्धस्य हीनाधिक्येऽपि पल्योपमासंख्यभागेन न्यूनाः सागरोपमस्य द्व्यादिसप्तभागा इत्येवंरूपेण समानाभिलापेनाभिधेयत्वात्। इत्थमेवान्यत्राऽपि यथासम्भवं विज्ञेयमिति ॥५९।६०।६१॥ अथ विकलेन्द्रियभेदेष्वपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां चाह—

सव्वविगलेसु सगगुरुठिइबंधो पलियसंखभागूणो ।
सत्तण्ह लहू णेयो बिंदियभंगो अपज्जतसे ॥६२॥

(प्रे०) "सव्वविगलेसु"इत्यादि, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-लक्षणेषु 'सर्वविकलेषु', विकलेन्द्रियसत्केषु सर्वमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः। एतेषु किमित्याह–'सगगुरुठिइ-बंधो" इत्यादि, स्वकः–स्वकीयः, द्वीन्द्रियौघ-पर्याप्तद्वीन्द्रियादितत्तन्मार्गणासम्बन्धीत्यर्थः, एवम्भूतो यः प्रागभिहितः प्रस्तुतानां ज्ञानावरणादीनां गुरुः–उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सः स्वकगुरुस्थितिबन्धः, किं विशिष्टः? "पलियसंखभागूणो" त्ति पल्योपमस्य संख्येयभागेन न्यूनो ज्ञानावरणादीनां सप्तानां

'लघुः'–जघन्यो ज्ञातव्यः, स्थितिबन्ध इति गम्यते। तद्यथा–द्वीन्द्रियभेदत्रये ज्ञानावरणादिचतुर्णां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनाः सागरोपमस्य पञ्चसप्ततिः सप्तभागाः। मोहनीयस्य तु पल्योपमसंख्येयभागेन हीनानि पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि। नाम-गोत्रयोः पुनः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः पञ्चाशत् सागरोपमसप्तभागाः। त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये प्रत्येकं ज्ञानावरणादिचतुर्णां पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः पञ्चाशदभ्यधिकशतं सागरोपमसप्तभागाः। मोहनीयस्य पुनः पञ्चाशत् सागरोपमाणि पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनानि। नामगोत्रयोस्तु पल्योपमसंख्येयभागेन हीनाः शतं सागरोपमसप्तभागाः। चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनानि शतं सागरोपमाणि। नामगोत्रयोस्तु प्रत्येकं पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूना द्विशतसागरोपमसप्तभागा इति। "बिंदियभंगो अपज्जतसे" त्ति अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां 'द्वीन्द्रियभङ्गः'-अपर्याप्तद्वीन्द्रियभङ्गः, अपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणावज्ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः पञ्चसप्तत्यादिसागरोपमसप्तभागा इत्यर्थः ॥६२॥ साम्प्रतं यासु मार्गणासु श्रेणिगतजीवापेक्षया सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धः प्राप्यते, तासु मार्गणासु क्रमशो जघन्यस्थितिबन्धं प्रकटयन्नाह—

थी–णपुमेसु संखियसहस्सवरिसाणि संखसयवासा।
पलियाऽसंखियभागो तिघाइ–मोह–इयराण कमा ॥६३॥

(प्रे०) "थीणपुमेसु" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायां च प्रत्येकमित्यर्थः। किमित्याह–"संखियसहस्से" त्यादि, संख्येयसहस्रवर्षाणि, 'संखसयवासा' त्ति पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् ततः संख्येयशतवर्षाणि, "पलियासंखियभागो" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पल्यः–पल्योपमस्तस्याऽसंख्येयभागः–असंख्येयतमैकभागः, जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति प्रक्रमाद्गम्यते। केषां कर्मणामित्याह—"तिघाइ" इत्यादि, त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिनां "मोह" त्ति मोहनीयस्य "इयराण" त्ति आयुर्वर्जसप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्य वक्तुं प्रक्रान्तत्वादनन्तरमेव घातिकर्मणां गृहीतत्वाच्च घातिभ्य इतराणि यानि आयुर्वर्जानि वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानि त्रीणि कर्माणि तेषां "कमा" त्ति क्रमाद्-यथासंख्यम्। अयम्भावः—उपशमकानामिव क्षपकश्रेणिमारोहतामवेद्यवस्थायाः प्राग् यावान् जघन्यस्थितिबन्धः पुरुषवेदिनां जायते, तदपेक्षया स्त्रीवेदिनां नपुंसकवेदिनां चाधिकतरोऽसौ भवति। कस्माद्? उच्यते—यत्र स्थाने पुंवेदिनां पुंवेदोदयस्य विच्छेदो जायते, ततः स्थानात् संख्येयस्थितिबन्धेष्वकृतेषु प्रागेव स्त्री-नपुंसकवेदिनां स्वस्ववेदोदयो विच्छिद्यते, किञ्चोत्तरोत्तरस्थितिबन्धाः श्रेणिमारोहतां हीनहीनतराः प्रवर्तन्ते, तेषु ये स्तोकस्तोकतरस्थितीनां बन्धाः पुंवेदिनां सवेद्यवस्थायां प्राप्यन्ते, न ते सर्वे तदन्यवेदिनामपि सवेद्यवस्थायां प्राप्यन्ते, किन्त्वधिकस्थितेर्बन्धा एव जघन्यतोऽपि प्राप्यन्ते, ते च तेषां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, मोहनीयस्य संख्येयानि वर्षशतानि, वेदनीय-नाम-गोत्राणां त्रयाणामघातिकर्मणां तु पल्योपमस्यासंख्येयतमैकभाग इति ॥६३॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—

पुरिसम्मि तिघाईणं संखसयसमा हवेज्ज मोहस्स ।
सोलस वासा संखियसहस्सवासा अघाईणं ॥६४॥

(प्रे०) "पुरिसम्मि तिघाईणं" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणाम् "संखसयसमा हवेज्ज" त्ति जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयशतसमाः-संख्येयशतवर्षाणि भवेदित्यर्थः। "मोहस्स"त्ति मोहनीयकर्मणः "सोलसवासा"त्ति पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्ततः प्रकृतो जघन्यस्थितिबन्धः षोडश वर्षाणि भवेदित्यर्थः। "संखियसहस्सवासा अघाईणं"ति प्राग्वत् संख्येयसहस्रवर्षाणि त्रयाणामायुर्वर्जानामघातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धो भवेदित्यर्थः। इति ॥६४॥ अथ क्रोधमार्गणायामाह—

कोहम्मि तिघाईणं संखसयसमा हवेज्ज मोहस्स ।
दो मासा संखेज्जा सहस्सवासा अघाईणं ॥६५॥

(प्रे०) "कोहम्मि तिघाईण" मित्यादि, क्रोधकषायमार्गणाभेदे त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयाः शतसमाः—शतवर्षाणि भवेत्। मोहनीयस्य त्वसौ "दो मासा"त्ति द्वौ मासौ भवेत्। वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां त्रयाणामघातिकर्मणां प्रत्येकम् "सहस्सवासा"त्ति सहस्रवर्षाणि जघन्यः स्थितिबन्धो भवेदित्यर्थः। इति ॥६५॥ अथ मानकषायमार्गणायामाह—

माणे वासपुहुत्तं तिण्हं घाईण एगमासोऽत्थि ।
मोहस्स होइ संखियवासा तिण्हं अघाईणं ॥६६॥

(प्रे०) "माणे वासपुहुत्त"मित्यादि, मानकषायमार्गणायां जघन्यस्थितिबन्धो वर्षपृथक्त्वमस्तीति परेणान्वयः। केषामित्याह—"तिण्हं घाईण"त्ति ज्ञानावरण-दर्शनावरणाऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणाम्। "एगमासो"त्ति एकमासः-त्रिंशदहोरात्रप्रमाणो जघन्यस्थितिबन्धः "मोहस्स"त्ति मोहनीयलक्षणचतुर्थघातिकर्मणो भवति। तथा संख्येयानि वर्षाणि जघन्यस्थितिबन्धो वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां त्रयाणामघातिकर्मणां भवतीत्यर्थः ॥६६॥ अथ मायायां प्रकृतजघन्यस्थितिबन्धं दर्शयन् पुंवेदादिचतुर्मार्गणासु मतान्तरेणाऽन्यथाऽपि जघन्यस्थितिबन्धं प्रतिपादयंश्चाह—

मायाए णायव्वो मासपुहुत्तं उ तिण्ह घाईणं ।
णेयो पण्णरस अहोरत्ताइं मोहणीयस्स ॥ ६७ ॥
हस्सो वासपुहुत्तं तिण्ह अघाईण अहव णायव्वो ।
पुरिसाईसुं चउसुं छण्ह य संखियसहस्ससमा ॥ ६८ ॥

(प्रे०) "मायाए णायव्वो" इत्यादि, मायाकषायमार्गणायां त्रयाणां घातिनां जघन्यस्थितिबन्धो मासपृथक्त्वं ज्ञातव्य इत्यर्थः। तुकारस्तु पादपूर्त्यै। अथ चतुर्थस्य घातिन आह–"णेयो पण्णरस" इत्यादि, मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः पञ्चदशाहोरात्राणि ज्ञेयः। "हस्सो" त्ति प्रस्तुतो ह्रस्वः स्थितिबन्धस्त्रयाणामायुर्वर्जानामघातिनां वर्षपृथक्त्वं ज्ञेय इत्यर्थः। अनन्तरोक्तपुरुषवेदादिचतसृषु मार्गणासु प्रकृतजघन्यस्थितिबन्धोऽन्यथाऽपि दृश्यते, इति तमपि संग्रहीतुमाह–"अहवे"त्यादि, अथवाऽनन्तराभिहितेषु "पुरिसाईसु" ति पुरुषादिषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "छण्ह य" त्ति सूचनात् सूत्रमितिकृत्वाऽऽयुर्मोहनीयवर्जानां षण्णां मूलप्रकृतिनाम् "संखियसहस्ससमा" त्ति संख्येयसहस्रसमाः, जघन्यस्थितिबन्ध इति गम्यते। इति ॥६७।६८॥

अथ सामायिकसंयमादिशेषमार्गणासु प्रस्तुतसप्तप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिबन्धमाह—

समइअ-छेएसु लहू मुहुत्तगाण व दिणाण व पुहुत्तं।
तिण्हं घाईण भवे मोहस्स भवे मुहुत्तंतो ॥६९॥
मासपुहुत्तं णेयो तिण्ह अघाईण उवसमे दुगुणो।
सत्तण्हं ओघत्तो णेयो ओघव्व सेसासु ॥७०॥

(प्रे०) "समइअछेएसु लहू" इत्यादि, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोर्लघुः–जघन्यः स्थितिबन्धः "मुहुत्तगाण व दिणाण व पुहुत्तं" ति मुहूर्ता एव मुहूर्तकास्तेषां वा दिनानाम्-दिवसानां वा पृथक्त्वम्, मुहूर्तपृथक्त्वं दिनपृथक्त्वं वेत्यर्थः। केषामित्याह–"तिण्हं घाईण भवे" त्ति मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिनां प्रत्येकं भवेत्। मोहनीयस्य तर्हि कियान् भवेदित्याह–"मोहस्स भवे मुहुत्तंतो" त्ति मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो मुहूर्तान्तः–अन्तर्मुहूर्तं भवेत्। "मास पुहुत्तं णेयो तिण्ह अघाईण" त्ति आयुर्वर्जानां त्रयाणामघातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धो मासपृथक्त्वं ज्ञातव्य इति। अथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—"उवसमे दुगुणो" इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतो जघन्यस्थितिबन्धः "ओघत्तो" त्ति ओघतः,–ओघापेक्षयेत्यर्थः। यावत् स्थितिबन्धप्रमाणमोघप्ररूपणायां जघन्यतोऽभिहितं तत्प्रमाणापेक्षयेति यावत्। ओघापेक्षया किमित्याह–"दुगुणो" त्ति द्विगुणो ज्ञातव्य इति परेणान्वयः। केषां कर्मणामित्याह–"सत्तण्हं" ति प्रस्तुतानामायुर्वर्जानां सप्तकर्मणाम्। अयम्भावः–ओघे ज्ञानावरणादीनां सप्तानां यो जघन्यस्थितिबन्ध उक्तः स क्षपकश्रेणिमारूढानां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धमपेक्ष्य, उपशमश्रेणिमारूढास्तु क्षपकाणामिव न विशुद्धास्ततः सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे वर्तमाना अपि क्षपकाणामिव जघन्यस्थितिबन्धं नैव कुर्वन्ति, किन्तु ततो द्विगुणमेव कुर्वन्ति। यदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"जंमि समते खवगस्स ट्ठितिबंधो आदि मज्झे अवसाणे वा दिट्ठो तंमि चेव ठाणे उवसामगाणं दुगुणो ट्ठितिबंधो आदि मज्झे अवसाणे वा दिट्ठो" इति।

इत्थं हि क्षपकापेक्षयोपशामकानां जघन्यस्थितिबन्धो द्विगुणः सन् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायकर्मणामन्तर्मुहूर्तम्; यद्यपि क्षपकाणामप्यमीषां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवति, तथाऽपि तदपेक्षयाऽत्रोपशमकानां द्विगुणमन्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यम्। वेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धस्तु चतुर्विंशतिर्मुहूर्ता भवति। नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः पुनः षोडश मुहूर्ता जायते। यदुक्तं **कषायप्राभृतचूर्णौ**—

"चरिमसमयसुहुमसांपराइयस्स णाणावरण-दंसणावरण-अंतराइयाणमंतोमुहुत्तिओ ट्ठिदिबंधो। णामागोदाणं ट्ठिदिबंधो सोलस मुहुत्ता। वेदणीयस्स ट्ठिदिबंधो चउवीस मुहुत्ता। से काले सव्वं मोहणीयमुवसंतं।" इति।

अथ शेषमार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणं दिदर्शयिषुरतिदेशद्वारेणाह—"**ओघव्व सेसासुं**" ति अनन्तरोक्ता निरयगत्योघाद्यौपशमिकसम्यक्त्वपर्यन्ताश्चतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणा विवर्ज्य शेषासु मनुष्यगत्यादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मसत्को जघन्यः स्थितिबन्ध ओघवज्ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायकर्मणामन्तर्मुहूर्तम्, वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ताः, नाम-गोत्रयोस्तु प्रत्येकमष्टौ मुहूर्ताः, ज्ञेय इत्यत्रापि युज्यत इति। अत्र शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—अपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, तथैव द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिमार्गणाभेदौ, द्वौ च त्रसकायमार्गणाभेदौ, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगभेदौ, अपगतवेद–लोभकषाय–मत्यादिचतुर्ज्ञान–संयमौघ–सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति। एतासु प्रत्येकमनिवृत्तिबादरक्षपकाणां सूक्ष्मसम्परायक्षपकाणां च प्रवेशात् तेषामेवौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाच्चा-ऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमोघवदतिदिष्टमिति ॥६६।७०॥

तदेवमभिहितं सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमादेशतो मार्गणास्थानेष्वपि। साम्प्रतमुक्तशेषस्यायुःकर्मणस्तदादेशतः प्रकटयन्नाह—

सव्वणिरयभेएसुं देवे वेउव्व-सासणेसुं य।
आउस्स मुहुत्तंतो जहण्णगो होइ ठिइबंधो ॥ ७१ ॥

(प्रे०) "**सव्वणिरये**"त्यादि, निरयौघ-प्रथमपृथिव्यादिभेदलक्षणेषु सर्वेषु निरयगतिमार्गणाभेदेषु तथा '**देवे**'त्ति देवौघमार्गणायां तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायां सासादनमार्गणायां च प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितिबन्धो '**मुहूर्तान्तः**'—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवतीत्यर्थः। अत्र मुहूर्तान्त इत्यनेन क्षुल्लकभवप्रमाणो जघन्यस्थितिबन्धो नैव ग्राह्यः। कस्माद्? उच्यते, क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितिका ह्यपर्याप्तमनुष्यादय एव सन्ति, न पुनः पर्याप्तमनुष्यादयोऽपि; किञ्च प्रकृतमार्गणागतानां नारकादिजीवानामपर्याप्ततयोत्पादः प्रतिषिद्ध इत्येतेऽपर्याप्तप्रायोग्यमायुरपि न बध्नन्ति, इत्थं हि तेषां क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितिकायुर्बन्धस्यानवकाशादयं क्षुल्लकभवप्रमाणो न गृह्यते। यदुक्तं

विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ—"यदाऽप्युत्कृष्टसंक्लेशौ नारक-देवावुत्कृष्टस्थितिकं मोहनीयं बद्ध्वा तिर्यक्षूत्पद्येते, तदाप्यायुषो जघन्यस्थितिर्न सम्भवति, क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणजघन्यस्थितिषु जीवेषु नारकदेवानामनुत्पादात् ।" इति ॥७१॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्रकृतायुःसत्कजघन्यस्थितिबन्धमानमाह—

भवणेसाइसुरेसुं जहारिहं आगमाणुसाराओ ।
भिन्नमुहुत्तपभीई जा णेयो हायणपुहुत्तं ॥७२॥

(प्रे०) "भवणेसाइसुरेसु"मित्यादि, भवनेशादयः-भवनपत्यादयो ये सुरास्तेषु, भवनपत्याद्यनुत्तरान्तदेवगतिमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । तेषु किमित्याह-"जहारिह"मित्यादि, यथार्हम्-यथासम्भवमागमानुसारात्-व्याख्याप्रज्ञप्ति-पञ्चसंग्रहादिश्रुतानुसाराज्ज्ञेय इत्युत्तरार्धेऽन्वयः । आयुषो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । कियान् ज्ञेयः ? इत्याह—'भिन्नमुहुत्त'"त्यादि, अयम्भावः—व्याख्याप्रज्ञप्त्यां चतुर्विंशतितमे शते संवेधं दर्शयता सुधर्मागणधरेण भगवताऽसुरकुमारादीनां सहस्रारकल्पपर्यन्तानां देवानां मनुष्यतया जघन्यतो मासपृथक्त्वायुष्युत्पादोऽभिहितः, तिर्यक्त्वेन त्वन्तर्मुहूर्तायुष्यसावभिहितः । उक्तं च तत्र—

"असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु ।" इति ।

शेषाणां तु सहस्रारकल्पपर्यन्तानां तथैवातिदिष्टः । यदुक्तम्—"एवं जाव ईसाणदेवस्स" इति । तथा "एवं एएणं कमेणं अवसेसावि जाव सहस्सारदेवेसु उववाएयव्वा" इति ।

आनतप्रभृतयो देवास्तु मनुष्यतयैवोत्पद्यन्ते, अतस्ते जघन्यतोऽपि वर्षपृथक्त्वायुषि संजायन्ते, उक्तं च—"आणयदेवे णं भंते ? जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ? गोयमा ! जहन्नेणं वासपुहुत्तट्ठितिएसु उववज्जित्तए" इति ।

शेषाणां त्वतिदेशादिनाऽभिहितः । यदुक्तम्—"एवं जाव अच्चुयदेवो" तथा "गेवेज्जदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिका० ?, गोयमा ! जह० वासपुहुत्तठितिएसु" तथैव "विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?, एवं जहेव गेवेज्जदेवाणं" इति । "सव्वट्ठसिद्धगदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए सा चेव विजयादिदेववत्तव्वया भाणियव्वा ।" इति च ।

इत्थं च श्रीभगवत्यभिप्रायेण भवनपत्यादिसहस्रारपर्यन्तेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु तिर्यगायुषो जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो जायते, तत उपरितनदेवभेदेषु बन्धप्रायोग्यस्य मनुष्यायुषो जघन्योऽपि स्थितिबन्धो वर्षपृथक्त्वं भवति । स एव प्रकृते मूलप्रकृत्यपेक्षया प्राप्यत इति मूले भिन्नमुहूर्तप्रभृत्या यावद् वर्षपृथक्त्वमभिहितः । यत् पुनर्यावत्पदग्रहणं तत्तु पञ्चसंग्रहादौ स्वदेवालयाच्च्युत्वा पुनरपि तत्रैवोत्पद्यमानस्य देवस्य जघन्यान्तरस्य पृथक् पृथगभिहितत्वात् ।

तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहे—

"आइसाणं अमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तंतो ।
आसहसारे अच्चुयणुत्तरे दिणमास वास नव ॥" इति ।

जीवसमासेऽप्येवमेवोक्तम् । तथा च तद्ग्रन्थः—

"जावीसाणं अंतोमुहुत्तमपरं सणंकुसहसारो ।
नव दीण मासा वासा अणुत्तरोकोस उयहिदुग ॥२५४॥" इति ।

अत्र भावना तु स्वयमेव कर्तव्येति । महाबन्धकारास्तु—भवनपत्यादीशानकल्पान्तदेवभेदेषु प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितिबन्धमानमन्तर्मुहूर्तम्, सनत्कुमार-माहेन्द्रयोस्तु तद् मुहूर्तपृथक्त्वम्, ब्रह्म-लान्तकयोर्दिनपृथक्त्वम्, शुक्र-सहस्रारकल्पयोः पक्षपृथक्त्वम्, आनतकल्पादिचतुष्के मासपृथक्त्वम्, ग्रैवेयका-ऽनुत्तरविमानभेदेषु तु वर्षपृथक्त्वमिति वदन्तीति ॥७२॥

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रमार्गणयोः प्रकृतं दिदर्शयिषुराह—

**आहारदुगे मरिउं जहण्णगो लंतकम्मि उप्पाओ ।
संघयणीए उत्तो पल्लपुहुत्तं परे बिंति ॥७३॥**

(टी०) "आहारदुगे" इत्यादि, आहारककाययोगमार्गणा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणायोर्यद्-द्विकं तदेवाहारकद्विकं तस्मिन्, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रत्येकमित्यर्थः । तयोः प्रत्येकं किमित्याह—"मरिउ"मित्यादि, प्रकृतमार्गणाद्वये जघन्यत उत्पादः-गत्यान्तरे उत्पत्तिरूपः "लंतगम्मि"त्ति लान्तकाख्ये षष्ठकल्पे उक्त इत्युत्तरार्धेऽन्वयः, कुत्रोक्त इत्याह—'संघयणीए"त्ति श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यप्रणीते बृहत्संग्रहण्याख्ये ग्रन्थे इत्यर्थः । तथा चोक्तं तत्र— "लंतंमि चउदपुव्विस्स" इति । चतुर्दशपूर्वधराणामेवाहारकशरीरित्वेनाऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगिनां जघन्यतो लान्तककल्प उत्पादो बृहत्संग्रहण्यामर्थादभिहितो बोद्धव्य इति भावः । इदमुक्तं भवति— बृहत्संग्रहण्यामाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगिनां जघन्योत्पादस्यार्थतो लान्तककल्पेऽभिहितत्वात्, लान्तककल्पदेवानां जघन्यतो दशसागरोपमस्थितिकत्वाच्च तत्रोत्पित्सून् प्रकृतमार्गणागतजीवान् प्रतीत्य दशसागरोपमेभ्यो हीनः स्थितिबन्धो न सम्भवति । 'पल्लपुहुत्तं परे बिंति" त्ति 'परे'—महाबन्ध-काराः प्रकृतमार्गणाद्वये पल्योपमपृथक्त्वं ब्रुवन्ति, आयुषो जघन्यस्थितिबन्धमिति प्रक्रमाद्गम्यत इति ॥७३॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणमाह—

**मइ-सुअ-ऽवहिणाणेसु ओहिदंसणम्मि सम्म-खइएसु ।
वेअगसम्मत्तम्मि य विण्णेयो हायणपुहुत्तं ॥७४॥**

(प्रे०) "मइसुअऽवहिणाणेसु"मित्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणासु तथाऽवधि-दर्शनमार्गणायां, सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्येतासु सप्त-

मार्गणासु प्रत्येकम् "विण्णेयो हायणपुहुत्तं"ति प्रकृत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धो 'हायनपृथक्त्वम्'–वर्षपृथक्त्वं विज्ञेय इत्यर्थः। सुगमम्, प्रत्येकं सम्यग्दृष्टिदेव-नारकजीवानां प्रवेशात्, तेषां जघन्यतो यथोक्तस्थितिकमनुष्यायुष एव बन्धभावाच्च ॥७४॥ अथ यासु केवलानां सर्वसंयतानां देशसंयतानां वैव प्रवेशस्तासु मार्गणासु युगपत्प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितिबन्धमानमेकयाऽऽर्ययाऽऽह—

मणपज्जवणाणे तह संयम-सामइअ-छेअ-देसेसुं ।
परिहारविसुद्धीए णेयो पलिओवमपुहुत्तं ॥७५॥

(प्रे०) "मणपज्जवणाणे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापन-संयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणास्वित्येतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकम् "पलिओवम-पुहुत्तं"ति पल्योपमानां पृथक्त्वं-पल्योपमपृथक्त्वं ज्ञेयः, आयुषो जघन्यः स्थितिबन्ध इति गम्यते। कुतः? सामायिकादिसंयमोपेतानां जघन्यतोऽपि सौधर्मकल्पे उत्पादस्योक्तत्वात्। उक्तं च पञ्च-संयतप्रकरणे–"पंचण्हं वि देवगई तिण्हं पढमयाण थोव सोहम्मे" इति। अत्राक्षरगमनिका— "पंचण्हं"ति सामायिक-छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातसंयमोपेतानां पञ्च-विधानामपि संयतानां "देवगई" त्ति गमनम्-गतिः एकभवाच्च्युत्वाऽन्यत्र भवे उत्पत्तिलक्षणा, सा देवेष्वेव भवतीत्यर्थः। तत्रापि "तिण्ह पढमयाण"त्ति सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकाख्य-संयमोपेतानां प्रथमत्रयाणां संयतानां "थोव"त्ति जघन्या, गतिरिति गम्यते, कुत्र? इत्याह–"सोहम्मे" त्ति सौधर्मकल्पाख्ये प्रथमे कल्प इत्यर्थः। सौधर्मे कल्पे उत्पद्यमाना अप्येते जघन्यायुष्कदेवतया नोत्पद्यन्ते किन्तु जघन्यतोऽपि पल्योपमद्वयाऽऽयुष्कदेवतयोत्पद्यन्ते। उक्तं च पञ्चसंयतप्रकरणे तदपि—"पलिया दुण्णि जहण्णा देवठिई तिण्ह पढमयाणं तु"। "पल्ये द्वे जघन्या देवस्थिति-स्त्रयाणां प्रथमकानां तु" इति। इत्थं हि प्रकृतमार्गणागतजीवानामायुषो जघन्यस्थितिबन्धः पल्योपम-पथक्त्वमभिहित इति ॥७५॥ अथैकयाऽऽर्यया शेषमार्गणासु प्रकृतायुर्जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—

सुहलेसासुं णेयो सुराणुसारेण जं हवेज्ज सुरो ।
से लहुठिईअ सामी सेसासुं होइ खुड्डभवो ॥७६॥

(प्रे०) "सुहलेसासु"मित्यादि, 'शुभलेश्यासु' तेजः-पद्म-शुक्लाख्यासु तिसृषु प्रशस्त-लेश्यामार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। तासु किमित्याह–"णेयो"इत्यादि, आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः "सुराणुसारेण"त्ति सुरगतिमार्गणानुसारेण ज्ञेयः। कस्मात्सुरानुसारेण ज्ञातव्य इत्यत्राह–"जं हवेज्ज" इत्यादि, 'यद्'–यस्मात् प्रकृततिसृषु मार्गणासु 'सुरः'–देवः "से"त्ति तस्याऽऽयुषो जघन्यस्थिति-बन्धस्य स्वामी भवति। इदमुक्तं भवति—शुभलेश्यापरिणता मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा देवायुरेव बध्नन्ति, देवायुर्बध्नतां तेषामायुषो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धो न प्राप्यते, अतोऽन्तर्मुहूर्तादिस्थितिकं तिर्यगाद्यायुर्बध्नन्तो देवाः शुभलेश्यात्रये आयुषो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति;

अत्र ग्रन्थेऽधिकृतमार्गणास्थानयन्त्रम्

[1]गइ [2]इंदिये य [3]काये [4]जोए [5]वेए [6]कसाय [7]नाणे य ।
[8]संजम [9]दंसण [10]लेसा [11]भव [12]सम्मे [13]संन्नि [14]आहारे ॥१॥

संख्यया	मार्गणास्थानानि	संख्यया	मार्गणास्थानानि	संख्यया	मार्गणास्थानानि	संख्यया	मार्गणास्थानानि
↓		↓		↓		↓	
	गति. (४७)		कायः (४२)		कषाय. (४)		भव्य. (२)
१	नरकगत्योघ.,	❀७	पृथिवीकाये,	४	क्रोध-मान-माया-लोभाः,	२	भव्यः, अभव्यः,
७	रत्नप्रभादिपृथिवीभेदान्,	❀७	अप्काये,	•	अकषायः,		सम्यक्त्वम् (७)
१	तिर्यग्गत्योघ ,	❀७	तेजस्काये,		ज्ञानम् (७)	१	सम्यक्त्वौघः,
१	पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ.,	❀७	वायुकाये,	४	मति-श्रुता-ऽवधि-मनः पर्यवानि,	१	क्षायिकम्,
१	पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,	१	वनस्पतिकायौघ.,	३	मत्यज्ञानं, श्रुताज्ञानं, विभङ्गज्ञानम्,	१	क्षायोपशमिकं,
१	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,	+३	प्रत्येकवनस्पतिकाये,	•	केवलज्ञानम्,	×१	औपशमिक,
१	तिरश्ची,	❀७	साधारणवनस्पतिकाये,		संयम (७)	१	सासादनम्,
१	मनुष्यगत्योघ.,	+३	त्रसकाये,	१	संयमौघ ,	×१	मिश्रम्,
१	पर्याप्तमनुष्य ,		योग (१८)	१	सामायिकः,	१	मिथ्यात्वम्,
१	अपर्याप्तमनुष्य ,	—५	मनोयोगे,	१	छेदोपस्थापनः,		संज्ञी (२)
१	मानुषी,	—५	वचोयोगे,	१	परिहारविशुद्धिकः,	२	संज्ञी, असंज्ञी,
१	देवगत्योघ ,	१	काययोगौघ ,	×१	सूक्ष्मसम्परायः,		आहारी (२)
३	भवन-व्यन्तर-ज्योतिष्का ,	१	औदारिकः,	•	यथाख्यात ,	१	आहारकः,
१२	सौधर्मादिकल्पोपन्नभेदात्,	१	औदारिकमिश्र.,	२	देशसयमः, असयमः,	×१	अनाहारकः,
९	नवग्रैवेयकभेदान्,	१	वैक्रिय.,		दर्शनम् (३)		
५	पञ्चानुत्तरभेदान्,	×१	वैक्रियमिश्र ,	३	चक्षुः,अचक्षु ,अवधि०,		
	इन्द्रियम् (१९)	१	आहारकः,	•	केवलदर्शनम्,		
❀७	एकेन्द्रिये,	१	आहारकमिश्र.,		लेश्या (६)		
+३	द्वीन्द्रिये,	×१	कार्मण.,	३	कृष्ण-नील-कापोत०		
+३	त्रीन्द्रिये,		वेदः (४)	३	तेजः-पद्म-शुक्ल०		
+३	चतुरिन्द्रिये,	३	स्त्री,-पुं,-नपुंसका.,				
+३	पञ्चेन्द्रिये,	×१	अपगतवेदः,				

❀ [1]ओघ–[2]सूक्ष्मौघ–[3]सूक्ष्मपर्याप्त–[4]सूक्ष्मापर्याप्त–[5]बादरौघ–[6]बादरपर्याप्त–[7]बादरापर्याप्तभेदात् सप्त ।

+ [1]ओघ–[2]पर्याप्ता–[3]ऽपर्याप्तभेदात् त्रीणि ।

— [1]ओघ–[2]सत्या–[3]ऽसत्य–[4]मिश्र–[5]व्यवहारभेदात् पञ्च ।

• एतेषु चतुर्षु मार्गणास्थानेषु कस्याऽपि कर्मणः स्थितिबन्धो न भवत्यतस्तानि मूलत एवात्र स्थितिबन्धग्रन्थे न गण्यन्ते, ततश्च (१७०) सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानानि ।

× एतेषु सप्तमार्गणास्थानेष्वायुर्बन्धो न भवत्यतस्तानि सप्ताऽऽयुष· स्थितिबन्धे वर्ज्यन्ते, तत आयुषः स्थितिबन्धे (१६३) त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्थानान्येवाऽधिक्रियन्ते ।

आयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनामोघादेशतः—

सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानम्	गति	इन्द्रियम्	कायः
ओघवत् ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० अन्तरा० } ३० कोटीकोटीसागरोपमाणि, मोहनीयस्य— ७० कोटीकोटिसागरो० नामगोत्रयोः— २० ,, ,,	८ सर्वे नरकभेदाः १२ सहस्रारान्तदेवभेदा अपर्याप्तवर्जाः ४ तिर्यग्भेदा. ३ मनुष्यभेदाः २७	पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-भेदौ, २	त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २
आयुर्वर्जानां सप्तानामपि प्रत्येकम् अन्तःकोटिकोटिसागरोपमम्	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्मनुष्यौ, आनतादि १८ देवभेदाश्च २०	अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियभेदः १	अपर्याप्तत्रस० १
ज्ञानावरण-दर्शनाव० वेदनी० अन्तराय० } ३/७ सागरोपमम् मोहनीयस्य— १ सागरोपमम् नाम-गोत्रयोः— २/७ सागरोपमम्		एकेन्द्रियौघ० बादरौघ० बादरपर्याप्त० ३	ओघ-बादर-तत्पर्याप्तभेद-भिन्नाः पृथ्वी-जला-ऽग्नि-वायु-साधारणवनसत्काः १५। वनौघ० ओघ-पर्याप्त-प्रत्येकवनस्पतिभेदौ च १८
ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० अन्तरा० } पल्योपमाऽसंख्यभागोन० ३/७ सागरोपम० ,, मोहनीयस्य— १ ,, ,, नामगोत्रयो. २/७ ,, ,,		बादरापर्याप्त-सर्व-सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदा ४	सर्वसूक्ष्म-बादराऽपर्याप्त-भेदभिन्ना. पृथ्वी-जला-ऽग्नि-वायु-साधारणवन-सत्का २०। अपर्याप्त-प्रत्येकवनस्पतिभेदश्च. २१ →
ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० अन्तरा० } ७५/७ सागरोपमम् मोहनीयस्य— २५ ,, नाम-गोत्रयो — ५०/७ ,,		द्वीन्द्रियसत्कौ ओघ-पर्याप्तौ, तदपर्याप्तश्च* →	→
ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० अन्तरा० } १५०/७ ,, मोहनीयस्य— ५० ,, नामगोत्रयो.— १००/७ ,,		त्रीन्द्रिसत्कौ ओघ-पर्याप्तभेदौ, तदपर्याप्तश्च* ३	
ज्ञाना० दर्शना० वेदनी० अन्तरा० } ३००/७ ,, मोहनीयस्य— १०० ,, नामगोत्रयोः— २००/७ ,,		चतुरिन्द्रियसत्कौ ओघ-पर्याप्तभेदौ, तदपर्याप्तश्च* ३	

* एतेष्वपर्याप्तभेदेषु पल्योपमसंख्येयभागेन न्यून उत्कृष्टतोऽपि विज्ञेयः (गाथा—४५)।

—उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणप्रदर्शकं यन्त्रम्

योगः	वेदः	कषा०	ज्ञानम्	संयम	दर्शनं	लेश्या	भव्यः	सम्यक्त्वम्	संज्ञी	आहारी	सर्व० मार्गणा	गाथाङ्काः
मनसः सर्वे ५, वचस. सर्वे ५, काययोगौघ. १, औदारिक. १, वैक्रियः १, १३	स्त्री० पु० नपुं० ३	क्रोधः, मानः, माया, लोभः, ४	मत्यज्ञानं, श्रुताज्ञानं, विभङ्ग- ज्ञान च. ३	असंयमः १	चक्षुः अचक्षु. २	कृष्ण- नील- कापोत. तेजः- पद्मा. ५	भव्यः अभव्य. २	मिथ्यात्वम् १	संज्ञी १	आहारी १	६७	४७
आहारकद्विकम्, औदारिकमिश्र., वैक्रियमिश्रः, कार्मणश्च । ५			मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्य० ४	सयमौघ० सामा० छेद० परिहा० देश- संयमश्च ५	अवधि १	शुक्ला १		सम्यक्त्वौघ., क्षायि० वेदक० औप० सासा० मिश्र० ६		अना- हारी १	४५	३९ ४० ४१
उत्कृष्टस्थितिबन्धमानम्					वेद.							
ज्ञाना० दर्शना० } $\frac{3000}{7}$ सागरोप० वेदनी० अन्तरा० } मोहनीयस्य— १००० ,, नामगोत्रयो.— $\frac{2000}{7}$,,									असञ्ज्ञी १		१	४३
←											२१	४२
घातित्रिकम् } दिनपृथक्त्व / मुहूर्तपृथक्त्वं वा अघातित्रयं } वर्षपृथक्त्व / मासपृथक्त्व वा				सूक्ष्मसपराय- संयम							१	४७
←											२५	४४
ज्ञाना०दर्शना० अन्त०—सङ्ख्येयवर्षसहस्र० मोहनीयस्य—सङ्ख्येयवर्षाणि वेदनी० नाम० गोत्राणाम्—पल्याऽसंख्यभाग०					अपगत- वेद० १						१	४६
←											३	४३
←											३	४३
											३	४३
←											१७०	

आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणामोघाऽऽदेशतो—

सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धमानम्			गतिः	इन्द्रियम्	कायः
ओघवत घातिचतुष्कस्य ... . अन्तर्मुहूर्तम्, वेदनीयकर्मणः ... . १२ मुहूर्ता., नाम-गोत्रकर्मणोः . . . . ८ ,,			मनुष्यौघतत्पर्याप्तभेदौ मानुषी च, ३	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २	त्रसौघतत्पर्याप्त-भेदौ, २
ज्ञाना० दर्शनाव० } वेदनी० अन्तराय० } ३०००/७ सागरोपम० मोहनीयस्य १००० ,, नाम-गोत्रयो· २०००/७ ,, } पल्यसङ्ख्येयभागेन न्यून०			नरकौघः, प्रथमा च, देवौघ., भवन-व्यन्तरौ, अपर्याप्तमनुष्य , सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्च १०	अपर्याप्तपञ्चे-न्द्रियभेदः, १	
ज्ञाना० दर्शनाव० } वेदनी० अन्तराय० } ३/७ सागरोपम० मोहनीयस्य १ ,, नाम-गोत्रयो. २/७ ,, } पल्यासङ्ख्येयभागेन न्यून०			तिर्यगोघभेद , १	सर्वे एकेन्द्रिय-भेदा·, ७	पृथिव्यादिपञ्च-कायसत्का सर्वे भेदा., ३६
सप्ताना प्रत्येकम् .. अन्त.कोटीकोटीसागरोपमाणि,			शेषनिरयदेवभेद० ३३		
सप्ताना प्रत्येक पल्यसंख्याशेन न्यून. स्वस्वोत्कृष्ट.—				विकले० ६	
ज्ञाना० दर्शनाव० } वेदनी० अन्तराय० } ७५/७ सागरोपम० मोहनीयस्य २५ ,, नाम-गोत्रयो. ५०/७ ,, } पल्यसङ्ख्येयभागेन न्यून०					अपर्याप्तत्रस-कायभेद , १
घातित्रयस्य * सङ्ख्येयवर्षसहस्र०	मोहनीयस्य सङ्ख्येयवर्षशत०	अघातित्रयस्य पल्याऽसङ्ख्यभाग०			
सङ्ख्येयवर्षशत०	१६ वर्षाणि	सङ्ख्येयवर्षसहस्र०			
,,	द्वौ मासौ	,,	.. .	.	... ...
वर्षपृथक्त्वम्	एको मास	सङ्ख्येयवर्षशत०			
मासाना पृथक्त्वम्	१५ दिनानि	वर्षपृथक्त्वम्	.. . ..	.. . .	. ..
दिनाना मुहूर्ताना वा ,,	अन्तर्मुहूर्तम्	मासपृथक्त्वम्			
सप्तानामपि ओघापेक्षया द्विगुणो बन्ध					
			४७	१६	४२

* मोहनीयवर्जानां षण्णां संख्येयवर्षसहस्राणि वा (गाथा – ६८)।

—जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणप्रदर्शकं यन्त्रकम्

योगः	वेदः	कषा०	ज्ञानं	संयमः	दर्शनं	लेश्याः	भव्यः	सम्यक्त्वम्	संज्ञी	आहारी	सर्वा मार्गणा	गाथाङ्काः
मनसः सर्वे, वचसः सर्वे, काययोग-सामान्य., औदा० १२	पुंवेदः १	लोभः १	मत्यादि (४) ज्ञान० ४	संयमौघ० सूक्ष्मसंप० २	सर्व० ३	शुक्ल० १	भव्यः १	सम्यक्त्वौघ०, क्षायिकं च, २	संज्ञी १	,, १	३६	७०
											११	५६ ५७
औदारिकमिश्र, कार्मणयोगश्च । २			मत्य० श्रुताऽज्ञाने, १	असंयम. १		कृष्ण० नील० कपो० ३	अभव्यः १	मिथ्यात्वम् १	असं० १	अनाहारी १	५६	५६ ६० ६१
वैक्रि० तन्मिश्र० आहा० तन्मिश्र० ४			विभङ्ग २	परिहार० देश० २		तेजः० पद्म० २		वेदक. मिश्र. सासादन० ३			४५	५८
											६	६२
											१	६२
	स्त्री० नपुं०										२	६३
	पुरुष०										१	६४
....	....	क्रोध	.	...	.. .	....	...	....	....	...	१	६५
		मान.									१	६६
....	....	माया	....	.... .	...	. .. .	...	....	....	...	१	६७
				सामा० छेद०							२	६८
								औपशमिकं			१	७०
१८	४	४	७	७	३	६	२	७	२	२	१७०	

	स्थितिबन्धः	अबाधा	गति	इन्द्रिय०	कायः	योगः
↑ उत्कृष्टपदे ↓	ओघवत् ३३ सागरोपमाणि	पूर्वकोटीत्रिभाग०	३ तिर्यग्गतिभेद० ३ मनुष्यगतिभेद० ६※	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्तभेद० २	त्रसौघ० तत्पर्याप्तश्च० २	सर्वे मनोवचोयोगभेदाः कायौघ० औदा० आहा० आहारकमिश्रयोगश्च । १४
	पूर्वकोटि०	६ मासा०	सर्वनिरयदेवा॰			वैक्रियकाययोग०
	,,	अन्तर्मुहूर्तं,				औदारिकमिश्र०
	,,	स्वीयोत्कृष्टभवस्थितेस्तृतीयभागमाना,	अपर्याप्तमनुष्य, ,, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्, २	७ सर्वैकेन्द्रिय० ६ सर्वविकलेन्द्रि० १ अप-पञ्चेन्द्रि० १७	वनस्पत्यान्ताना सर्वे भेदा, अपर्याप्तत्रसश्च० ४०	
	२२ सागरो०	पूर्वकोटित्रिभाग.	तिरश्ची ...	... .	.. ...	.. ...
	१० ,, साधिक०	,	....	....	.... ..	.. .
	३ ,, ,,	,,	... ...	....	... ...	....
	२ ,, ,,	,,	....	....	....	....
	१८ ,,	,,	...	....	....	....
	३१ ,	,,	.	....	....	....
	पल्यासङ्ख्यभाग०	,,	... ...	....	....	....
	सहस्रारसत्कः—	,,	. ...	... ...	... ...	.. ...
↑ जघन्यपदे ↓	स्थितिबन्ध. अन्तर्मुहूर्तं,	अन्तर्मुहूर्तम् अबाधा	सर्वे नरकभेदा., देवौघ, ईशान्ता देवभेदाश्च, १४			वैक्रियकाययोग. १
	मुहूर्तपृथक्त्व क्रमात् वर्षपृथक्त्वं ।		सनत्कुमार-माहेन्द्रौ, .. ब्रह्म-लान्तकौ .. शुक्र-सहस्रारौ ... आनतादयचश्चतुर्भेदा॰ . . ६ ग्रैवेयक; ५ अनुत्तर; ...	... ... / .... . / .... .. / ... . /	.... / .... / . .... / ... . /	. .... / .... / .... / . .... / ....
	लान्तकसत्क.—					• आहारक-तन्मिश्रौ,
	पल्यपृथक्त्वम्					
	ओघवत् क्षुल्लकभव०		सर्वे तिर्यग्भेदा., ५ सर्वे मनुष्यभेदा, ४	सर्वे भेदाः १६	सर्वे भेदाः ४२	५ मनसः, ५ वचस., कायौघ॰, औदा०, तन्मिश्र;

※ तिर्यगोघः, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, तथा मनुष्योघः, तत्पर्याप्त॰, मानुषी चेति षड्भेदाः । • मतान्तरे-पल्योपमपृथक्त्वम् ।

वेदः	कषाय	ज्ञानम्	संयमः	दर्शनं	लेश्याः	भव्यः	सम्यक्त्वं	संज्ञी	आहा०	मार्गणाः सर्वाः	गाथाङ्कः
सर्वे ३	सर्वे ४	३ अज्ञान० ४ ज्ञान० ७	संयमौघ० सामा० छेद० असंयमश्च ४	चक्षुरादि० ३	कृष्णा० शुक्ला० २	भव्य. अभव्य. २	सम्यक्त्वौघ० क्षायि० वेदक० मिथ्यात्व० ४	संज्ञी १	आहारक० १	५५	५४
										३६	४८
										१	४९
										५६	५०
.		. ...	देशसंयम ...		.... ..	. .	... ...	....	....	२	५३
....	.	....	.... . .	....	नीला+	. .	....	....	....	१	५२
....		.. .. ..	.... .		कापोती❀		....	...	....	१	,,
...		.. ....	....	..	तैजसी	....	... .	....	....	१	५३
....	....	.. .	....	....	पद्मा	...	.... . .	....	....	१	,,
	...	....	....	...	....	..	सासादनम्	....	....	१	५४
.	....	.	... .	...	.	....	....	असंज्ञी	....	१	,,
....	..	....	परिहारविशुद्धिक ×	...	... ...	...	... .	...	....	१	५१
					तैजसी,		सासादनम्,				७१
					१		१			१७	७२
...	.	.	... .	...	....	....	....	....	....	२	७२
...	....	.. ..	....	..	पद्मा	....	... . .	....	....	२	यावत्
...	....	.. .	... .	...	....	...	....	....	....	३	
.. .	...	.. ..	...	....	शुक्ला	....	....	....	....	५	७६
....	....	मति, श्रुत, अवधि,	....	अवधि	.... .	....	सम्यक्त्वौघ, क्षायिक, वेदक. ३		....	२१	७४
										२	७३
		मन.पर्यव.	सयमौघ, सामायिक, छेद, परिहार, देश;							६	७५
वेदत्रयी,	सर्वे ४	अज्ञानत्रयं, ३	असंयम., १	चक्षु· अचक्षु·	तिस्रोऽशुभाः	सर्वे २	मिथ्यात्वम् १	सर्वे २	आहा० १	१०५	७६

मतान्तरे— +सप्तदशसागरोप०, ❀सप्तसागरोप०, ×त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।

अतस्तेजोलेश्यामार्गणाप्रविष्टेषु भवनपत्यादिदेवेषु यावानन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुषो जघन्यस्थितिबन्धो भवति, तावान् दशवर्षसहस्राणि तेजोलेश्यामार्गणायामायुषो जघन्यस्थितिबन्धो ज्ञातव्यः, इत्थमेव पद्मलेश्याकादीनां सनत्कुमारादिदेवानामायुषो जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणानुसारेण पद्मलेश्यादिमार्गणाद्वये आयुषो जघन्यस्थितिबन्धो यथासम्भवं बोद्धव्य इति ।

अथोक्तशेषमार्गणास्वाह—"सेसासु खुड्डभवो"त्ति अनन्तराभिहिता नरकगत्यादिशुभलेश्यात्रयान्ता अष्टपञ्चाशन्मार्गणा विहाय शेषासु तिर्यग्गत्यादिपञ्चोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् "खुड्डभवो" त्ति ओघवत्क्षुल्लकभवः—षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयावलिका इत्यर्थः । आयुषो लघुः स्थितिबन्धो ज्ञेय इत्यनुवर्तते । शेषमार्गणा नामत इमाः—पञ्च तिर्यग्गतिमार्गणाभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, एकान्नविंशतिरेकेन्द्रियादिजातिमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशत्पृथिव्यादिकायमार्गणासत्कभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रकाययोगभेदाः, त्रयः स्त्र्यादिवेदभेदाः, चत्वारः क्रोधादिकषायभेदाः, मत्यज्ञानादिरूपास्त्रयोऽज्ञानभेदाः, असंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकं संख्येयवर्षायुषां मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्यान्यतराणां प्रवेशात् तैः क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितिकायुर्बन्धस्य निर्वर्तनाच्चायुषो जघन्यस्थितिबन्धप्रमाणं तथैव दर्शितमिति ॥७६॥

तदेवं प्रतिपादितं शेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धमानमादेशतोऽपि, तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं स्थितिबन्धप्रमाणाख्यं प्रथमं द्वारम् ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे प्रथमं स्थितिबन्धप्रमाणद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं द्वितीयस्वामित्वद्वारस्यावसरः, तत्र सप्तानां मूलप्रकृतीनामनन्तरोक्तप्रमाणायाः कर्मरूपतावस्थानलक्षणायाः स्थितेर्बन्धस्वामिनः प्ररूपणीयाः, ते चोत्कृष्ट-जघन्यभेदभिन्नायाः स्थितेः स्वामिनः स्थितिबन्धप्रमाणवदोघत आदेशतश्च द्विधा प्ररूप्यन्ते, तत्रादावुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन ओघतः प्ररूपयितुकाम आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

सागारो जागारो सुओवउत्तो पणिंदियो सरणी ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं चउगइट्ठो ॥७७॥
मिच्छादिट्ठी उ परमसंकेसेणीसिमज्झिमेणं वा ।
परिणामेणं बंधइ सत्तण्ह ठिइं उ उक्कोसं ॥७८॥

(प्रे०) "सागारो"इत्यादि, "सागारो" इत्यादिनाऽभिहितविशेषणविशिष्टो जीवः परमसंक्लेशेनेपन्मध्यमेन वा परिणामेन, सप्तानामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नातीति द्वितीयगाथायां सम्बन्धः । तत्र "सागारु"त्ति विशेषावबोधलक्षणेन साकारेणोपयोगेनोपयुक्तः, स एव ज्ञानज्ञानिनोरभेदनयेन साकार इत्युक्तः । अत्र साकारोपयोगयुक्त इति विशेषणात् सामान्यावबोधलक्षणेन दर्शनोपयोगेनोपयुक्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं प्रतिषिद्धमिति बोद्धव्यम् । पुनः किं विशिष्ट इत्याह–"जागारो"त्ति 'जाग्रत्'-अनुदितनिद्रोदय इत्यर्थः, एतेन हि येषां साकारोपयोगसत्वेऽपि निद्रानुभवो विद्यते तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धो न भवतीति ज्ञापितम् । पुनः किंविशिष्ट इत्याह–'सुओवउत्तो"त्ति श्रुतोपयुक्तः, ननु साकारोपयुक्त इति ग्रहणादेव श्रुतोपयुक्तो गृहीतो भवति, सामान्ये तद्विशेषाणां समावेशाद् ? इति चेद्, न, साकारोपयुक्ता हि मत्याद्युपयुक्ता अपि भवन्ति, न च तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धः सम्भवति, अतस्तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिषेधार्थं श्रुतोपयुक्त इत्यस्य ग्रहणं कृतम् ।

नन्वेवमपि प्रकृतविशेषणम् "मिच्छादिट्ठी" इत्यनेन वक्ष्यमाणविशेषणेन कथं न विरुध्येत, मिथ्यादृशामज्ञानरयैवागमेऽङ्गीकारेणाऽऽवश्यकाऽऽचाराङ्गादिलक्षणश्रुतोपयोगस्यासम्भवात् । न चात्र वक्ष्यमाणस्य विकल्पार्थकस्य वाशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् साकारो वा जाग्रद्वा श्रुतोपयुक्तो वा पञ्चेन्द्रियो वा, एवं यावन्मिथ्यादृष्टिर्वेत्युत्कृष्टस्थितिबन्धकानां विकल्पाः प्रदर्श्यन्ते, ततश्च श्रुतोपयुक्तमिथ्यादृष्ट्योर्विशेषणविशेष्यभावानङ्गीकारेण न स्यात्कश्चिद्विरोध इत्यपि वक्तुं युज्यते; तथा सति "चउगइट्ठो" इत्येतावन्मात्रमपि पर्याप्तं स्यात्, तत एव निःशेषस्य प्राणिसमुदायस्य ग्रहणेन साकारोपयुक्तादीनामपि ग्रहणात् । न च तथैवास्त्वित्यपि वाच्यम् । एकेन्द्रियादिविपुलसत्त्वसमाजेषूत्कृष्टतोऽपि सप्तमूलकर्मणामौघिकोत्कृष्टस्थितियन्धस्य त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिलक्षणस्यान-

भिधानादित्यसङ्गतमिव लक्ष्यत एतद् ? इति चेद्, न, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । यतः "श्रुतोपयुक्त" इत्यस्य मिथ्यादृष्टिविशेषणतयाऽङ्गीकारात् श्रुतपदेन श्रुताज्ञानं गृह्यते, न पुनः श्रुतज्ञानम्, येनोक्तविरोधः स्यात् । इदमुक्तं भवति—अविशेषितं श्रुतं श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानं च भवति, विशेषितं पुनस्तत् सम्यग्दृष्टेः श्रुतज्ञानं भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु श्रुताज्ञानं भवति, उक्तं च श्रीनन्द्यध्ययनागमे—"अविसेसियं सुयं सुयनाणं सुयअन्नाणं य, विसेसियं सुयं सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं" इति । प्रकृते च "साकार" इत्यादिविशेषणानि मिथ्यादृष्टिजीवस्य विशेषणतयोपात्तानि, ततश्च श्रुतोपयुक्त इतिविशेषणमपि मिथ्यादृष्टिजीवस्य, तेन श्रुतपदेन श्रुताज्ञानं गृह्यते, तथा च सतिश्रुताज्ञानोपयुक्तो मिथ्यादृष्टिरिति न कश्चिद्विरोध इति । यद्वा यथाश्रुतं श्रुतोपयुक्त इत्यनेन साभिलापज्ञानोपयुक्तता तत्स्वामिनो गृह्यते, सा च मिथ्यादृष्टेरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न कुत्रचिद्विरुध्यते, श्रुतज्ञान-श्रुताज्ञानयोर्द्वयोरपि साभिलापज्ञानरूपत्वाऽविशेषात्, अत एव शास्त्रार्थविवरणचञ्चुभिः श्रीमन्मलयगिरिपादैः श्रीप्रज्ञापनासूत्रवृत्तौ नरकगतिभेदे उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां श्रुतोपयुक्ततेति साभिलापज्ञानोपयुक्तता प्रज्ञापयाञ्चक्रे । तथा च तद्ग्रन्थः—

"सुत्तोवउत्ते" त्ति साभिलापज्ञानोपयुक्त इति भाव." इति ।

उक्तविशेषणविशिष्ट एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामन्यतमोऽपि स्यादिति तेषां व्यवच्छेदायाह—"पर्णिदियो" त्ति पञ्चेन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवानित्यर्थः । एवम्भूता असंज्ञिनोऽपि भवेयुः, न च तेषामधिकोत्कृष्टस्थितिबन्धो जायत इति तेषामपि व्यवच्छेदार्थमाह—"सण्णी" त्ति विशिष्टस्मरणशक्तिरूपा या दीर्घकालिकीसंज्ञा तयोपेत इत्यर्थः, न पुनराहारादिसंज्ञया संज्ञी, तदपेक्षया संज्ञीतिव्यवहारस्यागमेष्वपरिभाषणात् । निरुक्तसर्वविशेषणविशिष्टः संज्ञी जीवोऽप्यपर्याप्तावस्थायां तथाविधमानससामर्थ्यापेतत्वादधिकोत्कृष्टस्थितिबन्धं निर्वर्तयितुं नालं भवति, अतस्तादृशस्याऽपर्याप्तावस्थस्य संज्ञिनोऽपि व्यवच्छेदार्थमाह—"पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं" त्ति संज्ञिनः प्रायोग्याभिः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यर्थः । उक्तं च शतकचूर्णौ—

"सव्वासिं पगईणं उक्कोसठिई मिच्छद्दिट्ठी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तो सव्वसंकिलिट्ठो बंधइ" इति ।

अत्र संज्ञिनः प्रायोग्याः पर्याप्तयस्त्वाहारप्रभृतयः षड् । उक्तं चान्यत्र— "आहार-सरीरिं-दिय पज्जत्ती आणपाण-भास-मणे । चउ-पंच-पंच-छप्पिय इग-विगला-ऽसन्नि-सन्नीणं" इति ।

ननु निरुक्तविशेषणविशिष्टो नैरयिकजीव एव भवति उतान्योऽपीत्याह—"चउगइट्ठो" इत्यादि, 'चतुर्गतिस्थः'—नरक-तिर्यग्-मनुष्य-देवलक्षणचतुर्गतीनामन्यतमगतिस्थः, अन्यतमगतौ वर्तमानो नारकादिर्मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति, न केवलो मिथ्यादृष्टिर्नैरयिकजीव एवेत्यर्थः । तुशब्दोऽवधारणे । मिथ्यादृष्टेरुपादानं पुनः सम्यग्दृशां व्यवच्छेदार्थम्, सम्यग्दृशां सप्तकर्मणामन्तःकोटीकोटीसागरोपमेभ्योऽधिकस्थितिबन्धप्रायोग्यः संक्लेश एव न भवतीति भावः । इत्थं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धेऽप्रधानहेतून् बन्धकविशेषणतयाऽभिधाय मुख्यहेतुरयमिति दिदर्शयिषुरुत्कृष्टस्थितिबन्धमुख्यहेतुं स्वातन्त्र्येणाभि-

(अनुसन्धानं षडधिकशततमपृष्ठषष्ठपङ्क्तौ)

ननु प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशप्राप्त्यर्थं किञ्चिन्न्यूनसार्धद्विगुणहान्या कुतो विभज्यन्ते सत्तागतसर्वप्रदेशाः ? इति चेत्, उच्यते–इहादौ तावत् प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका द्विगुणहानिवर्गणामात्र्यो वर्गणाः स्थाप्याः, असत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकद्विशतप्रदेशकाः (२५६) षोडश (१६) वर्गणाः । सत्तामाश्रित्य सर्ववर्गणास्तुल्यप्रदेशका न भवन्ति, परन्तु प्रथमवर्गणापेक्षया द्वितीयवर्गणायामेकचयेन हीनाः प्रदेशा भवन्ति, तृतीयस्यां द्वाभ्यां चयाभ्यां हीनाः, चतुर्थ्यां त्रिभिश्चयैर्हीना भवन्ति, एवं क्रमेण प्रथमद्विगुणहानेश्चरमस्पर्धकचरमवर्गणायां प्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणापेक्षयैकोनद्विगुणहानिवर्गणाराशिमात्रैश्चयैर्हीनाः प्रदेशा भवन्ति । ताँश्चयान् सङ्कलय्य तेषां प्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणा निष्पादयितव्याः, निष्पाद्य च तासु प्राक्स्थाप्याभ्यो द्विगुणहानिवर्गणाप्रमाणाभ्यो वर्गणाभ्यो विशोधितासु शेषाः प्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणा प्रथमद्विगुणहानिसर्वप्रदेशनिष्पन्नाः । इह च यानां सङ्कलनं करणादिनिष्पादनादिकं चेत्थम्–"संकरदघ्नपदाधेमयैकाद्यङ्कयुतिः किल सङ्कलिताख्या" इत्यनेन करणसूत्रेण सर्वचयाः सङ्कलयितव्याः, पदं चेह द्विगुणहानिवर्गणाराशिः, असत्कल्पनया १६ । अनेन करणसूत्रेणाऽसत्कल्पनामाश्रित्य सङ्कलिताश्चयाः $(१५+१) \times \frac{१५}{२} = १२०$ । प्रथमद्विगुणहानिसङ्कलितचयैः प्रथमद्विगुणहान्येकचयप्रदेशा गुण्यन्ते, तदा प्रथमद्विगुणहानिसर्वचयप्रदेशा प्राप्यन्ते, असत्कल्पनया $१२० \times ८ = ९६०$ । ते च प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशैर्विभज्यन्ते, तदैकवर्गणोनद्विगुणहानेश्चतुर्भागप्रमाणाः प्रथमद्विगुणप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणा लभ्यन्ते, असत्कल्पनया $\frac{९६०}{२५६} = \frac{१५}{४}, \frac{१६-१}{४} = \frac{१५}{४} = ३\frac{३}{४}$ । ताश्च द्विगुणहानिवर्गणाप्रमाणाभ्यो वर्गणाभ्यो विशोधयितव्याः, विशोधने कृते प्रथमवर्गणाचतुर्भागाधिकद्विगुणहानित्रिचतुर्भागप्रमाणाः प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणाः ताश्चाऽसत्कल्पनया $१६-३\frac{३}{४}=१२\frac{१}{४}$, । प्रतिवर्गणं प्रदेशास्तु २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, २५६, ६४ । इत्थं यथोत्तरमेकैकचयहीनप्रदेशकत्वेनाऽवतिष्ठमानाः प्रथमद्विगुणहानिसर्ववर्गणाः स्वप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशकाः क्रियन्ते, तदा स्वप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणाः स्वप्रथमवर्गणाचतुर्भागाधिकद्विगुणहानित्रिचतुर्भागप्रमाणा भवन्ति, असत्कल्पनया $१२\frac{१}{४}$ । एवं शेषद्विगुणहानीनामपि वर्गणाः स्वस्वप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशकाः क्रियन्ते, तदा स्वस्वप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणाः स्वस्वप्रथमवर्गणाचतुर्भागाधिकद्विगुणहानित्रिचतुर्भागप्रमाणा लभ्यन्ते, असत्कल्पनया $१२\frac{१}{४}$ । यदि पुनस्ताः प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशकाः क्रियन्ते, तदा पूर्वपूर्वद्विगुणहानिवर्गणातोऽर्धा अर्धा भवन्ति, असत्कल्पनया $६\frac{१}{८}$, $३\frac{१}{१६}$, $१\frac{१७}{३२}$ उत्तरोत्तरद्विगुणहानिप्रथमवर्गणाप्रदेशानां द्विगुणहीनत्वात् । अथ प्रथमद्विगुणहानिवर्जशेषद्विगुणहानीनां प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणाः सङ्कलयितव्याः, सङ्कलिताश्च ताश्चरमद्विगुणहानिप्रदेशनिष्पन्नप्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशकवर्गणाहीनप्रथमद्विगुणहानिसत्कस्वप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशकसर्ववर्गणाप्रमाणा भवन्ति, असत्कल्पनया $६\frac{१}{८}+३\frac{१}{१६}+१\frac{१७}{३२}=१०\frac{२३}{३२}, (१२\frac{१}{४}-१\frac{१७}{३२})=१०\frac{२३}{३२}$ । ताश्च स्वप्रथमवर्गणाचतुर्भागाधिकद्विगुणहानित्रिचतुर्भागप्रमाणासु प्रथमद्विगुणहानिवर्गणासु प्रक्षिप्यन्ते, तदा प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशका वर्गणाः किञ्चिन्न्यूनसार्धद्विगुणहानिप्रमाणा लभ्यन्ते, असत्कल्पनया $१२\frac{१}{४}+१०\frac{२३}{३२}=\frac{७३५}{३२}=२२\frac{३१}{३२}$ । एतावत्प्रथमवर्गणामात्राः प्रदेशाः सत्तायां भवन्ति । यत एतावत्प्रथमवर्गणामात्राः प्रदेशाः सत्तायां भवन्ति, तत एतावतीभिर्वर्गणाभिर्विभक्तेषु प्रदेशेषु प्रथमद्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशा लभ्यन्ते । तथा यत एव द्विगुणहानीनां सर्वप्रदेशाः स्वस्वप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाचतुर्भागाधिकद्विगुणहानित्रिचतुर्भागप्रमाणस्वस्वप्रथमस्पर्धकवर्गणाप्रदेशतुल्यप्रदेशकवर्गणामात्रा भवन्ति, ततस्ताभिः ($\frac{३}{४}$ द्विगुणहानिः $+\frac{१}{४}$) तत्तद्द्विगुणहानिसकलप्रदेशेषु विभक्तेषु तत्तद्द्विगुणहानिप्रथमस्पर्धकप्रथमवर्गणाप्रदेशा लभ्यन्ते । तेन नवोत्तराधिकशततमपृष्ठे को विंशतितमपङ्क्तौ "द्विगुणहानिं त्रिचतुर्भागीकृत्य०" इत्यादिकरणमुक्तम् ।

दधाति—"परमसंकेसेणीसिमज्झिमेणं वा परिणामेण"मिति, स्थितिबन्धस्य प्रकृतत्वात् "परमसंकेसेण"त्ति 'परमेण'–उत्कृष्टेन स्थितिबन्धसंक्लेशेन, समस्तेऽपि भवचक्रे कस्याऽपि जीवस्य यस्मादधिकः संक्लेशो न प्राप्यते सः 'परमः'-सर्वोत्कृष्टः कषायोदयजन्यः परिणामविशेषः संक्लेशस्तेनेत्यर्थः। उत्कृष्टस्थितिबन्धो यथा सर्वसंक्लेशेन जायते, तथा तदन्यसंक्लेशैरपि जायते। कुतः? प्रतिस्थितिबन्धमसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितानां स्थितिबन्धसंक्लेशानां हेतुतया भणितत्वात्। वक्ष्यते चात्रैव ग्रन्थेऽग्रे षष्ठाधिकारे—"पइठिइबधमसंखा लोगा अट्ठवह अज्झवसणाण"मित्यनेन प्रतिस्थितिबन्धस्थानं नानाजीवानाश्रित्य तत्कारणीभूता असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अध्यवसायाः सन्तीति। अत्रोत्कृष्टसंक्लेशेन तेष्वसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितेषूत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेष्वेकः सर्वतीव्ररसोदयजन्यः काषायिकः संक्लेशो गृहीतः, न पुनः शेषाः, अतस्तेषामपि संग्रहायोक्तम्—"ईसिमज्झिमेणं वा परिणामेणं" ति उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्येषु संक्लेशेषु योऽनन्तरमुत्कृष्टसंक्लेशो गृहीतस्तस्मादुत्कृष्टसंक्लेशाद्धीनहीनतरा ये शेषाः स्थितिबन्धसंक्लेशास्ते प्रत्येकमीषन्मध्यमसंक्लिष्टपरिणामतया गृह्यन्ते तेष्वेकैकेनेषन्मध्यमपरिणामेनेत्यर्थः। अथवा सर्वसंक्लेशापेक्षया ये मध्यमादयः संक्लेशास्त एवेषन्मध्यमपरिणामेन गृह्यन्ते, अथवा ईषदिति सर्वलघुः सर्वजघन्यसंक्लेशः, मध्यमेति जघन्यसंक्लेशोत्कृष्टसंक्लेशयोर्मध्ये वर्तमाना मध्यमपरिणामाः। एते सर्वेऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायानपेक्ष्य बोद्धव्याः, तेषूत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशेषु य उत्कृष्टः संक्लेशः सोऽनन्तरम् "परमसंकेसेण"इत्यनेन गृहीतः, ईषत्पदेन जघन्यो गृह्यते, मध्यमपदेन तु शेषा उत्कृष्टजघन्ययोर्मध्यवर्तिनः परिणामाः–संक्लेशा गृह्यन्ते, इत्थं हि निरुक्तविशेषणविशिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीव उत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टस्थितिं बध्नाति, उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्येन जघन्यसंक्लेशेन मध्यमपरिणामेन वा सप्तकर्मणामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नातीत्यर्थः। उक्तं च शतकचूर्णौ—

"उक्कोससंकिलेसेणं जाणि संकिलेसठाणाणि उक्कोसठिइं णिव्वत्तेन्ति, तेसु सव्वंतिमो उक्कोससंकिलेसो वुच्चइ, तेण उक्कोसियं ठिइं णिवत्तेन्ति, "ईसिमहमज्झिमेणावि" त्ति तओ उक्कोससंकिलेसाओ उणउणतराणि य ठिइबंधज्झवसाणठाणाणि, तेहिं पि तमेव उक्कसिय ठिइं णिवत्तेन्ति, ते ईसिमज्झिमा वुच्चंति, अहवा सव्वसंकिलेसे पडुच्च मज्झिमाइया ते चेव ईसिमज्झिमा वुच्चंति, अहवा उक्कोसियं ठिइं णिवत्तेन्ति, जाणि अज्झवसाणठाणाणि तेसु सव्वखुड्डगं ईषत्, तेणवि तमेव उक्कोसियं ठिइं णिव्वत्तेन्ति, जहन्नुक्कोसाण मज्झे जाणि अज्झवसाणठाणाणि ताणि मज्झिमाणि तेहितो वि तमेव उक्कोसियं ठिइं णिव्वत्तेन्ति" इति।

हेतुतयोपात्ताऽपि प्रकृतपदद्वयस्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिविशेषणतया योजनीया। कुतः? स्वामित्वप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वात्। तथा च योजने साकारो जाग्रत् साभिलापज्ञानोपयुक्तः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तोऽन्यतमगतिस्थः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वसंक्लेशे वर्तमानः सन्नीषन्मध्यमसंक्लेशे वा वर्तमानः सन् मिथ्यादृष्टिर्जीवः "सत्तण्ह" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां "ठिइ उ उक्कोस"मिति उत्कृष्टां प्राग्दर्शितां त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिलक्षणां स्थितिं बध्नातीत्युत्तरेण योगः, स च प्राग्दर्शित एवेति। इदन्तु बोध्यम्—अत्र सर्वसंक्लेशे वर्तमान ईषन्मध्यमसंक्लेशे वर्तमानो वा

सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीत्येतावदपि पर्याप्तं स्यात्। कुतः ? साकाराद्युक्तविशेषणविरहितानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यस्योत्कृष्टसंक्लेशस्येषन्मध्यमसंक्लेशस्य चानवाप्तेः। तथाऽप्येतादृश उत्कृष्टसंक्लेश ईषन्मध्यमो वा संक्लेशः केषां जीवानां किंदगवस्थायां प्राप्यत इत्यनवगते उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिविषयकः स्पष्टावबोधो न जायेतेति सविशेषमभिहितम्। "सागारो" इत्यादिपदेष्वेकवचनान्तो निर्देशस्तु जातिमधिकृत्य, ततस्तादृशा ये केचनाऽपि मिथ्यादृष्टिजीवास्ते सर्वेऽपि सप्तानामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन इत्यपि बोद्धव्यमिति ॥७७।७८॥

तदेवं दर्शिता मूलसप्तकर्मणामौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः। साम्प्रतमायुषस्तान् दर्शयन्नाह–

सागाराइविसिट्ठो वट्टमाणो उ गुरुअबाहाए।
सण्णी खलु सव्वाहिं पज्जत्तीहिं य पज्जत्तो ॥७६॥
तयणुरुवसंकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी पणिंदितिरिय-णरो।
तदरिहसुद्धपमत्तो वाऽऽउस्स उ बंधइ गुरुठिइं ॥८०॥

(प्रे०) "सागाराइविसिट्ठो" इत्यादिगाथाद्वयम्, तत्र "सागाराई"त्यादि प्राग्वद् व्याख्येयम्, तुकारस्त्ववधारणार्थः "गुरुअबाहाए" इत्यस्योत्तरं योज्यः, ततः "गुरुअबाहाए उ वट्टमाणो' त्ति पूर्वकोटीतृतीयभागप्रमाणायां वेद्यमानायुरवशेषलक्षणायां "गुर्व्याम्' उत्कृष्टायामबाधायामेव वर्तमान इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति–कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्याऽधिकृतत्वाद् बन्धसमयप्रभृतिकचरमनिषेकपर्यन्तप्रमाणायाः स्थितेर्बन्धका द्रष्टव्याः; सा च स्थितिरोघतः पूर्वकोटीत्रिभागेनाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा उत्कृष्टतो भवति, तत्र पूर्वकोटीत्रिभागस्त्वबाधा। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं नरकायुर्बध्नतां देवायुर्वा बध्नतां सर्वेषां न सा उत्कृष्टाबाधा सम्पद्यते, किन्तु बहूनां समयादिना हीनाहीनतरायैव, केषाञ्चिदेवोत्कृष्टा पूर्वकोटीत्रिभागलक्षणा। तत्र येषां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं नरकायुर्देवायुर्वा बध्नतामुत्कृष्टा पूर्वकोटीत्रिभागलक्षणाऽबाधा न संपद्यते, किन्तु समयादिना हीना सम्पद्यते, तेषां प्रस्तुतकर्मरूपतावस्थानलक्षणोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं न भवति। अत उत्कृष्टाबाधायामेव वर्तमान इत्यनेन तेषां व्यावर्तनं कृतमिति। उत्कृष्टाबाधा पूर्वकोटिस्थितिकाऽसंज्ञिनामपि लभ्यते, न चैते उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, सप्तमपृथिवीनारकतयाऽनुत्तरवासिदेवतया वा तेषामनुत्पत्तेः। इत्थं तेषां व्यावृत्तये उक्तम्—"सण्णी खलु" इति। 'तयणुवसंकिलिट्ठो"त्ति तस्योत्कृष्टस्थितिकायुषो'ऽनुरूपः'–अनुकूलः, अस्य चान्वयः संक्लिष्टपदार्थैकदेशे संक्लेशे, तत उत्कृष्टायुरनुकूलो यः संक्लेशस्तेन युक्तस्तदनुरूपसंक्लिष्टः। ननु 'ज्ञानावरणादीनां सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अपि तस्या ज्ञानावरणादिसत्कोत्कृष्टस्थितेरनुरूपसंक्लेशेनोपेता एव सन्ति, अन्यथा तेषां ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैवाऽसम्भवात्, तत्कथं तत्र "परमसंकेसेणीसिमज्झिमेणं वा" इत्याद्यभिहितम्, अत्र पुनः "तयणुरुवसंकिलिट्ठो" इत्युच्यते ?' इति चेत्, सत्यमेतद्, सर्वेषां स्थितिबन्धानां स्वानुरूप-

संक्लेशैरेव निर्वर्त्यमानत्वात्, तथाप्यायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्येषु संक्लेशेषु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशोऽपि प्रविष्टः, आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धानुरूपसंक्लेशेषु त्वसौ सर्वोत्कृष्ट-संक्लेशो न प्रविष्टः, अत्यन्तसंक्लिष्टैरायुर्बन्धस्यैवाऽकरणात्। उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ—"अत्यन्त-संक्लिष्टानामायुर्बन्धासम्भवात" इति। इत्थं ह्युत्कृष्टसंक्लिष्टानामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वव्यवच्छेदार्थ-मत्र "तयणुरुवसंकिलिट्ठो"इत्युपात्तम्, पूर्वं तूत्कृष्टसंक्लेशेनापि सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य भावाद् "परमसंकेसेणीसिमज्झिमेणं वा" इति व्यस्तमभिहितमिति। 'मिच्छाविट्ठी पणिदितिरियणरो" त्ति मिथ्यादृष्टिरिति प्राग्वत्सम्यग्दृशां व्यवच्छेदार्थम्, आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यस्य संक्लेशस्य सम्यग्दृष्टिष्वघटनात्। कुतः ? सम्यग्दृष्टिभिर्नरकायुषोऽबन्धाद्, देवायुषस्तु विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्च। उक्तं च शतकग्रन्थे—

"सव्वठिईण उक्कोसओ उ उक्कोससकिलेसेणं। विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्जसेसाणं" ॥५८॥

इति। संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो नरस्य च ग्रहणं तु देवनारकाणामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वव्य-वच्छेदार्थम्। इत्थं हि साकारोपयोगादिविशिष्ट आयुष उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धानुरूपसंक्लेशोपेतो यो मिथ्यादृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग् मनुष्यो वा सः, आयुषो गुरुस्थितिं बध्नातीति प्रान्तेऽन्वयः। इदं हि संक्लेशप्रत्ययं सप्तमनरकसत्कोत्कृष्टस्थितिकायुरधि-कृत्याभिहितम्। उत्कृष्टस्थितिकायुस्त्वनुत्तरदेवसत्कमपि बध्यते, विशुद्ध्या बध्यमानस्य तस्य बन्धका-नामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं भवतीति तानपि सङ्गृह्णन्नाह—"तदरिहसुद्धपमत्तो वा" इति, अत्र साकारोपयोगादिविशेषणानां यथायोगमनन्तरगाथातोऽनुवृत्तिर्दृष्टव्या, भावना तु प्राग्वदेव, "तदरिह"त्ति—तस्योत्कृष्टस्थितिकायुषोऽर्हा-प्रायोग्या, अस्याश्चान्वयः प्राग्वत् शुद्धैकदेशे शुद्धौ द्रष्टव्यः, ततस्तस्योत्कृष्टायुषो बन्धेऽर्हा या शुद्धिस्तयाऽन्वितो यस्तदर्हशुद्धः प्रमत्त इत्यर्थः। तत्र तत्प्रायोग्यविशुद्धस्य ग्रहणमत्यन्तसंक्लेश इवात्यन्तविशुद्धावप्यायुर्बन्धस्याऽभावात्। उक्तं च पञ्च-संग्रहवृत्तौ—"अत्यन्तविशुद्धानामायुर्बन्धाभावाद्" इति। प्रमत्तग्रहणं त्वप्रमत्तानामायुष उत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिषेधार्थम्। ननु कस्मादप्रमत्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वं प्रतिषिध्यते, तैरपि देवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणः क्रियत एव ? इति चेत्, सत्यम्, तथापि न ते आयुर्बन्धस्य प्रारम्भकाः, किन्तु केवलं प्रमत्तावस्थायां प्रारब्धस्यैव निर्वाहकाः। उक्तं च—"अपमत्तो बन्धिउं नाढवेइ, पमत्तेनाढत्तमप्पमत्तो बंधेइ" इति। ततः किं ? ततो वेद्यमानपूर्वकोटी-लक्षणायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागस्याद्यसमये प्रमत्तावस्थायामारब्धस्योत्कृष्टस्थितिकायुषो-ऽबाधायाः प्रतिसमयं परिगलनादप्रमत्तावस्थायां बध्यमानमपि तत् मध्यमाबाधोपेतं सन्मध्यमस्थिति-कमेव भवति, न तूत्कृष्टस्थितिकम्। उक्तं च नव्यशतकवृत्तौ देवेन्द्रसूरिपादैः—"पूर्वकोटीत्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्टं लभ्यते, अबाधाया परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्ते"रिति। इत्थं हि साकारोपयोगादिविशेषणविशिष्टास्तदनुरूपसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्या इव साकारोपयोगादि-

विशेषणविशिष्टास्तदनुरूपविशुद्धाः प्रमतसंयता अप्यौघिकोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धस्वामिनो भवन्तीति ॥७६।८०॥

तदेवमभिहिता अष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन ओघतः । साम्प्रतमा-देशतो व्याजिहीर्षुर्लाघवार्थं यासु मार्गणास्वोघवत्तास्वतिदिशति—

सत्तण्ह खलु पणिंदिय-तस-वयदुग-कायचउकसायेसुं ।
अयत-णयणेयरेसुं भविया-ऽऽहारेसु ओघव्व ॥८१॥

(प्रे०) "सत्तण्ह" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानामोघवदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः, उत्कृष्ट स्थितिबन्धस्वामिन इति प्रक्रमादवगम्यते । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह-"खलु पणिंदिये"त्यादि, खलुशब्दो पादपूर्त्यै । द्विकशब्दस्य पञ्चेन्द्रिय-त्रस-वचस्सु प्रत्येकं योजनात् पञ्चेन्द्रियद्विके, त्रसकायद्विके, वचोयोगद्विके चेत्यर्थः, तत्रापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायादपर्याप्तवर्जितौ पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, वचोयोगसामान्या-ऽसत्यामृषावचोयोगौ चैकैकद्विकात् क्रमेण ज्ञातव्याविति । तथा काययोगसामान्य-क्रोधादिचतुःकषायमार्गणाभेदेषु, "अयत-णयणेयरेसुं" इति 'अयते'—असंयमे 'नयने'—चक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदे तथेतरपदादचक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदे चेत्यर्थः, तथा भव्यमार्गणाऽऽहारिमार्गणाभेदयोरित्येतासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं भावनाऽप्योघवदेव द्रष्टव्या इति ॥८१॥

अथ भणितशेषमार्गणासु प्रतिपिपादयिषुर्लाघवार्थं बहुमार्गणाविषयकसमानव्यक्तव्यता-मादावेवाभिदधाति—

सेसासु मग्गणासुं उक्कोसठिईअ बंधगो णेयो ।
सागाराइविसिट्ठो सत्तण्हं आउवज्जाणं ॥८२॥
पज्जत्तापज्जत्ता दुहा वि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं त्ति वत्तव्वं ॥८३॥
उक्कोससंकिलिट्ठो वुच्चइ सत्तण्ह बंधगो जत्थ ।
तत्थ खलु ईसिमज्झिमसंकिट्ठो अवि मुणेयव्वो ॥८४॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, अनन्तरमेव 'सत्तण्ह खलु पणिदिये'त्यादिना कथिताः षोडश-मार्गणाः परिहृत्य शेषासु निरयगत्योघादिमार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धको ज्ञेयः, क इत्याह— "सागाराई"त्याद्युत्तरार्धम्, सुगमं गतार्थं च । एषो हि सामान्यतो बन्धकोऽवसेयः । कुत एवं ज्ञायते ? इति चेद्, विशेषतोऽग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति । अन्यामपि सामान्यवक्तव्यतामाह—"पज्जत्ता-पज्जत्ता" इत्यादि, 'पर्याप्ताः' स्वस्वप्रायोग्याभिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः करणपर्याप्ता इत्यर्थः । अपर्याप्ताः—

पर्याप्तेतराः, यैः स्वप्रायोग्याः पर्याप्तयो न समाप्तास्ते लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्चेत्यर्थः । यदुक्तं लोकप्रकाशतृतीयसर्गे—

"असमाप्य स्वपर्याप्ती,-र्म्रियन्ते येऽल्पजीविताः । लब्ध्या ते स्युरपर्याप्ता, यथा निःस्वमनोरथाः ॥
निर्वर्त्तितानि नाद्यापि, प्राणिभिः करणानि यैः । देहाद्यादीनि करणा,-ऽपर्याप्तास्ते प्रकीर्त्तिताः" ॥इति॥

एवम्भूताः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विविधा अपि जीवाः "त्थि जत्थ" त्ति अकारस्य दर्शनात् 'सन्ति' विद्यन्ते 'यत्र' यस्यां यस्यां मार्गणायां—"तत्थ भवे" त्ति 'तत्र' तस्यां तस्यां मार्गणायां भवेत्, किं भवेदित्याह—"पज्जत्तो" इत्यादि, सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति वक्तव्यं भवेदित्यर्थः । सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकविशेषणतयेत्यनुवर्तते । अयम्भावः—सजातीयेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तजीवेषु पर्याप्तजीवानामेव करणादिविशिष्टसामग्रीसद्भावादुत्कृष्टसंक्लेशादेः सम्भवः, न पुनर्लब्ध्यपर्याप्तानां करणापर्याप्तानां वा । तथा च सति तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिषेधाय निरयगत्योघादिमार्गणासु यासु करणपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च जीवा प्रविष्टाः; यासु च तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु करणपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च जीवाः प्रविष्टास्तासु "सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त" इति सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिविशेषणतया वक्तव्यम्, न पुनर्यास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु केवला अपर्याप्तजीवा एव प्रविष्टास्तासु, केवला वा पर्याप्तजीवाः प्रविष्टास्तासु मनोयोगादिमार्गणास्विति । अथान्यदर्थापत्तिगम्यं मन्दबुद्ध्युपकृतये स्फुटमाह— "उक्कोससंकिलिट्ठो" इत्यादि, "जत्थ" त्ति 'यत्र' यासु मार्गणासु "सत्तण्ह बन्धगो" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः "उक्कोस संकिलिट्ठो" त्ति उत्कृष्टः संक्लिष्टः, अर्थतः सर्वसंक्लिष्टः "वुच्चइ" त्ति "सत्सामिप्ये सद्वा" इत्यनेन सूत्रेण वर्तमानस्य सामिप्ये भविष्यति वर्तमानप्रत्ययस्य प्रयुक्तत्वाद् वक्ष्यत इत्यर्थः । तत्र किमित्याह—"तत्थ खलु" इत्यादि, खलुशब्दोऽवधारणे, स च प्रान्ते योज्यः, ततस्तत्र—तासु मार्गणासु सः—सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धक ओघवदीषन्मध्यमसंक्लिष्टोऽपि ज्ञातव्य एवेत्यर्थः । सुगमं चैतत्, प्रत्येकं स्थितीनामसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याध्यवसायैर्बन्धप्रायोग्यतयोत्कृष्टसंक्लेशप्रायोग्यस्थितेरीषन्मध्यमसंक्लेशैरपि बध्यमानत्वादिति ॥८२।८३।८४॥

तदेवं लाघवार्थं सामान्यवक्तव्यत्वादिकमार्यात्रयेण समाप्य साम्प्रतमतिदिष्टमार्गणा वर्जयित्वा शेषमार्गणास्वपि प्रथमं सप्तप्रकृतीनामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो विशेषतः प्रकटयन्नाह—

सव्वणिरय-णरतिग-सुर-सहसारंत-पणमण-तिवयणेसुं ।
सण्णिम्मि बंधगो खलु उक्कोसठिईअ सत्तण्हं ॥८५॥
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो तिरिये पणिदितिरियतिगे ।
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी भवे सण्णी ॥८६॥

(प्रे०) "सव्वणिरय" इत्यादि, निरयौघ-प्रथमादिनिरयभेदलक्षणेसु सर्वेषु निरयगतिभेदेषु "णरतिग" त्ति सूत्रस्य सूचकत्वादपर्याप्तवर्जानां त्रयाणां नरगतिमार्गणाभेदानां त्रिके, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपमार्गणात्रय इत्यर्थः। तथा "सुर" त्ति देवगत्योघे, "सहसारंत" त्ति भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता ये देवगतिमार्गणाभेदास्तेष्वेकादशभेदेषु, पञ्चमनोयोगभेदेषु, अनन्त-रोक्तभेदद्वयवर्जेषु सत्यवचना-ऽसत्यवचन-मिश्रवचनलक्षणेषु त्रिषु वचनयोगभेदेषु, तथा संज्ञि-मार्गणायामित्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "सत्तण्ह" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकः खलु "उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो" त्ति "सागाराई"त्याद्यनन्तरोक्तवचनात्साकारादि-विशेषणविशिष्ट उत्कृष्टसंक्लिष्टः "ईसिमज्झिमसकिलिट्ठो अवि मुणेयव्वो" इति वचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च "मिच्छो" त्ति मिथ्यादृष्टिः, भवेदिति परेण योगः। अत्र पञ्चमनोयोगभेद-त्रिवचनयोगभेदवर्जासु शेषमार्गणासु "पज्जत्तापज्जत्ता" इत्याद्यनन्तरोक्तसामान्यवचनात्सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यपि स्वामिविशेषणतया द्रष्टव्यम्, एवमेवोत्तरत्रापि सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति यथासम्भवं द्रष्टव्यम्, साकारादीनि विशेषणानि च स्वयमेव योज्यानि। एतासु सर्वमार्गणासु भावना त्वोघानुसारेण द्रष्टव्येति। तदेवं दर्शिता निरयगतिभेदेषु प्रकृतस्वामिनः, तत्साम्याद् देवगत्योघादिभेदेषु च। साम्प्रतं क्रमप्राप्तेषु तिर्यग्गतिभेदेषु दर्शयन्नाह—"तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, अपर्याप्तभेदवर्जे पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्त्रिके, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तत्पर्याप्त-तिरश्चीमार्गणाभेदत्रय इत्यर्थः, एतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः "सागाराई"त्यादि, तथा "पज्जत्ता" (गाथा० ८२-८३) इत्यादिवचनात् साकारादिविशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः "उक्कोससंकिट्ठो' त्ति उत्कृष्टसंक्लिष्टः "ईसिमज्झिम-असंकिट्ठो वि" (गाथा० ८४) इत्यादिवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च "मिच्छादिट्ठी भवे सण्णी" त्ति निरुक्तविशेषणविशिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवेदिति। एकवचनान्तनिर्देशस्तु प्राग्वज्जातिमधिकृत्य, एवं पूर्वत्रोत्तरत्र च बोद्धव्यमिति ॥८५।८६॥ अथ क्रमप्राप्तायामपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणायां प्रस्तुतस्वामिनो दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादन्यत्रापि सममेवाह—

होइ अपज्जत्तेसुं पणिंदियतिरिय-पणिंदिय-तसेसुं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णायव्वो बंधगो सण्णी ॥८७॥

(प्रे०) "होइ अपज्जत्तेसु"मित्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽर्याप्तत्रस-लक्षणेसु त्रिष्वपर्याप्तभेदेषु "बंधगो" त्ति प्रस्तुतत्वात्सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः–स्वामी "तप्पाउग्गकि-लिट्ठो" त्ति पूर्वोक्तन्यायेन साकारादिविशेषणविशिष्टस्तस्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु बन्ध-प्रायोग्यस्यान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणायुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य 'प्रायोग्यः'-अनुरूपः 'क्लिष्टः'—संक्लिष्ट-स्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः, तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्ट इति भावः, एवम्भूतः संज्ञी ज्ञातव्यो भवतीति पूर्वेण योगः। अत्राऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसमार्गणयोस्तिर्यग्मनुष्यो वेत्यादि स्वयमेव द्रष्टव्यम्, सुगम-त्वादिति ॥८७॥ अथ क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणया तुल्यवक्तव्यत्वादन्यत्रापि सममेवाह—

होइ अपज्जत्तणरे अणुत्तरेसुं य पंचसु सुरेसुं ।
एगिंदिय-विगलिंदिय-कायपणगसव्वभेएसुं ॥८८॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णवरि भवे बायरो त्ति वत्तव्वं ।
एगिंदिये णिगोए पुढवाइगपंचकायेसुं ॥८९॥

(प्रे०) "होइ अपज्जत्तणरे" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यभेदे "अणुत्तरेसुं य पंचसु सुरेसुं" ति विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजित-सर्वार्थसिद्धनामधेयेषु पञ्चस्वनुत्तरेषु सुरेषु, अनुत्तरसुरदेवगति-भेदेष्वित्यर्थः । चः समुच्चये । तथा "एगिंदिये"त्यादि, अत्र सर्वभेदेष्वित्यस्यैकेन्द्रियादिषु प्रत्येकं योजनादेकेन्द्रियसत्कसर्वभेदेषु, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणविकलेन्द्रियसत्केष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-भेदभिन्नेषु सर्वभेदेषु, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तकायपञ्चकसत्कसर्वभेदेष्वित्येतास्वेकषष्टिमार्गणासु प्रत्येकम् "तप्पाउग्गकिलिट्ठो" त्ति पूर्ववत्साकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टः, भवतीति पूर्वेण योगः, सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति प्रक्रमाद्गम्यते, अनुवृत्त्या वा द्रष्टव्यम् । अत्रैवैकेन्द्रि-योघादिकतिपयमार्गणासु सूक्ष्मा बादराश्च द्विविधा जीवाः, अतस्तासु के उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, के पुनर्नेत्येतत्स्फुटीकर्तुमाह—"णवरि भवे" इत्यादि, नवरं-परं बादर इत्यपि विशेषणं वक्तव्यं भवेत् । कासु मार्गणासु बादर इति वक्तव्यं भवेदित्याह—"एगिंदिय"इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-मार्गणायां 'णिगोए'त्ति निगोदवनस्पतौ, साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणाभेद इत्यर्थः । "पुढवाइग-पंचकायेसुं" ति पृथिव्यादिकेषु पञ्चसु कायमार्गणासत्कौघमार्गणाभेदेषु, पृथिवीकायौघे, अप्कायौघे, तेजस्कायौघे, वायुकायौघे वनस्पतिकायौघे चेत्यर्थः । एतासु सप्तमार्गणास्वेव वक्तव्यम्, न शेषासु । ननु एकेन्द्रियौघादिमार्गणावद्बादरैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वपि बादरजीवा एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, तथा चैकेन्द्रियौघादिमार्गणावद्बादरैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वपि उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया 'बादर' इति विशेषणकथने न किञ्चिद्दोषः सँल्लक्ष्यते, तत्कथमेकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वेव प्रस्तुत-स्वामिविशेषणतया 'बादर' इति विशेषणं वक्तव्यम्, न पुनः शेषमार्गणास्वपीति कथ्यते ? इति चेत्, सत्यम्, यदि यथासम्भवं स्वरूपदर्शनविशेषणतयाऽपि तन्निवेशाभिप्रायः स्यात्, न चात्रैवम्, व्यवच्छेदकविशेषणाभिप्रायेण मूलकृता तन्निवेशात्, तथा च व्याख्यातमपि तथैव । इदमुक्तं भवति—विशेषणं हि कुत्रचिद्धेतूपदर्शनाभिप्रायेण निवेश्यते, तत्र च तद्धेतुद्वारेण व्याख्यायते, यथा—"अक्खरस पोग्गलकया जं दव्विन्दियमणा" इत्यत्र द्रव्येन्द्रियमनस्साम् "पुद्गलकृतानी"ति विशेषणम् । उक्तं च तद्वृत्तौ—"पुद्गलकृतानि—पुद्गलस्कन्धनिचयनिष्पन्नानि, हेतुद्वारेण चेदं विशेषणं द्रष्टव्यम्, पुद्गलकृतत्वाद् इत्यर्थः" इति (विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ) । कुत्रचित्तु तदतिप्रसङ्गवारणार्थमितरार्थव्यवच्छेद-कपरतया वर्ण्यते, यथा—"इंदिय-मणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं" (वि.आ.भा.गाथा—१००) इत्यत्र "श्रुतानुसारेणे"ति विज्ञानविशेषणम् । उक्तं च तद्व्याख्यायाम्—"इन्द्रियमनोनिमित्तं च मति-

ज्ञानमपि भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—'श्रुतानुसारेणेति'। कुत्रचित्त्वतिप्रसङ्गाद्यभावे स्वरूपप्रदर्शनपरतया तदुपन्यस्यते, यथा—'निययत्थुत्तिसमत्थं त भावसुयं मई सेसं' (वि०आ०भा० गाथा—१००) इत्यत्र 'निजकार्थोक्तिसमर्थमि'ति भावश्रुतविशेषणम्। उक्तं च तट्टीकायाम्—'स्वरूपविशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्नज्ञानस्य निजकार्थोक्तिसामर्थ्याऽव्यभिचाराद्' इति। प्रस्तुते च 'बायरो त्ति वत्तव्व'-मित्यभिदधता ग्रन्थकृता 'बादर' इति विशेषणमेकेन्द्रियौघादिमार्गणासु यथोक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशो मार्गणाप्रविष्टसूक्ष्मजीवानां न प्राप्यते, ततश्च ते प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि नैव भवन्ति, अतस्तेषां व्यवच्छेदार्थमुपन्यस्तम्, तथैव च व्याख्यातम्। यदि चैकेन्द्रियौघादिमार्गणावद् बादरैकेन्द्रियौघादिमार्गणासु तद्वक्तव्यतया मूलकृताऽभिहितं स्यात्, तदा तत्र बादरैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेषु सूक्ष्मजीवानामप्रवेशेनाऽतिप्रसङ्गाभावात् स्वरूपविशेषणतयैव व्याख्येयं स्यात्। इत्थमेव प्रागुक्ते 'पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहा वि जीवाऽत्थि' इत्यादावपि 'सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त, इत्यादिविशेषणोपादानाभिसन्धिरवगन्तव्यः। एवं यत्र कुत्रचिदतिप्रसङ्गाभावेऽपि विशेषणं दृश्येत तत्र तु तत्स्वरूपविशेषणतयैव द्रष्टव्यमित्यलं विस्तरेण ॥८८।८९॥ शेषदेवगतिभेदेषु प्राह—

तेरहसु आणताइग-गेविज्जऽवसाणदेवभेएसुं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णायव्वो मिच्छदिट्ठीयो ॥९०॥

(प्रे०) "तेरहसु आणताइग" इत्यादि, त्रयोदशस्वानतकल्पादिकेषु सर्वोपरितनग्रैवेयकावसानेषु देवगतिसत्कमार्गणाभेदेषु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः "तप्पाउग्गकिलिट्ठो" त्ति साकारादिविशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः। आनतादिदेवानां शुक्ललेश्यत्वेन सर्वदैव सर्वोत्कृष्टसंक्लेशाभाव इत्यर्थः ॥ इति ॥९०॥ गता गतीन्द्रियकायभेदाः। साम्प्रतमवशेषेषु योगमार्गणाभेदेषूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः प्रतिपादयन्नाह—

उरले मिच्छो सण्णी दुगइट्ठो होइ सव्वसंकिट्ठो ।
एमेव उरलमीसे णवरं तयणुरुवसंकिट्ठो ॥९१॥

(प्रे०) "उरले मिच्छो" इत्यादि, 'उरले' त्ति औदारिककाययोगमार्गणायां साकारादिविशेषणविशिष्टः सर्वसंक्लिष्टः "दुगइट्ठो" त्ति द्विगतिस्थः, मनुष्यस्तिर्यग्वेत्यर्थः। एवम्भूतः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः "होइ" त्ति भवति, सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेः स्वामीति गम्यते। अत्रेषन्मध्यमसंक्लिष्ट इत्यपि वक्तव्यम् "ईसिमज्झिमसकिट्ठो अवि मुणेयव्वो" इति वचनात्। "दुगइट्ठो" इत्येतच्च स्वरूपदर्शनमात्रपरं बोद्धव्यम्, मनुष्यतिर्यग्वर्जानां प्रस्तुतमार्गणाया एव बहिस्त्वेनाऽतिप्रसंगाभावाद् व्यवच्छेदकपरत्वानुपपत्तेरिति। स्वल्पविशेषादौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सापवादमतिदिशन्नाह—"एमेव उरलमीसे" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामपि "एमेव" त्ति 'एवमेव,'—औदारिककाययोगमार्गणावदित्यर्थः। "णवरं" ति नवरमयं विशेषः, तमेवाह—"तयणुरुवसंकिट्ठो" त्ति तदनु-

रूपोत्कृष्टसंक्लिष्ट इत्यर्थः । सुगमं चैतत्, अपर्याप्तावस्थाभाविन्यौदारिकमिश्रकाययोगे सर्वसंक्लेशानुत्पत्तेरिति ॥६१॥

उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो णिरयोऽट्ठमंतदेवो वा ।
वेउव्वदुगे णवरं मीसे तज्जोगसंकिट्ठो ॥६२॥

(प्रे०) "उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो" इत्यादि, "वेउव्वदुगे" त्ति 'वैक्रियद्विके' वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूपे साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्निरयोऽष्टमसहस्रारकल्पान्तभवो देवो वेत्यर्थः । सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति गम्यते । अत्राष्टमकल्पान्तदेवग्रहणमानतादिकल्पनिवासिशुक्ललेश्याकदेवानां व्यवच्छेदार्थमिति । अपर्याप्तावस्थायां कस्याप्योघोत्कृष्टस्थितिबन्धो न भवतीतिकृत्वा वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामनुपपद्यमानं स्वामिविशेषणमपोदितुमाह—"णवरं मीसे" इत्यादि, नवरं "मीसे" त्ति वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाभेदे "तज्जोगसंकिट्ठो" त्ति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टोऽन्यतमो मिथ्यादृष्टिर्निरयो देवो वा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, न पुनरुत्कृष्टसंक्लिष्टः, अपर्याप्तानामुत्कृष्टसंक्लेशस्यासम्भवादिति भावः ॥६२॥

तप्पाउग्गकिलिट्ठो आहारदुगे भवे पमत्तजई ।
से काले पज्जत्तिं निट्ठवउ स व मुण मीसजोगेसु ॥६३॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'तप्पाउग्गे'त्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वयरूपे आहारकद्विके निरुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः 'प्रमत्तयतिः'—प्रमत्तसंयतो भवेत्, सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति गम्यत इति । ननु मिथ्यात्वाभिमुखः प्रमत्तयतिरिति कथं नोच्यते, प्रमत्तसंयतेषु तस्यैवाधिकतमसंक्लिष्टत्वेनाधिकतमस्थितेर्बन्धकत्वात् ? इति चेद्, न, चतुर्दशपूर्वधराणां श्रुतकेवलिनामेव प्रकृताऽऽहारकादियोगद्वयसम्भवात् । उक्तं च द्रव्यलोके—

"आकाशस्फटिकस्वच्छं, श्रुतकेवलिना कृतम् । अनुत्तरामरेभ्योऽपि, कान्तमाहारकं भवेत्" ॥ इति ।

तदानीं च तावत्श्रुतमत्त्वे तेषां मिथ्यात्वाभिमुखत्वासम्भव एव इति । औदारिकमिश्रकाययोगादिमिश्रयोगत्रये मतान्तरेणान्यथैव प्रकृतस्वामित्वमाह—"से काले" इत्यादि, "मीसजोगेसु" त्ति अनन्तरोक्तौ-दारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगमार्गणाभेदेषु "सेकाले पज्जत्तिं निट्ठवउ स व मुण" त्ति तत्र सेशब्दो देश्यः, स चानन्तर्ये, ततोऽनन्तरकालेयस्य समयस्यानन्तरोत्तरसमये 'पर्याप्तिं'—शरीरपर्याप्तिं 'निष्ठापयेत्'—समापयेत्, स मिश्रयोगचरमसमये वर्तमानो वा 'जानिहि,'—सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति मतान्तरेण त्वमवगच्छेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—औदारिकमिश्रयोगमार्गणायां करणापर्याप्ताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा एवोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका भवन्ति, न तु लब्ध्यपर्याप्ताः, औदारिकमिश्रकाययोगगतानामपि तेषां तथाविधसंक्लेशानुत्पत्तेः । करणापर्याप्तास्तु शरीरपर्याप्तेः समाप्तौ सत्यां प्रकृतमार्गणाया बहिर्भवन्ति । कुतः ?

शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां तेषां शुद्धौदारिकयोगप्रवर्तनात् । यत आ शरीरनिष्पत्तेर्मिश्रकाययोगो भवति, न परतः । तथा चोक्तम्—

"तेएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मिस्सेणं, जाव सरीरस्स निप्फत्ती" ।। इति । यथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तथा वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणादावपि ज्ञेयम् । इत्थं चानन्तरोक्ताभिप्रायेण मिश्रयोगगताः केचन जीवा अपर्याप्तावस्थाया मध्ये वर्तमानाः सन्तस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशमवाप्य तदानीमपि सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्ति । "से काले" इत्यादिना भण्यमानाभिप्रायेण तु शरीरपर्याप्त्या निष्पत्तेरर्वाग् मिश्रयोगस्य चरमसमय एवोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशसम्भवः, न पुनस्ततः पूर्वमपि । अत उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि मिश्रयोगद्विचरमादिसमयेषु न भवति, किन्तु चरमसमय एव भवतीति ।।९३।। अथ शेषे कार्मणकाययोगभेदे दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादनाहारकमार्गणायामपि सममाह—

कम्मा-ऽणाहारेसुं सण्णी खलु बंधगो चउगइट्ठो ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णायव्वो मिच्छदिट्ठीयो ।।९४।।

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु"मित्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणाऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकम् "खलु बधगो" त्ति सप्तप्रकृतिमत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः खलु ज्ञातव्य इति परेणान्वयः । क इत्याह— "सण्णी" इत्यादि, साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्टस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टो नरकगत्याद्यन्यतमगतिस्थः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीवः । स च संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानो ज्ञेयः, असंज्ञिभ्य आगतस्य प्रकृतमार्गणाद्वये वर्तमानजीवस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशासम्भवादिति ।।९४।। गता योगमार्गणाभेदाः । साम्प्रतं वेदमार्गणाभेदेषु प्रकृतस्वामिनो दिदर्शयिषुस्तत्साम्यात्कृष्णलेश्यायामपि सममेव दर्शयन्नाह—

इत्थी-पुरिसेसु तहा णपुंस-किण्हासु बंधगो सण्णी ।
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ।।९५।।

(प्रे०) "इत्थीपुरिसेसु" इत्यादि, स्त्रीवेद-पुरुषवेदमार्गणयोस्तथा नपुंसकवेद-कृष्णलेश्यामार्गणयोरिति प्रत्येकं द्विके ' बंधगो "त्ति सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः—स्वामी भवति । क इत्याह— "सण्णी"इत्यादि, निरुक्तसाकारादिविशेषणयुक्त उत्कृष्टसंक्लिष्टः, तथा "ईसिमज्झिमसकिट्ठो अवि मुणेयव्वो" (गाथा—८४) इति प्रागुक्तवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्च संज्ञी मिथ्यादृष्टिजीवो ज्ञातव्य इति । सुगमम् ।।९५।। अथापगतवेदमार्गणायां प्रकृतस्वामिन आह—

गयवेए स भवे यो अपुरिसवेएणुवट्ठिओ य तओ ।
परिणिवडंतोऽणंतरसमयम्मि हवेहिइ सवेओ ।।९६।।

(प्रे०) "**गयवेए स भवे**" इत्यादि, गतवेदमार्गणायामायुर्वर्जानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी स भवेत्। कोऽसावित्याह—"**यो अपुरिसवेएणुवट्ठिओ**" इत्यादि, पर्युदासाश्रयणात् पुरुषवेदभिन्नवेदेन स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा य 'उपस्थितः'–समारूढः, उपशमश्रेणिमिति गम्यते। कुतः ? वक्ष्यमाणस्य प्रतिनिपतन्निति विशेषणस्योपशमश्रेणिं समारूढस्यैवोपपत्तेः। ततः किमित्याह—'य तओ" इत्यादि, यशब्दो व्युत्क्रमेण 'तओ' इत्यस्योत्तरं योज्यस्ततश्चोपशान्ताद्धाक्षयात्प्रतिनिपतन् "**णंतरसमयम्मि हवेहिइ सवेओ**" त्ति यस्मात्स्थितिबन्धादनन्तरसमये 'सवेदः'–वेदोदयवान् भविष्यतीत्यर्थः। नपुंसकवेदोदयेन स्त्रीवेदोदयेन वोपशमश्रेणिमारुह्योपशान्ताद्धाक्षयात् क्रमेण पतन् वेदोदयात्प्रागनन्तरभाविनि स्थितिबन्धे वर्तमानो महात्माऽपगतवेदमार्गणायां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवतीति भावः। ननु 'कस्मात् पुंवेदेन श्रेणिं समारुह्य प्रतिपतन्तो वर्ज्यन्ते, तदन्यवेदेन समारुह्य प्रतिपतन्तस्तु गृह्यन्ते ?' इति चेद्, उच्यते–उपशमश्रेणिमारोहतां यत्र यत्र स्थाने यस्य यस्य वेद-क्रोधादेर्येन क्रमेणोदयविच्छेदो जायते, उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपततामपि तेषामानुलोम्येन तत्तत्स्थानप्राप्तौ तस्य तस्य वेदकषायादेरुदयः प्रवर्तते। उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—

"अद्धाक्खओ उवसंतद्धाए पुण्णाए परिवडति सो जहा आरुढो तहा परिवडति, जहिं उदओदीरणबंधादओ ठिया तहिं तहि परिवडंतस्स ते आढविज्जंति, एवं जाव पमत्तसंजओ ताव परिवडति" इति।

किञ्च श्रेणिमारोहतां विशुद्ध्यमानतया यथोत्तरस्थितिबन्धा हीनहीनतराः प्रवर्तन्ते, प्रतिपततां तु तेषां संक्लिश्यमानतया यथोत्तरस्थितिबन्धा अधिकाधिकतराः प्रवर्तन्त इति तु सुगमम्। प्रकृते च ये उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो द्रष्टव्याः, ते च श्रेणिमारुह्योपशान्ताद्धाक्षयानन्तरं बहून् स्थितिबन्धानतिक्रम्यावेद्यवस्थायां चरमस्थितिबन्धं ये कुर्वन्ति, ते प्राप्यन्ते। एवम्भूता हि स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा श्रेणिं समारुह्य प्रतिपतन्त उपशमका भवन्ति, न पुनः पुंवेदेन समारुह्य प्रतिपतन्तोऽपि। कुतः ? स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा श्रेणिं समारूढा यस्मिन् स्थानेऽवेदिनो भवन्ति तत्स्थानात् संख्येयसहस्रेषु स्थितिबन्धेष्वतिक्रान्तेषु पश्चात्पुंवेदेन श्रेणिं समारूढा अवेदिनो जायन्ते, न त्वर्वाक्। तथा च सति प्रतिपातकालेऽप्यानुलोम्येन पुंवेदेनोपस्थितानां यत्र पुंवेद उदेति तत्स्थानात्संख्येयसहस्रेषु स्थितिबन्धेष्वतिक्रान्तेषु सत्सु पश्चात् पुंवेदान्यवेदेनारुह्य प्रतिपततां स्वस्ववेदोदयो जायते, प्रतिपततां संक्लिश्यमानतयोत्तरोत्तरस्थितिबन्धा अधिकाधिकतरास्तु सर्वेपामेव प्रवर्तन्ते। ततः पुंवेदेन श्रेणिं समारुह्य पततां पुंवेदोदयादर्वागवेद्यवस्थायां यावान् स्थितिबन्धो जायते, तदपेक्षया संख्येयस्थितिबन्धानन्तरं स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वोपस्थाय प्रतिपततां स्वस्ववेदोदयादर्वागवेद्यवस्थायाश्चरमस्थितिबन्धोऽभ्यधिको जायते। इत्थं हि न पुंवेदेनोपस्थाय प्रतिपततामवेद्यवस्थायां प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वम्, किन्तु तदन्यवेदेनोपस्थाय प्रतिपततामितिकृत्वाऽपगतवेदमार्गणायां पुंवेदेनोपस्थाय प्रतिपतन्तो वर्जिताः, तदन्यवेदेन श्रेणिं समारुह्य प्रतिपतन्तस्तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया गृहीता इत्यलं विस्तरेण। विशेषार्थिना तु कर्मप्रकृतिकषायप्राभृतादिग्रन्था अवलोकनीया इति ॥६६॥

गतं वेदमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतस्वामित्वम्। कषायमार्गणाभेदेषु तु प्रागोघवदतिदिष्टमतः साम्प्रतं ज्ञानमार्गणाभेदेषु दिदर्शयिषुः समानवक्तव्योपेता अन्या अपि मार्गणाः सममेव संगृह्याह—

अण्णाणतिगे अभविय-मिच्छत्तेसु य बंधगा सण्णी।
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो णेयो चउगइट्ठो ॥९७॥

(प्रे०) 'अण्णाणतिगे' इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणात्रयरूपेऽज्ञानत्रिकेऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोश्चेत्येतासु पञ्चसु प्रत्येकं "बंधगो" त्ति सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी साकारादिविशेषणविशिष्टः 'उक्कोससंकिलिट्ठो" त्ति सर्वोत्कृष्टसंक्लिष्टः, प्रागुक्तन्यायादीषन्मध्यम-संक्लिष्टो वा "चउगइट्ठो" त्ति निरयादिचतुर्गत्यन्यतमगतिस्थः, नारक-तिर्यग्-मनुष्य-देवान्यतमः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीव इति। अत्राज्ञानमार्गणात्रये मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणं तत्रगतानामुत्कृष्टस्थितेरबन्धकानां सास्वादनिनां व्यवच्छेदार्थं योज्यम्, शेषमार्गणाद्वये तु स्वरूपदर्शनमात्रपरं बोद्धव्यमिति। इत्थमेवोत्तरत्रापि यथासम्भवं योजना कर्तव्येति ॥९७॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मु-वसम-वेअगेसु चउगइओ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मो मिच्छहिमुहो अंते ॥९८॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामनन्तरं वक्ष्यमाणतया तद्वर्जशेष-मत्यादिज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने सम्यक्त्वौघ-वेदको-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणाभेदेष्वित्येतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं साकारादिविशेषणयुक्तः "चउगइओ" त्ति पूर्ववच्चतुर्गतिकः,-नैरयिकाद्यन्यतमजीव इत्यर्थः। एवम्भूतो हि तत्प्रायोग्यः क्लिष्टः-संक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखः "सम्मो" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः, "अंते" त्ति चरमे चरमस्थितिबन्धे, यस्य स्थितिबन्धस्यानन्तरसमये मिथ्यादृष्टिर्भविष्यति तस्मिन् सम्यक्त्वावस्थायाश्चरमस्थितिबन्धे, वर्तमान इति शेषः। सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति प्रक्रमा-द्गम्यत इति ॥९८॥ अवशिष्टे ज्ञानभेदे क्रमप्राप्तसंयममार्गणाभेदेषु चाह—

मणणाणम्मि पमत्तो अयताभिमुहो य तयणुरुवकिट्ठो।
अंतिमबंधे संयम-समइअ-छेएसु मिच्छहुत्तो सो ॥९९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मणणाणम्मि" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामी "पमत्तो" त्ति प्रमत्तमुनिरित्यर्थः। कथम्भूतः स इत्याह—"अयताभिमुहो य"त्यादि, यमनम्-यतम्, न यतम् अयतम्, असंयम इत्यर्थः तस्याभिमुखः। चशब्दोऽवधारणे, ततोऽयताभिमुख एव, न पुनर्मिथ्यात्वाभिमुख इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—मनःपर्यवज्ञानिनः संयता संयमात्सम्यक्त्वाच्च युगपद्भ्रष्ट्वा मिथ्यात्वं नैव व्रजन्ति, किन्तु प्रथमतः संयमं परिहृत्यान्तर्मुहूर्तं विश्रम्य ततो मिथ्या-त्वमधिगच्छन्ति। इत्थं हि तेषां मिथ्यात्वाभिमुखतैव न घटत इतिकृत्वा मिथ्यात्वाभिमुख इति विशेषणं विहायाऽयताभिमुख इति विशेषणमुपात्तमिति। पुनः किंविशिष्ट इत्याह—"तयणुरुवकिट्ठो अंतिम-

बंधे"त्ति प्राग्वत्तदनुरूपविलष्टः संयमावस्थाया अन्तिमस्थितिबन्धे वर्तमान इत्यर्थः । अथ संयममार्गणाभेदेष्वाह—"संयमे"त्यादिना, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमरूपमार्गणात्रये तु प्रकृतस्थितिबन्धस्वामी 'मिच्छत्तहुत्तो सो" त्ति सोऽनन्तरोक्तः संयतावस्थायाश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानस्तदनुरूपसंक्लिष्टः प्रमत्तयतिरेव, नवरं मिथ्यात्वाभिमुखः, न पुनः प्राग्वदयताभिमुख इत्यर्थः । अत्र प्रत्येकं मार्गणासु साकारेत्यादिविशेषणानि प्राग्वत्स्वयमेव द्रष्टव्यानि । एवमुत्तरत्रापीति ॥६६॥

परिहारम्मि पमत्तो छेआहिमुहो तदरिहसंकिट्ठो ।
देसे मिच्छाहिमुहो दुगइट्ठो तयणुरूवकिट्ठो ॥१००॥

(प्रे०) "परिहारम्मि पमत्तो"इत्यादि, परिहारसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनसंयमाऽभिमुखस्तदर्हसंक्लिष्टः, तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इत्यर्थः । एवम्भूतः "पमत्तो"त्ति प्रमत्तो मुनिः, सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामीति गम्यत इति । अथ देशसंयममार्गणायामाह-' देसे मिच्छाहिमुहो'इत्यादि, देशसंयममार्गणायां साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखस्तदनुरूपक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यग्वा सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी भवतीत्यर्थः । अत्र देशसंयमावस्थायाश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमान इति विशेषणमनुक्तमप्युपलक्षणाद् बोद्धव्यम्, देशसंयतेषु तस्यैव संक्लिष्टतमत्वात् । इत्येवं परिहारविशुद्धिकमार्गणायामपि विज्ञेयमिति ॥१००॥

अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां प्रस्तुतस्वामिनो दर्शयितुमाह—

सुहुमेऽणंतरबंधे अणियट्टिं यो हि पाविहिइ सोऽत्थि ।

(प्रे०) "सुहुमे" इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायाम् 'णतरबंधे" त्ति लुप्ताकारस्य दर्शनादनन्तरबन्धे-अनन्तरस्थितिबन्धे, यस्य स्थितिबन्धस्यानन्तरोत्तरस्थितिबन्ध इति भावः । "अणियट्टि"ति 'अनिवृत्तिम्'-बादरनिवृत्त्याख्यं गुणस्थानकम् "यो हि पाविहिइ सो"त्ति यः प्राप्स्यति हि स अनिवृत्तिबादरगुणस्थानकप्राप्तेरर्वाक्स्थितिबन्धे वर्तमानः प्रपतन् सूक्ष्मसम्परायोपशमकः "ऽत्थि" त्ति तत्र बध्यमानानां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वाम्यस्तीत्यर्थः ॥

गतं संयममार्गणाभेदेषु प्रस्तुतस्वामित्वम् । चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदद्वये प्रागोघवत्तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां मतिज्ञानादिना समं दर्शितमतः क्रमप्राप्तेषु लेश्यामार्गणाभेदेषु दिदर्शयिषुः कृष्णलेश्यामार्गणायां वेदमार्गणया समं दर्शितत्वाच्छेषलेश्यामार्गणाभेदेषु क्रमेण दर्शयति—

मिच्छो अइसंकिट्ठो थिरलेसो णील-काऊसु ॥१०१॥
तेऊअ सुरो मिच्छो ईसाणंतोऽत्थि सव्वसंकिट्ठो ।
पउमाअ तहेव णवरि तइआइगअट्ठमंतसुरो ॥१०२॥
सुइलाअ आणतसुरो मिच्छो वा तयणुरूवसंकिट्ठो ।

(प्रे०) "मिच्छो" इत्यादि, नील-कापोतलेश्ययोः प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी "मिच्छो"त्ति मिथ्यादृष्टिः "अइसंकिट्ठो"त्ति 'अतिसंक्लिष्टः'–उत्कृष्टसंक्लिष्ट इत्यर्थः । "उक्कोस-संकिलिट्ठो वुच्चइ सत्तण्ह बंधगो जत्थ । तत्थ खलु ईसिमज्झिमसंकिट्ठो अवि मुणेयव्वो" ॥८४॥ इति वचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टश्चाऽपि विज्ञेयः । एवम्भूतः क इत्याह—"थिरलेसो"त्ति स्थिरा-बहुकाला-वस्थायिनी, न पुनरन्तर्मुहूर्तमात्रावास्थायिनीत्यर्थः । एवम्भूता लेश्या प्रस्तुतत्वान्नीला कापोती वा विद्यते यस्य स स्थिरलेश्यः । स च "लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥ दस वाससहस्साइं किण्हाए ठिई जहण्णिआ होइ, पलिअमसंखिज्जइमो उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४८॥ जा किण्हाइ ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिआ । जहन्नेणं णीलाए, पलिअमसंखेज्ज उक्कोसा ॥४९॥ इत्याद्यागमान्नारकाणामिव भवन-पत्यादिदेवानामप्यशुभलेश्याया दीर्घस्थितिकत्वेन स्थिरलेश्यत्वात् नीललेश्यामार्गणायां तृतीयचतुर्थ-पञ्चमपृथिवीनैरयिक-भवनपति-व्यन्तरदेवानामन्यतमो भवति, कापोतलेश्यामार्गणायां तु प्रथम-द्वितीय-तृतीयपृथिवीनैरयिक-भवनपति-व्यन्तरदेवानामन्यतमो लभ्यते, न तूक्तान्यो देवो नारकस्तिर्यग्मनुष्यो वा प्रस्तुतमार्गणाद्वये उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी, उक्तान्यदेवनारकाणां नील-कापोतवर्जान्यतमलेश्या-कत्वेन प्रस्तुतमार्गणाद्वय एवाऽप्रवेशात्, तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणाप्रविष्टत्वेऽपि तदीयलेश्याना-मन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वेना-ऽनवस्थितत्वात् । उक्तं च—"अन्तमुहुत्तठिईओ तिरियनराण हुन्ति लेसाओ" इति । ननु यद्येवमेव तदा "देवो वा नारको वा" इत्येतावदपि पर्याप्तं स्यात्, तत्कस्मात् "थिरलेसो" इत्य-मिहितम् ? इति चेद्, उच्यते, महाबन्धकारमतसंग्रहार्थम् । इदमुक्तं भवति–प्रस्तुतमार्गणाद्वये बन्ध-प्रायोग्यः त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्याद्युक्तप्रमाण ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो येषां जायते तेषां पर्याप्तावस्थायामेवासौ भवति, किञ्च महाबन्धकारा नारकवर्जसर्वछद्मस्थजीवानां कृष्णाद्यन्यतमाशुभलेश्या-मान्तर्मुहूर्तिकीं मन्यन्ते, तत्र देवानां तु साऽपर्याप्तावस्थायामेव भवति, न तु पर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्ता-वस्थायां तेषां शुभलेश्याया एव प्रवर्तनात्, इत्थं हि तेषां मतेन भवनपत्यादिदेवानां जायमानोऽपि यथोक्तप्रमाण उत्कृष्टस्थितिबन्धः शुभलेश्यायामेव लभ्यते, न पुनः प्रस्तुतमार्गणाद्वये कृष्णलेश्या-मार्गणायां वा । ततश्च नेते भवनपत्यादिदेवाः प्रस्तुतमार्गणाद्वये उत्कृष्टस्थितबन्धस्वामिनः, किन्तु यथोक्त-नारका एव । "थिरलेसो" इत्यनेन तेषां मते प्रस्तुतमार्गणाद्वये देवा ग्रहीतुं न युज्यन्ते, तेषां कृष्णाद्य-शुभलेश्याया अन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वेनाऽस्थिरत्वात् । इत्येवं महाबन्धकारमतेन प्रस्तुतमार्गणाद्वये देवाना-मुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाभावात् तन्मतसंग्रहार्थम् 'देवो वा नारको वा' इत्यनभिधाय "थिरलेसो" इत्य-भिहितमित्यलं पल्लवितेन । "तेऊअ"त्ति तेजोलेश्यामार्गणायां सप्तकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी सर्व-संक्लिष्टः, उक्तवचनादीषन्मध्यमसंक्लिष्टो वा भवनपत्यादीशानकल्पान्तोद्भवो मिथ्यादृष्टिः सुरो भवति । "पउमाअ तहेव" त्ति पद्मलेश्यामार्गणायां 'तथैव'-तेजोलेश्यावदेव, 'नवरं'-परम् "तइआइगअट्ठमंत-सुरो" त्ति सर्वसंक्लिष्ट ईषन्मध्यमसंक्लिष्टो वा तृतीयसनत्कुमारकल्पाद्यष्टमसहस्रारकल्पान्तोद्भवो मिथ्या-दृष्टिः 'सुरः'-देवः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी भवति, न पुनस्तेजोलेश्यामार्गणावदीशानकल्पान्तोद्भवः

सुर इत्यर्थः । "सुइलाअ" त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी नवमा-ऽऽनत-कल्पोद्भवः सुरः । कथंभूत इत्याह-"मिच्छो वा" इत्यादि, सुगमम्, नवरं वाकारोऽनुक्तसमुच्चये, तदनुरूपसंक्लिष्टस्य ग्रहणं त्वानतादिकल्पोद्भवदेवानां शुक्ललेश्यत्वेनोत्कृष्टसंक्लेशानुत्पत्तेः । साकारादि-विशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यादि तु प्राग्वत्स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । ननु वाकारेण किमनुक्तं समुच्चीयते ? आनतकल्पवासिनामिव तदुपरितनविमानवासिनामपि मतान्तरेणोत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामित्वसद्भावात्तेऽपि प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामितया समुच्चीयन्त इति ॥१०१।१०२॥

भणिता लेश्यामार्गणाभेदेषु प्रकृतस्वामिनः । भव्यमार्गणायामोघवदतिदिष्टाः, अभव्यमार्गणायां त्वज्ञानमार्गणया सममभिहिताः । साम्प्रतं सम्यक्त्वमार्गणाभेदेष्वभिधातव्याः । तत्रापि सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्वभेदेषु मतिज्ञानादिमार्गणावत्, मिथ्यात्वमार्गणायां त्वज्ञानमार्गणावच्च दर्शिता एवेति शेषभेदेषु तानाह—

तप्पाउग्गकिलिट्ठो खइए णेयो चउगइट्ठो ॥१०३॥
मीसे मिच्छाभिमुहो सासाणे वा तयणुरुवकिलिट्ठो ।

(प्रे०) "तप्पाउग्गे" त्यादि, "खइए" त्ति क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां साकाराद्युक्तविशेषण-विशिष्टः 'चउगइट्ठो" त्ति प्राग्वत् नरक-तिर्यग्-मनुष्य-देवान्यतमगतिस्थः, नारकस्तिर्यग्मनुष्यो देवो वेत्यर्थः । कथम्भूत इत्याह—"तप्पाउग्गे"त्यादि, सुगममिति । मिश्र-सासादनमार्गणयोराह— "मीसे" इत्यादि, मिश्रमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखः । सासादनमार्गणायां "व" त्ति मिथ्यात्वाभिमुखो वा, एकमतेन मिथ्यात्वाभिमुखः सासादनी, अन्यमतेन तु स्वस्थानसासादनी प्रकृतसप्तकर्मसत्कोत्कृष्ट-स्थितिबन्ध स्वामी भवतीत्यर्थः । स च मार्गणाद्वयेऽपि मतद्वयेऽपि च "तयणुरुवसंकिट्ठो" त्ति तदनुरूपसंक्लिष्टो बोद्धव्य इति ॥१०३॥ संज्ञिमार्गणायां प्राग् नरकगतिवद्दर्शिताः सप्तानामुत्कृष्ट-स्थितिबन्धस्वामिनः, अतोऽवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायामाह—

अमणे पणिंदियो खलु णेयो तज्जोग्गसंकिट्ठो ॥१०४॥

(प्रे०) "अमणे" इत्यादि, अमनसोऽसंज्ञिनः तत्सम्बन्धिमार्गणायाम्, असंज्ञिमार्गणाया-मित्यर्थः । तत्र तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः पञ्चेन्द्रियः प्रकृतसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामी ज्ञेयः, साकारो जाग्रदित्यादीनि विशेषणानि तु स्वयमेव भणितव्यानीति । आहारिमार्गणायां प्रागोघवदति-दिष्टाः, अनाहारिमार्गणायां तु कार्मणकाययोगमार्गणया समं कथिताः सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्वामिनः । इत्थं हि समाप्तं मार्गणास्थानेष्वप्याऽऽयुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धस्वामित्व-प्ररूपणम् ॥१०४॥

अथ शेषस्याऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुः पूर्ववत्सर्वमार्गणा-विषयां सामान्यवक्तव्यतां लाघवार्थमादावेवाह—

सागाराइविसिट्ठो वट्टमाणो य गुरुअबाहाए ।
सव्वासु बंधगो खलु आउस्स ठिईअ जेट्ठाए ॥१०५॥
पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहा वि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं त्ति वत्तव्वं ॥१०६॥

(प्रे०) "सागाराइविसिट्ठो" इत्यादिगाथाद्वयं गतार्थमिति ॥१०५।१०६॥

तदेवं सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतां लाघवार्थं पृथगभिधाय साम्प्रतं निरयगत्यादि-मार्गणास्थानेषु क्रमश आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो विशेषेण प्रदर्शयन्नाह—

णिरय-पढमाइछणिरय-सुर-गेविज्जंतदेव-विउवेसु ।
आउस्स गुरुठिईए सम्मो मिच्छो व तयणुरुवसुद्धो ॥१०७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरयपढमाइछणिरये" त्यादि, निरयगत्योघ-धर्मादिपृथिवीभेदभिन्नप्रथमादिषड्-निरयभेद-सुरौघ-भवनपत्यादिनवमग्रैवेयकान्तचतुर्विंशतिदेवभेद-वैक्रियकाययोगमार्गणास्वित्येतासु त्रय-स्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो 'गुरुस्थितेः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य "सम्मो मिच्छो व" त्ति उक्तसाकारा-दिविशेषणविशिष्टः षण्मासात्मिकायामुत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वेत्यर्थः । सोऽपि "तयणुरुवसुद्धो" त्ति तेषां प्रायोग्यपूर्वकोटीस्थितिकोत्कृष्टायुर्बन्धस्यानुरूपा या विशुद्धि-स्तद्युक्त इत्यर्थः । अत्र विशुद्धग्रहणेन संक्लिष्टानां व्यवच्छेदः कृतः, यत एतासु मार्गणासु प्रत्येकं देवा नारका वैव समाविष्टास्ते च स्वभावत एव मनुष्येषु तिर्यक्षुर्वोत्पद्यन्ते, न पुनर्नारकतया । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनायां षष्ठपदे—

"नेरइया णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं उववज्जंति, किं नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति, किं मणुसेसु उववज्जंति, देवेसु उववज्जति ? गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति" इत्यादि । (सूत्रम् १३८)

इत्थमेव देवानामपि नारकतयोत्पादप्रतिषेधः कृतः । ततः किम् ? तत एते देवनारका नारका-युर्न बध्नन्ति, उत्कृष्टस्थितिकमनुष्यतिर्यगायुषी बध्नतां तु तेषां विशुद्धिरेव भवति, नरकायुर्वर्जानां त्रयाणामायुषामुत्कृष्टस्थितेः विशुद्धिप्रत्ययत्वात् । उक्तं च शतकचूर्णौ—

"तिण्हंपि आउगाणं उक्कोसं जहन्नगं विवरीयं । कहं ? तब्बन्धकेसु जो जो सव्वविसुद्धो सो सो सव्वुक्कसियं ठिइं बंधइ, तेसु चेव जो जो सव्वसंकिलिट्ठो सो सो सव्वजहन्नियं सव्वासिं ठिइं बंधइ" इति । इत्थमेवोत्तरत्रापि विशुद्धग्रहणे नरकान्यायुर्बन्धकत्वादिति द्रष्टव्यमिति ॥१०७॥ अथान्यत्राह—

चरमणिरयुरलमीसे तदरिहसुद्धोऽत्थि बंधगो मिच्छो ।
तिरिय-तिपणिंदितिरिये मिच्छो तज्जोगसंकिट्ठो ॥१०८॥

(प्रे०) "चरमणिरयुरलमीसे" इत्यादि, 'चरमे' सप्तमपृथिवीभेदरूपे निरयभेदे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं नरकायुषोऽबन्धात्तदन्यायुषामुत्कृष्टस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्च "तव्विरिहसुद्धो" त्ति साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानस्तदर्हः-तत्प्रायोग्यः शुद्धः "मिच्छो" त्ति मिथ्यादृष्टिर्बन्धकः-स्वाम्यस्ति । अत्र मिथ्यादृष्टिरिति स्वामिविशेषणं स्वरूपदर्शकमेव बोद्धव्यम्, यतः सप्तमनिरये मिथ्यात्वगुणस्थानकगतानामेवायुर्बन्धो जायते, नान्येषाम् । यदुक्तं सप्तमनरकमार्गणाभेदे गुणस्थानेषु बन्धस्वामित्वं प्रतिपादयद्भिर्देवेन्द्रसूरिपादैः—"सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे, इगनवई सासाणे तिरिआउ नपुंसचउवज्ज" मित्यादि । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां पुनर्मिश्रयोगावस्थायां लब्ध्यपर्याप्तजीवैरेवायुर्बन्धस्य करणात्, तेषां नियमतो मिथ्यादृष्टित्वाच्चेति । "तिरियतिपणिंदितिरिये" त्ति तिर्यग्गत्योघे त्रिष्वपर्याप्तभेदवर्जेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु च प्रत्येकम् "मिच्छो तज्जोगसंकिट्ठो" त्ति साकारादिविशेषणयुक्त उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धक इत्यर्थः । अत्र संक्लिष्टमिथ्यादृष्टेर्ग्रहणं प्रकृतमार्गणागतजीवैरुत्कृष्टस्थितिकमायुर्नरकसत्कं बध्यत इतिकृत्वा । नरकायुर्मिथ्यात्वे सत्येव बध्यते इति तु सुगमः । तस्य चोत्कृष्टस्थितिरशुभा इतिकृत्वा संक्लेशेन बध्यत इति तु दर्शितमेवेति ।

ननु तिरश्चीमार्गणायां न त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धः, किन्तु द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकायुष एव । उक्तं च स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे–'होइ दुवीसा जलही तिरिक्खजोणिमई'त्यनेन, इत्थं भवतु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणात्रये उत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धभावेन तत्स्वामिनां संक्लिष्टत्वम्, कथं पुनस्तिरश्चीमार्गणायामपि ? इति चेद्, न, ओघवन्मार्गणास्थानेष्वपि, यावत्तत्तज्जीवानामपि स्वबन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकमप्यायुर्यदि निरयसत्कं तदा संक्लेशेनैव बध्यते, तिर्यग्-मनुष्य-देवायुषामन्यतमत्तु स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकं सदपि विशुद्ध्यैव निर्वर्त्यते, न पुनरोघोत्कृष्टस्थितिकायुरेव । अत एवानन्तरं निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषूत्कृष्टतः पूर्वकोटिस्थितिकमनुष्य-तिर्यगायुर्बध्नतामपि तद्बन्धो विशुद्ध्या दर्शितः, नीललेश्यादिमार्गणायामुत्कृष्टतो दशसागरोपमादिस्थितिकं निरयायुर्बध्नतां तद्बन्धः 'तिअसुहलेसा-अभविय-मिच्छेसं । तप्पाउग्गकिलिट्ठो' इत्यादिना संक्लेशप्रत्ययोऽभिधास्यते चेति ॥१०८॥

तप्पाउग्ग विसुद्धो सण्णी वा बंधगो असण्णी वा ।
असमत्तपणिंदितिरिय-पणिंदिय-तसेसु णायव्वो ॥१०६॥

(प्रे०) 'तप्पाउग्गे'त्यादि, साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी वाऽसंज्ञी वा "बंधगो"त्ति आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः, ज्ञातव्य इति परेणान्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह—"असमत्तपणिदि" इत्यादि, तत्रापर्याप्तापरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे चेत्येवं

मार्गणात्रये इत्यर्थः । सुगमं चेदम्, अपर्याप्तमार्गणाप्रविष्टानां लब्ध्यपर्याप्ततया मनुष्यसत्कस्य तिर्यग्सत्कस्यैव वाऽऽयुषो बन्धभावात्, तयोरुत्कृष्टस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्चेति ॥१०६॥

अथ मनुष्यगतिमार्गणाभेदेष्वाह—

तप्पाउग्गविसुद्धो मणुसदुगे बंधगो पमत्तजई ।
तह खलु मिच्छादिट्ठी णेयो तज्जोग्गसंकिट्ठो ॥११०॥

(प्रे०) "तप्पाउग्ग" इत्यादि, सुगमा, नवरं "मणुसदुगे" त्ति मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मार्गणयोर्द्विके इत्यर्थः । भावना त्वायुष औधिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भावनानुसारेण द्रष्टव्येति ॥११०॥ अथ क्रमप्राप्तशेषमनुष्यगति-देवगतिभेदेषु दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादन्यासु मार्गणास्वपि सममेव दर्शयन्नाह—

तप्पाउग्गविसुद्धो असमत्तणर-पणऽणुत्तरसुरेसुं ।
आहारदुगे य सयलएगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ॥१११॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तप्पाउग्गविसुद्धो" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरमाहारकद्विकेनाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगौ गृह्येते, "सयलएगिंदियविगलपंचकायेसुं" इत्यत्र सकलशब्दः प्रत्येकं संबध्यते, ततश्च सकलैकेन्द्रियभेदानां, सकलविकलेन्द्रियभेदानां, सकलानां पृथिव्यादिपञ्चकायसत्क-भेदानां च ग्रहणात्समस्तास्त्रिषष्टिर्मार्गणा गृहीता भवन्ति । भावना पुनरेतासु प्रत्येकमपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगाद्यपर्याप्तमार्गणात्रयवत्कर्तव्या । कुतः ? प्रस्तुतत्रिषष्टिमार्गणागतानामपि जीवानां तद्वन्नरकायु-र्बन्धस्य प्रतिषेधात् । कुत एतासु प्रत्येकं नरकायुर्बन्धप्रतिषेधो ज्ञायते ? अनन्तरभवे नारकतयोत्पाद-प्रतिषेधात् । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ मलयगिरिपूज्यैः—

"देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकाणां तथाऽसंख्येयवर्षायुश्चतुष्पदखचराणां शेषाणामपि चापर्याप्तकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणा संमुच्छिमानां गर्भव्युत्क्रान्तिकानामप्यकर्मभूमिजानाम् अन्तरद्वीपजानां कर्मभूमिजानामप्यसंख्येयवर्षायुषां संख्येयवर्षायुषामपि अपर्याप्तकानां प्रतिषेध." इति ।

अत्र पाठे आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणागतानां प्रतिषेधोऽनुक्तस्तत्तु तत्र तस्या-ऽप्रस्तुतत्वात्, तथाप्यसौ सुगम एव, आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगिनां संयततया देवायुष एव बन्धादिति ॥१११॥ अथान्यत्राह—

अण्णाणतिगे अयते तिअसुहलेसा-अभविय-मिच्छेसुं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णरो व तिरियो व मिच्छत्ती ॥११२॥

(प्रे०) 'अण्णाणतिगे" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणात्रयरूपेऽज्ञानत्रिके ऽसंयममार्गणायां तथा त्रिस्रोऽशुभाः-अप्रशस्ताः कृष्णादिलेश्यामार्गणा अभव्यमिथ्यात्वमार्गणे तासु च प्रत्येकं निरुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यात्वी

'नरः'–मनुष्यो वा "तिरियो वा"त्ति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वेत्यर्थः। अत्र मिथ्यात्वीति विशेषणमभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः स्वरूपदर्शकतयैव बोद्धव्यम्। शेषमार्गणासु तु सासादनसम्यक्त्वभाजामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्रतिषेधार्थं द्रष्टव्यम्। कुतः सासादनिनामुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धस्वामितया प्रतिषेधः क्रियते ? तेषां सासादनिनां नारकतयोत्कृष्टस्थितिकदेवतया वाऽनुत्पादादिति ॥११२॥
अथ गाथाद्वयेन शेषमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वप्ररूपणं समापयन्नाह—

मणुसि-त्थी-णाणचउग-विरइ-समइअ-परिहार-छेएसुं ।
ओहि-तिसुहलेसासुं सम्म-खइअ-वेअगेसु भवे ॥११३॥
तदरिहसुद्धपमत्तो सासण-देसे तदरिहसुद्धणरो ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो अमणे ओघव्व सेसासुं ॥११४॥

(प्रे०) "मणुसित्थीणाणचउग" इत्यादि, मानुषीमार्गणायाम्, स्त्रीवेदमार्गणायाम्, मति-ज्ञानादिज्ञानमार्गणाचतुष्के "विरइ"त्ति संयममार्गणायाम्, तथा सामायिक-परिहारविशुद्धिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणासु "ओहि"त्ति अवधिदर्शनमार्गणायाम् "तिसुहलेसासुं" ति तिसृषु तेजः-पद्म-शुक्लाख्यासु शुभलेश्यासु तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु "भवे"त्ति एतासु सप्तदशमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतस्याऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामी भवेदित्यर्थः। क इत्याह— "तदरिहसुद्धपमत्तो"त्ति तदर्हशुद्धः प्रमत्तः संयतः। साकारेत्यादि स्वयमेव योज्यम्। तदर्हशुद्ध-ग्रहणमेतासु प्रत्येकमुत्कृष्टायुर्देवगतिसत्कमेव बध्यत इतिकृत्वेति। अथ सासादन-देशसंयममार्गणयो-राह—"सासणदेसे तदरिहसुद्धणरो" इति सुगमम्। असंज्ञिमार्गणायामाह—"तप्पाउग्गकिलिट्ठो अमणे" इति, एतदपि सुगमम्, नवरमसंज्ञिनो यावत्स्थितिकं देवायुर्बध्नन्ति तदपेक्षया नरकायुरधिक-स्थितिकं बध्नन्तीतिकृत्वा तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इत्यभिहितम्, न पुनस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध इत्यपीति। अथ शेषमार्गणास्वतिदिशति—"ओघव्व सेसासु"मिति, अनन्तरोक्तनिरयगत्याद्यसंज्ञिपर्यन्ताः षट्त्रिंशदभ्य-धिकशतमार्गणास्त्यक्त्वा शेषासु पञ्चेन्द्रियौघादिसप्तविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थिति-बन्धस्य स्वामिन ओघवत्साकारादिविशेषणविशिष्टा उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्या-दृष्टितिर्यग्मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः प्रमत्तसंयताश्च भवन्तीत्यर्थः। सुगमम्। शेषमार्गणास्तुनामत इमाः—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा भेदा इति ॥११३।११४॥

तदेवं दर्शिता अष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन ओघत आदेशतश्चोभय-थाऽपि। साम्प्रतं तासामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो दिदर्शयिषुरादौ तावदोघत आह—

सव्वविसुद्धो खवगो हस्साश्र ठिईश्र बंधगो सुहुमे ।
छण्ह चरमठिइबंधे अणियट्टीए उ मोहस्स ॥११५॥

(प्रे०) "सव्वविसुद्धो" इत्यादि, सकषायबन्धकेषु 'सर्वविशुद्धः'-सर्वाधिकविशुद्धः क्षपकः "सुहुमे" त्ति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके 'ह्रस्वायाः'-जघन्याः स्थितेर्बन्धकः-स्वामी भवतीत्यर्थः । कतिपयप्रकृतीनामित्याह—"छण्ह" त्ति मोहनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां मूलप्रकृतीनाम्, न पुनर्मोहनीयायुषोरपि । तत्र सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे तयोर्द्वयोः प्रकृत्योरेवाबन्धात् प्रकृतिबन्धाविनाभावी स्थितिबन्धोऽपि तदानीं न जायते इति भावः । तर्हि तयोर्जघन्यस्थितिबन्धस्वामी को भवतीत्याह—"चरमठिइबंधे अणियट्टीए उ मोहस्स" त्ति तत्र मोहनीयस्य क्षपक एवानिवृत्तिबादराख्ये नवमगुणस्थानके चरमे स्थितिबन्धे, वर्तमान इति शेषः । ह्रस्वायाः स्थितेर्बन्धको भवतीति गम्यते । तुकारस्तु पूर्वापेक्षया विशेषद्योतकः, तेन चायं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इत्यवसेयमिति ॥११५॥

आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी यो भवति तमाह—

आउस्स भवे मिच्छो णरो व तिरियो व लहुअबाहगओ ।
सागाराइविसिट्ठो विण्णेयो तदरिहकिलिट्ठो ॥११६॥

(प्रे०) 'आउस्से' त्यादि, 'हस्साअ ठिइअ बंधगो' इति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, तत आयुषो 'ह्रस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेर्बन्धको भवेत्, क इत्याह—"मिच्छो" इत्यादि, मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा । कथम्भूत इत्याह-"लहुअबाहगओ" इत्यादि, 'लघ्वीम्'-जघन्यामसंक्षेप्याद्धालक्षणामबाधां गतः-प्राप्त इत्यर्थः । शेषाक्षरार्थ स्तुप्राग्वत् । अत्र साकारादिविशेषणानि प्राग्वद्भावनीयानि, यत्पुनरायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया नरतिरश्चामेव ग्रहणं, तद्देवनारकाणामायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्रतिषेधार्थम्; यत ओघतो जघन्यायुर्लब्ध्यपर्याप्तभवसत्कं बध्यते । यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनात्रयोविंशतितमपदे—

"आउस्स णं भंते ! कम्मस्स जहण्णठितिबंधते के ? गोयमा ! जे णं जीवे असंखेपद्धापविट्ठे सव्वनिरूद्धे से आउते, सेसे सव्वमहंतीए आउयबंधधाए, तीसे णं आउयबधद्धाए चरिमकालसमयंसि सव्वजहण्णियं ठिइं अपज्जत्तापज्जत्तियं निवत्तेति, एस णं गोयमा ! आउयकम्मस्स जहण्णठितीबंधते" इति ।

देवा नारकाश्चानन्तरभवे लब्ध्यपर्याप्ततया नोत्पद्यन्ते, अतो लब्ध्यपर्याप्तभवसत्कायुरबध्नन्त एते आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि न भवन्ति । जघन्याबाधायां वर्तमानस्योपादानं पुनरायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धे उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानस्य ग्रहणवद् द्रष्टव्यम् । अन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यस्थितिकमायुर्मनुष्यसत्कं तिर्यक्सत्कं च बध्यते, देवायुर्देतयोः शुभतया उत्कृष्टस्थितिर्विशुद्धया निर्वर्त्यते, जघन्या तु संक्लेशेन । तत्राऽपि सर्वसंक्लेशेनाऽऽयुर्बन्ध एव न भवतीतिकृत्वेषन्मन्दसंक्लिष्टा आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्तीत्येतत्प्रदर्शयितुम् "तदरिहकिलिट्ठो" इति विशेषणमुपात्तम् । अत एव "मिच्छो" इत्यस्यापि ग्रहणं ज्ञातव्यमिति ॥११६॥

तदेवमुक्ता ओघतो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । अथादेशतो मार्गणास्थानेषु प्रतिपिपादयिषुरादौ यासु मार्गणासु सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन ओघवत्तास्वतिदिशति—

आउगवज्जाण भवे ओघव्व मणुसतिगे पणिंदिदुगे ।
तसदुग-पंचमणवयण-कायो-राल-गयवेएसुं ॥११७॥
लोहे चउणाणेसुं संयम-सुहमेसु दंसणतिगे य ।
सुइल-भविय-सम्मेसुं खइए सणिणम्मि आहारे ॥११८॥

(प्रे०) "आउगवज्जाण भवे" इत्यादि, आयुष्कवर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामोघवद्भवेत्, जघन्यस्थितिबन्धस्वामीति गम्यते । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—"मणुसतिगे" इत्यादि, अत्र "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति"रिति न्यायात् मनुष्यत्रिकेनाऽपर्याप्तभेदवर्जाः शेषा मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो भेदा ग्राह्याः, इत्थमेव पञ्चेन्द्रियद्विकेन त्रसद्विकेनाऽप्यपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ द्वौ भेदौ ग्राह्यौ । शेषं तु सुगमम् । भावना तु प्रत्येकमोघवत्कर्तव्येति ॥११७।११८॥

तदेवं मनुष्यगत्यादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽतिदिश्य शेषमार्गणाविषयकसमानवक्तव्यतामादावभिदधाति—

सेसासु मग्गणासु सत्तण्हं बंधगो लहुठिईए ।
सागाराइविसिट्ठो विण्णेयो तदरिहविसुद्धो ॥११९॥
पज्जत्ता-ऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं ति वत्तव्वं ॥१२०॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादिगाथाद्वयी गतार्था, केवलं यथाऽऽयुस्त्रिकवर्जानां सर्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः संक्लेशाधिक्ये सति निर्वर्त्यते, तथा तासां जघन्या स्थितिर्विशुद्ध्याधिक्ये सति निर्वर्त्यते । उक्तं च पञ्चसंग्रहे—

"सव्वाण ठिई असुभा, उक्कोसुक्कोससंकिलेसेणं । इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिआउए मोत्तुं" ॥ इति ॥

तत्रापि यासु मार्गणास्वौघिकजघन्यस्थितिर्न बध्यते, तासु सा न सर्वविशुद्धिप्रत्यया, किन्तु तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिहेतुका । यासु मार्गणासु सर्वविशुद्धिप्रत्यया जघन्या स्थितिर्बध्यते, तास्वनन्तरमेव तत्स्वामिन ओघवत्सर्वविशुद्धा अतिदेशेनाभिहिताः, शेषमार्गणासु त्वोघवज्जघन्यस्थितिबन्धाभावात्तद्बन्धका न सर्वविशुद्धाः, किन्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धा इत्येतद्दर्शनार्थं शेषमार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिविशेषणतया "तदरिहविसुद्धो" इत्यभिहितम् । वस्तुतस्तु सप्तानां सर्वजघन्यस्थितेरप्यसंख्येयैरध्यवसायैर्बध्यमानत्वात् तेषां चाध्यवसायानां विशुद्धेः परस्परं तारतम्येन वर्तनात् सर्वविशुद्धा इव तत्प्रायोग्यविशुद्धा अप्यौघिकजघन्यस्थितेर्बन्धका भवन्ति, तथाऽपि सर्वजघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्य-

सर्वाध्यवसायानां सर्वजघन्यस्थितिबन्धहेतुकत्वादेव सर्वविशुद्धत्वं विवक्षित्वा पूर्वमोघतो यासु चौघिक-जघन्यस्थितिबन्धस्तासु मार्गणासु तद्बन्धकानां सर्वविशुद्धत्वं दर्शितम् । अत्र शेषमार्गणासु त्वौघिक-जघन्यस्थितिबन्धाभावाज्जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तत्प्रायोग्यविशुद्धा इत्युक्तमिति ॥११९।१२०॥

तदेवं दर्शिता शेषमार्गणाविषया सामान्यवक्तव्यता । साम्प्रतं यो विशेषस्तं प्रचिकटयिषुराह—

अत्थ विसेसो वुच्चइ सत्तण्हं बंधगो लहुठिईए ।
पढमदुइअसमये खलु असण्णिओ आगओ णेयो ॥१२१॥
णिरय-पढमणिरयेसुं अपज्जणर-देव-भवणजुगलेसुं ।

(प्रे०) "अत्थ विसेसो वुच्चइ" इत्यादि "अत्थ"त्ति यास्वनन्तरं सप्तानां कर्मणां जघन्य-स्थितिबन्धस्वामी सामान्यतस्तद्योग्यसर्वशुद्ध इति वक्तव्यतया दर्शितस्तासु शेषमार्गणास्वित्यर्थः । तासु शेषमार्गणासु किमित्याह—"विसेसो वुच्चइ"त्ति तासु साम्प्रतं विशेष उच्यत इति प्रतिज्ञा । तामेव निर्वाहयन् तत्तन्मार्गणासु विशेषमाह—"सत्तण्ह"मित्यादिना, आयुर्वर्जसप्तानां कर्मणां 'लघुस्थितेः'-जघन्यस्थितेर्बन्धकः, ज्ञेय इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । को ज्ञेय इत्याह—"पढमे"त्यादि, मार्गणायाः प्रथमसमये द्वितीयसमये च वर्तमानोऽसंज्ञित आगतः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यश्च्युत्वाविग्रहगतौ नारका-दितया भवप्रथमद्वितीयसमययोर्वर्तमानो जीव इत्यर्थः । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—"णिरय" इत्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोः, अपर्याप्तनर-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरदेवेष्वित्येतेषु षण्मार्गणा-भेदेष्वित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियाद्यसंज्ञिभ्यश्च्युत्वासंज्ञित्वेनोत्पद्यमाना जीवा विग्रहगतौ वर्तमानाः सन्तोऽसंज्ञिप्रायोग्यं स्थितिबन्धं कुर्वन्ति, यदा तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नुवन्ति तदाऽऽहारं कुर्वन्तः संज्ञिप्रायोग्यमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणं स्थितिबन्धं निर्वर्तयन्ति, इत्थं हि येषु देवेषु नारकेषु चैते उत्पद्यन्ते तेषु सर्वजघन्यस्थितिबन्धस्तेषां विग्रहगतौ वर्तमानानामसंज्ञिभ्य आगतानां जीवानां भवति, असंज्ञिभ्यश्च्युत्वा तु ते प्रथमनरके भवनपतिदेवेषु व्यन्तरेषु चोत्पद्यन्ते, न पुनः शेषनरकेषु देवेषु वा । अतः शेषदेवनरकभेदान् विहाय यासु मार्गणासु प्रथमपृथिवीनरकजीवा भवनपतिव्यन्तरदेवा वा समाविष्टास्ता एव संगृहीताः । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामिव पर्याप्तमनुष्यमार्गणायामप्यसंज्ञिन उत्पद्यन्ते, तथापि पर्याप्तमनुष्येषु सर्वजघन्यस्थितिबन्धं कुर्वन्तः क्षपका एव प्राप्यन्त इति पर्याप्त-मनुष्यमार्गणां त्यक्त्वाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणा संगृहीता । ननु भवतूक्तदेवनरकगतिभेदपञ्चकस्य संग्रहः, न पुनरपर्याप्तमनुष्यमार्गणाभेदस्यापि संग्रहो युज्यते, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामसंज्ञिजीवानामेव समावेशेन भवप्रथमसमयद्वयादन्यत्रवर्तमानानामपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वसम्भवाद् ? इति चेद्, सत्यम्, तथाऽपि शतक-ग्रन्थादिवदत्राप्यभिप्रायविशेषेण मनुष्यापर्याप्तमार्गणायां संज्ञ्यपर्याप्तजीवा एव गृहीता बोद्धव्याः । उक्तं च शतके—"सेसासु जाण दो दो" इति । अत्र "दो दो", इत्यनेन संज्ञि-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तौ द्वौ द्वौ जीवभेदावभिमतौ विज्ञेयौ । उक्तं च तच्चूर्णौ—"सेसासु जाण दोदो उ" त्ति

णिरयगइमणुयगइदेवगइसु दो दो जीवट्ठाणाणि, सण्णिपज्जत्तगा अपज्जत्तगा य" इत्यादि । इत्थं ह्यपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां केवलान् संज्ञिजीवानधिकृत्य जघन्यस्थितिबन्धे चिन्त्यमाने भवप्रथमद्वितीयसमययोर्वर्तमाना एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्राप्येरन्निति न कञ्चिद्दोषमुत्पश्याम इति ॥१२१॥

अथ शेषनिरयदेवभेदेषु प्रस्तुतसप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामिविषयकविशेषं दिदर्शयिषुः प्रसङ्गादन्यत्राऽपि सममेव दर्शयति—

सेसणिरयदेवेसु विउवदुगे होइ सम्मत्ती ॥१२२॥

(प्रे०) "सेसणिरय" इत्यादि, उक्तशेषेसु द्वितीयादिसप्तमपृथ्वीभेदभिन्नेषु षट्सु निरयभेदेषु ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेषु सप्तविंशतिदेवगतिभेदेषु 'विउवदुगे' त्ति वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूपे वैक्रियद्विके इत्येतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "होइसम्मत्तो" त्ति सप्तकर्मजघन्यस्थितिबन्धस्वामी 'सम्यक्त्वी'–अविरतसम्यग्दृष्टिर्भवतीत्यर्थः । कुतः ? एतास्वसंज्ञिनामनुत्पादाद् देशविरत्यादीनामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादीनामप्रवेशाच्च । प्रविष्टमिथ्यादृष्ट्याद्यपेक्षयाऽविरतसम्यग्दृष्टीनां स्थितिबन्धो जघन्यतः स्तोको भवतीति तु सुगमः । इति ॥१२२॥ अथान्यत्राह—

तिरिये कम्मणजोगे दुअणाणाऽयत-तिअसुहलेसासुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसुं य ॥१२३॥
होएज्ज बंधगो खलु बायरएगिंदियो, असण्णी उ ।
पंचिंदियतिरियचउग-असमत्तपणिंदियेसु भवे ॥१२४॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघभेदे, कार्मणकाययोगे, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणयोः, असंयमे, तिसृषु कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणासु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः, "अमणाणाहारगेसुं य" त्ति असंज्ञ्यनाहारकमार्गणयोश्च । एतासु तिर्यग्गत्याद्यनाहारिमार्गणापर्यन्तासु द्वादशमार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिविषयः को विशेष इत्याह—'होएज्ज बंधगो खलु बायरएगिंदियो" इति, बादरैकेन्द्रियो 'बन्धकः'-सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवेदित्यर्थः । सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इति तु प्रागुक्तसामान्योक्त्यैव यथासम्भवं योज्यम् । खलुशब्दः पादपूर्त्यै । सुगमं चेदम्, एतासु प्रत्येकं क्षपकाणामुपशमकानां वाऽप्रवेशात्, शेषबन्धकेषु बादरैकेन्द्रियैरेव स्तोकस्थितिबन्धस्य करणाच्चेति । 'असण्णी उ" त्ति असंज्ञी तु, भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्य स्वामीति गम्यते । कुत्रेत्याह—"पंचिदिये" त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीलक्षणे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदचतुष्केऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदे चेत्यर्थः । एतासु प्रत्येकं पञ्चेन्द्रियजीवा एव समाविष्टाः, पञ्चेन्द्रियेषु तु सर्वह्रस्वस्थितिबन्धः संयतानां भवति, ततश्चाधिकोऽसंज्ञिनाम्, तेभ्यः पुनरधिकः शेषपञ्चेन्द्रियाणामिति प्रागुक्ताल्पबहुत्वा-

दृश्यत एव । अधिकृतमार्गणासु संयतानामप्रवेशादुक्तनीत्याऽसंज्ञिनो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्तीति तथैवाऽभिहिता इति । तिरश्चीमार्गणायामसंज्ञिजीवसत्त्वं तु "थीनरपणिंदि चरमा चउ" इत्यादिनाऽन्यत्र षडशीत्यादौ स्त्रीपुंवेदमार्गणादावभिहितनीत्याऽत्रापि बोद्धव्यमिति ॥१२३।१२४॥

एगिंदिये णिगोए पणपुहवाईसु बायरो णेयो ।
बेइंदियो भवे बंधगो अपज्जत्ततसकाये ॥१२५॥

(प्रे०) "एगिंदिये" इत्यादि, एकेन्द्रियौघे, "णिगोए" त्ति साधारणवनस्पतिकायौघभेदे, "पणपुहवाईसु" त्ति पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु पञ्चसु पृथिव्याद्योघमार्गणाभेदेष्वित्येतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकम् "बायरो णेयो" त्ति बादरैकेन्द्रियपृथिवीकायादिजीवः सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी ज्ञेयः। अत्रापि पर्याप्त इति तु प्रागुक्तसामान्योक्त्यावगन्तव्यम् । एवमेवोत्तरत्रापि विज्ञेयम् । कुतो बादर एव स्वामी ? उच्यते, सजातीयपर्याप्ताऽपर्याप्तजीवराशिषु पर्याप्तानामिव सूक्ष्म-बादरजीवराशिषु बादरजीवानामेवाधिकविशुद्धिसम्भवेन जघन्यस्थितिबन्धसंभवात् । उक्तं च शतकचूर्णौ— "एगिंदियेसु सव्वविसुद्धो बायरएगिंदियपज्जत्तगोत्ति तंमि सव्वजहन्ना ठिई भवइ" इति । "बेइंदियो भवे" त्ति द्वीन्द्रियजीवः सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितेर्बन्धकः–स्वामी भवेदित्यर्थः । कस्यां मार्गणायामित्याह—"अपज्जत्ततसकाये" त्ति अपर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेद इत्यर्थः । सुगमम्, अत्र संयतानामेकेन्द्रियाणां वाऽप्रवेशादिति ॥१२५॥

तदेवम् "गइ-इंदिय-काये" इत्यत्र गतिमार्गणासत्कसप्तचत्वारिंशद्भेदेषु "ओघव्व मणुसतिगे" इत्यादिना पृथक् पृथक् सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वं दर्शितम् । इन्द्रियमार्गणासत्कोनत्रिंशतिभेदेभ्यः कायमार्गणासत्कद्विचत्वारिंशद्भेदेभ्यश्च पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोस्त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदद्वये च प्रागोघवत् (गाथा ११७) प्रस्तुतस्वामिनो दर्शिताः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायामनन्तर–(गाथा १२४)गाथायां तथैकेन्द्रियौघाद्यष्टमार्गणासु प्रकृत–(गाथा १२५) गाथायां विशेषोऽभिहितः । इत्थं चावशिष्टा इन्द्रियकायमार्गणाभेदेभ्योऽष्टचत्वारिंशद्भेदाः । तेष्वष्टचत्वारिंशद्भेदेष्वपि "सेसासु मग्गणासु" इत्यादि०गाथा–(११६–२०) द्वयोक्तसामान्यवक्तव्यत्वेनैव प्रस्तुतस्वामित्वप्ररूपणस्य पर्याप्तत्वेन विशेषवक्तव्यताया अभावात्ता अष्टचत्वारिंशन्मार्गणा विहाय साम्प्रतं क्रमप्राप्तयोगमार्गणासत्कशेषभेदेषु जघन्यस्थितिबन्धस्वामिविषयकविशेषं दिदर्शयिषुराह—

तिरियव्व उरलमीसेऽणंतरकाले सरीरपज्जत्तिं ।
यो णिट्ठवेउ सो वा णेयो तिसु मीसजोगेसुं ॥१२६॥

(प्रे०) "तिरियव्व" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणाभेदवत् सप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी बादरैकेन्द्रियजीवो भवतीत्यर्थः । कस्यां मार्गणायामित्याह—"उरलमीसे" त्ति औदारिक-

मिश्रकाययोगमार्गणायाम् । सुगमम् । केवलमसौ करणापर्याप्तो बोद्धव्यः । कुतः ? लब्ध्यपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियापेक्षया करणाऽपर्याप्तस्य बादरैकेन्द्रियस्याधिकविशुद्धेः सम्भवादिति । अथ योगमार्गणा-सत्काऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदद्वये न कश्चिद्विशेषोऽभिहितः, अतस्तत्र वक्तव्योऽसौ, नवरमा-हारककाययोगे "सेसासु" (गाथा-११६) इत्यादिनाऽभिहितसामान्यवक्तव्यतयैव पर्याप्तत्वेन नास्ति कश्चिद्विशेषोऽभिधानीयः, अर्थात्तत्र सामान्यवक्तव्यतयाऽभिहिताः साकारादिविशेषणविशिष्टास्तत्प्रायोग्य-विशुद्धा जीवाः सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । इत्थमेवैकेन मतेनाऽऽहारकमिश्रकाय-योगमार्गणाभेदेऽपि, नवरं मिश्रयोगमार्गणात्रये "सेकाले पज्जत्तिं निट्ठवउ स व मुण मीसजोगेसुं ॥६३॥" इतिवचनाद् यथा मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वागनन्तरसमय एवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावात्तत्र मिश्रयोगचरमसमये वर्तमाना जीवा एवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो भवन्ति, तथा तेन मतेन मिश्रयोग्य-वस्थायामुत्कृष्टसंक्लेशस्येवोत्कृष्टविशुद्धेरपि तदानीं मिश्रयोगचरमसमये एव सम्भवाज्जघन्यस्थिति-बन्धोऽपि तदानीं भवति, अतो मतान्तरेण मिश्रयोगचरमसमये वर्तमाना एव जघन्यस्थितिबन्ध-स्वामिनो भवन्तीत्येतावद्विशेषस्य सद्भावात्तं दर्शयति—"णंतरकाले सरीरपज्जत्ति' मित्यादि, गतार्थम् । केवलमाद्यमते उक्तविशेषणानामप्यत्रानुवर्तनादौदारिकमिश्रकाययोगे शरीरपर्याप्तिनिष्पत्तेरर्वा-क्समये वर्तमाना बादरैकेन्द्रियास्तथा वैक्रियमिश्रकाययोगे शरीरपर्याप्तिनिष्पत्तेरर्वाक्समये वर्तमानाः सम्यग्दृष्टिदेवनारकाः सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन इति बोद्धव्यमिति ॥१२६॥ गता योग-मार्गणाभेदेष्वपि प्रस्तुतस्वामित्ववक्तव्यता । अथ वेदकषायादिमार्गणासत्कशेषभेदेषु दर्शयन्नाह—

वेअ-कसायतिगेसुं समइअ-छेएसु बंधगो खवगो ।
होइ चरमठिइबंधे विभंग-देसेसु संयमाभिमुहो ॥१२७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "वेअकसायतिगेसु" मित्यादि, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् वेदत्रिक-कषायत्रिकयोः । अत्र कषायत्रिकेन लोभमार्गणावर्जाः शेषाः क्रोधादिमार्गणा गृह्यन्ते, लोभमार्गणायां प्रागेवौघवदति-दिष्टत्वादिति । तथा "समइअ" इत्यादि, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोः प्रत्येकम् "बंधगो खवगो" त्ति सप्तप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितेर्बन्धकः–स्वामी 'क्षपकः'–चारित्रमोहनीयक्षपकः, भवतीत्युत्तरार्धेऽन्वयः । ननु कथं चारित्रमोहनीयक्षपक इति गम्यते ? उच्यते, "चरमठिइबन्धे" इत्यनन्तरवक्ष्यमाणवचनेन, यतः प्रकृतमार्गणास्वपि निरुक्तक्षपको जघन्यस्थितिबन्धस्वामी तदा भवति यदाऽसौ चरमस्थितिबन्धे वर्तन्ते । अत्र चरमस्थितिबन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकसत्को ग्रहीतुं न युज्यते, अतोऽसौ प्रस्तुतस्त्रीवेदादितत्तन्मार्गणाऽपेक्षया ग्राह्यः । स्त्रीवेदादिना क्षपकश्रेणिमारुह्य स्त्री-वेदादेरुदयविच्छेदादर्वाग्भाविनं तत्तन्मार्गणासत्कं चरमस्थितिबन्धं कुर्वन् जीवः प्रकृतस्थितिबन्धस्वामी भवतीति भावः । 'विभंगदेसेसु' त्ति विभङ्गज्ञान-देशसंयममार्गणयोः प्रत्येकं "संयमाभिमुहो" त्ति "चरमठिइबंधे" इत्येतद्देहलीदीपकन्यायेनात्रापि संबध्यते, ततः प्रस्तुतमार्गणयोश्चरमस्थितिबन्ध-

निर्वर्तकः यः संयमाभिमुखः स इत्यर्थः, यस्मिन् स्थितिबन्धे समाप्ते सति संयतो भविष्यति तस्मिन् स्थितिबन्धे वर्तमान इतियावत् । इति ॥१२७॥

अथ मिश्रयोगमार्गणात्रयवद् यासु मार्गणासु विकल्पद्वयं ताः संगृह्य तत्राह—

अपमत्तो अहवा से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो ।
सो णेयो परिहारे तेउ-पउम-वेअगेसु य ॥१२८॥

(प्रे०) "अपमत्तो" इत्यादि, वक्ष्यमाणमार्गणासु सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिबन्धकोऽप्रमत्तसंयतः, ज्ञेय इति परेणान्वयः । तास्वेव मार्गणासु मतान्तरेण पुनरन्यं विशेषमाह—"अहवा" इत्यादिना, अथवा-मतान्तरे "से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो सो णेयो"त्ति सेशब्दस्यानन्तर्यार्थकत्वेनाऽनन्तरे 'बन्धे'-स्थितिबन्धे कृतकरणो भविष्यति यः स ज्ञेयः, एवम्भूतोऽप्रमत्तसंयत ज्ञातव्य इत्यर्थः । स्वस्थानाप्रमत्तसंयतापेक्षया क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखस्यास्य विशुद्धेराधिक्यादित्यभिप्रायः । कासु मार्गणास्वित्याह—'परिहारे तेउपउमवेअगेसु य'त्ति परिहारसंयमे तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्वमार्गणाभेदेषु च, एतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । इयमत्र भावना—क्षपकश्रेणिं प्रतिपत्ता यदाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कं मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयं च यथाविधि सर्वथा क्षपयित्वा क्रमशः सम्यक्त्वमोहनीयस्यापि चरमखण्डं क्षपयति तदा कृतकरण उच्यते । उक्तं च कषायप्राभृतचूर्णौ—"चरिमे ट्ठिदिखंडए णिट्ठिदे कदकरणिज्जो त्ति भण्णदे !" इति । एवम्भूतो हि कृतकरणोऽविरतसम्यग्दृष्टयादीनामन्यतमो भवति, तत्राप्रमत्तसंयतस्य शेषाविरतसम्यग्दृष्टयाद्यपेक्षया विशुद्धत्वादसावेव प्रकृते गृह्यते, अयं ह्यप्रमत्तकृतकरणः कृतकरणाद्धायाः प्राक् सम्यक्त्वमोहनीयस्य चरमस्थितिखण्डमुत्कीरयन् सम्यक्त्वपुद्गलांश्च वेदयन् यं चरमस्थितिबन्धं करोति सः स्थितिबन्धः प्रस्तुतमार्गणाभाविसर्वस्थितिबन्धापेक्षया स्तोकः भवति, तदानीं क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखस्य तस्य शेषाप्रमत्तसंयतापेक्षया विशुद्धत्वादिति द्वितीयमताभिप्रायः । प्रथममताभिप्रायेण तु क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखानां कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वतां यथा जघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्यविशुद्धिरवाप्यते, तथा स्वस्थानगतानामपि निमित्तान्तरेण तादृशी विशुद्धिरवाप्यते । इत्थं न केवलं कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वतामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वम्, किन्तु तदन्याऽप्रमत्तसंयतानामपि । ततः प्रथममतेऽप्रमत्त इत्येतावन्मात्रमभिहितम्, तेनोक्तोभयविधबन्धकानां ग्रहणात् । द्वितीयमते तु केवलानां कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वतां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया—"से कालम्मि" इत्यादिविशेषाभिधानपूर्वकं स्वस्थानसंयतानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया प्रतिषेधः कृत इति । ननु एतन्मतद्वयमपि परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां च कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वतां जीवानां प्रवेशात् तयोर्द्वयोर्मार्गणयोः सङ्गच्छते, न पुनः शेषयोस्तेजः-

पद्मलेश्यामार्गणयोरपि, अन्यत्र कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वतां शुक्ललेश्याया एव सद्भावप्रतिपादनात् । उक्तं च—

"सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण उच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमान कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत, सम्प्रत्यन्यतमस्यां गच्छति" इति ।

इत्थं कृतकरणाद्धायाः प्राक्शुक्ललेश्यायाः प्रतिपादनात् कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तर भावि-जघन्यस्थितिबन्धस्तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां वा नाप्यते, तथा च सत्युभयमतेऽपि तयोर्द्वयोर्मार्गणयोर्जघन्यस्थितेर्बन्धकाः स्वस्थानाऽप्रमत्तसंयता एव । इत्थं न सङ्गच्छते लेश्यामार्गणा-द्वये "से कालम्मि" इत्यादिना द्वितीयमताभिधानम् ?इति चेद्, न, कषायप्राभृतचूर्णौ दर्शनमोह-क्षपणायाः प्रारम्भतः प्रवृत्ताया अन्यतमशुभलेश्याया यथोत्तरं परिणामविशुद्ध्या विशुद्ध्यमानायाः कृतकरणाद्धायामप्यन्तर्मुहूर्तं प्रवृत्त्य तत्पश्चात्कापोताद्यन्यतमलेश्यारूपेण परिणतिरभिहिता । उक्तं च कषायप्राभृतचूर्णौ—

"जइ तेउ-पम्ह-सुक्के वि अंतमुहुत्तकदकरणिज्जो" इति ।

अर्थाद्-यः तेजः-पद्म-शुक्लान्यतमस्यां यस्यां लेश्यायां दर्शनमोहनीयक्षपणां प्रारभते, स तस्यां लेश्यायामेवान्तर्मुहूर्तं कृतकरणो भवति, स एव कृतकरणाद्धाया अर्वाग्भाविनं चरमं जघन्यस्थिति-बन्धं कुर्वन् शुक्ललेश्यायामिव तेजः-पद्मलेश्ययोरपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीत्येतस्यापि मतान्तर-स्य सत्त्वात् तेजः-पद्मलेश्यामार्गणयोरपि विकल्पाभिधानं नासङ्गतमित्यलं विस्तरेण ॥१२८॥

अथान्यत्राह—

उवसामगो उवसमे वट्टंतो होइ चरमठिइबंधे ।
सासाणे चउगइयो निवडंतो संयमा व भवे ॥१२९॥

(प्रे०) 'उवसामगो" इत्यादि, "उवसमे" त्ति औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुपश्रेणि-मारोहन् चरमे स्थितिबन्धे वर्तमान उपशामकः सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति । अनिवृत्ति-करणगुणस्थानचरमस्थितिबन्धे मोहनीयस्य, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमस्थितिबन्धे मोहनीयायु-र्वर्जानां षण्णामिति विवेकः । इति । "सासाणे" त्ति सासादनसम्यक्त्वमार्गणायां "चउगइयो" त्ति चतुर्गतिकः, नारकाद्यन्यतम इत्यर्थः । अत्रैव विकल्पान्तरमाह—"निवडंतो संयमा व भवे" त्ति "व"त्ति वा-अथवा, स च प्रकृतमार्गणायां प्रकृतजघन्यस्थितिबन्धस्वामिविषयकविकल्पप्रदर्शनपरः । ततोऽन्यविकल्पेन संयमात् निपतन् यः सासादन्यभूत्, स तत्र प्रथमं स्थितिबन्धं कुर्वन् जघन्यस्थिति-बन्धस्वामी भवेदित्यर्थः ॥१२९॥

मीसे यो पडिवज्जइ अणंतरम्मि समयम्मि सम्मत्तं ।
सो बंधगो हवेज्जा सत्तण्ह ठिईअ हस्साए ॥१३०॥

(प्रे०) "मीसे यो" इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां योऽनन्तरे समये सम्यक्त्वं प्रतिपत्स्यते, स बन्धको भवति । कस्या इत्याह—"सत्तण्हे" त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां ह्रस्वायाः-जघन्यायाः स्थितेः । अत्र सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणं मिश्रदृष्टीनां सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानादनन्तरमेव देशसंयमादिगुणस्थानेषु गमनाभावेन देशसंयमाद्यभिमुखत्वस्याऽसम्भवात्, न पुनर्देशसंयमाद्यभिमुखानां व्यावृत्त्यर्थम् । उक्तं च कर्मप्रकृत्युदीरणाकरणवृत्तौ—

"सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्युगपत् सम्यक्त्वं संयमं च न प्रतिपद्यते, तथाविशुद्धेरभावात्, किन्तु केवलं सम्यक्त्वमेव" इति । शेषमिश्रदृष्टिजीवापेक्षया सम्यक्त्वाभिमुखानां विशुद्धतरत्वेन जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमिति तु सुगम इति ॥१३०॥

तदेवं प्रदर्शिता सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । साम्प्रतमुक्तशेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धस्य स्वामिनः प्रदिदर्शयिषुः प्रागुक्तनीत्या सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतामादावेव दर्शयति—

तप्पाउग्गकिलिट्ठो सव्वत्थाऽऽउस्स लहुठिईअ भवे ।
मागाराइविसिट्ठो वट्टंतो लहुअबाहाए ॥१३१॥

(प्रे०) "तप्पाउग्गे" त्यादि, सुगमम्, नवरं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्य ग्रहणमोघिकजघन्यस्थितिकायुर्बन्धवत् प्रत्येकं मार्गणास्थानेषु तिर्यग्-मनुष्य-देवायुषामन्यतमस्य जघन्यस्थितिकायुषो बन्धभावात्, तस्य च जघन्यस्थितेः संक्लेशप्रत्ययत्वात् । इदमुक्तं भवति-यदि कस्यामपि मार्गणायां जघन्यस्थितिकमायुर्निरयगतिसत्कं बध्नीयात्तदा तस्य निरयायुषोऽशुभत्वेन तस्य जघन्यस्थितेर्बन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः स्यात् । न चैतद्भवति, सप्तमपृथिवीनैरयिक-तेजो-वायुकायिकानां तिर्यगायुषस्तथा संख्येयवर्षायुषां युग्मिनां सम्यग्दृष्टिमनुजतिरश्चां च देवायुष एव जघन्यस्थितेर्बन्धात्, एवमेवाऽऽनतकल्पादिदेवानां मनुष्यसत्कस्यैवाऽऽयुषो बन्धात्, शेषाणां च नैरयिकादीनां मनुष्यसत्कस्य तिर्यक्सत्कस्य वा जघन्यस्थितिकायुषो बन्धभावात् । इत्थं हि सर्वमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संक्लिष्टाः प्राप्यन्ते । संक्लेशे तत्प्रायोग्यत्वविशेषणं तु प्राग्वदेव बोद्धव्यमिति ॥१३१॥

तदेवं सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतां प्रदर्श्येदानीं विशेषवक्तव्यतां प्रदर्शयितुमाह—

इह यो होइ विसेसो सो वुच्चइ बंधगो लहुठिईए ।
आउस्स जाणियव्वो सव्वेसुं णिरयभेएसुं ॥१३२॥
तिरिय-पणिंदितिरिय-णरतिग-सुर-गेविज्जअंतदेवेसुं ।
उरले उरालमीसे विउवम्मि य मिच्छदिट्ठीयो ॥१३३॥

(प्रे०) "इह यो होइ" इत्यादि, 'इह'–मार्गणास्थानेषु भण्यमाने आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वविषये यो भवति विशेषः स उच्यते इति प्रतिज्ञा, तामेव निर्वाहयन्नाह–"बंधगो"इत्यादि, आयुषो 'लघोः'–जघन्याः स्थितेः–'बन्धकः'–स्वामी ज्ञातव्यः, अस्य चान्वयो द्वितीयगाथाप्रान्ते "मिच्छदिट्ठीयो" इत्यनेन, तेन मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः। एतेन सम्यग्दृशामायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामितया व्यवच्छेदः कृतः। कासु मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेः स्वामी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः? इत्याह–"सव्वेसुं णिरयभेएसु"मित्यादि, अष्टस्वपि निरयगतिमार्गणाभेदेषु, "तिरिय"त्ति तिर्यग्गत्योघे, "पणिंदितिरियनरतिग"इत्यत्र त्रिकशब्दस्योभयत्र योजनात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिकं नरत्रिकं च, अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः प्रत्येकत्रिकेनापर्याप्तभेदवर्जाः शेषास्त्रयस्त्रयो भेदा ग्राह्यास्तेषु षट्भेदेष्वित्यर्थः। "सुर"त्ति देवगत्योघभेदे "गेविज्जअंतदेवेसुं"ति भवनपत्यादिषु नवमग्रैवेयकान्तेष्वन्येषु चतुर्विंशतिदेवगतिमार्गणाभेदेषु चेत्यर्थः। "उरले"त्ति औदारिककाययोगे "उराल मीसे"त्ति औदारिकमिश्रकाययोगभेदे, तथैव "विउव्विम्मि य"त्ति वैक्रियकाययोगभेदे, चः समुच्चये, एतासु समुच्चितासु त्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। इति ॥१३२।१३३॥

अथान्यत्राह—

तिरियो णरो व मिच्छो होइ पणिंदियदुगे तसदुगे य।
पणमणवयेसु काये वेअतिगे चउकसायेसुं॥१३४॥
अणाणतिगे अयते चक्खु-अचक्खूसु असुहलेसासुं।
भविया-ऽभवियेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि अहारे॥१३५॥

(प्रे०) "तिरियो णरो व"इत्यादि, पञ्चेन्द्रियद्विकाद्याहारिपर्यन्तेषु षट्त्रिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं "मिच्छो"त्ति मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वाऽऽयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति, न पुनर्देवो नारको वा; देवनारकाणामनन्तरभवे लब्ध्यपर्याप्ततयोत्पादाभावेन प्रकृतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यस्य जघन्यस्थितिकस्य लब्ध्यपर्याप्तसत्कायुषो बन्धस्याकरणात्, न वा सम्यग्दृष्टितिर्यग्-मनुष्याः, तेषां देवायुष एव बन्धभावादिति भावः। अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलम् "पणिंदियदुगे"इत्यनेनापर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदवर्जौ पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदौ ग्राह्यौ, तथैव "तसदुगे" इत्यनेनाऽप्यपर्याप्तत्रसकायभेदवर्जौ शेषौ त्रसकायभेदौ ग्राह्याविति ॥१३४।१३५॥

अथ मार्गणान्तरेष्वाह—

मिच्छादिट्ठी देवो सुहलेसासुं सुरो व णिरयो वा।
णाणतिगे ओहिम्मि य सम्म-खइअ-वेअगेसु भवे॥१३६॥

(प्रे०) "मिच्छादिट्ठी देवो"इत्यादि, शुभासु-प्रशस्तासु तेजः-पद्म-शुक्लेश्यासु प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिर्देवः, आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामीति गम्यते। सुगमम्। मनुष्यतिरश्चां वर्जनं तेषामन्य-

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रकम्

ओघतः—साकार-जाग्रत्-श्रुतोपयुक्त-संज्ञि-सर्वपर्याप्तिपर्याप्ता-ऽन्यतमगतिक-मिथ्यादृक्-सर्वसंक्लिष्टा जीवाः, तादृगीषन्मध्यम-संक्लिष्टा जीवा वा (गाथा–७७।७८)। आदेशतः—सर्वमार्गणासु सामान्यतः साकारादिविशेषणविशिष्टा जीवाः, ते च मार्गणाप्रविष्टपर्याप्ता-ऽपर्याप्तजीवानां मध्ये पर्याप्ता एव, विशेषतस्तु निम्नलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपा ज्ञेयाः (गाथा–८२।८३।८४)।

स्वामिन	गति	इन्द्रिय.	काय	योग	मार्गणा	गाथाङ्काः
ओघवत्—	सर्वनिरयभेद०, अपर्याप्तवर्जतिर्यग्मनुष्य-भेद०, देवौघ०, भवनपत्यादिसहस्रारान्ताश्च। २७	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तौ, २	त्रसौघ-तत्पर्याप्तौ, २	सर्वमनोवचो० काययोगौघ० ११	४२	८१–८५–८६
तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा संज्ञिनः—	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद० १	अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय० १	अपर्याप्त-त्रस० १		३	८७
,, ,,	अपर्याप्तमनुष्य० पञ्चानुत्तरदेवभेद० ६	शेषसर्वभेद० १९‡	शेषसर्व० ३९‡		६१	८८–८९
,, ,, संज्ञिमिथ्या-दृष्टयः—	आनतादिनवग्रैवेयकान्तत्रयोदशदेव-भेद० १३			औदारिकमिश्र०※ कार्मण० २	१५	९०–९३–९४
सर्वसंक्लि० सहस्रारान्तदेवनारका		..	.	वैक्रिय० १	१	९२
तत्प्रा०संक्लि० मिथ्यादृग्देवनारका	.	..		वैक्रियमिश्र० १※	१	९२
,, प्रमत्तसंयता —	...	..	.	आहारकद्विकं, २※	२	९३
सर्वसंक्लि० ×मिथ्यादृक्तिर्यग्मनुष्या	. ..	...	...	औदारिक० १	१	९१

‡ बादर-सूक्ष्मयोर्मध्ये बादरा एव। ※ मिश्रयोगत्रये मतान्तरे शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समयवर्तिनो जीवा एव।

स्वामिनः	वेदः	कषायः	ज्ञानम्	संयमः	दर्शनं	लेश्या	भव्यः	सम्यक्त्वं	संज्ञी	आहारी	↑	↑
†सर्वसंक्लि. ×संज्ञिमिथ्यादृष्टयः	त्रिक० ३		अज्ञान० ३			कृष्ण० १	अभ० १	मिथ्या० १		अना० १	१०	६५–६७
,, ×मिथ्यादृग्देवनारकाः	....	..	....	...	...	*नी. का.	..	... .	....	...	२	१०१
,, ×ईशानान्तदेवाः	....	....	....	...	....	तेजो०	....	... ...	....	....	१	१०२
,, ×सनत्कुमारादिसहस्रारान्ता.	....	...	....	....	..	पद्म० १	.	.... ..	..	...	१	१०२
तत्प्रा०संक्लिष्ट-मिथ्यात्वाभिमुखा.				देश० १				मिश्र० १			२	१००–१०४
,, ,, ,, इतरे वा								सास्वा० १			१	१०४
,, ,, अविरतसम्यग्दृशः			मति० श्रुत० अवधि० ३		अवधि० १			सम्यक्त्वौघ० वेद०औप०३			७	६८
,, असंयमाभिमुख प्रमत्ताः			मन.पर्यव०								१	६६
,, मिथ्यात्वाऽभिमुख ,,				संयमौघ० सामायिक छेद० ३							३	६६
,, छेदाभिमुखाः ,,				परिहार०							१	१००
,, आनतादिमिथ्यादृग्देवाः—	....	....	.. ....	..		शुक्ल० १	..	....	....	...	१	१०३
,, चतुर्गतिकान्यतमा.—								क्षायिक०			१	१०३
,, पञ्चेन्द्रिया.—	....	...	....	....	....	...	....	....	असंज्ञी	...	१	१०४
तन्नुपशमकोऽनिवृत्तिप्राक् स्थितिबन्धे,				सूक्ष्म०							१	१०५
,, अवेद्यवस्थावरमबन्धे,	अवेद०	....	....	....	....	...	..	.... ..	....	....	१	६६
ओघवत्		सर्व० ४		असं० १	चक्षु. अच० २		भव्य० १		संज्ञी० १	आहारी० १	१०	८१–८५

† नवरमनाहारके तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा एव । × सर्वसंक्लिष्टवदीशन्मध्यमसंक्लिष्टा अपि ।

* नील-कापोतलेश्यामार्गणाद्वये मतान्तरेण केवला नारकजीवा एव, न पुनर्देवा ।

आयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनाम्—

ओघतः—मोहनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे वर्तमानाः क्षपकाः। मोहनीयस्याऽनिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे वर्तमानाः क्षपकाः।

(गाथा—११५)

स्वामिनः	गतिः	इन्द्रिय.	कायः
ओघवत्—	अपर्याप्तवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, ३	पञ्चेन्द्रियोघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २	त्रसौघ—तत्पर्याप्तौ, २
तत्प्रायोग्यविशुद्धा. विग्रहगतिस्था असंज्ञिभ्य आगता संज्ञिनः—	निरयौघ०, प्रथमनिरय०, अपर्याप्तमनु०, देवौघ०, भवन० व्यन्तर० ६		
,, सम्यग्दृष्टयः—	द्वितीयाद्याः ६ निरयभेदाः, ज्योतिष्काद्याः २७ देवभेदाश्च,		
,, बादरैकेन्द्रियाः—	तिर्यग्गत्योघ १		
,, असंज्ञिनः—	सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, ४	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय १	
,, बादरजीवाः—		एकेन्द्रियौघ, १	५ पृथिव्याद्योघभेदाः साधारणवनौघश्च ६
,, द्वीन्द्रियाः— ,, बादरैकेन्द्रियाः— .... मार्गणाविच्छेदादर्वाक् चरमस्थितिबन्धे क्षपकाः— तत्प्रायोग्यविशुद्धसंयमाभिमुखाः—	....	.. ..	अपर्याप्तत्रस , . ..
स्वस्थानाऽप्रमत्तसंयताः, अथवाऽनन्तरस्थितिबन्धे ये कृतकरणा भविष्यन्ति तादृशोऽप्रमत्तसंयताः—			
सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे वर्तमाना उपशमकाः— अन्यतमगतिस्थाः, अथवा संयमादागता मनुष्याः— तत्प्रा० विशु० सम्यक्त्वाभिमुखाश्चरमे स्थितिबन्धे—	...	.	... ...
सामान्यवक्तव्यतयोक्ताः साकारादिविशेषणविशिष्टास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा एकेन्द्रियादिजीवाः—		शेषाः १५ ❀	शेषाः ३३ ×

❀ ओघवर्जा बादर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्म-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना षड् एकेन्द्रियभेदाः, ओघ पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदात् नव विकलेन्द्रियभेदाश्च।

× ओघवर्जा बादर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्म-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायसत्काः प्रत्येकं षड् षड्, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाश्च।

—जघन्यस्थितिबन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

आदेशतः—सर्वमार्गणासु साकारोपयोगादिविशेषणविशिष्टा जीवाः, तेऽपि मार्गणायां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तजीवसत्वे पर्याप्ता एव, तेऽपि विशेषतो निम्नाऽऽलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपाः ।

(गाथा—११९।१२०)

योगः	वेदः	कषा०	ज्ञानम्	संयमः	दर्शन	लेश्या	भव्य	सम्य०	संज्ञी	आहारी	समस्त मार्गणाः	गाथाङ्काः
सर्वे मनोवचोभेदाः, औदारि० काययोगौघ० १२	अपगतवेदः, १	लोभ १	मत्यादीनि ४	संयमौघ० सूक्ष्मसं० २	चक्षुरादि० ३	शुक्ला १	भव्य. १	सम्यक्त्वौघ० क्षायि० २	संज्ञी १	आहारी १	३६	११७ ११८
											६	१२१ १२२
वैक्रिय-तन्मिश्रयोगौ* २											३५	१२२
कार्मण०, १			मत्य श्रुता २	असंय० १		अशुभा ३	अभ० १	मिथ्या० १	असं० १	अना० १	१२	१२३
											५	१२४
											७	१२५
											१	१२५
औ-मिश्र* १	...		....	..	.					....	१	१२६
	स्त्री-पु-नपु. ३	शेषाः ३		सामा छेद २							८	१२७
	...	...	विभङ्ग०	देश०	...					....	२	१२७
				परिहार० १		तेजः-पद्म० २		क्षायोप० १			४	१२८
								औप०			१	१२९
....		..	..	...	...	...	.	सासाद०	....		१	१२९
								मिश्र०			१	१३०
आहारक०, तन्मिश्रश्च २*											५०	११९ १२०

* मिश्रयोगमार्गणास्थानत्रये मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाग् मिश्रयोगचरमसमये वर्तमाना जीवा एव प्रस्तुतस्वामिनो भवन्ति, न पुनर्मार्गणाद्विचरमसमयादिषु वर्तमाना इति (गाथा १२६) ।

आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानाः साकारादिविशेषणविशिष्ट-सर्वपर्याप्तिपर्याप्त-तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट-संज्ञि-मिथ्यादृष्टयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्याः, साकारादिविशेषणविशिष्ट-तत्प्रायोग्यविशुद्धप्रमत्तसंयताश्च (गाथा—७९।८०) ।

आदेशतः—सामान्येन साकारादिविशेषणविशिष्टा एव, विशेषतस्तु निम्नाऽऽलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपाः ।

स्वामिन	गति०	इन्द्रिय०	काय०	योग०	सर्व-मार्गणाः	गाथाङ्काः
तत्प्रायोग्य-विशुद्ध० सम्यग्दृष्टि० मिथ्यादृष्टिश्च	निरयोघ० प्रथमादिषष्ठपृथिव्यान्ताश्च, देवौघ० ग्रैवेयकान्ताश्च । ३२			वैक्रिय० १	३३	१०७
,, ,, मिथ्यादृष्टि०	सप्तमपृथिवीनिरयभेद० १			औदारिकमिश्र० १	२	१०८
,, संक्लिष्ट०संज्ञिमिथ्यादृष्टि	अपर्याप्तवर्जतिर्यग्गतिभेद० ४				४	१०८
,, विशुद्ध० संज्ञी, असंज्ञी,	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्० १	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १	अपर्याप्तत्रस० १		३	१०९
,, ,, प्रमत्तसंयत० ,, संक्लिष्ट०मिथ्यादृष्टिश्च ।	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्तभेदौ । २				२	११०
, विशुद्ध०	अपर्याप्तमनु० पञ्चानुत्तरदेव० ↓ ६	सर्वे एकेन्द्रिय० ,, विकले० १६	पृथिव्यादिवनस्पत्यान्तसर्व० ३६	आहारक० तन्मिश्रयोगश्च । २	३६	१११

सर्वथा ओघवत्	↓			पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्तभेद० २		त्रसौघ-तत्पर्याप्तौ, २		सर्वे मनोवचो० औदारिक० काययोगौघ० १२			१६	
	वेद०	कषाय०	ज्ञान०	संयम०	दर्शन०	लेश्या०	भव्य०	सम्यक्त्व०	संज्ञी०	आहारी	+	११४
	पु०नपुं० २	सर्व० ४			चक्षु० अचक्षु० २		भव्य० १		संज्ञी० १	आहा० १	११	
तत्प्रायोग्य- ,, संक्लिष्ट०तिर्यग्मनुष्य०			अज्ञान० ३	असयम० १		अशुभ० ३	अभव्य० १	मिथ्यात्व० १			६	११२
,, विशुद्ध० मनुष्य०				देश० १				सास्वादन० १			२	११४
,, ,, सयत०	स्त्री० १ / मानुषी० १		ज्ञान० ४	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० ४	अवधि० १	शुभ० ३		सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० क्षायोपशमिक० ३			१७	१२३
,, सक्लिष्ट० पञ्चेन्द्रिय०									असंज्ञी		१	११४

ओघतः—जघन्याबाधायां वर्तमानाः साकारादिविशेषणविशिष्ट-तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टास्तिर्यग्-मनुष्याः (गाथा—११६)

स्वामिनः	गति०	इन्द्रिय०	काय०	योग०	वेद०	कषा०
तत्प्रायोग्यसङ्क्लिष्टमिथ्या-दृष्टितिर्यग्मनुष्य०		पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ २	त्रसौघ-तत्पर्याप्तौ, २	सर्वमनोवचो० कायौघ० ११	वेद-त्रय० ३	सर्व० ४
,, मिथ्यादृग्देव०						
,, नारक-देव०						
,, प्रमत्तसंयत०						
तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट०	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्० अपर्याप्त-मनुष्य० पञ्चानुत्तरदेव० ७	सर्वैकेन्द्रिय० सर्वविकल० अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय० १७	पृथिव्यादिवन-स्पत्यान्ता. नवभेदा ३९५ अपर्याप्तत्रस० ४०	आहारक० तन्मिश्र० २		
तत्प्रायोग्यसङ्क्लिष्टमिथ्या-दृष्टि०	सर्वे निरयभेद०, तिर्यग्गत्योघ० पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ० तत्पर्याप्त० तिरश्ची, मनुष्यौघ० तत्पर्याप्त० मानुषी, देवौघ० नवमग्रैवेयकान्ताश्च ४०			औदारिक० तन्मिश्र० वैक्रिय० ३		
	४७	१६	४२	१६	३	४

आदेशतः—सामान्येन जघन्याबाधायां वर्तमानाः साकारादिविशेषणविशिष्टा एव, विशेषतस्तु निम्नाऽऽलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपाः (गाथा—१३१)।

ज्ञान०	संयम०	दर्शन०	लेश्या०	भव्य०	सम्यक्त्व०	संज्ञी०	आहारी०	सर्वा मार्गणाः	गाथाङ्काः
अज्ञान० ३	असंयम० १	चक्षु० अचक्षु० २	अशुभ० ३	सर्व० २	मिथ्यात्व० १	संज्ञी० १	आहा० १	३६	१३४ १३५
			शुभ० ३					३	१३६
मति० श्रुत० अवधि० ३		अवधि० १			सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० वेदक० ३			७	१३६
मनः-पर्यव० १	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० ४							५	१३७
	देशसंयम० १				सास्वादन० १	असंज्ञी, १		६६	शेष०
								४३	१३२ १३३
७	६	३	६	२	५	२	१	१६३	

तमशुभलेश्यायां सत्यां देवायुष एव बन्धसम्भवादिति । "सुरो व णिरयो वा"त्ति 'सुरः'-देवो वा नैरयिको वा, देवनारकान्यतर इत्यर्थः, आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—"णाणतिगे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानवर्जे ज्ञानत्रिके. मतिज्ञानादिमार्गणाभेदत्रय इत्यर्थः । अवधिदर्शनमार्गणायां, चः समुच्चये, स च व्युत्क्रमेणोत्तरत्र योज्यः । "सम्मखइअवेअगेसु"त्ति सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु चेत्यर्थः । एतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं सम्यग्दृष्टयो जीवा एव समाविष्टाः, तेभ्योऽनन्तरभवे मनुष्यतयोत्पत्स्यमानानां देवनारकाणामेव जघन्यस्थितिबन्धः सम्भवति, न पुनर्देवतयोत्पत्स्यमानानां मनुष्यतिरश्चामितिकृत्वा देवनारका एव जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽभिहिता इति ॥१३६॥ अथ यासु मार्गणासु प्रमत्तादिसंयतानां सद्भावेऽपि केवलानां प्रमत्तानामेव जघन्यस्थितिबन्धस्तासु मार्गणासु तथैव दर्शयन्नाह—

आउस्स लहुठिईए णायव्वो बंधगो पमत्तजई ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥१३७॥

(प्रे०) "आउस्से"त्यादि, प्रकृतस्याऽऽयुषो लघुस्थितेर्बन्धकः 'प्रमत्तयतिः'-प्रमत्तसंयतो ज्ञातव्यः, अप्रमत्ताद्यपेक्षया तस्यैव संक्लेशाधिक्येन लघुस्थितिबन्धभावात् । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह— "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणाभेदयोः, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणाभेदेषु चेत्यर्थः । सुगमम् । इदन्तु बोद्धव्यम्—यास्त्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगाद्येकोनसप्ततिमार्गणासु कश्चिदपि विशेषो नाभिहितस्तासु सामान्यवक्तव्यतायां दर्शितविशेषणान्येवापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादितत्तन्मार्गणागतजीवापेक्षया विशेषतया बोद्धव्यानि, ततश्च तासु मार्गणासु साकारादिविशेषणविशिष्टा जघन्यायामबाधायां वर्तमानास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा जीवा आयुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । ताश्च मार्गणा इमाः—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियजातिभेदः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, पञ्चानुत्तरविमानसत्का देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियमार्गणाभेदाः, नव द्वीन्द्रियादिविकलेन्द्रियमार्गणाभेदाः, पृथिव्यादिपञ्चकायमार्गणासत्का एकोनचत्वारिंशद्भेदाः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदौ, देशसंयत-सासादना-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । नचाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसमार्गणयोर्नारकदेवानां व्यावृत्तये प्रस्तुतस्वामिविशेषणतया तिर्यग्मनुष्या इति विशेषणं कथं नाख्यातेति वाच्यम् । नारकदेवानां प्रकृतिबन्धस्वामित्वाभावेन तत एव व्यावृत्तत्वादिति ॥१३७॥

तदेवमभिहिता मार्गणास्थानेष्वपि शेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः, इत्थं च गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं साद्यादिद्वारम् ॥

साम्प्रतं "साइअाई"त्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं साद्यादिद्वारम् । तत्र चोत्कृष्ट-जघन्य-तदितरभेदाच्चतुर्धा विभक्तानां स्थितीनां प्राग्वदोघत आदेशतश्च साद्यादिबन्धप्रकाराश्चिन्तनीयाः । तत्रादौ तावदोघतश्चिचिन्तयिषुर्गाथाद्वयमाह—

सत्तण्हं कम्माणं भंगा साई अणाइ-धुव-अधुवा ।
चउरो अजहण्णाए ठिईअ बंधे मुणेयव्वा ॥१३८॥
सत्तण्हुक्कोसे-यर-जहण्णगाणऽत्थि साइ-अधुवा दो ।
आउस्स चउविहाणं ठिईण बंधे वि ते णेया ॥१३९॥

(प्रे०) "सत्तण्ह"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणाम् "साई अणाइधुवअधुवा" त्ति सादिरनादिध्रुवाऽध्रुवाश्च चत्वारो भङ्गाः-प्रकाराः, ज्ञातव्या इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । अत्रैकजीवमधिकृत्य य उत्कृष्टादिस्थितिबन्धः पूर्वव्यवच्छिन्नोऽभूतपूर्वो वा प्रारब्धः, स सादिरुच्यते, सह आदिना वर्तते इतिकृत्वा । यस्त्वनादिकालात्सन्ततिभावेन प्रवृत्तोऽन्तराले कदाचिदपि न व्यवच्छिन्नः सोऽनादिर्विज्ञेयः । यस्त्वनागतकालेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति, स ध्रुवः । यः पुनरायत्यां नियमेन व्यवच्छेदं यास्यति, सोऽध्रुवश्चावसातव्यः । किं सप्तानामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिबन्धे एते चत्वारो भङ्गा ज्ञातव्या उत कस्मिंश्चिदेवेत्याह—"अजहण्णाए"इत्यादि, सर्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानलक्षणमेकं स्थानं त्यक्त्वा शेषसर्वस्थितिबन्धस्थानसमुदायलक्षणाया अजघन्यायाः स्थितेर्बन्धे इत्यर्थः, न पुनः समयाधिकजघन्यायाः, द्विसमयाधिकजघन्यायाः, इत्येवं प्रत्येकस्थानरूपाया अजघन्यायाः; प्रत्येकस्थानरूपाऽजघन्यस्थितेर्बन्धस्य सादिसान्तभङ्गपतितत्वादिति । सप्तानामुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धे तर्हि किमित्याह—"सत्तण्हुक्कोसेयरजहण्णगाणे"त्यादि, प्रस्तुतानामायुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टायाः, इतरपदादनुत्कृष्टायाः, जघन्यायाश्चेत्येवं शेषत्रिविधायाः स्थितेर्बन्धे "अत्थि साइअधुवा दो"त्ति उक्तस्वरूपौ साद्यध्रुवौ द्वौ भङ्गौ स्त इत्यर्थः । अत्रापि सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धलक्षणमेकं स्थितिबन्धस्थानं विवर्ज्य शेषसर्वस्थितिबन्धस्थानानां समुदायोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धतया बोद्धव्यः, न पुनः शेषसर्वस्थितिबन्धस्थानानि प्रत्येकरूपेण । इत्थं हि जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धात्मकेन स्थितिबन्धद्वयेन सर्वाण्यपि स्थितिबन्धस्थानानि संगृहीतानि भवन्ति, उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धात्मकेन च स्थितिबन्धद्वयेनापि सर्वाण्यपि स्थितिबन्धस्थानानि संगृहीतानि भवन्तीति । अथ शेषस्यायुःकर्मणश्चतुर्विधस्थितिबन्धे

साद्यादिभङ्गकान् दर्शयन्नाह—"आउस्स चउविहाण"मित्यादि, आयुःकर्मणो जघन्याऽजघन्योत्कृष्टाऽनुत्कृष्टलक्षणानां चतुर्विधानां स्थितीनां बन्धेऽपि "ते"त्ति तौ अनन्तरमभिहितौ साद्यध्रुवौ द्वौ भङ्गौ ज्ञेयौ।

इयमत्र भावना—मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धः क्षपकस्य सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जायते, मोहनीयस्य त्वसौ क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे भवति। अयं हि सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धोऽजातपूर्वो यस्य कस्याऽपि जीवस्याऽजघन्यस्थितिबन्धादुत्तीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये जायत इति सादिः, ततः परं क्षीणमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीत्यध्रुवः सप्तानां जघन्यस्थितिबन्ध इति द्वावेव भङ्गौ सम्भवतः, न शेषौ। एतस्मादायुर्वर्जशेषसप्तप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिबन्धादन्य उपशमश्रेण्यादौ जायमानोऽपि सर्वोऽजघन्यस्थितिबन्धः। उपशमकस्याऽपि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादितिभावः। ततश्चोपशान्तमोहावस्थायां सप्तानामजघन्यस्थितिबन्धस्याऽबन्धको भूत्वा यदा तत्स्वामी प्रतिपत्य पुनरपि तासामजघन्यस्थितिबन्धं प्रारभते, तदाऽजघन्यस्थितिबन्धः सादिर्भवति; बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतयाऽजघन्यस्थितेर्बध्यमानत्वात्। उपशान्तमोहगुणस्थानकं चाप्राप्तपूर्वाणामजघन्यस्थितिबन्धस्य व्यवच्छेदाभावेना-ऽनादिकालान्निरन्तरं जायमानत्वादजघन्यस्थितिबन्धोऽनादिः। अभव्यानां ध्रुवः, ध्रुवमिथ्यात्वोदयानां तेषामजघन्यस्थितिबन्धस्य कदाप्यनिवर्तनात्। भव्यानामध्रुवः, क्षपकश्रेण्यवाप्तौ नियमेन विरमणादित्येवं सप्तानामजघन्यस्थितिबन्धश्चतुर्धोक्तः। एतासामेव सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिमानः, स च सर्वसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवेनानुत्कृष्टस्थितिबन्धादवतीर्य कदाचिदेव क्रियते, नानादित इति सादिः, जघन्येन समयादुत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्ताच्च परतोऽध्यवसायपरावृत्त्याऽनुत्कृष्टे स्थितिन्धे क्रियमाणे उत्कृष्टः स्थितिबन्धो नियमेन निवर्तत इत्यध्रुवः। उत्कृष्टात्प्रतिपत्यानुत्कृष्टं बध्नातीत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि सादिः, ततो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेनोत्कृष्टतश्चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीष्वतिक्रान्तासु पुनरप्युत्कृष्टं स्थितिबन्धं कुर्वतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुवः। इत्येवमुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टेषु स्थितिबन्धेषु जीवाः परिभ्रमन्तीति द्वयोरप्यनादिध्रुवत्वासम्भवः, अतः सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धौ द्विविधौ कथिताविति। आयुष उत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्तु वेद्यमानायुषस्त्रिभागाद्यवशेषे प्रतिनियतकाल एव जायत इति सादिः, समयादन्तर्मुहूर्ताच्च परतोऽवश्यं निवर्तत इत्यध्रुवः। इत्येवमायुष उत्कृष्टादिचतुर्विधोऽपि स्थितिबन्धः सादिरध्रुवश्च दर्शित इति। एते ह्यष्टानामपि जघन्यादिचतुर्विधस्थितिबन्धसत्का भङ्गाः समस्ताः सन्तोऽष्टसप्तति-(७८)र्भवन्ति। तद्यथा—आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनामजघन्यबन्धः साद्यादिचतुर्धेति कृत्वा सप्तानां चतुर्भिर्गुणनेऽष्टाविंशतिर्भङ्गा लभ्यन्ते, तासामेव सप्तानां जघन्यादित्रयो बन्धाः प्रत्येकं साद्यध्रुवभेदाद् द्विधा प्राप्यन्त इति सप्तसु द्वाभ्यां हतेषु सन्सु जाताश्चतुर्दश, ते च जघन्यादित्रयेण पुनरपि गुण्यन्ते, ततो द्विचत्वारिंशद् भङ्गाः सम्पद्यन्ते। आयुषो जघन्यादिचतुर्विधोऽपि बन्धः प्रत्येकं साद्यध्रुवद्विप्रकार इति चत्वारो द्वाभ्यां ताडिताः सन्तोऽष्टौ

भङ्गका भवन्ति । ततश्चाष्टाविंशतिर्द्विचत्वारिंशदष्टौ चेत्येतेषां त्रयाणां राशीनां सङ्कलने सर्वे भङ्गा यथोक्ता अष्टसप्ततिः संजाता इति ॥१३८।१३९॥

तदेवं दर्शिता ओघतः साद्यादयो बन्धप्रकाराः । साम्प्रतमादेशतो दिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

एवं अचक्खु-भवियेसु णवरि भविये धुवो ण सेसासु ।
अट्ठण्ह चउविहाणं ठिईण साइ-अधुवा दोण्णि ॥१४०॥

(प्रे०) "एवं अचक्खुभवियेसु"इत्यादि, एवंशब्दः सादृश्ये, ततो यथाऽनन्तरमोघतोऽभिहितास्तथैव "अचक्खुभवियेसु"त्ति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां च प्रत्येकमित्यर्थः । उक्तातिदेशेनातिदिष्टार्थेऽघटमानमर्थमपवदति–"णवरि" इत्यादिना, नवरं "भविये"त्ति भव्यमार्गणायां "धुवो ण"त्ति य ओघत आयुर्वर्जसप्तानामजघन्यस्थितिबन्धे 'ध्रुवः'-ध्रुवभङ्ग उक्तः, सोऽत्र न भवतीत्यर्थः । कुतः ? भव्यमार्गणागतानां भव्यानां सिद्धिगमनयोग्यत्वस्वलक्षणात् । ततः किम् ? ततः क्षपकश्रेणिमारुह्य चरमे जघन्यस्थितिबन्धे प्रारब्धेऽनादिमतोऽप्यजघन्यस्थितिबन्धस्य व्यवच्छेदाद् ध्रुवत्वाभावः । यद्वोपशमश्रेणिमारुह्य सप्तानामबन्धप्राप्तावजघन्यस्थितिबन्धस्य विच्छेदाद् ध्रुवत्वाभाव इति । ननु यद्येवं तर्ह्यचक्षुर्दर्शनमार्गणायामपि ध्रुवभङ्गोऽपोह्यताम्, अचक्षुर्दर्शनिनामपि क्षपकश्रेणिमारूढाना जघन्यस्थितिबन्धस्य नियमेन भावात्, एवमुपशमश्रेणिमारूढानां सप्तानामबन्धप्राप्तेरपि सम्भवाद् ? इति चेद् न, तत्राऽचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्याऽभव्यद्विविधजीवानां प्रवेशेन भव्यानामुक्तजघन्यस्थितिबन्धस्याऽबन्धस्य च सम्भवेऽप्यभव्यानां तस्याऽऽकालमसम्भवात्, तदपेक्षया सप्तानां ध्रुवभङ्गस्यापि प्राप्तेर्नापोह्यते ध्रुवभङ्ग इति । शेषभङ्गभावना तूभयत्र सुगमा, भव्याऽभव्यजीवस्वामिकोत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोर्भव्यजीवस्वामिकजघन्यस्थितिबन्धस्य च स्वान्यस्थितिबन्धतयाऽबन्धतया वा नियमेन परावर्तनादिति ।

उक्तशेषमार्गणास्वाह— 'सेसासु"मित्यादिना, अनन्तरोक्तेऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणे विवर्ज्य शेषासु सर्वासु मार्गणासु "अट्ठण्ह"त्ति तत्तन्मार्गणायां ज्ञानावरणाद्यष्टानामन्यतमबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यलक्षणानां चतुर्विधानामपि स्थितीनां, बन्ध इति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, "साइअधुवा दोण्णि"त्ति साद्यध्रुवौ द्वावेव भङ्गाविति । तत्राऽष्टानामपि प्रकृतीनामजघन्यवर्जानां त्रिविधस्थितीनां त्वोघतोऽपि साद्यध्रुवौ द्वौ द्वावेव भङ्गौ, ततो मार्गणास्थानेष्वपि तदन्यभङ्गयोरसम्भवात् तावेवोक्तौ । अथवा मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणावर्जासु शेषमार्गणासु प्रत्येकजीवानामवस्थानस्यैव साद्यध्रुवभङ्गद्वयगतत्वात् मार्गणाप्रविष्टकालमपेक्ष्य चिन्त्यमानाया एकजीवाश्रयायाः स्थितेरपि साद्यध्रुवौ द्वावेव भङ्गौ प्राप्येते । इदमुक्तं भवति–नानाजीवानाश्रित्य बहूनां मार्गणानामनाद्यनन्तत्वेऽप्येकैकं जीवमपेक्ष्याचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणे तथा मत्यज्ञानादिपञ्चमार्गणा विहाय सर्वा मार्गणाः साद्यध्रुवा एव, न पुनरनादिध्रुवाः; तासां चैकजीवमाश्रित्यानादिध्रुवत्वाभावे

कुतस्तत्र जायमानानामेकजीवाश्रयाणामुत्कृष्टादिस्थितिबन्धानामनादिध्रुवत्वसम्भवः, न कुतश्चिदित्यर्थः। इत्थं चाऽचक्षुर्दर्शनादिसप्तमार्गणावर्जासु शेषमार्गणास्वेकजीवाश्रयमार्गणास्थानस्यैव साद्यध्रुवत्वात्सप्रयुक्ताष्टकर्मसत्कचतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकं द्वौ द्वावेव भङ्गावभिहितौ। अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोस्त्वनन्तरं भाविताः साद्यादिभङ्गाः। मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणानामभव्यजीवमपेक्ष्यौघवदनादिध्रुवत्वेऽपि तासु सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धो न ओघवद्भव्यस्वामिक एव, किन्त्वभव्यस्वामिकोऽपि। कुतः? मत्यज्ञानादिमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वात्। इत्थं च प्रस्तुतपञ्चमार्गणागतसर्वजीवानां सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भवात्, तस्योत्कृष्टान्तरस्याप्यसंख्येयकालचक्रप्रमाणत्वाच्चाऽभव्यजीवा अपि नियमेन प्रस्तुतपञ्चमार्गणाप्रायोग्ययोः सप्तकर्मणां जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धयोः परिभ्रमन्ति, ततश्च सप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धयोः साद्यध्रुवौ द्वावेव भङ्गौ लभ्येते। सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धयोरायुषश्चतुर्विधस्थितिबन्धयोश्च प्रकृतभङ्गौ त्वोघवदेव विज्ञेयाविति ॥१४०॥

तदेवं समाप्ताऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्ट-जघन्य-तदितरस्थितिबन्धानामेकजीवाश्रिता साद्यादिप्ररूपणा, तत्समाप्तौ च गतं "साइअाई"त्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं साद्यादिद्वारम् ॥

ओघत आदेशतश्चाऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितीनाम्
साद्यादिबन्धभङ्गप्रदर्शकयन्त्रम्

मार्गणा-स्थानानि	आयुर्वर्जसप्तानां प्रत्येकम् — कस्याः स्थितेः	आयुर्वर्जसप्तानां प्रत्येकम् — भङ्गकाः		आयुषः — कस्याः स्थितेः	आयुषः — भङ्गकाः	
ओघवत् अचक्षुर्दर्शने १	अजघन्यायाः स्थितेः	—सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव.	४	उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्य-चतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकम्	सादि, अध्रुव.	२
	उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्य-त्रिविधस्थितीनां प्रत्येकम्	सादि, अध्रुव.	२			
भव्ये १	,,	,,	२	,,	,,	२
	अजघन्यायाः स्थितेः	—सादि, अनादि, अध्रुव.	३			
शेषसर्वेषु	चतुर्विधानामपि प्रत्येकम्	—सादि, अध्रुव.	२	,,	,,	२

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे तृतीयं साद्यादिद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थं कालद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तं चतुर्थमेकजीवाश्रयं कालद्वारम् । तत्र चैकजीवाश्रयं कालं प्रचिकटयिषुरादौ तावदोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां यथोक्तोत्कृष्टेतरस्थितिबन्धयोः कालं जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह गुरूअ लहू कालो समयो गुरू मुहुत्तंतो ।
अगुरूअ मुहुत्तंतो, लहू असंखपरिअट्टियरो ॥१४१॥

(प्रे०) "सत्तण्ह गुरूअ" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् "गुरूअ"त्ति 'गुरोः'-उत्कृष्टायाः स्थितेः "लहू कालो" त्ति एकजीवाश्रयो 'लघुः'-जघन्यः 'कालः'-बन्धकालः "समयो" त्ति एकः समयो भवतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—कालद्वारे जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टभेदाच्चतुर्धा विभिन्नानां स्थितीनां प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च द्विधा बन्धकालस्य प्रमाणं चिन्त्यते, तत्र ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिसत्काया उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धो यावत्कालमविच्छिन्नतया प्रवर्तते, तावान् कालस्तस्या उत्कृष्टादेः स्थितेर्बन्धकाल उच्यते, सोऽपि विवक्षाभेदेन द्विधा-एकजीवमाश्रित्य नानाजीवान् समाश्रित्य च । तत्र एकेनैव विवक्षितजीवेनारब्ध उत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितेर्बन्धोऽविच्छिन्नतयोत्कर्षतो यावन्तं कालं प्रवर्तते, परतश्च नियमेन व्युपरमते, तावान् सर्वकाल एकजीवमाश्रित्य तस्याः पूर्वारब्धाया उत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालो गीयते । तस्या उत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितेर्विवक्षितैकजीवारब्धो बन्धो यावन्तं समय-द्विसमय-त्रिसमया-ऽन्तर्मुहूर्तकालमनतिक्रम्य नैव विरमति, तावान् समयादिकालस्तु तस्या उत्कृष्टादिस्थितेरेकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकालो भण्यते । इत्थमेव नानाजीवानाश्रित्याप्युत्कृष्टादिस्थितिबन्धकालनिर्वचनं बोद्धव्यम् । अनुत्कृष्टस्थितिबन्धेनोत्कृष्टस्थितिबन्धवर्जसर्वस्थितिबन्धस्थानसमुदायस्तथैवाजघन्यस्थितिबन्धेन जघन्यस्थितिबन्धवर्जसर्वस्थितिबन्धविकल्पसमुदायश्च प्राग्वद् ग्राह्यः । "सत्तण्ह गुरूअ लहू कालो" इत्यादिग्रन्थेन भण्यमानः कालस्त्वेकजीवाश्रय एव, संनिकर्षप्ररूपणापर्यन्तानां द्वाराणामेकजीवमपेक्ष्य प्ररूपणीयत्वात् । इत्थं हि सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेरेकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकाल एकसमयोऽर्थात् केनचिदेकेन जीवेनारब्धो ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामन्यतमप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदारम्भद्वितीयसमयेऽपि व्युपरमति । तथाहि—प्रत्येकं प्रकृतीनामुत्कृष्टा जघन्या वा स्थितिः साकारोपयोगोपयुक्तेन जन्तुना निर्वर्त्यते, न पुनरनाकारोपयोगोपयुक्तेन; एतच्च स्वामित्वद्वारेऽर्थतोऽभिहितमेव । अत्र साकारोपयोगे सत्युत्कृष्टा स्थितिरेव बध्यत इति न नियमः, किन्तु साकारोपयोगे सत्येवोत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते, नान्यथेति । तथा च सति साकारोपयोगे सति केषाञ्चिदुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते, केषाञ्चिच्चानुत्कृष्टाऽपि, अनाकारोपयोगे सति तु नियमतोऽनुत्कृष्टैव बध्यते । साकारानाकारोपयोगौ तु प्रत्यन्तर्मुहूर्तं नियमेन परावर्तेते, ततश्च केनापि पूर्वप्रवृत्त-

साकारोपयोगोपयुक्तेन पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवेन साकारोपयोगाद्धायाश्चरमसमये सप्ताना-मुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रारब्धः, स च द्वितीयसमये साकारोपयोगे व्युपरते साकारोपयोगेन सममेव व्युपरतः, इत्थं हि साकारोपयोगत्वयप्रयुक्तः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयो जघन्यकाल एक-समयः प्राप्यते । अत्रान्यथाऽपि भावना क्रियते । तद्यथा–एकेन्द्रियादितयोत्पित्सुर्भवचरमसमये वर्तमानः कश्चिद्भवनपत्यादिदेवस्तदानीमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशावाप्त्या उत्कृष्टं स्थितिबन्धं प्रारभते, ततश्च द्वितीयसमये कालं कृत्वैकेन्द्रियादीनां बन्धप्रायोग्यं स्थितिबन्धं कुर्वन्ननुत्कृष्टस्थितिबन्धमेव करोति, इत्येवं तादृशजीवविशेषमाश्रित्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयमात्रो लभ्यते । इत्थमेव नार-कतयोत्पित्सून् मनुष्यादीनपेक्ष्य तथा केषाञ्चिज्जीवानां तु तद्भवे स्वभावत एव द्वितीयसमयेऽध्य-वसायपरावृत्त्योत्कृष्टस्थितिबन्धव्युपरमात्प्रकृतजघन्यबन्धकालो द्रष्टव्य इति ।

अथ सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालमाह—'गुरू महुत्तंतो' त्ति प्रकृतत्वात्सप्तप्रकृतीनां गुरुस्थितेर्गुरुः–उत्कृष्टो बन्धकालो 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । कुतोऽन्तर्मुहूर्तम् ? उत्कृष्टस्थिति-बन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानात्मकत्वात् । इदमुक्तं भवति–जघन्यस्थितिबन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धश्च प्रत्येक-मेकैकस्थितिबन्धस्थानात्मकः, समयादिहीनाधिकस्थितिबन्धस्थानानां तत्राऽप्रवेशात् । अजघन्यानुत्कृष्ट-स्थितिबन्धौ तु प्रत्येकं नानास्थितिबन्धस्थानात्मकौ, जघन्योत्कृष्टैकैकस्थितिबन्धस्थानं विवर्ज्य शेष-सर्वस्थितिबन्धस्थानानां तत्र प्रवेशात् । किञ्चैकैकस्थितिबन्धस्थानात्मकानि प्रत्येकस्थितिबन्धस्थाना-न्युत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तं बध्यन्ते, न परतः, अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नियमेन समयादिना हीनाधिकस्थितिबन्ध-भावात् । ननु 'कस्मादन्तर्मुहूर्तात् परतो नियमेन समयादिहीनः समयाद्यधिको वा स्थितिबन्धः प्रवर्तते ?' एकस्थितिबन्धप्रायोग्यानामध्यवसायानामन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नियमेन परावर्तनात् । उक्तं च **शतकचूर्णौ**—"ठितिं निवत्तेति जाणि अज्झवसाणठाणाणि ताणि ठितिबंधज्झवसाणाणि कसायोदयावि वुच्चंति, ताणि अंतोमुहूत्तमेत्तकालपरिणामाणि" इति । प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्ध एकस्थितिबन्धस्थानात्मक-स्ततोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नियमेन परिवर्तत इति तस्योत्कृष्टोऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यत इति ।

अथौघत एवायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालं दिदर्शयिषुरादौ जघन्यत आह–"अगुरूअ मुहुत्तंतो लहु" त्ति सप्तानामगुरोः–अनुत्कृष्टायाः स्थितेः "लहु" त्ति, लघुः–जघन्यो बन्धकालो मुहूर्तान्तः–अन्तर्मुहूर्तम् । "असंखपरियट्टियरो" त्ति उक्तजघन्यादितरः–उत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । अयम्भावः–उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसाय उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नियमेन प्रतिपतति, स च जघन्यतो यथाऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्तेऽपि कैश्चिज्जीवैरवाप्यते, तथा कैश्चिज्जीवैरति-बहुकालातिक्रमणेनाप्यवाप्यते, स च काल उत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति, अत एवोक्तं **शतकचूर्णौ**—"समयाओ आढत्तो अंतोमुहुत्ताओ णियमा फिट्टइ त्ति । तओ परिवडंतस्स अणुक्कोसस्स साइओ, पुणो जहन्नेणं अंतोमुहुत्तेणं उक्कोसेणं अणंताहिं ओसप्पिणिउस्सप्पिणीहिं उक्कोसं ठिइं बंधमाणस्स अणुक्कोसस्स अद्धुवो," इति । कुतः ? इति चेत्, तावत्कालमपि केषांचिज्जीवानां पूर्वानुभूतोत्कृष्टस्थिति-

बन्धप्रायोग्याध्यवसायानवाप्तेः । कस्मादेतावत्कालं पुनरपि तादृशाध्यवसायो नाऽवाप्यते ? असंख्य-वस्थायां तथाविधसामग्रीविरहेण तादृशाध्यवसायस्यानुत्पत्तेः । असंख्यवस्था तूत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरा-वर्तान् यावदवतिष्ठते, तदीयोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् । वक्ष्यते च—"णेया असंखिया खलु, परिअट्टा पोग्गलाण तिरियस्स । एगिंदिय-हरिआणं, काय-णपुंसग-असण्णीणं" ॥१५४॥ इति॥

इत्थं चासंख्येयपुद्गलपरावर्तान् यावदनुत्कृष्टस्थितिबन्धाभावे केषांचिदसंख्यवस्थायां तावत्कालम-नुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव प्रवर्तते, ततश्चानुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो-ऽभिहित इति ॥१४१॥

उक्त ओघतः सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधोऽपि बन्धकालः । साम्प्रतं शेषस्याऽऽयुषस्तं द्विविधं कालमोघतः प्रतिपादयन्नल्पवक्तव्यत्वादादावायुष एव तमादेशतः प्रदर्शयँश्चाह—

आउस्सुक्कोसाए ठिईअ समयो हवेज्ज ह्स्सियरो ।
अगुरूअ मुहुत्तंतो, आउस्सेमेव सव्वासु ॥१४२॥

(प्रे) 'आउस्सुक्कोसाए' इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेः समयो भवेत् । क इत्याह—"ह्स्सियरो" त्ति'ह्रस्वः'—जघन्यकालः, 'इतरः'—उत्कृष्टकालश्च, ओघत एकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकालः, उत्कृष्टबन्धकालश्च प्रत्येकमेकसमय एव भवति, नाधिक इत्यर्थः । कुतः ? आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टाबाधासापेक्षत्वात्, वेद्यमानायुषोऽवशेषरूपायास्तस्या अबाधायाः प्रतिसमयं परिगलनाच्चेति । इदमुक्तं भवति—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकस्य बध्यमानायुष उत्कृष्टाबाधायां सत्यामुत्कृष्टस्थितिबन्धो गण्यते, कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्य स्थितिबन्धस्याधिकृतत्वात् । उत्कृष्टाबाधा तु वेद्यमानपूर्वकोटीस्थितिकायुषो भागद्वयेऽतिगते सति तृतीयभागस्याद्यसमये आयुर्बन्धतः प्राप्यते, न पुनर्द्वितीयादिसमयेषु, वेद्यमानायुषः प्रतिसमयं परिगलनेन शेषवेद्यमानायूरूपाया अबाधाया द्वितीया-दिसमयेषु समय-द्विसमयादिभिर्हीन-हीनतर-हीनतमभावात् । इत्थमुत्कृष्टाबाधाया एकं समयं प्राप्तेस्तद-धीन आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालोऽपि जघन्यत उत्कृष्टतो वा समयमात्रः प्राप्यते, नाधिक इति ।

अथायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालमाह—"अगुरूअ मुहुत्तंतो" त्ति 'अगुरोः'—अनुत्कृष्टस्थिते-र्मुहूर्तान्तः—अन्तर्मुहूर्तम् । कः ? एकजीवाश्रयो ह्रस्वकालः, तदितर उत्कृष्टकालश्च, गाथापूर्वार्धस्य प्रान्तेऽभिहितस्य "ह्स्सियरो" इत्यस्य घण्टालालान्यायेनात्रापि योजनात् । कस्मादुभयथाप्यन्त-र्मुहूर्तमेव प्राप्यते ? आयुष एकजीवाश्रित प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात्, आयुषः प्रकृतिबन्धे सति कुत्रचित्समयमेकं विहायानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नियमेन भावाच्चेति ।

उक्त ओघत आयुषोऽप्युत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योः प्रत्येकं द्विविधो बन्धकालः । साम्प्रतमल्प-वक्तव्यत्वात् लाघवाच्च सप्तकर्माणि विहायादावायुष एवैकजीवाश्रितं बन्धकालमादेशतो

मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुरतिदिशन्नाह—"आउस्सेमेव सव्वासु" त्ति आयुःकर्मण 'एवमेव' यथौघतोऽभिहितस्तथैव 'सर्वासु'–निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु, उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्ट-द्विविधोऽपि बन्धकाल इति गम्यते । इति ॥१४२॥

अनन्तरगाथायामायुष उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधबन्धकालस्यौघेन सह तुल्य-प्रायत्वात् सर्वमार्गणासु लाघवार्थं सामस्त्येन कृतेऽतिदेशे या काचिदतिप्रसक्तिस्तामुद्धर्तु काम आह—

णवरि अणुक्कोसाए, लहू खणो होइ पणमणवयेसुं ।
काये उरले विउवे, आहारदुगे कसायेसुं ॥१४३॥

(प्रे) 'णवरि" इत्यादि, 'नवरम्'–परम् 'अणुक्कोसाए" त्ति आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्लघुः–जघन्यो बन्धकालः क्षणः–समयो भवति, न पुनर्यथातिदेशमन्तर्मुहूर्तम् । कासु मार्गणा-स्वित्याह—"पणमणवयेसु" इत्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पञ्चमनोयोगभेदेषु पञ्च-वचोयोगभेदेषु तथा "काये" त्ति काययोगसामान्यभेदे, "उरले" त्ति औदारिककाययोगे, "विउवे" त्ति वैक्रियकाययोगे, "आहारदुगे" त्ति आहारका–ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, आहारका–ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वय इत्यर्थः । 'कसायेसु"'ति चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणा-भेदेष्वित्येतास्वेकोनविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुत एतास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य-बन्धकालोऽपोघ समयमात्रोऽभिधीयते ? उच्यते, आयुर्बन्धप्रारम्भद्वितीयतृतीयसमयेष्वपि प्रवर्तमानस्य मनोयोगादियोगविशेषस्य योगान्तरतया तथा क्रोधादिकषायस्य कषायान्तरतया परावृत्तौ सत्यां मार्गणाविच्छेदप्रयुक्तस्य समयमात्रकालस्यापि लाभात् । अयम्भावः—प्रवृत्तमनोयोगेन केनाऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियजन्तुना यथाकालमनुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धः प्रारब्धः, बन्धप्रारम्भद्वितीयसमये तस्य मनोयोगो वाग्योगतया काययोगतया वा परावृत्तः, अर्थान्मनोयोगमार्गणा व्यवच्छिन्ना । इत्थं हि तस्य मनोयोगमार्गणायामेकं समयमनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रवृत्तिर्लब्धा, समयोनान्तर्मुहूर्तं तु मनो-योगोत्तरप्रवृत्तवचोयोगादिमार्गणान्तरे प्राप्ता, ततश्च मनोयोगमार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाल एकसमय एव प्राप्तः । अयमेवैकसमयप्रमाणो बन्धकालोऽन्यथाऽपि भाव्यते । तद्यथा–निरुक्तस्वरूपस्य कस्यचिज्जन्तोर्यदाऽऽयुर्बन्धस्य चरमे समये पूर्वप्रवृत्तमनोयोगादिभ्योऽन्यः कश्चिद्योगः प्रवर्तते तदा तस्मिन्नुत्तरस्मिन् प्रवृत्तयोगे आयुषः प्रकृतबन्धकालः समयमात्रो लभ्यते । यद्वा काययोगं विवर्ज्य शेषप्रकृतयोगानां जघन्यावस्थानं समयमात्रं भवति । कुतः ? मनोयोगादीनां जघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वात् । वक्ष्यते च—

"पणमणवयजोगाणं ओरालाहारविउव्वकम्माणं ⋯ ⋯ समयोऽत्थि जहण्णकायठिई ।" इति ।

जघन्यकायस्थितिप्रतिपादनावसरे । ततश्च कस्यचिज्जन्तोरायुर्बन्धे प्रवर्तमाने मध्य एव समयमेकं मनोयोगादिः प्रवर्तते, तदा विवक्षितमनोयोगादिमार्गणायां प्रस्तुतबन्धकाल एकसमयः प्राप्यते,

काययोगमार्गणायां पूर्वोक्तरीत्यैव एकसमयो भावनीयः, न पुनरनन्तरोक्तरीत्या, तस्याः कायस्थितेर्जघन्यतोऽप्यन्तमुर्हूर्तत्वात् । वक्ष्यते च–"भिन्नमुहुत्तं उ सयलपज्जत्तगजोणिणीण कायस्स।" इति। कषायमार्गणाभेदेषु तु मनोयोगादिमार्गणावत् प्रस्तुतबन्धकालो भावनीयः। एतासु मार्गणासु शेषबन्धकालस्य तथा नरकगत्योघादिमार्गणासु चतुर्विधस्यापि बन्धकालस्य च भावना तु सर्वथैवौघवद् द्रष्टव्येति ॥१४३॥

तदेवं दर्शित आयुष उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधबन्धकाल आदेशतोऽपि। साम्प्रतं शेषकर्मणां तमादेशतो दिदर्शयिषुरादावुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धकालं सार्धार्यया दर्शयति—

चउणाण-संयमेसुं, समइअ-छेअ-परिहार देसेसुं ।
ओहिम्मि सम्म-वेअग,-उवसम-मीसेसु णायव्वो ॥१४४॥
सत्तण्ह गुरूअ लहू ,भिन्नमुहुत्तं खणो उ सेसासुं ।

(प्रे०) "**चउणाणे**" त्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघमार्गणासु,सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणासु, अवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्वित्येतासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञातव्य इत्यर्थः। **को** ज्ञातव्यः, कियांश्च ज्ञातव्य इत्याह–"**सत्तण्ह गुरूअ**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां 'गुरोः'-उत्कृष्टायाः स्थितेर्लघुः-जघन्यो बन्धकालः। स च "**भिन्नमुहुत्तं**" ति भिन्नमुहूर्तम्,-अन्तमुर्हूर्तमात्र इत्यर्थः। "**खणो उ सेसासु**" ति 'क्षणः'-समयः शेषासु मतिज्ञानाद्यनन्तरोक्तचतुर्दशमार्गणावर्जासु निरयगत्योघादिषट्पञ्चाशदभ्यधिकशतमार्गणास्वित्यक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वयम्**—मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थां गता जीवा मिथ्यात्वादिकमप्राप्य मध्य एव कालं न कुर्वन्ति, किन्तु मिथ्यात्वादिकं यमभिमुखीभूतास्तं प्राप्यैव कालं कुर्वन्ति। किञ्चाभिमुखावस्थायामुपशमश्रेण्यादिवदुत्तरोत्तरसमयेष्वनन्तगुणानन्तगुणविशुद्धेरनन्तगुणानन्तगुणसंक्लेशस्य वा वर्धनाद् यथोत्तरंस्थितिबन्धा अप्युपशमश्रेण्यादिवद्यथास्थानमन्तमुर्हूर्तमन्तमुर्हूर्तं प्रवर्तन्ते। अत्र यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धिः संयम-देशसंयमाद्यभिमुखानां मिथ्यादृष्ट्यादीनां बोद्धव्या, यथोत्तरमनन्तगुणसंक्लेशस्तु वैपरित्येन देशसंयमाऽसंयमाद्यभिमुखानां संयतादीनां ज्ञातव्यः। किञ्च तदानीमभिमुखावस्थायां साकारोपयोगक्षयासम्भवात् कश्चित्स्थितिबन्धः समयं प्रवृत्त्य विच्छेदमपि न याति । ननु कुतस्तदानीं साकारोपयोगक्षयाऽसम्भवः ? **उच्यते**,-संक्लिश्यमानजीवानां साकारक्षये सति विशुद्धयवाप्तेः प्रसङ्गात्, एवं विशुध्यमानानां साकारक्षये सति संक्लेशावाप्तेः प्रसङ्गाच्च। न च प्राप्नुवन्तु मिथ्यात्वाद्यभिमुखाः संक्लिश्यमाना विशुद्धिम्, एवं सम्यक्त्वाद्यभिमुखा विशुध्यमानाः संक्लेशमिति वाच्यम्। प्रकृताभिमुखावस्थायाः स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। यतोऽभिमुखावस्थायां नास्ति पश्चाद्वलनम्, अन्यथा तदानीमपि स्थितिबन्धानां वृद्धिहानिप्रवर्तनाद् अभिमुखावस्थाया अनियमः स्यात्, न च भवत्वनियमः

को दोषः ? इत्यपि वाच्यम्, अभव्यानामपि सम्यक्त्वाभिमुखताप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेण । एतेनेदं ज्ञापितं भवति, यत्—

"णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मुवसमवेअगेसु चउगइयो ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मो मिच्छाहिमुहो अंते ॥९८॥
मणणाणम्मि पमत्तो अयताभिमुहो य तयणुरुवंकिट्ठो ।
अंतिमबंधे संयमसमइअछेएसु मिच्छहुत्तो स ॥९९॥
परिहारम्मि पमत्तो छेआहिमुहो तदरिहसंकिट्ठो ।
देसे मिच्छाहिमुहो दुगइट्ठो तयणुरुवकिट्ठो ॥१००॥"
"मीसे मिच्छाहिमुहो सासाणे व तयणुरुवसंकिट्ठो । ॥१०४॥"

इत्यादिवचनेन ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-वेदकौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु मिथ्यात्वाभिमुखानां तथैव संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनसंयम-देशसंयममार्गणासु मिश्रमार्गणायां च मिथ्यात्वाभिमुखानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकत्वात्, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामसंयमाभिमुखानां परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनसंयमाभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावाच्च मतिज्ञानादिप्रस्तुतचतुर्दशमार्गणाभावी विवक्षितैकजीवकृतसप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धो मरणव्याघातमाकारक्षयादिना समयमात्रं प्रवृत्त्य नैव विच्छेदं याति, किन्तु निराबाधतया जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं प्रवृत्त्यैव विरमति, ततश्चाधिकृतमार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्योऽपि बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते । शेषनरकगत्यादिमार्गणासु तूत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मरणव्याघाताद्यन्यतमनिमित्तसमुद्भवे स्वभावतो वाऽसौ समयमात्रं प्रवृत्त्याऽपि विरमति, ततश्च नरकगत्यादिशेषमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयमात्रः प्राप्यत इति । अत्र मूले सासादनमार्गणाया निरयगत्योघादिशेषमार्गणाऽन्तर्गतत्वात् तत्र प्रकृतजघन्यबन्धकालो यः समयमात्रोऽभिहितः, स तु स्वस्थानगतानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वापेक्षया बोद्धव्यः । मिथ्यात्वाभिमुखानां तत्स्वामित्वापेक्षया त्वसावुक्तनीत्या जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यत इति तथैव ज्ञातव्य इति ॥१४४॥

अथ सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालमपि गाथाऽऽर्यया व्याकरोति—

कम्मा-ऽणाहारेसुं णेयो परमो दुवे समया ॥१४५॥
भिन्नमुहुत्तं समयो वा उक्कोसो तिमिस्सजोगेसुं ।
सेसासु मग्गणासुं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥१४६॥

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**"मित्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च ज्ञेयः, क इत्याह—"**परमो**" त्ति सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेः 'परमः'-उत्कृष्टो बन्धकाल इत्यर्थः । कियानित्याह—"**दुवे समया**" त्ति द्वौ समयाविति । कुतः ? उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्य कस्यचिदपि जीवस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वये समयद्वयादधिकमनवस्थानात् । **अयम्भावः**—कार्मणकाय-

योगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका ये संज्ञिभ्यश्च्युत्वा वक्रगत्या संज्ञितयोत्पद्यमाना उत्पत्तिस्थानमप्राप्ता विग्रहगतौ वर्तमाना जीवास्ते भवन्ति, न पुनरेकेन्द्रियाद्यसंज्ञिभ्य आगताः संज्ञिनः, असंज्ञिभ्य आगतानां तदानीमनाहारकावस्थायामसंज्ञिप्रायोग्यस्थितिबन्धभावेन प्रस्तुतमार्गणाभाव्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वासम्भवात् । संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानानां त्रसनाडावेवोत्पत्तेरुत्कृष्टतोऽपि त्रिसामयिकी द्विवक्रा गतिर्भवति, न पुनस्त्रिवक्राऽपि, तस्याः स्थावराणामेव सम्भवात् । उक्तं च **श्रीस्थानाङ्गत्रिस्थानकाध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकवृत्तौ—**

'उक्कोसेणं' ति त्रसानां हि त्रसनाड्यन्तरुत्पादाद्वक्रद्वयं भवति, तत्र च त्रय एव समया , **तथाहि—**आग्नेयदिशो नैर्ऋतदिशमेकेन गच्छति, ततो द्वितीयेन समश्रेण्याऽधस्ततस्तृतीयेन वायव्यदिशि समश्रेण्यैवेति, त्रसानामेव त्रसोत्पत्तावेवंविध उत्कर्षेण विग्रह इत्याह-'एगंदिये' त्यादि, एकेन्द्रियास्त्वेकेन्द्रियेषु पञ्चसामयिकेनाप्युत्पद्यन्ते, यतस्ते बहिस्तात् त्रसनाडीतो बहिरप्युत्पद्यन्ते, **तथाहि—**विदिसाउ दिस पढमे बीए पइसरइ लोयनाडीए । तइए उप्पिं धावइ, चउत्थए नीइ बाहिं तु ॥१॥ पंचमए विदिसीए गंतुं उप्पज्जए उ एगिंदि' त्ति सम्भव एवायम, भवति तु चतुःसामयिक एव, भगवत्यां तथोक्तत्वादिति, **तथाहि**--'अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! अहे लोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालिए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ? तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा' इत्यादि'' **इति** ।

किञ्चैकवक्रादिगतिषु द्वितीयादिसमयेषु जीव आहारं करोति, न पुनः प्रथमादिसमयेषु । इत्थं द्विसामयिक्यामेकवक्रायां प्रथमसमयेऽनाहारकः, त्रिसामयिक्यां द्विवक्रायां तु प्रथमद्वितयसमययोरनाहारकः, तृतीयसमय उत्पत्तिस्थानप्राप्तः पुनराहारकः । एवमुत्तरत्रापि चरमसमये आहारमादत्ते, शेषसमयेषु त्वनाहारकः । उक्तश्च **श्रीप्रज्ञापनाकायस्थितिपदवृत्तौ श्रीमन्मलयगिरिसूरिपादैः—**''तत्रोत्कर्षतस्त्रिसामयिक्यां विग्रहगतौ द्वावाद्यौ समयावनाहारक'' इत्यादि ।

इत्थं हि कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानानां जीवानामुत्कृष्टतस्त्रिसामयिक्या द्विवक्रगत्योत्पत्तेरनाहारकावस्था तत्सहचारिणी कार्मणकाययोगावस्था चोत्कृष्टतो द्वौ समयौ प्राप्येते, ततश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धकालोऽपि तदधिको न सम्भवतीति तथैवोक्तः । कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयं विहाय शेषमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तथापि मिश्रयोगमार्गणात्रये शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वागनन्तरसमये एवोत्कृष्टस्थितिबन्धो जघन्यस्थितिबन्धो वा जायत इति प्राक्-''से काले पज्जत्ति निट्ठवउ स व मुण मीसजोगेसुं ॥'' इत्यादिना स्वामित्वप्ररूपणायां मतान्तरेण दर्शितस्वामित्वानुसारेणोत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टः कालः समय एव प्राप्यत इति तत्र मार्गणात्रये उभयथापि दर्शयति—**''भिन्नमुहुत्तं समयो वा''** इत्यादिना, सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः पर्याप्तिनिष्ठापनात्प्राक्समय एवोत्कृष्टो जघन्यो वा स्थितिबन्धो भवतीति मतेन **''तिमिस्सजोगेसु''** ति

औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणासु प्रत्येकं समयो भवति, तदन्यमतेन त्वसौ भिन्नमुहूर्तं भवतीत्यर्थः । उक्तपञ्चमार्गणा विवर्ज्य शेषमार्गणास्वाह-"**सेसासु**" इत्यादि, निरयगत्योघादिषु शेषासु पञ्चषष्टयभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यः, सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकाल इति गम्यते । सुगमं चेदम्, औघिकबन्धकालापेक्षयाऽधिककालस्य मार्गणास्थानेष्वसम्भवादिति ॥१४५-१४६॥

तदेवं प्रतिपादितो मार्गणास्थानेषु सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टद्विविधोऽपि बन्धकालः । साम्प्रतं तासामेव सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेस्तं प्रचिकटयिषुरादौ गाथात्रयेण जघन्यकालमाह—

एगिंदि-णिगोएसुं तेसिं सुहुमेसु सिं अपज्जेसुं ।
वण-अण्णाणदुगेसुं णाणदुगे देसविरइम्मि ॥१४७॥
अयता-ऽचक्खूसु तहा असुहतिलेसा-अभविय-भवियेसुं ।
सम्मत्त-खइअ-वेअग-उवसम-मीसेसु मिच्छत्ते ॥१४८॥
सत्तण्ह मुहुत्तंतो अगुरुठिईए लहू खणो व भवे ।
मिस्सतिजोगा-ऽवहिदुग-परिहारेसु समयोऽत्थि सेसासुं ॥१४९॥

(प्रे०) "**एगिंदिणिगोएसु**"मित्यादि, एकेन्द्रियजात्योघमार्गणायां "**णिगोए**" त्ति निगोदवनस्पतिमार्गणायां, साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणाभेद इत्यर्थः । "**तेसिं सुहुमेसु**" त्ति बहुवचनान्तनिर्देशः प्राकृतवशात्तस्तयोरनन्तरोक्तयोरेकेन्द्रियनिगोदयोर्यौ 'सूक्ष्मौ'-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणाभेद-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौघमार्गणाभेदौ तयोरित्यर्थः । एवमेवोत्तरत्राऽपि, ततः "**सिं अपज्जेसु**" ति अनन्तरोक्तयोर्द्वयोः सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मनिगोदयोरपर्याप्तयोः, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदे चेत्यर्थः । इत्येवं गाथार्धेन षण्मार्गणाः संगृहीताः । अथान्यमार्गणासंग्रहायाह-"**वणअण्णाणदुगेसु**"मित्यादि, वनस्पतिकायौघे, अज्ञानद्विके मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वयलक्षणे, मतिश्रुतज्ञानयोर्द्विके, देशविरतौ, देशसंयममार्गणायामित्यर्थः । "**अयताचक्खूसु तह**" त्ति असंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणयोः, तथाशब्दः समुच्चये । "**असुहतिलेस**" त्ति 'अशुभासु'-अप्रशस्तासु कृष्णादित्रिलेश्यासु, अभव्य-भव्यमार्गणयोः, तथा सम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वो-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणासु मिथ्यात्वमार्गणायामित्येतासु पञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह-"**सत्तण्हे**"त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामगुरोः-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'लघुः'-जघन्यो बन्धकालः"**मुहुत्तंतो**" त्ति अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । **इयमत्र भावना**-अनुत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धवत् न केवलायां साकारोप-

योगावस्थायामेव प्रवर्तते, किन्तु साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगावस्थायामपि प्रवर्तते, इत्येवं नासौ साकारोपयोगक्षये उत्कृष्टस्थितिबन्धवत् क्षयं याति, येन साकारोपयोगचरमसमयप्रवृत्तानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य साकारोपयोगक्षयप्रयुक्तो जघन्यबन्धकाल उत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालवत् समयमात्रः सम्पद्येत । तर्हि कथं लभ्यते ? अनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणेनाऽन्यथा वा प्रस्तुतमार्गणाया मार्गणान्तरतया परावर्तनात्, प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदादिति भावः । अत्रैकजीवाश्रयगतिजातीन्द्रियादिमार्गणाभेदानां विच्छेदस्तत्तद्गत्यादौ वर्तमानस्य जीवस्य कालकरणेनैव लभ्यते, नान्यथा । मनोयोगादिमार्गणानां तु कालकरणेन, कालकरणाभावे तु मार्गणान्तरगमनेन वाऽन्यतरप्रकारेणाऽपि विच्छेदः प्राप्यते, काययोगौघ-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-मतिज्ञानादिकतिपयमार्गणानां तु मार्गणापरावृत्त्यैव विच्छेदः प्राप्यते, न पुनर्मरणव्याघातेन । यद्यप्येवं तथाप्यधिकृतमार्गणाभ्यः केवलेन मरणव्याघातेन विच्छेदयोग्यास्वेकेन्द्रियादिषु प्रथमोपात्तसप्तमार्गणासु ये जीवा भवद्विचरमसमये उत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभन्ते, ते तदनन्तरं मृत्वा प्रकृतमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, अत एतासु सप्तमार्गणासु भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकानां कालकरणेऽपि मार्गणाविच्छेदस्याऽभावात्, मार्गणाविच्छेदप्रयुक्तोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकाल एकसमयो न प्राप्यते, किन्तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते ।

ननु कुत एते भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकाः प्रस्तुतैकेन्द्रियादिसप्तमार्गणागतजीवा अनन्तरसमये मृत्वैकेन्द्रियादिप्रस्तुतमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, न पुनर्मार्गणान्तरेऽपि ? इति चेद्, उच्यते, भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यारम्भका हि नियमतो भवद्विचरमसमय उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य निष्ठापकाः सन्ति, विहायोपशान्तमोहगुणस्थानकगतजीवान् । स च भवद्विचरमसमये निष्ठापितः स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशं विना न जायते, एवं हि ते नियमेन भवचरमान्तर्मुहूर्ते मरणाभिमुखावस्थायां स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुकूलसंक्लेशोपेताः सन्ति, भवचरमान्तर्मुहूर्ते स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुरूपसंक्लेशवतां जीवानां तु वर्तमानमनुष्यपञ्चेन्द्रियादिभवेभ्यश्च्युत्वा स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टेषु नरकतिर्यगेकेन्द्रियादिस्थानेषूत्पत्तिर्जायते । तथाहि—नारकाणामुत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं तिर्यग्गतिः पञ्चेन्द्रियजात्यादयश्च । कुतः ? तेषां बन्धप्रायोग्यमनुष्यगत्यपेक्षया तिर्यग्गतेरधमत्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षया यद्यपि चतुरिन्द्रियाद्यधमजातयः सन्ति, तथापि ता न नारकाणां बन्धप्रायोग्याः, अतः पञ्चेन्द्रियजातिरेवोपादीयते, न त्वेकेन्द्रियादयः । तिर्यग्गतावेकेन्द्रियाणां ततश्च्युत्वोत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजात्यादिकं च, न तु नरकगतिरपि, एकेन्द्रियाणां तत्रानुत्पादात्, शेषाणां मनुष्यगति-द्वीन्द्रियजात्यादिस्थानानां तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादिस्थानापेक्षयोत्कृष्टत्वाच्च । द्वीन्द्रियादिलक्षणानां विकलाक्षाणामुत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वापकृष्टं स्थानं तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजातिसूक्ष्मत्वादयश्च । अत्रादिपदादपर्याप्तत्व-नपुंसकवेदित्वादिकमवमतमस्थानतया यथासम्भवं ग्राह्यम् । इत्थ-

मेव पूर्वत्रोत्तरत्र चावसातव्यम् । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां पुनर्नरकगतावप्युत्पादात् तेषां पञ्चेन्द्रियाणामुत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं नरकगतिः पञ्चेन्द्रियजात्यादयश्च ।

ननु अत्र पञ्चेन्द्रियत्वस्य सर्वापकृष्टस्थानतया ग्रहणं नैव युज्यते, पञ्चेन्द्रियतिरश्चामेकेन्द्रियजातावप्युत्पादात्, तस्याश्च पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षयाऽपकृष्टत्वात् ? इति चेद्, न, जातिष्वपि गतिरेवप्रधाना, अपकृष्टगत्यनुवर्तिनी सामान्यतोऽनिकृष्टजातिरपि निकृष्टतया गृह्यते, कुतः ? पञ्चेन्द्रियजातेरपि नरकगत्या समं बध्यमानतया सर्वसंक्लेशेन निर्वर्तनात् । वस्तुतः स्वप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशनिर्वर्तनीयानां गति-जात्यादीनां स्वप्रायोग्यसर्वापकृष्टस्थानरूपत्वेनाभिमतत्वादिति । यथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणामपि बोध्यम् । देवगतिभेदेषु त्वीशानकल्पान्तानां देवानां तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजात्यादिकं च सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानम्, न पुनः सनत्कुमारादिसहस्रारकल्पान्तानापि तत् । कुतः ? तेषां सनत्कुमारादीनामेकेन्द्रियेष्वनुत्पादाद्, अत एव तेषां सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियरूपमेव । आनतकल्पादिवासिनां तु मनुष्यरूपमेव सामान्यतोऽनिकृष्टानुत्कृष्टं स्थानम् । स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुकूलसंक्लेशवद्भिरपि तैर्मनुष्यगतेरेव निर्वर्तनात् । अन्यच्च भवचरमान्तर्मुहूर्ते ये जीवा यादृक्स्थानाभिमुखास्तादृशस्थानानुरूपपरिणामभाजः प्रायशो भवन्ति, अतो नरकाभिमुखमनुष्याणामिवैकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां भवचरमान्तर्मुहूर्तं निर्वहतामीशानकल्पान्तदेवानां तादृशानां विकलेन्द्रियाणां भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टसंक्लेशसम्भवः, न पुनस्तदन्येषां भवचरमान्तर्मुहूर्तं निर्वहतामीशानकल्पान्तदेवानां विकलेन्द्रियाणां वा, एवमेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सूनां सनत्कुमारादीनां सहस्रारान्तदेवानामेकेन्द्रियतयोत्पित्सूनामेकेन्द्रियाणां च भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टसंक्लेशसम्भवः, न तु तदन्येषां मनुष्यतयोत्पित्सूनां सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवानां द्वीन्द्रियादितया वोत्पित्सूनामेकेन्द्रियाणाम्, एवं सति प्रकृते एकेन्द्रियतयोत्पित्सूनामेकेन्द्रियाणां भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवः । भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकानां तेषां च्यवनानन्तरं स्वगतिष्वेवोत्पत्त्या न च मार्गणाविच्छेदः, न वा तेषां तत्रापर्याप्तावस्थायामुत्पत्तिसमयप्रभृत्याऽन्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि सम्भवति; तथा सति पूर्वभवचरमसमयप्रारब्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रकृतमार्गणायामेव जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् नैरन्तर्येण प्रवर्तनादेकेन्द्रियादिसप्तमार्गणासु सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमुक्तः । ननु यद्येवं तर्हि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि कथमसावनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं नोक्तः ? उच्यते, यथा द्वीन्द्रियादीनामेकेन्द्रियमार्गणारूपं स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं स्वस्थानाद्भिन्नमस्ति, ततश्च तत्रोत्पित्सूनां भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकानामपि द्वीन्द्रियादीनामनन्तरसमय एकेन्द्रियतयोत्पत्त्या द्वीन्द्रियादिमार्गणायामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाल एकसमयो लभ्यते, तथा बादरपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणागतजीवानामप्युत्पत्तिप्रायोग्यं सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियादिरूपं सर्वनिकृष्टं स्वस्थानाद्भिन्नं मार्गणान्तररूपं स्थानं

विद्यते । भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भका बादरपर्याप्तैकेन्द्रियाद्या नियमतो भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य कर्तारः, तथा च सति तेषां ततश्च्युत्वा सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियतया मार्गणान्तरे उत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाया विच्छेद एव, एवं च सति भवचरमसमयारब्धस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतबादरपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणायां समयमात्रप्रवृत्तेर्बादरपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं नोक्तः, किन्तु समय एव वक्ष्यतीति । एकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय—वनस्पतिकायसामान्य-साधारणवनस्पतिकाय-साधारणसूक्ष्मवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसाधारणसूक्ष्मवनस्पतिकायरूपप्रस्तुतसप्तमार्गणागतजीवानां नास्ति किञ्चित्स्वोत्पत्तिप्रायोग्यं स्वस्थानाद्भिन्नं मार्गणान्तररूपं सर्वनिकृष्टं स्थानम्। कुतः ? प्रस्तुतैकेन्द्रियादितत्तन्मार्गणाया एव तेषां सर्वनिकृष्टस्थानरूपत्वात्, अन्यासामनिकृष्टत्वाच्च । भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यारम्भकाः प्रकृतैकेन्द्रियादितत्तन्मार्गणागतजीवा मृत्वाऽनन्तरं सूक्ष्मापर्याप्तवनस्पतितयोत्पद्यमानाः स्वस्वमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, न तु मार्गणान्तरे; अतः कालकरणेऽपि न तेषां प्रकृतमार्गणाविच्छेदप्रयुक्तोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य एकसमयो बन्धकालः । मार्गणान्तरे उत्पित्सूनां तु प्रस्तुतसप्तमार्गणागतजीवानां भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्ध एव न भवति, कुतः ? एकेन्द्रियौघादिस्वस्वमार्गणाभ्यो या अन्याः प्रस्तुतमार्गणागतजीवानामुत्पत्तिप्रायोग्या मार्गणास्तास्तेषां न सर्वनिकृष्टस्थानरूपाः, अतस्तत्रोत्पित्सूनां तत्तद्वीन्द्रियादिमार्गणान्तराभिमुखानां तेषां भवचरमान्तर्मुहूर्ते न परम उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यः संक्लेशः, तथा च सति तेषां भवचरमान्तर्मुहूर्तेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव, तस्य च कालकरणेनाधिकृतमार्गणाविच्छित्त्याऽपि सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रकृतमार्गणायां जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव प्रवर्तनं लभ्यते, भवचरमान्तर्मुहूर्तात् पूर्वत एव प्रवृत्तस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मरणं यावत् प्रस्तुतमार्गणायां नियमतः प्रवर्तनात् । कालकरणाभावे तु प्रस्तुतमार्गणानां परावृत्तेरसम्भवादिति । ननु सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकायिकादिमार्गणाभेदेषु कथं प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं नोक्तः ? उच्यते, सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकायिकादिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकशरीरिण एव जीवाः प्रविष्टाः । तेषां चास्ति स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्वस्थानाद्भिन्नं साधारणवनस्पतिकायमार्गणारूपं स्थानान्तरम्, अतस्तत्रोत्पित्सूनां तेषां भवचरमसमयारब्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽपि सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो नान्तर्मुहूर्तम् , किन्तु समय एव ।

अयमत्र परमार्थः:-येषां हि स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं पारभविकोत्पत्तिस्थानं मार्गणान्तररूपं नैव वर्तते, ते हि यदि भवचरमान्तर्मुहूर्ते स्वप्रायोग्यमुत्कृष्टं स्थितिबन्धं कुर्वन्ति, तदा स्वकीयवर्तमानमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, तेषां च भवचरमसमयप्रारब्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, न पुनरेकसमयः, भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभ्य मार्गणान्तरे उत्पित्सुजीवापेक्षया तल्लाभात् । प्रस्तुतैकेन्द्रियादिसप्तमार्गणागतजीवानां स्वीयस्वीयमार्गणाभ्यो भिन्नाः स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानरूपा अन्यमार्गणा न सन्ति, अत उक्तनीत्या तास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य-

बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते, न पुनः समयमात्रः । न च त्रसकायिकानां सर्वनिकृष्टं स्थानं नरकगतिः, सा च तेषां स्वभिन्नस्थानरूपा नास्ति, नारकाणां त्रसकायान्तर्गतत्वात्, यद्यप्येवं तथाऽपि त्रसकायान्तर्गता देवा भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरे एकेन्द्रियतयोत्पद्यन्ते, अतो निरुक्तनियमोऽतिव्याप्नोतीति वाच्यम् । यतस्त्रसकायिकानां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टगमनस्थानं न केवलं नरकगतिरूपम्, तदनुवर्तिपञ्चेन्द्रियजातिरूपं च, किन्तु तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजातिरूपमपि, कुतः ? नरकगतिवत् स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशनिर्वर्तनीयत्वलक्षणस्य स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानत्वस्य तत्रानपायात्, बध्नन्ति च त्रसकायान्तर्गता ईशानदेवलोकपर्यन्ता देवाः सर्वसंक्लेशे सति तिर्यग्गतिमेकेन्द्रियजात्यादिकं च, तथा च सति नरकगत्यादिकमाश्रित्य त्रसकायानां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्वभिन्नस्थानाभावेऽपि तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादिकं समाश्रित्य स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टस्वभिन्नस्थानं विद्यत एव, अतो भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वा देवरूपाणां त्रसकायिकानामेकेन्द्रियरूपायां त्रसान्यमार्गणायामुत्पत्त्याऽपि यथोक्तनियमो निराबाध एव । इत्थमेव पञ्चेन्द्रियमार्गणागतजीवानामप्युत्पत्तिप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानस्य द्विविधत्वेन स्वभिन्नस्थानाऽविरहादोषानापत्तेरित्यलं विस्तरेण । इदमत्र बोध्यम्–यदुक्तं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां नरकरूपम्, नारकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियरूपम्, देवविकलेन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिरूपम्, तथैव पर्याप्तानामपर्याप्तरूपं, बादराणां सूक्ष्मरूपं, त्रसानां स्थावररूपं यथासम्भवं सर्वनिकृष्टं स्थानं वेदितव्यम्, तत्रापि मनुष्यतिर्यगादीनां नरकादिषु पञ्चम-षष्ठ-सप्तमनरकादिरूपं स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टस्थानमित्यादिकं समयाविरोधेन भावनीयमिति । अथ प्रस्तुतमेवोच्यते–मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वये त्वोघिकानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यकालवद् भावना कर्तव्या, तथैवा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽसंयम-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणास्वपि प्रत्येकं भावनीयम् । मतिज्ञान-श्रुतज्ञानमार्गणयोः सम्यक्त्वकालस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तत्वात् तदपेक्षया प्रस्तुतान्तर्मुहूर्तकालो भावनीयः । इत्थमेव देशसंयम-सम्यक्त्व-सामान्यौ-पशमिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु मिश्रदृष्टिमार्गणायां च प्रत्येकं भावना कर्तव्या । ननु सम्यक्त्वौघादिमार्गणासु मार्गणापरावर्तनप्रयुक्त एकसमयजघन्यबन्धकालः कथं न लभ्यते ? उच्यते, सम्यक्त्वौघादिमार्गणासु मिथ्यात्वाद्यभिमुखानामुत्कृष्टस्थितिबन्धभावात्तासामुत्कृष्टस्थितिबन्धो मार्गणाविच्छेदादर्वाग् द्विचरमसमये व्युपरमते, किन्तु चरमसमयं यावत्प्रवर्तते, ततश्च चरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैवाऽभावात्कुतस्तस्य मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तो व्याघातः स्यात्, तदभावे च कुत एकसमयः प्रस्तुतजघन्यबन्धकालः, न कुतश्चिदित्यर्थः । न च देशसंयममार्गणायां मरणव्याघातेन मार्गणाविच्छेदादर्वाग्भावी चरमस्थितिबन्धोऽनुत्कृष्ट एव, स कदाचिदेकसमयो लभ्येतेति वाच्यम् । यतो देशसंयमप्रतिपत्तेरारभ्य प्रवृत्तानुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तत एव, कुतः ? भङ्गबहुलदेशविरतिप्रतिपत्तौ जघन्येनाऽप्यन्तर्मुहूर्तकालस्य गमनात् । उक्तं चश्रीमन्मलयगिरिपादैः श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ—"देशविरतिर्हि द्विविधत्रिविधादि-

भङ्गबहुला। तत्प्रतिपत्तौ जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्तं लगति" इति । कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणात्रये तु सुगमः, भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभ्य भवान्तर उत्पत्त्याऽपि कृष्णलेश्यादिमार्गणानां तत्राऽनुवर्तनादिति ।

अथ यासु मार्गणासु प्रस्तुतः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो मतद्वयेन पृथक्पृथक्प्राप्यते तासु तथैव दर्शयन्नाह–**"खणो व भवे मिस्सनिजोगा-ऽवहिदुग-परिहारेसु"** त्ति औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगत्रयलक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगेषु, अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनलक्षणेऽवधिद्विके परिहारविशुद्धिकसंयमे च **"खणो व भवे"** त्ति 'मुहुत्तंतो अणुहठिईए लहु" इति पदानां देहलीदीपकन्यायेनात्राऽपि योजनात् सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालो मुहूर्तान्तः क्षणो वा भवेदित्यर्थः । तत्र मिश्रयोगत्रये शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समये वर्तमानानामेव जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमतेनाऽन्तर्मुहूर्तम् । कुतः ? मार्गणाप्रथमसमयादारभ्य प्रवृत्तानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिश्रयोगद्विचरमसमयं यावत् नैरन्तर्येण प्रवर्तनात्, मिश्रयोगजघन्यकालस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वाच्च । तदन्यमतेन त्वसौ 'क्षणः'-समयो ज्ञातव्यः, तन्मते मिश्रयोगचरमसमय इव तद्द्विचरमादिसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवात् । ततः किम् ? ततो ये केचनौदारिकादिमिश्रयोगिनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियकरणापर्याप्ता मिथ्यादृष्टिजीवा मिश्रयोगद्विचरमसमय उत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्य चरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभन्ते, तेषामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य मिश्रयोगमार्गणायां समयमात्रवर्तनात् जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्राप्यत इति । शेषमार्गणात्रये त्वसौ मतद्वयेन वक्ष्यमाणमार्गणाजघन्यकायस्थित्यनुसारेण द्विविध उक्तः, तत्रान्तर्मुहूर्तकालस्तु मतिज्ञानादिमार्गणावद्विज्ञेयः, समयस्तु वक्ष्यमाणमनोयोगादिमार्गणावदिति ।

"समयोऽत्थि सेसासु" त्ति उक्तशेषासु निरयगत्योघादिष्वेकोनचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं समयो भवति, सप्तप्रकृतिसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकाल इति गम्यते । **उक्तशेषमार्गणास्तु नामत इमाः**–सर्वे निरयगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिमार्गणाभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे च देवगतिमार्गणाभेदास्तथा बादरैकेन्द्रियौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियरूपाश्चत्वार एकेन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियमार्गणासत्कास्तु सर्वे भेदाः, तथैव पृथिव्यप्तेजोवायुकायप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणासत्का अपि सर्वे भेदाः, बादरसाधारणवनस्पतिकायौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तरूपास्त्रयस्तथा पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायभेदश्च, त्रसकायमार्गणासत्कास्तु सर्वेऽपि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणकाययोगभेदाः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदाः, अपगतवेदः, क्रोधादिचतुःकषायाः, मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुर्दर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सासादन-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः प्रागुक्तनीत्या मार्गणाद्विचरमसमये उत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्य

मार्गणाचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभ्य च मार्गणान्तरगमनेन तत्तन्मार्गणाविच्छेदप्रयुक्तो बोद्धव्यः, कासुचिन्मनोयोगादिमार्गणासु तु मार्गणाया वक्ष्यमाणसमयमात्रजघन्यकायस्थितिमपेक्ष्य प्रकारान्तरेणाप्यसौ लभ्यते, केवलं नपुंसकवेदमार्गणायां प्रस्तुतजघन्यबन्धकालः मार्गणाया जघन्यकायस्थितिमपेक्ष्यैव, न पुनरुत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भापेक्षयाऽपि । कस्माद् ? उत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकानां नपुंसकवेदिजीवानां भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धभावेन प्रागुक्तनीत्या भवान्तरे नपुंसकवेदितयैवोत्पत्तेर्नपुंसकवेदमार्गणाया विच्छेदाभावात् तद्विच्छेदाधीनः प्रकृतैकसमयबन्धकालो न लभ्यते, किन्तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते, अतः समयमात्रस्तु जघन्यकायस्थित्यनुसारेणोन्नेय इति । अत्र शेषमार्गणासु विस्तरभावना तूक्तदीशा कर्तव्या । तद्यथा–केनचिन्नारकजीवेन भवचरमसमये पूर्वप्रवृत्तं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धः समारब्धः, अनन्तरसमये त्वसौ तत उद्वृत्त्य तिर्यक्तयोत्पन्नः, तत्र यद्यपि तस्य सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव प्रवर्तते, तथाऽपि नासौ निरयगत्योघमार्गणायाम् , तदानीं तस्य निरयगतिबहिस्त्वात् , इत्येवं तस्य निरयगत्योघमार्गणामपेक्ष्य सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः प्राप्त इति । इत्थमेव शेषनिरयगतिभेदादौ स्वयमेव भावनीय इति ॥१४७-१४८-१४९॥

तदेवं प्ररूपितः सर्वमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः । साम्प्रतं तस्या एवाऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालं दिदर्शयिषुर्गाथाद्वयमाह —

जेट्ठो असंखलोगा एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसुं ।
अंगुलअसंखभागो होइ छसुहुमोघभेएसुं ॥१५०॥
ओघव्व अणाणदुगे अयता-ऽचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेसुं ।
सेसासुं उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयो ॥१५१॥

(प्रे०) "**जेट्ठो असंखलोगा**" इत्यादि, ज्येष्ठः-सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः पुनः "**असंखलोग**" त्ति क्षेत्रतोऽसंख्यलोकाः, असंख्येयेषु लोकाकाशप्रमितेष्वाकाशखण्डेष्वसत्कल्पनया प्रतिसमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपहीयमाणे यावता कालेन ते सर्वे आकाशप्रदेशा अपहीयन्ते तावान् काल इत्यर्थः । कालतस्त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवति । कासु मार्गणास्वित्याह–"**एगिंदिणिगोअपंचकायेसु**" ति एकेन्द्रियसाधारणवनौघमार्गणयोस्तथा पञ्चसु पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तास्वोघमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । अन्यत्राह–"**अंगुलअसंखभागो होइ**" त्ति अङ्गुलासंख्येयतमैकभागप्रमाणक्षेत्रगताकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपहीयमाणे यावान् कालोऽपगच्छति, तावान् कालो भवति । स च कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव ।

कुत्रेत्याह—**"छसुहुमोघभेएसु"** त्ति सूक्ष्मैकेन्द्रियादिषु षट्सु सूक्ष्मजीवौघभेदेषु, ते च सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायौघ-सूक्ष्माप्कायौघ-सूक्ष्मतेजस्कायौघ-सूक्ष्मवायुकायौघ-सूक्ष्मसाधारण-वनस्पतिकायौघमार्गणालक्षणा बोद्धव्याः। **ननु "असंखलोगा"** इत्यनेन कालतोऽसंख्योत्सर्पिण्य-वसर्पिणीप्रमाणकालो व्याख्यातः, प्रकृते च **"अंगुलअसंखभागो"** इत्यनेनापि कालतोऽसंख्यो-त्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव व्याख्यातास्तत्कथं नाऽसङ्गतिः, असंख्यलोका-ऽङ्गुलासंख्यभागयोरतिमहद्-दन्तरत्वात् ? **इति चेद् न,** "सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्त"मिति वचनात् कालापेक्षया क्षेत्रस्यातिबहुसूक्ष्मतयोक्तनीत्याऽङ्गुलासंख्यभागमात्रक्षेत्रगताऽऽकाशप्रदेशापहरणेऽप्य-संख्योत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एवापक्राम्यन्ति, केवलं ता असंख्यलोकप्रमाणक्षेत्रप्रदेशापहारेऽपगच्छदुत्स-र्पिण्यवसर्पिण्यपेक्षयाऽसंख्येयभागमात्रा इति न काचिदसङ्गतिरिति। अथ मार्गणान्तरेष्वाह—**"ओघव्व"** इत्यादिना, सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकाल ओघवदसंख्येय-पुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति। कासु मार्गणास्वित्याह-**"अणाणदुगे"** इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञा-नमार्गणाद्वयरूपेऽज्ञानद्विके, असंयममार्गणायां तथाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायामभव्यमा-र्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामित्येतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। सुगमश्चायम्, अधिककाला-पेक्षयाऽधिककालस्य कुत्राप्यसम्भवादिति।

अथ शेषमार्गणासु लाघवात्तत्तन्मार्गणायाः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः प्रकृतोत्कृष्टबन्धकाल इति दर्शयन्नाह-**"सेसासु"** इत्यादि, अनन्तरोक्ता एकेन्द्रियादिविंशतिमार्गणा विहाय शेषासु निरयगत्यादिपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् **"उक्कोसा सगसगकायट्ठिई"** त्ति एकजीवस्य नैरन्तर्येण विवक्षितनारकादितत्तत्पर्याये उत्कृष्टावस्थानलक्षणैकजीवाश्रया निरयादितत्तन्मार्गणा-नां स्वकीया स्वकीयोत्कृष्टा कायस्थितिरित्यर्थः। अत्राऽपि व्याख्यानतः शेषमार्गणाऽन्तःप्रवि-ष्टायामपगतवेदमार्गणायां 'सेसासु उक्कोसा सगसगकायट्ठिई'त्यनेनोत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्राप्तोऽपि प्रस्तुतकालोऽन्तर्मुहूर्तं तु ज्ञातव्यः, न तूत्कृष्टकायस्थितिः; उत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमा-णत्वेऽपि तन्मध्ये उपशान्ताद्धादिकालस्य प्रविष्टत्वात्, तदानीं च प्रकृतिबन्धसत्त्वेऽपि स्थितिबन्ध-स्याऽप्रवर्तनेन परिपूर्णोत्कृष्टकायस्थितिकालस्याऽसम्भवात्। कायस्थितिस्तु सर्वमार्गणानां प्राक् प्रकृतिबन्धेऽभिहिताऽपीह स्थितिबन्धमधिकृत्य किञ्चिद्विशेषतोऽनुपदमेव वक्ष्यमाणस्वरूपाऽवसात-व्या। **ननु** कुत एतासु नरकगत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकाल एकजीवविषयायाः मार्गणासत्को-त्कृष्टकायस्थितेस्तुल्यो भवति ? **उच्यते,** निरयगत्योघादिमार्गणासत्कोत्कृष्टकायस्थितिं निर्गम-यद्भिः कैश्चिज्जीवैः सकृदप्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशमनवाप्योत्कृष्टां मार्गणाकायस्थितिं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धो न क्रियते, उत्कृष्टस्थितिबन्धाभावेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु तेषां मार्गणा-प्रथमसमयादारभ्य मार्गणाचरमसमयं यावन्नैरन्तर्येण प्रवर्तते, ततश्च सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृ-ष्टबन्धकाल उत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो लभ्यत इति। **ननु** यद्येवं तर्ह्येकेन्द्रियादिविंशतिमार्गणास्वप्यसौ

कथं कायस्थितिप्रमाणो नाभिहितः ? उच्यते, एतासु विंशतिमार्गणासु कासुचिद्भव्या-ऽभव्यजीवविशेषमधिकृत्यैकत उभयतो वा निरवधिकासु भव्यादिमार्गणासु, कासुचिच्चैकेन्द्रियादिष्वसंख्येयलोकादिप्रमाणाऽतिबहुदीर्घकायस्थितिकासु मार्गणासूत्कृष्टकायस्थितिकालं निर्गमयद्भिर्जीवैरन्तराऽन्तरोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यं संक्लेशमवाप्य नियमेनोत्कृष्टस्थितिबन्धः क्रियते, ततश्च तासु मार्गणासु कस्यापि जीवस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टकायस्थितिं यावन्नैरन्तर्येण नैव प्रवर्तते, अत एतासु मार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टः कालो न उत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः, किन्तु ततोऽप्यत्यन्तहीनः सावधिकश्चेति तास्वसौ निरयगत्यौघादिमार्गणावदुत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो नाभिहितः, किन्तु विशेषत एवाऽभिहित इति॥१५०।१५१॥

तदेवमुक्त एकेन्द्रियौघादिषु विंशतिमार्गणासु 'जेट्ठो असंखलोगा' इत्यादिना विशेषेण, शेषासु निरयगत्योघादिपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु तु 'उक्कोसा सगसगकायट्ठिई' इत्यनेन सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः स्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिरिति । तत्र कायस्थितिर्यद्यपि प्रकृतिबन्धे प्रदर्शिता, तथापि सा तत्र सामान्यतच्छद्मस्था-ऽछद्मस्थोभयावस्थामपेक्ष्यैवोक्ता, तत्र तस्या युज्यमानत्वात् । इह तु स्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन तदुपयोगिनीम्, उत्तरत्र वक्ष्यमाणानुभागबन्धादिग्रन्थोपयोगिनीं चेति मत्वा केवलछद्मस्थावस्थाधीनां पूर्वापेक्षया किञ्चिद्विशेषसमन्वितां तामाचष्टे—

कायठिई उक्कोसा णिरय-सुराणं विभंगणाणस्स ।
किण्ह-सुइल-खइआणं तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५२॥

(प्रे०) "**कायठिई उक्कोसा**" इत्यादि, निरुक्तस्वरूपा एकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञेयेति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । केषां मार्गणास्थानानां कियती ज्ञेयेत्याह–"**णिरयसुराण**" मित्यादि, निरयगतिसामान्यस्य देवगतिसामान्यस्य विभङ्गज्ञानस्य कृष्ण-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वानामित्येतेषां षण्णां मार्गणास्थानानां प्रत्येकम् "**तेत्तीसा सागरा**" त्ति 'भीमो भीमसेन' इति न्यायेन पदेऽपि पदसमुदायोपचारात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः । तत्र नैरयिकाणामुत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणैवोत्कृष्टकायस्थितिरपि, नैरयिकाणामनन्तरभवे नैरयिकतयाऽनुत्पादात्, उत्कृष्टभवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वाच्च । उक्तं चागमे—

नेरइए णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं" इति ।

इत्थमेव देवगतिसत्काऽपि वेदितव्या, देवानामप्यनन्तरभवे देवतयाऽनुत्पादात् , तदीयोत्कृष्टभवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वाच्च । विभङ्गज्ञानस्योत्कृष्टा कायस्थितिरपि नैरयिकस्योत्कृष्टभवस्थितिप्राधान्याल्लभ्यत इति सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा दर्शिताऽपि तन्मतानुसारेण सोपस्कारं व्याख्येया । तद्यथा-श्रीप्रज्ञापनासूत्राऽभिप्रायेण देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । उक्तं च—

"विभंगणाणी णं भंते ! विभंगणाणि त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाले पुव्वकोडीते अब्भहियाइं" इति । (कायस्थितिपदे सूत्र-२४१)

इत्थमेव कृष्णलेश्यादिके शेषमार्गणात्रयेऽपि सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहिताऽपि प्रकृतकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तादिनाऽभ्यधिका द्रष्टव्या । कस्माद् ? उत्कृष्टस्थितिकस्य कृष्णलेश्याकनारकस्य कृष्णलेश्यायाः पूर्वोत्तरभवद्वयेऽन्तर्मुहूर्तं सम्बन्धात् । इदमुक्तं भवति–सप्तमनरक उत्कृष्टस्थितिकतयोत्पित्सोः कस्याऽपि जीवस्य मनुष्यादिवर्तमानभवचरमान्तर्मुहूर्ते नियमेन कृष्णलेश्या समुद्भवति । सा च तदा निवर्तते, यदा तत्स्वामी नारकतयोत्पद्योत्कृष्टकायस्थितिं चातिवाह्य ततश्च्युत्वा पुनरपि तिर्यग्भवे भवप्रथमान्तर्मुहूर्तमतिगच्छति । एवं च तादृशमेकजीवमपेक्ष्य कृष्णलेश्याया उत्कृष्टा कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तद्वयेनाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनायाम्– "कण्हलेसे णं भंते ! कण्हलेसेत्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं" इति ।

इत्थमेव शुक्ललेश्याया अपि मूलोक्तकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिका द्रष्टव्या । यदुक्तं प्रज्ञापनासूत्रे कायस्थितिपदे–"सुक्कलेसे णं भंते ! सुक्कलेसे त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं" इति । भावनाप्यत्र कृष्णलेश्यावदेव द्रष्टव्या, नवरं मनुष्यभवाच्च्युत्वाऽनुत्तरविमाने उत्कृष्टस्थितिकदेवतयोत्पद्य पुनरपि मनुष्यभवे उत्पद्यमानजीवमपेक्ष्येति । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु न केवलेनाऽन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिका, न वा सूत्रोक्ता साद्यनन्तभङ्गपतिता, किन्तु यावत् क्षपकश्रेणिमवाप्य स्थितेरबन्धको न भवति, तावत्पर्यन्ता बोद्धव्या । स्थितिबन्धाद्युपयोगिनीं कायस्थितिं प्रदर्शयितुं प्रवृत्तत्वादिति । महाबन्धकारैस्तु विभङ्गज्ञाने एकं पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदमङ्गीकृत्याऽपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽभावेन भवद्वयसत्कविभङ्गज्ञानकालस्य सान्तरत्वादन्तर्मुहूर्तोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा कायस्थितिरभ्युपगम्यत इति ॥१५२॥

अथ शेषनिरयगतिभेदानां प्रकृतकायस्थितिमाह—

पढमाइगणिरयाणं कमसो एगो य तिण्णि सत्त दस ।
सत्तरह य बावीसा तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५३॥

(प्रे०) "**पढमाइगणिरयाण**" मित्यादि, 'प्रथमादिकनिरयाणां'-प्रथमादिपृथिवीभेदैर्भिन्नानां प्रथमादिसप्तमान्तानां निरयगतिमार्गणाभेदानां क्रमशः 'ज्ञेया' इति गाथाप्रान्ते सम्बन्धः । उत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । क्रमशः कियती ज्ञेयेत्याह–"**एगो य**"त्यादि, एतेषामेकत्र्यादीनां त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तानां संख्यापदानां प्रत्येकं "**सागरा**" इति परेणान्वयः । तत्र "**सागरा**" इति सागरोपमाणि, ततश्चायमर्थः–अर्थवशाद् वचनविपरिणतेः प्रथमनिरयस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिरेकं सागरोपमम्, द्वितीयनिरयस्य तु सा त्रीणि सागरोपमाणि, एवं तृतीयस्य सप्त

सागरोपमाणि, चतुर्थस्य दश सागरोपमाणि, पञ्चमस्य सप्तदश सागरोपमाणि, षष्ठस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, सप्तमपृथिवीनरकभेदस्य तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । सुगमं चैतत् , तत्तन्नरकगतनैरयिकानामुत्कृष्टस्थितेर्यथोक्तैकत्र्यादिसागरोपमप्रमाणत्वात् , अनन्तरभवे नारकतयाऽनुत्पादाच्चेति । उक्तं च पृथिवीभेदेन नारकाणां भवस्थितिं दर्शयता **जीवसमासकृता—**

एगं च तिण्णि सत्त य दस सत्तरसेव हुंति बावीसा। तेत्तीसा उयहिनामा पुढवीसु ठिई कमुक्कोसा।।" इति ।

तदेवं दर्शिता निरयगतिभेदानामेकजीवाश्रया दीर्घकायस्थितिः । साम्प्रतं क्रमप्राप्ततिर्यग्गतिमार्गणाभेदानां तां प्रचिकटयिषुः मद्दशकायस्थितिकानामन्येषामपि भेदानां सममेवाह—

णेया असंखिया खलु परिअट्टा पोग्गलाण तिरियस्स ।
एगिंदिय-हरिआणं काय-णपुंसग-अमण्णीणं ।।१५४।।

(प्रे) **"णेया असंखिये"**त्यादि **"णेय"** त्ति प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेया, किम्प्रमाणा कस्य कस्येत्याह—**"असंखिये"**त्यादि, **"तिरियस्से"**त्यादि, तिर्यग्गत्योघभेदस्य, **"एगिंदियहरिआणं"** ति बहुवचनान्तनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तत एकेन्द्रिय-हरितयोः, एकेन्द्रियौघमार्गणाभेदस्य वनस्पतिकायौघमार्गणाभेदस्य चेत्यर्थः । तथा काययोगसामान्यस्य, नपुंसकवेदस्य, असंज्ञिमार्गणाभेदस्येत्येतेषां षण्णां मार्गणाभेदानां प्रत्येकम् **"असंखिया खलु"** त्ति खलुशब्दस्यावधारणार्थकत्वेनैकस्या आवलिकाया असंख्येयतमभागगतसमयप्रमाणा एवाऽसंख्येयाः **"परिअट्टा पोग्गलाणं"** त्ति पुद्गलानां परावर्ताः । उक्तं च **कायस्थितिपदे—**

"तिरिक्खजोणिए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणिओ कालतो, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जपोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखिज्जइ भागे" इति तथा "वणस्सइकाइया णं पुच्छा०गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणिओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो "तथा" एगिंदिए णं भंते ! एगिंदिए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतंकाल वणस्सइकालो" । तथा "कायजोगी णं भंते ! कायजोगी त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणप्फइकालो" तथा "नपुंसकवेए त्ति पुच्छा०,-गोयमा ! जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेण वणस्सइकालो ।" तथा असण्णी णं पुच्छा०, गो० ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को० वणस्सइकालो" इति ।।१५४।।

अथान्येषु तिर्यग्गतिभेदेषु व्याजिहिषुस्तन्सामान्यान्मनुष्यगतिभेदेष्वपि सममेवाह—

तिपणिंदियतिरियाणं तिणराणं य पलिओवमा तिण्णि ।
अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ।।१५५।।

(प्रे०) **"तिपणिंदिये"**त्यादि, अपर्याप्तभेदस्तत्ककायस्थितेः **"सव्वाऽपज्जत्ताण"**—मित्यादिनाऽनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् तेनाऽपर्याप्तभेदेन रहितानां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ- पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-

तिर्यक्-तिरश्चीलक्षणानां त्रयाणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदानां तथैवापर्याप्तभेदवर्जानां त्रयाणां नरगतिभेदानां च प्रत्येकं ज्ञातव्येति गाथाप्रान्तेऽन्वयः, प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । कतिप्रमाणा ज्ञातव्येत्याह—"**पलिओवमा तिण्णि**" इत्यादि, पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु वास कोडिलक्खाओ । छप्पन्नं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं ॥" इत्यादिनाऽन्यत्राऽभिहितपरिमाणानां पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि त्रीणिपल्योपमानीत्यर्थः । उक्तं च—"तिरिक्खजोणिणी णं भंते ! तिरिक्खजोणिणि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं । एवं मणुस्से वि, मणुस्सी वि एव चेव" इति ।

इत्थमेव शेषभेदेष्वपि बोद्धव्यम्, "पंचिंदियतिरिनराणं सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा" इति वचनादिति । **न च श्रीप्रज्ञापनायाम्**—"तिरिक्खजोणियपज्जत्तए णं भंते ! तिरिक्खजोणियपज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं" इति ग्रन्थेन पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदस्योत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तोनत्रिपल्योपमाभिहितत्वात्, कथमेतत् सङ्गच्छेदिति **वाच्यम्** । यतः प्रज्ञापनासूत्र-प्रकृतग्रन्थयोः पर्याप्तमार्गणाविषयकविवक्षाभेदादुभयत्र वचनभेदमात्रः, न पुनः काचिदसङ्गतिः । **इदमुक्तं भवति**—श्रीप्रज्ञापनायां पर्याप्तजीवतया करणपर्याप्ता एव गृहीताः, लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च वर्जिताः । ततस्तत्र "सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा" इति वचनोक्तमष्टाष्टभवप्रमाणकायस्थितिरुपादातुं न शक्यते, द्वितीयभवप्रथमसमयादेव करणापर्याप्तावस्थायाः प्राप्तेः । इत्थं च तत्र द्वितीयभवप्रारम्भमात्रेण पर्याप्तसत्का कायस्थितिर्निष्ठां याति, तत्कुतः सप्ताष्टभवस्थितीनामनुसंधानसम्भवः । अत एव तत्रैकं त्रिपल्योपमस्थितिकं युग्मिभवमादाय तस्यापि प्रथममपर्याप्तावस्थासत्कमन्तर्मुहूर्तं विवर्ज्य शेषाः स्थितिरुत्कृष्टकायस्थिततया दर्शिता । उक्तं च तद्वृत्तौ **मलयगिरिसूरिपादैः**—

"तिर्यक्सूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तभावना प्राग्वित्, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्तोनानि, एतच्चोत्कृष्टायुषो देवकुर्वादिभाविनरतिरश्चोऽधिकृत्य वेदनीयम्, अन्येषामेतावत्कालप्रमाणाया पर्याप्तावस्थाया अविच्छेदेनाप्राप्यमाणत्वात्, अत्राप्यन्तर्मुहूर्तोनत्वमन्तर्मुहूर्तस्याद्यस्याऽपर्याप्तावस्थायां गतत्वात्" इति ।

अत्र तु पर्याप्तनामकर्मोदयजन्यसर्वावस्थामपेक्ष्य कायस्थितिरभिहिता, पर्याप्तनामकर्मोदयस्तु करणापर्याप्तानामपि तदानीमपर्याप्तावस्थायां भवत्येव, ततश्चापर्याप्तावस्थासत्कमन्तर्मुहूर्तं न वर्ज्यते, तथाचोत्कृष्टस्थितिकयुग्मिभवसम्बन्धिन्या त्रिपल्योपमस्थित्या सममनन्तरगतानां संख्येयवर्षस्थितिकानां पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवानां स्थितेरनुसन्धानमपि भवतीत्येवमत्र विवक्षाभेदाद्दीर्घा कायस्थितिः प्रतिपादिता, न पुनः कश्चिन्मतान्तरोऽसङ्गतिर्वेत्यलं विस्तरेणेति ॥१५५॥

अथ क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानस्य प्रस्तुतकायस्थितिं व्याजिहीर्षुस्तुल्यवक्तव्योपेता अन्या अपि मार्गणाः संगृह्य सममेवाह—

सव्वापजत्ताणं समत्तबायरणिगोअकायस्स ।
पज्जत्तगसुहुमाणं पणवय-उरलमीसाणं ॥१५६॥
विउवा-ऽऽहारदुगाणं अवगयवेअस्स चउकसायाणं ।
सुहुमु-वसम-मीसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वा ॥१५७॥

(प्रे०) **"सव्वापज्जत्ताण"**मित्यादि, सर्वेषामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायसाधारणवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायाप्कायतेजस्कायवायुकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसाधारणवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकायलक्षणानां विंशतिसंख्याकानामप्यपर्याप्तमार्गणाभेदानां **"समत्तबायरणिगोअकायस्स"** त्ति समाप्तस्य-पर्याप्तस्य बादरनिगोदाख्यसाधारणवनस्पतिकायभेदस्येत्यर्थः । तथा **"पज्जत्तगसुहुमाणं"** ति पर्याप्तकसूक्ष्मजीवभेदानाम्, ते च पर्याप्तकसूक्ष्मभेदाः षट्, एकेन्द्रिय-पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवनस्पतिकायभेदात् । तथा **"पणमण"**ेत्यादि, तत्र पञ्चशब्दस्य मनोवचसोः प्रत्येकं योजना दोषोत्तरभेदभिन्नानां पञ्चानां मनोयोगभेदानां पञ्चानां वचोयोगभेदानामौ-दारिकमिश्रकाययोगभेदस्य चेत्यर्थः । अथान्यानप्यन्तर्मुहूर्तोत्कृष्टकायस्थितिकान् मार्गणाभेदान् संगृह्णाह–**"विउवे"**त्यादि, तत्र 'दुग' शब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगयोर्द्विकस्या-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विकस्य चेत्यर्थः । तथाऽपगतवेदमार्गणाभेदस्य क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां **"सुहुमुवसममीसाणं"** ति सूक्ष्मसम्परायसंयमस्यौपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्ट्योरित्येतेषां पञ्चाशन्मार्गणाभेदानां प्रत्येकं **"भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वा"** त्ति 'भिन्नमुहूर्त्तम्', अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्या, एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । लब्ध्यपर्याप्ततया नानाभवकरणेनाप्यन्तर्मुहूर्तादधिककालो नास्त्येति, तथा चाऽपर्याप्तावस्थाया उत्कृष्टमप्यवस्थानमन्तर्मुहूर्तमेवेति सर्वाऽपर्याप्तभेदानामुत्कृष्टकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तं दर्शिता । यदुक्तं श्री**प्रज्ञापनासूत्रे**—

"अपज्जत्तए णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं." इति ।

इत्थमेव पर्याप्तसूक्ष्मजीवभेदानां पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायस्य च प्रत्येकं जघन्यत इवोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव कायस्थितिर्भवति, तत ऊर्ध्वं नियमान्मार्गणान्तरोत्पत्तेः । उक्तञ्च–

"सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए सुहुमअपज्जत्तए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पुढविकाइय-आउकाइय-तेउकाइय-वाउकाइय-वणस्सइकाइयाण वि एवं चेव, पज्जत्तयाण वि एवं, बायरनिगोयपज्जत्तए य बायरनिगोयअपज्जत्तए य पुच्छा, गोयमा ! दुन्नि वि जहन्नेण उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं ।" इति ।

मनोयोग-वचोयोगभेदानामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं स्वभावादेव योगान्तरतया परावर्तना-

दुत्कृष्टाऽपि कायस्थिरन्तर्मुहूर्तादधिका न लभ्यते, एवमेवौदारिककाययोग-कार्मणकाययोगवर्जेषु काययोगभेदेष्वऽपि बोद्धव्यम् । ननु कस्मादौदारिककार्मणकाययोगौ वर्ज्येते ? उच्यते,-प्रस्तुतग्रन्थविवक्षया विग्रहगतौ सम्भविनः कार्मणकाययोगस्य त्रिसमयादधिकावस्थानाऽसम्भवात् त्रिसमयादधिका, तथा मनोवचोयोगरहितानामेकेन्द्रियाणां पर्याप्तावस्थायामौदारिककाययोगादन्ययोगानामसम्भवेना-ऽऽमरणमौदारिककायकोगस्यावस्थानाद् दीर्घा कायस्थितिरौदारिककाययोगस्य लभ्यत इत्येतौ द्वौ योगौ वर्ज्येते इति । प्रस्तुतग्रन्थविवक्षां तु यथावसरं दर्शयिष्याम इति । अपगतवेदस्य कायस्थितिरछद्मस्थजीवापेक्षया साद्यपर्यवसितभङ्गपतिता भवति, तथाऽपि छद्मस्थजीवापेक्षया सादिसपर्यवसितभङ्गपतिता दर्शिता । कस्मात् ? स्थितिबन्धादिनिरूपणोपयोगिकायस्थितेर्भण्यमानत्वात् । सा चोपशमश्रेणावन्तर्मुहूर्तमात्रोत्कृष्टतोऽपि लभ्यते, नाधिकेति । कस्यापि जीवस्य क्रोधादिकषायोदयानामप्युत्कृष्टतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तमन्यान्यकषायोदयतया नियमतः परावर्तनादेकजीवाश्रया क्रोधादिकषायमार्गणासत्कोत्कृष्टकायस्थितिरप्यन्तर्मुहूर्तादधिका न लभ्यते । यदुक्तम्—

"कोहकसाई णं भंते ! कोहकसाइ त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्त, एवं जाव माणमायाकसाती । लोभकसाई णं भंते ! लोभ०पुच्छा, गोयमा ! जह० एक्कं समय, उक्को०अंतोमुहुत्तं ।" इति ।

शेषस्तु सुगमः, सूक्ष्मसम्परायादिगुणानामन्तर्मुहूर्तमात्रावस्थानात् । उक्तं च पञ्चसंग्रहे— "समयाओ अंतमुहू अपुव्वकरणाउ जाव उवसंतो ।" तथा "मीसुवसम अंतमुहू" इति ॥१५६-१५७ ॥

तदेवं दर्शिता तिर्यग्गतिभेदानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः, तत्तुल्यवक्तव्यत्वादन्येषामपि बहुमार्गणाभेदानाम् । साम्प्रतं देवगतिसत्कशेषभेदानां दिदर्शयिषुराह—

भवणस्स साहियुदही पल्लं वंतरसुरस्स विण्णेया ।
पलिओवममब्भहियं जोइसदेवस्स णायव्वा ॥१५८॥
सोहम्माईण कमा अयरा दो साहिया दुवे सत्त ।
अब्भहिया सत्त य दस चउदस सत्तरह णायव्वा ॥१५९॥
एत्तो एगेगऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही ।
उवरिमगेविज्जस्स उ तेत्तीसाऽणुत्तराण भवे ॥१६०॥

(प्रे०) "**भवणस्स साहियुदही**"त्यादिगाथात्रयम्, "भीमो भीमसेन" इति । न्यायेन 'भवनस्य'-भवनपतिदेवभेदस्य साधिकोदधिः,-साधिकसागरोपममुत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, नरकभव इव देवभवो निरन्तरमेक एव भवति, नाधिकः,मनुष्यतिरश्चामेवानन्तरभवे देवतयोत्पादात्, ततश्च देवानामपि या भवस्थितिः, सैव कायस्थितिर्भवति । भवनपतिदेवेषूत्कृष्टा भवस्थितिरुत्तरदिग्वर्तिनामसुरकुमारनिकायदेवानाम् । सा च साधिकसागरोपममाना । यदुक्तं **जीवसमासे**-

"असुरेसु सारमहियं" इति । ततश्चोत्कृष्टा कायस्थितिरपि तावत्यभिहिता । एवमेवोत्तरत्रापि तत्तद्देवानामुत्कृष्टभवस्थित्यनुसारेणोत्कृष्टकायस्थितिर्भावनीया । व्यन्तरादिदेवगतिभेदानामुत्कृष्टकायस्थितिं दर्शयति–"**पल्लं वंतरसुरस्स विण्णेया**" त्ति एकदेशेन समुदायस्यावगमात् "**पल्ल**" ति पल्योपमं व्यंतरसुरभेदस्य विज्ञेया प्रकृतकायस्थितिः । तथा "**पलिओवममब्भहियं**" ति अभ्यधिकं पल्योपमं ज्योतिष्कदेवभेदस्य विज्ञेया । अत्र वर्षलक्षेणाभ्यधिकमिति सोपस्कारं व्याख्येयम् । यदुक्तम्–"वंतर पल्ल , जोइस वरिसलक्खाहियं पलियं" इति ।

अथ वैमानिकदेवभेदानामाह–"**सोहम्माईणे**"त्यादिना, सौधर्मादीनां क्रमाज्ज्ञातव्येति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । कियतीत्याह–"**अयरा दो**" इत्यादि, सौधर्मकल्पाख्यप्रथमदेवगतिभेदस्य 'द्वावतरौ'–द्वौ सागरोपमावित्यर्थः । "**साहिया दुवे**" त्ति क्रमप्राप्तस्येशानकल्पदेवगतिभेदस्य साधिकौ द्वौ सागरोपमावुत्कृष्टकायस्थितिः । "**सत्त**" त्ति क्रमप्राप्तस्य सनत्कुमारकल्पदेवगतिभेदस्य सप्त सागरोपमाणि, तथैव "**अब्भहिया सत्त य**" त्ति अभ्यधिकानि सप्त सागरोपमाणि माहेन्द्रकल्पभेदस्येत्यर्थः । चः पादपूर्त्यै । एवं यथोत्तरं वाच्यम्, ततो ब्रह्मकल्पदेवभेदस्य "**दश**" त्ति दश सागरोपमाणि, लान्तककल्पदेवभेदस्य चतुर्दश सागरोपमाणि, शुक्रकल्पस्य सप्तदश सागरोपमाणि, इत उपरितनदेवभेदानामाह-"**एत्तो एगेगऽहिया**" इत्यादिना, 'इतः'—शुक्रकल्पदेवगतिभेदादुत्तरम् "**एगेगऽहिया**" त्ति एकैकाधिका 'अतराः'-सागरोपमाणि "णायव्वा" त्ति एकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञातव्या, "**जाव एगतीसुदही**" त्ति यावदेकत्रिंशदुदधयः-सागरोपमाणि । कस्येत्याह–"**उवरिमगेविज्जस्स**" त्ति नवमग्रैवेयकस्येत्यर्थः ।

अयम्भावः–सहस्राराख्यस्याऽष्टमकल्पस्योत्कृष्टा कायस्थितिः शुक्रकल्पापेक्षयैकेन सागरोपमेणाधिकाऽष्टादश सागरोपमाणि ज्ञातव्या, साऽप्येकेन सागरोपमेणाधिकैकोनविंशतिः सागरोपमाण्यानताख्यनवमकल्पदेवभेदस्य ज्ञातव्या, अनया नीत्या प्राणतकल्पस्य विंशतिः सागरोपमाणि, आरणकल्पस्यैकविंशतिः सागरोपमाणि, अच्युतकल्पस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कृष्टकायस्थितिः, प्रथमग्रैवेयकस्य सा त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि, द्वितीयग्रैवेयकस्य चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि, तृतीयग्रैवेयकभेदस्य पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि, चतुर्थग्रैवेयकभेदस्य षड्विंशतिः सागरोपमाणि, पञ्चमग्रैवेयकभेदस्य सप्तविंशतिः सागरोपमाणि, षष्ठग्रैवेयकभेदस्याऽष्टाविंशतिः सागरोपमाणि, सप्तमग्रैवेयकभेदस्यैकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि, अष्टमग्रैवेयकभेदस्य त्रिंशत्सागरोपमाणि, नवमस्य सर्वोपरितनग्रैवेयकस्यैकत्रिंशत्सागरोपमाणि प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातव्येति । पञ्चानुत्तरदेवगतिभेदानां तर्हि कियतीत्याह–"**तेत्तीसाऽणुत्तराण भवे**" त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पञ्चानामनुत्तरविमानदेवगतिभेदानां भवेत्प्रकृता कायस्थितिः, सुगमा चैषा , एतेषु देवगतिभेदेषूत्कृष्टभवस्थितेरेतावत्प्रमाणत्वात् । उक्तञ्च—"दो साहि सत्त साहिय, दस चउदस सत्तर अयर जा सुक्को । इक्किक्कमहिय-मित्तो,जा इगतीसुवरि गेविज्जे ॥८॥ तित्तीसऽणुत्तरेसु" इति ।

तत्त्वार्थभाष्ये तु—सर्वार्थसिद्धवर्जेषु चतुर्ष्वनुत्तरविमानभेदेषु केनाप्यभिप्रायेणोत्कृष्टा भवस्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्येवाभिहिता । तथा चोक्तं तत्र–"सा विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत् ।" इति ॥१५८-१५९-१६०॥ गता देवगतिभेदानामुत्कृष्टा कायस्थितिः । साम्प्रतमेकेन्द्रियादिजातिसत्कभणितशेषमार्गणाभेदानां तामाह—

अंगुलअसंखभागो बायरएगिंदियस्स सुहुमाणं ।
तह पुहवाइचउण्हं णेया लोगा असंखेज्जा ॥१६१॥

(प्रे०) "**अंगुलअसंखभागो**" इत्यादि, अङ्गुलस्यासंख्यभागः,–अङ्गुलस्याऽसंख्येयतमैकभागमात्रक्षेत्रगताकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावान् कालोऽतिगच्छति, तावत्य असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । एतावान् कालो **बादरैकेन्द्रियमार्गणाभेदस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेयाः** । "**सुहुमाणं**" ति सर्वेषां 'सूक्ष्माणां' सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां षण्णामोघभेदानाम्, तथा समुच्चये, "**पुहवाइचउण्हं**" ति सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तविशेषणविरहितानां सामान्यपृथिव्यादिवायुकायान्तानां चतुर्णामोघभेदानाम् "**णेया**" त्ति प्रकृतकायस्थितिर्ज्ञेया । कियत्प्रमाणेत्याह–"**लोगा असंखेज्जा**" त्ति क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः, लोकाकाशप्रमाणेष्वसंख्येयेष्वाकाशखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपह्रीयमाणे यावता कालेन ते सर्वे प्रदेशा हीयन्ते, तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणः काल इत्यर्थः । उक्तश्च **कायस्थितिपदे**—

"सुहुमे णं भंते ! सुहुमे त्ति कालतो केवच्चिरं होति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीतो कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा, सुहुमपुढविकाइते सुहुमआउकाइते सुहुमतेउकाइते सुहुमवाउकाइते सुहुमनिगोदे वि ज० अंतोमुहुत्तं, उक्को० असंखेज्जं कालं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणिओस्सप्पिणितो कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा" इति ॥१६१॥

बायरपज्जेगिंदिय-भू-दग-पत्तेअ-वाउ-विगलाणं ।
संखेज्जसहस्ससमा ममत्तबेइंदियस्स संखसमा ॥१६२॥ (गीतिः)

(प्रे) "**बायरपज्जेगिंदिये**"त्यादि, बादरपर्याप्तशब्दस्य वायुकायान्तेषु प्रत्येकं योजनाद् बादरपर्याप्तैकेन्द्रियभेदस्य "**भू**" त्ति बादरपर्याप्तस्य 'भूकायिकस्य'-पृथिवीकायभेदस्य, तथा बादरपर्याप्तस्य "**दग**" त्ति दककायिकस्य, बादरपर्याप्ताप्कायभेदस्येत्यर्थः, । तथा "**पत्तेअ**" त्ति बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदस्य, अत्र बादरेति विशेषणं स्वरूपदर्शनपरं विज्ञेयम् । तथा "**वाउ**" त्ति बादरपर्याप्तवाउकायभेदस्य, "**विगलाणं**" त्ति पर्याप्तापर्याप्तविशेषणविरहितानां द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियलक्षणानां विकलेन्द्रियौघभेदानामित्येवमष्टमार्गणाभेदानां प्रत्येकम् "**संखेज्जसहस्ससमा**" त्ति एकजीवाश्रयकायस्थितिः संख्येयसहस्राणि 'समाः'-वर्षाणीत्यर्थः । उक्तं च—

"बायरेगिंदियपज्जत्तए णं भंते ! बायरेगिंदियपज्जत्तए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं" इति । तथा "बादरपुढविकाइयपज्जत्तए णं

भंते ! बादरपुढविकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केवच्चिरं होति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं, एवं आउकाइए वि," इति । "वाउकाइअ-वणस्सइकाइअ-पत्तेअसरीरबादरवणप्फइकाइते पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं" इति ।

इत्थमेव द्वीन्द्रियादीनां त्रयाणामोघमार्गणास्थानानां कायस्थितिविषयेऽपि द्रष्टव्यम्, "विगलिंदियाणं वाससहस्सा संखेज्जा" इति वचनादिति ।

अथ पर्याप्तद्वीन्द्रियस्याह-"**समत्तबेइंदियस्स संखसमा**" त्ति पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणाभेदस्यैकजीवाश्रया प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिः संख्येयसमाः-संख्येयानि वर्षाणीत्यर्थः । उक्तं च-

'बेइंदियपज्जत्तए णं भंते ! बेइंदियपज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण संखेज्जाइं वासाइं," इति ॥१६२॥

पज्जत्तगतेइंदिय-बायरतेऊण होइ संखेज्जा ।
दिवसा संखियमासा समत्तचउइंदियस्स भवे ॥१६३॥

(प्रे०) "**पज्जत्तगे**"त्यादि, पर्याप्तकशब्दस्य त्रीन्द्रिय-बादरतेजसोः प्रत्येकं योजनात् पर्याप्त एव पर्याप्तकः स चासौ त्रीन्द्रियस्तस्य पर्याप्तकत्रीन्द्रियस्य, पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणाभेदस्येत्यर्थः । तथैव पर्याप्तबादरतेजस्कायमार्गणाभेदस्य च प्रत्येकं "**होइ**" त्ति उत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । कतिपयेत्याह-"**संखेज्जे**"त्यादि, संख्येया दिवसाः । उक्तं च—

"तेइंदियपज्जत्तए णं भंते ! तेइंदियपज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं-अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं," इति । तथा-"तेउकाइए पज्जत्तए णं भंते ! तेउकाइअ-पज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जह० अंतोमुहुत्तं, उक्को० संखेज्जाइं राइंदियाइं," इति ।

"**संखियमासा**" त्ति संख्येया मासा उत्कृष्टकायस्थितिः, भवेदितिगाथाप्रान्तेऽन्वयः । कस्येत्याह-"**समत्तचउइंदियस्स**" त्ति स्वप्रायोग्यपर्याप्तीरपेक्ष्य समाप्तस्य 'चतुरिन्द्रियस्य'-चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदस्येत्यर्थः । तथा चोक्तं-"चउरिंदियपज्जत्तए णं भंते ? चउरिंदियपज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ? जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा," इति ॥१६३॥

पंचिंदिय-ऽचक्खूण-ऽहियुदहिसहस्सं तसस्स तं दुगुणं ।
पज्जपणिंदि-तस-पुरिस-सण्णीणायरसयपुहुत्तं ॥१६४॥

(प्रे०) "**पंचिंदिये**" त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः प्रत्येकमधिकोदधिसहस्रम्,-सातिरेकं सागरोपमसहस्रं प्रकृता कायस्थितिरित्यर्थः । उक्तं च **कायस्थितिपदे—**

"चक्खुदंसणी णं भंते ! चक्खुदंसणि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेकं" तथा-"पंचिंदिए णं भंते ! पंचिंदिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं साइरेगं" इति ।

"**तसस्स तं दुगुणं**" ति त्रसकायौघमार्गणायाः "**तं**" त्ति 'तत्'—पञ्चेन्द्रियाद्यनन्त-

रोक्तमार्गणयोर्यत्कायस्थितिप्रमाणं दर्शितं तद् "दुगुण" द्विगुणं द्रष्टव्यमर्थात्—त्रसकायौघमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः सातिरेकं सागरोपमसहस्रद्वयं भवति । यदुक्तम्—

"तसकाइए णं भंते ! तसकाइए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दोसागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासऽब्भहियाइं," इति ।

"पज्जपणिंदि" इत्यादि, तत्र पर्याप्तशब्दस्य पञ्चेन्द्रिय-त्रसोभयत्र योजनात् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदस्य पर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेदस्य पुरुषवेदमार्गणायाः संज्ञिमार्गणायाश्च प्रत्येकमतरशतपृथक्त्वम्–सागरोपमाणां शतपृथक्त्वं प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः । उक्तञ्च कायस्थितिपदे—

"पंचिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पंचिंदियपज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं," तथा "तसकाइयपज्जत्तए णं भंते ! तसकाइयपज्जत्तए त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं," तथा "पुरिसवेदे णं भंते ! पुरिसवेदे त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं," तथा "सण्णी णं भंते ! सण्णी त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं," इति ।

अत्र मूले पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणानां कायस्थितौ सातिरेकता न दर्शिता, तथाऽपि साऽऽगमानुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्येति ॥१६४॥ तदेवमिन्द्रियमार्गणासत्कशेषभेदानां प्रसङ्गादन्यमार्गणाभेदानां चोत्कृष्टकायस्थितिर्दर्शिता । साम्प्रतं कायमार्गणासत्कशेषभेदानां दर्शयन्नाह—

अड्ढतइअपरिअट्टा भवे णिगोअस्स होइ मोहठिई ।
बायरपुढवाइचउग-णिगोअ-पत्तेअहरिआणं ॥१६५॥

(प्रे०) "अड्ढतइअ" इत्यादि, 'अर्धतृतीयपरावर्ताः'–सार्धौ द्वौ पुद्गलपरावर्तावित्यर्थः । एतावती प्रकृतैकजीवाश्रया कायस्थितिरुत्कृष्टतो भवेत् । कस्येत्याह–"णिगोअस्स" त्ति निगोदाख्यवनस्पतिविशेषस्य, साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणाया इति यावत् । यदुक्तं—

"निगोदे णं भंते ! निगोदे त्ति केवच्चिरं होति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा," इति ।

"होइ मोहठिई" त्ति प्रकृतैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्मोहस्थितिर्भवति, मोहनीयकर्मणो यावत्युत्कृष्टा स्थितिस्तावती सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणा भवतीत्यर्थः । कस्याः कस्या मार्गणाया भवतीत्याह–"बायरपुढवाइचउगे"त्यादि, बादरशब्दस्य निगोदपर्यन्तेषु प्रत्येकं योजनाद् बादरपृथिविकाय-बादराप्काय-बादरतेजस्काय-बादरवायुकायौघभेदचतुष्क-बादरनिगोदौघभेदयोः "पत्तेअहरिआणं" त्ति प्रत्येकहरितकायस्य, प्रत्येकवनस्पतिकायौघमार्गणाभेदस्येत्यर्थः । एतासां षण्णां मार्गणानां प्रत्येकम् , न पुनः समुदितानामिति । उक्तं च—

"बायरपुढविकाइए णं भंते ! बायरपुढविकाइए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडिओ । एवं बायरआउकाइए वि, एवं जाव बायरवाउकाइए

धि । पत्तेयबायरवणस्सइकाइए णं भंते ! पुच्छा, गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ ।" तथा "बायरनिगोए णं भंते ! बायरनिगोए त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ," इति ॥१६५॥

देसूणसहस्ससमा बावीसुरलस्स तिसमया णेया ।
कम्मा-ऽणाहाराणं पल्लसयपुहुत्तमित्थीए ॥१६६॥

(प्रे०) "**देसूणसहस्से**" त्यादि, देशोनसहस्रसमा द्वाविंशतिः, देशोनानि द्वाविंशतिवर्षसहस्राणीत्यर्थः । कस्येत्याह"–**उरलस्स**" त्ति औदारिककाययोगमार्गणायाः, उत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । इयं हि खरबादरपृथिवीकायिकस्योत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षया बोद्धव्या, केवलं तस्याऽपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगसद्भावाद् भवप्रथमान्तर्मुहूर्तं शुद्धौदारिककाययोगे न गृह्यते । तस्योत्कृष्टभवस्थितिस्तु द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, "बावीसा पुढवीए" इति वचनात्, ततोऽन्तर्मुहूर्ते व्यपनीते प्रकृतकायस्थितिरवाप्यत इति । न च त्रिपल्योपमायुषां तिर्यग्मनुष्याणामौदारिककाययोगसद्भावेन साऽधिकाऽपि सम्पद्येतेति वाच्यम् । तेषां पर्याप्तावस्थायामौदारिकयोगादन्येषां मनोयोगादीनामप्यन्तराऽन्तरा सम्भवेन तदानीं मनोयोगादिप्रवर्तमानयोगप्राधान्यादौदारिककाययोग आमरणं नैरन्तर्येण न लभ्यते, किन्तूत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, अतो न तदपेक्षयोक्ताधिककायस्थितिसम्भव इति । "**ति समया णेया**" त्ति त्रिसमयाः प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातव्या । कस्याः कस्या इत्याह–"**कम्मा-ऽणाहाराणं**" ति कार्मणकाययोगमार्गणाया अनाहारकमार्गणायाः प्रत्येकमित्यर्थः । यद्यप्यनाहारकमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिरछद्मस्थजीवमपेक्ष्य साद्यनन्तभङ्गपतिताऽपि लभ्यते; तथापि स्थितिबन्धाद्युपयोगित्वात् प्राग्वत्तद्बन्धकछद्मस्थजीवापेक्षया सा प्रकृतेऽभिहितेति । ननु छद्मस्थजीवापेक्षयाऽपि सा प्रज्ञापनासूत्रे उत्कृष्टतो द्वौ समयावेवाभिहिता । तथा च तद्ग्रन्थः–"छउमत्थअणाहारए णं भंते ! छउमत्थअणाहारए त्ति कालओ केवच्चि होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दो समया," इति । तत्कथमत्र त्रिसमया उत्कृष्टकायस्थितिरभिधीयते ? इति चेद् , उच्यते, त्रिचतुःसामयिक्या विग्रहगतेरपि प्रकृते विवक्षितत्वात् । इदमुक्तं भवति–एकद्वयादिपञ्चसमयान्ता विग्रहगतयो भवन्ति । उक्तञ्च—"उजुया य एगवंका दुहतोवंका गती विणिद्दिट्ठा । जुज्जइ तिचउवंका वि नाम चउपंचसमयाओ ॥" इति । ताश्च एकद्वित्रिसामयिक्यो विग्रहगतयः प्रज्ञापनायां विवक्षिताः, न पुनश्चतुःसामयिकी पञ्चसामयिकी वा । उक्तं च तट्टीकायाम्—"दोसमया" इति त्रिसामयिकी विग्रहगतिमधिकृत्य, चतुःसामयिकी पञ्चसामयिकी च विग्रहगतिर्न विवक्षिता,"इत्यादि ।

प्रकृतग्रन्थे तु–पञ्चसामयिक्या विग्रहगत्या प्रायेण जन्तूनामनुत्पत्तेस्तां विहाय जीवसमासवच्चतुःसामयिकी विग्रहगतिरपि विवक्षिता, ततश्च तदपेक्षया कार्मणानाहारकमार्गणयोरेकजीवाश्रिता प्रस्तुतोत्कृष्टकायस्थितिरपि श्रीप्रज्ञापनोक्तकायस्थित्यपेक्षया समयाधिकाऽभिहिता । उक्तं

च जीवसमासेऽपि–"समयतिगं कम्मइगो" इति। "**पल्लसयपुहुत्तमित्थीए**" त्ति पल्यशतपृथक्त्वं स्त्रीवेदस्य, इत्यक्षरार्थः। इयं हि स्त्रीवेदमार्गणायाः कायस्थितिर्द्विधा व्याख्याता दृश्यते। तद्यथा- "द्रव्यस्त्रीवेदोदय. पल्योपमशतपृथक्त्वं यावदुत्कृष्टतो भवति।" इति **पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ**। **मलयगिरिवृत्त्यादौ** पुनः "थी पलियसयपुहुत्तं" ति स्त्रीवेदो जघन्यत एकं समयं, उत्कर्षतः पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वं च। " इत्यादि व्याख्यातम्। **श्रीप्रज्ञापनायां** तु पूर्वपूर्वतनसूरिमतभेदमुपदर्शयता **भगवता आर्यश्यामेन** पञ्चादेशाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—

"इत्थीवेए णं भंते ! इत्थीवेए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं दसोत्तरं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं १। एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अट्ठारस पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं २। एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं सयमं, उक्कोसेणं चोद्दसपलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं ३। एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ४। एगेणं आएसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ति ५।" इति।

तदत्र मूलोक्तप्रकृतकायस्थितिरपि मतिमताऽविरोधेन व्याख्येयेति ॥१६६॥

मणणाण-संयमाणं समइअ-छेअ-परिहार-देसाणं।
देसूणा पुव्वाणं कोडी एगा मुणेयव्वा ॥१६७॥

(प्रे०) "**मणणाणे**"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमानामित्येतेषां षण्णां मार्गणाभेदानां प्रत्येकमुत्कृष्टा कायस्थितिः "**देसूणा**" त्ति वर्षाष्टकादिरूपैकदेशेनोना पूर्वाणामेका कोटिर्ज्ञातव्या। तत्र परिहारविशुद्धिकमार्गणावर्जानां शेषमनःपर्यवज्ञानादिमार्गणाभेदानामष्टवर्षलक्षणेनैकदेशेनोना पूर्वकोटी बोद्धव्या, परिहारविशुद्धिकसंयमस्य त्वेकोनत्रिंशद्वर्षलक्षणेनैकदेशेनोना सा विज्ञेया, जघन्यतो विंशतिवर्षयतिपर्यायाणां तदङ्गीकरणस्य विहितत्वात्। उक्तं च–"गिहिपज्जाओ जहन्निगुणतीसा। जइपज्जाओ वीसा" इति। अत्र ह्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि भवप्रथमसमयादारभ्य बोद्धव्यानीति॥१६७॥

दुअणाणा-ऽयत-मिच्छाण अणाइधुवा अणाइअधुवा य।
साइअधुवा य तिविहा तइआ हीणद्धपरिअट्टो ॥१६८॥

(प्रे०) "**दुअणाणायते**"त्यादि, विभङ्गज्ञानवर्जयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणाभेदयोरसंयमस्य मिथ्यात्वस्य चेत्येतासां चतसृणां मार्गणानां प्रत्येकं प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिः "**तिविहा**" इति परेणान्वयः। अर्थात् स्वामिभेदात् त्रिविधा-त्रिप्रकारा भवति। तद्यथा—"**अणाइधुवा**" त्ति प्रथमाऽनादिध्रुवा,-अनाद्यनन्ताऽभव्यजीवमपेक्ष्य ज्ञातव्या, तस्या-ऽऽकालं मिथ्यात्वपरित्यागाभावात्। "**अणाइअधुवा य**" त्ति अनाद्यध्रुवा,-अनादिसान्तेत्यर्थः, एषा ह्यभिन्नग्रन्थिकभव्यजीवापेक्षया ज्ञातव्या। कुतः ? अभिन्नग्रन्थिकत्वात्तदीयमिथ्यात्वस्यानादित्वम्, भव्यत्वेनागामिकाले

सम्यक्त्वादिप्राप्तौ विच्छेदं यास्यतीति तस्याध्रुवत्वं चेतिकृत्वा । चः समुच्चये । तृतीया पुनः **"साइअधुवा य"** त्ति साद्यध्रुवा,-सादिसान्तेत्यर्थः । इमा तु भिन्नग्रन्थिकजीवापेक्षया बोद्धव्येति । चः प्राग्वद् । इत्थं त्रिविधा मत्यज्ञानादीनां कायस्थितिः । अत्र प्रथमयोर्द्वयोर्विधयोराद्यन्त्यान्यतरावधिरहितत्वेन सावधिकप्रमाणप्रदर्शनाऽसम्भवात् तृतीयायास्तावदुत्कृष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह– **"तइआ हीणद्धपरिअट्टो"** त्ति तृतीया साद्यध्रुवलक्षणा कायस्थितिरुत्कर्षतो हीनार्धपरावर्तः, क्षेत्रतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणेत्यर्थः । उक्तं च **कायस्थितिपदे—**

"अण्णाणी मतिअण्णाणी सुतअण्णाणी णं भंते ! अण्णाणी मतिअण्णाणी सुतअण्णाणि त्ति कालओ केवच्चिरं होति? गोयमा ! अण्णाणी मइअण्णाणी सुयअण्णाणी तिविधे पण्णत्ते, तं जहा–अणाइए वा अपज्जवसिते, अणाइए वा सपज्जवसिते, सादीए वा सपज्जवसिते ! तत्थ णं जे सादीए सपज्जवसिते से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो, खेत्तओ अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं," इति । इत्थमेव मिथ्यात्वकायस्थितिविषयेऽपि सूत्रसंवादो द्रष्टव्य इति ॥१६८॥

साहियछसट्ठिजलही तिणाण-सम्मत्त- वेअगो-हीसुं ।
दुविहाऽत्थि अणाइधुवा अणाइअधुवा अचक्खुस्स ॥१६९॥

(प्रे०) **"साहियछसट्ठिजलही"** त्यादि, 'साधिका'-मनुष्यभवसत्ककियत्कालेनाभ्यधिकाः षट्षष्टिर्जलधयः–सागरोपमाणि प्रकृतोत्कृष्टा कायस्थितिर्भवतीत्यर्थः । केषां मार्गणाभेदानामित्याह–**"तिणाण"** इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानवर्जानां त्रयाणां मत्यादीनां ज्ञानमार्गणाभेदानां सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वा-ऽवधिदर्शनमार्गणाभेदानां चेत्येतेषां षण्णां प्रत्येकमित्यर्थः । अत्र हि सम्यक्त्वौघमार्गणायाः उत्कृष्टकायस्थितिः प्रागवच्छद्मस्थजीवापेक्षयैव बोद्धव्या । अथाचक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदस्याह–**"दुविहात्थि"** इत्यादि, सुगमा, नवरमनादिध्रुवा प्रागवदभव्यजीवापेक्षया, अनाद्यध्रुवा तु भव्यजीवापेक्षया बोद्धव्या, "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात् केवलोत्पत्तौ क्षायोपशमिकभावानां मत्यादिज्ञानानां विलय इव क्षायोपशमिकभावस्याऽचक्षुर्दर्शनस्याऽपि विलयभावात् । अत एवोक्तं **प्रवचने—**

"अचक्खुदंसणी णं भंते ! अचक्खुदंसणि त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! अचक्खुदंसणी दुविहे पन्नत्ते, तं जहा–अणादीए वा अपज्जवसिते, अनादीए वा सपज्जवसिते," इति, ॥१६९॥

णीलाइचउण्ह कमा अयरा दस तिण्णि दोण्णि अट्ठार ।
भवियस्सऽणाइअधुवा तहा अभवियस्सऽणाइधुवा ॥१७०॥

(प्रे०) **"णीलाइचउण्हे"** त्यादि, नीलादीनां चतुर्णां लेश्यामार्गणाभेदानां **"कमा"** क्रमाद् 'अतराः'–सागरोपमाणि दश त्रीणि द्वेऽष्टादशेति । सुगमा, नवरं नीलकापोततेजोलेश्याभेदानां प्रत्येकं मूलोक्ताः कायस्थितयः पूर्ववत्पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिका द्रष्टव्याः, मूलेऽधिकांशस्य

ऽविवक्षितत्वात् । न च ब्रह्मकल्पान्तानां देवानामेव पद्मलेश्याया अभिहितत्वात्, तेषां चोत्कृष्टतोऽपि दशसागरोपमस्थितिकत्वात्पद्मलेश्यामार्गणायाः प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिरष्टादशसागरोपमाणीति कथं नु सङ्गच्छेदिति **शङ्कनीयम्** । तस्य स्वामित्वप्ररूपणायां प्रागेव समाहितत्वात्, अष्टादशसागरोपमविषयकस्याभिप्रायस्य व्युत्पादितत्वाच्चेति । **श्रीप्रज्ञापनासूत्रापेक्षया** तु सा पद्मलेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिर्दशसागरोपमाण्येव द्रष्टव्या । उक्तञ्च तत्र—

"पम्हलेसे णं भंते ! पम्हलेसे त्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं," इति ।

"भवियस्सऽणाइअधुवा" त्ति 'भव्यस्य'–भव्यमार्गणाभेदस्यानाद्यध्रुवा, 'अभव्यस्य'–अभव्यमार्गणास्थानस्य **"णाइधुवा"** त्ति अकारस्य दर्शनादनादिध्रुवा, अनाद्यनन्ता प्रकृतकायस्थितिरित्यर्थः । उक्तं च **कायस्थितिपदे**—

"भवसिद्धिए णं भंते ! भवसिद्धिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! अणादीए सपज्जवसिते । अभवसिद्धिए णं भंते ! अभवसिद्धिए त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! अणादीए अपज्जवसिते," इति । ॥१७०॥

सासाणस्सा-ऽऽवलिआ छ भवे आहारगस्स णायव्वा ।
अंगुलअसंखभागो त्ति भवे उक्कोसकायठिई ॥१७१॥

(प्रे०) **"सासाणस्सावलिआ"** इत्यादि, सासादनमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः षडावलिका भवेत् । उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहे**–"आवलियाणं छक्कं समयादारब्भ सासणो होइ" इति । **"आहारगस्स णायव्वा"** त्ति आहारिमार्गणाभेदस्योत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातव्या, कतिपयेत्याह–**"अंगुलअसंखभागो"** त्ति अङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणाकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावान् कालो निर्याति, तावानसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणः काल उत्कृष्टकायस्थितिर्भवतीत्यर्थः । इयमपि छद्मस्थजीवापेक्षयैव उक्ता, तस्या एव प्रकृतोपयोगित्वात् । उक्तं च—

"छउमत्थआहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालतो केवचिर होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमयऊणं, उक्कोसेण असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीतो कालतो, खेत्तत्तो अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं," इति ॥१७१॥

अथ पर्याप्तद्वीन्द्रियादिकतिपयमार्गणानां प्रस्तुतकायस्थितिं मतान्तरेण दर्शयन्नार्याद्वयमाह–

अण्णे उ भणन्ति भवे संखसहस्सवरिसा समत्ताणं ।
बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-बायरग्गीणं ॥१७२॥
दो सागरा सहस्सा समत्ततस-चक्खुदंसणाण भवे ।
सत्तरह सत्त अयरा होइ कमा णीलकाऊसुं ॥१७३॥

(प्रे०) **"अण्णे उ भणन्ति"** इत्यादि, अन्ये केचनाचार्यास्तु-पुनर्भणन्ति, किं भणन्ती-

त्याह-"भवे" इत्यादि, पर्याप्तबादरपृथिवीकायादीनामिव समाप्तानां-पर्याप्तानां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-बादराग्निकायलक्षणानां चतुर्णां मार्गणाभेदानां प्रत्येकं प्रकृतैकजीवाश्रयोत्कृष्टकाय-स्थितिः संख्येयानि वर्षसहस्राणि भवेदित्यर्थः। उक्तञ्च पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकाकारैः—

"बादराणां पर्याप्तकनामविशेषितानां संख्येया वर्षसाहस्र्य, प्रत्येकं पृथिवीजलाग्निवायुवनस्पतिप्रत्येकैके-न्द्रियाणां वर्षसाहस्र्य कायस्थिति., विकलानामपि द्वि त्रि-चतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं सख्येयवर्षसाहस्र्य कायस्थिति," इति।

अथान्येषामाह-"दो सागरा" इत्यादि, समाप्तस्य त्रसकायिकस्य चक्षुर्दर्शनस्य च प्रत्येकं प्रकृतकायस्थितिर्द्वे सागरोपमसहस्रे भवेदित्यर्थः। उक्तञ्च जीवसमासे- "चक्खुरसुदहीण वे सहस्साइ।" इति। "सत्तरह सत्त अयरा होइ कमा णीलकाऊसु" ति नीललेश्यायाः कापोतलेश्यायाश्च प्रत्येकमुत्कृष्टकायस्थितिः क्रमात् सप्तदश सप्त चातरा:-सागरोपमाणि भवति। इदमुक्तं भवति-महाबन्धकाराः पञ्चमपृथिव्याः सर्वोपरितनप्रतरे कृष्णलेश्याकनारकाणामिव नीललेश्याकनारकाणां सत्त्वं प्रतिपद्य, तथा तृतीयपृथिव्याः सर्वाधस्तनप्रतरे नीललेश्याकनारकाणा-मिव कापोतलेश्याकनारकाणामपि समुद्धतिमपेक्ष्य मार्गणाद्वयस्यापि कायस्थितिं यथोक्तामभिद्-धतीति ॥१७२-१७३॥

तदेवमभिहितैकजीवाश्रया प्रस्तुतोपयोगिनी सर्वमार्गणानामुत्कृष्टा कायस्थितिः। साम्प्रतं प्रसङ्गात् प्रकृतोपयोगित्वाच्च प्राग् दूरेणोक्तेति विस्मरणशीलानां जीवानामनुग्रहार्थं तासामेव सर्व-मार्गणानामेकजीवाश्रयां जघन्यां कायस्थितिं संस्मारयन्नाह—

कायठिई णायव्वा जहण्णगा दससहस्सवासाणि।
णिरय-पढमणिरयाणं देव-भवण-वंतराणं च ॥१७४॥
दुइआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा।

(प्रे०) "कायठिई णायव्वा" इत्यादि, अनन्तरं वक्ष्यमाणा "कायठिई" त्ति एक-जीवाश्रिता कायस्थितिर्विवक्षितनरकाद्यवस्थाया अविच्छिन्नमवस्थानलक्षणा"णायव्वा जहण्णगा" त्ति जघन्या एव जघन्यका-सर्वलघ्वी ज्ञातव्येत्यर्थः। तामेव क्रमत आह-"दससहस्से"त्यादिना, दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिर्निरयौघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोः, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-देवगतिभेदानां च प्रत्येकं ज्ञातव्येत्यर्थः। सुगमा चैषा, देवनैरयिकयोरनन्तरभवे देवनैर-यिकतयानुत्पादात्, प्रथमनरकनैरयिक-भवनपत्यादीनां जघन्यभवस्थितेर्दशसहस्रवर्षप्रमाणत्वाच्च। उक्तं च—"दससहस्सवरिसठिइआ, भवणाहिव-निरय-वतरिआ" ॥२७॥ इति।

अथ नरकगतिशेषमार्गणाभेदानां प्राह-"दुइआइगे"त्यादिना, द्वितीयादिपृथिवीभेद-भिन्नानां षण्णां निरयभेदानां जघन्यकायस्थितिः सा, भवतीति शेषः। का पुनः सेत्याह-"पढ-माइणिरयाणे"त्यादि, प्रथमादिनिरयभेदानां 'जा' त्ति या प्राक्-"पढमाइगणिरयाणं कमसो एगो

य तिण्णि सत्त दस। सत्तरह य बावीसा तेत्तीसा सागरा णेया ॥१५३॥ इत्यनया गाथया' ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा कायस्थितिरभिहितेत्यर्थः । तद्यथा–द्वितीयपृथिवीनिरयभेदस्य जघन्या कायस्थितिरेकं सागरोपमम् , तृतीयपृथिवीनिरयभेदस्य सा त्रीणि सागरोपमाणि, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदस्य सप्त सागरोपमाणि, एवं पञ्चमपृथिवीनिरयभेदस्य दश, षष्ठपृथिवीनिरयभेदस्य सप्तदश, सप्तमपृथिवीनिरयभेदस्य तु सा जघन्यैकजीवाश्रयकायस्थितिर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणीति । उक्तश्चान्यत्राऽपि—

"सत्त य पुढवीसु ठिइ, जिट्ठो-वरिमाइ हिट्ठपुढवीए। होइ कमेण कणिट्ठा दसवाससहस्स पढमाए॥" इति ॥१७४॥

अथ क्रमप्राप्ततिर्यग्गत्योघमार्गणाभेदस्य जघन्यकायस्थितिं विवक्षुस्तत्साम्यादन्यासामपि यासां मार्गणानां जघन्यकायस्थितिः क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणास्ता अपि सममेव सङ्गृह्याह–

खुड्डभवो तिरिय-पणिंदितिरिय-मणुस-तदपज्जाणं ॥१७५॥
पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदिय-कायभेअ-सण्णीणं ।
अमणस्स तिसमयूणो आहारि-उरालमीसाणं ॥१७६॥

(प्रे०) "**खुड्डभवो तिरिये**"त्यादि, 'क्षुल्लकः'–सर्वभवापेक्षया लघीयान् 'भवः'–जन्म सः क्षुल्लकभवोऽनन्तरवक्ष्यमाणतिर्यग्गत्यादिमार्गणाभेदानां जघन्यकायस्थितिर्भवेदित्यर्थः । क्षुल्लकभवमानं चेत्थं प्रतिपाद्यते,–आवलिआणं दोसयछप्पन्ना एगखुड्डभवे," इति। तत्रावलिका त्वसंख्येयानां समयानां समुदायो ज्ञातव्यः । यदुक्तमनुयोगद्वारसूत्रे–"असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइ समागमेण सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ।' इति। तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाभेदानेवाह-"**तिरिये**"त्यादिना, तिर्यग्गत्योघस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघ-मनुष्यौघभेदयोस्तथा तयोरेवापर्याप्तभेदयोः, अपर्याप्ततिर्यक्-पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तमनुष्यभेदयोश्चेत्यर्थः । तथा "**पज्जत्ते**"त्यादि, पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तद्वीन्द्रियादिलक्षणपर्याप्तभेदैर्वर्जिता ये शेषा एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियलक्षणेन्द्रियमार्गणासत्कौघा-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्तथा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायलक्षणकायमार्गणासत्कौघा-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना भेदास्ते पर्याप्तभेदवर्जितशेषेन्द्रियकायभेदाः, ते च समस्तास्त्रिचत्वारिंशद्भवन्ति । तद्यथा–एकेन्द्रियसत्काः सूक्ष्मपर्याप्तबादरपर्याप्तभेदवर्जा ओघ–सूक्ष्मौघ-बादरौघ-सूक्ष्माऽपर्याप्त-बादराऽपर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्च भेदाः, तथैव पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायानां पञ्चानां प्रत्येकं पञ्च पञ्च भेदाः, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां प्रत्येकं पर्याप्तभेदवर्जावोघा-ऽपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ द्वौ भेदौ, इत्थमेव प्रत्येकवनस्पतिकायसत्कौ द्वौ त्रसकायसत्कौ द्वौ वनस्पतिकायौघभेदश्चेति । तेषां, तथा "**सण्णीणं**" ति संज्ञिमार्गणाभेदस्य "**अमणस्स**" त्ति असंज्ञिमार्गणाभेदस्येत्येतेषां समुदितानां तिर्यग्गत्योघाद्येकोनपञ्चाशन्मार्गणाभेदानां प्रत्येकमित्यर्थः । सुगमा । अथानन्तरोक्तकायस्थित्यपेक्षया स्वल्पतारतम्यात् क्रममुल्लङ्घ्यादावौदारिकमिश्रकाय-

योगाहारिमार्गणयोराह–तिसमयूणो आहारिउरालमीसाणं" ति आहारिमार्गणाया औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायाश्च प्रत्येकमेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रिसमयोनः, कः ? क्षुल्लकभव इत्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम्। कथं ?पृथिव्यादिभ्यश्च्युत्वा चतुःसामयिक्या विग्रहगत्या जघन्यस्थितिकपृथिव्यादितयोत्पद्य, ततोऽपि मृत्वा विग्रहगत्यैव यो भवान्तरं गच्छति,तस्य क्षुल्लकभवचतुर्थसमयात्प्रारभ्य क्षुल्लकभवान्त्यसमयं यावदाहारकत्वादौदारिकमिश्रकाययोगित्वाच्च तदपेक्षया प्रकृतकायस्थितिर्बोद्धव्या। उक्तं च जीवसमासवृत्तौ श्रीमन्मलधारीयहेमचन्द्रसूरिपादैः–

"कश्चिदेकेन्द्रियादिर्जीवो मृतः, पूर्वाभिहितप्रकारेण च विग्रहे समयत्रयमनाहारको भूत्वा क्षुल्लकभवग्रहणायुष्केषु पृथिव्यादिषूत्पन्नः, तत्र च तावन्तं कालं निरन्तरमाहारको भूत्वा मृतः, पुनरपि विग्रहेऽनाहारको जात इत्येवं जघन्यतस्त्रिसमयोनं क्षुल्लकभवग्रहणमाहारकत्वम्" इति ॥१७५-१७६॥

अथ क्रमप्राप्तस्य पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदस्य जघन्यकायस्थितिं दिदर्शयिषुर्लाघवार्थमक्रमगतानपि तुल्यवक्तव्यान् मार्गणाभेदान् सङ्गृह्याह–

भिन्नमुहुत्तं उ सयलपज्जत्तगजोणिणीण कायस्स।
मीसदुजोग-पुमाणं कसायतिग-णाणजुगलाणं ॥१७७॥
अण्णाणदुगस्स तहा देसा-ऽयत-चक्खु-सव्वलेसाणं।
सम्मत्त-खइअ-वेअग-उवसम-मीसाण मिच्छस्स ॥१७८॥

(प्रे०) "**भिन्नमुहुत्तं उ**" इत्यादि, भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकायस्थितिर्भवतीति शेषः। तुशब्दः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतनार्थं प्रकृतान्तर्मुहूर्तकायस्थितेः। को विशेषो द्योत्यते ? उच्यते, पूर्वं तिर्यग्गत्याद्येकोनपञ्चाशन्मार्गणानां परस्परं तुल्यैव जघन्यकायस्थितिरासीद्, न पुनः समयमात्रेणापि न्यूनाधिका। प्रकृते तु सा कुत्रचिल्लेश्यादिमार्गणागतका लघ्वन्तर्मुहूर्तमात्रा, कुत्रचित्पर्याप्तादिभेदानां क्षुल्लकभवाद् दीर्घान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, इत्येवं विशेषेण यथासम्भवं बोद्धव्येति। केषां मार्गणाभेदानां जघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रेत्याह–"**सयलपज्जत्तगे**"त्यादि, सकलशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सकलपर्याप्तभेद-सकलयोनिमतिमार्गणाभेदानामित्यर्थः। तत्र पर्याप्तभेदा विंशतिः, द्वौ पुनर्योनिमद्भेदौ। तद्यथा–पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तमनुष्यभेदौ, पर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियभेदौ, तथा पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तसूक्ष्मबादरपृथिव्यप्तेजोवायु-साधारणवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तत्रसकायभेदाश्चेति पर्याप्तभेदाः। तिरश्ची मानुषी चेति द्वौ योनिमद्भेदाविति। "**कायस्स**" त्ति काययोगमार्गणाभेदस्य तथा "**मीसदुजोगपुमाणं**" ति औदारिकमिश्रयोगस्याऽनन्तरगाथायामेवाभिहितत्वादौदारिकमिश्रयोगवर्जयोः शेषयोर्वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदयोः पुंवेदमार्गणाभेदस्य चेत्यर्थः। "**कसायतिगणाणजुगलाणं**" ति "लोहविभंगोहिजुगलाण" (गाथा-१८३) मित्यादिना लोभ-

मार्गणाया अवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानमार्गणयोश्च जघन्यकायस्थितेरुत्तरत्र वक्ष्यमाणतया ता मार्गणा विहाय क्रोध-मान-माया लक्षणानां कषायमार्गणानां त्रिकस्य मतिज्ञान-श्रुतज्ञानरूपयोर्ज्ञानमार्गणयो युगलस्य चेत्यर्थः । तथैव विभङ्गज्ञानमार्गणायाः प्रकृतकायस्थितेरप्युत्तरत्र वक्ष्यमाणतया **"अण्णाणदुगस्स"**त्ति मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानलक्षणयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणयोस्तथा देशसंयमाऽसंयम-चक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदानां **"सव्वलेसाणं"** ति सर्वासां षट्संख्याकानामपि कृष्णादिलेश्यामार्गणाभेदानामित्यर्थः । तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकौ-पशमिक-मिश्रमार्गणाभेदानां मिथ्यात्वस्येत्येतेषां समुदितानामष्टचत्वारिंशन्मार्गणाभेदानां प्रत्येकमित्यर्थः । उक्तं च **कायस्थितिपदे**—"पज्जत्तए णं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं" इति । इत्थमेव शेषमार्गणानां जघन्यकायस्थितिविषयेऽपि समयसंवादो द्रष्टव्य इति ॥१७७-१७८॥

अधुना क्रमप्राप्तानां शेषदेवगत्यादिभेदानां जघन्यकायस्थितिमाह—

पलियस्स अट्ठभागो जोइसिअस्स पलिओवमं णेया ।
सोहम्मसुरस्स भवे ईसाणस्सऽब्भहियपल्लं ॥१७९॥
दोण्णि हवेज्जा जलही सणंकुमारस्स दोण्णि अब्भहिया ।
माहेंदस्स हवेज्जा सत्त भवे बम्हदेवस्स ॥१८०॥
लंतकदेवाईणं सा बम्हसुराइगाण जा जेट्ठा ।

(प्रे०) **"पलियस्स"**त्यादि, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् **"पलियस्स"** त्ति पल्योपमस्याष्टमो भागो ज्योतिष्कदेवमार्गणाभेदस्यैकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिरिति गम्यते । एवमुत्तरत्रापि बोद्धव्यम् । **"पलिओवमं णेय"** त्ति एकं पल्योपमं ज्ञेया प्रकृतकायस्थितिः, कस्येत्याह–**"सोहम्मसुरस्स"** त्ति सौधर्माख्यस्य वैमानिकप्रथमदेवभेदस्येत्यर्थः । **"भवे ईसाणस्सऽब्भहियं पल्लं"**ति वैमानिकद्वितीयदेवभेदस्येशानकल्पाख्यस्य साऽभ्यधिकं पल्योपमं भवेदित्यर्थः । **"दोण्णि हवेज्जा जलही"** त्ति द्वौ 'जलधी' सागरोपमौ भवेत् सनत्कुमाराख्यदेवगतिभेदस्य, **"दोण्णि अब्भहिया"** त्ति "जलही" इत्यस्यात्राप्यनुवर्तनाद् द्वौ 'जलधी'-सागरोपमेऽभ्यधिके माहेन्द्राख्यचतुर्थकल्पदेवगतिभेदस्य भवेत् , **"सत्त भवे"** त्ति पूर्ववत् "जलही" इत्यस्यानुवृत्त्या सप्त जलधयः–सागरोपमाणि प्रकृतकायस्थितिर्भवेद् ब्रह्मलोकाख्यपञ्चमकल्पस्य । लाघवार्थमित उपरितनदेवगतिभेदानां प्रकृतकायस्थितिमतिदेशद्वारेणाह–**"लंतकदेवाईण"**मित्यादिना, लान्तककल्पादिदेवगतिभेदानां सा जघन्यकायस्थितिर्मन्तव्येति वाक्यशेषः । का पुनः सा इत्याह–**"बम्हे"**त्यादि । **इदमुक्तं भवति**–"सोहम्माईण कमा अयरा दो साहिया दुवे सत्त । अब्भहिया सत्त य दस चउदस सत्तरह णायव्वा ॥१५९॥ एत्तो एगेगऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही । उवरिमगेविज्जस्स उ तेत्तीसाऽणुत्तराण भवे ॥१६०॥" इति **गाथाद्वयेन ब्रह्मकल्प-**

सुरादिकानां या ज्येष्ठा कायस्थितिः प्रागभिहिता, सा द्रष्टव्येत्यर्थ । **तद्यथा**–लान्तककल्पदेवगतिभेदस्य दशसागरोपमाणि जघन्यकायस्थितिः, शुक्रकल्पस्य तु सा चतुर्दश सागरोपमाणि, सहस्रारकल्पस्य सप्तदशसागरोपमाणि, इतस्तूत्तरोत्तरदेवभेदानामेकैकसागरोपमेणाधिका कायस्थितिर्द्रष्टव्या यावच्चतुर्णामनुत्तरविमानदेवगतिमार्गणाभेदानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितिरेकत्रिंशत्सागरोपमाणीति । सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदस्य तु सा एकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा जघन्यकायस्थितिर्न भवति, तस्या अनन्तरं प्रतिषेध्यत्वादिति। एषा हि कायस्थितिस्तत्तद्देवगतिभेदानां जघन्यभवस्थित्यनुसारेण भावनीया । जघन्या भवस्थितिस्तु तेषामित्थं पठ्यते —

"सोहम्मे ईसाणे जहन्नठिइ पलियमहियं च ॥९॥
दोसाहि सत्त दस चउदस सत्तर अयराइं जा सहस्सारो ।
तप्परओ इक्किक्कं, अहिय जाऽणुत्तरचउक्के ॥१०॥ " इति । (श्रीचान्द्रसंग्रहणी)

श्रीसमवायाङ्गसूत्रे तु–सर्वार्थसिद्धवर्जेषु विजयादिषु चतुर्ष्वनुत्तरभेदेषु जघन्या भवस्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहिता । तथा च तद्ग्रन्थः–"विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियाणं देवाणं केवइय कालं ठिई पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण बत्तीस सागरोवमाइं" इति ॥१७९-१८०॥

अथ सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदे प्रागुक्तोत्कृष्टकायस्थितिरेवाऽजघन्यानुत्कृष्टा इति तत्रोक्तोत्कृष्टकायस्थितितोऽन्या नास्ति काचिज्जघन्या कायस्थितिरित्येतत्प्रतिपिपादयिषुस्तत्साम्यादन्यत्राऽपि सममेव जघन्यां कायस्थितिं प्रतिषेधयन्नाह—

सव्वत्था-ऽचक्खूणं भविया-ऽभवियाण णत्थि लहू ॥१८१॥

(प्रे०)"**सव्वत्थाचक्खूण**"मित्यादि, 'भीमो भीमसेन' इति न्यायेन "**सव्वत्थ**" त्ति सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणयोस्तथा भव्या-ऽभव्यमार्गणयोरित्येतासां चतसृणां "**णत्थि लहु**" त्ति एकजीवाश्रया 'लघुः'-जघन्या कायस्थितिर्नास्ति-न विद्यते । कुतः ? सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदवर्जानां त्रयाणामचक्षुर्दर्शनादिमार्गणास्थानानां कायस्थितेरन्द्यन्तान्यतरेयत्ताविरहितत्वेनोभयतः सावधिकाया जघन्यकायस्थितेरसम्भवात्, सर्वार्थसिद्धविमानदेवभेदस्य त्वागमेऽजघन्यानुत्कृष्टत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्थितेः प्रतिपादनात् । तथा चोक्तं **श्रीप्रज्ञापनायाम्**– "सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते ! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! अजहण्णुक्कोसेण तित्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता" इति ॥१८१॥

साम्प्रतं शेषमार्गणानां प्रकृतैकजीवाश्रयां जघन्यां कायस्थितिमार्याद्वयेन प्रदर्शयन्नाह–

पणमणवयजोगाणं ओराला-ऽऽहार-विउव-कम्माणं ।
थी-णपुमा-ऽवेआणं लोह-विभंगो-हिजुगलाणं ॥१८२॥
मणणाण-संयमाणं समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमाणं ।
सासण-ऽणाहाराणं समयोऽत्थि जहण्णकायठिई॥१८३॥

(प्रे०) "**पणमणे**"त्यादि, पञ्चशब्दस्य योगशब्दस्य च मनोवचसोः प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चानां मनोयोगभेदानां पञ्चानां वचोयोगभेदानां चेत्यर्थः। तथा "**ओरालाहारविउवकम्माणं**" ति औदारिका-ऽऽहारक-वैक्रिय-कार्मणाख्यानां चतुर्णां काययोगमार्गणोत्तरभेदानाम्। "**थीणपुमा-ऽवेआणं**" ति स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरपगतवेदस्य चेत्यर्थः। तथा लोभकषाय-विभङ्गज्ञानयोरवधि-ज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयलक्षणस्या-ऽवधियुगलस्य, अन्यमार्गणामङ्ग्रहाय प्राह–"**मणणाण-संयमाण**"मित्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमभेदानां सासादना-ऽनाहारकमार्गणयोरित्येतेषामेकोनत्रिंशन्मार्गणाभेदानां प्रत्येकम्-"**समयोऽत्थि जहण्णकायठिई**"त्ति एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः 'समयः'-समयमा-त्राऽस्ति। उक्तं च **जीवसमासे**—

"मण-वइ-उरल-विउव्विय-आहारय-कम्मजोग अणरित्थी। संजमविभाग-विब्भग-सासाणे एगसमयं तु॥"

इत्थमेवापगतवेदादिमार्गणाजघन्यकायस्थितिविषये **सूत्रसंवादो द्रष्टव्यः। तद्यथा**—

"अवेदए णं भंते! अवेदए त्ति कालतो केवचिरं होइ? गोयमा! अवेदे दुविधे पं० तं जहा–सादीए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिते, तत्थ णं जे साइए सपज्जवसिते से जहण्णेणं एगं समयं" **इति**।

इत्थमेवावधिदर्शनादिजघन्यकायस्थितिविषयेऽपि द्रष्टव्यमिति ॥१८२-१८३॥

अथ मतान्तरतः क्रोधादिकतिपयमार्गणानां प्रकृतजघन्यकायस्थितिं दर्शयन्नाह–

अण्णे कोहाईणं समयो मणणाण-ओहिजुगलाणं।
संयम-परिहाराणं भिन्नमुहुत्तं पडुच्च छउमत्थं ॥१८४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**अण्णे कोहाईण**"मित्यादि, अन्ये-महाबन्धकारादयः क्रोधादीनां क्रोध-मान-माया-कषायलक्षणानां तिसृणां मार्गणानां प्रकृतकायस्थितिः "**समयु**" त्ति लोभकषायमार्गणावज्जघन्यत एकसमयस्तथा "**मणणाणओहिजुगलाणं संयमपरिहाराणं**" ति मनःपर्यवज्ञानस्याऽवधि-ज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणयोर्युगलस्य संयमौघ-परिहारविशुद्धिकसंयमयोरित्येतासां सप्तमार्गणानाम् "**भिन्नमुहुत्तं**" ति अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकायस्थितिरिति वदन्तीति शेषः। संयमौघस्य जघन्यतो-ऽन्तर्मुहूर्तं कायस्थितिस्तु कषायप्राभृतचूर्णिकाराद्यभिप्रायेणापि दृश्यते। उक्तं च **कषायप्राभृत-चूर्णौ** मिथ्यात्वादीनां जघन्यादिकालविषयकाल्पबहुत्वे—

" अपुव्वकरणद्धा संखेज्जगुणा। जहण्णिया संजमासंजमद्धा सम्मत्तद्धा मिच्छत्तद्धा संजमद्धा असंजमद्धा सम्मामिच्छत्तद्धा च एदाओ छप्पि अद्धाओ तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ।" इत्यादि, **बृहत्कल्पे**ऽपि "पव्वज्जाए मुहुत्तो जहन्नमुक्कोसिया उ देसूणा" (गाथा-१६३८) इत्याद्युक्तम्।

इयं ह्युत्कृष्टजघन्यभेदभिन्ना द्विविधाऽपि मार्गणानां कायस्थितिः प्रकृतग्रन्थोपयोगित्वेन छद्मस्थजीवापेक्षया दर्शितेत्येतत्सूचयन्नाह–"पडुच्च छउमत्थं" ति छद्मस्थानामेव स्थितिबन्ध-कत्वादेषाऽनन्तरोक्ता द्विविधकायस्थितिः छद्मस्थजीवं प्रतीत्योक्ता। इदमत्र हृदयम्–स्थिति-

बन्धः सकषायजीवानामेव जायते, एवमनुभागबन्धोऽपि । प्रदेशबन्धो योगप्रत्ययत्वाद्यद्यपि सकषायाणामिवाऽकषायाणामपि जीवानां भवति, तथाप्यसावत्र विवक्षाविशेषेण सकषायजीवानाश्रित्याऽधिकरिष्यति । एवं सति भण्यमानवक्ष्यमाणस्थितिबन्धादित्रिविधबन्धस्याऽपि सकषायजीवविषयत्वात् सकषायजीव-छद्मस्थजीवसत्यपेक्षैकजीवाश्रयकायस्थित्योर्मतिज्ञानादिकतिपयमार्गणा अधिकृत्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण न्यूनाधिकत्वेऽप्युभयकायस्थितिवक्तव्यतायास्तुल्यत्वाच्च छद्मस्थजीवान् प्रतीत्य पूर्वापेक्षया किञ्चिद्विलक्षणैवात्र कायस्थितिरभिहिता । ततश्चेमामेव कायस्थितिमुपादायानन्तरोक्तोत्तरत्रवक्ष्यमाणस्थितिबन्धादिकाला-ऽन्तरादय उपपादनीयाः, न पुनः प्रकृतिबन्धग्रन्थोक्तकायस्थितिमादायेति । तदेवं समाप्तं प्रासङ्गिकं कायस्थितिनिरूपणम्, तत्समाप्तौ च निष्ठिताऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्द्विविधबन्धकालप्ररूपणा ॥१८४॥

अथ जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नकालं ओघत दर्शयन्नाह—

आउगवज्जाण भवे जहण्णगाए ठिईअ हस्सियरो ।
कालो भिन्नमुहुत्तं तिविहो होइ अजहण्णाए ॥१८५॥

(प्रे०) "आउगवज्जाणभवे" इत्यादि, आयुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां मूलकर्मणां भवेत्, क इत्याह–"कालो" त्ति परेणान्वयः । प्रकृतत्वादेकजीवाश्रयबन्धकालो भवेदित्यर्थः । कस्याः कियानित्याह–"**जहण्णगाए**" **इत्यादि**, जघन्या एव जघन्यका, तस्या जघन्यकायः स्थितेः "**हस्सियरो**" त्ति ह्रस्वस्तदितरदीर्घश्च प्रत्येकम् "**भिन्नमुहुत्तं**" ति अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । कुत उभयथाप्यन्तर्मुहूर्तमेव ? सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्य चारित्रमोहनीयक्षपकस्वामिकत्वात् । उक्तञ्च स्वामित्वद्वारे–"सव्व विसुद्धो खवगो हस्साअ ठिईअ बंधगो" इत्यादि, (गाथा-११५) क्षपकस्य यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धत्वात् मरणव्याघातस्याभावाच्च प्रत्येकं स्थितिबन्धा नियमेनान्तर्मुहूर्तं प्रवर्तन्ते, अतः सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकाल इव जघन्योऽपि बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यत इति । अथ सप्तकर्मणामजघन्यस्थितेः प्राह–"**तिविहो होइ अजहण्णाए**"त्ति सामान्यतः स्वामिभेदादजघन्याः स्थितेर्बन्धकालस्त्रिविधः-वक्ष्यमाणत्रिप्रकारो भवतीत्यर्थ इति॥१८५॥

तानेव त्रीन् प्रकारान् सप्रभेदमुपदर्शयन्नाह—

स य एवमणाइधुवो अणाइअधुवो य साइअधुवो य ।
तइओऽतमुहुत्तमणू देसूणद्धपरियट्टोऽण्णो ॥१८६॥

(प्रे०) "**स य एवमि**"त्यादि, स चानन्तरगाथोदिष्ट आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां प्रत्येकमजघन्याः स्थितेस्त्रिवधो बन्धकालः 'एवं'-वक्ष्यमाणस्वरूपो ज्ञातव्य इत्यर्थः । तमेवाह-"**णाइधुवो**" इत्यादि, विश्लेषप्राप्तस्याकारस्य दर्शनादनादिध्रुवः, अनाद्यनन्त इत्यर्थः । अयं ह्यभव्यजीवापेक्षया बोद्धव्यः, अभव्यानां मिथ्यात्वपरित्यागाभावेन क्षपकश्रेणिभाविजघन्यस्थितिबन्धस्योपशमश्रेणि-

भावि नः स्थितेरबन्धस्य वाऽऽकालमनवासेरनादिकालप्रवृत्तौघिकाऽजघन्यस्थितिबन्धस्य कदापि विच्छेदासम्भवादिति । अथ द्वितीयविधामाह–"**अणाइअधुवो य**" त्ति, चः समुच्चये, अनाद्यध्रुवः, अनादिसान्त इत्यर्थः । अयं ह्यप्राप्तोपशान्तमोहगुणस्थानान् भव्यजीवान् प्रतीत्य ज्ञातव्यः, अप्राप्तोपशान्तमोहगुणस्थानानां भव्यजीवानां ह्यभव्यजीववत् प्रकृताजघन्यस्थितिबन्धो नियमतोऽनादिः, स चागामिकाले उपशान्तमोहगुणस्थानप्राप्तौ जघन्यस्थितिबन्धे वा प्रारब्धे नियमेन व्यवच्छेदमेष्यति, ततश्च सान्त इति । तृतीयविधामाह—"**साइअधुवो य**" त्ति चः प्राग्वत्, 'साद्यध्रुवः'-सादिसान्त इत्यर्थः । अयं पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानात् निपतितान् जीवान् समाश्रित्याऽवसातव्यः, उपशान्तमोहगुणस्थानान्निपतने तेषामजघन्यस्थितिबन्धस्य सादित्वात्, सान्तत्वं तु प्राग्वदिति । जघन्यस्थितिबन्धवदस्यापि कालो जघन्योत्कृष्टभेदाद्विधा द्रष्टव्यः, स च प्रथमे प्रकारद्वये न सम्भवति, ? तयोराद्यन्तान्यतरेणताऽपेतत्वात् । अतस्तृतीयस्य द्विविधकालमानं दर्शयन्नाह–"**तइओ**" इत्यादिना,तृतीयः साद्यध्रुवभङ्गगतः "**अंतमुहुत्तमणु**" त्ति अन्तर्मुहूर्तमणुः-जघन्यो बन्धकालः । "**देसूणड्ढपरिअट्टोऽण्णो**" त्ति देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः 'अन्यः'-जघन्यादन्यः-उत्कृष्टबन्धकालो भवतीत्यर्थः । तत्रोपोशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्यान्तर्मुहूर्तं विश्रम्य पुनरपि श्रेणिमारुह्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धं निष्ठापयति तस्य जघन्यबन्धकालः प्राप्यते, उत्कृष्टबन्धकालस्तु श्रेणिद्वयोत्कृष्टान्तरस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् तदपेक्षया ज्ञातव्यः । कुतः ? श्रेणिं विहायान्यत्रौघिकाजघन्यस्थितिबन्धविच्छेदस्यासम्भवादिति ॥१८६॥

तदेवमुक्त ओघत आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्याजघन्यद्विविधस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नद्विविधोऽपि बन्धकालः । साम्प्रतमवशेषस्याऽऽयुषोऽपि तमोघतो दिदर्शयिषुरल्पवक्तव्यत्वादादेशतोऽपि सममेव दर्शयन्नाह–

आउस्स जहण्णाए ठिईअ समयो भवे जहण्णियरो ।
अलहूअ मुहुत्तंतो आउस्सेमेव सव्वासुं ॥१८७॥

(प्रे०) "**आउस्स जहण्णाए**" इत्यादि, आयुषो जघन्यायाः स्थितेः समयो भवेत् । क इत्याह–"**जहण्णियरो**" त्ति जघन्यस्तदितर उत्कृष्टश्च, द्विविधोऽपि बन्धकाल इत्यर्थः । कुतः ? उत्कृष्टाबाधाया इव जघन्याबाधाया अप्यसंक्षेप्याद्धायामायुर्बध्नत आयुर्बन्धकालचरमसमय एव प्राप्तेः । **अयम्भावः**–असंक्षेप्याद्धा तु जघन्यतो यावत्यायुष्यवशेषेऽवद्धायुर्जीवो नियमेनायुर्बन्धं प्रारभत इत्येवमवशेषवेद्यमानायुरूपा प्रथमाधिकाराल्पबहुत्वद्वारे व्याख्याता । सा च वेद्यमानायुषश्चरमखण्डप्रमाणा । तत्र प्रविश्य क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यायुर्बन्धं प्रारभमाणस्य जीवस्य न जघन्याबाधा, किन्तु क्रमेण निष्ठापयत आयुर्बन्धाद्धायाश्चरमसमयवर्तिनः । इत्येवं जघन्याबाधाया एकस्मिन् समय एव प्राप्तेरुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धकाल इव जघन्यस्थितिकायुर्बन्धकालोऽपि समयमात्र आसाद्यते, न पुनर-

धिक इतिकृत्वा जघन्यत उत्कृष्टतश्चोभयथा पि समयमात्रो दर्शित इति। अथाजघन्यायाः स्थितेः प्रकृतकालमानमाह–"अलहुअ मुहुत्तंतो" त्ति अनन्तरोक्तं "जहण्णियरो" इति पदं काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि सम्बध्यते, ततः प्रकृतस्यायुषोऽलघोः-अजघन्यस्थितेर्जघन्येतरबन्धकालौ प्रत्येकं मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। इमावप्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टबन्धकालवद्भावनीयाविति। दर्शित ओघत आयुषो जघन्याजघन्यस्थित्योः प्रत्येकं द्विविधोऽपि कालः। साम्प्रतमादेशतः प्रदर्शनावसरः, तत्राल्पवक्तव्यत्वाद् बहुषु मार्गणास्वोघसाम्याच्चाऽऽयुषः प्रकृतबन्धकालमेवादावतिदेशेनाह–"आउस्सेमेव सव्वासु" ति आयुषः, न पुनः शेषसप्तकर्मणामपीत्यर्थः। 'एवमेव,-यथौघतो दर्शितस्तथैव 'सर्वासु'-निरयगत्यादिमर्वमार्गणासु जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधोऽपि बन्धकाल इति प्रकरणाद्गम्यत इति॥१८७॥ तदेवं साम्यताबाहुल्येन लाघवार्थं कृतेऽतिदेशे या काचिदतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुर्विशेषं दर्शयन्नाह—

णवरं अजहण्णाए ह्स्सो समयोऽत्थि पणमणवयेसुं।
काये उरले विउवे आहारदुगे कसायेसुं॥१८८॥

(प्रे०) "णवर"मित्यादि, नवरं-परमयं विशेषो ज्ञातव्यः। कोऽसावित्याह–"अजहण्णाए" इत्यादि, अजघन्याः स्थितेर्ह्रस्वः-जघन्यो बन्धकालः समयोऽस्ति। कासु मार्गणास्वित्याह-"पणमणवयेसु"मित्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पञ्चसु मनोयोगमार्गणाभेदेषु पञ्चसु च वचोयोगमार्गणाभेदेषु, काययोगे, औदारिककाययोगे, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूपे आहारकद्विके क्रोधादिषु चतुर्षु 'कषायेसु'-कषायमार्गणाभेदेष्वित्येतासु षोडषमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। एतासु षोडषमार्गणास्वपवदने हेतवस्त्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टबन्धकालवदेव द्रष्टव्याः। भावनाऽपि च तथैव कार्या, केवलमनुत्कृष्टस्थितिस्थानेऽजघन्यस्थितिरभिधातव्येति॥१८८॥

कृतं सप्तानामोघत आयुष ओघत आदेशतश्च जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टबन्धकालप्ररूपणम्। साम्प्रतमवशिष्टौ सप्तानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टबन्धकालावादेशतः प्ररूपयन्नाह—

णरतिग-पणिंदितसदुग-तिवेअ-गयवेअ-चउकसायेसुं।
चउणाण-विभंगेसुं संयम-सामइअ-छेअ-सुहुमेसुं॥१८९॥ (गीतिः)
देसम्मि दंसणतिगे सुइल-भविय-सम्म-खइअ-मीसेसुं।
सण्णिम्मि य आहारे सत्तण्ह लहूअऽणू मुहुत्तंतो॥१९०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णरतिगे"त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदं विहाय मनुष्यगत्योघ-

पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणारूपे नरत्रिके, द्विकशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनात् पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोर्द्विके त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणयोश्च द्विके इत्यर्थो विज्ञेयस्तथा त्रिषु स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदमार्गणाभेदेषु, गतवेदमार्गणायाम्, क्रोधादिकषायचतुष्के । अन्या मार्गणाः संचिन्वन्नाह-"चउणाण"त्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापना-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु देशसंयममार्गणायां चक्षुरादिदर्शनमार्गणानां त्रिके शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणासु संज्ञिमार्गणायामाहारिमार्गणायां चेत्येतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् "सत्तण्ह लहूअऽणू मुहुत्तंतु" त्ति शेषाणामायुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां 'लघोः'-जघन्यायाः "णू" त्ति अकारस्य दर्शनाद् 'अणुः'-जघन्यो बन्धकालो मुहूर्तान्तः-अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। अत्र विभङ्ग-देशसंयम-मिश्रदृष्टिमार्गणात्रये जघन्यस्थितिबन्धः संयमाद्यभिमुखावस्थायां भवति, संयमाद्यभिमुखानां तत्स्वामित्वात्। यदुक्तं स्वामित्वप्ररूपणायाम्-"विभंगदेसेसु संयमाभिमुहो" तथा 'मीसे श्रो पडिवज्जइ अणंतरम्मि समयम्मि सम्मत्तं" इत्यादि। ततश्च मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धवज्जघन्यस्थितिबन्धोऽपि न मरणव्याघातादिना व्याहन्यते, अत उत्कृष्टबन्धकाल इव तस्य जघन्यबन्धकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते। शेषासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु तु जघन्यस्थितिबन्धस्वामी क्षपकश्रेणिगतो जीवः, तस्यापि मरणव्याघाताऽसम्भवात् प्रतिसमयमनन्तगुणविशुध्यमानत्वाच्चोक्तनीत्या प्रत्येकं स्थितिबन्धा जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं प्रवृत्त्यैव विरमन्ति, अतस्तत्स्वामिकजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यत इति ॥१८९-१९०॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयमादिमार्गणासु जघन्यस्थितेः स्वामित्वविषयकमतभेदात् प्रस्तुतबन्धकालमपि भेदेन दर्शयन् शेषमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकालं प्रतिपादयँश्चाह—

परिहारे तेऊए पउमाए वेअगे य समयो वा ।
भिन्नमुहुत्तं व भवे हस्सो समयोऽत्थि सेसासुं ॥१९१॥

(प्रे०) "परिहारे तेऊए" इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां "वेअगे य" त्ति वेदके, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामित्यर्थः । चः समुच्चये। एतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्यस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः "समयो वा" त्ति स्वस्थानाप्रमत्तसंयतस्यापि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वं स्वीकुर्वतां मते 'समयः' एकसमयः, भवेदिति परेणान्वयः । वाकारस्तु मतान्तरद्योतकः । "भिन्नमुहुत्तं व भवे" त्ति "अहवा से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो। सो णेयो परिहारे तेउपउमवेअगेसुं य॥" (गाथा-१२८) इत्यनेन कृतकरणाद्धायाः प्राक् चरमस्थितिबन्धं कुर्वतोऽप्रमत्तस्यैव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमिति दर्शितमतान्तरेण 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं वा भवेदित्यर्थः ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतकालमानमाह-"समयोऽत्थि सेसासु" त्ति उक्तशेषासु निरय-

गत्योघाद्येकत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं समयोऽस्ति, जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकाल इति गम्यते । तत्र **शेषमार्गणा नामत इमाः**—अष्टौ निरयगतिभेदाः, पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, **सर्वेऽपि देवगतिभेदाः**, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, **पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसत्काः** सर्वे भेदाः, ते चैकोनचत्वारिंशत् । अपर्याप्तत्रसकायभेदः, **सर्वे योगभेदास्ते** चाष्टादशः । मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्यौ-पशमिक-**सम्यक्त्व**-सासादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चे ति । **तत्र** नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवी-**निरयभेदयोर्देव**गत्योघ-भवनपति-व्यन्तरभेदेष्वपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां च प्रत्येकमेकवक्रया द्विसाम-**यिकया** विग्रहगत्याऽसंज्ञिभ्य आगच्छतो जीवस्य भवप्रथमसमयापेक्षया विज्ञेयः। पञ्चसु मनोयोग-मार्गणाभेदेषु,पञ्चसु वचोयोगमार्गणाभेदेषु, काययोगसामान्य औदारिककाययोगमार्गणाभेदे च क्षपक-श्रेणौ चरमस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये पूर्वप्रवृत्तमनोयोगादीनां योगान्तरतया परावर्तने तत्प्रयुक्त एकसमयकालोऽवसातव्यः । शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासु तु न प्रकृतजघन्यस्थिति-बन्धः क्षपकश्रेणिसत्कः सम्यक्त्वाद्यभिमुखावस्थाभावी वा, ततश्च तत्प्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणेन मार्गणापरावर्तनादुपयोगक्षयात् तथास्वाभाव्याद्वाऽजघन्यस्थितिबन्धं कुर्वतो जीवस्य प्राप्यते। केवलमुप-शमसम्यक्त्वमार्गणायामसौ जघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणापेक्षयैव प्राप्यत इति तदपेक्षयैव भावनीय इति॥१९१॥

तदेवमभिहितः सप्तानां जघन्याः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालः । साम्प्रतं तस्या एवोत्कृष्ट-बन्धकालं व्याजिहीर्षुरार्याद्वयमाह—

होइ गुरू दोसमया णिरये पढमणिरये अपज्जणरे ।
सुर-भवण-वंतरेसुं कम्मा-ऽणाहारगेसुं च ॥१९२॥
भिन्नमुहुत्तं समयो वा उक्कोसो तिमिस्सजोगेसुं ।
सेसासु मग्गणासुं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥१९३॥

(प्रे०) "**होइ गुरू**" इत्यादि, सप्तानां जघन्याः स्थितेर्गुरुः-उत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ भवति । कस्यां मार्गणायामित्याह—"**णिरये**" इत्यादि, निरयगत्योघे, प्रथमपृथिवीनिरयभेदे, अपर्याप्तनरभेदे, सुरगत्योघ-भवनपतिदेवभेद-व्यन्तरदेवभेदेषु कार्मणानाहारकमार्गणयोश्चेत्येतास्वष्ट-मार्गणास्वित्यर्थः । कुतः ? विग्रहगतावनाहारकावस्थायां वर्तमानानां बादरजीवानामेव प्रस्तुत-तत्तन्मार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । **अयमत्राभिप्रायः**—अधिकृताष्टमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो बादरेभ्यश्च्युत्वा बादरतयोत्पद्यमाना जीवा एव सम्भवन्ति, तेषां त्रिसामयिक्यां द्विवक्रायां विग्रहगतौ जायमानं जघन्यस्थितिबन्धमपेक्ष्य प्रकृतबन्धकाल उत्कर्षतः समयद्वयमेवावाप्यते, अनाहारकावस्थायां तद्भावात्, त्रिसामयिक्यां विग्रहगतौ समयद्वयमेवानाहार-

कत्वाच्चेति । अथ मिश्रयोगत्रये स्वामित्वविषयकमतभेदापन्नौ विकल्पावाह–**"भिन्नमुहुत्तं समयो वा"** इत्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रयोगाख्यासु त्रिसृषु मिश्रयोगमार्गणासु प्रत्येकम् **"उक्कोसो"** त्ति प्रकृतत्वात्सप्तानां जघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः"............ णंतरकाले सरीरपज्जत्तिं । यो णिट्ठवेउ सो वा णेयो तिसु मीसजोगेसुं ॥१२६॥"इत्यनेन दर्शितजघन्य-स्थितिबन्धस्वामित्विषयकमतान्तरेण समयः, तदन्यमतेन तु **'भिन्नमुहूर्तम्'**-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्य इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । गतार्थः । अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतमाह–**"सेसासु"** इत्याद्युत्तरा-र्धेन, अनन्तरोक्ता निरयगत्योघाद्येकादशमार्गणा विहाय शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिष्वेकोन-षष्ट्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यः, सप्तानां जघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकाल इति प्रक्रमाद्गम्यत इति । अयमपि कस्याप्येकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्य जघन्यस्योत्कृष्टस्य वा स्थितिबन्धस्यान्तर्मुहूर्तादधिकमप्रवर्तनादित्यादि प्राग्वद्भावनीय इति ॥१९२–१९३॥

तदेवं सर्वमार्गणासु दर्शितः सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽपि । साम्प्रतं तासामेव सप्तानामजघन्यायाः स्थितेर्द्विविधबन्धकालं प्रचिकटयिषुरादौ जघन्यं बन्धकालं दर्शयन्नाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं अपज्जणर-देव-भवणजुगलेसुं ।
अजहण्णाए हस्सो दुखणूणजहण्णकायठिई ॥१९४॥

(प्रे०) **"णिरयपढमे"**त्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदरूपयोर्द्वयोर्मार्गण-योस्तथा-ऽपर्याप्तनरभेद-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरयुगलेष्वित्येतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकम् **"अज-हण्णाए हस्सो"** त्ति आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामजघन्यायाः-जघन्यभिन्नायाः स्थितेर्ह्रस्वः-जघन्यो बन्धकालः **"दुखणूणजहण्णकायठिई"** त्ति 'द्विक्षणौ'-द्वौ समयौ ताभ्यामूनाः-न्यूना द्विक्षणोना "कायठिई णायव्वा जहण्णगा दससहस्स वासाणि । णिरयपढमणिरयाणं देवभवणवंतराणं च ॥१७४॥" इत्यादिनाऽभिहिता निरयगत्योघादिमार्गणानां स्वीया स्वीया जघन्या कायस्थितिर्भवतीत्यर्थः । **इयमत्र भावना**–प्रकृतसप्तमार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धो विग्रहगतौ वर्तमानस्य जीवस्य भव-प्रथमसमयद्वय एव सम्भवति,नान्यदा। उक्तं च **स्वामित्वद्वारे**–"पढमदुइअसमये खलु असण्णिओ आगओ णेओ ॥१२१॥ णिरयपढमणिरयेसुं अपज्जणरदेवभवणजुगलेसुं ।" इति । ततश्च भवप्रथमसमयद्वयं मंत्यज्यान्यदाऽजघन्यस्थितिबन्ध एव प्रवर्तते । नैरयिकदेवानां भवस्थितिकायस्थिती तु परस्परं तुल्य एव, कस्यापि जीवेनैकस्यैव भवस्य नैरयिकतया देवतया वा निरन्तरकरणादिति तु प्रागभिहितमेव । इत्येवमजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽपि यथोक्त एव प्राप्यत इति ॥१९४॥ अथ सप्तमपृथिवी-निरयभेदे प्रकृतकालं दिदर्शयिषुः समानवक्तव्यत्वादन्यमार्गणास्वपि सममेवाह–

भिन्नमुहुत्तं सत्तमणिरये दुपणिंदि-तस-पुमेसु तहा ।
मइ-सुअणाणियरेसुं देसा-ऽयत-चक्खुइयरेसुं ॥१९५॥

अप्पसत्थतिलेसासु सुकिल-भवि-अभवि-सम्मेसु ।
खाइअ-वेअग-उवसम-मीसेसु मिच्छ-सण्णीसु ॥१९६॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्तं" इत्यादि, सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तं भवति । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह–"सत्तमणिरये" इत्यादि, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे, "दुपणिंदि-तसपुमेसु" त्ति द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनाद् द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयो-र्द्वयोस्त्रसकायभेदयोः पुंवेदमार्गणाभेदे चेत्यर्थः । अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्त्या पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायसत्कौ निरुक्तौ द्वौ द्वौ भेदावपर्याप्तभेदवर्जौ बोद्धव्याविति । तथाशब्दोऽनुक्तसमुच्चये, अनुक्तमार्गणाभेदानेव सार्धया गाथया संगृह्णन्नाह–"मइसुअ"इत्यादिना, मतिज्ञान-श्रुतज्ञानमार्ग-णयोः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानलक्षणयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणाभेदयोः, देशसंयमे, असंयमे, चक्षुरचक्षु-र्दर्शनमार्गणयोः, 'अप्रशस्तासु' अशुभासु त्रिसृषु कृष्णादिलेश्यामार्गणासु, शुक्ललेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघमार्गणाभेदेषु, क्षायिक-वेदको-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदेषु मिथ्यात्वमार्गणा-संज्ञिमार्गणयोरित्येतेषु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः ।

इयमत्र भावना—अजघन्या स्थितिरनुत्कृष्टस्थितिवत् साकाराऽनाकारोभयोपयोगेन बध्यते, अतस्तद्बन्धे साकारोपयोगोऽनाकारोपयोगो वा न व्याघातकः, किन्तु प्रकृतमार्गणाया मार्गणान्तरतया परावृत्तिर्जघन्यस्थितिबन्धोऽबन्ध इत्येतेषां त्रयाणामन्यतमो व्याघातको भवति । इत्थं हि तेभ्यस्त्रिभ्योऽवतीर्याजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये यदि पुनरपि तेषां त्रयाणा-मन्यतमः समुद्भवति, तदाऽजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्राप्यते । एतच्च प्रस्तुतसप्तम-पृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासु न सम्भवति । तथाहि–प्रथमपृथिवीनिरयभेदं संत्यज्य शेषेषु द्विती-यादिसप्तमान्तेषु षट्सु निरयभेदेषु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टयो जीवा एव । उक्तं च स्वामित्वप्ररूपणायाम्— "सेसणिरयदेवेसु धिउवदुगे होइ सम्मत्ती" ॥१२२॥ इति ।

तत्रापि तिर्यक्त्वेनैवोत्पित्सवः सप्तमनरकजीवाः पूर्वलब्धसम्यक्त्वमुत्सृज्य मिथ्यात्वं चा-ऽवाप्याऽन्तर्मुहूर्तं विश्रम्यैव कालं कुर्वन्ति, न पुनस्तदर्वागपि । इत्थं हि द्वितीयादिनिरयभेदगत-जीवानामिवामीषां सप्तमनरकजीवानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयो नावाप्यते, अजघन्य-स्थितिबन्धप्रारम्भादन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते एव तेषां मरणसम्भवात् । द्वितीयादिषड्निरयभेदगतजीवास्तु ससम्यक्त्वा अपि भवान्तरं गच्छन्ति, न पुनः सप्तमपृथिवीनैरयिकाणामिवान्तर्मुहूर्तं मिथ्यात्वं गत्वैव । इत्थं तेभ्यो ये केचन सम्यक्त्ववन्तो भवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धं समाप्य भव-चरमसमयेऽजघन्यस्थितिबन्धं च प्रारभ्य कालं कुर्वन्ति, तेषामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समय-मात्रोऽपि प्राप्यत इतिकृत्वा प्रकृते द्वितीयादिनिरयभेदानपहाय सप्तमपृथिवीनिरयभेद एव गृहीतः । निरयभेदेषु मरणव्याघातं विना तु समयमात्रजघन्यबन्धकालस्य सम्भव एव नास्ति । पञ्चेन्द्रियौघ-

पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोस्तु जघन्यस्थितिबन्धादवतीर्णानां स्थितिबन्ध एव न प्रवर्तते, जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकश्रेणावेव भावात्। श्रेणावुपशान्ताद्धाक्षयेणाऽबन्धादुत्तीर्याऽजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मरणस्य सम्भवेऽपि तथाप्रकारेण कालं कुर्वतां देवगतावुत्पत्त्या प्रकृतपञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणाविच्छेदस्याभावात् प्रकृतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तात्स्तोको न प्राप्यते। इत्थमेव त्रसकायभेदद्वये, पुंवेदे, ज्ञानद्विके, दर्शनद्विके, शुक्ललेश्यायां, भव्ये, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु संज्ञिमार्गणाभेदेषु च यथासम्भवं भावनीयम्। एतेषु भेदेष्वन्तर्मुहूर्तमात्राजघन्यस्थितिबन्धकालस्य प्राप्तिस्त्वोघवज्जघन्यकायस्थित्यनुसारेण वा यथासम्भवं द्रष्टव्या। केवलं पञ्चेन्द्रियौघभेदे त्रसकायौघभेदे संज्ञिभेदे च मार्गणान्तरादागतस्य षट्पञ्चाशदधिकद्विशतावलिकामात्रजघन्यायुषस्ततश्च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पित्सोर्जीवस्य प्रकृतमार्गणायां संजाताऽजघन्यस्थितिबन्धमपेक्ष्याजघन्यस्थितेः षट्पञ्चाशदधिकद्विशतावलिकाप्रमाणो बन्धकालः सर्वजघन्यो द्रष्टव्यः। शेषमत्यज्ञानादिमार्गणास्वप्यनया रीत्यैव सप्तकर्मसत्काऽजघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्तकालो भावनीयः।

ननु शेषासु मत्यज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतकालः कथं समयमात्रो न प्राप्यते ? उच्यते, मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वे सति मरणव्याघाते समुपजातेऽपि प्रस्तुतमार्गणानां मार्गणान्तरतयाऽपरावर्तनात्। **इदमुक्तं भवति**–एतासु सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रस्तदा प्राप्येत, यदि मनोयोगादिमार्गणावत्तत्तन्मार्गणाया जघन्यकायस्थितिः समयमात्रा स्यात्, अजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मरणव्याघाते समुपजाते प्रस्तुतमार्गणाया मार्गणान्तरतया परावृत्तिर्वा स्यात्। न चैवं देशसंयममार्गणां विहाय शेषासु मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानाऽसंयम-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणानामन्यतमस्या अपि भवति, प्रत्येकं मार्गणानां जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, मरणव्याघातेन मार्गणान्तरतयाऽपरावर्तनाच्च। जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकायां देशसंयममार्गणायां तु कालकरणे मार्गणापरावृत्तेः सम्भवेऽपि तत्र सप्तानामबन्धस्याऽभावात्, जघन्यस्थितिबन्धादुत्तीर्णानामन्यस्थितिबन्धस्यैवाभावाच्च न लभ्यते प्रस्तुतकालः समयमात्रः। **किमुक्तं भवति**–जघन्यस्थितिबन्धादुत्तरं यद्यन्यस्थितिबन्धः स्यात्तदाऽसावजघन्य एव स्यात्, तद्द्वितीयसमये कालकरणे च मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तः प्रस्तुतकालः समयमात्रः सम्पद्येत। न चैवं भवति। देशसंयममार्गणायां संयमाभिमुखानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन जघन्यस्थितिबन्धसमाप्त्या सममेव देशसंयममार्गणाविच्छेदादिति ॥१९५-१९६॥

अथैकयाऽऽर्यया शेषमार्गणासु सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालं प्राह—

मिस्सतिजोग-कसायतिगा-ऽवहिजुगल-परिहार-तेऊसुं।
पम्हाअ मुहुत्तंतो समयो वाऽण्णासु समयोऽत्थि ॥१९७॥

(प्रे०) **"मिस्सतिजोगे"**त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-लक्षणे मिश्रयोगत्रये, **"कसायतिग"** त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्लोभवर्जकषायत्रिके, क्रोध-मान-मायालक्षणमार्गणात्रये इत्यर्थः । तथाऽवधियुगलेऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयात्मके, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां, तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणयोश्चेत्येवं समुदितास्वेकादशमार्गणासु प्रत्येकम् **"मुहुत्तंतो समयो व"** त्ति प्रस्तुतबन्धकालो मुहूर्तान्तः समयो वा भवति । तत्र मिश्रयोग-तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणासु 'ऽणंतरकाले सरीरपज्जत्ति । सो णिट्ठवेउ सो वा णेयो तिसु मीसजोगेसु ॥१२६॥' तथा 'अपमत्तो अहवा से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो । सो णेयो परिहारे 'तेउ-पउम-लेसगेसु' य ॥१२८॥' इत्यादिनोक्तस्वामित्वविषयकमतान्तरप्रयुक्तोऽसौ यथासम्भवमन्तर्मुहूर्तं समयो वा प्रागिव योज्यः । तत्र मिश्रयोगत्रये त्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालवत्सुगमाऽन्तर्मुहूर्त-समय-कालयोजना । तेजः-पद्मलेश्यामार्गणयोस्तु स्वस्थानाऽप्रमत्तस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमते जघन्यस्थितिबन्धादवतीर्याऽजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तः समयमात्रः प्रकृतकालो लभ्यते । कृतकरणत्वार्वाक्समयस्थस्य जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमते तु जघन्यस्थितिबन्ध-कालिनलेश्याया उत्तरत्राऽन्तर्मुहूर्तं यावत्प्रवर्तनात्तदानीमजघन्यस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनाच्चाऽजघन्य-स्थितिबन्धस्य जघन्योऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते । शेषकषायत्रिकादिमार्गणाष्टके तु यथोक्तजघन्य-कायस्थितिविषयकमतद्वयानुसारेण प्रस्तुता-ऽन्तर्मुहूर्तसमयकालो योज्यः । **तद्यथा–श्रीप्रज्ञापना-सूत्रानुसारेण** क्रोधादिकषायमार्गणात्रयस्यैकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वात् , अवधि-द्विक-परिहारसंयमयोरेकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वाच्च प्रस्तुतकालोऽपि क्रोधादिमा-र्गणास्ववधिज्ञानादिमार्गणासु च यथासङ्ख्यमन्तर्मुहूर्तं समयश्च लभ्यते ।

ननु भवत्ववधिज्ञानादिमार्गणाजघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वात्तत्र कालोऽयं समयमात्रः, न पुनः क्रोधादिकषायमार्गणास्वपि तेनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणेन भवितव्यमेव, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तकाय-स्थितिकमार्गणास्वपि प्रस्तुतकालस्य समयमात्रत्वसम्भवाद् ? **इति चेद्**, एवमपि नात्रासौ तावान् सम्भवति, जघन्यस्थितिबन्धादित उत्तीर्णस्य पुनरपि समयान्तरेण जघन्यस्थितिबन्धाऽबन्धादीनां समुद्भवे तद्भावात्, प्रस्तुतमार्गणात्रये तु जघन्यस्थितिबन्धादुत्तीर्णानां सर्वथैव स्थितिबन्धस्याऽप्रवर्त-नात्, अबन्धादुत्तीर्णानां वाऽन्तर्मुहूर्तादर्वागबन्धस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य मार्गणापरावृत्तेर्वाऽसम्भवा-दिति । एतासु मार्गणासु वैपरीत्येन क्रोधादिषु समयमात्रः, अवधिज्ञानादिषु त्वन्तर्मुहूर्तं च महा-बन्धकाराभिमततज्जघन्यकायस्थितेस्तथात्वात् तथा बोद्धव्यः । अत्र तु परिहारविशुद्धिकमार्गणायां तन्मतेऽपि कृतकरणाद्धाया अर्वाक्समये जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभ्युपगमापेक्षया प्रस्तुतकालो-ऽन्तर्मुहूर्तमपि द्रष्टव्य इति ।

"अण्णासु समयोऽत्थि" त्ति उक्तान्यासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिषड्विंशत्यभ्यधिक-शतमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतः सप्तकर्मणामजघन्याः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालः 'समयः' समयमात्रो

भवतीत्यर्थः। तत्र शेषमार्गणाभेदा नामतोऽमी-द्वितीयादिषष्ठपृथिव्यन्ताः पञ्चनिरयगतिभेदाः, ज्योतिष्कादिपञ्चानुत्तरविमानभेदपर्यन्ताः सप्तविंशतिर्देवगतिमार्गणाभेदाः, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, सर्वे पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पतिकायसत्का भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणकाययोगमार्गणाभेदाः, स्त्री-नपुंसकवेदभेदावपगतवेदभेदश्च, तथा लोभकषाय-मनः-पर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्परायसंयम-सासादना-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति ।

तत्र द्वितीयपृथिव्यादिनिरयभेदेष्वनन्तरगाथायां प्रसङ्गाद्भावितः प्रकृतबन्धकालः, तथैव सप्तविंशतिदेवमार्गणाभेदेषु भावनीयः । मनुष्यगतिभेदत्रये तूपशान्ताद्धाक्षयेऽजघन्यस्थितिबन्धं प्रारभ्य द्वितीयसमये कालकरणेन देवगत्युत्पत्त्या प्रस्तुतमार्गणाविच्छेदादेकसमयः । तिर्यग्गत्योघे जघन्यस्थितिबन्धस्वामी यः कश्चिदेकेन्द्रियजीवो भवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽजघन्यस्थितिबन्धं प्रारभ्यानन्तरसमये कालं कृत्वा मनुष्यतयोत्पद्यते, तमपेक्ष्य प्रकृतबन्धकालः प्राप्यते । इत्थमेव शेषेसु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदेष्वपि द्रष्टव्यम्, नवरमपर्याप्तमार्गणा-भेदेऽसंज्ञिजीवस्य भवचरमसमयेऽजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भादनन्तरं मनुष्यतयोत्पादो द्रष्टव्यः, शेषभेदत्रये तु देवतयेति । इन्द्रियमार्गणाभेदेषु कायमार्गणाभेदेषु च तिर्यग्गत्योघमार्गणाभेदवद् यथासम्भवं भावनीयः । काययोगवर्जेषु शेषयोगमार्गणाभेदेषु तु प्रत्येकं स्वस्वजघन्यकायस्थित्य-नुसारेण प्रस्तुतोऽजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालो भावनीयः । इत्थं वेदादिशेषमार्गणाभेदेष्वपि स्वी-यस्वीयजघन्यकायस्थितिभावनावद्भावना द्रष्टव्या, केवलं काययोगसामान्य-संयमौघ-मनःपर्यव-ज्ञान-आहारिमार्गणासु प्रत्येकमबन्धादुत्तीर्याऽजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये योगपरावृत्त्या कालकरणेन च यथासम्भवं प्रकृतमार्गणाविच्छेदाज्जघन्यकालो द्रष्टव्य इति॥१९७॥

तदेवमभिहितः सप्तानां मूलप्रकृतीनामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकाल आदे-शतः । साम्प्रतं तस्या एवोत्कृष्टबन्धकालं विभणिषुर्गाथाद्वयमाह—

जेट्ठो असंखलोगा तिरिये-गिंदिय-णिगोअभेएसुं ।
पणकाय-अणाणजुगल-अयता-ऽभवि-मिच्छ-अमणेसुं ॥१९८॥
अंगुलअसंखभागो सुहमेसु भवे अचक्खु भवियेसुं ।
ओघव्व जाणियव्वो सेसासुं सगुरुकायठिई ॥१९९ ॥

(प्रे०) "**जेट्ठो असंखलोगा**" इत्यादि, प्रकृतसप्तप्रकृतिसत्काया अजघन्यस्थितेर्ज्येष्ठः-उत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्यलोकाः क्षेत्रतः, कालतस्तु प्रागवदसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः ।

❋ A निरयगत्योघः,	— G त्रीन्द्रियौघ,	— P त्रसकायौघ,	∴ W विभङ्गज्ञानम्,	❋ A इत्या-
❋ B प्रथमनिरयभेद.,	+ J पर्याप्तत्रीन्द्रियः.*	+ M पर्याप्तत्रसकाय *	∴ U २,संयमौघ-परि-*	दिना संज्ञित
★ B ६, द्वितीयाद्या,	– E अपर्याप्त ,,	— E १२,शेषाऽपर्याप्त-	+ U देश० [हार०	मार्गणा
÷ C तिर्यग्गत्योघ	— G चतुरिन्द्रियौघ	सूक्ष्मबादरपृथिव्या-	∴ U २,सामा० छेद०	संख्यया—
÷ D पञ्चेन्द्रियतिर्य-	+ K पर्याप्तचतुरिन्द्रिय*	द्यपर्याप्तत्रसान्ता,	∴ E सूक्ष्मसम्पराय,	A ८ | U ६
गोघः,	– E अपर्याप्त ,,	∴ E १०,मनोवचो-	+ V असंयम,	B ३६ | V
+ D तत्पर्याप्त०,	— L पञ्चेन्द्रियौघ	भेद०	+ L चक्षुर्दर्शनम्,*	C ६ | W ४
÷ E तदपर्याप्त०.	+ M पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय	+ C काययोगौघ,	● X अचक्षुर्दर्शनम्,	D ६ | X १
+ D तिरश्ची.	— E अपर्याप्त ,,	∴ Q औदारिक,	∴ T अवधिदर्शनम्,*	E ५० | Y ४
÷ D मनुष्यौघ,	— H ४,पृथिव्यप्तेजो-	△ E ,, मिश्रः,	+ W कृष्णलेश्या,	F ८ | Z २
+ D पर्याप्तमनुष्य,	वायुकायौघाः,	∴ E वैक्रियः,	+ Y ४,नील-कापोत-*	G ८ | & १
— E अपर्याप्तमनुष्य,	— C वनस्पतिकायौघ	+ E ,, मिश्र,	तेज पद्मलेश्या	१७०
+ D मानुषी,	— N साधारण ,, ,,	∴ E आहारक,	+ W शुक्ललेश्या,	H १०
❋ A देवगत्यौघ,	– O प्रत्येक ,, ,, ,,	+ E ,, मिश्र,	● Z २,भव्या ऽभव्यौ	I १ | ❋ ५
❋ B २,भवन-व्यन्तर०	— O ५,बादरपृथिव्य-	∴ R कार्मण,	+ T सम्यक्त्वौघ,	J २ | ★ ३२
● B सर्वार्थसिद्ध,	*प्तेजोवायुसाधार-	∴ S स्त्रीवेद,	+ T क्षायोपशमिक.	K ४ | —५०
★ B२६,ज्योतिष्काद्या	णवनौघभेदाः,	∴ M पुरुषवेद,	+ W क्षायिकम्,	L ८ | +४८
— C एकेन्द्रियौघ,	— H ५,सूक्ष्मपृथिव्या-	∴ C नपुंसकवेद,	+ E औपशमिक,	M ४ | △ ८
— F बादर ,, ,,	दिपञ्चसूक्ष्मौघाः,	∴ E अपगतवेद,	+ E सम्यग्मिथ्यात्व	N २ | ● ४
+ G तत्पर्याप्तभेद.,	+ G ३, पर्याप्तबादर-	+ E ३,क्रोध-मान-*	∴ A सासादनम्,	७०
— E तदपर्याप्त.,	पृथिव्यब्वायु०	माया. *	+ V मिथ्यात्वम्,	O ६ | १७०
— H सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ	+ J पर्याप्तबादरतेज-	∴ E लोभ,	— M सञ्ज्ञी,	P ४
+ E तत्पर्याप्तभेद,	स्काय,	+ T २,मति श्रुतज्ञाने	— C असञ्ज्ञी	Q ४
÷ E तदपर्याप्त ,,	+ E ,, ,,साधारणवन	∴ T अवधिज्ञानम्,*	△ F आहारी,	R ८
— G द्वीन्द्रियौघ,	+ G ,, प्रत्येकवन०	∴ U मनःपर्यवज्ञानम्*	∴ R अनाहारी	S ४
+ I पर्याप्तद्वीन्द्रिय,*	+ E ५,पर्याप्तसूक्ष्म-	+ V २, मतिश्रुता-		T ६
– E अपर्याप्त ,,	पृथिव्याद्या,	ऽज्ञाने,		

जघन्यकायस्थितिः– ❋ १० वर्षसहस्र० (गाथा-१७४), ★ स्वजघन्यभवस्थिति (गा-१७५-१७६-१८०-१८१), — क्षुल्लकभव = २५६ आवलिका (गा-१७५-१७६), △ त्रिसमयोनक्षुल्लकभवः (गा १७६), + अन्तर्मुहूर्तम् (गा-१७७-१७८), ∴ १ समय (गा-१८२-१८३), ● या उत्कृष्टा सैव जघन्या (गाथा-१८१)।

उत्कृष्टकायस्थितिः– A ३३ सागरोपम० (गाथा-१५२), B स्वोत्कृष्टभवस्थिति (गा-१५३-१५८-१५९-१६०), C असंख्यपुद्गलपरावर्त० (गा-१५४), D पूर्वकोटिपृथक्त्वा-ऽभ्यधिकपल्योपमत्रयम् (गा-१५५), E अन्तर्मुहू० (१५६-१५७), F अङ्गुलाऽसंख्यभाग० (गा-१६१), G संख्येयवर्षसहस्र० (१६२), H असंख्यया लोका. (गा-१६१), I संख्येयवर्ष०(गा-१६२), J सङ्ख्येयदिवस० (गा-१६३), K संख्येयमास० (गा-१६३), L साधिकसहस्रसागरोप० (गा-१६४), M सागरोपमशतपृथक्त्वं (गा-१६४), N सार्धद्वयपुद्गलपराव० (गा-१६५), O ७०कोटिकोटिसागरोप० (गा-१६५), P साधिकसागरोपमसहस्रद्वयम् (गा-१६४), Q देशोनद्वाविंशतिवर्षसहस्र० (गा-१६६), R त्रिसमय० (गा-१६६-१७१), S पल्योपमशतपृथक्त्व० (गा-१६६), T ६६ सागरोपमसाधिक० (गा-१६६),

भवस्थितिः	उत्कृष्टतः	जघन्यतः	भवस्थितिः	उत्कृष्टतः	जघन्यतः
निरयौघ	३३ सागरोप	१०००० वर्ष	महस्रार	१८ सागरोप०	१७ सागरोपम०
प्रथमा०	१ ,,	,, ,,	आनत०	१९ ,,	१८ ,,
द्वितीया	३ ,,	१ सागरोप	प्राणत	२० ,,	१९ ,,
तृतीया	७ ,,	३ ,,	आरण०	२१ ,,	२० ,,
चतुर्थी	१० ,,	७ ,,	अच्युत०	२२ ,,	२१ ,,
पञ्चमी	१७ ,,	१० ,,	प्र ग्रैवे०	२३ ,,	२२ ,,
षष्ठी	२२ ,,	१७ ,,	द्वि० ,,	२४ ,,	२३ ,,
सप्तमी	३३ ,,	२२ ,,	तृ० ,,	२५ ,,	२४ ,,
तिर्यगौघ०	३ पल्योपम०	क्षुल्लकभव०	च० ,,	२६ ,,	२५ ,,
पञ्चेन्द्रिय-			प० ,,	२७ ,,	२६ ,,
तिर्यगोघ०	३ ,,	,,	षष्ठ ,,	२८ ,,	२७ ,,
तत्पर्याप्त०	,, ,,	अन्तर्मुहू०	स० ,,	२९ ,,	२८ ,,
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०	अ० ,,	३० ,,	२९ ,,
तिरश्ची	३ पल्योपम०	अन्तर्मुहू०	न० ,,	३१ ,,	३० ,,
मनुष्यौघ	३ पल्योपम०	क्षुल्लकभव	४ अनुत्त०	३२ ,,	३१ ,,
तत्पर्याप्त० ,,	,,	अन्तर्मुहू०	सर्वार्थसिद्ध	३३ ,,	३३ ,,
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०	एकेन्द्रियौघ,	२२सहस्रवर्ष	क्षुल्लकभव
मानुषी०	३ पल्योपम०	अन्तर्मुहू०	बादर ,,	२२००० वर्ष	,,
देवौघ०	३३ सागरोप०	१००००वर्ष०	तत्पर्याप्त०	२२००० वर्ष.	अन्तमुहू०
भवनपति	साधिकसागरो	१०००० ,,	तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०
व्यन्तर०	१ पल्योपम०	१०००० ,,	सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ०	,,	,,
ज्योतिष्क	साधिकपल्यो०	$\frac{१}{८}$ पल्योप०	तत्पर्याप्त०	,,	अन्तर्मुहू०
सौधर्म०	२ सागरोप०	१ ,,	तदपर्याप्त०	,,	क्षुल्लकभव.
ईशान०	२ ,, साधिक०	१ ,, साधि०	द्वीन्द्रियौघ०	१२ वर्ष०	,,
सनत्कुमार	७ सागरोप०	२ सागरो०	तत्पर्याप्त०	१२ वर्ष०	अन्तर्मुहू
माहेन्द्र०	७ ,, साधिक०	,, साधि०	तदपर्याप्त०	अन्तमु०	क्षुल्लकभव०
ब्रह्म०	१० सागरोप०	७ सागरोप	त्रीन्द्रियौघ०	४९ दिवस	,,
लान्तक०	१४ ,,	१० ,,	तत्पर्याप्त०	४९ दिवस	अन्तर्मुहू०
शुक्र०	१७ ,,	१४ ,,	तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०

भवस्थितिः	उत्कृष्टतः	जघन्यतः
चतुरिन्द्रियौघ	६ मास०	क्षुल्लकभव०
तत्पर्याप्त०	६ मास०	अन्तर्मुहू०
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव.
पञ्चेन्द्रियौघ	३३ सागरोप०	,,
तत्पर्याप्त०	३३ सागरोप०	अन्तर्मु०
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहू०	क्षुल्लकभव०

पृथिवीकायौघादिसप्तमार्गणास्थानेषूत्कृष्टतो जघन्यतश्च सर्वथोक्तैकेन्द्रियौघादिसप्तमार्गणावज्ज्ञेया।

अप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवनस्पतिकायसत्कसप्तसप्तमार्गणास्थानेष्वप्येकेन्द्रियौघादिसप्तमार्गणावदेव । **केवलम् उत्कृष्टपदे—**

अप्कायौघ-बादराप्कायौघ-तत्पर्याप्तभेदेषु—७००० वर्ष० ।

तेजस्कायौघ—बादरतेजस्कायौघ—तत्पर्याप्तभेदत्रये—३ दिवस० ।

वायुकायौघ—बादरवायुकायौघ—तत्पर्याप्तभेदेषु—३००० वर्ष० ।

साधारणवनस्पतिकायौघ-बादरसाधारणवनस्पतिकायौघ-तत्पर्याप्तभेदेषु-अन्तर्मुहूर्तम् ।

वनस्पत्योघ०	१०००० वर्ष	क्षुल्लकभव
प्रत्येक ,,	१०००० वर्ष०	,,
तत्पर्याप्त०	१०००० वर्ष	अन्तर्मुहूर्त.
तदपर्याप्त०	अन्तर्मुहूर्त०	क्षुल्लकभव०

त्रसकायभेदत्रये सर्वथा पञ्चेन्द्रियभेदत्रयवत् । इति ॥

U देशोनपूर्वकोटि (गा-१६७), V भङ्गत्रयं, तृतीयभङ्गे देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त० (गा-१६८), W ३३ सागरोपम० यथासम्भव साधिक० (गा-१५२), X अनादिध्रुव० अनाद्यध्रुव० (गा-१६६), Y क्रमेण साधिक १०-३-२-१८ सागरोप० (गा-१७०), Z क्रमेणाऽनाद्यध्रुवाऽनादिध्रुवभङ्गौ (गा-१७०), & ६ आवलिकाः (गाथा-१७१) ।

***मतान्तरे कायस्थिति—उत्कृष्टपदे** पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-बादराग्निकायलक्षणमार्गणाचतुष्टये सङ्ख्येयवर्षसहस्राणि । पर्याप्तत्रस-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः सागरोपमसहस्रद्वयम् । नीललेश्यायाः साधिकसप्तदशसागरोपम०। कापोतलेश्यायाः साधिकसप्तसागरोपमाणि । **जघन्यपदे—**क्रोध-मान-मायामार्गणासु समयः । अवधि-मनःपर्यवज्ञानाऽवधिदर्शनसयमौघ-परिहारविशुद्धिकसंयमेष्वन्तर्मुहूर्तम् । (गाथा-१७२-१७३-१८४)

उत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रम्

काल:–	आयुर्वर्जसप्तानाम् उत्कृष्टत: समय-द्वयम्	आयुर्वर्जसप्तानाम् उत्कृष्टत: ओघवद् अन्तर्मुहू०	आयुर्वर्जसप्तानाम् जघन्यत: अन्तर्मुहूर्तम्	आयुर्वर्जसप्तानाम् जघन्यत: ओघवद् एकसमय	आयुष उभयथा एक-समय
गति		सर्व ४७		सर्व ४७	सर्व ४७
इन्द्रिय		सर्व १९		सर्व १९	सर्व १९
काय		सर्व ४२		सर्व ४२	सर्व ४२
योग	कार्मण. १	शेष १७ ★		सर्व १८	सर्व १६
वेद		सर्व ४		सर्व ४	सर्व ३
कषाय		सर्व ४		सर्व ४	सर्व ४
ज्ञान		मत्यादि ४ अज्ञान ३	मत्यादि ४	अज्ञानत्रय ३	सर्व ७
संयम०		सर्व० ७	संयमौघ सामा० छेद परिहार. देश ५	असंयम सूक्ष्मसंपरा० २	सर्व ६
दर्शन		सर्व ३	अवधि १	चक्षु अचक्षु० २	सर्व ३
लेश्या		सर्व ६		सर्व ६	सर्व ६
भव्य		सर्व २		सर्व २	सर्व २
सम्यक्त्व		सर्व ७	सम्यक्त्वौघ क्षायोप औप० मिश्र ४	क्षायिक सासादन० △ मिथ्यात्व ३	सर्व ५
संज्ञी		सर्व २		सर्व २	सर्व २
आहारी	अना १	आहा १		सर्व २	सर्व १
सर्वमार्गणा	२	१६८	१४	१५६	१६३
गाथाङ्का –	१६५	१४६	१४४-१६५	१६५	१६२

आयुषोऽनुत्कृष्टस्थिते: बन्धकालदर्शकयन्त्रम्

काल –	ओघवद् उभयथा अन्तमुहू०	जघ० एक-समय	उत्कृ० अन्त. मुहू०
गति	सर्व ४७		
इन्द्रिय०	,, १९		
काय	,, ४२		
योग	औदारिक-मिश्र १	शेष १५	
वेद	सर्व ३		
कषाय		सर्व ४	
ज्ञान	[illegible]		
संयम	,, ६		
दर्शन	,, ३		
लेश्या	,, ६		
भव्य	,, २		
सम्यक्त्व	,, ५		
संज्ञी	,, २		
आहारी	,, १		
सर्वमार्गणा	१४४	१६	
गाथाङ्का:–	१६२	१६३	

★ मिश्रयोगत्रये मतान्तरे एकसमय प्रस्तुतकाल: । △ सासादने मतान्तरेऽन्तर्मुहूर्तम् ।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

	उत्कृष्टत				जघन्यत	
काल –	ओघवद्-असंख्यपुद्-गलपरावर्त०	असंख्य-लोका	अङ्गुला-ऽसंख्यभागः	मार्गणानाम उत्कृष्टकाय-स्थितिः	ओघवद्-अन्तर्मुहूर्तम	एक समय.
गति०				सर्व० ४७		सर्व० ४७
इन्द्रिय०		एकेन्द्रियौघ. १	सूक्ष्मैकेन्द्रि-यौघ० १	बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात्पञ्चैकेन्द्रि सर्वविकल पञ्चेन्द्रियभेदा. १७	एकेन्द्रियौघ सूक्ष्मैके-न्द्रयौघ० तदपर्याप्त ३	बादरौघ तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियभेद० सर्व विकल-पञ्चेन्द्रियभेदा १६
काय०		पृथिव्यादि-पञ्चौघ० निगोदौघ० ६	पृथिव्यादिप-ञ्चसूक्ष्मौघ० ५	बादरौघ-तत्पर्याप्ता-पर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्ता-पर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायु-साधारणवनभेद सर्व प्रत्येकवन-त्रस०३१	रतौघ साधारणवनौघसूक्ष्मसाधारण-वनौघ० तदपर्याप्त० ४	सर्वपृथिव्यप्तेजोवायु प्रत्येक-वनभेद बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्तसाधा-रणवनभेद सर्वत्रस० ३८
योग०				सर्व० १८	त्रिमिश्रयोग ३★	त्रिमिश्रयोगवर्जाः शेषाः–१५
वेद०				सर्व० ४ ●		सर्व. ४
कषाय०				सर्व० ४		सर्व० ४
ज्ञान०	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान २			ज्ञानचतुष्क विभङ्ग० ५	मति-श्रुता-ऽवधि ★ मत्यज्ञा०श्रुताज्ञा० ५	मनःपर्यव० विभङ्ग० २
संयम०	असंयम० १			संयमौघ सामायिक० छेद०परिहार० सूक्ष्म० देश० ६	★ परिहार-देश० असंयम० ३	संयमौघ०सामायिक० छेदोपस्थापन० सूक्ष्म० ४
दर्शन०	अचक्षु० १			चक्षु० अवधि० २	अचक्षु०अवधि०२★	चक्षु० १
लेश्या०				सर्व० ६	अशुभा –३	शुभा –– ३
भव्य०	सर्व० २				सर्व० २	
सम्यक्त्व०	मिथ्यात्व० १			सम्यक्त्वौघ क्षायक० क्षायोप औप सासादन मिश्र० ६	सम्यक्त्वौघ क्षायिक क्षायोप औप मिश्र. मिथ्यात्व० ६	सासादन० १
संज्ञी०				सर्व० २		सर्व० २
आहारी				सर्व० २		सर्व० २
सर्वमार्गणा -	७	७	६	१५०	३१	१३६
गाथाङ्का -	१५१	१५०	१५०	१५१	१४७-४८-४६	१४६

● अवगतवेद उत्कृष्टकायस्थितिवदन्तर्मुहूर्तम्, न तूत्कृष्टकायस्थितिः ।

★ मिश्रयोगत्रयेऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु च मतान्तरेण प्रस्तुतकालः समयः ।

जघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रम् / आयुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकालदर्शकयन्त्रम्

	आयुर्वर्जसप्तानाम् उत्कृष्टतः		आयुर्वर्जसप्तानाम् जघन्यतः		आयुष उभयथा	आयुषोऽजघन्यस्थितेः उभयथा		
कालमानम्—	समय—द्वयम्	ओघवद् अन्तर्मुहूर्तम्	ओघवद् अन्तर्मुहूर्तम्	एक समय	ओघवद् एक-समय	ओघवद् अन्तर्मु०	जघ० एक-समय	उत्कृ० अन्त-र्मुहू०
गति०	निरयौघ प्रथमा च अपर्याप्त मनुष्य देवौघ भवन व्यन्तर० ६	द्वितीयपृथिव्यादिनिरयभेद सर्वतिर्यग्भेद मनुष्यौघ तत्पर्याप्त मानुषी ज्योतिष्कादिशेषदेवभेदाश्च ४१	मनुष्यौघ० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	सर्वनिरयभेद० सर्वतिर्यग्गतिभेद अपर्याप्तमनुष्य० सर्वदेवभेदाश्च० ६४	सर्व० ४७	सर्व० ४७		
इन्द्रिय०		सर्व० १९	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २	सर्वैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रि० १७	सर्व० १९	सर्व० १९		
काय०		सर्व० ४२	त्रसौघ-तत्पर्याप्तभेदौ० २	सर्वपृथिव्यादि-पञ्चकायभेद अपर्याप्तत्रसश्च० ४०	सर्व० ४२	सर्व० ४२		
योग०	कार्मण० १	कार्मणवर्जा ★ १७		सर्व० १८	सर्व० १६	औदारिक-मिश्र० १	शेष० १५	
वेद०		सर्व० ४	सर्व० ४		सर्व० ३	सर्व० ३		
कषाय०		सर्व० ४	सर्व० ४		सर्व० ४		सर्व० ४	
ज्ञान०		सर्व० ७	मत्यादि० ४ विभङ्ग० १	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	सर्व० ७	,, ७		
संयम०		सर्व० ७	असंयमवर्जं ६ ●	असंयम० १	सर्व० ६	,, ६		
दर्शन०		सर्व० ३	सर्व० ३		सर्व० ३	,, ३		
लेश्या०		सर्व० ६	शुभा० ३ ●	अशुभा० ३	सर्व० ६	,, ६		
भव्य०		सर्व० २	भव्य० १	अभव्य० १	सर्व० २	,, २		
सम्यक्त्व०		सर्व० ७	सम्यक्त्वौघ क्षायिक क्षायोपशम मिश्र० ४ ●	औपशमिक सासादन मिथ्यात्व ३	सर्व० ५	,, ५		
संज्ञी०		सर्व० २	संज्ञी० १	असंज्ञी १	सर्व० २	,, २		
आहारी०	अनाहारी० १	आहारक० १	आहारक० १	अनाहार० १	आहारी० १	,, १		
सर्वमार्गणा —	८	१६२	३९	१३१	१६३	१४४	१९	
गाथाङ्का —	१९२	१९३	१८९-९० ९१	१९१	१८७	१८७	१८८	

★ मिश्रयोगत्रये मतान्तरे समय । ● परिहारविशुद्धिक-तेज-पद्म-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु मतान्तरे समय ।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

काल.–	उत्कृष्टत				जघन्यत		
	ओघवद्-देशोना-ऽर्धपरावर्त	असंख्य-लोका	अङ्गुला-ऽसख्यभाग:	उत्कृष्टकाय-स्थिति:	ओघवद्-अन्तर्मुहूर्त०	द्विसमयन्यू-ना जघन्य-कायस्थिति:	एक समय:
गति०		तिर्यगयोघ० १		सर्वनिरय-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्य-देवभेदा ४६	सप्तमभूमि-निरयभेद० १	निरयौघ.प्रथमा अपर्याप्त-मनुष्य.देवौघ भवन व्यन्तर ६	द्वितीयपृथिव्यादिपञ्चनिरयभेद ज्योतिष्कादि-२७ देवभेद मनुष्यौघ तत्पर्याप्त मानुषी सर्वतिर्यग्भेद. ४०
इन्द्रिय०		एकेन्द्रियौघ. १	सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ० १	एकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघद्वयवर्जा० १७	पञ्चान्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २		सर्वैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १७
काय०		पृथिव्यादि-पञ्चौघ० निगोदौघ० ६	सूक्ष्मपृथिव्यादिपञ्चौघ० ५	बादरौघ-तत्पर्याप्त-पर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्त-पर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायु-साधारणवनभेद सर्व-प्रत्येकवन-त्रस० ३१	त्रसौघ-त्रस-पर्याप्त० २		पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कसर्वभेद० अपर्याप्तत्रसश्च ४०
योग०				सर्व० १८			सर्व० ★ १८
वेद०				सर्व० ४ ●	पुरुष० १		स्त्री० नपु० गतवेद० ३
कषाय०				सर्व० ४			सर्व० ★ ४
ज्ञान०		मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २		मतिज्ञानादि० ४ विभङ्ग० १	मति श्रुतज्ञाने मत्य श्रुताज्ञा४		अवधि० मन पर्यव० विभङ्ग. ३
संयम०		असंयम० १		असयमवर्ज० ६	देशसयम० असयम० २		सयमौघ० सामा० छेद० ★ परिहार० सूक्ष्म० ५
दर्शन०	अचक्षु० १ *			चक्षु० अवधि० २	चक्षु अचक्ष. २		अवधि० १
लेश्या०				सर्व० ६	अशुभा ३ शुक्ला० १		तेज.-पद्म० ★ २
भव्य०	भव्य० १ *	अभव्य० १			सर्व० २		
सम्यक्त्व		मिथ्यात्व० १		मिथ्यात्व-वर्जा. शेष० ६	सासादन-वर्जा -६		सासादन० १
संज्ञी०		असज्ञी० १		सज्ञी० १	सज्ञी० १		असज्ञी० १
आहारी				सर्व० २			सर्व० २
सर्वमार्गणा - २		१४	६	१४८	२७	६	१३७
गाथाङ्का - १९९		१९८	१९९	१९९	१९५-१९९	१९४	१९७

● गतवेद कायस्थितिवदन्तर्मुहूर्तम्, न तु कायस्थिति: । ★ त्रिमिश्रयोग-क्रोध-मान-माया-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-परिहारविशुद्धिकसयम-तेज -पद्मलेश्यामार्गणासु मतान्तरेऽन्तर्मुहूर्तम् । * सादिसान्तभङ्गे ।

कासु मार्गणास्वित्याह–"तिरियेगिं दिये" त्यादि, तिर्यग्गत्योघै-केन्द्रियौघ-साधारणवनस्पत्योघ-भेदेषु तथा पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायौघमार्गणासु, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानयोर्युगले, असंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणास्वित्येतासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कथमेतास्वेव, न पुनरन्यासु? इति चेत्, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामुत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयलोकप्रमाणत्वात्, तेषां च प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभावेनोत्कृष्टकायस्थितिं यावदजघन्यस्थितिबन्धस्यैव निर्व-र्तनादिति । अथान्यत्राह–"अङ्गुलअसंखभागो सुहुमेसु भवे" त्ति प्रस्तुतोत्कृष्टबन्धकाल: षट्स्वेकेन्द्रिय-पृथिव्यादि-वनस्पतिकायान्तेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणविरहितेषु सूक्ष्मौघभेदेषु प्रत्ये-कमङ्गुलस्याऽसंख्यभागः क्षेत्रतो भवेत्। कालतस्तु प्राग्वदवसातव्यः । "अचक्खुभवियेसु" त्ति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां च प्रत्येकम् "ओघव्व" त्ति प्रकृतबन्धकाल ओघवत् त्रिधा ज्ञातव्यः । तद्यथा–अनादिध्रुवः,अनाद्यध्रुवः, साद्यध्रुवश्च । तत्र साद्यध्रुव उत्कृष्टतो देशोनार्ध-पुद्गलपरावर्तः । उक्तश्च प्राक्—

"स य एवमणाइधुवो अणाइअधुवो य साइअधुवो य । तइओऽतमुहुत्तगुरू देसूणद्धपरियट्टोऽण्णो"॥ इति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतकालमाह–"सेसासु सगुरुकायठिई" त्ति उक्तविंशतिमार्गणा विहाय शेषास्वष्टचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतसप्तकर्मणामजघन्यस्थितेरुत्कृष्टो बन्ध-कालस्तत्तन्मार्गणाया स्वीया स्वीया प्रागुक्तोत्कृष्टकायस्थितिर्बोद्धव्य इत्यर्थः । सुगमः, नैरयिकादि-जीवेषु केषाञ्चिज्जीवानामुत्कृष्टकायस्थितिं यावज्जघन्यस्थितिबन्धस्याप्रवर्तनेनाजघन्यस्थितिबन्धस्या-ऽविरततया प्रवर्तनसम्भवात् । अत्राऽपि शेषमार्गणाऽन्तःप्रविष्टायामपगतवेदमार्गणायां 'सगुरुका-यठिई' इत्यनेन प्रस्तुतकालयुत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणे प्राप्तेऽप्ययमा व्याख्यानतोऽनुत्कृष्टस्थिति-बन्धोत्कृष्टकालवदन्तर्मुहूर्तमेवावसातव्यः, न तूत्कृष्टकायस्थितिरिति ॥१९८-१९९॥

तदेवमभिहितः शेषसप्तकर्मसत्काजघन्यस्थितेरपि द्विविधो बन्धकालः, तस्मिंश्चाभिहिते समाप्ता चतुर्थद्वारविषयभूतैकजीवाश्रयकालप्ररूपणेति ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे चतुर्थमेकजीवाश्रयकालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चममन्तरद्वारम् ॥

इदानीं पञ्चमस्यैकजीवाश्रयान्तरद्वारस्यावसरः। तत्रैकजीवाश्रयामन्तरप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धविषयां तामोघतः कुर्वन्नाह—

सत्तण्हुक्कोसाए ठिईअ लहुमंतरं मुहुत्तंतो ।
परममसंखपरट्टा अगुरूअ लहुं भवे समयो ॥२००॥
भिन्नमुहुत्तं परमं आउस्स गुरूअ अंतरं हस्सं ।
समयूणपुव्वकोडी होइ दससहस्सवासऽहिया ॥२०१॥
परममसंखपरट्टाऽणुक्कोसाए जहण्णगं णेयं ।
भिन्नमुहुत्तं परमं तेत्तीसा सागराऽभहिया ॥२०२॥

(प्रे०) "**सत्तण्हुक्कोसाए ठिईअ**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः "**लहुमंतरं**" ति बन्धस्य प्रकृतत्वात् 'लघु'-जघन्यं बन्धान्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवेदिति परेणान्वयः। **इदमुक्तं भवति**—अनन्तरोक्तकालप्ररूपणावदन्तरप्ररूपणायामप्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यभेदाच्चतुर्धा विभक्तानां स्थितीनां प्रत्येकं बन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च द्विधाऽन्तरं चिन्त्यते, तत्रैकजीवाश्रयेऽनन्तरद्वारोक्ते ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टादिस्थितिसत्के बन्धकाले समाप्ते व्युपरतस्योत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्य यावन्तं कालमतिक्रम्य नियमेन पुनः प्रारम्भो जायते, तावान् प्राङ्निष्ठितस्य पुनरारब्धस्य तत्तदुत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्यान्तरालवर्ती सर्वोऽपि कालस्तत्तदुत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमभिधीयते। पूर्वनिष्ठितस्तत्तदुत्कृष्टादिस्थितेबन्धो यावन्तं समयादिकालमनतिक्रम्य पुनर्नैव प्रारभ्यते, तावान् सर्वः कालस्तु तस्यास्तस्या उत्कृष्टादिस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं संगीयते। ओघत आयुर्वर्जमूलसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं भिन्नमुहूर्तमभिहितम्, तच्चानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालापेक्षया भावनीयम्। **तथाहि**—कस्यापि पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टेर्जीवस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे समाप्ते नियमेनानुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रवर्तते। स चानुत्कृष्टस्थितिबन्धः स्वकीयजघन्यबन्धकालमन्तर्मुहूर्तं यावदविरततया प्रवर्तत एव। तस्मिंश्च प्रवर्तमाने सति न विद्यते तावत्कालमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धप्रारम्भावकाशः, विवक्षितैककर्मण उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धयोः सममेव प्रवृत्तेर्विरोधात्। ततश्चानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धप्रायोग्ये जघन्यबन्धकालेऽतिक्रान्ते कस्यापि तादृशजीवस्य पुनरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायप्राप्तेरनुत्कृष्टस्थितिबन्धविरामेण पुनरप्युत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रवर्तयितुं लगति। एवमेतादृशजीवस्वामिकोत्कृष्टस्थितिबन्धयोर्जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं प्राप्यत इति। "**परममसंखपरट्टा**" त्ति एकजीवाश्रयं सप्तकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः 'परमम्'—उत्कृष्टं बन्धान्तरमसंख्यपुद्गलपरावर्ता भवेदित्यर्थः।

इदमप्यनन्तरद्वारोक्तसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टबन्धकालापेक्षया स्वयमेव भावनीयम्, केषाञ्चिज्जीवानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्रवर्तनात्, तदुत्तरं नियमेन प्रवर्तनाच्चेति ।

अथानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याह—"**अगुरूअ**" त्ति सप्तप्रकृतीनामगुरोः—अनुत्कृष्टायाः स्थितेः "**लहुं भवे समयो**" त्ति 'लघु'-जघन्यं बन्धान्तरं 'समयः'—समयमात्रं भवेत् । सुगमम्, प्रतिपक्षस्थितिबन्धजघन्यबन्धाद्धायाः समयमात्रत्वात् । उक्तं चानन्तरं **कालप्ररूपणायाम्**—'सत्तण्ह गुरूअ लहू कालो समयो' इति । **यद्वैतदन्यथा**ऽपि स्थितेर्जघन्यमबन्धकालमाश्रित्य भावनीयम् । **तथाहि**—उपशमश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये वेद्यमानायुषो द्विचरमसमयं वेदयन् यः कश्चिन् महात्मा ज्ञानावरणस्यानुत्कृष्टं स्थितिबन्धं करोति, न तु भवचरमसमये, तदानीं भवचरमसमय उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनस्तस्य कस्याऽपि कर्मणः स्थितिबन्धस्याभावात् । तदुत्तरसमये पुनः स कालं कृत्वाऽन्तःकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन् पूर्वनिष्ठितमनुत्कृष्टस्थितिबन्धं पुनरपि करोति । तदेवं तस्य ज्ञानावरणस्यानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं प्राप्यत इति । इत्थमेव दर्शनावरणादिविषयेऽपि यथासम्भवं भावनीयमिति । अथाऽनुत्कृष्टस्थितेरेवोत्कृष्टं बन्धान्तरं दर्शयति—"**भिन्नमुहुत्तं परमं**" ति सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः परमुत्कृष्टं बन्धान्तरं भिन्नमुहूर्तमित्यर्थः । इदं हि बन्धान्तरमुपशमश्रेणावबन्धको भूत्वा य उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपतति, तस्य महात्मनस्तत्तत्कर्मसत्कस्थितिबन्धानामबन्धकालापेक्षया भावनीयम्, न तूत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालापेक्षया, तदपेक्षयाऽबन्धाद्धायाः संख्येयस्थितिबन्धाद्धाप्रमाणत्वेन दीर्घत्वादिति ।

अथायुरधिकृत्याह—"**आउस्से**"त्यादिना, उक्तशेषस्याऽऽयुःकर्मणो 'गुरोः'—उत्कृष्टायाः स्थितेरन्तरम्-बन्धान्तरं 'ह्रस्वम्'-जघन्यम् "**समयूणपुव्वकोडी होइ दससहस्सवासऽहिया**" त्ति समयोना एका 'पूर्वकोटी'—उक्तस्वरूपाणां पूर्वाणां कोटी दशसहस्रवर्षाधिका भवतीत्यर्थः । **इयमत्र भावना**—आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धो वेद्यमानपूर्वकोटिस्थितिकायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागस्य प्रथमसमये वेद्यमाने त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं देवायुर्नरकायुर्वा बध्नतो जीवस्यैकस्मिन् समय एव लभ्यते, न पुनर्द्वितीयादिसमये, तदानीमबाधायाः परिगलितत्वेनोत्कृष्टाबाधासंगतस्योत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्यालाभाद् । एतच्च प्राक् प्रपञ्चितमेव । इत्थमुत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकमायुर्बद्ध्वा पुनरप्युत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धो जघन्यतोऽपि समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटीकालेऽतिक्रान्त एव सम्भवति, न पुनस्तदर्वाक्, ओघोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्ध-वेदनयोर्भिन्नभिन्नगतावेव भावात् । **किमुक्तं भवति**—ओघोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकस्तिर्यग् मनुष्यो वा भवति, तच्चायुर्नारकतया देवतया वोत्पद्य वेदयति, ततश्च निरन्तरे भवद्वये तद्बन्धौ न प्राप्येते, **किन्तु सान्तरभवद्वय एव, इत्यतो** जघन्यमप्यन्तरमुक्तप्रमाणं जायत इति । **अत्र नोदकः**—ननु सान्तरभवद्वये तद्बन्धेऽपि कथमेतावत्सङ्गच्छेत्, यत उत्कृष्टस्थितिकमायुर्बद्ध्वा तत्र नारकतया

देवतया वोत्पद्य तावदायुर्वेदयित्वा ततश्च्युत्वा पुनरपि प्राग्वदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भात्पूर्वं जघन्यतोऽपि समयोनपूर्वकोटयभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकालस्यापसरणाद्? इति चेद् उच्यते, सत्यमेतत्, यदि सर्वैरपि जीवैर्यथाबद्धस्थितिकमायुर्वेद्येत। न चैतदेवम्, यत उत्कृष्टस्थितिकं बद्धमपि तत् पश्चादपवर्तितं सत् कृष्णवासुदेवदृष्टान्तेन कैश्चिन्न्यूनमपि वेद्यते। उक्तं च श्रीपञ्चमाङ्गप्रथमशतके–

'जीवे णं भंते ! सयंकाउं आउयं वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ, जहा दुक्खेणं दो दण्डगा तहा आउए वि दो दण्डगा एगत्तपुहुत्तीआ, एगत्तेणं जाव वेमाणिआ, पुहुत्तेण वि तहेव'। इति।

अयम्भावः–एकजीवमाश्रित्य नानाजीवानाश्रित्य च वैमानिकपर्यन्तेषु चतुर्विंशतिदण्डकेषु 'दुःखं'-कर्म तद्वेदनवत्स्वबद्धमायुः कश्चिद् वेदयति कश्चिन्न वेदयति। किमुक्तं भवति–कश्चिद्यथाबद्धमुत्कृष्टादिस्थितिकं वेदयति, अपवर्तनाकरणतोऽनपवर्तितत्वेन यथाबद्धमुदितत्वात्। कश्चित्पुनरुत्कृष्टादिस्थितिकं बद्ध्वा पश्चादपवर्तनाकरणेनापवर्तितं-ह्रस्वीकृतस्थितिकं वेदयति, न तु यथाबद्धमुत्कृष्टादिस्थितिकम्, यथाबद्धोत्कृष्टादिस्थितिकत्वेन तस्यानुदीर्णत्वात्। तथा च तट्टीका—

'अथायु प्रधानत्वान्नारकादिव्यपदेशस्यायुराश्रित्य दण्डकद्वयम्, एतस्य चेयं वृद्धोक्तभावना--यदा सप्तमक्षितावायुर्बद्धं, पुनश्च कालान्तरे परिणामविशेषात्तृतीयधरणीप्रायोग्यं निर्वर्तितं वासुदेवेनेव, तत्तादृशमङ्गीकृत्योच्यते-पूर्वबद्धं कश्चिन्न वेदयति, अनुदीर्णत्वात्तस्य। यदा पुनर्यत्रैव बद्धं तत्रैवोत्पद्यते, तदा वेदयतीत्युच्यते, तथैव तस्योदितत्वादिति॥' इति।

इत्थं हि यः कश्चित्तिर्यग् मनुष्यो वोत्कृष्टाबाधायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं निरयायुर्बद्ध्वा पश्चात् कालान्तरे विशुद्धाध्यवसायमवाप्य तं ह्रस्वं दशसहस्रवर्षस्थितिकं करोति, ततश्चानुक्रमेण वेद्यमानायुःक्षये दशसहस्रवर्षस्थितिकनारकतयोत्पद्य यथाकालं पूर्वकोटिवर्षस्थितिकं तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा बद्ध्वा क्रमेण तत्रोत्पद्य च तस्य पूर्वकोटिस्थितिकस्य वेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागे च वेदयितुमारब्धे तत्प्रथमसमये उत्कृष्टाबाधायां पुनरपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमोत्कृष्टस्थितिकमायुर्बध्नाति, एतादृशसान्तरभवद्वयकृतयोरायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरं समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटिप्रमाणं प्राप्यते, समयोनपूर्वकोटितृतीयभागः प्रथमभवसत्कः, दशवर्षसहस्राणि मध्यवर्तिनिरयभवसत्कानि, पूर्वकोटीतृतीयभागद्वयं तु तृतीयभवसम्बन्धि, एतेषां सङ्कलने निरुक्तप्रमाणलाभात्। इदं ह्यन्तरमुत्कृष्टस्थितिकदेवायुर्बन्धद्वारेण तु स्वयं भावनीयमिति। एतच्चाऽऽयुर्बन्धोत्तरं वेद्यमानायुषोऽपवर्तनामनभ्युपगम्योक्तम्। तदभ्युपगमापेक्षया तु मूलोक्तान्तरात्किञ्चिदूनपूर्वकोटितृतीयभागेन हीनं स्वयमभ्यूह्यमिति।

अथायुषो उत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह–"परममसंखपरट्टा" त्ति आयुषो गुरुस्थितेः 'परमम्' उत्कृष्टं बन्धान्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता भवतीत्यर्थः। इदं हि सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरवद् भावनीयमिति। आयुष एवानुत्कृष्टायाः स्थितेर्द्विविधं बन्धान्तरमाह–"णुक्कोसाए" इत्यादिना, "णुक्कोसाए" इत्यत्र लुप्ताकारस्य दर्शनाद् अनुत्कृष्टायाः प्रकृतस्यायुषः स्थितेः "जहण्णगं णेयं" ति जघन्यमेव जघन्यकं–ह्रस्वं बन्धान्तरं ज्ञेयमित्यर्थः।

कियज्ज्ञेयमित्याह–"**भिन्नमुहुत्तं**" ति भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तम्। इदं हि पारभविकायुर्बन्धप्रायोग्यायां द्विचरमाद्धायां चरमाद्धायां च वारद्वयमायुर्बन्धप्रायोग्याध्यवसायानवाप्य द्विरायुर्बन्धं कुर्वतां जीवानां तस्यायुर्बन्धद्वयस्यान्तरालप्रमाणं बोद्धव्यम्, न पुनर्देशोनक्षुल्लकभवप्रमाणम्, क्षुल्लकभवापेक्षया यथोक्तान्तरस्यैव लघुत्वात्। कुतः? इति चेद्, अपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि नानाऽऽकर्षैरायुर्बन्धस्याभिमतत्वेन जघन्यस्थितिकापर्याप्तकभवत्रिभागादपि न्यूनत्वादिति। "**परमं**" ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेः 'परमम्'-उत्कृष्टं बन्धान्तरं "**तेत्तीसासागराऽब्भहिया**" त्ति अभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः। इदं हि यः कश्चिन्मनुष्यस्तिर्यग्जीवो वा स्वीयवेद्यमानपूर्वकोटिवर्षायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागद्वितीयसमयादन्तर्मुहूर्तं यावदनुत्कृष्टस्थितिकं देवायुर्निरयायुर्वा बद्ध्वा कालान्तरे निरयादित्वेनोत्पद्य च पूर्वबद्धं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं निरयाद्यायुर्वेदयन् क्रमेणाऽवाप्तायामायुर्बन्धप्रायोग्यायां चरमायामसंक्षेप्याद्धायां प्रविशन्नेव यदा पारभविकायुर्बन्धं करोति, न तु तदर्वाक्, तदा तेन जीवेन पूर्वकोटीमनुष्यादिभवतृतीयभागावशेषे कृतस्याऽऽयुर्बन्धस्य तथाऽनन्तर उत्कृष्टस्थितिकनिरयादिभवे आयुर्बन्धप्रायोग्यायां चरमबन्धाद्धायां कृतस्यायुर्बन्धस्य यदन्तरालमन्तर्मुहूर्तद्वयोनपूर्वकोटितृतीयभागाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं तदपेक्षया विज्ञेयमिति ॥२००-२०१-२०२॥

तदेवमभिहितं मौलानामष्टानां कर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टद्विविधं बन्धान्तरमोघतः। साम्प्रतं तदेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तकर्मणां दर्शयन्नाह—

सव्वेसु जोगेसु गयवेए चउकसाय-णाणेसु।
संयम-सामइएसु छेए परिहार-देसेसु ॥२०३॥
सुहुमो-हि-सम्म-वेअग-उवसम-सासाण-मीस-ऽणाहारे।
सत्तण्ह अंतरं णो उक्कोसाए ठिईअ भवे ॥२०४॥

(प्रे०) "**सव्वेसु**" इत्यादि, सर्वेषु 'योगेषु' मनोयोग-वचोयोग-काययोगसत्केष्वष्टादशस्वपि मूलोत्तरयोगभेदेष्वित्यर्थः। तथा 'गतवेदे'-ऽपगतवेदमार्गणाभेदे "**चउकसायणाणेसु**" ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् क्रोधादिषु चतुर्षु कषायभेदेषु मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानमार्गणाभेदेषु चेत्यर्थः। तथा संयमौघ-सामायिकसंयममार्गणयोः "**छेए**" त्ति छेदोपस्थापनसंयमे, तथैव परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणयोरित्यर्थः। अन्या मार्गणाः संगृहितुं प्राह–"**सुहुमोहि**" इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्रदृष्टय-नाहारकमार्गणाभेदेष्वित्येतासु चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। एतासु प्रत्येकं किमित्याह–"**सत्तण्ह अंतरं णो**"इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेः '**अंतरं**'

ति बन्धान्तरं न भवेदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति–यस्यां मार्गणायामुत्कृष्टादिस्थितिबन्धः स्वप्रतिपक्षेणानुत्कृष्टादिस्थितिबन्धेन स्थितेरबन्धेन वाऽन्तरितः सन् जघन्यतोऽपि द्विः प्राप्यते, तस्यां मार्गणायां तस्या उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धान्तरं लभ्यते । प्रकृते च योगभेदकषायभेदान् विवर्ज्य शेषेष्वपगतवेद-मतिज्ञानादिमार्गणासु वेदोदय-मिथ्यात्वाद्यभिमुखजीवानामेव मार्गणाचरमस्थितिबन्धे उत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, तेषामेव स्वस्वमार्गणागतशेषजीवापेक्षयाऽधिकसंक्लिष्टत्वात् । ते चोत्कृष्टस्थितिबन्धं कृत्वाऽनन्तरमेव प्राग् यस्याभिमुखा आसन्, तं वेदोदय-मिथ्यात्वादिकं प्राप्नुवन्ति; तथा च सति तेषां प्रकृतमार्गणाया एव विच्छेदो जायते । इत्येवमपगतवेद-मतिज्ञानादिषु योगकषायवर्जमार्गणाभेदेषु मार्गणाविच्छेदादर्वाग्भाविचरमस्थितेर्बन्धे सकृदेवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावाद् उत्कृष्टस्थितिबन्धद्वित्वनिबन्धनमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरं न लभ्यते । मनोयोगादियोगमार्गणाभेदेषु तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा एव । तेषां च मनोयोगादीनां प्रत्यन्तमुहूर्तं परावृत्तिर्जायते । तथा च सति संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां मनोयोगादितत्तन्मार्गणासु निरन्तरमवस्थानं स्वल्पमेव भवति । तावति च ह्रस्वकाले तत्स्वामिभिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवैर्द्विरुत्कृष्टस्थितिबन्धः कर्तुं नैव पार्यते, ततश्च स्वल्पावस्थानप्रयुक्तः प्रकृतान्तरस्याऽभाव एव तासु भवतीति ॥२०३-२०४॥ तदेवं यासु मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धान्तरस्याऽसम्भवस्तासु तत्प्रतिषिध्य साम्प्रतं यासु तत्सम्भवस्तासु तज्जघन्यादिभेदेन दर्शयन्नाह—

सेसासु मुहुत्तंतो लहु गुरु तिपणिंदितिरियमणुसेसुं ।
कोडिपुहुत्तं पुव्वा अयराऽट्ठार सुर-सुक्कासुं ॥२०५॥

(प्रे०) "**सेसासु मुहुत्तंतो**" इत्यादि, अनन्तरं "सव्वेसुं जागेसुं" इत्यादिगाथाद्वयेऽभिहितमार्गणा विवर्ज्य शेषासु निरयगत्योघादित्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं "**मुहुत्तंतो लहु**" त्ति सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थिते'र्लघु'-जघन्यं बन्धान्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवतीति शेषः । तत्रैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वात् प्रकृतान्तरमप्योघवदन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते । निरयगत्योघादिमार्गणासु यद्यपि सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयस्तथाप्यसौ कालकरणेनान्यथा वा मार्गणापरावृत्तेरर्वाग् मार्गणाचरमसमयप्रारब्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धमपेक्ष्य प्राप्यते, स च मार्गणाचरमसमयरूपोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यः समयमात्रकालः प्रस्तुतान्तरप्रयोजको भवितुं नाऽर्हति, तस्य मार्गणाकालभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयमध्यवर्तित्वाभावात् । यतो यः कश्चिदनुत्कृष्टस्थितिबन्धो मार्गणाकालभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयमध्ये प्रवर्तते, स स्वकीयप्रवृत्तिकालमपेक्ष्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्य प्रयोजको भवति । निरयगत्योघादिमार्गणासु तादृशः स्थितिबन्धो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तकालिनः, अतो निरयगत्योघादिषु सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालस्य समयमात्रत्वेऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं तु समयं नैव प्राप्यते, किन्त्वन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यत इति

तथैवाभिहितमिति । एतास्वेव शेषमार्गणासु प्रकृतान्तरमुत्कृष्टतः कियद्भवतीत्येतद्दिदर्शयिषुः क्रमेणाह–"गुरु तिपणिंदि"त्यादिना, सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेगुरु-उत्कृष्टं बन्धान्तरम् "तिपणिंदितिरियमणुसेसु" ति त्रिशब्दस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्ययोः प्रत्येकं योजनाद् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्चापर्याप्तभेदवर्जास्त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यभेदाश्चैतेषु षट्सु मार्गणाभेदेषु "कोडिपुहुत्तं पुव्वा" त्ति कोटिपृथक्त्वं पूर्वाणि,पूर्वकोटिपृथक्त्वमित्यर्थः । "पुव्वा" इत्यत्र पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रं भवति । यदाहुः कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वप्राकृतलक्षणे "लिङ्गमतन्त्रम् (सि०हे० ८।४।४४५) इति।

इयमत्र भावना–षण्णां उक्त मार्गणाभेदानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकपल्योपमत्रयमाना भवति । उक्तं चानन्तरमेव कालद्वारे—"तिपणिंदियतिरियाणं तिणराणं य पलिओवमा तिण्णि । अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ॥" १५५॥ इति । तत्रैषा कायस्थितिः "पचिंदियतिरिनराणं सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा" इति, वचनात् नानाभवग्रहणैः प्राप्यते, न पुनर्निरयगत्योघादिमार्गणावदेकेनैव भवेन । तत्राप्युत्कृष्टकायस्थितिमतिवाहयन्तो जीवाः संख्येयवर्षस्थितिकान् नानाभवान् प्रागेव कृत्वा पश्चाद् एकं त्रिपल्योपमस्थितिकं भवं कुर्वन्ति, न पुनः पूर्वमेव मध्ये वा । कुतः ? पूर्वं मध्ये वाऽसंख्येयवर्षस्थितिकभवकरणे तेषामुत्कृष्टकायस्थितेरेवाऽनवाप्तेः । ननु पश्चात्संख्येयवर्षस्थितिकान् नानाभवान् कुर्वन्त एते प्रकृतमार्गणाया उत्कृष्टां कायस्थितिं कस्माद् न पूरयन्ति ? उच्यते,"नरतिरि असंखजीवि सव्वे नियमेण जंति देवेसु" इति नियमादसंख्येयवर्षस्थितिकभवादुत्तरं तेषां देवगतावेवोत्पत्त्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिमार्गणातो बहिर्भाव एव जायते, ततश्च नास्ति प्रस्तुतमार्गणास्वेव निरन्तरं पश्चात्संख्येयवर्षस्थितिकनानाभवकरणावकाशः । किञ्च प्रकृततत्तन्मार्गणागतोत्कृष्टकायस्थितिनिर्वाहकानामपि जीवानां चरमे त्रिपल्योपमप्रमाणेऽसंख्यवर्षस्थितिके भव उत्कृष्टस्थितिबन्धो न जायते । कुतः ? तेषां युग्मित्वेन स्वभावत एव मन्दकषायित्वात् । उक्तं च लोकप्रकाशे युग्मिस्वरूपप्रदर्शनावसरे श्रीमन्महोपाध्यायविनयविजयगणिपादैः–'तनुक्रोधमानमायालोभदोषा स्वभावत ॥७१॥'इति । इत्थं चोत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमप्यन्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वमेव लभ्यते, न पुनर्निरयगत्योघादिवत्स्वीयस्वीयदेशोनकायस्थितिप्रमाणम्, प्रथमोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य कायस्थितेः प्रारम्भावस्थायां भावेऽपि द्वितीयवाराभ्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य त्रिपल्योपमकायस्थित्यवशेषात्पूर्वमेव सम्भवादिति ।

"अयराऽट्ठार सुरसुक्कासु" ति 'अतराः'–सागरोपमाण्यष्टादश सप्तप्रकृतिमत्कोत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरं भवतीति प्रक्रमाद्गम्यते । कस्यामित्याह–"सुरे"त्यादि, तत्र "सुर" त्ति देवगत्योघमार्गणायां तथा शुक्ललेश्यामार्गणायामित्येतयोः प्रत्येकमित्यर्थः । अयम्भावः–यद्यपि सामान्यत उत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तत्स्वामिनस्तत्तन्मार्गणायामुत्कृष्टावस्थानलक्षणोत्कृष्टकायस्थित्यधीनम्, ततश्च बहुषु मार्गणासु तद्देशोनकायस्थितिप्रमाणं प्राप्यते, तथापि कतिपय-

मार्गणास्वनन्तरोक्तनीत्या तद्धीनमपि लभ्यते, प्रकृतेऽपि द्वयोर्मार्गणयोरुत्कृष्टकायस्थितिर्यद्यपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तथापि तयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न उत्कृष्टकायस्थितिका जीवाः, देवगत्योघमार्गणायामष्टमकल्पान्तानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, शुक्ललेश्यामार्गणायामपि नवमकल्पान्तानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च। तत्राप्यधिकस्थितिका-ऽधिकतरस्थितिकानां शुक्ललेश्याकदेशानां प्रशस्ततर-प्रशस्ततमशुक्ललेश्यत्वेन प्राणतकल्पादिदेवानामिव कदाप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो न जायते, किन्तु ये नवमकल्पगता ह्रस्वस्थितिका देवा त एवोत्कृष्टस्थितिबन्धं निर्वर्तयन्ति, ते च यदाऽन्तर्मुहूर्तं त्यक्त्वा भवप्रारम्भे प्रान्ते च वारद्वयमेवोत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्ति, तदा मूलोक्तमष्टादशसागरोपमप्रमाणमन्तरं प्राप्यते, तच्चान्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेन स्तोकमेव हीनमिति मूलेऽनुक्तमपि स्वयमेव हीनं द्रष्टव्यम्, देशेन हीनाधिक्यस्य लाघवार्थं मूलेऽदर्शितत्वात्। **तच्चेत्थं भाव्यते**—यथा-संख्यमुत्कृष्टजघन्यस्थितिकानां सहस्रारा-ऽऽनतकल्पदेवानामपर्याप्तावस्थायां भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसम्भवात् तदुत्तरजातप्रथमोत्कृष्टस्थितिबन्ध-भवचरमसमयकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरमेव प्रकृतोत्कृष्टान्तरं भवति, तच्चान्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनान्यष्टादशसागरोपमाणि। यद्वा-शुक्लेश्यायां **स्वामित्वद्वारे** उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः 'सुइलाअ आणतसुरो मिच्छो वा' इत्यादि-गाथोक्तव्याकारेणानतादिकल्पवासिनोऽपि दर्शिताः, अतस्तानपेक्ष्य प्रकृतान्तरमुक्तनीत्या तत्र मूलोक्ताद-धिकमपि द्रष्टव्यमिति। इत्थमेवान्यत्रापि मूले सामान्यतोऽभिहितान्यन्तराण्यन्तर्मुहूर्तादिलक्षणैकदेशेनोनान्यधिकानि वा यथासम्भवं स्वयमेव द्रष्टव्यानिति ॥२०५॥ अथान्यत्र प्रकृतान्तरमाह—

णेयं असंखलोगा एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसुं।
अंगुलअसंखभागो होइ छसुहुमोघभेएसुं ॥२०६॥
ओघव्व अणाणदुगे अयता-ऽचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेसु।

(प्रे०) "**णेयं असंखलोगा**" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलम् "**असंखलोग**" त्ति क्षेत्रतोऽसंख्येयलोकप्रमाणम्, कालतस्त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। एवम् "**अंगुलअसंखभागो**" इत्यत्रापि क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्यभागप्रमाणम्, कालतस्तु प्राग्वदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव बोद्धव्याः, नवरं पूर्वापेक्षयाऽमूरसंख्यभागगता इति। क्षेत्रतस्तु प्रतिसमयप्रदेशापहारलक्षणा भावना प्राग्वद् द्रष्टव्या। अत्रैकेन्द्रियौघ-निगोदौघ-पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तौघरूपासु सप्तमार्गणास्वसंख्यलोकप्रमाणमन्तरं तथा षट्स्वेकेन्द्रियपृथिव्यादिसाधारणवनस्पतिकायान्तेष्वौघिकेषु सूक्ष्ममार्गणाभेदेषु प्रत्येकमङ्गुलासंख्यभागप्रमाणं मत्यज्ञानादिसप्तमार्गणाभेदेष्वोघवदसंख्यपुद्गलपरावर्तप्रमाणं च प्रकृतायाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरम्- 'जेट्ठो असंखलोगा एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसुं। अंगुलअसंखभागो होइ छसुहुमोघभेएसुं ॥१५०॥ ओघव्व अणाणदुगे अयता-ऽचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेसुं।' इति ग्रन्थेनोक्तमनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालमपेक्ष्य भावनीयमिति ॥२०६॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतान्तरमार्याऽर्धेनाह—

सेसासु देसूणा सगसगकायट्ठिई परमा ॥२०७॥

(प्रे०) **"सेसासु"** इत्यादि, सुगमम् । नवरं **"सेसासु"** ति "सव्वेसुं जोगेसु" इत्यादिगाथाद्वये प्राक्प्रतिषिद्धप्रकृतान्तराश्चत्वारिंशन्मार्गणास्तथा "गुरु तिपणिंदितिरियमणुसेसु"मित्यादिनाऽनन्तरमभिहितप्रकृतान्तरा अष्टाविंशतिमार्गणा विहाय शेषासु द्व्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं स्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः । तत्र शेषमार्गणा नामत इमा.—सर्वे निरयगतिभेदाः, देवगत्योघभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्वनपत्यादिदेवगतिभेदाः, तिर्यग्गत्योघा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदौ, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, बादरैकेन्द्रियोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियरूपाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, ओघ-सूक्ष्मौघभेदद्वयवर्जा बादरौघ-बादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्च पृथिवीकायभेदाः, तथैव पञ्चाप्कायभेदाः, पञ्च तेजस्कायभेदाः, पञ्च वायुकायभेदास्तथा पञ्च साधारणवनस्पतिकायभेदाः, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्तथैव त्रयस्त्रसकायभेदाः, स्त्र्यादयस्त्रयो वेदमार्गणाभेदाः, विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-कृष्णादिपञ्चलेश्या-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । भावना तु पूर्ववत्, नवरं सर्वमार्गणासूत्कृष्टकायस्थितिरन्तमुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोना द्रष्टव्या । तत्राप्यन्तमुहूर्तमुत्कृष्टस्थितिबन्धकालादिसत्कं कायस्थितेः, प्रारम्भभागसम्बन्धि चरमभागसम्बन्धि च समुदितं सद् दीर्घं ह्रस्वं च यथासम्भवं वर्ज्यम्, न पुनः सर्वमार्गणासु तुल्यमेव । **तथाहि**—निरयगत्योघमार्गणाभेदे कश्चिदुत्कृष्टस्थितिकः सप्तमपृथिवीनैरयिकजीवस्तत्रोत्पद्याऽपर्याप्तावस्थाया ऊर्ध्वमुत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभ्य तं समापयति, ततः प्रभृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं प्रवर्तते, तच्च तावत्प्रवर्तते, यावदसौ पुनरपि भवचरमसमय उत्कृष्टस्थितिबन्धं प्रारभते । एवं तस्य मार्गणायाश्चरमभागसम्बन्ध्येकसमयस्तथाऽऽप्रारम्भभागसम्बन्ध्युत्कृष्टस्थितिबन्धसमाप्तिं यावद् निरयभवसत्को यावान् कालो लङ्घितस्तावदन्तमुहूर्तं च वर्जनीये, ताभ्यां हीनं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं निरयौघे उत्कृष्टस्थितिबन्धयोरुत्कृष्टान्तरं भवति । एवमेवान्यनिरयगत्यादिमार्गणाभेदेष्वपि बोद्धव्यम् । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणाभेदे तु मार्गणायाः प्रारम्भभागसत्कान्तमुहूर्तमिव मार्गणायाः प्रान्तभागसम्बन्ध्यप्यन्तमुहूर्तकालो वर्जनीयः, न पुनर्निरयगत्योघादिवत्समयमात्रः, मार्गणान्तराभिमुखानामपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां भवचरमान्तमुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्रवर्तनात्, प्रागेवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावे तूत्कृष्टस्थितिबन्धकालस्य तदुत्तरवर्तिकालस्य चान्तरकालबहिर्भावाच्चेति । इत्थमेवाऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायमार्गणादावपि यथासम्भवं कायस्थितिसत्कं चरमान्तमुहूर्तमपि वर्ज्यमिति ॥२०७॥

तदेवं दर्शितमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टद्विविधमपि बन्धान्तरमादेशतः ।

साम्प्रतं तासामेव सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेस्तत्प्रचिकटयिषुरादौ यासु मार्गणासु तन्न सम्भवति, तासु प्रतिषेधयन् यासु सम्भवति, तासु पूर्ववद्दर्शयंश्चाह गाथात्रयम्—

कम्मण-सामइएसुं छेए परिहार-देस-सुहुमेसुं ।
वेअग-सासाणेसुं मीसा-ऽणाहारगेसुं च ॥२०८॥
णो अंतरं ठिईएऽणुक्कोसाए तिमिस्सजोगेसुं ।
णत्थि अहवा जहण्णं समयो परमं मुहुत्तंतो ॥२०९॥
अवगयवेअम्मि तहा मणपज्जव-संयमेसु लहुमियरं ।
णेयं भिन्नमुहुत्तं सेसासुं होइ ओघव्व ॥२१०॥

(प्रे०) "कम्मणसामइएसु"मित्यादि, कार्मणकाययोग-सामायिकसंयमयोः, छेदोपस्थापनसंयमे, परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु, वेदकसम्यक्त्व-सासादनयोर्मिश्रा-ऽनाहारकमार्गणयोश्चेत्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु किमित्याह— "णो अंतरं ठिईएऽणुक्कोसाए" त्ति सप्तमूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः "अंतरं" ति बन्धान्तरम् "णो"त्ति न भवतीत्यर्थः । सुगमम् । भावना तूत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरप्रतिषेधवत्कार्या, प्रकृतमार्गणासूत्कृष्टस्थितिबन्धवदनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्येकं जीवमपेक्ष्यैकदैव भावात् । इदमुक्तं भवति—एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धसमाप्त्या सममेव सामायिकसंयमादितत्तन्मार्गणाऽपि मार्गणान्तरतया परावर्तते, ततश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धेनान्तरितोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि द्विर्न प्राप्यते, तदभावे च कुतोऽन्तरं लभ्येत, न कुतश्चिदपि, अन्तरस्य प्रतिपक्षस्थितिबन्धादिद्वयाधीनत्वादिति । ननु अपगतवेदादिमार्गणास्वप्युत्कृष्टस्थितिबन्धादनन्तरमेव मार्गणाविच्छेदादनुत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धेनान्तरितो न भवति, तत्कुतस्तास्वपि प्रकृतान्तरं न प्रतिषिद्धम् ? इति चेद्, उच्यते, अपगतवेद-मतिज्ञानादिमार्गणासु मार्गणाप्रान्त एवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावेनाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदनन्तरितो भवति, तथाप्यसावुपशान्तमोहगुणस्थानकसत्केनाऽबन्धकालेनान्तरितो भवति, तथा च सत्यन्तरं लभ्यते, अभिहितं च प्राग् यस्यां मार्गणायां स्वप्रतिपक्षस्थितिबन्धेन स्थितेरबन्धेन वाऽन्तरितः सन्नुत्कृष्टादिस्थितिबन्धो द्विः प्राप्यते तस्योत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्यान्तरं लभ्यत इत्यतोऽपगतवेदादिमार्गणास्वेकतरप्रकारेणापि तल्लाभादुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवन्न निषिद्धं प्रस्तुतान्तरमिति । कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोस्तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टतोऽपि समयद्वयमात्रमवस्थानाज्जघन्यतः समयत्रयाधीनमन्तरमपि न सम्भवतीति । अथ यासु मार्गणासु मतद्वयमभिप्रेत्य प्रस्तुतान्तरस्य भावाभावौ तासु तथैव दर्शयन्नाह—"तिमिस्सजोगेसु" इत्यादिना, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणासु तिसृषु मिश्रयोगमार्गणासु

प्रत्येकं "णत्थि" त्ति शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वाकमयम एव सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धं स्वीकुर्वतां नास्ति बन्धान्तरम्,उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सामायिकादिमार्गणातन्मार्गणाप्रान्ते सकृदेवभावेन स्थितेरबन्धस्यासम्भवेन चानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकदैव लाभात्। "अहवा जहण्णं समयो परमं मुहुत्तंतो" त्ति अथवा प्रोक्तान्यमतेन सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धान्तरं जघन्यं 'समयः'-समयप्रमाणं भवति,'परमम्'-उत्कृष्टं तु तद् 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः। सुगमम्। तत्तन्मार्गणाया द्विचरमादिसमयेषु समयमेकमुत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतां प्रकृतान्तरं समयप्रमाणं लभ्यते, अन्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतां त्वन्तर्मुहूर्तमानं तत्प्राप्यत इति। अथ यत्र स्थितेरबन्धकालेनान्तरितः सप्तानुत्कृष्टस्थितिबन्धो द्विः प्राप्यते, तत्र तदपेक्षया लभ्यमानमन्तरं दर्शयन्नाह-"अवगयवेअम्मि" इत्यादिना, अपगतवेदमार्गणायां तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोरित्येतासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः "लहुमियरं" त्ति 'लघु' जघन्यं 'इतरम्'-उत्कृष्टं चोभयविधमपि बन्धान्तरं "णेयं भिन्नमुहुत्तं" त्ति भिन्नमुहूर्तम्-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयमित्यर्थः। इदं ह्युपशान्तमोहगुणस्थानककालप्रमाणं लभ्यते, तत्रापि मोहनीयानुत्कृष्टस्थितेस्तु तत् सविशेषम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके मोहनीयस्य बन्धाभावेन सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकालद्वयस्याऽपि प्रकृतान्तरे प्रविष्टत्वात्। विस्तरतस्तु स्वयमेव भावनीयम्। ननु जघन्यतोऽपि कथमन्तर्मुहूर्तमेवोच्यते? भण्यते-उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपततामेव तल्लाभात्। नन्वुपशान्तमोहगुणस्थाने समयमात्रमवस्थाय कालं कुर्वतां तत्समयमात्रमपि लभ्येतेति शङ्क्यम्, तादृशजीवानां देवगतावुत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाया एव बहिर्भावेन समयमात्रस्याप्यन्तरस्याऽलाभादिति।

अथशेषमार्गणासु प्रकृतान्तरमतिदिशन्नाह-"सेसासु होइ ओघव्व" त्ति "कम्मणमीसाहारएसु"-मित्यादिना निषिद्धाधिकृतान्तरा दशमार्गणास्तथौदारिकादिमिश्रयोगमार्गणात्रयमनन्तरोक्ताऽपगतवेदादिमार्गणात्रयञ्च विहाय शेषासु निरयगत्योघादिचतुःपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरम् "होइ ओघव्व" त्ति ओघवज्जघन्यत एकसमय उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः। तत्र निरयगत्योघमार्गणाभेदे सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालेनैकसमयेनान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरं जघन्यतो लभ्यते, आन्तर्मुहूर्तिकेनोत्कृष्टस्थितिबन्धेनान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरं तूत्कृष्टपदे प्राप्यते। इत्थमेव मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्यमानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्यभेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा विहाय शेषसर्वमार्गणास्वपि भावनीयम्। मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु तु जघन्यमुत्कृष्टं द्विविधमप्यन्तरं स्थितेरबन्धकालान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोरन्तरालमपेक्ष्यौघिकभावनावद्भावनीयम्, न पुनरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालमपेक्ष्य, तदपेक्षया जघन्योत्कृष्टैकतरान्तरस्याऽप्यनुत्पत्तेः। कुतोऽनुत्पत्तिरिति चेत्? मतिज्ञानादिमार्गणासु मिथ्यात्वाद्यभिमुखा-

नामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धभावेनोत्कृष्टस्थितिबन्धेन सममेव मतिज्ञानादिमार्गणानामपि विच्छेदादिति । मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणासु तु सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धान्तरं निरयगत्योघादिवदुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालापेक्षया, मतिज्ञानादिमार्गणावत्समयमात्रा-ऽबन्धकालापेक्षया वा भावनीयम्, केवलं मनुष्यगत्योघादिमार्गणात्रय उत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यकालापेक्षयैव । एतासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासूत्कृष्टान्तरं त्वोघवत् स्थितेरबन्धकालमपेक्ष्यैव भाव्यम्, न पुनर्निरयगत्योघादिवदुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टकालापेक्षया, उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वेऽप्युपशान्ताद्धापेक्षया लघुत्वादिति ॥२०८-२०९-२१०॥

तदेवमभिहितमादेशतोऽपि सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टयोर्द्विविधयोः स्थित्योः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमपि बन्धान्तरम् । साम्प्रतमवशेषस्यायुषस्तद्दिदर्शयिषुरुत्कृष्टस्थितिविषयकं दर्शयन्नाह—

सव्वणिरयदेवेसुं तिरिये तिपणिंदितिरियमणुसेसुं ।
पणमणवय-कायेसुं ओराल-विउव्वजोगेसुं ॥२११॥
आहारदुगम्मि तहा कसायचउग-मणपज्जवेसु तहा ।
विब्भंग-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥२१२॥
देसम्मि छलेसासुं खइए सासायणे असण्णिम्मि ।
आउस्स अंतरं णो गुरूअ

(प्रे०) "**सव्वणिरयदेवेसु**"मित्यादि, प्राग्वत् सर्वेषु निरयगतिभेदेषु, सर्वेषु देवगतिभेदेषु, तिर्यगोघे, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु त्रिषु च मनुष्यभेदेषु, पञ्चमनोयोगभेदेषु, पञ्चवचोयोगभेदेष्वौदारिक-वैक्रियकाययोगयोराहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके तथा क्रोधादिकषायचतुष्क-मनःपर्यवज्ञानयोः, विभङ्गज्ञान-संयमौघभेदयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमभेदेषु, देशसंयमे, कृष्णादिषु षट्सु लेश्याभेदेषु, क्षायिकसम्यक्त्वे, सासादनेऽसंज्ञिमार्गणाभेदे चेत्येतासु सार्धद्वयगाथासंगृहीतास्वशीतिमार्गणासु प्रत्येकम् "**आउस्स अंतरं णो गुरूअ**" त्ति मौलस्यायुःकर्मणो 'गुरोः'-उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धान्तरं "**णो**" त्ति न भवतीत्यक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वयम्**—आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरं सप्तकर्मणामन्तरमिवोत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षया प्राप्यते, उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धद्वयं तु कस्मिंश्चिदप्येकस्मिन् भवे न प्राप्यते । कुतः ? उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्योत्कृष्टाबाधाऽधीनत्वात्, उत्कृष्टाबाधाया एकस्मिन् भवे सकृदेव लाभाच्च । इत्थं च यां मार्गणां भवद्वयभाव्युत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धद्वयं यावत्तद्बन्धकजीवो न परि-

त्यजति, तस्यां मार्गणायामायुष उत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयं प्रकृतबन्धान्तरं प्राप्यते, नान्यासु । प्रकृते च निरयगतिदेवगत्यादिमार्गणाभेदेषु जीव एकभवमेव तिष्ठति, परतस्तु नियमेन तत्तन्निरयगत्यादिमार्गणां परित्यजति, ततो भवद्वयाधीनं प्रकृतान्तरमपि तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणासु न लभ्यते । तिर्यग्गत्योघादिसप्तमार्गणागतजीवास्तथाऽसंज्ञिमार्गणागता जीवा यद्यपि स्वस्वमार्गणायामेव नानाभवान् कर्तुं शक्नुवन्ति, तथापि यस्मिन् भव एतेऽष्टमार्गणागतजीवा उत्कृष्टस्थितिकमायुर्बन्धं कुर्वन्ति, तद्भवादनन्तरे भव उत्कृष्टस्थितिकायुरुदयादेतेऽपि तिर्यग्गत्योघादितत्तन्मार्गणाया बहिर्भवन्ति । कुतः ? वर्तमानतिर्यगादिगतेरन्या हि निरयादिगतिस्तत्तत्कोत्कृष्टायुषस्तैर्निर्वर्तितत्वात् । **इदमुक्तं भवति**-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणागता जीवा उत्कृष्टस्थितिकमायुस्तिर्यग्गतिसत्कमपि बध्नन्ति, तिर्यग्गतिकाश्च जीवा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां समाविष्टाः सन्ति, ततश्च यः कश्चिदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणागतो जीवस्तिर्यग्गतिसत्कोत्कृष्टायुर्बद्ध्वा पश्चात्तत् पूर्वबद्धं पारभविकायुरपवर्त्य ह्रस्वमपर्याप्तजीवप्रायोग्यं करोति, क्रमेण कालं कृत्वा प्रकृतापर्याप्तमार्गणायामेव चोत्पद्यते । एवं च सति पारभविकायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धे कृतेऽपि तादृशो जीवोऽनन्तरे भवे न प्रकृतमार्गणाया बहिर्भवत्येव, किन्तु प्रकृतमार्गणायामेवावतिष्ठते, तेन वेद्यमानतिर्यग्गतिसत्कस्यैवोत्कृष्टस्थितिकपारभविकायुषो बन्धकरणात् । तिर्यग्गत्योघाद्यष्टमार्गणागता जीवास्तु निरयगत्यादिसत्कमेवोत्कृष्टायुर्बध्नन्ति, ततश्चाऽध्यवसायवशात् पश्चात्तमपवर्त्याऽपि तासु निरयगत्यादिष्वेवोत्पद्यन्ते, आयुषः स्थितावपवर्तितायामपि प्रकृतिपरावर्तनस्याशक्यत्वात् । **किमुक्तं भवति**-आयुर्बन्धानन्तरं तस्यायुष उत्कृष्टादिस्थितिः कृष्णवासुदेवदृष्टान्तेन कैश्चित्पश्चादपवर्त्य ह्रस्वीक्रियते, प्रकृतिस्तु सा पूर्वबद्धा निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देवायुरन्यतमरूपैव तिष्ठति, मूलप्रकृतिवदायुःप्रकृतीनां परस्परसंक्रमस्यानभिमतत्वात् । इत्थं च तिर्यग्गत्योघाद्यष्टमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्यासम्भव एवेति । विभङ्गज्ञानमार्गणायां तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा, ते चोत्कृष्टस्थितिकं निरयायुर्बद्ध्वा नैरयिकतयोत्पद्य पुनरपि तिर्यक्तया मनुष्यतया वा यावदुत्पद्यन्ते तावद्विभङ्गज्ञानमार्गणायामेव नावतिष्ठन्ति । कुतः ? नैरयिकाणां विभङ्गज्ञानेन सहितानां गत्यन्तरेऽनुत्पत्तेः । **इदमुक्तं भवति**-यथाऽवधिज्ञानेन सहितास्तीर्थकरादिजीवा नारकेभ्य उद्वर्त्य मनुष्यतया गत्यन्तरे उत्पद्यन्ते, न तथा विभङ्गज्ञानोपेता जीवा अपि, किन्त्वेते प्रतिपतित एव विभङ्गे मनुष्यादितयोत्पद्यन्ते । उक्तं च नवाङ्गीटीकाकृद्भिः **श्रीमदभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गवृत्तौ**-

"मनुष्यगतौ हि गच्छन्त. केचिज्ज्ञानिनोऽवधिना सहैव गच्छन्ति तीर्थङ्करवत्, केचिच्च तद्विमुच्य, तेषां त्रीणि वा द्वे वा ज्ञाने स्यातामिति, ये पुनरज्ञानिनो मनुष्यगतावुत्पत्तुकामास्तेषां प्रतिपतित एव विभङ्गे तत्रोत्पत्ति." इत्यादि ।

इत्थं च तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ वा सकृदुत्कृष्टस्थितिकायुर्बद्ध्वा पुनरपि तत्रोत्पत्तेरर्वागेव तत्स्वामिनां विभङ्गज्ञानमार्गणातो बहिर्भावान्मार्गणाकालभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयाधीन-

मायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽन्तरं विभङ्गज्ञानमार्गणायामपि न प्राप्यते। मतान्तरकारैस्तु निरयगतित आगच्छतामिव निरयगतौ गच्छतामपि विभङ्गज्ञानेन सह गमनं नाभ्युपगतम्, इत्थं तेषां मतेनाऽपि प्रस्तुतान्तरं नैव प्राप्यते, उत्कृष्टस्थितिकायुर्निर्वर्त्य तदुदये नारकतयोत्पत्तिमात्रेणैव तत्स्वामिनां प्रस्तुतमार्गणाया बहिर्भवनादिति । योगादिमार्गणासु तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्या अन्तर्मुहूर्तादधिकं तत्तन्मार्गणायां नावतिष्ठन्ति, तत्कृतो भवद्वयावस्थानाधीनस्य प्रकृतान्तरस्य सम्भवः, न कुतश्चिदित्यर्थः । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघादिमार्गणासु निरयगत्यादिवदेव भावनीयम् । तासु प्रत्येकं वेद्यमानगतेरन्यगतिसत्कस्योत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धादिति ॥२११-२१२॥ अथ यासु मार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरस्याऽसम्भवस्तासु तत्प्रतिषिध्य यासु तत्सम्भवति तासु जघन्यादिभेदतः प्रचिकटयिषुरादौ तावज्जघन्यत आह—

ओघव्व होइ लहुं ॥२१३॥
दुपणिंदितसेसु तहा तिवेअ-दुअणाण-अयत-चक्खूसुं ।
अणयण-भवि-यियरेसुं मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥२१४॥

(प्रे०) "ओघव्व होइ लहु"मित्यादि, आयुष उत्कृष्टस्थितेर्लघु-जघन्यं बन्धान्तरमोघवत् समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिका एका पूर्वकोटी भवतीत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह-"दुपणिंदिये"त्यादि, प्राग्वदपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोः, द्वयोश्च त्रसकायभेदयोस्तथा स्त्र्यादिषु त्रिषु वेदभेदेषु, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपयोर्द्वयोरज्ञानभेदयोरसंयम-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः, अचक्षुर्दर्शन-भव्य-तदितराऽभव्यमार्गणाभेदेषु, मिथ्यात्वे, संज्ञिन्या-ऽऽहारिमार्गणायाञ्चेत्येतासु सप्तदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । भावनाऽप्येतासु प्रत्येकमोघवदेव द्रष्टव्या, केवलं नपुंसकवेदा-ऽज्ञानद्वया-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणास्तूत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषोऽपवर्तनया भावनीयम् । स्त्री-पुंवेदमार्गणयोस्तूत्कृष्टस्थितिकदेवायुषोऽपवर्तनया भावनीयम्, न पुनरोघवदुभयथाऽपीति ॥२१३-२१४॥ अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाः संगृह्य तत्र प्रकृतान्तरमाह—

समयूणगुरुभवठिई असमत्तपणिंदितिरिय-मणुसेसुं ।
दुपणिंदियतसवज्जिअसेसिंदियकायभेएसुं ॥२१५॥

(प्रे०) "समयूणे"त्यादि, समयोना 'गुरु'-उत्कृष्टा 'भवस्थितिः' तत्तन्मार्गणागतजीवानां वेद्यमानाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिरित्यर्थः । आयुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरमिति प्रकरणाद्गम्यते, भवतीति शेषः । कासु मार्गणासु समयोनोत्कृष्टभवस्थितिः प्रकृतं जघन्यं बन्धान्तरं भवतीत्याह—"असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तापरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्योभयत्र योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदयोरित्यर्थः, द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनाद् व्याख्यानतो विशेष-

प्रतिपक्षा चौघपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ द्वौ च त्रसकायभेदौ, एते चत्वारो भेदा 'वर्जि-ता'-स्त्यक्ता येभ्य एवम्भूता ये शेषा 'इन्द्रियकायभेदाः'-एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियान्तेन्द्रियमार्गणा-सत्काः सप्तदशभेदाः, पृथिव्यादित्रसकायान्तकायमार्गणासत्काश्चत्वारिंशद्भेदाश्च ते द्विपञ्चेन्द्रियत्रय-वर्जितशेषेन्द्रियकायभेदास्तेष्वेकोनषष्टिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । **अयम्भावः**–एतेषु प्रत्येकं जीवैर्वेद्यमानतिर्यगायुःसदृशं पारभविकं तिर्यगायुः प्रकृतमार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकं निर्वर्तयितुं शक्यते, ततश्च ये केचन जीवा उत्कृष्टाबाधायां तद्बद्ध्वा पश्चात्कालान्तरेण संक्लिष्टाध्य-वसायेन तदपवर्त्य ह्रस्वं वेद्यमानोत्कृष्टभवस्थितितुल्यस्थितिकं कुर्वन्ति, पश्चाच्च कालं कृत्वोत्कृष्ट-स्थितिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादितया प्रकृतमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, तत्र च वेद्यमानायुषो भागद्वये-ऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रारम्भे उत्कृष्टाबाधायां पुनरपि प्राग्वदुत्कृष्टं पूर्वकोटीस्थितिकमायुर्बध्नन्ति, तदा तेषामायुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं प्राप्यते, तच्च यथोक्तं समयोनस्वीयगुरुभवस्थिति-प्रमाणम्, उत्कृष्टस्थितिकपूर्वभवसत्कसमयोनतृतीयभागस्य तथोत्तरभवसत्कतृतीयभागद्वयस्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धद्वयान्तराले पतितत्वात् । प्रस्तुतमार्गणासूत्कृष्टभवस्थितिप्रतिपादिका गाथाः पुनरिमाः–

'तिरियस्स पणिंदितिरियणरतप्पज्जत्तजोणिणीणं च । तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसा भवठिई णेया ॥
एगिंदियपुढवीणं होइ दुवीसा सहस्सवासाणि । एमेव होइ तेसिं बायर-बायरसमत्ताणं ॥
दगवाऊणं कमसो सहस्सवासाणि सत्त तिण्णि भवे । तिदिणाऽग्गिस्सेवं सि बायर बायरसमत्ताणं ॥
बेइंदियाइगाणं कमसो बारह समा अउणवण्णा । दिवसा तह छम्मासा एव तेसि समत्ताणं ॥
वासाऽत्थि सहस्सा दस वण पत्तेअवणतस्समत्ताण । भिन्नमुहुत्तं णेया सेसाणं पंचसीमाए ॥'

इति ॥ १२५ ॥

अथ शेषमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरमेकयाऽऽर्ययाऽऽह–

समयूणंतमुहुत्तं उरालमीसम्मि साहियं पल्लं ।
णाणतिगे ओहम्मि य सम्मत्ते वेअगे य भवे ॥२१६॥

(प्रे०) "**समयूणंतमुहुत्त**"मित्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रकृतं जघन्या-न्तरं समयोनान्तर्मुहूर्तं भवेदित्यर्थः । इदं हि लब्ध्यपर्याप्तस्य समयोनोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणमव-गन्तव्यम् । एतत्सूचनार्थमेव मूलेऽन्तर्मुहूर्तस्य समयोनविशेषणमुपात्तम्, अन्यथाऽन्तर्मुहूर्तस्य नानाविधत्वेन समयोनविशेषणं व्यर्थं स्यादिति । "**साहियं पल्लं**" ति प्रकृतजघन्यान्तरं साधिकं 'पल्यं'-पल्योपमं भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**णाणतिगे**" इत्यादि, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानां त्रिकेऽवधिदर्शनमार्गणायाम्, चः पादपूर्त्यै । सम्यक्त्वौघमार्ग-णायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्येतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकमित्यक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वयम्**–एतासु प्रत्येकं सम्यग्दृष्टय एव जीवाः सन्ति, तेभ्यो यः कश्चिज्जीवः पूर्वकोटीत्रिभागरूपायामुत्कृष्टा-यामबाधायां प्रथमवारमुत्कृष्टस्थितिकं देवायुर्बद्ध्वा पश्चात्तदपवर्त्य सम्यग्दृशां बन्धप्रायोग्यं ह्रस्वं–

साधिकपल्योपमस्थितिकं करोति, न पुनस्ततोऽपि हीनं दशवर्षसहस्रस्थितिकम्, जघन्यस्थितिकायुषो मिथ्यादृशां बन्धप्रायोग्यत्वात्। अथ स च साधिकपल्योपमस्थितिकवैमानिकदेवतयोत्पद्य क्रमेण मृत्वा पुनरपि पूर्वकोटिवर्षायुष्कमनुष्यत्वेनोत्पद्य वेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रथमसमय उत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकं देवायुर्बध्नाति, एवं तस्य समयोनपूर्वकोट्यभ्यधिकं साधिकपल्योपममायुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं प्राप्यते, तत्र समयोनपूर्वकोट्यंशस्याधिकांशेन गम्यत्वान्मूले समयोनपूर्वकोट्यंशं पृथगनुपादाय साधिकं पल्योपममेवोक्तं, तथाऽपि साधिकपदेन यथोक्तमेव प्रकृतान्तरं बोद्धव्यमिति ॥२१६॥

तदेवमभिहितं निषिद्धप्रकृतान्तरा निरयगत्यादिमार्गणाः संत्यज्य शेषपञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु जघन्यत आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरम्। अथ तास्वेव शेषासु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासूत्कृष्टतस्तं दर्शयन्नाह—

हीणसगुरुकायठिई परमं सव्वत्थ णवरि ओघव्व ।
अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेसुं ॥२१७॥

(प्रे०) "**हीणसगुरुकायठिई परम**"मित्यादि, अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेन हीना पञ्चेन्द्रियौघादितत्तन्मार्गणाया याऽनन्तरं कालद्वारेऽभिहिता स्वीया स्वीया 'गुर्वी'-उत्कृष्टा कायस्थितिः सा हीनस्वगुरुकायस्थितिः "**परमं**" ति आयुष उत्कृष्टस्थितेः 'परमम्'-उत्कृष्टं बन्धान्तरं भवतीत्यर्थः। कासु मार्गणास्वित्याह--"**सव्वत्थ**" त्ति सामान्यतः सर्वत्र, पञ्चेन्द्रियौघादिशेषसर्वमार्गणास्वित्यर्थः। वक्ष्यमाणापवादं विहाय बहुषु मार्गणासु हीनस्वगुरुकायस्थितिप्रमाणस्य प्रस्तुतान्तरस्य लाभाल्लाघवकृत औत्सर्गिकोऽयं निर्देशः, अतस्तत्रापवादमाह—"**णवरि**" इत्यादिना, 'नवरम्'-परम् "**ओघव्व**" त्ति आयुष उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमोघवदसंख्यपुद्गलपरावर्तप्रमाणम्, भवतीति शेषः। कासु मार्गणास्वोघवदसंख्यपुद्गलपरावर्ता भवतीत्याह—"**अण्णाणदुगे**" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। एतासु सप्तमार्गणासु प्रकृतान्तरभावनाप्योघवदेव द्रष्टव्या। शेषाऽपर्याप्तमनुष्यादिषट्सप्ततिमार्गणासु तु मार्गणाप्रारम्भावस्थासत्केऽन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणे वेद्यमानोत्कृष्टस्थितिकायुषो भागद्वयेऽनतिक्रान्ते तृतीयभागे चानारब्धे पारभविकायुर्बन्धस्य प्रथमाऽऽकर्षस्याप्यसम्भवात् तमन्तर्मुहूर्तादिकालं विहाय ये जीवा उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धं कुर्वन्ति, तदनन्तरं चानुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धद्वारेणैव नानाभवैरुत्कृष्टां कायस्थितिं निर्गमयन्तो यदा मार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिसमाप्तेरर्वागन्तर्मुहूर्ताद्यवशेषायामुत्कृष्टकायस्थितौ पुनरप्युत्कृष्टस्थितिकमायुर्बन्धं कुर्वन्ति, तदा तेषामायुष उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं प्राप्यते। इत्थं हि मार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिसत्कस्य प्रारम्भप्रान्तयोः कतिपयकालस्य वर्जनीयतया देशोना स्वीयस्वीयकायस्थितिरेवाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरमभिहितम्। तत्र देशोनता तु तत्तन्मार्गणायां यथासम्भवं द्रष्टव्या।

तथाहि—अपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणायां कश्चिद् मार्गणान्तरादागत उत्कृष्टस्थितिको लब्ध्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्जीवो वेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रथमसमय उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सन् पूर्वकोटीस्थितिकं तिर्यगायुर्बध्नाति, पश्चाच्च तत् प्रागुक्तनीत्याऽपवर्त्य ह्रस्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं करोति, मृत्वा चापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिय एव भवति, ततश्चाऽनुत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुर्बन्धद्वारेण संख्येयवारानपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्योत्पद्य विपद्य विपद्य च तत्रैवापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसत्कामुत्कृष्टां कायस्थितिं गमयति, तत्र चोत्कृष्टकायस्थितिं गमयन्नपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसत्के चरमे भव उत्कृष्टस्थितिकाऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्य प्राग्वदुत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सन् पूर्वकोटीस्थितिकमुत्कृष्टमायुर्बध्नाति, पश्चाच्च वर्तमानभवोत्कृष्टकायस्थित्योः सममेव समाप्त्या पूर्वकोटीस्थितिकतिर्यगादितयोत्पद्यते, इत्येवं प्रकृतमार्गणातो बहिर्भावस्तस्य जायते; एतादृशजीवेन कृतयोर्यथोक्तोत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धयोरन्तरालमपेक्ष्याऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणायामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयाधिकाऽपर्याप्तोत्कृष्टभवस्थित्या न्यूनाऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः प्राप्यते । इत्येवमपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणायां हीनपदेन समयोनापर्याप्तोत्कृष्टभवस्थित्या हीना स्वोत्कृष्टकायस्थितिर्वोद्धव्येति दिग् । अनया दिशा शेषगतिजात्यादिमार्गणाभेदेष्वपि देशोनकायस्थितिर्भावनीयेति ॥२१७॥

तदेवं दर्शितमायुष उत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयं द्विविधं बन्धान्तरमादेशतः । साम्प्रतं तस्यैवाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेस्तद्दिदर्शयिषुराह—

पणमणवयेसु विउवे आहारदुगे कसायचउगे य ।
सासाणे आउस्स उ अगुरुठिईए ऽतरं णत्थि ॥२१८॥

(प्रे०) "**पणमणे**" त्यादि, प्राग्वत्पञ्चशब्दस्योभयत्र योजनात् पञ्चमनोयोगभेदेषु, पञ्चवचोयोगभेदेषु, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्द्विके, क्रोधादिकषायचतुष्के, चः समुच्चयार्थ उत्तरत्र योज्यस्ततः सासादने चेत्येतास्वष्टादशमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽगुरुस्थितेः-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः प्रकृतमेकजीवाश्रयं बन्धान्तरं 'नास्ति' न विद्यते इत्यर्थः । सुगमम् , उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावस्थायिनीषु प्रकृतमार्गणासु प्रत्येकं कस्यापि जीवस्यायुर्बन्धद्वयं यावदनवस्थानात् , आयुर्बन्धद्वयाभावेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरस्याप्यसम्भवाच्चेति ॥२१८॥

तदेवं कतिपयमार्गणास्वसम्भवात् निषिद्धमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरम् । साम्प्रतं यासु तत्सम्भवति तासु जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं तत्क्रमशो दर्शयन्नाह—

सेसासु मुहुत्तंतो लहुं गुरुं होइ ऊणछम्मासा ।
सव्वणिरयदेवेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥२१९॥

(प्रे०) **"सेसासु"** इत्यादि, अनन्तरोक्तमनोयोगाद्यष्टादशमार्गणा विवर्ज्य शेषासु निरयगत्योघादिषु चत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकम् **"मुहुत्तंतो लहु"** त्ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थिते'र्लघु-'जघन्यं बन्धान्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः। कुतः ? वेद्यमानायुषस्तृतीय-नवम-सप्तविंशतितमादिभागावशेषप्रकारेणाऽऽयुर्बन्धप्रायोग्यां द्विचरमाद्धायां चरमाद्धायां चायुर्बन्धाकर्षयोः प्रकृतसर्वमार्गणागतजन्तूनां सम्भवात्, तयोरन्तरस्यान्तर्मुहूर्तत्वाच्चेति। **इदमुक्तं भवति**-निरयगत्योघाद्यन्यतममार्गणागतो यः कश्चिज्जन्तुरन्तर्मुहूर्तावशेषे स्ववेद्यमानायुषि पारभविकायुर्बन्धप्रायोग्यां द्विचरमाद्धायां वर्तमानः सन्नायुर्बन्धप्रायोग्याध्यवसायानवाप्य तत्कालबध्यमानकर्मदलेषु स्वीयभागावाप्तकर्मदलान्यन्तर्मुहूर्तं यावदायुष्कतया परिणमयति, परतस्तु व्युपरमते, यावदायुर्बन्धप्रायोग्या चरमाद्धा, ततश्चाऽऽयुर्बन्धप्रायोग्यां चरमाद्धां प्रविशन् पुनरप्यायुर्बन्धाध्यवसायैस्तत्कालबध्यमानकर्मदलिकेषु स्वभागावाप्तदलान्यायुःकर्मतया परिणमयितुं प्रारभते, ततश्च तमन्तर्मुहूर्तं यावद् बद्ध्वा विरम्य वेद्यमानायुरवशेषरूपमन्तर्मुहूर्तप्रमाणाबाधाकालं च तस्मिन् भव एव निर्गमय्य कालं करोति; एवं तेन द्विचरम-चरमप्रायोग्यायुर्बन्धप्रायोग्याद्धयोः कृतस्यायुर्बन्धद्वयस्य यदन्तरालं तत्प्रकृतजघन्यान्तरतया बोद्धव्यमिति।

"गुरू होइ ऊणछम्मास" त्ति आयुषः प्रकृतानुत्कृष्टायाः स्थिते'र्गुरु'-उत्कृष्टं बन्धान्तरं भवत्यूनषण्मासाः। कासु मार्गणास्वित्याह-**"सव्वणिरये"**त्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्सर्वेषु निरयगतिमार्गणाभेदेषु सर्वेषु च देवगतिमार्गणाभेदेषु तथा **"पसत्थअपसत्थलेसासु"** त्ति कृष्णादित्रयप्रशस्तलेश्या-तेजस्यादित्रिशुभलेश्यामार्गणास्वित्येतासु चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। **इयमत्र भावना**-कश्चिन्नारकजीवो वेद्यमानायुषः षण्मासावशेषायां स्थितौ उत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सन् प्रथमवारं प्रथमेनाकर्षेण पारभविकायुर्बन्धं करोति, ततश्च स एवान्तर्मुहूर्ते शेषे स्वायुषि चरमायामायुर्बन्धप्रायोग्यायामद्धायां प्रविशन् द्वितीयवारं द्वितीयेनाकर्षेण पुनरपि तत्कालबध्यमानकर्मदलेभ्यः स्वभागावाप्तकर्मदलान्यायुष्कतया परिणमयन्नायुर्बन्धं करोति, एवं तेन प्रथमद्वितीयवारकृतयोर्यथोक्ताऽऽयुर्बन्धयोर्यदन्तरं तदन्तर्मुहूर्तेनोनषण्मासप्रमाणं भवति, षण्मासेभ्य आयुर्बन्धद्वयकालस्य जघन्याबाधाकालस्य च वर्जनीयत्वात्। एतदेव प्रस्तुत उत्कृष्टान्तरतया ज्ञेयम्, केवलं देवगतिमार्गणाभेदेषु शुभलेश्यात्रये च देवजीवापेक्षया यथासम्भवं भावनीयमिति ॥२१९॥ उक्तं निरय-देवगतिमार्गणाभेदेषु तत्साम्याल्लेश्यामार्गणाषट्के च प्रकृतबन्धान्तरम्। इदानीं तिर्यग्गत्यादिमार्गणाभेदेषु तद्दर्शयन्नाह—

सव्वेसुं तिरिय-मणुस-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं।
असमत्तपणिंदि-तसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥२२०॥

(प्रे०) **"सव्वेसु"** इत्यादि, सर्वेसु तिर्यग्गति-मनुष्यगत्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पृथिव्यादि-

वनस्पतिकायान्तपञ्चकायेषु, एतेषां तिर्यग्गत्यादिमार्गणानां सर्वभेदेष्वित्यर्थः । ते च समस्ताश्चतुःषष्टिमार्गणाभेदाः प्राग्वदोघ-पर्याप्त-ऽपर्याप्त-योनिमत्-सूक्ष्म-बादर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाद्यथायथमत्र ग्रन्थेऽधिकृता बोद्धव्याः; अन्यभेदसंग्रहायाह–"असमत्ते"त्यादि, तत्रापर्याप्तापरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनादसमाप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽसमाप्तत्रसकायभेदयोरित्येतासु षट्षष्टिमार्गणासु प्रत्येकं **"साहिया भवठिई जेट्ठा"** त्ति साधिका स्वीया भवस्थितिर्ज्येष्ठा-उत्कृष्टा, साधिकस्वीयभवस्थितिप्रमाणमित्यर्थः। आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमिति प्रक्रमाद्गम्यते । **अयम्भावः**-चरमभवं विहाय शेषभवेषु प्रतिभवं सर्वैर्जीवैः सकृत् नियमेनायुर्बन्धः क्रियत एवेति सुप्रतीतम् । तत्रापि स बन्धो यद्युत्कृष्टाबाधायामुत्कृष्टस्थितिकायुषः प्रारभ्यते, तदाऽपि प्रारम्भद्वितीयादिसमयेष्वसावनुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्ध एव भवति, प्रतिसमयमबाधायाः परिगलनात् । इत्थं हि प्रतिभवमनुत्कृष्टस्थितिबन्धो नियमेन प्राप्यते । ततः किम् ? ततो प्रकृततत्तन्मार्गणागतो यः कश्चिज्जीवो मार्गणाप्रायोग्यवेद्यमानोत्कृष्टायुषस्त्रिभागाऽवशेषरूपायामुत्कृष्टायामबाधायां वेद्यमानायुःसदृशं तिर्यग्गत्यादेरुत्कृष्टस्थितिकमायुर्बद्ध्वा क्रमेण च तत्रोत्पद्य वेद्यमानायुःप्रान्ते यथाकालमायुर्बन्धं करोति, तदा तेन तादृशजीवेन निरन्तरभवद्वयकृतायुर्बन्धद्वयस्यान्तरालं प्रकृतान्तरतया लभ्यते । **तथाहि**–तिर्यग्गत्योघमार्गणायां कश्चित्पूर्वकोटीवर्षायुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियजीवो वेद्यमानायुषश्चरमे तृतीये भागे वेदयितुमारब्धे प्रकृतमार्गणाप्रायोग्यायां पूर्वकोटीत्रिभागरूपायामुत्कृष्टाबाधायां वेद्यमानायुःसदृशं त्रिपल्योपमोत्कृष्टस्थितिकं तिर्यगायुर्बध्नाति, ततश्च क्रमेण कालं कृत्वा पूर्वबद्धायुरुदये त्रिपल्योपमस्थितिकस्तिर्यग्भवति, तस्मिन् भवे त्वसौ प्रान्ते आयुर्बन्धप्रायोग्यायां चरमाद्धायां सकृदेवायुर्बन्धं करोति; इत्येवं तेन निरन्तरभवद्वयकृतस्याऽऽयुर्बन्धद्वयस्यान्तरं देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागेनाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणं भवति, तदेव तिर्यग्गत्योघमार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरतया बोद्धव्यम् । अनया रीत्या शेषमार्गणासु भावना स्वयमेव कार्येति ॥२२०॥

दर्शितं गत्यादिभेदेषु प्रकृतान्तरम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तयोगमार्गणाशेषभेदेषु दर्शयन्नाह—

कायम्मि भूभवठिई देसूणतिभागसंजुया जेट्ठा ।
उरलेऽब्भहियाणि भवे सत्त सहस्साणि वासाणि ॥२२१॥

(प्रे०) **"कायम्मि"** इत्यादि, काययोगमार्गणायां **"भूभवठिइ"** त्ति भुवः-पृथिवीकायिकस्य भवस्थिति'र्ज्येष्ठा'-द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टेति परेणान्वयः । किं तावन्मात्रैवोताऽधिका वेत्याह–**"देसूणतिभागसंजुया"** त्ति अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनो यः 'त्रिभागः' तस्या एव पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितेस्तृतीयभागस्तेन'संयुता'समेता, देशोनत्रिभागसंयुता, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरमिति गम्यते । इदं हि खरबादरपर्याप्तपृथिवीकायस्योत्कृष्टस्थितिकयोर्निरन्तरभवयोः क्रमेणोत्कृष्टायामबाधायामसंक्षेप्याद्धायां च केनचिज्जीवेन प्रारब्धस्यायुर्भवयोग्यतालक्षणत्रि-

शतिवर्षसहस्रस्थितिकाऽऽयुर्बन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षया बोद्धव्यम् । कुतः ? मनोवाग्योगरहितेषु केवलकाययोगोपेतजीवेषु पर्याप्तखरबादरपृथिवीकायिकानामेवोत्कृष्टस्थितिकत्वात् । **इदमुक्तं भवति**–येषां द्वीन्द्रियादिजीवानां काययोगादन्ययोगस्याऽपि सम्भवोऽस्ति, तेषां काययोगस्याऽन्ययोगेन सह परावृत्य परावृत्य प्रवर्तनात्काययोगोऽन्तर्मुहूर्तादधिकं नावतिष्ठते, तदभावे कुतः प्रकृतोत्कृष्टान्तरस्य सम्भवः, न कुतश्चिदपीत्यर्थः । अतो यः कश्चिद् द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टस्थितिको निरन्तरकाययोगी खरबादरपृथिवीकायिको जीवः स वेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रारम्भे वेद्यमानायुःसदृशं पारभविकमायुर्बध्नाति, तच्चान्तर्मुहूर्तं बद्ध्वा विरमति, इत प्रकृतान्तरस्य प्रारम्भः, पश्चादमावनन्तरभवे पूर्वबद्धायुरुदयेन द्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिको खरबादरपृथिवीकायिको भवति, तस्मिन् भवे तु जघन्यायामन्तर्मुहूर्तात्मिकायामबाधायां सत्यामेवायुर्बन्धं करोति, नत्वर्वाक्, इत्येवं तेन निरन्तरयोरुत्कृष्टस्थितिकपूर्वोत्तरभवयोः कृतस्यायुर्बन्धद्वयस्यान्तरालमायुर्बन्धाद्धाद्वयेन जघन्याबाधालक्षणेन चान्तर्मुहूर्तकालेनोनतृतीयभागोपेतपृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणं काययोगमार्गणायामुत्कृष्टतो लभ्यते, न पुनस्तदधिकमिति तथैव दर्शितमिति ।

"उरले" त्ति औदारिककाययोगमार्गणायां प्रकृतान्तरं "**ऽभहियाणि भवे सत्तसहस्सवासाणि**" त्ति लुप्ताकारस्य दर्शनादभ्यधिकानि सप्तसहस्रवर्षाणि भवेदित्यर्थः । इदमप्यनन्तरोक्तोत्कृष्टकायस्थितिकपर्याप्तखरबादरपृथिवीकायभवापेक्षयैव भावनीयम् ; केवलमुत्कृष्टाबाधायां प्रथमाकर्षेणायुर्बन्धादनन्तरं द्वितीय आयुर्बन्धोऽनन्तरभवेऽसंक्षेप्याद्धायां न द्रष्टव्यः, किन्तु तस्मिन्नेव भवेऽसंक्षेप्याद्धायां द्वितीयाकर्षेणायुर्बन्धापेक्षया द्रष्टव्यः । कुतोऽनन्तरोत्तरभवे न द्रष्टव्यः ? उच्यते, भवान्तरगमनेऽपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगस्य नियमतः प्रवर्तनेन प्रकृतमार्गणाया विच्छेदभयात् । इत्येवं तेन द्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकेन खरबादरपर्याप्तपृथिवीकायजीवेन प्रथमचरमायुर्बन्धाद्धाद्वय आकर्षद्वयेन द्विर्बद्धस्य पारभविकायुषो बन्धद्वयस्याऽन्तरं साधिकानि सप्तसहस्रवर्षाण्येवाप्यते; आयुर्बन्धाद्धासत्केनाऽसंक्षेप्याद्धासत्केन चान्तर्मुहूर्तद्वयेनोनस्य द्वाविंशतिवर्षसहस्राणां तृतीयभागस्यान्तर्मुहूर्तोनमासचतुष्केनाधिकत्रयस्त्रिंशद्वर्षोत्तरत्रिसप्ततिशतवर्षप्रमाणत्वादिति ॥२२१॥

अथान्यत्र प्रकृतमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरमाह—

ओरालियमीसम्मि उ भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज इत्थीए ।
जाणेयव्वं पंचावण्णा पलिओवमाऽभहिया ॥२२२॥

(प्रे०) "**ओरलियमीसम्मि उ**" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु-पुनर्भिन्नमुहूर्तमन्तर्मुहूर्तं भवेत्, प्रकृतान्तरमिति गम्यते । सुगमं चैतत् । भावनात्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावद् द्रष्टव्येति । "**इत्थीए**" त्ति स्त्रीवेदमार्गणायां ज्ञातव्यमित्युत्तरार्धेऽन्वयः, प्रकृतान्तर-

मिति प्राग्वद्गम्यते। कियज्ज्ञातव्यं स्त्रीवेदमार्गणायां प्रकृतान्तरमित्याह–"**पंचावण्णे**"त्यादि, अभ्यधिकानि **पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानी**त्यर्थः। इदं हि पूर्वकोटीस्थितिकमानुष्या वेद्यमानायुषस्तृतीयभागावशेष उत्कृष्टाबाधायां पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमस्थितिकं देवायुर्बद्ध्वेशानकल्पे उत्कृष्टस्थितिकाऽपरिगृहीतदेवीतयोत्पद्य तत्र जघन्याबाधायां पुनरप्यायुर्बन्धे कृते सति प्राप्यते, अतः पूर्ववदन्तमुहूर्तद्वयेन हीनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानीति बोद्धव्यमिति ॥२२२॥

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
देसूणो पुव्वाणं कोडितिभागो मुणेयव्वं ॥२२३॥

(प्रे०) "**मणणाणे**" त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणास्वित्येतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकं ज्ञातव्यमिति गाथान्तेऽन्वयः । आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमिति प्रक्रमाद्गम्यते। कियज्ज्ञातव्यमित्याह–"**देसूणो पुव्वाण**"मित्यादि, सुगमम्। भावना त्वौदारिककाययोगमार्गणावत् पूर्वकोटीभवस्थितिकमनःपर्यवज्ञान्यादिजीवापेक्षया द्रष्टव्येति ॥२२३॥

विब्भंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
देसूणा छम्मासा हवइ त्ति भणन्ति अण्णे उ ॥२२४॥

(प्रे०) "**विब्भंगे**" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायाम् "**देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई**" त्ति "कायठिई उक्कोसा णिरयसुराणं विभङ्गणाणस्स" इत्यादिना पूर्वं कालद्वारेऽभिहितमाना देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा "**कायट्ठिई**" त्ति विभङ्गज्ञानस्य कायस्थितिः "**देसूणा**" त्ति किञ्चिदूनपूर्वकोटीतृतीयभागद्वयलक्षणेनैकदेशेनोना सती, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरं भवतीति गम्यते। कथम् ? इति चेत्, पूर्वकोटीस्थितिकमनुष्यभवे वेद्यमानायुषश्चरमतृतीयभागादारब्धे उत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धेऽन्तमुहूर्तेन समाप्तेऽनुपदं प्रवृत्तान्तरस्योत्कर्षत उत्कृष्टस्थितिकनिरयभवेऽसंक्षेप्याद्धायामायुर्बन्धं यावत्प्रवर्तनात्, तावत्कालस्य किञ्चिदूनपूर्वकोटीतृतीयभागेनाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वादिति । अत्रैव महाबन्धकारमतमाह–"**देसूणा**" इत्यादि, प्रस्तुतान्तरं देशोनाः षण्मासा भवतीति "**भणन्ति अण्णे उ**" त्ति अन्ये-महाबन्धकारास्तु-पुनर्भणन्ति, तैर्नारकाणामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽनभ्युपगमात्, तिर्यग्नरेषूत्कर्षतोऽन्तमुहूर्तमेव निरन्तरविभङ्गज्ञानस्याभ्युपगमाच्च यथा निरयगत्योघादिमार्गणायां प्रस्तुतान्तरं देशोनषण्मासाः प्राप्यते, तथा प्रस्तुतमार्गणायामपि, उभयत्राविशेषादिति ॥२२४॥

पुव्वाणेगाकोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि ।
सेसासुं णायव्वं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥२२५॥

(प्रे०)"**पुव्वाणेगा कोडी**"त्यादि, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं पूर्वाणामेका कोटिः "**अब्भहिआ**" त्ति प्राग्वदन्तर्मुहूर्तद्वयोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाभ्यधिका "**होअए असण्णिम्मि**" त्ति असंज्ञिमार्गणायां भवति । सुगमम्, असंज्ञिनामुत्कृष्टाया भवस्थितेः पूर्वकोटिवर्षप्रमाणत्वात् । भावना तु काययोगमार्गणावद् द्रष्टव्या, नवरं निरन्तरे पूर्वकोटीस्थितिकासंज्ञिभवद्वये क्रमेणोत्कृष्टाबाधा-ऽसंक्षेप्याद्धयोर्जाताऽऽयुर्बन्धद्वयापेक्षयेति । "**सेसासु**" त्ति मनोयोगादिनिषिद्धप्रकृतान्तरा अष्टादशमार्गणास्तथा निरयगत्योघादिदर्शितप्रकृतान्तरा द्वाविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणाश्च संत्यज्य शेषाम् पञ्चेन्द्रियौघादित्रयोविंशतिमार्गणामु प्रत्येकं "**णायव्वं**" ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं ज्ञातव्यम् । कियदित्याह-"**तेत्तीसा सागराऽब्भहिया**"त्ति ओघवत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यभ्यधिकानीत्यर्थः । पुंस्त्वं तु प्राकृतवशात्प्राग्वदत्रापि बोद्धव्यम् । **शेषमार्गणा नामनस्त्वमूः**-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदौ, तथैवौघ-पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ त्रसकायभेदौ, पुंवेद-नपुंसकवेदौ, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानानि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, असंयममार्गणा, चक्षुरादित्रिदर्शनभेदाः, भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वानि, मिथ्यात्वं, संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदौ चेति । एतासु प्रत्येकं प्रकृतान्तरमोघिकभावनानुसारेण भावनीयम्, केवलं गत्यन्तरोत्पादेऽपि प्रकृतमार्गणाविच्छेदो न स्यादिति निरयत्वेन देवत्वेन वा यथासम्भवमुत्पादो द्रष्टव्य इति ॥२२५॥

तदेवं प्ररूपितमादेशतोऽप्यायुःकर्मण उत्कृष्टा-नुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्येकजीवाश्रयमन्तरम् । साम्प्रतं जघन्याजघन्यस्थित्योस्तद्दिदर्शयिषुरादौ तावदोघत आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्राह—

सत्तण्ह जहण्णाए ठिईअ णत्थि अजहण्णगाए उ ।
हस्सं समयो दीहं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥२२६॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह जहण्णाए**" इत्यादि, सामान्यतो मार्गणामनधिकृत्य सप्तानामायुर्वर्जमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यायाः स्थितेः "**णत्थि**" त्ति प्रकृतमेकजीवाश्रयं बन्धान्तरं 'नास्ति'-न विद्यते । कुतः ? सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकश्रेणौ भावादिति । **इदमुक्तं भवति**–ओघत मार्गणास्थानेषु वा सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं न लभ्यते, क्षपकश्रेणिभाविनस्तस्य सकृदेव भावाद्, अन्तरस्य तु तद्द्वयसापेक्षत्वादिति । "**अजहण्णगाए उ**" त्ति "सत्तण्ह" इत्यनुवर्तते, ततः सप्तानामजघन्यायाः स्थितेस्तु-पुनर्बन्धान्तरं प्राप्यते, तच्च "**हस्सं समयो**" त्ति 'ह्रस्वं'-लघु 'समयः-'समयप्रमाणं, ज्ञातव्यमिति प्रान्तेऽन्वयः। "**दीहं**" ति सप्तानामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयं 'दीर्घं' गुरु बन्धान्तरं पुनः "**भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं**" ति भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यमिति। इदं हि द्विविधमप्यजघन्यस्थितेर्बन्धान्तरं क्रमश उपशमश्रेणिसत्कजघन्योत्कृष्टाऽबन्धाद्धाऽपेक्षयैव बोद्धव्यम्, न

पुनरनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरवत्प्रतिपक्षभूताया जघन्यस्थितेर्बन्धकालमपेक्ष्य । कुतः ? औघिकजघन्यस्थितिबन्धस्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धद्वयमध्येऽजायमानत्वादिति ॥२२६॥

अथायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतद्विविधमन्तरमोघतः प्राह—

आउस्स जहण्णाए हस्सं खुड्डगभवो समयहीणो ।
परमं जेट्ठाऽब्भहिया पज्जत्ततसस्स कायठिई ॥२२७॥

(प्रे०) "**आउस्स जहण्णाए**" इत्यादि, आयुषो जघन्यायाः स्थितेः 'ह्रस्वं'-जघन्यं बन्धान्तरं "**खुड्डगभवो समयहीणो**" त्ति 'क्षुल्लकः'-सर्वलघुर्भवः समयहीनो ज्ञेयम्, समयोनषट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावल्यो बोद्धव्यमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते, आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धवदायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि जघन्याबाधासंगतत्वात्, तस्या एकस्मिन् भवे सकृदेव लाभाच्चोत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवज्जघन्यस्थितिबन्धान्तरमपि भवद्वये जघन्याबाधायां कृतस्य जघन्यस्थितिकायुर्बन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षया प्राप्यते, तथा च सति यः कश्चित्संख्येयवर्षायुष्कस्तिर्यग्मनुष्यो वा जघन्याबाधायां प्रथमं जघन्यं षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयावलिकाप्रमाणमायुर्बध्नाति, ततश्च क्रमेण तत्रोत्पद्य तत्रापि जघन्याबाधायां पुनरपि प्राग्वज्जघन्यस्थितिकमायुर्बध्नाति, तेन पूर्वोत्तरभवयोर्जघन्याबाधायां कृतस्याऽऽयुर्बन्धद्वयस्यान्तरालं समयोनषट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावलिकाप्रमाणं भवति, तदेव मूले "**खुड्डगभवो समयहीणो**" इत्यनेनाभिहितमिति । "**परमं**" ति आयुषो जघन्याः स्थितेः 'परमम्'-उत्कृष्टं बन्धान्तरं 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा कायस्थितिरिति प्रान्तेऽन्वयः । कस्येत्याह-"**पज्जत्ततसस्स**" त्ति अधिकृतद्वितीयाधिकारे एकजीवाश्रयकालद्वारे उक्ता पर्याप्तत्रसकायमार्गणायाः कायस्थितिरित्यर्थः । किं तावन्मात्रोतोनाऽधिका वेत्याह-"**ऽब्भहिया**" त्ति अकारस्य दर्शनादभ्यधिका-पल्योपमासंख्येयभागेनाधिका, न पुनस्तावन्मात्रा । कुतः ? पर्याप्तत्रसकायस्योत्कृष्टकायस्थितिं निर्वाह्यैकेन्द्रियादितया कालं गमयतो जीवस्योत्कृष्टतः पल्योपमासंख्येयभागेऽतिक्रान्ते जघन्याबाधायां जघन्यस्थितिबन्धस्य नियमेन भावादिति ॥२२७॥

आयुषोऽजघन्यायाः स्थितेः प्रस्तुतान्तरमोघत आह—

भिन्नमुहुत्तं हस्सं अजहण्णाए ठिईअ णायव्वं ।
अब्भहिया तेत्तीसा जलही विण्णेयमुक्कोसं ॥२२८॥

(प्रे०) "**भिन्नमुहुत्त**"मित्यादि, प्रकृतत्वादायुषोऽजघन्यायाः स्थितेः 'ह्रस्वं' जघन्यबन्धान्तरं "**भिन्नमुहुत्तं**" ति अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम् । "**अब्भहिया**" त्ति अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीत्रिभागेनाऽभ्यधिकास्त्रयस्त्रिंशत् 'जलधयः'-सागरोपमाणि "**विण्णेयमुक्कोसं**" ति आयुषोऽजघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टं-दीर्घमन्तरं विज्ञेयमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु सुगमः । भावना त्वस्य जघन्योत्कृष्टद्विविधस्याप्यन्तरस्यायुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरौघिकजघन्योत्कृष्टान्तरवत्सर्वथैव द्रष्टव्येति ॥२२८॥

तदेवं दर्शितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामेकजीवाश्रयं जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्द्विविधमपि बन्धान्तरमोघतः । साम्प्रतं तदेवादेशतः प्रचिकटयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्याः स्थितेर्दर्शयन्नाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं सव्वणरेसुं च देव-भवणेसुं ।
वंतर-दुपणिंदीसुं दुतसेसुं सव्वजोगेसुं ॥२२९॥
वेअतिगा-ऽवेएसुं कसायचउगम्मि णाणचउगम्मि ।
विब्भंग-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥२३०॥
देसम्मि तहा सुहुमे तिदरिसण-छलेस-भविय-सम्मेसुं ।
खाइअ-वेअग-उवसम-सासायण-मीस-सण्णीसुं ॥२३१॥
आहारेऽणाहारे सत्तण्ह लहूअ अंतरं णत्थि ।

(प्रे०)"**णिरयपढमणिरयेसु**" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः । **भावार्थः पुनरयम्**— निरयौघ-प्रथमनिरयभेदा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेद-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदरूपासु षण्मार्गणासु चक्र-गत्याऽसंज्ञिभ्य आगच्छतामन्तर्गलगतौ भवप्रथमसमयद्वये वर्तमानानामेव जघन्यस्थितिबन्धः सम्भवति, तेषामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् । उक्तं च **स्वामित्वद्वारे**—"सत्तण्हं बधगो लहुठिईण । पढमदुइअसमय खलु असण्णिओ आगओ जेयो ॥१२१॥ णिरयपढमणिरयेसु अप-ज्जणरदेव भवणयुगलेसुं ॥" इति । ततः किम् ? ततस्तासु षण्मार्गणासु केनापि जीवेन जघन्यस्थिति-बन्धः सकृदेव क्रियते, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणाभेदेषु पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-भेद-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदेषु, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, काययोग-सामान्यौदारिककाययोगभेदयोः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेदेष्वपगतवेदमार्गणायां, चतुर्षु क्रोधादिकषाय-भेदेषु मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानभेदेषु, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्परायसंयमभेदेषु, चक्षुरादिषु त्रिषु दर्शनभेदेषु, शुक्ललेश्यायां, भव्यमार्गणायां तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्य-क्त्वयोः, संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणयोश्चेत्येतासु चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः क्षपक-श्रेणिभावीतिकृत्वासौ सकृदेव प्राप्यते, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहरकमिश्र-कार्मणकाययोगभेदेषु, कृष्णादिपञ्चलेश्याभेदेषु, सासादना-ऽनाहारकमार्गणयोरित्येतासु त्रयोदशमार्ग-णासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां स्वल्पतरावस्थानेन सकृज्जघन्यस्थितिबन्धाऽनन्तरं पुनर्जघन्य-स्थितिबन्धभावात्पूर्वमेव प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात् , तथा पञ्चसु विभङ्गज्ञान-परिहारविशुद्धिक-संयम-देशसंयम-वेदकसम्यक्त्व-मिश्रमार्गणाभेदेषु संयमाद्यभिमुखानां जघन्यस्थितिबन्धभावेन सकृ-देव जघन्यस्थितिबन्धो लभ्यते, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि मार्गणास्थस्य कस्यापि जीवस्य

मार्गणाव्यवच्छित्तेरर्वाक् सकृदेवोपशमश्रेणेः सम्भवात् सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धभावी ज्ञानावरणादीनां षण्णां जघन्यस्थितिबन्धस्तथाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानचरमस्थितिबन्धभावी मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः सकृदेव लभ्यते, इत्थं च निरयगत्योघादिषण्मार्गणासु भवप्रारम्भे, मनुष्यौघादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु क्षपकश्रेणौ, औदारिकमिश्रकाययोगादित्रयोदशमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां स्वल्पतरावस्थानेन, विभङ्गज्ञानादिपञ्चमार्गणासु संयमाद्यभिमुखानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन तथा निरन्तरे औपशमिकसम्यक्त्वकाले कस्याऽपि जीवस्य सकृदेवोपशमश्रेणेः सम्भवेन निरयगत्योघाद्येकोनसप्ततिसंख्याकासु सर्वासु मार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्य सकृदेव भावात् जघन्यस्थितिबन्धद्वयाधीनं प्रकृतान्तरं न लभ्यत इति ॥२२९-२३०-२३१॥

तदेवमेकोनसप्ततिमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धान्तरं निषिद्धमप्येकोनसप्तत्यन्तःप्रविष्टयोः परिहारविशुद्धिकसंयम-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः स्वस्थानाप्रमत्तसंयतानामपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमभ्युपगच्छतां तत्सम्भवतीतिकृत्वा तत्र प्रतिपादयितुकाम आह—

अहवा भिन्नमुहुत्तं परिहारे वेअगे य लहुं ॥२३२॥
उक्कोसं देसूणा सगगुरुकायट्ठिई मुणेयव्वं ।

प्रे०) **"अहवा भिन्नमुहुत्त"**मित्यादि, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतनार्थम्. ततः 'अपमत्तो अहवा से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो । सो णेयो परिहारे तेउपउमवेअगेसु य ॥१२८॥ 'इत्यनेन स्वामित्वद्वारे संगृहीतमतान्तरेण **"भिन्नमुहुत्तं परिहारे वेअगे य लहुं"** ति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां च प्रकृतान्तरं 'लघु'-जघन्यमन्तर्मुहूर्तम् । तेनैव मतान्तरेणोत्कृष्टमन्तरं तु **"देसूणा सगगुरुकायट्ठिई मुणेयव्वं"** ति देशोना स्वीया स्वीयोत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञातव्यम् । **इदमुक्तं भवति**–कृतकरणावस्थाया अर्वाक्स्थितिबन्धे जायमानस्थितिबन्धस्य जघन्यस्थितिबन्धत्वे प्रकृतान्तरं न लभ्यते । कुतः ? तथाविधजघन्यस्थितिबन्धस्य सकृदेव भावात् । अतस्तदपेक्षयाऽनन्तरं मार्गणाद्वयेऽपि प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिद्धम् । स्वस्थानसंयतस्वामिकत्वे तु जघन्यस्थितिबन्धस्य द्विरपि सम्भवात् प्रकृतान्तरं लभ्यते, अतः **"अहवा"** इत्यादिना दर्शितम् । तत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमजघन्यस्थितिबन्धस्य जघन्यकालापेक्षया, तथा उत्कृष्टतः स्वीया स्वीया देशोनोत्कृष्टकायस्थितिस्तु तत्तन्मार्गणाप्रारम्भप्रान्तयोर्यथासम्भवमन्तर्मुहूर्तं त्यक्त्वा शेषोत्कृष्टकायस्थित्यपेक्षया प्राग्वद्भावनीयमिति ॥२३२॥

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं दिदर्शयिषुरादौ जघन्यत आह–

सेसासु च जहण्णं जाणेयव्वं मुहुत्तंतो ॥२३३॥

(प्रे०) **"सेसासु च"** इत्यादि, अनन्तरं "णिरयपढमणिरये"त्यादिनाऽभिहिता एकोनसप्ततिमार्गणा विहाय शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिष्वेकोत्तरशतमार्गणासु 'च'-पुनः सप्तानां

जघन्यायाः स्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यमित्यर्थः । सुगमम् । प्रत्येकमजघन्यस्थितिबन्धकालापेक्षयैव तल्लाभात्, अजघन्यस्थितिबन्धस्य तु भवक्षयादिव्याघाताभावे जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तनाच्चेति ॥२३३॥

अथैतासु शेषमार्गणास्वेवोत्कृष्टतः प्रस्तुतबन्धान्तरं दर्शयन्नार्याद्वयमाह—

लोगाऽसंखा तिरिये एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसुं ।
अण्णाणदुगे अयते अभविय-मिच्छा-ऽमणेसु गुरुं ॥२३४॥
कोडिपुहुत्तं पुव्वा पणिंदियतिरियतिगे उ सुहुमेसुं ।
अंगुलअसंखभागो सेसा णूणगुरुकायठिई ॥२३५॥

(प्रे०) **"लोगाऽसंखा"** इत्यादि, क्षेत्रतोऽसंख्यलोकाः, असंख्येयेभ्यो लोकाकाशप्रमितक्षेत्रखण्डेभ्यः प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहारे यावान् कालोऽपगच्छति, तावानसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणिप्रमाणः काल इति भावः । अस्य च **"गुरुं"** इत्यनेन गाथाप्रान्ते योगः, ततोऽसंख्यलोकाः 'गुरु' उत्कृष्टं बन्धान्तरं भवतीत्यर्थः, तस्यैव प्रकृतत्वात् । कासु मार्गणासु क्षेत्रतोऽसंख्यलोकाः सप्तानामुत्कृष्टान्तरमित्याह—**"तिरिये"** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघभेदैकेन्द्रियौघभेद-निगोदाख्यसाधारणवनस्पत्योघभेदेषु **"पंचकायेसु"** ति पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु पञ्चसु कायमार्गणासत्कौघभेदेषु, तथा मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमे, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः **"अमणे"** त्ति 'अमनसि'-असंज्ञिमार्गणायामित्येतासु समुदितासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकम् । सुगमम् । एतासु प्रत्येकमजघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालस्य तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं च प्रागजघन्याः स्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालं प्रतिपादयता ग्रन्थकृता—

जेट्ठो असंखलोगा तिरि-येगिंदिय-णिगोअभेएसुं ।
पणकाय-अणाणजुगल-अयता-ऽभवि-मिच्छ-अमणेसुं ॥ ११८॥
अंगुलअसंखभागो सुहुमेसु भवे अचक्खु-भवियेसुं ।
ओघव्व जाणियव्वो सेसासुं सगुरुकायठिई ॥११९॥ इति ।

"कोडिपुहुत्तं पुव्वा पणिंदियतिरियतिगे उ" त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदवर्जानां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदानां त्रिके, ओघ-पर्याप्त-योषिद्भेदभिन्नपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणासत्कभेदत्रय इत्यर्थः । तुः प्राग्वत्, ततः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिके पुनः **"कोडिपुहुत्तं पुव्वा"** त्ति प्राकृतत्वात्पुंस्त्वम्, ततः कोटीपृथक्त्वं पूर्वाणि "पुव्वस्स उ परिमाण"मित्यादिनान्यत्राऽभिहितमानानि, सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमित्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम्, । **"सुहुमेसु"** ति एकेन्द्रिय-पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायमार्गणासत्का ये पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मौघमार्गणाभेदास्तेषु षट्सु सूक्ष्ममार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् **"अंगुलअसंखभागो"** त्ति सप्तानां

जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्यभागः, कालतस्त्वसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः। इदमपि पूर्ववदजघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालापेक्षया भावनीयमिति। **"सेसासूणगुरुकायठिई"** त्ति द्वितीयपृथिवीनिरयभेदाद्येकोत्तरशतमार्गणाभ्योऽनन्तराभिहितास्तिर्यग्गत्योघादित्रयोविंशतिमार्गणा अपहाय शेषास्वष्टसप्ततिमार्गणासु प्रत्येकं **"ऊणगुरुकायठिई"** त्ति तत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीया कालद्वारोक्तोत्कृष्टा कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तादिनैकदेशेनोना सती प्रकृतं सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं भवतीत्यर्थः। तत्राष्टसप्ततिः **शेषमार्गणा नामतस्त्वमूः**—द्वितीयादिपृथिवीभेदभिन्नाः षड्निरयगतिभेदाः, एको ज्योतिष्कदेवभेदः, द्वादश कल्पोपपन्नवैमानिकदेवभेदाः, चतुर्दश कल्पातीतवैमानिकदेवभेदास्तथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदः, बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, तथैव पञ्च पृथिवीकायभेदाः, पञ्चाप्कायभेदाः, पञ्च तेजस्कायभेदाः, पञ्च वायुकायभेदाः, पञ्च साधारणवनस्पतिकायभेदाः, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो द्वीन्द्रियभेदास्तथैव त्रयस्त्रीन्द्रियभेदास्त्रयश्चतुरिन्द्रियभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदौ चेति। एतासु प्रत्येकमुक्तदेशोनस्वस्वकायस्थितिस्तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरभावनायामभिहितरीत्याऽपर्याप्तावस्थादिरूपं मार्गणाप्रारम्भादन्तर्मुहूर्तं, तथैव देशोनकायस्थितिरुल्लङ्घ्य मार्गणाप्रान्ते द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिषु समयः, सप्तमपृथिवीनिरयभेदादिषु पुनरन्तर्मुहूर्तमित्येवं यथासम्भवं नानान्तर्मुहूर्तनिष्पन्नैकान्तर्मुहूर्तेनोना स्वयमेव भावनीयेति। **ननु** अपर्याप्तभेदवर्जतिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदत्रये कथं प्रकृतान्तरं देशोनकायस्थितिर्नाभिहितम्, किन्तु पूर्वकोटीपृथक्त्वमेव दर्शितम्? **उच्यते**, मार्गणात्रयेऽपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिजीवाः सन्ति। उक्तं च प्राग् **जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वा**भिधानावसरे—"असण्णी उ। पचिंदितिरियचउगअसमत्तपणिंदियेसु भवे ॥१२४॥" इति। ततश्च "पंचिंदितिरिनरेसु सत्तट्ठभवा उ उक्कोस्सा" इत्येवंरूपा या संख्येया-ऽसंख्येयवर्षस्थितिकैर्नानाभवैर्निष्पन्ना पूर्वकोटीपृथक्त्वेनाभ्यधिकपल्योपमत्रयप्रमाणोत्कृष्टकायस्थितिः साऽन्तर्मुहूर्तेन त्रिपल्योपमस्थितिकेन चरमेन युग्मिभवेन च न्यूना सती प्रकृतान्तरतया लभ्यते। कुतः? युग्मिनामसंज्ञित्वाभावेन प्रस्तुतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धस्याकरणाच्चरमं युग्मिभवं विवर्ज्य शेषभवनिष्पन्नकायस्थितितोऽप्यन्यमार्गणावत् प्रारम्भप्रान्तकालसत्कान्तर्मुहूर्तकालस्य वर्जनीयत्वात्। इत्येवमन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकत्रिपल्योपमेन न्यूना पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणात्रयसत्कोत्कृष्टा कायस्थितिः मार्गणात्रये जघन्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति। एतच्चाधिकृतमार्गणात्रये उत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणमभिधातुं न युज्यते, बहुभागहीनकायस्थितिप्रमाणत्वात्। ततश्चस्तथाऽदर्शयित्वा, पूर्वकोटीस्थितिकनानाभवप्रमाणत्वात् पूर्वकोटीपृथक्त्वं दर्शितमिति ॥२३४-२३५॥

तदेवमभिहितं मार्गणास्थानेष्वपि सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धान्तरम्। सम्प्रति तासामेव सप्तानामजघन्या स्थितेस्तद् दिदर्शयिषुरादौ तावद्यासु न सम्भवति, तासु प्रतिषेधयन्नाह—

णिरय-पढमणिरयेसु अपज्जणर-देव-भवणजुगलेसु ।
पणमणवयजोगेसु ओरालिय-कम्मजोगेसु ॥२३६॥
वेएसु कसायेसु विभंग-सामाइएसु छेअम्मि ।
सुहमम्मि तहा देसे मीसा-ऽणाहारगेसु च ॥२३७॥
सत्तण्ह अहस्साए ठिईअ णो चेव अंतरं णवरं ।
लोहे मोहस्स लहुं समयो परमं मुहुत्तंतो ॥२३८॥

(प्रे०) "**णिरयपढमणिरयेसु**"मित्यादि, अत्र "**णिरये**"त्यादिगाथाद्वयेन संगृहीतासु निरयगत्योघादिद्वात्रिंशन्मार्गणासु तृतीयगाथापूर्वार्धे "**सत्तण्ह अहस्साए ठिईअ णो चेव अंतर**"मित्यनेनायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामह्रस्वायाः स्थितेर्बन्धान्तरं प्रतिषिद्धम् । कस्मात्प्रतिषिद्धम् ? इति चेद्, द्वात्रिंशन्मार्गणास्वपि प्रत्येकमजघन्यस्थितिबन्धस्य सकृदेव लाभात् । अजघन्यस्थितिबन्धस्य सकृदेव प्राप्तिस्तु प्रकृतान्यतममार्गणागतस्योत्कृष्टमार्गणाकायस्थितिं निर्वाहयतः कस्यापि जीवस्य मार्गणाकालमध्ये जघन्यस्थितिबन्धस्य स्थितेरबन्धस्य चाऽप्राप्तेः, तदप्राप्तिः पुनर्जघन्यस्थितिबन्धस्य मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते वा सकृदेव लाभात्, मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते वैकवारमेव जघन्यस्थितिबन्धलाभस्तु प्राक् सप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धान्तरप्रतिषेधभावनायां व्युत्पादितस्तथैव ज्ञातव्य इति । तदेवं प्रतिषिद्धेऽपि प्रकृतान्तरे या काचिदतिप्रसक्तिस्तां निराकुर्वन्नाह–"**णवर**"मित्यादि, 'नवरं'–परम् "**लोहे**" त्ति लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽजघन्यस्थितेर्बन्धान्तरं भवति, तच्च जघन्यत एकसमयः, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकसमयमबन्धको भूत्वा कालं कुर्वतो देवगतावुत्पत्त्या लोभमार्गणायामेव मोहनीयस्याजघन्यस्थितिबन्धभावात् स्थितेः समयमात्राऽबन्धकालप्रयुक्तं ज्ञेयम् । 'परमम्'–उत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तम्, एतच्च सूक्ष्मसम्परायचरमसमये कालं कुर्वतः समयोनसूक्ष्मसम्परायाद्धाप्रमाणं प्राप्यत इति ॥२३६-२३७-२३८॥

अथ मार्गणान्तरेषु भिन्नभिन्नमतापेक्षया प्रकृतान्तरस्य सत्त्वासत्त्वे प्रतिपादयन्नाह—

मीसतिजोगेसु तहा सासाणम्मि य ण अंतरं हवए ।
अहवा समयो हस्सं णेयं परमं मुहुत्तंतो ॥२३९॥

(प्रे०) "**मीसतिजोगेसु तहा**" इत्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगेषु तथा सास्वादनमार्गणाभेदे च प्रत्येकं "**ण अंतरं हवए**" त्ति प्रकृतं सप्तानामजघन्याः स्थितेर्बन्धान्तरं न भवति । तत्र मिश्रयोगमार्गणात्रये स्वामित्वद्वारोक्तेन शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनार्वाग् मिश्रयोगचरमसमये एव जघन्यमुत्कृष्टं वा स्थितिबन्धमुररीकृत्य मतेन प्रकृतान्तरं नास्ति । सासादनमार्गणायां तु संयमादागतानामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वा-

पेक्षया प्रकृतान्तरं निषिद्धम्। तदन्यमतापेक्षया तु प्रकृतान्तरं प्राप्यत इति तज्जघन्यादिभेदेन दर्शयन्नाह–"**अहवा समयो हस्स**" मित्यादि, सुगमम्। अन्यमते स्वस्थानेऽपि जघन्यस्थिति-बन्धस्याङ्गीकृतत्वादिति भावः। विशेषतस्तु प्रागिव स्वयं भावनीयमिति ॥२३९॥

अथ शेषमार्गणामु सप्तकर्मणामजघन्यस्थितिबन्धान्तरं जघन्यतो दर्शयन्नाह—

भिन्नमुहुत्तं तिमणुस-अवेअ-मणणाण-संयमेसु भवे।
हस्सं पुण परिहारे तेउ-पउम वेअगेसुं च ॥२४०॥
समयो भिन्नमुहुत्तं व होइ सेसासुं होअए समयो।

(प्रे०) "**भिन्नमुहुत्त**"मित्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेष्वपगत-वेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं भिन्नमुहूर्तं भवेत्। किं तद् यद्भिन्नमुहूर्तं भवेदित्याह–"**हस्सं**"ति सप्तकर्मणामजघन्यायाः स्थितेः 'ह्रस्वं'-जघन्यं बन्धान्तरमित्यर्थः। **अयम्भावः**–प्रकृतपणमार्गणामु जघन्यस्थितिबन्धस्त्वौघिक एव, ततश्च न तत्प्रयुक्तं प्रकृतान्तरं लभ्यते, किन्तूपशमश्रेणिसत्केन स्थितेरबन्धकालेन प्रयुक्तं तल्लभ्यते, एतच्चाऽबन्धकालप्रयुक्त-मन्तरं यासु मार्गणासु मरणव्याघाते सत्यपि सम्भवति, तासु पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसकायादिमार्गणासु तज्जघन्यत एकसमयः प्राप्यते। प्रकृतमार्गणागतजीवस्य तु स्थितेरबन्धकाले मरणव्याघाते समुत्पन्ने नियमतः प्रकृतमार्गणानां विच्छेदो जायते, अतस्तदुपशान्ताद्धाक्षयेण क्रमशः प्रतिपततो जीवस्याबन्धकालापेक्षया सम्पद्यमानं मज्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यत इति। अथान्यमार्गणासु भिन्नभिन्नमतापेक्षया प्रस्तुतं जघन्यं बन्धान्तरमपि भिन्नं भिन्नं प्राप्यत इति तथैव दर्शयति-"**पुण परिहारे**" इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तेजः-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु च प्रत्येकं पुनः "**समयो भिन्नमुहुत्तं व होइ**"त्ति "हस्सं" इत्यस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनात् सप्तानामजघन्यस्थितेर्ह्रस्वं बन्धान्तरं समयो भिन्नमुहूर्तं वा भवति। तत्रान्तर्मुहूर्तम्–"अपमत्तो अहवा से कालम्मि कयकरणो हवेहिइ जो। सो णेयो परिहारे तेउपउमवेअगेसुं य ॥"(गाथा-१२८) इत्यत्राऽथवेत्यादिनाभिहितस्य कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वत एव जघन्यस्थिति-बन्धस्वामित्वमङ्गीकुर्वमतेन। समयस्तु "अपमत्तो" इत्यनेनोक्तस्य स्वस्थानप्रमत्तसंयतस्यापि जघन्य-स्थितिबन्धमङ्गीकुर्वमतेनावगन्तव्यम्, स्वस्थानप्रमत्तयतेरेकसमयमपि जघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भ-वात् तेनान्तरितयोरजघन्यस्थितिबन्धयोर्जघन्यान्तरं समयः प्राप्यत इति भावः। "**सेसासु**" ति निषिद्धप्रकृतान्तरा निरयगत्योघभेदादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्तथा दर्शितप्रकृतान्तरा अनन्तरोक्ता औदा-रिकमिश्रयोगादिवेदकसम्यक्त्वान्ताश्चतुर्दशमार्गणा विहाय शेषासु चतुर्विंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु "**होअए समयो**" त्ति सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं समयो भवेदित्यर्थः। अत्र **शेष-मार्गणास्तु नामत इमाः**–द्वितीयादिसप्तमान्तपृथिवीभेदभिन्नाः षड् निरयगतिमार्गणाभेदाः,

पञ्चापि तिर्यग्गतिमार्गणाभेदाः, ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताः सप्तविंशतिर्देवगतिमार्गणाभेदाः, सर्वेऽपीन्द्रियमार्गणाभेदास्ते चैकोनविंशतिः, सर्वेकायमार्गणाभेदास्ते च द्विचत्वारिंशत्, काययोग-सामान्य-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोगभेदाः, मत्यादयस्त्रयो ज्ञानभेदाः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-भेदौ, तथाऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन--कृष्ण-नील-कापोत--शुक्ललेश्या--भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षा-यिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु कासु-चित् तृतीयपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासु स्वस्थानसम्यग्दृष्ट्यादीनां समयमात्रभाविजघन्यस्थिति-बन्धान्तरितयोरजघन्यस्थितिबन्धयोरन्तरालापेक्षया प्रकृतं सामयिकान्तरं भावनीयम् । कासुचित् तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वेकेन्द्रिया-ऽसंज्ञ्यादिजीवानामेकसमयप्रवृत्तजघन्यस्थितिबन्धा-पेक्षया योजनीयम् । कासुचित्पुनः पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोग-सामान्य-मतिज्ञानादिमार्गणासु जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन तदपेक्षया न सम्भवति प्रकृतसामयिकान्तरम्, अत ओघवत् स्थितेरबन्धकालमपेक्ष्य तद्द्रष्टव्यमिति ॥२४०॥

अथैतास्वेव मनुष्यगत्योघादिचतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु सप्तप्रकृतिसत्काऽजघन्यस्थिते-र्बन्धान्तरमुत्कर्षतः प्रदर्शयन्नाह—

होइ तिमणुसाईसु एआसु गुरु मुहुत्तंतो ॥२४१॥

(प्रे०) "होइ तिमणुसाईसु"मित्यादि, "भिन्नमुहुत्तं तिमणुसअवेअ" इत्यादिनाऽनन्तर-मेवाभिहिताः पर्याप्तमनुष्यादिषण्मार्गणाः, परिहारविशुद्धिकसंयमादिचतुर्मार्गणास्तथा "सेसासु" इत्यनेन सङ्गृहीताश्चतुर्विंशत्यभ्यधिकशतमार्गणा इत्येतासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं "गुरु" त्ति सप्तानामजघन्यायाः स्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टं बन्धान्तरं "मुहुत्तंतो" त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवतीति पूर्वेण योगः । कुतः ? इति चेद्, उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धाद्धावज्जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धा-द्धाया उत्कृष्टोपशान्ताद्धायाश्चान्तर्मुहूर्तत्वेन तदन्तरितयोरजघन्यस्थितिबन्धयोः कालस्याप्यन्तर्मुहू-र्ताधिकत्वासम्भवादिति । अत्र भावना तु यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासूपशान्तमोहानां जीवानां प्रवेशादुपशान्ताद्धा प्राप्यते, तासु तदपेक्षया कर्तव्या; यासु पुनर्निरयदेवगत्यादिभेदेषु सा न लभ्यते, तासु जघन्यस्थितिबन्धकालापेक्षया कर्तव्या । तथाहि--मनुष्यगत्योघमार्गणायां केनचिच्चारित्रमोहो-पशामकेन महात्मना बादरानिवृत्तिकरणगुणस्थानकचरमसमयेमोहनीयस्याजघन्यस्थितिबन्धो निष्ठा-पितस्तथासूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामजघन्यस्थिति-बन्धो निष्ठापितः, ततः प्रभृति तत्तत्कर्मणामजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरं प्रवृत्तम्, तच्च यावदसावु-पशामक उपशान्तमोहगुणस्थानके गत्वोपशान्ताद्धाक्षयेण क्रमात्प्रतिपत्य तत्तत्कर्मणां स्थितिबन्धं न प्रारभते,तावत्प्रवर्तते,तथा च सति मोहनीयवर्जानां षण्णामजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमुपशान्तमोह-गुणस्थानकालप्रमाणं प्राप्यते, मोहनीयाजघन्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरं तु ततोऽप्यधिकं प्राप्यते, सूक्ष्म-

सम्परायाद्धाद्वयस्यापि तदन्तरे प्रवेशात् । इत्थमेव पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिषु तु प्राग्दर्शितानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवदेवभावनीयमिति ॥२४१॥

तदेवं प्रतिपादितमादेशत आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं बन्धान्तरम् । सम्प्रति शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तद्दिदर्शयिषुरादौ तावज्जघन्यस्थितेराह—

सव्वेसुं खलु णारग-समत्त-जोणिमइ-देवभेएसुं ।
पणमणवय-उरलेसुं आहारदुगम्मि वेउव्वे ॥२४२॥
थी-पुरिस-कसायेसुं विभंग-मणणाण-संयमेसु तहा ।
सामाइअ-छेएसुं परिहारे देस-चक्खूसुं ॥२४३॥
असुहेयरलेसासुं खइए सासायणम्मि य हवेज्जा ।
आउस्स जहण्णाए ठिईअ णो अंतरं चेव ॥२४४॥

(प्रे०) "**सव्वेसुं खलु णारगे**" त्यादि, 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकं सम्बध्यत' इति नियमेन भेदशब्दस्य निरयादिना प्रत्येकं योजनात् सर्वेस्वित्यष्टसु निरयगतिभेदेषु, "**समत्त**" त्ति 'समाप्ताः'-पर्याप्ताभेदास्ते च सर्वे पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्या अत्र ग्रन्थेऽधिकृता विंशतिः, तेषु सर्वेषु भेदेषु, तथा "**जोणिमइ**" त्ति योनिर्विद्यते यस्याः सा योनिमती । स्त्रीत्यर्थः । तदीयसर्वभेदे, तिरश्चीमानुषीभेदद्वय इति भावः । सर्वस्त्रीभेदानां ग्राह्यत्वेऽपि देव्यो न पृथग्गृह्यन्ते, देवीमार्गणायाः प्रकृतग्रन्थे पृथगनुपादानादिति । तथा सर्वेषु देवगतिभेदेषु, अन्यमार्गणाभेदान् संग्रहितुमाह–"**पणमणे**" त्यादि गाथाद्वयम्, तस्याक्षरगमनिका तु प्राग्वत्सुगमा । इत्येवं सार्धगाथाद्वयेन संगृहीतासु निरयगत्योघादिषण्णवतिमार्गणासु प्रत्येकम् "**आउस्स जहण्णाए ठिइअ णो अंतरं**" इत्यादिना तृतीयगाथोत्तरार्धेनायुषो जघन्यायाः स्थितेर्बन्धान्तरस्याभावः कथितः । कस्माद् ? आयुषो जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य जघन्यस्थितिबन्धद्वयाधीनत्वात्, एकस्मिन् भवे सकृदेव जघन्यस्थितिबन्धस्य भावाच्च । **इदमुक्तं भवति**–उत्कृष्टाबाधायां सत्यामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धवदायुषो जघन्यस्थितिबन्धो जघन्याबाधायामभिमतः, नान्यथा । जघन्याबाधा त्वेकस्मिन् भवे सकृदेव प्राप्यते, अन्तरं तु बन्धद्वयाधीनम् ,ततश्च एकस्मिन् भवे जघन्याबाधायां प्रथमवारं जघन्यस्थितिकमायुर्बद्ध्वा यावत्क्रमेणायुःक्षये भवान्तर उत्पद्य जघन्याबाधायां द्वितीयवारं जघन्यस्थितिकमायुर्बध्नाति, तावद्यदि प्रकृतमार्गणायामेव तद्बन्धकजीवस्तिष्ठति, तदैवबज्जघन्यस्थितिबन्धान्तरं प्राप्यते । तच्च प्रकृते न सम्भवति, द्वितीयं जघन्यायुर्बन्धं यावत् प्रकृतनिरयादिमार्गणास्वेव तद्बन्धकजीवस्याऽनवस्थानात् । **तथाहि**–सर्वेषु निरयगतिभेदेषु, सर्वेषु देवगतिभेदेषु, वैक्रियकाययोग-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्यामार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं जघन्यायुर्बन्धका नारका देवा वा, ते च जघन्यस्थितिकमायु-

स्तु मनुष्यसत्कं तिर्यक्सत्कं वा बध्नन्ति, ततश्च क्रमेण तत्रोत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाया बहिर्भावाद् द्वितीयवेलायां जघन्यायुर्बन्धं यावत् नावतिष्ठन्ति प्रकृतनिरयौघादिमार्गणायाम्, ततश्च प्रकृतान्तरमपि न प्राप्यते। आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमरूपास्वष्टमार्गणासु जघन्यायुर्बद्ध्वा देवगतावुत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाविच्छेदान्न लभ्यते प्रकृतान्तरम्। क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु सकृदेव जघन्यायुर्बन्धसम्भवात्प्रकृतान्तरस्याऽभावः। मनोयोगमार्गणायां तु जीवस्य स्वल्पावस्थानात् नास्ति द्विरायुर्बन्धस्तत्कुतो भवद्वयाधीन-जघन्यस्थितिबन्धान्तरसम्भवः, न कुतश्चिदपि। एवमेव शेषमनोयोगभेदेषु, वचोयोगभेदेषु, चतुर्षु कषायमार्गणाभेदेषु, त्रिषु कृष्णादिलेश्यामार्गणाभेदेषु, सासादनमार्गणायां च बोद्धव्यम्। ननु कृष्णादिलेश्यामार्गणात्रयस्यैकजीवाश्रयकायस्थितिर्दीर्घाऽभिहिता, तत्तासु कथं जीवस्य स्वल्पावस्थानमन्तराभावप्रयोजकतया दर्श्यते ? इति चेद्, न, अभिप्रायाऽपरिज्ञानाद्, यत आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकाऽपेक्षया तदभिधानम्, कृष्णलेश्यादिमार्गणात्रये आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धका मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा, तेषां च प्रत्यन्तर्मुहूर्तं लेश्यापरावृत्तिर्भवति, उक्तञ्च—"अंतमुहुत्तठिईओ तिरियनराण हुन्ति लेसाओ" इति। या तूत्कृष्टकायस्थितिरुक्ता सा तु सामान्यतो निरयजीवापेक्षयेति न कश्चिद्दोषः। औदारिककाययोगेऽप्यायुर्बद्ध्वा भवान्तर उत्पत्तिमात्रेणौदारिकमिश्रयोगप्रवर्तनात्प्रकृतमार्गणाविच्छेदो भवति। विंशतिपर्याप्तमार्गणा-तिरश्ची-मानुषी-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनरूपासु शेषमार्गणासु पुनः प्रत्येकं जघन्यायुर्बद्ध्वा लब्ध्यपर्याप्ततयोत्पत्तिमात्रेण प्रकृतमार्गणानां विच्छेदाजघन्यस्थितिकायुर्बन्धद्वयाधीनं प्रकृतान्तरं नैव लभ्यते। न च पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थायां जघन्यस्थितिकमायुर्बद्ध्वा लब्ध्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियत्वेनोत्पद्य तत्र जघन्यायुर्बन्धकरणे चक्षुर्दर्शनमार्गणायां प्रकृतान्तरं लभ्येतेति वाच्यम्। लब्ध्यपर्याप्तानां चतुरिन्द्रियमार्गणायां प्रविष्टत्वेऽपि चक्षुर्दर्शनमार्गणायामप्रवेशात्,। कुतः ? तेषां चक्षुर्दर्शनस्यानङ्गीकारात्। उक्तञ्च पञ्चसङ्ग्रहे—

'मइसुयअन्नाणअचक्खुदंसणेक्कारसेसु ठाणेसु' इति।

पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-लक्षणजीवस्थानत्रयवर्जेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽचक्षुर्दर्शनलक्षणास्त्रय एवोपयोगा भवन्तीति भावः। उक्तञ्च तद्वृत्तौ—

"एकेन्द्रियसूक्ष्मबादरद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकैः सह चतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञ्यपर्याप्तकेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाख्यास्त्रयः प्रत्येकं भवन्ति, एते च लब्ध्यपर्याप्तकाः, यतः करणाऽपर्याप्तकेष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां तेषां चक्षुर्दर्शनं भवति" इति ॥२४२-२४३-२४४॥ अथ शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितिबन्धान्तरस्य सम्भवात्तासु जघन्यादिभेदभिन्नं तत्क्रमेण दर्शयन्नाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगम्मि य जहण्णं।
साहियपल्लं णेयं सेसासु खणूणखुड्डभवो ॥२४५॥

(प्रे०) "ग.णतिगे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रकृतान्तरस्यानन्तरमेव प्रतिषिद्धत्वात् तां विहाय मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणानां त्रिके, तथाऽवधिदर्शनमार्गणायां समयक्त्वौघमार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्णणायां च "जहण्णं" ति आयुषो जघन्यायाः स्थितेः 'जघन्यं'–ह्रस्वं बन्धान्तरं "स.।हियपल्लं णेयं" ति साधिकं पल्योपमं ज्ञेयमिति । **इयमत्र भावना**–मतिज्ञानादिप्रकृतषण्मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितिबन्धो वर्षपृथक्त्वं भवति । उक्तश्च प्राक्— 'मइ-सुअ-ऽवहिणाणेसु ओहिदंसणम्मि सम्म-खइएसुं । वेअगसम्मत्तम्मि य विण्णेयो हायणपुहुत्तं ।७४। इति । तच्च वर्षपृथक्त्वस्थितिकं जघन्यमायुर्जघन्यायामबाधायां केनापि सम्यग्दृष्टिदेवेन बद्धम्, तत्पश्चादसौ भवक्षये ततश्च्युत्वा मनुष्यतयोत्पन्नः । नास्ति च तत्र सम्यग्दृष्टिमनुष्यत्वे तस्य प्रकृतान्तरप्रयोजकस्य द्वितीयवारं जायमानस्य जघन्यस्थितिकायुर्बन्धस्य सम्भवः, सम्यग्दृष्टिमनुष्याणां जघन्यतोऽपि साधिकपल्योपमस्थितिकदेवायुष एव बन्धभावात् । अतस्तेन तत्र जघन्यस्थितिकं देवायुर्बद्धम्, पश्चान्मृत्वा देवतयोत्पद्य प्राग्वदवशेषेऽन्तर्मुहूर्तायुषि जघन्याबाधायां जघन्यस्थितिकं मनुष्यायुर्बद्धम्; इत्थं हि तेन प्रथमवैमानिकभवे कृतस्य जघन्यस्थितिकायुर्बन्धस्य सान्तरे च द्वितीये वैमानिकभवे कृतस्य जघन्यस्थितिकायुर्बन्धस्य यदन्तरं तदेव प्रकृते षट्स्वपि मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं प्राप्तम्, ततो हीनान्तरस्याऽसम्भवादिति ।

"**सेसासु खणूणखुड्डभवो**" त्ति शेषमनुष्यगत्योघाद्येकषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं 'क्षणोनः'–समयोनः 'क्षुल्लकभवः'–षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयाऽऽवलिकाप्रमाणः सर्वलघुर्भव इत्यर्थः । अत्र **शेषमार्गणा नामत इमाः**–मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्य-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, ओघ-बादरौघ-सूक्ष्मौघ-बादरपर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, ओघा-ऽपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ द्वीन्द्रियभेदौ, तथैव द्वौ त्रीन्द्रियभेदौ, द्वौ चतुरिन्द्रियभेदौ, द्वौ च पञ्चेन्द्रियभेदौ, एकेन्द्रियवत् पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायसत्का प्रत्येकं पञ्च पञ्चेति पञ्चविंशतिर्भेदाः, वनस्पतिकायौघभेदः, तथौघा-ऽपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ प्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ द्वौ च त्रसकायभेदौ, तथा काययोगसामान्यौदारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतास्वेकषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं भावना त्वोघवदेव द्रष्टव्या, केवलं तत्तन्मार्गणागतमनुष्यादिजीवापेक्षयेति ॥२४६॥ अथ निरयगत्योघादिनिषिद्धान्तरावर्जासु शेषमार्गणास्वेवायुषो जघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं बिभणिषुराह—

परमं तिरि-येगिंदिय-पुहवाइचउग-णिगोअ-हरिएसु ।
बायरसुहुमेगिंदिय-चउपुहवाइग-णिगोएसु ॥२४६॥
पत्तेअवणे काये अमणे पलियस्स खलु असंखंसो ।

(प्रे०) "**परमं तिरियेगिंदये**" त्यादि, आयुषो जघन्यस्थितेः 'परमम्'–उत्कृष्टं बन्धान्तरं "**पलियस्स खलु असंखंसो**" इत्युत्तरगाथापूर्वार्धेऽन्वयः । पल्योपमस्यासंख्येयतमैकभाग इति तदर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**तिरियेगिंदिये**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघभेदैकेन्द्रियौघभेद–पृथिव्यादिवायुकायान्तचतुरोघभेद–निगोदौघ-वनस्पतिकायौघभेदेष्वित्यर्थः । अन्यमार्गणाभेदान् संचिन्वन्नाह–"**बायरसुहुमेगिंदिये**"त्यादि, तत्र बादरसूक्ष्मशब्दयोः प्रत्येकं योजनाद् बादरैकेन्द्रियौघभेद-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघभेदयोस्तथा "**चउपुहवाइग**" त्ति चत्वारः पृथिव्यादिकाः बादराः सूक्ष्माश्चौघभेदाः । बादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायौघलक्षणाश्चत्वारो भेदाः सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुकायौघलक्षणाश्चत्वारोभेदाश्चेत्यर्थः । "**णिगोएसु**" ति 'निगोदः'-साधारणवनस्पतिकायस्तस्य सूक्ष्मबादरभेदभिन्नावोघभेदावित्यर्थः । प्रत्येकवनस्पतिकायौघभेदे, काययोगौघभेदेऽसंज्ञिमार्गणायां चेत्येतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? इति चेद् , प्रकृतसर्वमार्गणासु केवलानां तिर्यग्गतिकानां जीवानामेव प्रवेशेन भिन्नभिन्नगतिकभवसंवेधप्रधानायाः पर्याप्तकायस्थितेः स्तोकमात्रप्राप्तेः पर्याप्तकायस्थितिसव्यपेक्षमायुषो जघन्यस्थितिबन्धान्तरमपि स्तोकमेव प्राप्यते । एतच्चानन्तरवक्ष्यमाणनीत्या विशेषतस्तु प्रतिमार्गणं स्वयमेवोह्यमिति ॥२४६॥

अथान्यत्र प्रकृतान्तरमाह—

> कोडिपुहुत्तं पुव्वा पणिंदियतिरिक्ख-मणुसेसुं ॥२४७॥
> णपुमे होइ पुहुत्तं अयरसयाण दुअणाण-अयतेसुं ।
> अणयण-भवि-यियरेसुं मिच्छा-ऽऽहारेसुं ओघव्व ॥२४८॥

(प्रे०) "**कोडिपुहुत्त**"मित्यादि, कोटीपृथक्त्वं "**पुव्वा**" त्ति पूर्वाणि "**पणिंदियतिरिक्खमणुसेसु**" त्ति पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणाभेद-मनुष्यौघमार्गणाभेदयोः प्रत्येकम्, आयुषो जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरमिति प्रक्रमाद्गम्यते । अत्र भावना तु सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरवत्कर्तव्या, सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धवदायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्यापि युग्मिनामभावादिति । "**णपुमे**" त्ति नपुंसकवेदमार्गणायां "**होइ पुहुत्तं अयरसयाण**" त्ति 'अतरशतानां'-सागरोपमशतानां पृथक्त्वं भवति, आयुषो जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमिति गम्यत इति ।

ननु अनन्तरं "परमं तिरिये"त्यादिनाऽसंख्यपुद्गलपरावर्तकायस्थितिकतिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्रकृतान्तरं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमभिहितम्, अत्र तु "**णपुमे होइ पुहुत्तं अयरसयाणे**" त्यनेनाऽसंख्यपुद्गलपरावर्तकायस्थितिकायां नपुंसकवेदमार्गणायां तदतिबहुदीर्घं सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणमभिहितमित्यत्र किं तत्वम् ? **इति चेद्, उच्यते**–आयुषो जघन्यस्थितेर्दीर्घं बन्धान्तरं दीर्घायाः पर्याप्तकायस्थितेरधीनम्, पर्याप्तस्य दीर्घा कायस्थितिस्तु निरय-देवभवैः समं मनुष्यादिभवसंवेधप्रधाना, न पुनर्मनुष्यतिर्यग्भवानां परस्परं संवेधप्रधाना, एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादितिर्यग्भ-

वानां वा परस्परं संवेधप्रधाना, इत्थं च तिर्यग्गतिमार्गणायामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादिभवसंवेध-निष्पन्ना सा पर्याप्तकायस्थितिः स्तोका प्राप्यते, अतस्तदधीनं प्रकृतान्तरमपि स्तोकं प्राप्यते, नपुंसकवेदमार्गणायां तु निरयभवैः समं तिर्यङ्मनुष्यभवाणां संवेधनिष्पन्ना पर्याप्तनपुंसकवेदकाय-स्थितिरतिबहुदीर्घा प्राप्यते, पर्याप्तसन्कदीर्घकायस्थितिप्रयोजकैर्निरयभवैः सममपि संवेध-प्राप्तेः । ततश्च नपुंसकवेदमार्गणायां प्रकृतान्तरमपि दीर्घं प्राप्यते। अत एव तिर्यग्गत्योघ-नपुंसक-वेदाद्यसंख्येयपुद्गलपरावर्तकायस्थितिकमार्गणाभ्योऽपि स्तोकासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणिमात्रकायस्थिति-कायामप्याहारिमार्गणायां पर्याप्तदीर्घकायस्थितिप्रयोजकैर्निरयदेवभवैः समं मनुष्यादिभवानां संवेध-निष्पन्ना सा पर्याप्तकायस्थितिरतिबहुदीर्घतरा ततस्तदधीनमायुषो जघन्यस्थितिबन्धान्तरमपि नपुं-सकवेदमार्गणायामुक्तप्रकृतान्तरापेक्षयाऽपि दीर्घमनुपदमेव वक्ष्यते ग्रन्थकृतेत्यलं विस्तरेण ।

कतिपयमार्गणास्वतिदेशद्वारेणाह–"दुअणाणे"त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षु-र्दर्शनभव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽऽहारिरूपास्वष्टमार्गणासु प्रत्येकम् "ओघव्व" त्ति प्रकृतान्तर-मोघवदनन्तरं कालद्वारेऽभिहितपर्याप्तत्रसकायकायस्थितितोऽभ्यधिकं भवतीत्यर्थः । इदमप्यनन्त-रोक्तनित्यैव विभावनीयमिति ॥२४७-२४८॥ अथ शेषमार्गणासु प्रकृतान्तरं दर्शयन्नाह—

सेसासूं देसूणासगसगकायट्ठिई भवे जेट्ठा ।

(प्रे०) "**सेसासु देसूणा**" इत्यादि, 'सव्वेसुं खलु णारग (गाथा-२४२) इत्यादिना-ऽभिहिताः निषिद्धप्रकृतान्तराः षण्णवतिमार्गणास्तथा 'परमं तिरिएगिंदिये'(२४६)इत्यादिनाऽभिहित-प्रकृतान्तराश्चतुस्त्रिंशन्मार्गणा विहाय शेषास्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादित्रयस्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**देसूणासगसगकायठिई भवे जेट्ठा**" त्ति 'देशोना'-अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेनोना-ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियतिर्यगादितत्तन्मार्गणानां स्वीया स्वीयोत्कृष्टा कायस्थितिर्भवेत्, आयुषो जघन्यस्थिति-बन्धस्योत्कृष्टमन्तरमिति गम्यत इति । सुगमम् । भावना तु प्रागुक्तदिशा स्वयमेव कर्तव्या, केवलं **शेषमार्गणा नामत इमाः**–विंशतिरपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्यपर्याप्तमार्गणास्थानानि, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रि-पञ्चेन्द्रिय-त्रसकायरूपाः पञ्चौघमार्गणाः, औदारिकमिश्रकाययोगः, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, अवधिदर्शनं, सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वमार्गणेऽसंज्ञिमार्गणा चेति ॥

तदेवमभिहितमायुषो जघन्यस्थितेर्द्विविधमपि बन्धान्तरं मार्गणास्थानेषु । साम्प्रतमजघन्य-स्थितेस्तन्मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुर्लाघवार्थमतिदेशेनाह—

सव्वासु अहस्साएऽणुक्कोसठिइव्व णायव्वं ॥२४९॥

(प्रे)० "**सव्वासु अहस्साए**" इत्यादि, निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु प्रत्येकम् "**अहस्साए**" त्ति 'अह्रस्वायाः' प्रकृतस्यायुषोऽजघन्यायाः स्थितेः "**णुक्कोसठिइव्व णायव्वं**" ति जघन्यादिभेदभिन्नं बन्धान्तरमनुत्कृष्टस्थितिवज्ज्ञातव्यम् . प्राक्—

	उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य								अनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य		
जघन्यत.—	ओघवद् —अन्तर्मुहूर्तम् (गाथा--२०५)								नास्ति	अन्तर्मु०	ओघवत् समय.
उत्कृष्टत.-	अन्तरम् नास्ति	पूर्वकोटिपृथक्त्वम्	असंख्येयलोक० (क्षेत्रत)	अङ्गुलासंख्यभाग (क्षेत्रत)	ओघवद् असंख्येयपुद्गलपरावर्त०	[illegible]	मार्गणानामुत्कृष्टकायस्थि०	नास्ति	अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्
गति०		अपर्याप्तवर्जपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यभेदा० ६				[illegible]	शेष० ४०			सर्व० ४७
इन्द्रिय०			एकेन्द्रियौघ० १	सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ० १			शेष० १७			सर्व० १९
काय०			वनस्पत्यान्तपञ्चौघभेद० साधारणवनौघ० ६	सूक्ष्मपृथिव्यादिसूक्ष्मसाधारणवनस्पत्यान्तपञ्चौघ० ५			शेष० ३१			सर्व० ४२
योग०	सर्व १८							कार्मण० १		शेष० ★ १७
वेद०	अवेद० १						शेष० ३		अवेद० १	शेष० ३
कषाय०	सर्व० ४									सर्व० ४
ज्ञान०	मत्यादि ४				मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २		विभङ्ग० १		मन.पर्यव० १	शेष० ६
संयम०	असंयमवर्ज० ६				असंयम० १			सामा छेद परि सूक्ष्म देश० ५	संयमौघ० १	असंय० १
दर्शन०	अवधि० १				अचक्षु० १		चक्षु० १			सर्व० ३
लेश्या०						शुक्ल०	शेष० ५			सर्व० ६
भव्य०					सर्व० २					सर्व० २
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ क्षायोपशमिक औपशमिक सासा० मिश्र०. ५				मिथ्यात्व० १		क्षायिक० १	क्षायोप० सासादन० मिश्र० ३		शेष० ४
संज्ञी०							सर्व० २			सर्व० २
आहा०	अनाहा० १						आहा० १	अनाहा० १		आहा० १
समस्ता –	४०	६	७	६	७	२	१०२	१०	३	१५७
गाथा:--	२०४-५	२०५	२०६	२०६	२०७	२०५	२०७	२०८-९	२१०	२१०

★ मिश्रयोगत्रये मतान्तरेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तर नास्ति (गाथा-२०९)।

आयुःकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रिता-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम्

उत्कृष्टत.-	असंख्येयपुद्गलपरावर्त०	एकजीवाश्रया देशोना स्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थिति.				अन्तरमेव
जघन्यतः—	ओघवत्-समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटि०	समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटि०	समयोनस्वीयस्वीयोत्कृष्टभवस्थितिः,	समयोनाऽन्तर्मुहूर्तं	साधिकं पल्योपमम्,	नास्ति
गति०			अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्०अपर्याप्तमनुष्य० २			शेष० ४५
इन्द्रिय०		पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २	सर्वैकेन्द्रिय० सर्वविकलेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रि० १७			
काय०		त्रसौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २	पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसत्कसर्वभेदा, अपर्याप्तत्रसश्च, ४०			
योग०				औदारिकमिश्र० १		शेष० १५
वेद०		स्त्री-पु-नपुंसक० ३				
कषाय०						सर्व० ४
ज्ञान०	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २				मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, ३	मनःपर्यवज्ञान० विभङ्ग० २
संयम०	असंयम १					शेष० ५
दर्शन०	अचक्षु० १	चक्षु० १			अवधि० १	
लेश्या०						सर्व० ६
भव्य०	भव्या-ऽभव्यौ, २					
सम्यक्त्व	मिथ्यात्वम्, १				सम्यक्त्वौघ० क्षायोपशमिक० २	क्षायिक० सास्वादन० २
संज्ञी०		सञ्ज्ञी, १				असञ्ज्ञी० १
आहार०		आहारक० १				
सर्वमार्गणाः—	७	१०	५९	१	६	८०
गाथाङ्का	२१३-१४-१७	२१३ २१४-२१७	२१५-२१७	२१६-१७	२१६-२१७	२११-२१२

आयुःकर्मणोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम्

जघन्यतः--अन्तर्मुहू०		अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०	नास्ति	अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहू०
उत्कृष्टत--	देशोना षण्मासा	२९ वर्षसहस्राणि साधिकानि	७ वर्ष सहस्राणि साधिकानि	अन्तर्मुहूर्तम्	देशोनोत्कृष्टकायस्थिति ★	५५ पल्योपमानि साधिकानि	देशोनपूर्वकोटितृतीयभागः	साधिकपूर्वकोटि	,,	ओघवत् ३३सागरोपम साधिक०	साधिकोत्कृष्टभवस्थितिः
गति०	सर्वनरकदेव० ३८										शेष० ९
इन्द्रिय०										पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २	शेष० १७
काय०										त्रसौघ-तत्पर्याप्त० २	शेष० ४०
योग०		कायौघ० १	औदारिक० १	मिश्रौदारिक					शेष०१३		
वेद०						स्त्रीवेद० १			सर्व० ४	शेषवेद० २	
कषाय०											
ज्ञान०					विभङ्ग * १		मन पर्यव०१			शेष० ५	
संयम०							असंयमवर्ज०५			असंयम० १	
दर्शन०										सर्व० ३	
लेश्या०	सर्व० ६										
भव्य०										सर्व० २	
सम्यक्त्व									सास्वा० १	शेष० ४	
संज्ञी०								असंज्ञी, १		संज्ञी० १	
आहारी०										आहारक० १	
सर्वमार्गणा.—	४४	१	१	१	१	१	६	१	१८	२३	६६
गाथाङ्का.—	२१९	२२१	२२१	२२२	२२४	२२२	२२३	२२५	२१८	२२५	२२०

* केचित्तु—देशोनषण्मासा इति। ★ सर्वमार्गणानामुत्कृष्टादिकायस्थितिप्रदर्शकयन्त्रं तु १६४ तमे पृष्ठे विलिखित इति।

जघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरम्								
	जघन्यान्तरम्			उत्कृष्टान्तरम्				
	ओघवत् समयोनक्षुल्लकभव०	साधिक-पल्योप०	अन्तरं न भवति	पल्योपमा-ऽसंख्यभा०	देशोना स्त्रीयस्त्री-योन्कृष्टकायस्थिति	पूर्वकोटि-पृथक्त्वम्	सागरोपमशत-पृथक्त्व	ओघवत् नाधिक २०००सा
गति०	तिर्यगोघ. तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघ तदपर्याप्त मनुष्यौघ तदपर्याप्त ५		शेष० ४२	तिर्यग्गत्योघ० १	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगपर्याप्तमनुष्यौ २	पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्-मनुष्यौघ-भेदौ २		
इन्द्रिय०	ओघ-बादरौघ-तदपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तदपर्याप्तैकेन्द्रियभेदाः, ओघा-ऽपर्याप्तद्वि-त्रि-चतु:-पञ्चेन्द्रिय-भेदाश्च १३		शेष०६	ओघ-बादरौघ-सूक्ष्मौघभेदादेकेन्द्रियभेदत्रयम्, ३	ओघा-ऽपर्याप्तद्वि-त्रि-चतु:-पञ्चेन्द्रियभेदा अपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियभेदौ च १०			
काय०	ओघ-बादरौघ-तदपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तदपर्याप्तभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनभेद वनौघ प्रत्येकवनौघाऽपर्याप्तौ त्रसौघा-ऽपर्याप्तौ च ३०		शेष० १२	ओघ-सूक्ष्मौघ-बादरौघभेदभिन्न-पृथिव्यप्तेजोवायु-साधारणवनभेदा वनौघ प्रत्येक-वनौघश्च १७	त्रसौघ० तदपर्याप्त अपर्याप्तसूक्ष्मबादर-पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनभेदा, अपर्याप्तप्रत्येकवनश्च १३			
योग०	कायौघ० औदारिक-मिश्रश्च० २		शेष० १८	काययोगौघ० १	औदारिककर्मिश्र० १			
वेद०	नपुंसक० १		शेष०२				नपु०१	
कषाय०			सर्व०४					
ज्ञान०	मत्यज्ञा० श्रुताज्ञा० २	मत्यादि० ३	मनःपर्यव विभङ्ग २		मत्यादिज्ञानत्रिक ३			मत्यज्ञा श्रुताज्ञा २
संयम०	असंयम --१		शेष० ५					असंयम १
दर्शन०	अचक्षु० १	अवधि०१	चक्षु० १		अवधि० १			अचक्षु०१
लेश्या०			सर्व० ६					
भव्य०	सर्व० २							भव० २
सम्यक्त्वं	मिथ्यात्व० १	सम्यक्त्वौ क्षायोप २	शेष० २		सम्यक्त्वौघ० क्षायोपशमिक० २			मिथ्यात्व० १
संज्ञी०	संज्ञी, असंज्ञी० २			असंज्ञी १	संज्ञी० १			
आहारी	आहारी० १							आहा०१
सर्वमार्गणा -	६१	६	६६	२३	३३	२	१	८
गाथाङ्का -	२४५	२४५	२४४	२४६-२४७	२४९	२४७	२४८	२४८

अजघन्यस्थितिबन्धस्यान्तरमोघत आदेशतश्च सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धयन्त्रोक्तमेव (गाथा-२४९)

६९ मार्गणासु		शेषासु १०१ मार्गणासु जघन्यमन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टं तु–			
अन्तरम्	अन्तरं न भवति	असंख्यलोका	पूर्वकोटिपृथक्त्वम्	अङ्गुलाऽसंख्यभाग	देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः
गति०	निरयौघ० प्रथमा च० सर्वमनुष्यभेद० दैवौघ० भवन० व्यन्तरदेवभेद० ६	तिर्यग्गत्योघ० १	पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ० तत्पर्याप्त० तिरश्ची० ३		शेष० ३४ ★
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २	एकेन्द्रियौघ १		सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ १	शेष० १५ +
काय०	त्रसकायौघ० तत्पर्याप्त० २	पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पत्यौघ० साधारणवनौघ ६		सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनौघभेदाः ५	शेष २६ ∴
योग०	सर्व० १८				
वेद०	सर्व० ४				
कषाय०	सर्व० ४				
ज्ञान०	मत्यादिज्ञानचतुष्क० विभङ्ग० ५	मत्यज्ञान० श्रुताऽज्ञान० २			
संयम०	संयमौघ० सामायिक० छेद० △ **परिहारविशुद्धिक**० सूक्ष्म० देश० ६	असंयम० १			
दर्शन०	सर्व० ३				
लेश्या०	सर्व० ६				
भव्य०	भव्य० १	अभव्य० १			
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० औपशमिक० △ **क्षायोपशमिक**० सासदन० मिश्र० ६	मिथ्यात्व० १			
सञ्ज्ञी०	सञ्ज्ञी० १	असञ्ज्ञी० १			
आहारी०	सर्व० २				
सर्वमार्गणा –	६९	१४	३	६	७८
गाथाङ्का -	२२९-२३२	२३४	२३५	२३५	२३५

△ परिहारविशुद्धिकसंयम-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्मतान्तरेण जघन्यमन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टं स्वदेशोनोत्कृष्टकायस्थितिः। (गाथा-२३२-२३३)

★ द्वितीयपृथिव्याद्याः ६ निरयभेदाः, ज्योतिष्काद्याः २७ देवभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-१,=३४।

+ बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियभेदाः ५, सर्वविकलेन्द्रियभेदाः ९, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेद=१५।

∴ बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनभेदाः-२५, सर्वप्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः-३, अपर्याप्तत्रसभेद-१=२९।

उत्कृष्टम्—	ओघवदन्तर्मुहूर्तम्— (मार्गणा –१३८)		शेषासु अन्तरमेव नास्ति
जघन्यम्–	ओघवत् समयः	अन्तर्मुहूर्तम्	,,
गति०	द्वितीयपृथिव्यादिसप्तमपृथिव्यन्ताः ६ निरयभेदाः, ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ता. २७ देवभेदा.,५ सर्वतिर्यग्भेदाश्च ३८	मनुष्यौघ० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	निरयौघ-प्रथमनिरया-ऽपर्याप्तमनुष्य-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदाश्च ६
इन्द्रिय०	सर्व० १६		
काय०	सर्व० ४२		
योग०	काययोगौघ० वैक्रिय० आहारक० + **मिश्रयोगत्रयम्०** ६		सर्वमनोवचोभेद० औदारिक० कार्मण० १२
वेद०		अवेद० १	वेदत्रयी० ३
कषाय०			**सर्व०** ★ ४
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने च ५	मनःपर्यव० १	विभङ्गज्ञान० १
संयम०	असंयम० **परिहार०** ∴ २	संयमौघ० १	सामायिक० छेद० सूक्ष्मसम्प० देश० ४
दर्शन०	चक्षु० अचक्षु० अवधि० ३		
लेश्या०	**सर्व०** ∴ ६		
भव्य०	भव्य० अभव्य० २		
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० औपशमिक० **क्षायोपशमिक०** ∴ + **सासदन०** मिथ्यात्व० ६		
संज्ञी०	संज्ञी० असंज्ञी० २		सम्यग्मिथ्यात्व० १
आहारी०	आहारी० १		अनाहारी० १
सर्वमार्गणा -	१३२	६	३२
गाथाङ्का -	२३८	२४०	२३६-३७-३८

+ मिश्रयोगत्रये सासदनमार्गणायां च मतान्तरेऽन्तरमेव न भवति (गाथा-२३६)।

★ अपवादः–लोभमार्गणायां मोहनीयस्य जघन्य समयः, उत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तम् (गाथा–२३८)।

∴ परिहारविशुद्धिकसंयम-तेजोलेश्या- पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु मतान्तरे प्रस्तुतान्तरं जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम्(गाथा-२४०)।

'पणमणवयेसु विउवे आहारदुगे कसायचउगे य । सासाणे आउस्स उ अगुरुठिईएंऽतरं णत्थि ॥२१८॥
सेसासु मुहुत्तंतो लहुं गुरुं होइ ऊणछम्मासा । सव्वणिरयदेवेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥२१९॥'
सव्वेसु तिरिय-मणुस-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं । असमत्तपणिंदि-तसेसु साहिया भवठिई जेट्ठा ॥२२०॥
कायम्मि भूभवठिई देसूणतिभागसंजुया जेट्ठा । उरलेऽब्भहियाणि भवे सत्तसहस्साणि वासाणि ॥२२१॥
ओरालिय मीसम्मि उ भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज इत्थीए । जाणेयव्वं पंचावण्णा पलिओवमाऽब्भहिया ॥२२२॥
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं । देसूणो पुव्वाणं कोडितिभागो मुणेयव्वं ॥२२३॥
विब्भंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं । देसूणा छम्मासा हवइ त्ति भणन्ति अण्णे उ ॥२२४॥
पुव्वाणेगा कोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि । सेसासुं णायव्वं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥२२५॥

इति गाथाऽष्टकेनाभिहिताऽऽयुरनुत्कृष्टस्थितिबन्धसत्कान्तरवत् प्रकृतान्तरं पञ्चमनोयोगभेदाद्यष्टादशमार्गणाम् नास्ति । शेषनिरयगत्योघादिपञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतस्तु निरयगत्योघादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु देशोनषण्मासाः । तिर्यग्गत्योघादिषट्षष्टिमार्गणाम् प्रत्येकं साधिका भवस्थितिः । काययोगमार्गणायां साधिकान्येकोनत्रिंशद्वर्षसहस्राणि । औदारिककाययोगमार्गणायां साधिकानि सप्तवर्षसहस्राणि । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामन्तर्मुहूर्तम् । स्त्रीवेदमार्गणायां साधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणासु प्रत्येकं देशोनः पूर्वकोटीतृतीयभागः । विभङ्गज्ञानमार्गणायां किञ्चिदूनपूर्वकोटीतृतीयभागद्वयोना स्त्रीयोत्कृष्टकायस्थितिः । असंज्ञिमार्गणायां साधिका पूर्वकोटिः । उक्तशेषाम् पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादित्रयोविंशतिमार्गणासु पुनः प्रत्येकं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषोऽजघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं बोद्धव्यमित्यर्थः । भावनाप्येतासु प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरवदेव कार्येति ।

इदन्तु बोध्यम्—यथा संयमादसंयमे गमनाऽगमनापेक्षया एकस्मिन् भवे नानासंयमाकर्षाः, एवं सम्यक्त्वाद्याकर्षाश्च निर्विवादमभ्युपगम्यन्ते, तथा **श्रीप्रज्ञापना**ऽऽगमोक्ता आयुर्बन्धाकर्षा आयुर्बन्धात्तदबन्धे गमनाऽगमनापेक्षयाऽभ्युपगम्य एकस्मिन् भव एकद्व्यादिवारं यावत्सप्तकृत्व आयुर्बन्धापेक्षयाऽत्र ग्रन्थे एकजीवाश्रयमायुर्बन्धान्तरं प्रतिपादितं भवति । कथं गम्यते ? निरयगत्योघाद्येकभविकमार्गणास्थानेष्वप्यनुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धान्तरस्य प्रतिपादितत्वात् । अत एव तत्र तत्राऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्जघन्यबन्धान्तरमेकस्मिन् भवे चरमद्विचरमायुर्बन्धाद्धयोर्द्विरायुर्बन्धापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुपपादितमस्माभिः ।

यदि च * ग्रन्थान्तरवचनेनैकस्मिन् भवे सकृदेवायुर्बन्धमभ्युपगम्याऽऽयुर्बन्धाकर्षास्तथा नाभ्युपगम्यन्ते, मतान्तरं वाऽभ्युपगम्यते, तदा तु निरयगत्योघादिमार्गणासु यास्वेकभवादधिककालं जीवो न तिष्ठति, तास्वुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरप्रतिषेधवदनुत्कृष्टादिस्थितिबन्धान्तरमपि प्रतिषेधनीयम् । यत्र पुनरोघादिप्ररूपणायां नानाभवसम्भवस्तत्राऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं बन्धान्तरं भवद्वयेनैव साधनीयम्, न त्वेकेन भवेन । तथाहि—यः कश्चिन्मनुष्यादिजीवोऽसंक्षेप्याद्धाया-

* महोपाध्यायविरचितयोगविंशिकावृत्त्यादिवचनादित्यर्थः ।

पर्याप्तमनुष्यादिसत्कमायुर्निर्वर्त्य तत्पश्चादपवर्त्य क्षुल्लकभवप्रमाणवद्धत्वाद्वा भवान्तरे षट्पञ्चाश-दभ्यधिकशतद्वयावलिकास्थितिकतयोत्पद्य तत्र वेद्यमानायुस्तृतीयभागरूपायामबाधायामायुर्बन्धं प्रारभते, तस्य तथाविधायुर्बन्धकस्य तथाविधायुर्बन्धद्वयस्य किञ्चिदभ्यधिकक्षुल्लकभवतृतीयभागद्वयप्रमाण-मन्तरमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं लभ्यते, जघन्याबाधायाः क्षुल्लकभवतृतीयभागद्वयस्य च तादृशायुर्बन्धद्वयान्तराले पतितत्वात्। एतदेवौघतस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु चाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थिते-र्जघन्यं बन्धान्तरं ज्ञेयम्। अनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरमप्योघतस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वेव च प्रथमत उत्कृष्टाबाधायां पश्चाच्चनन्तरे सम्भवत्पूर्वकोट्यायुत्कृष्टस्थितिकभवे जघन्याबाधायामायु-र्बन्धापेक्षया लभ्येतेत्येवं प्रतिमार्गणं यथासम्भवं स्वयमेवोह्यम्। एवमेवाऽजघन्य-जघन्यस्थिति-बन्धान्तरमप्युपपादनीयम्। एवमेवाग्रे भूयस्काराधिकारादावप्येकजीवाश्रयान्तरे यथासम्भवं विशेषः स्वयमभ्यूह्यः। न चैकस्मिन् भवे वेद्यमानायुस्तृतीयभागाद्यवशेषे आयुर्बन्धाद्धायां सकृदायुर्बध्नतां तदानीमेव नानाऽऽकर्षानभ्युपगम्य तदपेक्षयाऽऽयुषः सम्भवदुत्कृष्टादिस्थितिबन्धान्तरस्य प्रतिपादन-मेव साधीयस्, तथाऽभ्युपगम आगमोक्ताऽऽयुर्बन्धाकर्षा एकस्मिन् भवे सकृदेवायुर्बन्ध इत्यस्य वचनद्वयस्योपपत्तेरिति वाच्यम्। तथा सति वेद्यमानायुषस्तृतीय-नवमादिभागावशेषादन्तर्मुहूर्त-मध्ये द्वितीयाद्याकर्षरूपाणामायुर्बन्धानां वेद्यमानायुषोऽवशेषतृतीय-नवमादिभागादन्यत्राऽन्तर्मुहूर्त-द्वयन्तर्मुहूर्ताद्योनतृतीयभागाद्यवशेषे पुनः पुनः प्रारम्भस्याऽऽवश्यकतया 'तृतीय-नवमभागाद्यवशेषे स्वीयवेद्यमानायुषि जीवः पारभविकायुर्बन्धं प्रारभते, नान्यथा,' इत्यर्थकसिद्धान्तो विरुध्येत। इत्येवं यथामति विवृतमायुर्बन्धान्तरम्, तत्त्वं पुनः सर्वविद्वेद्यमिति नात्रैकस्मिन्नपि पक्षेऽस्मा-कमाग्रह इति ॥२४९॥

तदेवमभिहितमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्द्विविधं बन्धान्तरमतिदेशद्वारेण सर्वमार्गणासु। तस्मिं-श्चाभिहिते गतं पञ्चममेकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे पञ्चममन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं संनिकर्षद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं संनिकर्षद्वारम् । तत्र चोत्कृष्ट-जघन्यस्थितिबन्धभेदाद् द्विविधः संनिकर्षः प्रतिपादनीयः, तत्रादावुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षं प्रतिपिपादयिषुरोघतः प्ररूपयन्नाह—

पढमस्सुक्कोसठिइं बंधंतो बंधगो चिअ हवेज्जा ।
छण्हं उक्कोसाए वाऽणुक्कोसाअ व ठिईए ॥२५०॥

(प्रे०) "पढमस्से"त्यादि, इह हि संनिकर्षः-सम्बन्धः, स च मूलप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिस्थितिबन्धानां समकाले जायमानानां परस्परं गृह्यते, तेषामेव प्रस्तुतत्वात् । इदमुक्तं भवति-यदा हि ज्ञानावरणीयादिविवक्षितप्रकृतेर्विवक्षितो य उत्कृष्टादिस्थितिबन्धः प्रवर्तते, तेन सह भावी, अर्थात् तदानीमेव जायमानो यस्तदन्यप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धः, सोऽत्र प्ररूपणीयः, संनिकृष्टानां-समकालादौ वर्तमानत्वाज्जायमानत्वाद्वा परस्परं सम्बन्धितानामर्थानां तेनरूपेण प्ररूपणायाः सन्निकर्षप्ररूपणाशब्दनिर्वचनात् । तत्र "पढमस्स" त्ति निरुक्तयुक्त्या * व्युत्पन्नक्रमेण 'प्रथमस्य' ज्ञानावरणीयकर्मण 'उत्कृष्टां' त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन् यः कश्चिज्जीवः सः "बंधगो चिअ हवेज्जा" त्ति बन्धक एव भवति । कस्या इत्याह-"छण्ह" मित्यादि, ज्ञानावरणमायुश्च विहाय शेषाणां दर्शनावरणीयादीनां षण्णां कर्मणामुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेरित्यर्थः ॥२५०॥ तदेवं ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले दर्शनावरणीयादीनां षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टा स्थितिरपि बध्यत इति विकल्पिते सति साऽनुत्कृष्टा स्थितिः किं समयोनोत्कृष्टा द्विसमयोनोत्कृष्टा वा, कियत्प्रमाणा बध्यते ? इत्यत्राह—

सा य अणुक्कोसठिई उक्कोसाउ समयाइणा हीणा ।
जाव असंखंसेणं हीणा पलिओवमस्स भवे ॥२५१॥

(प्रे०) "साय अणुक्कोसठिई" त्यादि, सा च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्स्वामिना निर्वर्त्यमाना दर्शनावरणीयादीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टा स्थितिः "उक्कोसाउ" त्ति "ठिइबंधो उक्कोसो पढम दुइअ-तइअ अट्ठमाण भवे । सागरकोडाकोडी" । (गा०-३७) इत्यादिना प्रागुक्तत्रिंशत्कोटिकोट्यादिप्रमाणदर्शनावरणीयादिसत्कौघोत्कृष्टस्थितेः, दर्शनावरणादिसत्कर्माधिकमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमपेक्ष्येत्यर्थः । समयादिना हीना यावत्पल्योपमस्यासंख्यांशेन हीना भवेत् । इदमुक्तं भवति-यदा ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टस्थितिर्बध्यते, तदा दर्शनावरणीयादीनां षण्णां कर्मणां नियमतो बन्धो भवति, स्थितिस्तु तदानीमुत्कृष्टा त्रिंशत्कोटीकोट्यादिप्रमाणा बध्यते, अनुत्कृष्टा वा दर्शनावरणीयस्य समयोनास्त्रिंशत्कोटीकोटयः, द्विसमयोनास्त्रिंशत्कोटीकोट्यः, त्रिसमयोनास्त्रिंशत्कोटीकोटयः, एवं यावत्पल्योपमस्यासंख्याततमेन भागेनोनास्त्रिंशत्कोटीकोट्योऽपि बध्यते, न पुनस्ततो-

* द्वितीयाधिकारे प्रथमद्वारे सप्तत्रिंशत्तमगाथावृत्तौ दर्शितयुक्त्येत्यर्थः ।

ऽप्यूना । इत्थमेव वेदनीयकर्मणोऽन्तरायकर्मणोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धविषयेऽपि द्रष्टव्यम्, मोहनीयस्य त्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदीयौघिकसप्ततिकोटीकोटीप्रमाणोत्कृष्टस्थितिबन्धमपेक्ष्य समयादिना हीनो यावत्पल्योपमस्यासंख्यभागेन हीनसप्ततिकोटीकोटीप्रमाणो जायत इति द्रष्टव्यम् । एवमेव नामगोत्रयोरपि स्वकीयौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमपेक्ष्याभिधातव्यमिति ॥२५१॥ तदेवं ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे जायमाने नियमेन बध्यमानानां दर्शनावरणादीनां षण्णां स्थितिबन्धविषयकविकल्पान् प्रतिपाद्य सम्प्रत्युक्तशेषस्यायुःकर्मणस्तान् दर्शयन्नाह—

आउस्स बन्धगो वा अबन्धगो वाऽत्थि गुरुठिईए च्च ।
भयणिज्जा उणऽबाहा होज्जेवं छण्ह कम्माणं ॥२५२॥

(प्रे०) "आउस्स" इत्यादि, ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्नसौ पुनरायुःकर्मणो बन्धको वाऽबन्धको वा भवति, पारभविकायुषो वेद्यमानायुस्त्रिभागाद्यवशेषे नियतकाल एव बन्धसम्भवात् । यदा च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकालेऽसावायुषो बन्धकस्तदा "गुरुठिईए च्च" त्ति निषेकमात्रमधिकृत्याबाधानिरपेक्षा याऽऽयुषो 'गुरुः'-उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा स्थितिस्तस्याः "च्च" त्ति एव बन्धको भवतीत्यर्थः । इत्येवमवधारणादनुत्कृष्टायाः समयादिहीनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणाया अनुभवयोग्यस्थितेर्बन्धको नैव भवतीति भावः । अबाधायुतनिषेकरूपायाः कर्मरूपतावस्थानलक्षणायास्तु तस्या अनुत्कृष्टस्थितेरपि बन्धको भवतीत्येतद्दर्शयितुकाम आह–"भयणिज्जा उणऽबाहा" त्ति तस्या उत्कृष्टस्थितेरबाधा पुनर्भजनीया-भाज्या, निषेकमात्रमधिकृत्य बन्धप्रायोग्याया आयुषो बध्यमानानुभवयोग्योत्कृष्टस्थितेरबाधा पुनरुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा वा स्यादित्यर्थः । अयम्भावः-पूर्वकोटीवर्षायुषश्चरमे तृतीये भागे वेदयितुं प्रारब्धे कश्चिज्जीवो ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् दर्शनावरणीयादीनामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थितिं निर्वर्तयति, स च तदानीमेवाऽऽयुषो बन्धं निर्वर्तयति चेत्तदा सप्तमनरकसत्कत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकायुष एव,न तु समयादिहीनस्थितिकस्य,अस्य ह्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रारब्धे प्रथमसमय उत्कृष्टाऽबाधा भवति, प्रारम्भद्वितीयसमयात्पुनस्तस्योत्कृष्टनिषेकस्याप्यायुषः स्थितिबन्धेऽबाधा समयादिना हीना हीनतराद्याऽनुत्कृष्टा भवति, इत्येवं वेद्यमानायुषो नवमादिभागेष्ववशेषेषु ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तो येऽष्टानां मूलप्रकृतीनां बन्धकास्तेषामप्यायुषो निषेकस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट एव द्रष्टव्यः, अबाधापुनरनुत्कृष्टावेति । तदेवं ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले शेषसप्तकर्मणां जायमानं स्थितिबन्धं प्रदर्श्य सम्प्रति दर्शनावरणीयादीनां षण्णां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तदन्यप्रकृतीनां जायमानस्थितिबन्धं प्ररूपयितुकामोऽतिदिशन्नाह–"होज्जेवं छण्ह कम्माणं" ति एवंशब्दस्य सादृश्यार्थकतया यथा ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषाणां दर्शनावरणादीनां षण्णां नियमेनायुषश्च भजनया यथोक्तप्रमाणोत्कृष्टादि-

स्थितेर्बन्धको वाऽबन्धको वा भवति, तथैव "छण्ह कम्माणं" ति ज्ञानावरणीयायुर्वर्जानां षण्णां दर्शनावरणीयादिकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवोऽपि शेषाणां ज्ञानावरणीयादीनां षण्णामायुषश्च यथोक्तप्रमाणोत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकोऽबन्धको वा भवतीति भावः। विशेषतस्तु प्रतिकर्म स्वयमेव योजनीयमिति ॥२५२॥

सम्प्रत्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धे शेषकर्मणां स्थितिबन्धसंनिकर्षमाह—

आउस्सुक्कोसठिइं बंधंतो बंधगो च्च होएज्जा ।
उक्कोसाअ ठिईए ऽणुक्कोसाअ व सत्तण्हं ॥२५३॥

(प्रे०) "**आउस्सुक्कोसठिइ**"मित्यादि, आयुष उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवस्तु "**बंधगो च्च होएज्जा**" त्ति अस्य 'सत्तण्ह' इति परेणान्वयस्ततः शेषसप्तकर्मणां बन्धक एव भवेत्, न पुनरबन्धकः। स्थितेस्तु तेषां शेषसप्तकर्मणामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा बन्धक एव भवेत्, उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योरन्यतरस्याः स्थितेर्बन्धको भवतीति भावः; सकषायजीवानां प्रकृतिबन्धभावे स्थितिबन्धस्य नियमतो भावादिति ॥२५३॥ अनन्तरगाथायामायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः शेषाणामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थितिं बध्नातीति विकल्पितम्, अतस्तत्रानुत्कृष्टा स्थितिः किमुत्कृष्टापेक्षयाऽसंख्येयभागहीना उत संख्येयभागहीनाऽसंख्येयादिबहुभागैर्वा हीना बध्यत इति जिज्ञासायामाह—

सा य अणुक्कोसठिई तिविहा णेया असंखभागूणा ।
संखेज्जभागहीणा तहा य संखेज्जगुणहीणा ॥२५४॥

(प्रे०) "**सा य अणुक्कोसठिई**"त्यादि, सा चायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकाले निर्वर्त्यमाना ज्ञानावरणादीनामनुत्कृष्टस्थितिः "**तिविहा**" 'त्रिविधा'-अनुपदं वक्ष्यमाणत्रिस्थानपतिता ज्ञेया। त्रैविध्यमेवाह—"**असंखभागे**"त्यादिना, स्वीयस्वीयौघोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्येयतमभागेनोना, संख्येयतमभागेन हीना, संख्येयगुणहीना,-संख्येयैर्बहुभिर्भागैर्हीना वेत्यर्थः। इयं हि त्रिविधाऽपि स्थितिर्निरयायुर्बध्नन्तो जीवानपेक्ष्य विज्ञेया, न पुनर्देवायुर्बध्नन्तः, देवायुर्बध्नतां जीवानां विशुद्धाध्यवसायतया ज्ञानावरणादेः संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव भावादिति ॥२५४॥

तदेवमोघतोऽष्टानामपि मूलकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षमभिधाय सम्प्रति तेषामेवाऽऽदेशतो निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु तमभिधित्सुराह—

एवं सव्वासु णवरि बंधो आउस्स णो विउवमीसे ।
कम्मण-गयवेअ-सुहुम-उवसम-मीसेसु णाहारे ॥२५५॥

(प्रे०) "**एवं सव्वासु**" इत्यादि, एवंशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वेन सर्वासु मार्गणासु ज्ञाना-

वरणादिमूलकर्मसत्कोत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धमंनिकर्षोऽनन्तरोक्तौघिकमंनिकर्षवज्ज्ञातव्य इत्यर्थः । अयं ह्यतिदेशः सामान्यतो बहुदेशमादृश्यमाश्रित्य वेदितव्यः । कुतः ? अनुपदमेव तत्रातिदिष्टार्थे कतिपयमार्गणास्वपवादस्थानानां दर्शनीयत्वात् । अपवादस्थानान्येव दर्शयन्नाह–"णवरि" इत्यादि, तत्राद्यम्–"बन्धो आउस्स णो विउवमीसे" इत्यादि, वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्ट्य-ऽनाहारकरूपासु सप्तमार्गणास्वायुःकर्मणो बन्धो न भवत्यतस्तासु सप्तकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीव आयुषोऽबन्धक एवेति विशेषतो द्रष्टव्यम्, न पुनरोघवदायुषो बन्धकोऽबन्धको वेत्यादि । तथाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषसप्तकर्मणां बन्धक एवेत्यादि यदोघोक्तं तदपि न वक्तव्यम्, एतासु मार्गणास्वायुष एवाबन्धात् ।

अत्रेदमवधेयम्––मार्गणास्थानेष्वोघवत्कृतेऽतिदेशे वचनसाम्यमेव, न पुनः पदार्थसाम्यम्, अत उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थाने सर्वत्रौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धो न धर्तव्यः, किन्तु तत्तन्मार्गणापेक्षया यावानुत्कृष्टस्थितिबन्ध उक्तस्तावानेव ग्राह्यः; तदपेक्षया चानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसंख्यभागादिहीनत्वादिकं द्रष्टव्यम् । इत्थं हि वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामायुर्बन्धस्य निषेधात् तद्वर्जशेषमोघवद् । अर्थात्-प्रथमस्य ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धप्रायोग्यामन्तः-कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां बध्नन् तत्स्वामी दर्शनावरणादीनामायुर्वर्जशेषाणां षण्णां कर्मणामुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्नियमेन बन्धको भवति । तत्र दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिः प्रकृतमार्गणापेक्षया याऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा तां बध्नाति, अनुत्कृष्टां त्वन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया समयादिना हीनां यावत्पल्योपमासंख्यभागेन हीनां बध्नाति । यथा ज्ञानावरणोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् शेषकर्मणामुत्कृष्टं स्थितिबन्धं करोति, तथा दर्शनावरणोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् ज्ञानावरणादिशेषषट्कर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धं करोति; इत्येवं वेदनीयादिकर्माश्रय प्रत्येकं संनिकर्षो द्रष्टव्यः, इत्थमेव शेषासु कार्मणकाययोगादिमार्गणास्वत्रत्र च मार्गणाप्रायोग्यं तत्तत्कर्मसत्कोत्कृष्टादिस्थितिबन्धमाश्रित्य तत्तन्मार्गणासु भावनीयमिति ॥ २५५ ॥

अथापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोरन्यदप्यपवादस्थानमाह—

पढमस्सुक्कोसठिइं बंधंतोऽवगयवेअसुहुमेसु ।
जेट्ठाअ बंधगो चिअ सेसाणमेव सेसाणं ॥२५६॥

(प्रे०) "**पढमस्से**"त्यादि गतार्थम्, नवरमपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां चोभयत्रोत्कृष्टस्थितिबन्ध उपशमश्रेण्यां लभ्यते, स चापगतवेदमार्गणायां बध्यमानानामायुर्वर्जानां प्रतिनियतैरध्यवसायविशेषैरेव भवति । कुतः ? अनिवृत्तिकरणादारभ्योर्ध्वं प्रतिनियतैरध्यवसायविशेषैः प्रतिनियतस्थितिबन्धविशेषाणां निवृत्तेः । अतो यदा एकस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायो वर्तते, तदा तदन्येषां दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्या ये प्रति-

नियताध्यवसायास्तेषामेव सद्भावः; तथा च सत्येकस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे तच्छेषाणामपि कर्मणामुत्कृष्ट एव स्थितिबन्धो जायते, अत उक्तम्-"जेट्ठाअ बंधगो चिअ सेसाण"मिति, तत्र चिअशब्दो एवकारार्थकोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धव्यवच्छेदार्थमुपात्त इति । इत्थमेव सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपि द्रष्टव्यम्, नवरं तत्र बध्यमानषट्कर्मविषय एव, न तु मोहनीयविषयेऽपि, 'एमेव सेसाणे'त्यनेन बध्यमानशेषाणां विवक्षितत्वादिति ॥२५६॥ अथ मार्गणान्तरेष्वपवदन्नाह—

सत्तण्हुक्कोसठिइं बंधंतो बंधए ण चेवाउं ।
सव्वणिरय-सुरि-गिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसुं ॥२५७॥
असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदि-तस-उरलमीसेसुं ।
विउवे आहारदुगे णाणचउग-संयमेसुं च ॥२५८॥
सामाइअ-छेएसुं परिहारविसुद्धि-देस-ओहीसुं ।
णीलाईसुं पंचसु सम्म-खइअ-वेअगेसु सासाणे ॥२५९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**सत्तण्हुक्कोसठिइ**"मित्यादि, अनुपदम् "सव्वणिरय" इत्यादिसार्धगाथाद्वयेन वक्ष्यमाणनिरयगत्यादिविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणाभेदेष्वायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः "बंधए ण चेवाउं" ति आयुःकर्म नैव बध्नीयात् । अयम्भावः-ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् दर्शनावरणादीनां षण्णां मूलप्रकृतीनामेव बन्धं करोति, न पुनरोघवदायुषोऽपि, अतो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तदन्येषामायुर्वर्जानां षण्णामेवौघवदुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धक इति विशेषेण द्रष्टव्यम् । एवं दर्शनावरणस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन् ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां षण्णामुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धको भवतीति विशेषेण द्रष्टव्यम् । एवमेव वेदनीयादीन्यधिकृत्याऽपि विशेषतो द्रष्टव्यम् । आयुष उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् शेषाणां सप्तानामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा यादृशीं स्थितिं बध्नाति तादृशीं तु ग्रन्थकारः स्वयमेव "एआसुक्कोसठिइं बंधतो आउगस्स होज्जा" इत्यादिनाऽनन्तरं दर्शयिष्यतीत्यत्र न द्रष्टव्यमिति ।

निरयगत्यादिमार्गणाभेदानेवाह—"**सव्वणिरये**"त्यादिना, तत्राद्यस्य सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेषु निरयगतिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु सुरगतिभेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणविकलेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणात्मकभेदेष्वित्यर्थः । तथा "**असमत्ते**"त्यादि, अत्राप्यपर्याप्ताऽपरपर्यायस्याऽसमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तमनुष्यभेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसभेदे चेत्यर्थः । तथौदारिकमिश्रकाययोगे, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानेषु, संयमौघ-सामयिकसंयमयोः, छेदोपस्थापन-

संयमे, परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽवधिदर्शनमार्गणासु, कृष्णलेश्यावर्जासु नीलादिषु पञ्चसु लेश्यामार्गणासु, सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वेषु सासादने चेत्यर्थः । ननु कस्मादेतासु निरगत्योघादिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीव आयुर्नैवबध्नाति ? उच्यते–नीलकापोतलेश्यामार्गणे विहायैतासु प्रत्येकं शुभस्य नरकभिन्नायुष एव बन्धभावात्, तस्य च शुभत्वेन विशुद्धिप्रत्ययत्वात्सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धकैः संक्लिष्टाध्यवसायैर्जीवैस्तद्बन्धो न क्रियते, नीलकापोतलेश्ययोरपि सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो मनुष्यास्तिरश्चो वा न भवन्ति, कृष्णलेश्यायां सत्यामेव तैः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य निर्वर्तनात् । शेष जीवानां तु निरयायुर्बन्धप्रायोग्यमेव नास्ति, निरयायुर्वर्जानि शेषायुंषि तु शुभानीतिकृत्वोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशगतैस्तैस्तदानीं न निर्वर्त्यन्ते । इत्थं हि नील-कापोतलेश्यामार्गणयोरपि सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धकैरायुर्बन्धो न क्रियत एवेति ॥२५७-२५८-२५९॥

प्रकृतमार्गणास्वेवोत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धे शेषकर्मणां स्थितिबन्धमंनिकर्षमाह—

एआसुक्कोसठिइं बंधंतो आउगस्स होएज्जा ।
सत्तण्ह बंधगो चिअऽणुक्कोसाए चिअ ठिईए ॥२६०॥

(प्रे०) "एआसुक्कोसठिइमि"त्यादि, अनन्तरोक्तनरकगत्योघादिविंशत्युत्तरशतमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषसप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धक एव, न पुनरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः सप्तकर्मणामबन्धको वेत्यभिप्रायकमेवकारद्वयोपादानम् । गतार्थं चैतत्, प्रकृतमार्गणास्वनन्तरमेव सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतामायुर्बन्धस्य निषेधेनायुर्बन्धकाले सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽप्यर्थान्निषिद्धत्वात् । सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धाभावेऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु तस्य भवत्येवेति तु सुखेन गम्यते, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावत्प्रकृतिबन्धभावे स्थितिबन्धस्यापि नियमेन भावात्, आयुर्बन्धकानामष्टमूलप्रकृतिबन्धस्वामित्वस्याभिहितत्वाच्चेति ॥२६०॥

तदेवमायुषो उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिमेव बध्नातीत्युक्ते साऽनुत्कृष्टा स्थितिः कीयती ? उत्कृष्टापेक्षया संख्येयभागेन हीनोतान्यथा वेति जिज्ञासां निरसितुमाह—

सा खलु सव्वेगिंदियपणकायेसु असंखभागूणा ।
सव्वविगलेसु संखंसुणा, सेसासु संखगुणहीणा ॥२६१॥

(प्रे०) "सा खलु सव्वेगिंदिये" त्यादि, साऽनन्तरोक्तसप्तकर्मणामनुत्कृष्टा स्थितिः खलु सर्वेष्वेकेन्द्रिय-पृथिव्यादिपञ्चकायसत्केषु षट्चत्वारिंशदपि मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्यभागोनैव बध्यते, न पुनः संख्येयभागादिहीना । कुतः ? प्रकृतमार्गणागतजीवानामेकेन्द्रियतयोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया जघन्यस्यापि स्थितिबन्धस्य पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रेण हीनत्वादिति । "सव्वविगलेसु संखंसुणा" त्ति विकलेन्द्रियसत्केषु नव-

मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं सा सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिरुत्कृष्टस्थित्यपेक्षया संख्येयांशोना बध्यते, विकलेन्द्रियेषूत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया जघन्यस्थितिबन्धस्यापि पल्योपमसंख्येयभागमात्रन्यूनभावात् । ननु तथा सति विकलेन्द्रियाणां प्रकृतबन्धः संख्येयगुणहीनायाः स्थितेर्मा भवतु, असंख्येयभागहीनायास्तु स्थितेर्भवेदसौ ? इति चेद् , न, शुभायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकाले विशुद्धतरा एते विकलेन्द्रियाः ज्ञानावरणादीनां स्वबन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थित्यपेक्षया संख्येयभागहीनामेव स्थितिं बध्नन्ति, न पुनस्ततोऽधिकामसंख्येयभागमात्रहीनामिति ।

"**सेसासु**" त्ति 'सव्वणिरये'त्यादिनाऽनन्तरोक्तविंशत्युत्तरशतमार्गणाभ्यः 'सव्वेगिंदिये' त्यादिनोक्तषट्चत्वारिंशन्मार्गणास्तथा 'सव्वविगले'त्यादिनाऽनुपदमुक्ताः नवमार्गणा विहाय शेषासु सर्वनरक-सर्वदेवा-ऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसौदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-नीलादिपञ्चलेश्या-सम्यक्त्वसामान्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्व-सासादनरूपासु पञ्चषष्टिमार्गणासु "**संखगुणहीणा**" त्ति उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धकाले बध्यमाना सप्तकर्मणामनुत्कृष्टा स्थितिः संख्येयगुणहीना एव बध्यते । अत्रापि हेतुः पूर्ववद् द्रष्टव्य इति ॥२६१॥ तदेवमुक्तो नरकगत्योघादिमार्गणास्वौघिकसंनिकर्षापेक्षया विशेषः । साम्प्रतमसंज्ञिमार्गणायां तं दर्शयन्नाह—

अमणे उक्कोसठिइं बंधंतो आउगस्स सत्तण्हं ।
बंधइ दुविहमजेट्ठं संखंसूणं असंखभागूणं ॥२६२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**अमणे**"इत्यादि,प्राग्वदसंज्ञिमार्गणायामायुष उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवः शेषसप्तकर्मणां 'द्विविधाम्'-द्विविधान्यतरां,संख्येयांशोनामसंख्यभागोनां वाऽनुत्कृष्टस्थितिं बध्नातीति भावः । अत्र यद्यप्यसंज्ञिनामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया जघन्यस्थितिबन्धो विकलेन्द्रियवत्संख्येयभागन्यूनोऽतस्तथैव वक्तव्यो भवति, तथाऽप्यसंज्ञिनो नारकायुरपि बध्नन्ति, तच्चाशुभम्, अतस्तस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तस्तत्स्वामिनः संक्लिष्टाः, तथा च तदानीं शेषज्ञानावरणादीनामसंख्येयभागमात्रहीनामेव स्थितिं निर्वर्तयन्तीति संख्येयांशोनामित्यप्यभिहितमिति । इत्थं ह्यतिदिष्टार्थविषयकापवादपदेषु परिसमाप्तेषु केवलं त्रिचत्वारिंशन्मार्गणास्वेव सर्वथौघवदवशिष्टम् । ताश्च **त्रिचत्वारिंशन्मार्गणा इमाः**—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदवर्जाश्चत्वारस्तिर्यग्गतिभेदाः तथैवापर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ, द्वौ त्रसकायभेदौ, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञि-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । अत्राप्यसंज्ञिमार्गणाभेद आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षे विशेषस्याऽभिहितत्वात् तत्र सर्वथौघवत्तु सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षविषय एवेति ॥२६२॥

तदेवमुक्त ओघत आदेशतश्चोभयथाऽपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धसंनिकर्षः । साम्प्रतं जघन्यस्थितिबन्धविषयं तं प्रचिकटयिषुरादौ तावदोघत आह—

पढमस्स जहण्णठिइं बंधंतो बंधइ च्च पंचण्हं ।
तं चिअ, अबंधगो खलु दोण्हं, एमेव पंचण्हं ॥२६३॥

(प्रे०) "**पढमस्स** जहण्णठिइ"मित्यादि, प्रथमस्य ज्ञानावरणाख्यस्य मूलकर्मणो जघन्यां स्थितिं बध्नन् कश्चिदपि जीवः "**बंधइ च्च पंचण्हं**" ति मोहनीयायुर्वर्जानां पञ्चानां बध्नात्येव । कामित्याह–"तं चिअ" तामेव,जघन्यां स्थितिमेवेत्यर्थः । मोहनीयायुषोस्तर्हि किमित्याह–"**अबंधगो खलु** दोण्ह" ति शेषयोर्मोहनीयायुषो(र्द्व)योरबन्धक एवेत्यर्थः । सुगमं चैतत्, ज्ञानावरणस्यौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने भावात् तत्र च मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां मूलप्रकृतीनामेव बन्धस्य प्रवर्तनाच्चेति । अथ दर्शनावरणादीन्यधिकृत्याह–"**एमेव पंचण्हं**" ति सुगमम् । नवरं शेषेभ्यो मोहनीयायुर्वर्जानां पञ्चानां मूलप्रकृतीनामित्यर्थ इति ॥२६३॥

अथ मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमोघत आह—

मोहस्स जहण्णठिइं बंधंतो बंधगो च्च छण्ह भवे ।
संखगुणाब्भहियाए अजहण्णाए चिअ ठिईए ॥२६४॥

(प्रे०) "**मोहस्स जहण्णठिइ**" मित्यादि, मोहनीयस्यौघिकजघन्यस्थितिं बध्नन् जीव आयुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां बन्धको भवेदेव । मोहनीयबन्धविच्छेदात् पश्चादेव ज्ञानावरणादीनां बन्धविच्छेदादिति भावः । स्थितेस्तु तेषां षण्णामपि स्वीयस्वीयजघन्यस्थित्यपेक्षया "**संखगुणाब्भहियाए अजहण्णाए चिअ**" त्ति संख्येयगुणाभ्यधिकाया अजघन्याया एव, बन्धक इत्यनुवर्तते । सुगमं चैतत्, क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धापेक्षया क्षपकानिवृत्तिबादरस्य विशुद्धेः स्तोकतया संख्येयगुणाभ्यधिकस्थितिबन्धभावादिति ॥२६४॥

अथ शेषस्याऽऽयुःकर्मणः प्रकृतसंनिकर्षमोघतः प्राह—

आउस्स जहण्णठिइं बंधंतो बंधगो च्च सत्तण्हं ।
अजहण्णठिईए चिअ होज्ज असंखगुणअहियाए ॥२६५॥

(प्रे०) "**आउस्से**"त्यादि, सुगमम्, नवरमायुष औघिकजघन्यस्थितिर्मिथ्यात्वावस्थायामेव बध्यते, मिथ्यात्वगुणस्थाने च ज्ञानावरणादीनां जघन्योऽपि स्थितिबन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः सन् सागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाण एव, स च ज्ञानावरणादीनामौघिकजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्यगुणाभ्यधिक एवेतिकृत्वा "**असंखगुणअहियाए**" इत्यभिहितमिति ॥२६५॥

तदेवमभिहितोऽष्टानामपि मूलकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघतः । इदानीमादेशतोऽभिधित्सुर्लाघवार्थं कतिपयमार्गणास्वतिदेशद्वारेणाह—

तिणर-दुपणिंदितस-पणमणवय-काय-उरलेसु गयवेए ।
लोहे चउणाणेसु संयम-सुहुम-तिदरिसणेसु ॥२६६॥
सुइल-भवियसम्मेसु तहा खइअ-उवसमेसु सण्णिम्मि ।
आहारम्मि य णेयं आउगवज्जाण ओघव्व ॥२६७॥

(प्रे०) "**तिणरदुपणिंदितसे**"त्यादि गाथाद्वयम् , व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः "**तिणर**" इत्यनेनापर्याप्तभेदवर्जा मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो नरभेदा ग्राह्यास्तेषु, तथैवाऽपर्याप्तभेदवर्जावोघपर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ, "**तस**" त्ति द्विशब्दस्यात्रापि योजनात् तथैवौघ-पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ त्रसकायभेदौ, इत्येतेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु, तथा "**पणमण**" त्ति पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, "**वय**" त्ति पञ्चशब्दस्यात्रापि योजनात् पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, तथा काययोगौ-दारिककाययोगभेदयोः, गतवेदे, अन्यमार्गणाभेदान् सङ्ग्रहीतुमाह-"**लोहे**" इत्यादि, लोभे, मतिज्ञानादिषु चतुर्षु ज्ञानभेदेषु, संयमौघ-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शनमार्गणासु, शुक्लेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघभेदेषु, क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्वयोः, संज्ञिभेदे, आहारिमार्गणाभेदे चेत्येतासु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**णेयं**" ति 'ज्ञेयम्'-अवसातव्यम् । किमित्याह-"**आउगवज्जाण ओघव्व**" त्ति आयुष्कवर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष ओघवत्-'पढमस्स जहण्णठिइं' इत्यादिगाथाद्वयेन यथाऽनन्तरमभिहितस्तथैवेत्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति-एतासु प्रत्येकमोघवत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने जायमानचरमस्थितिबन्धो जघन्यस्थितिबन्धतया प्राप्यते, तदानीं चैकस्य ज्ञानावरणादेः स्थितिबन्धकाले तदितरेषां दर्शनावरणादीनामपि नियता एव स्थितिबन्धा जायन्ते, ततश्च ज्ञानावरणस्य जघन्यां स्थितिं बध्नन् शेषाणां पञ्चानामपि जघन्यामेव स्थितिं बध्नाति तद्बन्धक इत्यादिरूप ओघोक्तः संनिकर्ष एव प्रकृतसर्वमार्गणास्वपि घटामुपैति, ततश्च लाघवार्थं तथैवातिदिष्ट इति ॥२६६-२६७॥

अथ क्षपकश्रेणावनिवृत्तिकरणगुणस्थाने जायमानस्थितिबन्धो यासु जघन्यस्थितिबन्धतया प्राप्यते तासु मोहनीयस्य जघन्यां स्थितिं बध्नतोऽपि जीवस्य शेषकर्मणां जघन्यस्थितिबन्ध एव प्राप्यते, अतस्ता मार्गणाः सङ्गृह्य तत्र तथैव दर्शयन्नाह—

पढमस्स जहण्णठिइं वेअकसायतिग-सामइअ-छेए ।
बंधंतो हस्सठिइं बंधइ छण्हा-ऽऽउगं ण, छण्हेवं ॥२६८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**पढमस्से**" त्यादि, तत्र "**पढमस्स जहण्णठिइ**"मित्यस्य "**बंधंतो हस्सठिइं बंधइ छण्ह**" इत्यादिना परेणान्वयः, ततः प्रथमस्य ज्ञानावरणकर्मणो जघन्यस्थितिं बध्नन् "**हस्सठिइं बंधइ छण्ह**" त्ति षण्णां ज्ञानावरणाऽऽयुर्वर्जानां मूलकर्मणां 'ह्रस्वां'-जघन्यां

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धे संनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रकम्

ओघतः—मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नन् जीवो मोहनीया-ऽऽयुषोऽबन्धक एव, शेषपञ्चप्रकृतीनां बन्धक एव, स्थितिमपि तेषां जघन्यामेव बध्नाति (गा० २६३)।

मोहनीयजघन्यस्थितिं बध्नन् जीव आयुषोऽबन्धक एव, शेषाणां षण्णां बन्धक एव, स्थितिं तु तासां षण्णामजघन्यामेव बध्नाति (गाथा-२६४)।

आदेशतः--आयुर्वर्जानां सप्तानां ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेर्जघन्या स्थितिबध्नन् जीवः

	शेषप्रकृतीनां सर्वथैव **ओघवद्** बन्धकः	आयुषोऽबन्धक एव, शेषाणां जघन्यस्थितेरेव बन्धक	आयुषोऽबन्धक एव, शेषाणां जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्बन्धकः, तत्राऽजघन्या जघन्यस्थित्यपेक्षया समयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेनाऽभ्यधिका बध्यते।
गति०	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदाः, २		सर्वनरक-तिर्यग्-देवभेदा, अपर्याप्तमनुष्यभेदश्च, ४८
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २		सर्वैकेन्द्रियविकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदश्च, [illegible]
काय०	त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २		पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसत्काः सर्वभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदश्च, ४०
योग०	सर्वमनोवचोभेद० काययोगौघ० औदारिककाययोगश्च, १२		मिश्रयोग० आहारक-वैक्रिय कार्मणकाययोगाश्च० ६
वेद०	अपगतवेद० १	वेदत्रयी, ३	
कषाय०	लोभ० १	क्रोध-मान-माया० ३	
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान० ४		अज्ञानत्रयम्० ३
संयम०	संयमौघ० सूक्ष्मसम्पराय० २	सामायिक-छेदोपस्थापन० २	परिहार० देशसंयम० असंयम० ३
दर्शन०	चक्षु० अचक्षु० अवधि० ३		
लेश्या०	शुक्ल० १		कृष्णाद्याः शेषाः पञ्च, ५
भव्य०	भव्य०		अभव्य० १
सम्यक्त्व.	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० औपशमिक० ३		क्षायोपशमिक० सम्यग्मिथ्यात्व० सास्वादन० मिथ्यात्व० ४
संज्ञी०	संज्ञी, १		असंज्ञी, १
आहारी०	आहारक० १		अनाहारक० १
सर्वमार्गणा —	३७	८	१२५
गाथाङ्का —	२६६-२६७	२६८	२६९-२७०

आयुषो जघन्यस्थितिबन्धे संनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रकम्

ओघतः–आयुषो जघन्यां स्थितिं बध्नन् जीवः शेषसप्तप्रकृतीनामजघन्याया जघन्यस्थित्यपेक्षयाऽसंख्येयगुणाभ्यधिकायाः स्थितेर्बन्धक एव भवति (गाथा-२६५)।

आदेशतः–आयुषो जघन्यां स्थितिं बध्नन् जीवः शेष सप्तप्रकृतीनां बन्धक एव भवति, स्थितिं तु तासां सप्तप्रकृतीनामजघन्यामेव बध्नाति, सा त्वजघन्यास्थितिर्जघन्यस्थित्यपेक्षया—

	ओघवदसंख्यगुणाभ्यधिकैव,	संख्येयगुणाऽभ्यधिकैव,	संख्यगुणाधिका,संख्यभागाधिका०	संख्यभागाधिकैव,	असंख्यभागाधिकैव,	असंख्यभागेन,संख्यभागेन संख्यगुणेनाऽधिका वा
गति०	मनुष्योघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदा, ३	सर्वनरक-सर्वदेवाऽपर्याप्तमनुष्य, ३९	सर्वपञ्चेन्द्रिय तिर्यग्भेदा ४			तिर्यग्गत्योघ-भेदः, १
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ तत्पर्याप्तभेदौ, २		अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेद, १	सर्वविकलेन्द्रियभेदाः, ६	सर्वैकेन्द्रियभेदा ७	
काय०	त्रसौघ-तत्पर्याप्त-भेदौ, २		अपर्याप्तत्रस-भेदः, १		पृथिवीकायादिमत्कशेषसर्वभेदा ,३९	
योग०	सर्वे मनोवचोभेदा, काययोगौघ, औदारिक, १०	आहारकद्विक० वैक्रिय० ३				औदारिकमिश्र० १
वेद०	वेदत्रयम् ३					
कषाय०	सर्व० ४					
ज्ञान०	मति श्रुता-ऽवधि मन:पर्यवज्ञान० ४	विभङ्ग० १				मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २
संयम०	संयमौघ सामायिक छेद० ३	परिहारविशुद्धिक देशसंयम० २				असंयम० १
दर्शन०	चक्षु,अचक्षु अवधि ३					
लेश्या०	शुक्ल० १	तेज -पद्म० २				अप्रशस्ताः, ३
भव्य०	भव्य० १					अभव्य० १
सम्यक्त्व	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० २	क्षायोपशमिक० सास्वादन० २				मिथ्यात्व० १
संज्ञी०	संज्ञी० १					असंज्ञी० १
आहार०	आहारक० १					
सर्वमार्गणा.–	४२	४९	६	६	४६	११
गाथाङ्काः–	२७६	२७३-२७४	२७५	२७६	२७६	२७२-२७३

ओघतः--आयुर्वर्जसप्तान्यतमकर्मण उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीव आयुर्वर्जानां बन्धक एव, स्थितिस्तु तेषामुत्कृष्टा-मनुत्कृष्टा वा बध्नाति । तत्राऽनुत्कृष्टा उत्कृष्टापेक्षया समय-द्विसमयादिना यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन हीना वा स्यात्, न तु ततोऽपि न्यूना । आयुषो बन्धकोऽबन्धको वा, बन्धकश्चेदुत्कृष्टस्थितिकस्यैव, अबाधा तूत्कृष्टा वाऽनुत्कृष्टा वा स्यात् ।। **आयुष** उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषाणामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्बन्धक एव। तत्रानुत्कृष्टा उत्कृष्टा-पेक्षया **संख्येयभागेना-ऽसंख्येयभागेन** संख्येयगुणेन हीना वा स्यादिति (गाथा-२५० २५८) ।

	आयुर्वर्जसप्तान्यतमकर्मण उत्कृष्टस्थितिं बन्धन् जीव आयुषोऽबन्धक एव० शेषषडन्यतमस्य सर्वथा ओघवद् बन्धक	शेषान्यतमस्योत्कृष्टस्थितेरेव बन्धक	शेषकर्मणामन्यतमस्य सर्वथा ओघवद् बन्धक	आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धक शेषाणां बन्धक एव, स्थितेस्तु तेषां सप्तानाम् — उत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा बन्धक तत्रानुत्कृष्टा ओघवत् संख्येयभागहीना-दित्रिविधा स्यात	अनुत्कृष्टाया एव बन्धक, सा तूत्कृष्टस्थित्यपेक्षया — असंख्य-भागहीना एव-	संख्येय-भागहीना एव.	संख्येय-भागहीना असंख्य-भागहीना वा स्यात.	संख्येय-गुणहीना एव
गति०	सर्वनिरयदेव० अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्० अपर्याप्त मनुष्य० ४०		शेष० ७	अपर्याप्तभेदद्वयवर्ज-तिर्यग्-मनुष्यगति-भेदा — ७				शेष० ४०
इन्द्रिय०	सर्व एकेन्द्रिय-विकले अप-र्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १७		पञ्चेन्द्रियौघ तत्पर्याप्त २	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २	सर्वकेन्द्रिय भेद० ७	सर्ववि-कले० ९		अपर्याप्त-पञ्च० १
काय०	वनस्पतिकायान्तसर्वभेद० अपर्याप्तत्रसश्च ४०		त्रसौघ तत्प-र्याप्त० २	त्रसौघ० तत्पर्याप्त २	वनान्ता. सर्वे ३९			त्रसापर्या-प्त० १
योग०	औदारिकमिश्र वैक्रिय-त-न्मिश्रौ, आहारक-तन्मिश्रौ, कार्मण० ६		शेष० १२	सर्वमनोवचोभेद० काययोगौघ औदा-रिक० १२				त्रामिश्र० आहारक० ४
वेद०		अवेद०	वेदत्रिक० ३	वेदत्रिक० ३				
कषाय०			सर्व० ४	सर्व० ४				
ज्ञान०	मत्यादिज्ञान० ४		अज्ञान० ३	अज्ञान० ३				मत्यादि ४
संयम०	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० देश० ५	सूक्ष्मस०	असंयम० १	असंयम० १				शेष ५
दर्शन०	अवधि० १		चक्षु अचक्षु २	चक्षु० अचक्षु० २				अवधि १
लेश्या०	कृष्णावर्जा ५		कृष्ण० १	कृष्ण० १				शेष ५
भव्य०			सर्व० २	सर्व० २				
सम्य-	मिथ्यत्व विना, ६		मिथ्यात्व. १	मिथ्यात्व० १				शेष ४
संज्ञी०			सर्व० २	सज्ञी १			असज्ञी	
आहारी	अनाहारक० १		आहारी १	आहारक० १				
सर्वमार्गणा:-	१२५	२	४३	४२	४६	९	१	६५
गाथाङ्का:-	२५५-५७-५९-६०	२५६	२५५	२५५ .	२६०	२६१	२६२	२६१

स्थितिमेव बध्नाति, न पुनरजघन्यामिति भावः । **"उगं ण"** त्ति विश्लेषप्राप्तस्याऽऽकारस्य दर्शनादायुषः-आयुःकर्मणो न । तदानीं क्षपकश्रेणावायुर्बन्धस्याऽसम्भवादायुःकर्म नैव बध्नातीति भावः । **"छण्हेवं"** ति 'एवं'- यथा ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षस्तथा षण्णां दर्शनावरणादीनामपि जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षः, वक्तव्य इति शेषः । कासु मार्गणास्वित्याह-**"वेअ-कसायतिगे"**त्यादि, त्रिकशब्दस्य वेदकषाययोः प्रत्येकं योजनाद् वेदत्रिके-स्त्र्यादिषु तिसृषु वेदमार्गणासु, कषायत्रिके-क्रोधादिषु तिसृषु कषायमार्गणास्वित्यर्थः । तथा **"सामइअछेए"** त्ति सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोरित्येतास्वष्टमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । अत्र युक्तिस्तु पातनया दर्शितेति ॥२६८॥

अथ शेषमार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तानामेव जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षमाह—

सेसासु जहण्णठिइं णाणावरणस्स बंधमाणो उ ।
बंधइ चिअ छण्ह ठिइं जहण्णगं व अजहण्णं वा ॥२६९॥
हस्साउ सा अहस्सा समयाउ पलियअसंखभागेणं ।
अब्भहिया-ऽऽउं णो चिअ बंधइ एमेव छण्ह भवे ॥२७०॥

(प्रे०) **"सेसासु जहण्णठिइं"** इत्यादि, अनन्तरं "तिणरे"त्यादिनाऽभिहिताः सप्तत्रिंशन्मार्गणास्तथा "वेअकसाय" इत्यादिनोक्ता अष्ट मार्गणाश्च विहाय शेषासु पञ्चविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिं बध्नन् 'तु'-पुनः **"बंधइ चिअ छण्ह ठिइं"** ति षण्णां दर्शनावरणादीनां ज्ञानावरणायुर्वर्जानां स्थितिं बध्नात्येव, न पुनरायुष इव न बध्नात्यपीति भावः । **"जहण्णगं व अजहण्णं वा"** त्ति तां च षण्णां दर्शनावरणादीनां स्थितिं जघन्यकां वाऽजघन्यां वाऽन्यतरप्रकारां, बध्नातीत्यनुवर्तते । अत्राजघन्याः स्थितेर्बहुभेदभिन्नत्वात् सा कियन्मानेत्याशङ्कायामाह-**"हस्साउ सा अहस्सा"** इत्यादि, सा प्रकृतमार्गणासु ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेन निर्वर्त्यमानाऽहस्वा-ऽजघन्याः स्थितिः **"हस्साउ"** त्ति 'ह्रस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेः **"समयाउ पलियअसंखभागेणं"** ति समयादारभ्य पल्योपमस्याऽसंख्येयतमैकभागेन, अभ्यधिकेति गाथोत्तरार्धेऽन्वयः । भवतीतिशेषः । गतार्थम् । **"उं णो चिअ बंधइ"** त्ति प्राग्वद् विश्लेषप्राप्तस्याऽऽकारस्य दर्शनादायुः-आयुःकर्म नैव बध्नाति, स ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धक इति गम्यते । **"एमेव"** त्ति 'एवमेव'- यथैतासु ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षोऽभिहितस्तथैव **"छण्ह भवे"** त्ति आयुर्वर्जानां शेषषण्णां दर्शनावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षो 'भवेत्'-वक्तव्यो भवेत् । प्राग्वद् दर्शनावरणादि प्रत्येकं कर्मादाय स्वयमेव वक्तव्य इति भावः ।

अत्र शेषमार्गणा नामत इमाः–सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वेतिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्त-मनुष्यभेदः, सर्वे देवगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियभेदः, सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायमत्कभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, औदारिक-मिश्र–वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्र–वैक्रिया-ऽऽहारक–कार्मणकाययोगभेदाः, तथाऽज्ञानत्रय-परिहार-विशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्या-ऽभव्य–क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्य-ग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति ॥२६९-२७०॥

अथ शेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्षं मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

सव्वासु जहण्णठिइं बंधंतो आउगस्स णायव्वो ।
सत्तण्ह बंधगो चिअ अजहण्णाए चिअ ठिईए ॥२७१॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, सर्वास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं "**आउगस्स**" त्ति उक्तशेषस्यायुष्कस्य-आयुःकर्मणः "**जहण्णठिइं**" ति प्रागुक्तमार्गणाप्रायोग्य-जघन्यस्थितिं बध्नन् ज्ञातव्य इति परेणान्वयः । कथंभूतो ज्ञातव्य इत्याह–"**सत्तण्ह बंधगो चिअ**" त्ति शेषाणां सप्तानां ज्ञानावरणादीनां बन्धक एव ज्ञातव्य इत्यर्थः । किं तेषां सप्तानां जघन्य-स्थितेर्बन्धको ज्ञातव्य उताऽजघन्यायाः स्थितेरित्याह–"**अजहण्णाए चिअ ठिईए**" त्ति ओघव-दजघन्याया एव स्थितेः, न पुनर्जघन्यायाः स्थितेरर्थान्तरार्थः । कुत ? उच्यते, एतासु सर्वमार्गणा-स्वायुषो जघन्या स्थितिर्निरयायुर्वर्जशेषायुःसत्कैव बध्यते । साऽऽत्वशुभा इतिकृत्वा संक्लेशेन निर्व-र्त्यते, आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यस्थितिस्तु शुभा इतिकृत्वा विशुद्ध्या निर्वर्त्यते । उक्तञ्च–

'सव्वठिईण उक्कोसो उ उक्कोससंकिलेसेण । विवरीए उ जहन्नो आउगतिगवज्जसेसाणं ।' इति ।

अत आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकः संक्लिष्टः सन् शेषाणां जघन्यस्थितिं न बध्नाति, किन्त्व-जघन्यामेव बध्नातीति ॥२७१॥ अथायुषो जघन्यस्थितिबन्धकः सा ज्ञानावरणादीनामजघन्या स्थितिर्जघन्यस्थित्यपेक्षया कियत्यभ्यधिका बध्यत इत्येतद् दिदर्शयिषुराह—

सा खलु अजहण्णठिई णायव्वा तिरि-युरालमीसेसुं ।
दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसा-ऽभवि-मिच्छ-अमणेसुं ॥२७२॥
तिविहा-ऽसंखंसहिया संखंसहिया य संखगुणअहिया ॥

(प्रे०) "**सा खलु**" इत्यादि, तत्र खलु-शब्दो वाक्यालङ्कारे, ततः सा खल्वायुषो जघन्य-स्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेन निर्वर्त्यमाना सप्तानाम् "**अजहण्णठिई णायव्वा**" त्ति अजघन्या स्थितिर्ज्ञातव्या । कासु मार्गणासु कीयतीत्याह–"**तिरियुराले**" त्यादि, "**तिविहा**" इत्यादि च, तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्रकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना–ऽसंयम-कृष्णादित्र्यशुभलेश्या-ऽभव्य-

मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणासु प्रत्येकं 'त्रिविधा'-त्रिस्थानगता भवति । तामेव दर्शयति-"**संखंसहिये**" त्यादिना, तत्र "**संखंसहिया**" इत्यत्रा-ऽकारस्य दर्शनादसंख्यांशाधिका, तत्तन्मार्गणासत्कजघन्य-स्थितिबन्धापेक्षयेति प्राग्वदनुक्तमपि द्रष्टव्यम् । इयं हि जघन्यायुर्बन्धकैकेन्द्रियजीवापेक्षया बोद्ध-व्या । "**संखंसहिया य**" त्ति जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्यांशाधिका । चकारस्समुच्चयार्थो व्युत्क्रमेण प्रान्ते योज्यः । इयं संख्यांशाधिका तु जघन्यायुर्बन्धकद्वीन्द्रियादिजीवापेक्षया विभाव-नीया । "**संखगुणअहीया**" त्ति जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्यगुणाधिका चेत्यर्थः । अत्र तु संख्यगुणाधिक्यं जघन्यायुर्बन्धकसंज्ञिजीवापेक्षया विभावनीयम्, केवलमसंज्ञिमार्गणायां संज्ञि-जीवानामप्रवेशात् संख्यगुणाधिक्यं द्वीन्द्रियादिजीवापेक्षया द्रष्टव्यम् । **न च** द्वीन्द्रियादीनां जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयोत्कृष्टः स्थितिबन्धः पल्योपमसंख्येयभागेनाधिको भवति तत्कथं संख्येयगु-णत्वं सङ्गच्छेदिति **वाच्यम्** । प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया द्वीन्द्रियादीनां स्थिति-बन्धस्य संख्येयगुणत्वाभिधानात् न काचिदसंगतिः, तथैवोपपत्तेः । **तथाहि**-प्रकृताऽसं-ज्ञिमार्गणायामेकेन्द्रियजीवानामपि प्रत्येकज्ञानावरणादीनां जघन्यः स्थितिबन्धः सागरोपमस्य पल्योपमासंख्यभागोनत्रिसप्तभागादिर्यः पूर्वमुक्तः, तं प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धमपेक्ष्य द्वीन्द्रियादीनामायुर्बन्धकाले जायमानः पञ्चविंशत्यादिसागरोपमाणां पल्योपमसंख्येयभागेन न्यून-त्रिसप्तभागादिः स्थितिबन्धः पञ्चविंशत्यादिगुणाधिकः सन् संख्येयगुण एव भवतीति ॥२७२॥

अथ यासु मार्गणास्वनन्तरोद्दिष्टाऽजघन्यस्थितिर्जघन्यस्थित्यपेक्षया संख्यगुणाधिकैव बध्यते, *तास्तु तथैव दर्शयन्नाह—*

सव्वणिरयदेवेसुं अपज्जमणुसम्मि वेउव्वे ॥२७३॥
आहारदुग-विभंगेसुं देस-परिहार-तेउ-पउमासुं ।
वेअग-सासाणेसुं संखेज्जगुणेण अब्भहिया ॥२७४॥

(प्रे०) "**सव्वणिरये**" इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वे निरयगतिमार्गणाभेदाः सर्वे च देवगतिमार्गणाभेदास्तेषु, तथाऽपर्याप्तमनुष्यभेदे, वैक्रियकाययोगभेदे, अन्यभेदान् संग्रहीतु-माह-"**आहारे**"त्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्द्विके, विभङ्गज्ञाने, देशसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणासु तथा क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादनयोरित्ये-तास्वेकोनपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितिबन्धकाले बध्यमाना शेषाणामजघन्या स्थितिः निरयगत्यादिस्वस्वमार्गणायां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थित्यपेक्षया "**संखेज्जगुणेण अब्भ-हिया**" त्ति संख्येयगुणाभ्यधिका भवतीत्यर्थः । इति ॥२७३-२७४॥ अथान्यत्र प्रकृतमाह-

संखेज्जभागअहिया संखेज्जगुणाहिया य णायव्वा ।
पंचिंदियतिरियचउग-असमत्तपणिंदियतसेसुं ॥२७५॥

(प्रे०) "**संखेज्जभागअहिया**" इत्यादि, अनन्तरवक्ष्यमाणमार्गणासु प्रकृताऽजघन्यस्थितिर्जघन्यस्थितितः संख्येयभागाधिका मार्गणाप्रविष्टाऽसंज्ञिजीवापेक्षया, तथा संख्येयगुणाधिका मार्गणाप्रविष्टसंज्ञिजीवापेक्षया ज्ञातव्या । कास्वित्याह–"**पंचिंदिये**"त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदचतुष्केऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदेऽपर्याप्तत्रसकायभेदे चेत्यर्थः ॥२७५॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतं दिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

णेया सव्वेगिंदियपणकायेसुं असंखभाग-ऽहिया ।
सव्वविगलेसु संखंसहिया सेसासु ओघव्व ॥२७६॥

(प्रे०) "**णेया**" इत्यादि, प्रकृताऽऽयुषो जघन्यस्थितिबन्धकाले बध्यमाना शेषाणामजघन्या स्थितिर्ज्ञेया । कासु कियतीत्याह—"**सव्वेगिंदिये**"त्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु च पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणासत्कभेदेष्वित्येवं षट्चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "**असंखभागहिया**" त्ति सुगमम् । **सव्वविगलेसु संखंसहिया**" त्ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणविकलेन्द्रियभेदेषु संख्यांशाधिका । एतदपि सुगमम् । "**सेसासु ओघव्व**" त्ति उक्तशेषासु मनुष्यगत्योघादिद्विचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमोघवदसंख्यगुणाधिका ज्ञेयेत्यर्थः ।

अत्र शेषमार्गणा नामत इमाः–मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय–पञ्चमनोयोग–पञ्चवचोयोग–काययोगसामान्यौ–दारिककाययोग-स्त्र्यादिवेदत्रय-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा इति । एतासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकश्रेणौ जायमानतयाऽतिस्तोकत्वेन तदपेक्षयैकेन्द्रियादिजीवैरायुर्बन्धकाले निर्वर्त्यमानशेषकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्याऽप्यसंख्येयगुणत्वात्प्रकृतसंनिकर्षोऽपि तथैव दर्शित इति ॥२७६॥

तदेवमभिहितः सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धसंनिकर्ष आदेशतोऽपि । तस्मिँश्चाभिहिते गतं "**सण्णियासा**" इत्यनेनोद्दिष्टं षष्ठं द्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धेद्वितीयाधिकारे षष्ठं संनिकर्षद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

साम्प्रतं '**भंगविचय**' इत्यनेनोद्दिष्टस्य भङ्गविचयद्वारस्यावसरः, तत्रादौ तावन्नानाजीवानाश्रित्योत्कृष्टादिस्थितेर्भङ्गादिस्वरूपं निर्धारयितुकाम आह—

भंगाऽट्ठ बंधगो खलु पढमो बिइओ अबंधगो तइओ ।
सव्वे वि बंधगा तह सव्वे वि अबंधगा चोत्थो ॥२७७॥
एगेण बंधगेणं एगेऽणेगे अबंधगा कमसो ।
णेगेहि बंधगेहिं सह एवं पंचमाइचऊ ॥२७८॥
जे बंधगुक्कसाए ठिईअ ते चिअ अबंधगियराए ।
जेऽणुक्कोसाअ ठिईअ बंधगा ते अबंधगिअराए ॥२७९॥
जे बन्धगा लहूए ते चेव अबंधगा अहस्साए ।
जे बन्धगाऽणणूए ते चेव अबंधगा जहण्णाए ॥२८०॥

(प्रे०) "**भंगाऽट्ठे**"त्यादि, भङ्गाः-विकल्पाः, ते चैकद्व्यादिसंयोगनिष्पन्ना वस्तुविकल्पैरनेकधा ग्रन्थान्तरेषु दृश्यन्ते तथाऽवसेयाः । अत्र तु स्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टादिस्थितीनामेकानेकादिबन्धकाद्यपेक्षया चिन्त्यमाना अष्टावभिप्रेता इत्युक्तम्–"**भंगाऽट्ठ**" इति । तानेव क्रमतः स्वरूपतश्चाह–"**बंधगो खलु पढमो**" इत्यादि, 'बंधगो खलु पढमो' त्ति बन्धक इत्यत्रैकवचनस्योपादानात् खलुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वाच्च 'एको बन्धक' एवेति प्रथमो भङ्गः । यदा हि ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितेः कश्चिदेकबन्धक एव विद्यते, न पुनरन्यस्तद्बन्धकस्तदबन्धको वा 'जे बंधगुक्कसाए' इत्यादिना वक्ष्यमाणस्वरूपः । एतादृशः कालविशेषसव्यपेक्षः प्रथमभङ्गः, न पुनरन्येषां बन्धकानामबन्धकानां वा सद्भावकालिकैकबन्धकसत्ताप्रयुक्तः, तदानीमन्येषां बन्धकानामबन्धकानां वा सद्भावेन विभिन्नकालीनतया 'एको बन्धक एव' इति सावधारणभङ्गस्याऽयुज्यमानत्वात् । ननु 'मा युज्यतां सावधारणः प्रथमभङ्गस्तदानीमन्येषां बन्धकाऽबन्धकानामपि सद्भावकाले, अनवधारणस्त्वसौ युज्येत' ? इति चेत्, न, '**अट्ठणुक्कोसाए सिआ तुरिय-छट्ठ-अट्ठमा भंगा**' इत्यादिनौघादिप्ररूपणायां तत्र तत्र चतुर्थषष्ठादिभङ्गानां वक्ष्यमाणत्वेऽपि प्रथमादिभङ्गानामवक्ष्यमाणत्वेनानिष्टत्वादिति । इत्थमेवोत्तरत्र द्वितीयादिभङ्गेष्वपि यथासम्भवं विभावनीयं स्वधिया ।

"**बिइओ अबंधगो**" त्ति 'एकोऽबन्धक एवे'ति द्वितीयो भङ्गः । तत्रोत्कृष्टादिस्थितिबन्धापेक्षयाऽबन्धकस्वरूपं तु 'जे बंधगुक्कसाए' इत्यादिनाऽनन्तरमेव गाथाद्वयेन ग्रन्थकृता वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षस्थितेर्बन्धकलक्षणमेव विज्ञातव्यम् न पुनःसर्वथाऽबन्धकलक्षणमिति । "**सव्वे वि बंधगा**

तह" त्ति तथाशब्दः समुच्चये । 'सर्वेऽपि बन्धका एवे'ति तृतीयभङ्गः, न पुनः केचनाऽबन्धका इत्यबन्धकव्यवच्छेदार्थोऽपिशब्दः । एवमुत्तरत्रापि, ततः "सव्वे वि अबंधगा चोत्थो" त्ति 'सर्वेऽबन्धका एवे'ति चतुर्थो भङ्ग इत्यर्थः । पञ्चमादिभङ्गकानाह–"एगेण बन्धगेण" मित्यादि, एकेन बन्धकेन सह क्रमेण एकोऽबन्धकः, अनेकेऽबन्धकाः । अनेकैर्बन्धकैः सह एकोऽबन्धकः, अनेकेऽबन्धका एवंरूपाः पञ्चमादयोऽष्टमान्ताश्चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा–'एको बन्धक एकोऽबन्धक एवे'ति पञ्चमभङ्गः । 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे'ति षष्ठभङ्गः । 'अनेके बन्धका एकोऽबन्धक एवे'ति सप्तमभङ्गः । अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका' इत्यष्टमो भङ्ग इति ।

द्वितीयादिभङ्गोक्ताऽबन्धकानामुत्कृष्टादिस्थितिभेदेन स्वरूपं निर्धारयन्नाह–"जे बंधगुक्कसाए" इत्यादि, ये उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकास्त एवेतरस्याः–अनुत्कृष्टायाः स्थितेरबन्धका अनुत्कृष्टस्थितिबन्धविषयकभङ्गविचयेऽबन्धकतया गृह्यन्ते, न पुनर्ये स्थितेः सर्वथाऽबन्धकास्तेऽपीति सर्वथाऽबन्धकव्यवच्छेदार्थकमेवकारोपादानम् । तथैव "जेऽणुक्कोसाअ" त्ति चिअशब्दोऽनुवर्तते, ततो येऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकास्त एवेतरस्या उत्कृष्टस्थितेरबन्धकाः । अत्रापि पूर्ववद्भावार्थो द्रष्टव्यः । जघन्याजघन्यस्थितिबन्धविषयेऽबन्धकस्वरूपमवधारयन्नाह–"जे बंधगा लहुए" इत्यादि पूर्ववत्, नवरं "लहुए" त्ति जघन्याः स्थितेः, "णणुए" त्ति अकारस्य दर्शनाद्'अनणव्याः'अजघन्याः स्थितेरित्यर्थः ॥२७७-२७८-२७९-२८०॥

तदेवं भङ्गकस्वरूपं तत्रोपयोग्यबन्धकस्वरूपं चावधार्य साम्प्रतं ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टादिस्थितिबन्धमधिकृत्य सम्भवद्भङ्गान् व्याचिकीर्षुरादौ तावदोघतः प्रतिपादयति—

अट्ठण्हुक्कोसाए सिआ तुरिय-छट्ठ-अट्ठमा भंगा ।
अट्ठम-सत्तम-तइआऽणुक्कोसाए ठिईए य ॥२८१॥

(प्रे०) "अट्ठण्हुक्कोसाए" इत्यादि, ज्ञानवरणादीनामष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः "सिआ तुरिय-छट्ठ-अट्ठमा भंग" त्ति स्याचतुर्थभङ्गः 'सर्वेऽबन्धका एवे'ति । स्यात्षष्ठभङ्गः 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे' ति । स्यादष्टमभङ्गः 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'त्येवमोघत उत्कृष्टस्थितेर्भिन्नभिन्नकालापेक्षया नानाभङ्गानां सम्भवादेकभङ्ग उक्तेऽप्यन्यभङ्गावकाशायानेकान्तद्योतकं स्यात्पदं प्रत्येकं योज्यमिति भावः । एवमेवोत्तरत्रापि नानाभङ्गसम्भवेऽनुक्तेऽपि स्यात्पदे तद् द्रष्टव्यमिति । ननु ओघतो ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितेः कथमेते त्रय एव भङ्गाः, न पुनरन्ये पञ्च ? इति चेत् , बन्धकपरिमाणादितथाविधनियमवशाद् , एतदर्थे तथाविधव्याप्तय एव द्रष्टव्याः, तास्त्वनन्तरं मार्गणास्थानेषु भङ्गप्रपञ्चनावसरे दर्शयिष्यामः, तत्र तासां सुज्ञेयत्वादिति । अथाऽष्टानामनुत्कृष्टस्थितेः सम्भवद्भङ्गानाह–"अट्ठमे" त्यादि, 'अट्ठण्ह' इत्यनुवर्तते, ततोऽष्टानामपि ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः

स्यादष्टमो भङ्गः 'अनेके बन्धगा अनेकेऽबन्धका एवे'ति । स्यात्सप्तमभङ्गः 'अनेके बन्धका एकोऽबन्धक एवे'ति । स्यात्तृतीयभङ्गः 'सर्वे बन्धका एवे'ति त्रयो भङ्गाः, न पुनरन्ये पञ्चेति ॥२८१॥

तदेवमभिहित ओघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्नानाजीवाश्रयो बन्धकाबन्धकनिष्पन्नो भङ्गविचयः । इदानीमादेशतश्चिकथयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां तमाह—

असमत्तणरे विक्रियमीसे आहारदुग-अवेएसुं ।
सुहुम-उवसमेसु तहा सासण-मीसेसु भङ्गाऽट्ठ ॥२८२॥
जेट्टियराण ठिईणं आउगवज्जाण अट्ठमो भंगो ।
सव्वेसुं एगिंदिय-णिगोअभेएसु सेससुहुमेसुं ॥२८३॥ (गीतिः)
बायरअपज्जपुहवाइचउग-पत्तेअहरिअ-हरिएसुं ।
मयमुज्झं परिहारे छेए ओघव्व सेसासुं ॥२८४॥

(प्रे०) "असमत्तणरे" इत्यादि, 'अपर्याप्तनरे'–अपर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थाने, तथा वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणास्थाने, आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयलक्षण आहारकद्विके, **'अवेअ'** त्ति अपगतवेदमार्गणास्थाने, तथा सूक्ष्मसंपरायसंयमे, औपशमिकसम्यक्त्वे, सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्थानयोश्चेत्येवं समुदितासु नवमार्गणास्थानेषु **"भङ्गाऽट्ठ"** त्ति उक्तस्वरूपा अष्टावपि भङ्गाः सम्पद्यन्ते । केषां कर्मणां कथम्भूतायाः स्थितेरित्याह–**"जेट्टियराणे"**त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां 'ज्येष्ठायाः'–उत्कृष्टायाः 'इतरायाः'–अनुत्कृष्टायाश्च स्थित्योः । कथम् ? प्रत्येकं मार्गणास्थानानां नानाजीवानाश्रित्य सान्तरत्वात् । उक्तश्च **जीवसमासे** मार्गणास्थानेषु जीवानां कादाचित्कमर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं प्रदर्शयता ग्रन्थकृता—

'पल्लाऽसंखियभागं सासणमिस्सासमत्तमणुएसुं । वासपुहुत्तं उवसामएसु खवगेसु छम्मासा ॥
आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्तं विउव्वमिसेसु । बारस हुंति मुहुत्ता सव्वेसु जहण्णओ समओ' ॥इति।

अत्र पाठे क्षपकाणामुपशमकानां चान्तरस्य प्रदर्शितत्वेन स्थितेर्बन्धकानामपगतवेदानां सूक्ष्मसंपरायसंयतानां चान्तरमर्थतो गम्यत एव,क्षपकोपशमकान् विहायान्येषां स्थितिबन्धकावेदितया सूक्ष्मसम्परायसंयततया वाऽप्राप्तेः । **ननु** तथाऽपि प्रस्तुताऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्थानेष्वष्टानामपि भङ्गानां सम्भवे, अन्यत्रौघादौ तु तृतीयादीनां सम्भवे, तदन्येषां भङ्गकानां त्वसम्भवे को नाम गमकः ? **इति चेद्**, तथाविधव्याप्तय एव ।

इहोघत आदेशतश्च ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितौ तत्तद्भङ्गसम्भवाऽसम्भवे इमा व्याप्तयः–सर्वाः स्थितयो द्विविधस्थितिबन्धेऽन्तर्भवन्ति, तत्रैका सर्वाधिका स्थितिरुत्कृष्टस्थितिबन्धे, एकवर्जाः शेषाः समय-द्विसमय-त्रिसमयादिन्यूनोत्कृष्टा यावज्जघन्याः सर्वा अप्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धे ।

इत्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधस्थितिबन्धे सर्वा बन्धप्रायोग्यस्थितयोऽन्तर्भूताः । एवं जघन्याऽजघन्य-द्विविधस्थितिबन्धेऽपि सर्वा बन्धप्रायोग्यस्थितयोऽन्तर्भवन्ति, जघन्यस्थितिबन्धतया एकस्य बन्धप्रायोग्यसर्वस्तोकस्थितिबन्धस्थानस्य, अजघन्यस्थितिबन्धतया तु शेषसर्वबन्धप्रायोग्यस्थिति-बन्धस्थानानां च ग्रहणात् । एतच्च सर्वं प्राग्दर्शितमेव । द्विविधस्थितिबन्धे नानास्थितिबन्धस्था-नात्मकानुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं यत्र मार्गणादौ लभ्यते तत्र तस्यास्तत्प्रतिपक्षभूताया उत्कृष्टादिस्थितेः प्रत्येकमष्टावपि भङ्गाः सम्पद्यन्ते । यथा प्रस्तुताऽप-र्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्त्वष्टकर्मणाम् , निरयगत्योघादिमार्गणास्वायुःकर्मणश्चेत्येका व्याप्तिः ।

यत्र पुनरोघे मार्गणासु वा ज्ञानावरणादेरेकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धक-परिमाणमसंख्यलोकप्रमाणं तदधिकं वा भवति, तत्र तु तस्यास्तत्प्रतिपक्षभूताया नानास्थिति-बन्धस्थानात्मिकायाश्च स्थितेः प्रत्येकमेकोऽष्टमभङ्ग एव प्राप्यते, न पुनरन्ये सप्त; यथौघत आयुषः, आदेशतस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु ज्ञानावरणादेर्जघन्याऽजघन्यस्थित्योः, एकेन्द्रियौघादिमार्गणासु ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योश्चेति द्वितीया व्याप्तिः ।

यत्र मार्गणादौ तु नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभाव-लक्षणमन्तरं न भवति, न वा तत्प्रतिपक्षभूतैकस्थितिबन्धस्थानलक्षणायाः स्थितेर्बन्धका असंख्य-लोकाकाशप्रदेशप्रमितास्तदधिका अनन्ता वा, तत्र तु द्विविधस्थित्योस्त्रयस्त्रयो भङ्गा एव सम्प-द्यन्ते । तेऽपि एकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेश्चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमभङ्गलक्षणाः, तत्प्रतिपक्षभूतनाना-स्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेस्तूक्तविपरीतास्तृतीय--सप्तमा--ऽष्टमभङ्गलक्षणास्त्रयः, यथौघतोऽष्टाना-मपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योः क्रमेणेति तृतीया व्याप्तिः ।

कुतः एवम् ? इति चेद्, उच्यते—यत्र नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं सम्पद्यते, तत्रैकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानां तु तत् सुतरां सम्पद्यते; नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्थित्यपेक्षयैकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानां संख्ये-यादिभागगतत्वेनस्तोकत्वात् । इत्येवं तत्र मार्गणादौ बन्धकाऽबन्धकपदद्वयस्याऽप्यध्रुवत्वेन तत्तद्बन्धकादीनां सद्भावाऽसद्भावेऽष्टावपि भङ्गाः समुत्पद्यन्ते, आयुर्वर्जसप्तानां नानास्थिति-बन्धस्थानात्मका-ऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं तु प्रस्तुताऽपर्याप्त-मनुष्यादिसान्तरमार्गणास्वेव लभ्यते, न पुनः शेषमार्गणास्थानेष्वोघे वा, तथा च तास्वेव सप्ताना-मुत्कृष्टादिस्थितेरष्टावपि भङ्गाः समुत्पद्यन्ते ।

तथाहि—अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणान्तरकालस्यार्वाकसमये द्वावेव जीवावपर्याप्तमनुष्यतया विद्येते, नान्ये । तयोरप्येकेन तदानीं बध्यमानाऽऽयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीना-मुत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते, नान्येन, इत्येवं तत्कालमपेक्ष्योत्कृष्टस्थितिबन्धविषये पञ्चम भङ्गः

प्राप्यत 'एको बन्धक एकोऽबन्धक एवे' ति । तदनन्तरसमये तु तौ द्वावपि जीवौ ततश्च्युत्वाऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणान्तरं प्राप्तौ । न च तदानीं समस्तेऽपि जगति कश्चिज्जीवोऽपर्याप्तमनुष्यतया विद्यते । तच्चाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया अन्तरम् । अन्तरकालादूर्ध्वं पुनरपि मार्गणान्तराच्च्युत्वा जीवानामपर्याप्तमनुष्यतयोत्पत्तिः प्रारब्धा, तत्र प्रथमसमये कश्चिदेक एव जीवोऽपर्याप्तमनुष्यतयोत्पन्नः । स च तदानीं भवप्रथमसमयस्थः सन् सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिबन्धमेव करोतीति प्राप्तो द्वितीयभङ्गः 'एकोऽबन्धक एवे'ति, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽबन्धकतयाऽभिमतत्वात् । कियत्कालेन च तेन जीवेन सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रारब्धः, यावता नाऽऽगतः कश्चिज्जीवो मार्गणान्तरादपर्याप्तमनुष्यतया, एवं च लब्धः प्रथमो भङ्गः 'एको बन्धक एवे' ति, तदानीमपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तदन्यजीवस्याविद्यमानत्वात्, विद्यमानेन तु तेनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य निर्वर्तनाच्च । आरब्धे च तेनोत्कृष्टस्थितिबन्धे द्वितीयसमये कश्चिदन्यो जीवो मार्गणान्तरादागत्याऽपर्याप्तमनुष्यतया समुत्पन्नः, स च तदानीं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धक इति लब्धः पुनरपि पञ्चमभङ्गः । समयान्तरेऽन्ये त्रिचतुरा जीवा अपर्याप्तमनुष्यतया समजायन्त । ते च तदानीमनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धकाः, इत्थं तदानीमेकस्य सर्वप्रथममागतस्य जीवस्यैवोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकत्वात्, तदन्येषां पञ्चानामपि जीवानामनुत्कृष्टस्थितेरेव निर्वर्तकत्वाच्च जात 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे'ति षष्ठभङ्गः । समयान्तरे च प्रथमागतेनाऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धं समाप्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रारब्धः, तदानीं च मार्गणागतानां षण्णामपि जीवानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनात् प्राप्तश्चतुर्थभङ्गः 'सर्वेऽबन्धका एवे'ति । अन्तर्मुहूर्तेऽतिगते तैः सर्वैरुत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रारब्धः, नाऽगतश्चाऽद्यापि तदन्यः कश्चिज्जीवः । इत्थं तदानीं मार्गणावर्तिनां सर्वेषामपि जीवानां सप्तकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रवर्तनाल्लब्धस्तृतीयो भङ्गः 'सर्वे बन्धका एवेति । तदनन्तरसमये च कश्चिदेक एव जीवोऽपर्याप्तमनुष्यतया संजातः, तस्याऽभिनवोत्पन्नस्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धः, शेषाणां तूत्कृष्टस्थितिबन्धः प्रवर्तत इति सम्प्राप्तः सप्तमो भङ्गो'ऽनेके बन्धका एकोऽबन्धक एवे'ति । समयान्तरेऽन्येऽपि केचनाऽपर्याप्तमनुष्यतया समुत्पन्नाः । न चाद्याऽपि पूर्वोक्तैरुत्कृष्टस्थितिबन्धः समाप्तः । इत्थं प्राप्तोऽष्टमभङ्गो'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'ति ।

इदन्तु दिङ्मात्रम् । अनया दिशा प्रकारान्तरेण तु स्वयमेव भावनीयाः । अनुत्कृष्टस्थितेरष्टौ भङ्गास्तूक्तव्यत्यासेन भावनीयाः, यतो 'जे बंधगुक्कसाण' इत्यादि--(२७९-२८०) गाथाद्वये य उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तेऽनुत्कृष्टस्थितेरबन्धकाः, ये चानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त उत्कृष्टस्थितेरबन्धका उक्ताः । एवञ्चोत्कृष्टस्थितेः प्रथमभङ्गोऽनुत्कृष्टस्थितेर्द्वितीयो भङ्गो भवति । उत्कृष्टस्थितेर्द्वितीयस्त्वनुत्कृष्टस्थितेः प्रथमः । एवं तृतीय-चतुर्थावपि भङ्गौ व्यत्यासेन प्राप्येते । एवमेव षष्ठ-सप्तम-भङ्गावपि व्यत्यासेन वाच्यौ, य उत्कृष्टस्थितेः षष्ठभङ्गः, सोऽनुत्कृष्टस्थितेः सप्तमभङ्गो भवति, उत्कृष्टस्थितेः सप्तमस्त्वनुत्कृष्टस्थितेः षष्ठ इति भावः । पञ्चमा-ऽष्टमौ तु स्वस्थाने

बन्धकाऽबन्धकव्यपदेशभेदेनोत्कृष्टस्थितेरनुत्कृष्टस्थितेश्च पञ्चमाऽष्टमभङ्गावत्र भवतः, न पुनर्भङ्गव्यत्यासेन । इत्थं च यत्रैकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टादिस्थितेः पञ्चमोऽष्टमो वा भङ्गो लभ्यते, तत्र नानास्थितिबन्धस्थानात्मकप्रतिपक्षभूतानुत्कृष्टादिस्थितेरपि स पञ्चमोऽष्टमो वा भङ्गः प्राप्यते, यत्र तूत्कृष्टस्थितेः प्रथमो वा द्वितीयो वा तृतीयो वा चतुर्थो वा षष्ठो वा सप्तमो वा भङ्गस्तत्र तु क्रमेणानुत्कृष्टस्थितेर्द्वितीयो वा प्रथमो वा चतुर्थो वा तृतीयो वा सप्तमो वा षष्ठो वा भङ्गः सम्पद्यते । अत एवौघतो ज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितेश्चतुर्थषष्ठाऽष्टमभङ्गाः, तदनुत्कृष्टस्थितेस्तु तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमभङ्गाश्चाभिहिताः, निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु वक्ष्यते च ।

ओघतो निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु च ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टादिस्थितेस्त्रिभङ्गप्राप्तिस्तु तेषु नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्याऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणान्तरस्याऽभावेनैकपदस्य ध्रुवत्वात्, एकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानामसंख्यलोकपरिमाणापेक्षया स्तोकत्वेनान्यपदस्याऽध्रुवत्वात् । एकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्योत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानां कदाचित्सर्वथाभावलक्षणस्यान्तरस्याऽपि सम्भवेन तत्पदस्याऽध्रुवत्वादिति भावः । एकस्य पदस्य ध्रुवत्वे तद्बन्धकाः सर्वदाऽनेके लभ्यन्ते । अध्रुवपदस्य तु कदाचिदेको लभ्यते, कदाचिच्चानेके लभ्यन्ते, कदाचित्तु न इत्येवं भङ्गत्रयी समुत्पद्यते ।

तद्यथा—एकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्यदा एकोऽपि बन्धको न लभ्यते, तथा 'सर्वेऽबन्धका एवे'ति चतुर्थभङ्गः; तदानीं बहूनां नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानां विद्यमानत्वात् । अत एव यदाऽध्रुवपदे एको बन्धकः प्राप्यते, तदा षष्ठभङ्ग 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे'ति । यदा पुनरनेके बन्धकाः प्राप्यन्ते, तदा त्वष्टमो भङ्गो'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'ति । नानास्थितिबन्धस्थानात्मकानुत्कृष्टस्थितेस्तु बन्धकस्थानेऽबन्धकाः, अबन्धकस्थाने बन्धका इति *व्यत्यासेन तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमभङ्गाः स्वयमेव योज्याः ।*

यत्र तु मार्गणादावेकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धका असंख्यलोकप्रदेशराशिपरिमितास्तदधिका वा सन्ति, तत्र तु पदद्वयमपि ध्रुवमेव भवति । कुतः ? असंख्यलोकप्रदेशपरिमितजीवराशेर्बन्धप्रायोग्यस्थितेर्बन्धकानां नैरन्तर्येण बहूनां लाभात् ।

ननु तथा सति भवत्वेकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बहूनां बन्धकानां नैरन्तर्येण लाभस्ततश्च तत्पदं ध्रुवम्, अनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां त्वध्रुवं भविष्यति ? **इति चेद्, मैवम्,** सर्वत्रैकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकपरिमाणापेक्षया तत्प्रतिपक्षभूतनानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानामनेकगुणानां भावाद् यत्रैकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकानां बहुत्वेन तत्पदं ध्रुवं भवति, तत्र नानास्थितिबन्धस्थानात्मकस्थितेर्बन्धकपदमपि ध्रुवमेव लभ्यते, इत्येवं तादृशमार्गणादौ पदद्वयस्यापि ध्रुवतया सार्वदिकनानाबन्धकाऽबन्धकलाभलक्षणो'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'त्यष्टमभङ्ग एव सम्पद्यते ।

एवं ह्येदं प्रतिष्ठितम्–यत्रोत्कृष्ट-जघन्यान्यतरस्थितेस्तत्प्रतिपक्षस्थितेश्च बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं प्राप्यते, तत्र बन्धकाऽबन्धकलक्षणपदद्वयस्याऽध्रुवत्वेनाऽष्टावपि भङ्गाः प्राप्यन्ते । यत्र त्वनुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं नैव लभ्यते, किन्तु तत्प्रतिपक्षभूतोत्कृष्टादिस्थितेस्तल्लभ्यते, तत्रैकस्य पदस्य ध्रुवत्वाद् एकस्य त्वध्रुवत्वाद्योत्कृष्टादिस्थितेर्यथासम्भवं चतुर्थादयस्त्रयस्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्ते । यत्र तु बन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोकाकाशादिलक्षणबहुत्वेनैकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानामपि कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं न भवति, तत्र तु पदद्वयस्य ध्रुवत्वेनाष्टमभङ्ग एवाऽऽप्यत इति ।

नन्वेवं तर्हि छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोरुत्कृष्ट-जघन्य-तत्प्रतिपक्षस्थितीनां प्रत्येकं बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणान्तरस्य सम्भवेऽपि तत्र कथमष्टौ भङ्गा नाभिहिताः ? **इति चेद्, उच्यते,** छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोरपर्याप्तमनुष्यमार्गणादिवत्सान्तरत्वेऽपि तत्र मार्गणाद्वये यदि जघन्यपद एको जीवो लभ्येत, तदोक्तनीत्या स्याद्भङ्गाष्टकम्, **नवरं श्रीपञ्चमाङ्गे** "छेदोवट्ठावणिया पुच्छा०गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहुत्तं, पुव्वपडिवन्नए सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहन्नेणं कोडिसयपुहुत्तं, उक्कोसेणवि कोडिसयपुहुत्तं ।" **इत्यनेन जघन्यपदेऽपि** छेदोपस्थापनसंयतानां कोटिशतपृथक्त्वमभिहितम् । **तट्टीकायां पुनः श्रुतिबलाज्जघन्यतस्तेषां** त्रिंशतिरेव सम्भाविता । तथा च **टीकाक्षराणि**–"दुष्षमान्ते भरतादिपु दशसु क्षेत्रेषु प्रत्येकं तद्द्वयस्य भावाद्विंशतिरेव तेषां श्रूयते,' इति । एवं **परिहारविशुद्धिकसंयतमार्गणास्थाने** "परिहारविसुद्धिया जहा पुलागा" **इत्यनेनातिदेशतः श्रीमत्यां भगवत्यां** जघन्यपद एकोऽभिहितः, **पञ्चवस्तुकप्रकरणे** तु 'उक्कोस-जहण्णेणं सयसो च्चिय पुव्वपडिवण्णा ।।गाथा १५३४।।" **इत्यनेन जघन्यतोऽपि** ते शतशः प्रतिपादिताः ।

न चैवं सति तत्तन्मतेन यथासम्भवं भङ्गका द्रष्टव्या भवन्तीति **वाच्यम्** । यत एतेषामतुल्यप्रतिपादनानां भिन्नभिन्नमतावलम्बित्वमेव, न पुनरभिप्रायविशेषावलम्बित्वमिति न केनाऽपि निश्चितम् । यत उक्तम**भयदेवसूरिपादैः**–"इहोत्कृष्टं छेदोपस्थापनीयसंयतपरिमाणमादितीर्थकरतीर्थान्याश्रित्य सम्भवति । जघन्यं तु तत्सम्यग् नावगम्यते' इति । **पञ्चवस्तुके च** प्रक्षेपपक्षापेक्षया जघन्यपद एक एव परिहारविशुद्धिको भवतीत्युक्तम् । **तथा च तद्ग्रन्थः**–

'पडिवज्जमाण भइया इक्कोऽवि हु होज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवन्नया वि हु भइया एगो पुहुत्तं वा ।।१५३६।।' **इति** ।

केचित्पुनरेवमाहुः–*छेदोपस्थापनीयं तु प्रथमचरमतीर्थे तु नियमत आदर्तव्यं, पूर्वगृहीतचारित्रस्य विशेषोद्योतार्थमथवा मूलगुणभङ्गे पुनर्महाव्रतारोपणम्, एतत्तु सर्वजिनतीर्थेषु प्राप्यते' **इति** ।

---

* खरतरगच्छीयपाठकरामविजयकृतगुणमालावृत्तौ,

इत्यतोऽत्र ग्रन्थे छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणेऽष्टभङ्गप्रस्तावेऽपि न **संगृहीते, एवं न ते** भङ्गत्रयप्रस्तावेऽपि संगृहीष्यतः, किन्तु **'सयमुज्झं परिहारे छेए'** **इत्यनेन तत्र मार्गणाद्वये** समयाऽविरोधेन प्रस्तुतभङ्गाः स्वयमेवोह्या इत्यभिधास्यते, अतस्तत्र **पूर्वदर्शितन्यायेन** तत्तद्वचनान्यवलम्ब्य सम्भवद्भङ्गकाः स्वयमभ्यूह्या इति ।

अथ यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिविपये केवलोऽष्टमभङ्ग एव, न पुनः **शेषाः** सप्ताऽपि, ता मार्गणाः संगृह्य तत्रैकोऽष्टमभङ्ग एवेति दर्शयन्नाह–**"अट्ठमभङ्गो"** इत्यादि, **'अनेके** बन्धका अनेकेऽबन्धका इत्येवंरूपोऽष्टमभङ्ग एव भवति, न पुनरन्ये सप्त । कासु मार्गणास्वित्याह–**"सव्वेसु एगिंदिये"**'त्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, **"णिगोअभेएसु"** त्ति सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, तथा **"सेससुहुमेसु"** ति ओघ-पर्याप्ताऽ-पर्याप्तभेदभिन्नानेकेन्द्रिय-**सत्कान्** साधारणवनस्पतिकायसत्कांश्चानन्तरं "सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु" **इत्यनेन** संगृहीतान् **षट्** सूक्ष्मभेदान् त्यक्त्वा शेषेषु पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्केष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वादशसु सूक्ष्मभेदेष्वित्यर्थः । अन्यभेदान् संग्रहीतुमाह–**"बायरअपज्जे"**'त्यादि, तत्र बादरापर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकहरितान्तेषु प्रत्येकं योजनाद् बादराऽपर्याप्तपृथिवीकाय-बादराऽपर्याप्ताप्काय-बादराऽपर्याप्ततेजस्काय-बादराऽपर्याप्तवायुकायलक्षणे बादराऽपर्याप्तपृथिव्यादिभेदचतुष्के **"पत्तेअहरिअहरिअ"** त्ति बादराऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिभेदे, तथा 'हरिते'-वनस्पत्योघमार्गणायां चेत्येतेषु द्वात्रिंशन्मार्गणा-भेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । एतेष्वष्टमभङ्गोपपत्तिस्तु प्रत्येकमेकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामप्यसंख्येयलोक-तदधिकपरिमाणतया प्रागिव द्रष्टव्येति ।

अथ छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयमयोराह–**"सयमुज्झ"** मित्यादि, गतार्थमिति ।

अथ शेषमार्गणास्वाह–**"ओघव्व सेसासु"** ति उक्तशेषासु सप्तविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमोघवद्भवन्ति, सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्नानाजीवाश्रया भङ्गा इति प्रक्रमाद्गम्यते । अत्र **शेषमार्गणा नामत इमाः**–सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्यौघ-पर्याप्त-मनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः,सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः,सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारः पृथिव्यप्तेजोवायुकायौघभेदाः, बादरपृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाः पञ्च भेदाः, पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाः पञ्च भेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-कार्मणकाययोगाः, स्त्रीवेदादित्रिवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-कृष्ण-नील-कापोत-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदक-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकं न भवति ज्ञानावरणादेर्नानास्थितिबन्धस्थानात्मकानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरम्, तस्याऽपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणास्वेवाभिहितत्वात् । एवं च न भवत्येकस्थितिबन्धस्था-

नात्मकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणमसंख्यलोकं तदधिकं वा, अन्यतममार्गणायामपि सूक्ष्माणां साधारणानामपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वाभावात् । इत्थं चैकस्य पदस्य ध्रुवत्वादेकस्य त्वध्रुवत्वाद् भङ्गा अप्योघवदुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्यथासंख्यं चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमास्तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाश्च लभ्यन्ते, ते च सर्वथौघवदेव भावनीया इति ॥२८२-२८३-२८४॥

तदेवमभिहिता आयुर्वर्जानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकाबन्धकभङ्गाः सर्वमार्गणास्थानेषु । साम्प्रतं तास्वेवायुषस्तान् प्रकटयन्नाह—

सव्वेसु खलु णारग-पणिंदितिरिय-णर-देवभेएसु ।
सव्वेसु विगलिंदिय-पणिंदि-तसकायभेएसु ॥२८५॥
बायरसमत्तपुहवाइचउग-पत्तेअ-पणमणवयेसु ।
विउवाहारदुग-पुरिस-थी-चउणाणेसु विब्भंगे ॥२८६॥
संयम-समइअ-छेअ-परिहार-देसो-हि-णयण-तेऊसु ।
पम्ह-सुइल-सम्म-खइअ-वेअग-सासाण-सण्णीसु ॥२८७॥
आउस्स अट्ठ भंगा उक्कोसाए ठिईअ णायव्वा ।
एवमणुक्कोसाए णेया ओघव्व सेसासु ॥२८८॥

(प्रे०) "**सव्वेसु खलु**" इत्यादि गाथाचतुष्टयम् । तत्राद्यगाथात्रयेण संगृहीतास्वेकोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं चतुर्थगाथापूर्वार्धेनायुष उत्कृष्टस्थितेर्भङ्गा अभिहिताः; चतुर्थगाथोत्तरार्धेन तु तास्वेव गाथात्रयोक्तास्वेकोत्तरशतमार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्भङ्गकानतिदिश्य शेषासु द्विषष्टिमार्गणासूत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्भङ्गा ओघवदभिहिताः । एतासां चतसृणामपि गाथानामक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरं द्वितीयगाथापूर्वार्धे "**बायरसमत्तपुहवाइचउगपत्तेअ**" इत्यत्र बादरपर्याप्तवाचको बादरसमाप्तशब्दः प्रत्येकान्तेषु प्रत्येकं युज्यते, ततश्च तेन बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरूपाः पञ्चमार्गणाः संगृहीता बोद्धव्याः ।

भावार्थः पुनरयम्—निरयगत्योघादिष्वेकोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं साधारणवनस्पतिकायजीवानां सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाणां वा जीवानामप्रवेशाज्जीवपरिमाणं मूलत एवाऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं न विद्यते, किन्तु ततः स्तोकं स्तोकतरं स्तोकतमं वा विद्यते, इत्थं च न भवत्येतासामन्यतमस्यामप्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणमसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यम्, ततश्च प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणस्याऽन्तरस्य सद्भावात्तत्पदमध्रुवम्, तस्याऽध्रुवत्वे तत्प्रतिपक्षभूतमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपदं सुतरामध्रुवं, द्वयोरध्रुवत्वे तु प्रागुक्तनीत्याऽष्टौ भङ्गाः समुत्पद्यन्त इति तथैवोक्ताः ।

शेषासु तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणासु तु प्रत्येकं साधारणानां सूक्ष्माणां बादराऽपर्याप्तानां वाऽन्यतमजीवानां प्रवेशेन, तैः सर्वैरायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकरणेन चायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धक-परिमाणस्य बहुत्वात्तद्बन्धकानां सार्वदिकप्राप्तिलक्षणं तत्पदस्य ध्रुवत्वं भवति, न पुनरायुष उत्कृष्ट-स्थितेरपि । कुतः ? तद्बन्धकानामसंख्येयलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वात् ।

ननु मा भवतु तिर्यग्गत्योघ-काययोगसामान्यादिमार्गणासु संज्ञिपञ्चेन्द्रियादीनामेवाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्तेषां चासंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वादुत्कृष्टस्थितेः पदं ध्रुवम्, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु तु तद् ध्रुवं स्यात्, तत्र साकारादिविशेषणविशिष्टानां सामान्यजीवानामेवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वकथनेन बन्धप्रायोग्यस्य पूर्वकोटीस्थितिकस्याऽऽयुषो मार्गणाप्रविष्टानामसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यानां तदधिकानां वा सर्वेषां जीवानां बन्ध-प्रायोग्यत्वात् ? **इति चेद्, उच्यते,** सत्यमेतत्, तथाऽपि तादृशोत्कृष्टस्थितेर्वेदकानामेव लोके स्तोकतया तादृशस्थितेर्बन्धका अपि लोके कस्मिन्नपि समये तदधिका नैवाऽवाप्यन्ते । इत्थं चाऽसंख्यलोकजीवराशिकेष्वपि तेषु पूर्वकोटीप्रमाणोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु स्तोका एव प्राप्यन्ते, ततश्चाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियादिमार्गणास्थानेष्वप्युत्कृष्टस्थितेः पदमध्रुवं प्राप्यते, एवं चैकस्य पदस्य ध्रुवत्वादेकस्य त्वध्रुवत्वादोघवदायुषो उत्कृष्टस्थितेः **'सर्वेऽबन्धका एव'** इति चतुर्थभङ्गः, 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एव' इति षष्ठो भङ्गस्तथा 'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एव' इत्यष्टमभङ्गश्च प्राप्यते । अनुत्कृष्टस्थितेस्तु वैपरित्येन 'सर्वे बन्धका एव' इति तृतीयः 'अनेके बन्धका एकोऽबन्धक एव' इति सप्तमस्तथा 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एव' इत्यष्टम इत्येवं त्रयस्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्त इति । अत्र **शेषमार्गणाभिधानानि त्विमानि**–तिर्यग्गत्योघः, सर्वैकेन्द्रियभेदास्तथा पर्याप्तबादरभेदवर्जाः षट् पृथिवीकायभेदाः, एवं षडप्कायभेदाः, षट् तेजस्कायभेदाः, षड् वायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदवर्जा दश वनस्पतिकायभेदाः, काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्र-काययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोत-लेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति ॥२८५-२८६-२८७-२८८॥

तदेवमभिहित आदेशत आयुषोऽप्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्नानाजीवाश्रयो भङ्गविचयः । साम्प्रतं जघन्याजघन्यस्थित्योस्तं दिदर्शयिषुरादौ तावदोघत आह—

भंगाऽऽउगवज्जाणं ठिईण हस्सेयराण णायव्वा ।
जेट्ठियरठिइव्व कमा आउस्स उ अट्ठमो भंगो ॥२८९॥

(प्रे०) **"भंगाउगवज्जाण"** मित्यादि आयुष्कवर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् **"ठिईण हस्सेयराण"** त्ति 'ह्रस्वायाः'-जघन्यास्तदितराया अजघन्यायाश्च स्थित्योर्भङ्गा ज्ञातव्या इति योगः । कथं ज्ञातव्या इत्याह–**"जेट्ठियरठिइव्वकमा"** त्ति ज्येष्ठेतरस्थितिवत् क्रमात्,

प्रागोघतो यथा ज्येष्ठायाः स्थितेः 'अट्ठण्हुकोसाए सिआ तुरियछट्ठअट्ठमा भंगा' इत्यनेन ये चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमास्त्रयो भंगा दर्शितास्त एव त्रयो भङ्गाः सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्बोद्धव्याः । ये च तत्र 'अट्ठमसत्तमतइआऽणुक्कोसाए ठिईए य' इत्यनेनानुत्कृष्टायाः स्थितेस्त्रयो भङ्गा अभिहितास्ते सप्तानामजघन्यायाः स्थितेर्ज्ञातव्या इति भावः । तत्र सप्तानामजघन्यस्थितेर्बन्धकास्तु ध्रुवं लभ्यन्ते, एकेन्द्रियादिजीवैर्निरन्तरमोघिकाजघन्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तनात्, इत्येवमेकं पदं ध्रुवम्, अन्यत्तु जघन्यस्थितिबन्धकलक्षणमध्रुवम्, क्षपकानां तत्स्वामित्वात् । तथा चोत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवत् त्रयस्त्रयो भङ्गा एवोत्पद्यन्त इति । अथाऽऽयुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योरोघतो भङ्गविचयमाह— "आउस्स उ अट्ठमो भङ्गो" त्ति 'हस्सेयराणे'त्यनुवर्तते, तत आयुषो 'ह्रस्वेतरयोः'-जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः प्रत्येकमष्टमो 'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एव' इत्येको भङ्गो भवति । तुकारस्तु पुनरर्थे द्रष्टव्य इति । कुत एकः ? इति चेद्, निगोदपर्यन्तानामनन्तानां जीवानामायुषो जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धकत्वेन पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वात्, पदद्वयस्य ध्रुवत्वे त्वेक एव भङ्ग प्राप्यत इति प्राग् व्युत्पादितमिति ॥२८९॥ उक्त ओघतोऽष्टानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्भङ्गविचयः । साम्प्रतमादेशतो विभणिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां तमाह—

तिरियु-रलमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासु ।
अभविय-मिच्छत्तेसु अमणा-ऽणाहारगेसु च ॥२९०॥
भंगोऽट्ठमो चिअ भवे हस्सियरठिईण आउवज्जाणं ।
सेसासु जाणियव्वा उक्कोसेयरठिइव्व कमा ॥२९१॥

(प्रे०) "तिरियुरलमीसे"त्यादि, तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादित्र्यशुभलेश्यामार्गणासु तथा-ऽभव्य-मिथ्यात्वयोरसंज्ञ्य-ऽनाहारकमार्गणयोरित्येतासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "हस्सियरठिईण" त्ति 'ह्रस्वेतरयोः'-जघन्याऽजघन्ययोः स्थित्योः प्रत्येकं "भंगोऽट्ठमो" त्ति अष्टमो भङ्गो 'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'ति । कुतः ? एतासु प्रत्येकं प्रविष्टानां साधारणवनस्पतिकायादिजीवानां प्रस्तुतद्विविधस्थितिबन्धस्वामित्वेन पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वादिति ।

सेसमार्गणास्त्वाह—"सेसासु जाणियव्वा" इत्यादिना, अक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थः पुनरयम्—अपर्याप्तमनुष्यादिष्वेकादशसान्तरमार्गणासु तु मार्गणानामेव सान्तरत्वेनोत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योरिव जघन्याऽजघन्यस्थितिलक्षणपदद्वयस्याध्रुवत्वादष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते । सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, बादरापर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुकायरूपेषु चतुर्षु भेदेष्वपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु त्रिषु सूक्ष्मपृथिवीकायभेदेषु, तथैव सूक्ष्माप्काय-तेजस्काय-वायुकायसत्केषु त्रिषु त्रिषु भेदेषु, सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, वनस्पतिकायौघमार्गणायां चेत्येतासु प्रत्येकमुत्कृष्ट-

मूलाष्टप्रकृत्युत्कृष्टादिस्थितीनां

ओघतः

आयुर्वर्जसप्तानाम्--उत्कृष्ट-जघन्यस्थित्योः प्रत्येकम्-चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमाः भङ्गाः।
" अनुत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थित्योः प्रत्येकम्-तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमा भङ्गाः। (गाथाः-

आयुषः--उत्कृष्टस्थिते -चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमाः, भङ्गा ,, अनुत्कृष्टस्थिते -तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमा भङ्गा } जघन्याऽजघन्यस्थित्योः-- केवलोऽष्टमो भङ्ग एवेति। २८२-२८९)

	आदेशतः		गति०	इन्द्रिय०	काय०	योग०	वेद०
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्य-स्थितीनां प्रत्येकम्	अष्टौ भङ्गा	अपर्याप्तमनुष्य० १			आहारकतन्मिश्रयोगौ वैक्रियमिश्रश्च, ३	गत-वेद० १
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्य-स्थितीनां प्रत्येकम्	अष्टमभङ्ग एव		सर्वे एकेन्द्रिय-भेदा ७	७ सर्वे साधारणवनस्पति १६ सर्वसूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-बादरपृथिव्यप्ते-जो-वायु-कायभेदा, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पति० वनस्पत्योघ-भेदश्च० २५		
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्य-स्थितीनां प्रत्येकम्	△					
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टाया -चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमा भङ्गा, अनुत्कृष्टाया -तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाः,	जघन्या-ऽजघन्ययोः स्थित्योः अष्टम एव	तिर्यग्गत्योघ-भेद० १			औदारिकमिश्र० कार्मण० २	
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टाया -चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमा भङ्गा, अनुत्कृष्टाया -तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाः,	जघन्यायाः-उत्कृष्टवत् अजघन्यायाः -अनुत्कृष्टवत् त्रयो भङ्गाः	सर्वे देव-निरय-भेद० सर्वपञ्चे-न्द्रियतिर्यग्भेद० मनुष्यौघतत्पर्याप्त मानुषीभेदाश्च० ४५	ओघ-पर्याप्ता-ऽप-र्याप्तभेदभिन्ना सर्वे विकलेन्द्रिय पञ्चे न्द्रियभेदा, १२	ओघ-बादरौघ-बादरपर्याप्त-भेदभिन्ना पृथिव्यप्तेजो-वायुकायभेदा द्वादश, प्रत्ये-कवनौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, त्रय-स्त्रसकायभेदाश्च० १७	सर्व मनोवचो० काययोगौघ० औदारिक० वैक्रियश्च० १३	स्त्री० पु० नपु० ३
आयुषः	चतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकमष्टौ भङ्गा		नरक-पञ्चेन्द्रि-यतिर्यग्-मनुष्य-देवसत्का सर्व-भेदा ४६	सर्वे विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेद० १०	सर्वे त्रसकायभेदा पर्याप्त-बादरपृथिव्यप्तेजोवायु० पर्याप्तप्रत्येकवनस्पति-भेदश्च ८	सर्वे मनोवचो० भेद वैक्रिय० आहारक-तन्मिश्र १३	स्त्री० पु० २
आयुषः	चतुर्विध-स्थितीनाम्	ओघवत्	शेष० तिर्यगोघ० १	सर्वैकेन्द्रिय० ७	उपर्युक्ताष्टवर्जाः पृथिवीका-याद्दिभेद० ३८	काययोगौघ० औदारिकतन्मिश्रौ, ३	नपुं० १

△ प्रतिपन्नछेदोपस्थापनीयसंयतादीनां जघन्यादिपरिमाणानुसारेण सम्भवद्भङ्गा, स्वयमूह्याः।

भङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रकम्

भङ्गक्रम —(प्रथम.) एको बन्धक, (द्वितीय·) ★ एकोऽबन्धकः, (तृतीय·) सर्वे बन्धका, (चतुर्थ) सर्वेऽबन्धका, (पञ्चम) एको बन्धक एकोऽबन्धकः, (षष्ठ.) एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका·, (सप्तम:) अनेके बन्धका एकोऽबन्धक (अष्टम·) अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति। (गाथा-२७७-२७८)

कषाय	ज्ञान०	सयम०	दर्शन	लेश्या	भव्य०	सम्यक्त्व०	संज्ञी०	आहा०	सर्वा:	गाथाङ्का.
		सूक्ष्मसम्पराय० १				औपश० सासाद० मिश्र० ३			६	२८२ २९१
									३२	२८३ २८४ २९१
		△ छेद०परिहार०							२	२८४
	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असयम० १		अशु० ३	अभ० १	मिथ्यात्व० १	असं० १	अना० १	१३	२८४ २९०
सर्व० ४	मत्यादिज्ञान-चतुष्कं विभङ्गज्ञान च० ५	संयमौघ० सामायिक० देशसयमश्च ३	चक्षु० अचक्षु अवधि ३	शुभ० ३	भव्य० १	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० क्षायोपशमिक० ३	सज्ञी० १	आहारी ~	११४	२९१
	मत्यादि-ज्ञानचतुष्क० विभङ्ग० ५	सयमौघ० सामा० छेद० परिहार० देशसयमश्च, ५	अवधि-चक्षु० २	शुभ० ३		सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० क्षायोप० सासादन० ४	सज्ञी० १		१०१	२८५ २८६ २८७ २८८ २९२
सर्व० ४	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असंयम: १	अचक्षु १	अशुभ. ३	भव्य. अभ. २	मिथ्यात्व० १	असज्ञी १	आहा० १	६२	२८८ २९२

★ अबन्धका नाम ये प्रतिपक्षस्थितेर्बन्धकास्ते, न तु सर्वथाऽबन्धका इति।

स्थितेर्बन्धकपरिमाणमिव जघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणमप्यसंख्येयलोकाकाशादिलक्षणमेव, ततश्च पदद्वयस्य ध्रुवत्वादेकोऽष्टमभङ्ग एव प्राप्यते । एता द्वात्रिंशन्मार्गणा एकादशाऽपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणास्तथा 'तिरिये'त्यादिनाऽनन्तरोक्तास्तिर्यग्गत्योघादित्रयोदशमार्गणाश्च विहाय शेषासु निरयगत्योघादिचतुर्दशोत्तरशतमार्गणासु तूत्कृष्टस्थितिबन्धकानामिव जघन्यस्थितेर्बन्धकानामप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशापेक्षया स्तोकत्वान्मार्गणानां निरन्तरत्वाच्चैकं पदं ध्रुवमेकं त्वध्रुवमित्येवमोघवत्त्रयस्त्रयो भङ्गा एव प्राप्यन्त इति ॥२९०-२९१॥

तदेवमभिहिता आयुर्वर्जसप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्नानाजीवाश्रया भङ्गा मार्गणास्थानेष्वपि । साम्प्रतं शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तानादेशतो दर्शयन्नाह—

जासु जेट्ठियराणं ठिईण भंगाऽऽउगस्स अट्ठऽत्थि ।
तासु जहण्णियराणं ते च्चिअ ओघव्व सेसासु ॥२९२॥

(प्रे०) **"जासु जेट्ठियराण"**मित्यादि, यासु मार्गणास्वायुषो 'ज्येष्ठेतरयोः'-उत्कृष्टानुत्कृष्टयोः स्थित्योरेकानेकादिबन्धकाबन्धकनिष्पन्ना भङ्गाः **"अट्ठऽत्थि"** त्ति अनन्तरम्—

'सव्वेसु खलु णारगपणिंदितिरियणरदेवभेएसु । सव्वेसु विगलिंदियपणिंदितसकायभेएसु ॥
बायरसमत्तपुढवाइचउगपत्तेअपणमणवयेसु । विउवाहारदुगपुरिसथीचउणाणेसु विब्भंगे ॥
संयमसमइअछेअपरिहारदेसोहिणयणतेऊसु । पम्हसुइलसम्मखइअवेअगसासाणसण्णीसु ॥
आउस्स अट्ठभंगा उक्कोसाए ठिईअ णायव्वा ॥ एवमणुक्कोसाए ॥ (गाथा-२८५ २८८)

इत्यनेनाष्टावभिहिताः सन्तीत्यर्थः । **"तासु जहण्णियराण ते च्चिअ"** त्ति तासु निरयगत्योघादिष्वेकोत्तरशतमार्गणासु 'जघन्येतरयोः'-जघन्याजघन्ययोः स्थित्योस्त एवाष्टौ भङ्गा भवन्तीत्यर्थः । कुतः ? एतासु प्रत्येकं मूलत एव जीवानामसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वेनायुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धलक्षणपदद्वयस्येव जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धलक्षणपदद्वयस्याप्यध्रुवत्वात् ।

अथ शेषमार्गणास्वाह-**"ओघव्व सेसासु"** ति शेषासु तिर्यग्गत्योघादिषु त्रिषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योः प्रत्येकमोघवदेकोऽष्टमभङ्ग एवेत्यर्थः । नन्वेतासु कथमुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्भङ्गवत्त्रयस्त्रयो भङ्गा नाभिधीयन्ते ? **उच्यते**, तत्राऽनन्तजीवराशिकेष्वसंख्यलोकजीवराशिकेषु वा मार्गणासूत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्तोकानामेव प्राप्तेः पदस्यैकस्याध्रुवत्वेन बन्धकाभावस्यैकादिबन्धकानां च कालभेदेन लाभात्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्ते । अत्र तु जघन्यस्थितेर्बन्धका अप्यजघन्यस्थितेर्बन्धकानामिव बहवः प्राप्यन्ते, ततश्चाजघन्यस्थितेर्बन्धकानामिव जघन्यस्थितेर्बन्धकानामपि सर्वदैव प्राप्तेः पदद्वयस्य ध्रुवत्वादेकोऽष्टमभङ्ग एव लभ्यत इति । तत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धकानां स्तोकत्वं तूत्कृष्टस्थितिकायुषो वेदकानां जीवानां लोके स्तोकत्वात्, प्रकृते जघन्यस्थितेर्बन्धकानां बहुप्राप्तिस्तु लोके क्षुल्लकभवरूपजघन्यायुर्वेदकानां जीवानामनन्तत्वाद् बोद्धव्या ।

अयम्भावः—यत्स्थितिकजीवानां लोके उत्कृष्टतो यावत्परिमाणं भवति, तत्परिमाणादधिकजीवा एकस्मिन् समये तत्स्थितिकमायुर्न बध्नन्ति; क्षुल्लकभवग्रहणस्थितिका जीवा लोकेऽनन्ता भवन्त्यतः क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितेर्बन्धका अप्येकसमये लोकेऽनन्ताः प्राप्यन्ते, पूर्वकोटयादिस्थितिकजीवास्तु लोके स्तोका भवन्त्यतः पूर्वकोटयादिस्थितिकायुषो बन्धका अपि लोके स्तोकाः प्राप्यन्ते, इत्येवमुभयत्र बन्धकपरिमाणवैषम्याद्भङ्गवैषम्यं बोद्धव्यमिति ॥२९२॥

तदेवं प्रतिपादितः शेषस्याऽऽयुकर्मणो जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्नानाजीवाश्रयो भङ्गविचय आदेशतोऽपि । एवञ्च गतं सप्तमं नानाजीवाश्रितं भङ्गविचयद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे सप्तमं नानाजीवाश्रय-भङ्गविचयद्वार समाप्तम् ॥

॥ अथाऽष्टमं भागद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्ते "**भागो**" इत्यनेनोद्दिष्टे भागद्वारे भागप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकजीवानां भागान् दर्शयन्नाह—

उक्कोसाअ ठिईए अणंतभागोऽत्थि बंधगाऽट्ठण्हं ।
होअंति बंधगा खलु अणंतभागा अजेट्ठाए ॥२९३॥

(प्रे०) "**उक्कोसाअ ठिईए**"इत्यादि, तत्र "**ट्ठण्ह**"मित्यत्राऽकारस्य दर्शनादष्टानां ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः "**अणंतभागोऽत्थि**" त्ति ओघतो भण्यमानत्वात् सर्वेषां स्थितिबन्धकजीवानामनन्तभागः,—अनन्ततमैकभागप्रमाणाः सन्तीत्यर्थः । कुत एक एव भाग इति गम्यते ? 'अणंतभागो' इत्यत्रैकवचनस्योपादानादिति । कथमनन्तैकभागः ? इति चेत्, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्तेषां च सर्वस्थितिबन्धकानन्तभागगतत्वात् । अत एव शेषा अनन्तबहुभागजीवा ज्ञानावरणादीनां तत्तत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतया प्राप्ता इति तान् तथैव दर्शयन्नाह-"**होअन्ति बंधगा खलु**" इत्यादि, अत्र "**अट्ठण्ह**" मित्यनुवर्ततेऽतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकम् "**अजेट्ठाए**" त्ति 'अज्येष्ठायाः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः खल्वनन्तभागाः-सर्वस्थितिबन्धकजीवानामनन्तबहुभागगता भवन्तीत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववद् बहुवचनप्रयोजनाद् बहुभागग्रहणं विज्ञेयम् । एवमेवोत्तरत्रापि द्रष्टव्यमिति ॥२९३॥

तदेवं दर्शिता अष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकभागा ओघतः । इदानीं तानेवादेशतः प्रचिकटयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामाह—

सत्तण्हुक्कोसाए अणंतभागोऽत्थि तिरियकायेसु ।
उरलदुग-कम्मणेसु णपुंसगे चउकसायेसु ॥२९४॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसण-तिअसुहलेसासु ।
भविये-यर-मिच्छेसु असण्णि-आहार-गियरेसु ॥२९५॥

(प्रे०) **"सत्तण्हुक्कोसाए"** इत्यादि. आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः **"अणंतभागोऽत्थि"**त्ति मार्गणागतानां सप्तकर्मसत्कसर्वस्थितिबन्धकजीवानामनन्ततमैकभागप्रमाणाः सन्तीत्यर्थः । बन्धका इति गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह—**"तिरियकायेसु"**मित्यादि, तिर्यग्गत्योघ-काययोगयोः **"उरलदुगकम्मणेसु"** ति औदारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्द्विके, कार्मणकाययोगे, तथा नपुंसकवेदे, क्रोधादिचतुःकषायमार्गणासु । अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमेकामार्यामाह—**"अण्णाणदुगे"** इत्यादि मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणयोर्द्विके, असंयमे, अचक्षुर्दर्शने, कृष्णादित्र्यशुभलेश्यासु, भव्ये, तदितरेऽभव्ये, मिथ्यात्वे, असंज्ञ्या-ऽऽहारकमार्गणयोः, आहारकेतराऽनाहारकमार्गणायामित्येतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? ओघवदेतासु प्रत्येकं प्रविष्टैरनन्तबहुभागगतैः साधारणवनस्पतिकायादिजीवैः सर्वदानुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव निर्वर्त्यते, इत्थञ्च शेषाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धकानामसंख्येयत्वेन ते तिर्यग्गत्यादितत्तन्मार्गणागतसप्तकर्मसत्कस्थितिबन्धकजीवानामनन्ततमैकभागगता एव भवन्ति ॥२९४-२९५॥

अथ सार्धाऽऽर्यया शेषमार्गणासु सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकभागान् प्ररूपयन्नाह—

पज्जमणुस-मणुसीसु सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसु ।
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहारसुहुमेसु ॥२९६॥
होअन्ति संखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासु ।

(प्रे०) **"पज्जमणुसे"** त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाभेदद्वया-ऽपगतवेदमार्गणासु, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयममार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येतासु संख्येयजीवराशिकासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं **"होअन्ति संखभागो"** त्ति 'सत्तण्हुक्कोसाए' इत्यस्यानुवृत्तेः सप्तानामायुर्वर्जान्यतमानां पर्याप्तमनुष्यादितत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयभागो भवन्ति, बन्धका इति प्रकरणाद्गम्यते । कुतः ? एतासु मार्गणासु प्रत्येकं जीवानां संख्येयत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानात्म-

कत्वाच्चेति । अथ शेषमार्गणासु प्रकृतमाह–"**असंखभागो हवन्ति सेसासु**"मिति, अनन्तरोक्तमार्गणाः परित्यज्य शेषासु निरयगत्योघादिपञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् "**असंखभागो हवन्ति**" त्ति मार्गणागतसर्वबन्धकानामसंख्यभागः-असंख्येयतमैकभागप्रमाणा भवन्ति, सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका इति प्राग्वद्योज्यमिति ।

शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वे निरयभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्योघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, एकोनविंशतिरीन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशदपि पृथिव्यादिकायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद–मत्यादित्रिज्ञान–विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्मशुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ–पशमिक-मिश्र-सासादन–संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । अत्र निरयगत्योघादिभेदेषु प्रत्येकं स्थितिबन्धकजीवानामसंख्येयत्वादेकस्थितिबन्धस्थानस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येयैकभागगता एव प्राप्यन्ते, सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु वनस्पतिकायौघमार्गणाभेदे च यद्यपि प्रत्येकमनन्ता जीवाः सन्ति, तथापि तेषु बादरसाधारणवनस्पतिकायाद्यनन्तकायिकजीवानामपि तत्तन्मार्गणासत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानस्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येयभागगता एव प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति ॥२९६॥

अथ सर्वमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकभागानाह—

सव्वासु सेसभागाऽणुक्कोसठिईअ णायव्वा ॥२९७॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि सुगमम् । नवरं "**सेसभागा**" त्ति यास्वेकोऽनन्तभागः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका उक्ताः, तासु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु शेषा अनन्तबहुभागाः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः । एवमेव शेषमार्गणास्वपि शेषाः संख्येयबहुभागाः, असंख्येयबहुभागाश्च यथासम्भवं ज्ञानावरणादीनामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतया द्रष्टव्या इति ॥२९७॥

तदेवं प्रतिपादिता आयुर्वर्जसप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकभागा मार्गणास्थानेष्वपि । साम्प्रतं शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तान् मार्गणासु दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअ-वणका-युरालियदुगेसुं ।
णपुम-चउकषायेसुं दुअणाणा-ऽयत-अचक्खूसुं ॥२९८॥
अपसत्थतिलेसासुं भवि-यर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारे ।
आउस्स बंधगा खलु अणंतभागोऽत्थि जेट्ठाए ॥२९९॥

(प्रे०) "**तिरिये सव्वेगिंदिये**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, तथा "**सव्वे**" इत्यादौ सर्वशब्दस्यैकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे च निगोदभेदास्तथा वनस्पति-

कायौघ-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगेषु, तथा नपुंसकवेद-चतुःकषायेषु, मत्य-ज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु, मार्गणान्तराणि सङ्ग्रहीतानि–"**अपसत्थे**"त्यादि, '**अप्रशस्ताः**'-अशुभाः कृष्णादित्रिलेश्यास्तासु, भव्ये, तदितरेऽभव्ये, मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणयोराहारक-मार्गणायामित्येतासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् "**आउस्स**" त्ति आयुः कर्मणः "**जेट्ठाए**" त्ति '**ज्येष्ठायाः**'-उत्कृष्टायाः स्थितेः "बंधगा खलु अणंतभागोऽत्थि" त्ति सुगमम् । इत्यक्षरार्थः । **भावार्थस्त्वयम्**–पूर्वकोटयायुरुत्कृष्टस्थितिकजीवानां लोके स्तोकत्वात्तस्य पूर्वकोटयायुरुत्कृष्टस्थिति-**कायुषो** बन्धका अपि लोके स्तोका असंख्येया एव प्राप्यन्ते । किञ्च सकलसर्वमार्गणासु प्रतिसमयं सर्वजीवानामायुर्बन्धाभावेऽपि मार्गणागतजीवेभ्यः संख्येयैकभागगता अनन्ता जीवाः प्रतिसमयमायु-र्बन्धकतया प्राप्यन्ते । तेभ्यश्चोक्तनीत्या पूर्वकोटयायुरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येया एव सम्भवन्ति, न पुनस्तदधिकाः । ते च मार्गणागतानां सर्वेषामायुर्बन्धकजीवानामनन्ततमैकभागगता एवेति-कृत्वा "**बंधगा खलु अणंतभागोऽत्थि**" इत्यभिहितमिति ॥२९८-२९९॥

अथ शेषमार्गणासु सार्धयाऽऽर्ययाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकभागाभिरूपयन्नाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयम-समइअछेअपरिहारसुइलखइएसुं ॥३००॥
होअन्ति संखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासुं ।

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोस्तथाऽऽहारककायिक आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणे, आनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताष्टादशदेवमार्गणासु, मनःपर्यव-ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणास्वित्येवमेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**होअन्ति संखभागो**" त्ति मार्गणागतायुर्बन्ध-कजीवानां संख्येयतमैकभागो भवन्ति, आयुषो ज्येष्ठायाः स्थितेर्बन्धका इति प्रकरणाद्गम्यत इति । अत्र सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जासु शेषास्वानतादिषु देवगतिसत्कसप्तदशमार्गणासु यद्यप्यसंख्येया जीवाः सन्ति, तथापि तासु विवक्षित एकस्मिन् समये संख्येयाधिका जीवा आयुर्बन्धकतया न प्राप्यन्ते । कुतः ? तैः पर्याप्तमनुष्यसत्कायुर्बन्धात् पर्याप्तमनुष्याणामुत्कृष्टपदेऽपि संख्येयत्वाच्च ।

इदमुक्तं भवति–यत्प्रागुक्तं लोके यत्स्थितिकजीवानामुत्कृष्टतो यावत्परिमाणं सम्भवति, तत्परिमाणादधिकजीवा एकस्मिन् समये तत्स्थितिकायुर्बन्धकतया न प्राप्यन्ते, किन्तु ततो हीना एव प्राप्यन्त, इति नियमेन पर्याप्तमनुष्यसत्कायुर्बन्धका एकस्मिन् समये संख्येया एव प्राप्यन्ते; तेभ्योऽपि केवलदेवगतिमार्गणासत्कप्रकृतैकभेदेषु ते स्तोकतराः संपद्यन्ते । शेषपर्याप्तमनुष्यादि-मार्गणासु तु सर्वेऽपि जीवाः संख्येया इतिकृत्वाऽऽयुर्बन्धकजीवानामपि संख्येयाधिकानामसम्भव एव । एवं च स्थिते एकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकजीवा मार्गणागतसर्वायु-

बन्धकजीवानां संख्येयैकभागगताः, नानास्थितिबन्धात्मकानुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकास्तु संख्येय-बहुभागगता इतिकृत्वा 'होअन्ति संखभागो' इत्युक्तमिति ।

अथोक्तशेषसर्वमार्गणासु प्रस्तुतमाह-"**असंखभागो हवन्ति**" ति अनन्तरोक्ततिर्यग्गत्यादिपञ्चाष्टिमार्गणा विवर्ज्य शेषासु निरयगत्योघाद्यष्टनवतिमार्गणासु प्रत्येकम् "**असंखभागो हवन्ति**" त्ति आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणागतसर्वायुर्बन्धकजीवानामसंख्यभागगता भवन्तीत्यर्थः । तत्र **शेषमार्गणाऽभिधानानि त्विमानि**–अष्टौ निरयगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवौघभेदः, एकादश भवनपत्यादिसहस्रारान्ता देवभेदाश्च, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, तथैव सर्वे पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय प्रत्येकवनस्पतिकाय-त्रसकायभेदाः, सर्वे **मनोयोगभेदाः**, सर्वे वचनयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगभेदः, स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ--क्षायोपशमिकसम्यक्त्व--सास्वादन-संज्ञिमार्गणा--भेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकमसंख्येया जीवाः, उत्कृष्टायुश्च तिर्यग्-देवायसंख्येयजीवराशिसत्कं बध्यते, ततश्चोत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धका असंख्येयैकभागगताः प्राप्यन्त इति ॥३००॥

अथ प्रागिव सर्वमार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकभागान् दर्शयन्नाह—

सव्वासु सेसभागाऽणुक्कोसठिईअ णायव्वा॥३०१॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि गतार्थम् । नवरं सर्वास्वित्यनेन वैक्रियमिश्रकाययोगादिसप्तमार्गणावर्जास्त्रिपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणा ग्राह्याः । इति ॥३०१॥

तदेवमभिहिता आदेशतोऽपि मूलाष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकभागाः । साम्प्रतं तेषामेवाष्टानां जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकभागान् व्याचिकीर्षुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह लहुठिईए अणंतभागो असंखभागोऽत्थि ।
आउस्स सेसभागा अजहण्णठिईअ अट्ठण्हं ॥३०२॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह लहुठिईए**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां 'लघुस्थितेः'-जघन्यस्थितेः "**अणंतभागो**" त्ति सर्वस्थितिबन्धकजीवानामनन्ततमैकभागः, सन्तीति परेणान्वयः, बन्धका इति गम्यते । कुतः ? सप्तानामौघिकजघन्यस्थितेः क्षपकस्वामित्वात् तेषां चातिस्तोकत्वादिति । अथायुषो जघन्यस्थितेराह-"**असंखभागोऽत्थि**" त्ति सर्वायुर्बन्धकानामसंख्यतमैकभागो भवन्ति, 'लहुठिईए' इत्यस्यानुवृत्त्या लघुस्थितेः, बन्धका इति गम्यते । एवमुत्तरत्राप्यनुवृत्त्या योगो द्रष्टव्यः । कस्य कर्मण इत्याह-"**आउस्स**" त्ति आयुःकर्मण इति । कुतः ? जघन्यस्थितिकायुषः साधारणवनस्पतिकायजीवैरपि निर्वर्तनादिति । अथाजघन्यस्थितेर्बन्धकभागानाह-"**सेसभागा**" इत्यादि, सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकलक्षणमनन्तैकभागं विहाय शेषा अनन्तबहुभागाः

सप्तानामजघन्यस्थितेर्बन्धकाः, आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकलक्षणमसंख्येयैकभागं विवर्ज्य शेषा असंख्य-बहुभागा आयुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकाः, सन्तीत्यनुवर्तते । गतार्थमिति ॥३०२॥

उक्ता ओघतोऽष्टानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकभागाः । अथादेशतो दिदर्शयिषुस्तावदादावायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामाह—

सत्तण्ह जहण्णाए अणंतभागोऽत्थि कायुरालेसुं ।
णपुम-चउकसायेसुं अचक्खु-भवियेसु आहारे ॥३०३॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह जहण्णाए**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः "**अणंतभागोऽत्थि**" त्ति काययोगौघौदारिककाययोगादितत्तन्मार्गणागतसर्वबन्धकानामनन्तभागः-अनन्ततमैकभागगताः सन्ति । कासु मार्गणास्वित्याह—"**कायुरालेसु**"मित्यादि, काययोगसामान्यौदारिककाययोगयोः, नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु, तथाऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोराहारिमार्गणायामित्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, प्रतिमार्गणं साधारणवनस्पतिकायजीवानां समावेशे सति क्षपकाणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् ।

इदमुक्तं भवति—साधारणवनस्पतिकायजीवानां समावेशेन प्रतिमार्गणमनन्तं बन्धकपरिमाणम्, क्षपकाणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन संख्येया एव सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः, ते च मार्गणागतसर्वबन्धकजीवानामनन्तैकभागमात्रा एवेति ॥३०३॥

अथ सार्धगाथया शेषमार्गणासु प्रकृतमाह—

पज्जमणुम-मणुमीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥३०४॥
होअन्ति संखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासुं ।

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः । **भावार्थः पुनरयम्**—एकयाऽऽर्यया संगृहीतासु पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयानां जीवानामेव सद्भावेन "**होअन्ति संखभागो**" इत्यनेन प्रकृताः सप्तान्यतमानां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संख्येयैकभागगता अभिहिताः । "**असंखभागो हवन्ति सेसासु**"मित्यत्र **शेषमार्गणास्तु इमा अष्टचत्वारिंशदभ्यधिकशतम्**—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे इन्द्रियमार्गणाभेदास्तथैव सर्वे कायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग पञ्चवचोयोगौ-दारिमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोग--स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादित्रिज्ञान--मत्यज्ञानादित्र्यज्ञाना--ऽसंयम-देशसंयम--चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-कृष्णादिषड्लेश्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदका-पशमिक--सासादन-मिश्र--मिथ्यात्व-

	आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्			आयुष		
उत्कृष्ट स्थिते	ओघवत् अनन्तैकभाग०	संख्यातैकभाग०	असंख्यातैकभाग०	ओघवत् अनन्तैकभाग०	संख्यातैकभाग०	असंख्यातैकभाग०
अनुत्कृष्ट स्थिते	ओघवत् अनन्तबहुभाग०	संख्यातबहुभाग०	असंख्यातबहुभाग०	ओघवत् अनन्तबहुभाग०	संख्यातबहुभाग०	असंख्यातबहुभाग०
गति०	तिर्यग्गत्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य मानुषी सर्वार्थसिद्धदेव० ३	शेष० ४३	तिर्यग्गत्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य मानुषी आनतादिसर्वार्थसिद्धान्तदेव० २०	शेष० २६
इन्द्रिय०			सर्व० २६	सर्वैकेन्द्रियभेद० ७		शेष० १२
काय०			सर्व० ४८	वनौघ० सर्वसाधारणवनस्पतिभेदाश्च० ८		शेष० ३४
योग०	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्र० कार्मण० ४	आहारक-तन्मिश्र० २	शेष० १२	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्र० ३	आहारक-तन्मिश्रयोगौ० २	शेष० ११
वेद०	नपुंसक० १	अपगतवेद० १	शेष० २	नपुंसक १		स्त्री० पु० २
कषाय०	सर्व० ४			सर्व० ४		
ज्ञान०	मत्यज्ञा० श्रुताज्ञा० २	मनःपर्यव० १	शेष० ४	मत्यज्ञा श्रुताज्ञा २	मनःपर्यव० १	शेष० ४
संयम०	असंयम० १	सामा० सा० छेद परिहार सूक्ष्म ५	देशसंयम० १	असंयम० १	संयमौघ० सामा० छेद०परिहार० ४	देशसंयम० १
दर्शन०	अचक्षु० १		चक्षु० अवधि० २	अचक्षु० १		चक्षु० अवधि० २
लेश्या०	अशुभकृष्णाद्या० ३		शुभा० ३	अशुभा० ३	शुक्ला० १	शेष० २
भव्य०	भव्य०अभव्य० २			भव्य०अभव्य० २		
सम्यक्त्वं	मिथ्यात्व० १		शेष० ६	मिथ्यात्व० १	क्षायिक० १	शेष० ३
संज्ञी०	असंज्ञी १		संज्ञी० १	असंज्ञी १		संज्ञी० १
आहारी	सर्व० २			आहारक० १		
सर्वमार्गणा -- २३		१२	१३५	३६	२६	६८
गाथाङ्का -२६४-२६५-३०१		२६६-३०१	२६७-३०१	२६८-२६९-३०१	३००-३०१	३०१

	आयुर्वर्जसप्तकर्मणाम्			आयुःकर्मणः	
जघन्य-स्थिते -	ओघवद् अनन्तैक-भाग०	संख्यातैक-भाग०	असं-ख्यैकभाग	संख्यातैक-भाग०	ओघवद् असं० ख्यैकभा०
अजघन्य-स्थिते·-	ओघवद् अनन्तबहु-भाग०	सख्यात-बहुभाग०	असख्य-बहुभाग	संख्यातबहु-भाग०	ओघवद् असंख्य-बहुभा०
गति०		पर्याप्तमनुष्य० मानुषी०सर्वार्थ-सिद्धदेवभेद० ३	शेष० ४४	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आन-तादिदेव० २०	शेष० २७
इन्द्रिय०			सर्व० १९		सर्व० १९
काय०			सर्व० ४२		सर्व० ४२
योग०	काययोगोघ० औदारिक० २	आहारक तन्मिश्रयोगौ, २	शेष० १४	आहारक० तन्मिश्र० २	शेष० १४
वेद०	नपुंसक० १	अपगतवेद० १	स्त्री० पु० २		वेदत्रिक० ३
कषाय०	सर्व० ४				सर्व० ४
ज्ञान०		मन पर्यव० १	शेष० ६	मनःपर्यव० १	शेष० ६
सयम०		सयमोघ० सामा छेद परि-हार सूक्ष्म ५	शेष० ५	सयमौघ०सामा० छेद० परिहार० ४	शेष० ५
दर्शन०	अचक्षु० १		शेष० ३		सर्व० ३
लेश्या०			सर्व० ६	शुक्ला० १	शेष० ५
भव्य०	भव्य० १		अभव्य० १		सर्व० २
सम्य-			सर्व० ६	क्षायिक० १	शेष० ४
सञ्ज्ञी०			सर्व० २		सर्व० २
आहारक०	आहारक० १		अनाहार० १		आहार० १
सर्वमार्गणाः--	१०	१२	१४८	२९	१३४
गाथाङ्का --	३०३	३०४	३०५	३०६--	३०७

संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एताभ्योऽष्टचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणाभ्य एकेन्द्रियादिकतिपयमार्गणा विहाय शेषासु स्थितिबन्धकजीवानामसंख्येयत्वात्, तथैकेन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु स्थितिबन्धकजीवानामानन्त्येऽपि तेषां बन्धप्रायोग्यसर्वस्थितिबन्धस्थानात्वासंख्येयभागरूपदेकस्थितिबन्धस्थानात्मकस्य जघन्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका मार्गणागतशेषजीवानामसंख्यैकभागमात्रा एव सम्पद्यन्ते, न त्वनन्तैकभागप्रमाणा इति ॥३०४॥

अथऽऽयुर्वर्जसप्तानामजघन्यस्थितेर्बन्धकभागान् प्राग्वदाह—

सव्वासु सेसभागा अजहण्णठिईअ णायव्वा ॥३०५॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि गतार्थमिति॥३०५॥

तदेवमभिहिता आयुर्वर्जसप्तानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकभागा आदेशतोऽपि । साम्प्रतं शेषस्यायुषस्तान् दर्शयन्नाह—

पज्जमणुममणुसीसुं आहारदुगाणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुइल-खइएसुं ॥३०६॥(गीतिः)
आउस्स जहण्णाए संखंसो बंधगा मुणेयव्वा ।
सेसासु असंखंसो सव्वत्थ अलहुठिईअ सेसंसा ॥३०७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"इत्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत् । **भावार्थः पुनरयम्**—पर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थितेरिव जघन्यस्थितेर्बन्धका अपि संख्येया एव सन्ति, ततश्च जघन्यस्थितिबन्धस्यैकस्थितिबन्धस्थानरूपतया प्रागुक्तनीत्या जघन्यस्थितेर्बन्धका अपि मार्गणागतसर्वायुर्बन्धकानां संख्येयैकभागगता एव प्राप्यन्ते, शेषमार्गणास्वपि निरयगत्यादिषु बहुषु मार्गणास्वायुर्बन्धकजीवानामसंख्येयत्वात्, तथैकेन्द्रियादिस्तोकमार्गणास्वायुर्बन्धकजीवानामनन्तत्वेऽपि तेषां सर्वेषां जघन्यायुर्बन्धार्हत्वादेकस्थितिबन्धस्थानात्मकजघन्यस्थितेर्बन्धकाः प्रागुक्तनीत्याऽसंख्याततमैकभागगताः प्राप्यन्त इति ॥३०६-३०७॥

समाप्ता सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकानामपि भागप्ररूपणा, तत्समाप्तौ च गतं "**भागा**" इत्यनेनोद्दिष्टमष्टमं भागद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारेऽष्टमं नानाजीवाश्रयभागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नवमे द्वारे परिमाणप्ररूपणां चिकीर्षुरादावुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकपरिमाणमोघतः प्ररूपयन्नाह—

उक्कोसाअए ठिईए अट्ठण्हं बंधगा असंखेज्जा ।
हुन्ति अणुक्कोसाए ठिईअ उण बंधगाऽणंता ॥३०८॥

(प्रे०) "**उक्कोसाअ ठिईए अट्ठण्हं**" इत्यादि, ओघतः समस्तजीवराशेरपेक्षया ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका एकस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽसंख्येया भवन्ति, प्रतिविशिष्टपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवाष्टकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् । "**अणुक्कोसाए ठिईअ उण**" त्ति अत्र 'अट्ठण्ह' मित्यनुवर्तते, ततो ज्ञानावरणादीनामष्टानामप्यनुत्कृष्टायाः स्थितेः पुनः "**बंधगाऽणंता**" त्ति 'बन्धकाः'-एकस्मिन् समय उत्कृष्टतो लभ्यमाना निर्वर्तका अनन्ता भवन्तीत्यर्थः । सुगमम् ॥३०८॥

अथादेशतो विभणिपुरादौ सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह तिमणुसेसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥३०९॥ (गीतिः)
जेट्ठाए संखेज्जा सव्वेगिंदियणिगोअभेएसुं ।
वणकाये य अणंता सेसासु असंखिया णेया ॥३१०॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह तिमणुसेसु**"मित्यादि, तत्र "**सत्तण्ह**" इत्यस्य "**जेट्ठाए संखेज्जा**" इत्यनेनोत्तरगाथायामन्वयस्तत आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह-"**तिमणुसेसु**"मित्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेस्त्रिमनुष्येष्वित्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जा ओघ-पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नास्त्रयो भेदा ग्राह्यास्तेषु, तथा सर्वार्थसिद्धाह्वदेवगतिमार्गणाभेदे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, अपगतवेदे, मनःपर्यवज्ञाने, संयमौघे, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-संयममार्गणाभेदेषु चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र मनुष्यौघमार्गणां विना शेषासु प्रत्येकं संख्येयानामेव जीवानां सद्भावेन तदधिकस्याऽसंख्येयस्याऽनन्तस्य वा परिमाणस्याऽसम्भवः । मनुष्यौघमार्गणायामपि पर्याप्तमनुष्याणामेवोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकत्वात्, तेषां चोत्कृष्टपरिमाणस्याऽपि संख्येयत्वादुक्ताधिकपरिमाणासम्भव इति । अथ यासु प्रकृतबन्धकानां परिमाणमनन्तं ता मार्गणाः संगृह्याह-"**सव्वेगिंदिये**" त्यादि, सर्वशब्दस्योभयत्र योजनात्सर्वे एकेन्द्रियजाति-

भेदाः सर्वे च निगोदभेदास्तेषु, वनस्पतिकायौघे च प्रत्येकम् "**अणंता**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अनन्ता इत्यर्थः । कुतः ? साधारणवनस्पतिकायिकानामपि सप्तानां ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतमाह-"**सेसासु**" इत्यादि, उक्तशेषासु द्विचत्वारिंशदभ्यधिकशत-मार्गणासु प्रत्येकम् "**असंखिया णेया**" त्ति सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येया ज्ञेयाः । **कुतः ? इति चेद्**, निरयगत्योघादिषु बहुषु मार्गणास्वसंख्येयानां जीवानां सद्भावात्, कतिपयासु च तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु साधारणवनस्पतिकायजीवानां प्रवेशेनानन्तजीवानां सद्भावेऽपि तिर्यक्सं-ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तादीनामसंख्येयजीवराशिकानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । अत्र प्रति-मार्गणं सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकजीवानामसंख्येयत्वेऽपि न ते परस्परं तुल्या एव, किन्तु हीना-ऽधिका भवन्ति, तत्र च कतिपयमार्गणास्वतिबहवोऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्याः, कतिपयमार्गणासु ततो हीना हीनतराद्याः सन्ति, न पुनरसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्या इति ॥३०९-३१०॥

अथैतास्वेव शेषमार्गणासु यासु पृथिवीकायौघादिमार्गणासु प्रकृतबन्धका असंख्यलोक-प्रदेशराशितुल्यास्तासु तद्राशेः पूर्वोक्तभङ्गविचयादिप्रयोजकत्वादुत्तरत्र वक्ष्यमाणस्पर्शनादिप्रयोज-कत्वाच्च तत्र विशेषतः प्रतिपादयन्नाह—

तत्थ वि असंखलोगा पुढवाइचउण्ह सव्वसुहुमेसुं ।
बायरअसमत्तेसु य अपज्जपत्तेअवणकाये ॥३११॥

(प्रे०) "**तत्थ वि असंखलोगा**" इत्यादि, यासु मार्गणास्वनन्तरम् 'असंखिया णेया' इत्यनेन सामान्यतः सप्तानां ज्येष्ठस्थितेर्बन्धका असंख्येया ज्ञापितास्तत्रापि वक्ष्यमाणमार्गणासु विशे-षतस्ते "**असंखलोगा**" त्ति 'असंख्यलोकाः'-- असंख्येयेषु लोकाकाशप्रमाणेषु क्षेत्रखण्डेषु यावन्त आकाशप्रदेशाः सन्ति तावत्प्रमाणाः, ज्ञेया इति शेषः । कासु मार्गणास्वित्याह-"**पुढवाइचउण्ह**" इत्यादि, पृथिव्यादीनां चतुर्णां मूलकायभेदानां य ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना द्वादश सूक्ष्म-भेदास्तेषु सर्वेषु सूक्ष्मपृथिवीकायौघादिभेदेषु, तथा "**बायरअसमत्तेसु य**" त्ति तेषामेव पृथिव्यादिवायुकायान्तानां चतुर्णां कायानां ये चत्वारो बादरापर्याप्तपृथिव्यादिलक्षणा उत्तरभेदा-स्तेषु बादरापर्याप्तपृथिवीकायादिभेदेषु, "**अपज्ज**"त्यादि, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे चेत्यर्थः । एतासु सप्तदशमार्गणासु प्रत्येकं प्रविष्टजीवराशीनामप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात्, तत्रा-संख्येयतमैकभागगता भागद्वारेऽभिहिताः प्रकृतबन्धका असंख्यलोकप्रदेशराशितुल्या एव भवन्ति, असंख्यलोकानामप्यसंख्यभेदभिन्नत्वादिति ॥३११॥

अथ सप्तमूलकर्मणामेवानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणं मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअभेअ-वण-कायजोगेसु ।
उरलदुग-कम्मणेसु णपुंसगे चउकसायेसु ॥३१२॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसण-तिअहलेसासु ।
भवि-येयर-मिच्छेसु असण्णि-आहार-गियरेसु ॥३१३॥
हुन्ति अणुक्कोसाए ठिईअ सत्तण्ह बंधगाऽणंता ।

(प्रे०) "**तिरिये सव्वेगिंदिये**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, "**सव्वेगिंदियणिगोअभेअ**" त्ति सर्वशब्दस्योभयत्र योजनात् सर्वे एकेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे च निगोदभेदास्तेषु, तथा वनस्पतिकायौघ-काययोगसामान्ययोः, तथौदारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, कार्मणकाययोगे, नपुंसकवेदे, क्रोधादिचतुःकषायभेदेषु, अन्यमार्गणासंग्रहायाह–"**अण्णाणदुगे**" इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणयोर्द्विके, असंयमे, अचक्षुर्दर्शन-कृष्णादित्र्यशुभलेश्यासु, भव्ये, तदितरेऽभव्ये, मिथ्यात्वे, असंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणयोस्तथाऽऽहारीतरस्यामनाहारकमार्गणायामित्येतास्वष्टत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह–"**हुन्ति अणुक्कोसाए**" इत्यादि, प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः–उत्कृष्टेतरस्याः स्थितेर्बन्धका अनन्ता भवन्तीत्यर्थः । कुतः ? यत एतासु प्रत्येकं सूक्ष्मबादरपर्याप्ताऽपर्याप्तान्यतमसाधारणवनस्पतिकायजीवराशीनां प्रवेशोऽस्ति, ते च प्रत्येकं प्रकृतमार्गणाबन्धप्रायोग्यसप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितिबन्धं कर्तुं समर्थाः, तेषां च प्रत्येकं परिमाणमनन्तम् । उक्तं च **जीवसमासे**–'साहारणा उ चउसु वि भिसु लोयाभवेऽणंता' इति । तथा च सति तेषां सूक्ष्मादिसाधारणवनस्पतिकायजीवानां परिमाणप्राधान्याद् एतासु सर्वमार्गणासु प्रस्तुतबन्धका अनन्ताः प्राप्यन्ते ॥३१२-३१३॥

अथ शेषमार्गणासु सार्धगाथाद्वयेन प्रकृतपरिमाणमाह—

पज्जमणुस-मणुसीसु सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसु ॥३१४॥ (गीतिः)
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसु ।
णायव्वा संखेज्जा सेसासु असंखिया तत्थ ॥३१५॥
बायरसमत्तवज्जिअपुहवाइगचउगसेसभेएसु ।
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्ते असंखलोगसमा ॥३१६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धाख्यदेवगतिभेदे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः, अपगतवेदमार्गणायां, तथा "**मणणाणे**" त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-

मार्गणास्वित्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं **"णायव्वा संखेज्ज"** त्ति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः संख्येया ज्ञातव्याः। कुतः ? प्रत्येकं बन्धकजीवानां संख्येयत्वादिति । **"सेसासु"** त्ति उक्तशेषासु विंशत्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् **"असंखिया"** त्ति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येया भवन्तीत्यर्थः । **कुतः ? इति चेत्,** प्रत्येकं जीवानामसंख्येयत्वात्, तैः सर्वैरनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य निर्वर्तनाच्चेति । अत्राऽपि सामान्यतो दर्शिता असंख्येया बन्धकाः प्राग्वद् विशेषतो दर्शयन्नाह-**"तत्थे"**त्यादि, तत्र 'तत्थ' इत्यस्यान्वय उत्तरत्र **"असंखलोगसमा"** इत्यनेन, ततश्चानन्तरोक्ता असंख्येया अपि विशेषतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या ज्ञेयाः। कासु मार्गणास्वित्याह-**"बायरसमत्तवज्जिअ"** इत्यादि, 'बादरसमाप्ताः'-बादरपर्याप्ता ये भेदास्ते वर्जिता येभ्यस्ते बादरसमाप्तवर्जिताः, ते च ते पृथिवीकायादिकवायुकायान्तचतुष्कसत्काः शेषभेदाः, बादरसमाप्तवर्जितपृथिव्यादिकचतुष्कशेषभेदाः । ते चौघ-बादरौघ-बादरापर्याप्त-सूक्ष्मौघ-सूक्ष्मपर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्तभेदभिन्नाः षट् पृथिवीकायभेदास्तथैव षडप्कायभेदाः, षट् तेजस्कायभेदाः, षड् वायुकायभेदाश्चेत्येवं चतुर्विंशतिः । तेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकायौघभेदे, तस्य प्रत्येकवनस्पतिकायस्या-ऽपर्याप्तभेदे चेत्येतासु षड्विंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् **"असंखलोगसमा"** इति योजितमिति । **ननु** शेषासु निरयगत्योघादिमार्गणाभेदेषु तर्हि कियन्तः ? **इति चेत्,** असंख्यलोकापेक्षयाऽत्यन्तस्तोकाः, लोकाभ्यन्तरवर्तिप्रतर-श्रेण्यादेरसंख्यादिभागमात्रगतनभःप्रदेशराशितुल्यत्वात् । ते च विशेषतो जिज्ञासुना **श्रीप्रज्ञापनासूत्रादितो**ऽवसेया इति ॥३१४-३१५-३१६॥

तदेवमभिहितमायुर्वर्जसप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानामुत्कृष्टपदगतपरिमाणमादेशतः । साम्प्रतमाऽऽयुषस्तद्दिदर्शयिषुरादौ तावदुत्कृष्टस्थितेराह—

> संखेज्जा हुन्ति तिणर-आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
> चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥३१७॥
> देसो-हि-तिसुहलेसा-सम्म-खइअ-वेअगेसु सासाणे ।
> आउस्स गुरुठिईए सेसासु असंखिया णेया ॥३१८॥

(प्रे०) **"संखेज्जा हुन्ति"** इत्यादि, संख्येया भवन्ति, बन्धका इति गम्यते । कस्याः ? इति चेद्, आयुषो 'गुरुस्थितेः'-उत्कृष्टायाः स्थितेरिति द्वितीयगाथोत्तरार्धेऽन्वय इति । कासु मार्गणास्वित्याह-**"तिणरआहारदुगे"** त्यादि प्राग्वन्मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्यगतिभेदेषु, तथा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, आनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेष्वष्टादशसु देवगतिभेदेषु, मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघेषु, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु तथा देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-तेजस्यादित्रिशुभलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वेषु सासादने चेत्येतासु चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र मनुष्यौघादिबहुमार्गणासु पर्याप्तमनुष्या-

णामेवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् तेषां च संख्येयत्वात् प्रस्तुतबन्धकपरिमाणमपि तथैवोक्तम् । आनतकल्पादिदेवगतिमार्गणासु त्वसंख्येयानां देवानां सद्भावेऽपि तेषु कस्मिन्नपि समय आयुर्बन्धकाः पर्याप्तमनुष्यपरिमाणादधिका न सम्भवन्ति, पर्याप्तमनुष्यास्तूत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव सन्ति । अत आनतकल्पादिमार्गणास्वेकसमयमव्यपेक्षमायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणमप्युत्कृष्टपदे संख्येयमेवाभिहितमिति । "**सेसासु असंखिया णेया**" त्ति अनन्तरोक्तस्य 'आउस्स गुरुठिईए' इत्यस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनाद् उक्तशेषासु त्रयोविंशत्युत्तरशतमार्गणास्वायुषो गुरुस्थितेरसंख्येया ज्ञेयाः, बन्धका इति गम्यत इति । सुगमम् ; नवरमनन्तजीवराशिकास्वेकेन्द्रियादिमार्गणास्वप्युत्कृष्टस्थितिकमायुः पर्याप्तमनुष्यसत्कं पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसत्कं वा निर्वर्त्यते, पर्याप्तमनुष्य-पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाश्च समुदिता अप्यसंख्येया इतिकृत्वा प्रागुक्तनीत्या तदायुषो बन्धका अपि समस्ते जगति कस्मिन्नपि समयविशेषेऽनन्ता न प्राप्यन्ते, किन्त्वसंख्येया एव प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति ॥३२७-३१८॥

अथायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणमादेशतः प्ररूपयन्नाह—

पज्जमणुसमणुमीसु आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुइल-खइएसुं ॥३१९॥ (गीतिः)
संखेज्जा अगुरूए ठिईअ आउस्स हुन्ति सेसासुं ।
सत्तण्ह जत्तिआ खलु अगुरुठिईएऽत्थि तत्तिआ णेया ॥३२०॥ (गी०)

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"त्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत् । **भावार्थः पुनरयम्**--पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्रत्येकमायुषो बन्धका एकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येया एव प्राप्यन्ते, ततश्चायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अपि तदधिका न सम्भवन्ति । कुत आयुषो बन्धकाः संख्येया एव प्राप्यन्ते ? इति चेद् , पर्याप्तमनुष्यादिकतिपयमार्गणासु जीवानामेव संख्येयत्वात् , कतिपयासु पुनरानतकल्पादिमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेऽपि पर्याप्तमनुष्यसत्कस्यैवाऽऽयुषो बन्धभावात् प्रागुक्तनीत्याऽऽयुषो बन्धकाः संख्येया एव प्राप्यन्ते । शुक्ललेश्यायामप्येवमेव, तस्यां तिर्यग्भिरायुर्बन्धस्यैवाकरणात् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु युग्मितिर्यग्भिरायुर्बन्धकरणेऽपि **श्रीभगवतीसूत्राभिप्रायेण** सूपपत्तिकं प्रस्तुतपरिमाणम्, तदभिप्रायेण युग्मितिरश्चामप्यसंख्येयानामभावात् । उक्तश्चासंख्येयवर्षायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यश्च्युतानां संख्येयानामेवाऽसुरकुमारदेवतयोत्पादं व्युत्पादयद्भिर्वादिगजघटाकेसरिभिः **श्रीमदभयदेवसूरिपादै**श्चतुर्विंशतितमशतकद्वितीयोद्देशवृत्तौ—'संखेज्जा उववज्जंति' त्ति असंख्यातवर्षायुस्तिरश्चामसंख्यातानां कदाचिदप्यभावात्' इति । (सूत्रं ६९८)

तेषां च संख्येयत्वे क्षायिकसम्यक्त्वभाजां तिरश्चामपि संख्येयानामेव सद्भावेन देवायुर्बध्नन्तः प्रकृतमार्गणागतास्तिर्यग्युग्मिनः संख्येया एव, युग्मिवर्जतिरश्चां तु क्षायिकसम्यक्त्व-

मार्गणायां प्रवेश एव नास्ति; किञ्च प्रकृतमार्गणागतदेवनारकाः सम्यक्त्वभाक्तया संख्येयराशिकस्य पर्याप्तमनुष्यस्याऽऽयुर्बध्नन्त एकस्मिन् समय आनतकल्पादिभेदवत् संख्येया एव सम्पद्यन्ते, एतेषां समस्तानामपि संख्येयत्व आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अपि संख्येयाधिका न सम्भवन्ति ।

कषायप्राभृते तु—

'संखेज्जा च मणुस्सेसु खीणमोहा सहस्ससो णियमा । सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असंखेज्जा ॥'

इत्यनेन क्षीणदर्शनमोहाः क्षायिकसम्यक्त्वभाजस्तिर्यञ्चोऽसंख्येया अभिहिताः, अतस्तन्मते तु प्रकृतपरिमाणमायव्ययतौल्यनियमाद्भावनीयम् । **तथाहि**—निरयगत्यादिसर्वजीवराशिषु प्रत्येकमेकस्मिन् समये संख्येया असंख्येया अनन्ता वा यावन्तो जीवा उत्कृष्टतो मार्गणान्तरेभ्य आयान्ति, तावन्त एव संख्याता असंख्याता अनन्ता वा जीवा एकस्मिन् समये उत्कृष्टतो वियन्ति, तावतां जीवानां गत्यन्तरगमनरूपो व्ययो भवतीति भावः । कुतो ज्ञायत एतद् ? इति चेद्, **श्रीप्रज्ञापनादावुपपातोद्वर्तनाधिकारे** तुल्यानां संख्येयानामसंख्येयानामनन्तानां वा जीवानामुपपातोद्वर्तनयोरभिहितत्वात् । उक्तश्च श्रीमत्यां **प्रज्ञापनायाम्**—'नेरइया णं भंते ! एगसमयेणं केवइया उवट्टंति ? गोयमा ! जहन्नेण एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उवट्टंति, एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उव्वट्टणा वि भाणियव्वा' । इत्यादि । प्रकृतेऽपि चाऽसंख्येयपरिमाणे क्षायिकसम्यग्दृष्टितिर्यग्जीवराशावेकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येया एव जीवा आयान्ति, न पुनरसंख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तत्रोत्पत्तेः । इत्थं क्षायिकसम्यग्दृष्टितिर्यग्जीवसङ्घाते उत्कृष्टपदे संख्येयानामेवायः, यावतामायस्तावतामेव व्ययोऽपीति नियमात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीवनिचयादेकस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव वियन्ति; किञ्च कस्यामपि मार्गणायामुत्कृष्टतो यावतामेकस्मिन् समये मरणं सम्भवति, तदधिकानामायुर्बन्धो न भवति; ततश्च क्षायिकसम्यग्दृशां तिरश्चामसंख्येयानां सद्भावेऽप्यायुर्बन्धकास्तु संख्येया एवोत्कृष्टत एकसमये प्राप्यन्ते, तथा च सति श्रीभगवत्यभिप्रायवत् कषायप्राभृताभिप्रायेणाऽपि प्रकृतमार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वेकसमये संख्येयाधिका नैव प्राप्यन्ते, ततश्च पर्याप्तमनुष्यादिक्षायिकसम्यक्त्वान्तास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अपि संख्येया एवोक्ता इति ।

अथ शेषमार्गणास्वाह—"**सेसासु**" इत्यादिना 'अगुरूए ठिईअ आउस्स हुन्ति' इत्यस्य डमरूकमणिन्यायेनाऽत्रापि योजनात् शेषासु निरयगत्योघादिषट्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु "**तत्तोआ णेया**" त्ति तावन्तो ज्ञेया इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तत्पदवाच्यान् तान् यत्पदेनाभिदधाति—"**सत्तण्ह जत्तिआ खलु**" इत्यादिना, आयुर्वर्जानां सप्तानामगुरुस्थितेः-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः निरयगत्योघादिमार्गणासु प्राग् यावन्तो बन्धका अभिहिताः सन्तीत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**—पर्याप्तमनुष्याद्यनन्तरोक्तैकोनत्रिंशन्मार्गणावर्जासु शेषासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतसंख्याकासु निरयगत्योघादिमार्गणासु प्रत्येकमसंख्येयोऽनन्तो वा यो जीवराशिस्तदनुसारेण यथासम्भवमसंख्येया

अनन्ता वा सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः प्रागभिहितास्तथैव तासु निरयगत्योघादिशेषमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अप्यसंख्येया अनन्ता वा बोद्धव्याः। यास्वसंख्येयो जीवराशिस्तास्वसंख्येयाः, यास्वनन्तो जीवराशिस्तास्वनन्ता इति भावः। न चैवं मति निरयगत्यादिमार्गणागताः सर्व एव जीवा आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका इत्याशङ्क्यम्, बहुनामबन्धकानामपि सद्भावात्, केषाञ्चिदुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां सद्भावाच्च। अत एव 'यावन्तस्तावन्तः' इत्यनेनाऽसंख्येया अनन्ता इत्येवंरूपवचनसाम्यकृतोऽतिदेशो मन्तव्य इति ॥३१९-३२०॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकपरिमाणम्। साम्प्रतं तासामेवाष्टानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकपरिमाणं विभणिषुरादौ तावदोघत आह—

संखेज्जा सत्तण्हं जहण्णगाए ठिईअ अलहूए।
हुन्ता अणंताऽणंता आउस्स ठिईण दोण्हं वि ॥३२१॥

(प्रे०) "**संखेज्जा सत्तण्ह**" मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां "**जहण्णगाए ठिईए**" त्ति जघन्या एव जघन्यका तस्या जघन्यकायाः-ह्रस्वायाः स्थितेः संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते। सुगमं चैतत्, सप्तानामोघिकजघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकश्रेणौ भावादिति। "**अलहूए**" त्ति 'सत्तण्ह'मित्यनुवर्तते 'ठिईअ' इत्यत्रापि योज्यते च, ततः सप्तानामजघन्याः स्थितेः "**हुन्ति अणंता**" त्ति बन्धका अनन्ता भवन्ति, निगोदपर्यन्तानां जीवानां प्रकृताऽजघन्यस्थितिबन्धस्य भावात्, तेषां चानन्तत्वादिति। अथ शेषस्यायुष आह—"**ऽणंता आउस्स ठिईण दोण्हं वि**" त्ति मौलस्यायुःकर्मणो द्वयोरपि जघन्याजघन्ययोः स्थित्योः प्रत्येकं बन्धका अनन्ताः, भवन्तीत्यनुवर्तत इति। एतदपि सुगमम्, साधारणवनस्पतिकायिकानामपि प्रकृतद्विविधस्थितिबन्धभावादिति ॥३२१॥ उक्तमोघतोऽष्टानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकपरिमाणम्। अथ तदेवादेशतो दिदर्शयिषुरादौ तावज्जघन्यस्थितेराह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोदभेअ-वण-उरलमीसेसुं।
कम्मण-दुअणाणेसुं अयते अपसत्थलेसासुं ॥३२२॥
अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसु य अणंता।
सत्तण्ह बंधगा खलु हुन्ति ठिईए जहण्णाए ॥३२३॥

(प्रे०) "**तिरिये सव्वेगिंदिये**" त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, तथा सर्वशब्दस्यैकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु च निगोदभेदेषु, तथा वनस्पतिकायौघौदारिकमिश्रकाययोगयोः, कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानेषु, असंयमे, अप्रशस्तासु कृष्णादित्रिलेश्यासु, तथाऽभव्यमिथ्यात्वयोरमनस्का-ऽनाहारकयोश्चेत्येतास्वष्टाविंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् "**अणंता**"

त्ति अनन्ताः । क इत्याह–"सत्तण्हे"त्यादि सुगमम् । भावार्थोऽपि सुगमः, यतः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनो विशिष्टाः साधारणवनस्पतिकायिकाः, तेषां चानन्तत्वात्प्रकृतबन्धकपरिमाणमप्यनन्तं भवतीति ॥३२२-३२३॥

तिमणुस-सव्वत्थेसुं दुपणिंदितसेसु पणमणवयेसुं ।
कायो-रालेसु तह आहारदुगे तिवेएसुं ॥३२४॥
गयवेअ-कसायचउग-चउणाण-विभंग-संयमेसुं च ।
सामाइअ-छेएसुं परिहारे देस-सुहुमेसुं ॥३२५॥
णयणा-ऽणयणो-हीसुं पसत्थलेसासु भविय-सम्मेसुं ।
खइअम्मि वेअगम्मि य उवसम-सण्णीसु आहारे ॥३२६॥
णायव्वा संखेज्जा अवसेसासु हविरे असंखेज्जा ।

(प्रे०) "**तिमणुसे**"त्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत्, नवरम् "**तिमणुस**" इत्यनेनापर्याप्तमनुष्यभेदवर्जाः शेषा मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्तिस्रो मार्गणा ग्राह्याः, तथा "**दुपणिंदितसेसु**" इत्यत्रापि द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तभेदवर्जावोघ-पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिभेदौ द्वौ च त्रसकायभेदौ विवक्षितौ बोद्धव्यौ, तथा "**पसत्थलेसासु**" इत्यनेन पद्माद्यास्तिस्रः शुभलेश्याश्च सङ्गृहीता विज्ञेयाः । इत्येवमाद्यगाथात्रयेण सङ्गृहीतासु मनुष्यगत्योघादिचतुःपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**णायव्वा संखेज्जा**" त्ति प्रकृतत्वादायुर्वर्जानां सप्तान्यतमानां तत्तन्मनुष्यगत्योघादिमार्गणायां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संख्येया ज्ञातव्याः । कुतः ? उच्यते, मनुष्यौघमार्गणायां सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकश्रेणावनिवृत्तिबादरगुणस्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने वा यथासम्भवं भावात्, तत्र कस्मिन्नप्येकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येयानामेव जीवानां सद्भावाच्चेति । इत्थमेव पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगस्त्र्यादित्रिवेदा-ऽपगतवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणासु प्रत्येकं बोद्धव्यम् । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यस्थितिबन्धस्योपशमश्रेणौ लाभात्, तथा सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेद आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां च प्रत्येकं जीवानामेव संख्येयत्वात् तदधिकपरिमाणाऽसम्भवः । विभङ्गज्ञान-देशसंयममार्गणयोस्तु जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संयमाभिमुखा मनुष्या एव, ततः संख्येया एव सम्भवन्ति । तेजः-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु तु जघन्यस्थितेर्बन्धका

अप्रमत्तसंयता इति कृत्वा संख्येया एव। इत्येवमुक्तसर्वमार्गणासु भिन्नभिन्नहेतोः संख्येया एव बन्धका लभ्यन्ते, न पुनरसंख्येया अनन्ता वेति।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतबन्धकपरिमाणमाह-"**अवसेसासु हविरे असंखेज्जा**" त्ति 'तिरिये सव्वेगिंदिये'त्यादिना प्रागुक्ता अष्टाविंशतिमार्गणास्तथा 'तिमणुसे'त्यादिनाऽनन्तरोक्ताश्चतुःपञ्चाशन्मार्गणाश्च संत्यज्य शेषासु निरयगत्योघादिष्वष्टाशीतिमार्गणासु प्रत्येकमसंख्येया भवन्तीत्यर्थः। **शेषमार्गणा नामतस्त्विमाः**-अष्टौ निरयगतिमार्गणाभेदाः,चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा देवौघभवनपत्यादय एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायसत्काः सर्व इत्येकत्रिंशद्भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगभेदौ सम्यग्मिथ्यात्वसासादनभेदौ चेति। एतासु प्रत्येकमसंख्येया जीवास्ते च स्वस्थानविशुद्धाः सन्तः सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धका भवन्ति, न पुनर्विभङ्गज्ञानादिमार्गणावत् संयमाद्यभिमुखाः सन्त एव, ततश्चैकस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽसंख्येया प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति। **इदन्तु बोद्धव्यम्**-सासादनमार्गणायां 'सासणे चउगइयो निवडतो संयमा व भवे' (गाथा-१२९) इति जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वप्ररूपणोक्तेन चतुर्गतिकानां स्वस्थानविशुद्धानां सासादनसम्यग्दृशां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभिप्रायेण प्रकृतबन्धका असंख्येया अभिहिताः। तदन्यमतेन तु ते संख्येया एव भवन्ति, संयमात्सासादनप्राप्तानां संख्येयानामेव सम्भवादिति ॥३२४-३२५-३२६॥

तदेवमभिहितं सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकपरिमाणमादेशतः। अथ तेषामेवाऽजघन्यायाः स्थितेर्विभणिषुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकपरिमाणेन सर्वसाम्याल्लाघवार्थमतिदिशन्नाह-

सव्वासु अहस्साएऽणुक्कोसठिइव्व णायव्वा ॥३२७॥

(प्रे०) "**सव्वासु अहस्साए**" इत्यादि, निरयगत्योघाद्यनाहारकपर्यन्तासु सप्तत्यधिकशतसंख्याकासु सर्वास्वधिकृतमूलोत्तरमार्गणासु "**अहस्साए**" त्ति प्रकृतत्वादायुर्वर्जसप्तान्यतमानां निरयगत्योघादितत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां मूलप्रकृतीनामह्रस्वायाः-अजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः "**ऽणुक्कोसठिइव्व णायव्वा**" त्ति अत्रैव द्वारे प्राक्-

'तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअभेअ-वणकाय-योगेसु। उरलदुग-कम्मणेसु णपुंसगे चउकसायेसु ॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसण-तिअसुहलेसासु। भविये-यर-मिच्छेसु असण्णि-आहार-गियरेसु ॥
हुन्ति अणुक्कोसाए ठिईअ सत्ताण्ह बंधगाऽणंता। पज्जमणुस-मणुसीसु सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसु ॥
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसु। णायव्वा संखेज्जा सेसासु असंखिया तत्थ ॥
बायरसम्मत्तवज्जिअपुढवाइगचउगसेसभेएसु। पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्ते असंखलोगसमा ॥'

इतिगाथापञ्चकेन निरगत्यादितत्तन्मार्गणायामभिहितानामायुर्वर्जानां सप्तानां 'मनुत्कृष्टस्थितिवत्'-अनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामिव ज्ञातव्याः। यथा मार्गणास्थानेषु प्राक् सप्तानामनुत्कृष्टस्थिते-

बन्धकपरिमाणमभिहितं तथा प्रकृतेऽपि सप्तानामजघन्यस्थितेर्बन्धकानां परिमाणमविशेषेण ज्ञातव्यम् । मार्गणागतानां सर्वजीवानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धवदजघन्यस्थितिबन्धार्हत्वादितिभावः । विशेषतस्तु प्रतिमार्गणं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणवत् स्वयमेव भावनीयमिति ॥३२७॥

तदेवमुक्तं सप्तानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकपरिमाणमादेशतः साम्प्रतमवशेषस्यायुषस्तत्तन्मार्गणास्थानेषु प्रतिपिपादयिषुर्लाघवार्थमेकयाऽऽर्यया । सापवादमतिदिशति—

हस्सियराण ठिईणं आउस्स अगुरुठिइव्व हुन्ति परं ।
हस्साए संखेज्जा तिणाण-ऽवहि-सम्म-वेअगेसु भवे ॥३२८॥ (गीतिः)

(प्रे०) **"हस्सियराणे"** त्यादि, शेषस्याऽऽयुषः-मौलायुःकर्मणो 'ह्रस्वेतरयोः'-जघन्याऽजघन्ययोः स्थित्योः **"अगुरुठिइव्व हुन्ति"** त्ति 'आउस्स' इत्यस्यात्रापि योजनादायुषोऽगुरुस्थितिवद् भवन्ति । आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरत्रैव द्वारे प्राक्—

'सखेज्जा हुन्ति तिणर-आहारदुग-आणताइदेवेसु । चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥
देसो-हि-तिसुहलेसा-सम्म-खइअ-वेअगेसु सासाणे । आउस्स गुरुठिईए सेसासु असंखिया णेया ॥
पज्जमणुस-मणुमीसु आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं । मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुहल-खइएसुं ॥
संखेज्जा अगुरूए ठिईअ आउस्स हुन्ति सेसासु । सत्तण्ह जत्तिआ खलु अगुरुठिईएऽत्थि तत्तिआ णेया ॥'

इतिगाथाचतुष्टयेन यावन्तो बन्धकाः प्रतिपादितास्तावन्तो भवन्तीत्यर्थः । अयं हि बहुसाम्यकृतोऽतिदेशः, न पुनः सर्वसाम्यकृतः, अतस्तत्र स्तोकमात्रवैषम्यप्रयुक्ता याऽतिव्याप्तिस्तामुद्धर्तुकाम आह-**"पर"** मित्यादि, परमयमत्र विशेषः; कोऽसावित्याह-**"हस्साए"** इत्यादि, प्रकृतस्यायुषो 'ह्रस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेः संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह-**"तिणाणे"** त्यादि, मत्यादिषु तिसृषु ज्ञानमार्गणासु, तथाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वमार्गणास्वित्येतासु षण्मार्गणास्वेवेत्यर्थः, न पुनरन्यमार्गणास्वजघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणविषये वा ।

इदमुक्तं भवति–मतिज्ञानादिषण्मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणविषयकमपवादं विहाय शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकाः, सर्वमार्गणास्वायुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकाश्च प्रत्येकमौत्सर्गिकवाक्यानुसारेण संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च यथासम्भवं बोद्धव्या इति ।

इदमत्र हृदयम्–उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धकानां परिमाणमिव जघन्याऽजघन्यस्थितिकायुर्बन्धकानां परिमाणमपि तादृशायुर्निर्वर्तनार्हाणां जीवानां यदुत्कृष्टं परिमाणं तथा तादृशायुर्वेदकानां जीवानां यदुत्कृष्टं परिमाणं तयोर्द्वयोर्यत्स्तोकं संख्येयमसंख्येयमनन्तं वा तदनुसारेण तादृशस्थितिकायुर्बन्धका अपि संख्येया असंख्येया अनन्ता वोत्कृष्टतः सम्पद्यन्ते । किञ्च येऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्ते सर्वेऽजघन्यस्थितेर्बन्धका अपि, तच्छेषास्तु स्तोका एव, अतो निरयगत्योघादितत्तन्मार्गणासु यावन्त आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तावन्तोऽजघन्यस्थितेर्बन्धका अपि भणिताः । एते चाऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अजघन्यस्थितेर्बन्धकाश्च संख्येयत्वादिरूपेण तुल्या अप्यनुत्कृष्टस्थितेर्बन्ध-

अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-

ओघतः-आयुर्वर्जं-सप्तानाम् } उत्कृष्टस्थिते -असंख्याः बन्धकाः। शेषद्विविधस्थितेः--अनन्ता ।
जघन्यस्थिते -संख्येया बन्धकाः। (गाथा--३०८-३२१)

		क्रियन्तो बन्धका	गतिः	इन्द्रियः	काय	योग.	वेदः
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टस्थितेः	संख्येया	मनुष्योघ, तत्पर्याप्त-मानुषीसर्वार्थसिद्ध ४			आहारकतन्मिश्र० २	अवेद० १
		अनन्ता		सर्वैकेन्द्रियभेद० ७	वनौघसर्वसाधारणवनभेदा ८		
		ओघवत् असंख्या	शेष० ४३	शेष० १२	शेष० ३४	शेष० १६	त्रिवेद० ३
	अजघन्यानुत्कृष्टस्थित्योः	ओघवत् अनंता	तिर्यग्गत्योघः १	सर्वैकेन्द्रियभेदा ७	वनौघ-सर्वसाधारण-वनभेदाः ८	काययोग औदारिक-तन्मिश्र० कार्मण० ४	नपु० १
		संख्येयाः	पर्याप्तमनु मानुषी, सर्वार्थसिद्ध० ३			आहारकतन्मिश्र० २	अवेद० १
		असंख्या	शेष० ४३	शेष० १२	शेष० ३४	शेष १२	स्त्री० पु० २
	जघन्यस्थितेः	अनन्ताः	तिर्यग्गत्योघः १	सर्वैकेन्द्रियभेदा ७	वनौघ-सर्वसाधारणवनभेदा ८	औदारिकमिश्र० कार्मण २	
		ओघवत् संख्येया	मनुष्योघ-तत्पर्याप्त० मानुषी, सर्वार्थसिद्ध ४	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ० २	त्रसौघ-पर्याप्त-त्रसभेदौ २	सर्वमनोवचो० काचौघ औदारिकतन्मिश्र १४	सर्व० ४
		असंख्या	शेष० ४२	शेष० १०	शेष० ३२	शेष २	
★ आयुषः	उत्कृष्टस्थिते	संख्येया	मनुष्योघ० तत्पर्या० मानुषी आनतादि १८ देवभेदाश्च, २१			आहारकतन्मिश्र० २	
		असंख्या	शेष० २६	सर्वे० १९	सर्वे० ४२	शेष० १४	त्रिवद० ३
	अनुत्कृष्टस्थिते	संख्येया	पर्याप्तमनु० मानुषी, आनतादिदेवाश्च २०			आहारकतन्मिश्र० २	
		अनन्ता	तिर्यग्गत्योघः १	सर्वैकेन्द्रियभेदा ७	वनौघसर्वसाधारण-वनभेदा ८	कायौघ० औदारिक-तन्मिश्र० ३	नपुसक० १
		असंख्याः	शेष० २६	शेष० १२	शेष० ३४	शेष० ११	स्त्री-पु० २

★आयुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकपरिमाणमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकपरिमाणवदेव, केवल मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽ-

-ऽजघन्यस्थितिबन्धकपरिमाणप्रदर्शकं यन्त्रकम्

ओघत – } उत्कृष्टाया स्थितेः—असंख्येया बन्धका ।
आयुष } शेषत्रिविधायाः स्थितेः—अनन्ता ,, । (गाथा-३०८-३२१)

कषाय	ज्ञान०	संयम०	दर्शनं	लेश्या	भव्य०	सम्यक्त्व०	संज्ञी०	आहा०	सर्वा०	गाथाङ्का.
	मन पर्यव० १	संयमौघ सामा. छेद परिहार० सूक्ष्म० ५							१३	३०९
									१५	३१०
सर्वे ४	शेष० ६	असयम० देश० २	सर्वे० ३	सर्वे ६	सर्वे २	सर्वे ७	सर्व २	सव० २	१४२	३१०
सर्वे ८	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असयम. १	अचक्षु १	अशुभ ३	सर्वे २	मिथ्यात्व० १	असं० १	सर्व० २	३८	३१२ ३१३
	मन पर्यव० १	सयमौघ०सामा०छेद परिहार०सूक्ष्म० ५							१२	३१४ ३१५
	शेष० ८	देशसयम - १	शेष २	शुभ० ३		शेष० ६	सज्ञी० १		१२०	३१५
	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान० २	असयम १		अशुभा ३	अभ० १	मिथ्यात्व० १	असं० १	अना० १	२८	३२२ ३२३
सर्व ८	मति-श्रुता-ऽवधि मन पर्यव० विभङ्ग० ५	सयमौघ०सामा० छेद०परिहार०देश० सूक्ष्मसपराय० ६	सर्वे० ३	शुभ० ३	भव्य १	सम्यक्त्वौघ क्षायिक०वेदक० औपश० ४	सज्ञी० १	आहा० १	५४	३२४ तः ३२७
						सासा० मिश्र० २			८८	३२७
	मति-श्रुता-ऽवधि मनःपर्यव० ४	सयमौघ-सामा छेद परिहार० ४ देश० ५	अवधि १	शुभ० ३		सम्यक्त्वौघ० क्षायिक०वेदक० सास्वादन० ४			४०	३१७ ३१८
४	अज्ञानत्रय ३	असयम १	शेष० २	अशुभ ३	सर्वे २	मिथ्यात्व० १	सर्व० २	आहा० २	१२३	३१८
	मन पर्यव० १	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार०४		शुक्ला १		क्षायिक १			२९	३१९ ३२०
सर्वे० ४	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असयम १	अचक्षु १	अशुभा ३	सर्वे० २	मिथ्यात्व० १	असं० १	आहा० १	३६	३२०
	शेष० ४	देशसयम १	अवधि चक्षु २	तेज० पद्म २		शेष० ३	सज्ञी० १		९८	३२०

वधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु जघन्यस्थितेः संख्येया बन्धकाः, न त्वसंख्येयाः (गाथा-३२८)।

कापेक्षयाऽजघन्यस्थितेर्बन्धकाः स्तोका एव । एवं स्तोकाधिक्यभावेऽप्यतिदेशप्रयोगस्त्वभिलापसाम्यादेवावसातव्यः । एवमेवान्यत्राऽप्यतिदेशेऽभिलापसाम्यमेवादाय सर्वमुपपादनीयम् । इत्थं य आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धका अप्यतिदेशेन दर्शितास्तेऽपि अभिलापसाम्यादेव, तदुपपत्तिस्तूऽक्तनीत्यैव कार्या । तथाहि–निरयगत्योघे जघन्यस्थितिकायुर्बन्धार्हानां परिमाणमिव तादृशजघन्यस्थितिकायुर्वेदकजीवपरिमाणमपि लोकेऽसंख्येयं विद्यते, अतस्तत्रानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणवज्जघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणमप्युत्कृष्टपदेऽसंख्येयं भवति । इत्थमेव शेषनिरयगतिभेदेषु, चतुर्षु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदेषु, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदयोः, देवौघे, सहस्रारान्तेस्वेकादशदेवभेदेषु, तथा नवस्वपि विकलेन्द्रियभेदेषु, त्रिषु पञ्चेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायसत्केष्वेकत्रिंशद्भेदेषु, त्रिषु त्रसकायभेदेषु, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-देशसंयम-तेजः-पद्मलेश्या-सास्वादन-संज्ञिमार्गणास्वपि बोद्धव्यम् । तिर्यग्गत्योघमार्गणायां त्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धं निर्वर्तयितुं यथाऽनन्ताः साधारणवनस्पतिकायजीवा अप्यर्हन्ति, तथा एते जघन्यस्थितिकायुर्बन्धं कर्तुमप्यर्हन्ति, तथा तादृशजघन्याऽऽयुर्वेदका अपि लोकेऽनन्ता विद्यन्ते, ततश्च तिर्यग्गत्योघमार्गणायामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामिव जघन्यस्थितेर्बन्धका अप्यनन्ताः प्राप्यन्ते । एवमेव अनन्तजीवराशिकासु सर्वमार्गणासु विज्ञेयम् ।

ताश्च मार्गणा इमाः–तिर्यग्गत्योघः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, वनस्पतिकायौघः, सर्वे साधारणवनस्पतिकायभेदाः, ते च सप्त, काययोगौघौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-हारिमार्गणा इति । शेषमार्गणास्य आनतादिदेवभेदेषु पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु च समग्रा अप्यायुर्बन्धकाः प्रागुक्तनीत्योत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव सम्भवन्ति, अतोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामिव जघन्यस्थितिबन्धका अपि संख्येया एव प्राप्यन्ते, अतस्तत्राऽप्यतिदेशेनाभिहिताः । मतिज्ञानादिष्वपवादविषयभृतासु षण्मार्गणासु तु जघन्यस्थितिकमायुः पर्याप्तमनुष्यसत्कमेव बध्यते, देवनारकाणां तत्स्वामित्वात्; अनुत्कृष्टस्थितिकायुस्तु देवसत्कमपि बध्यते, मनुष्यतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि तत्स्वामित्वात्, इत्थं च जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संख्येया एव प्राप्यन्ते, देवानामसंख्येयत्वेऽपि तादृशायुर्वेदकानां पर्याप्तमनुष्याणां संख्येयत्वात्, । अनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वसंख्येयाः प्राप्यन्ते, तद्बन्धार्हजीवराशेरिव बन्धप्रायोग्यदेवायुषो वेदकानामपि लोकेऽसंख्येयानां सद्भावात् । ततश्चोभयत्र वैषम्यात् तासु षण्मार्गणास्वपोदितमिति ॥३२८॥

तदेवं दर्शितमायुषो जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकपरिमाणमादेशतोऽपि, इत्थं च गतं नवमं परिमाणद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे नवमं द्रव्यपरिमाणद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ दशमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ "खेत्त" इत्यनेनोद्दिष्टस्य दशमस्य क्षेत्रद्वारस्यावसरः, तत्र मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योर्नानाजीवाश्रयं क्षेत्रं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघत आह—

लोगस्स असंखयमे भागे होअन्ति बंधगाऽट्ठण्हं ।
उक्कोसाअ ठिईएऽणुक्कोसाअ पुण सव्वजगे ॥३२१॥

(प्रे०) "लोगस्से" त्यादि, अष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यासंख्यतमे "भागे" त्ति एकस्मिन् भागे भवन्ति । इह "होअन्ति" इत्यत्र वर्तमानत्वोपादानेन भण्यमानं क्षेत्रं समयमात्रापेक्षमवगन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ? भण्यमानक्षेत्रप्ररूपणायां वक्ष्यमाणस्पर्शनाप्ररूपणायां च लोकासंख्येयभागादिलक्षणं तत्तत्स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टपदगतं क्षेत्रपरिमाणमेव प्ररूपणीयम्, यद्यप्येवं तथाऽपि क्षेत्रप्ररूपणायां भण्यमानस्य स्पर्शनाद्वारे वक्ष्यमाणस्य च क्षेत्रपरिमाणस्याऽस्ति विशेषः, स चेह कालकृत एव विज्ञेयः । उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानामुत्पाद-समुद्घातादिविषयभूतसमस्तक्षेत्रस्य तत्तत्कालापेक्षया हिनाधिकता भवति, समयमात्रकालापेक्षं तद् विलक्षणं प्राप्यते, नानासमयसव्यपेक्षं पुनस्ततोऽपि विलक्षणं लभ्यत इति भावः ।

तथाहि—एकसमयमपेक्ष्य, अर्थाद् एकस्मिन् समय उत्कर्षतो यावति क्षेत्रे विवक्षितोत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकजीवानां सम्भवस्तावत् 'लोगस्स असंखयमे' इत्यादिना भण्यमानं लोकासंख्येयभागादि क्षेत्रपरिमाणं क्षेत्रप्ररूपणाविषयभूतम् । नानासमयापेक्षयोत्कर्षतो यावति क्षेत्रे तादृशबन्धकजीवानां सम्भवस्तावत् 'फुसिआ तेरह भागा' इत्यादिना स्पर्शनाद्वारे वक्ष्यमाणं त्रसनाड्यास्त्रयोदशादिभागलक्षणं क्षेत्रपरिमाणं पुनः स्पर्शनाप्ररूपणाविषयभूतम् । न चायमसाम्प्रदायिकः कुतो विवक्षितः क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेष इति वाच्यम् । जीवसमासे इत्थमेव विवक्षितत्वात् । उक्तं च तत्र—

सट्ठाण-समुग्घाएणुववाएण च जे जहिं भावा । संपइकाले खेत्तं तु फासणा होइ समईए ॥'१८० ॥ इति ।

न च तत्र साम्प्रतकालिकं क्षेत्रम्, अतीतकालिकी तु स्पर्शनोक्ता, न तु सामयिकं क्षेत्रमित्यादीति वाच्यम् । वर्तमानकालस्य समयमात्रत्वेनातीतकालस्य त्वनन्तसमयात्मकत्वेन च विवक्षाभेदाभावात् । उक्तञ्च तत्त्वार्थभाष्ये वर्तमानादीनां समयाद्यात्मकत्वम्—

"तत्रैक एव वर्तमानसमयः, अतीता-ऽनागतयोस्त्वानन्त्यम्" इति ॥५।३९॥

इत्थं च कदाचित् 'लोगस्स असंखयमे भागे होअन्ति बंधगाऽट्ठण्ह' मित्यादिभणनावसरे प्रज्ञापकापेक्षया तत्तत्समयाद्यात्मके वर्तमानकाले सर्वस्मिन् जगति न स्यादेकोऽपि मूलकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्तदभावे तत्संबन्धिलोकाऽसंख्यभागमात्रं क्षेत्रं तथाऽपि न काचित्क्षतिः, अतीतसमयमात्रकालमपेक्ष्याऽपि प्रस्तुतक्षेत्रोपपत्तेः । अत एवाधिकृतबन्धविधानग्रन्थे मूलप्रकृतिबन्धप्रथमाधिकारे क्षेत्र-स्पर्शनयोर्विशेषप्रतिपादनपराणाम्—

'कालं उ वट्टमाणं पडुच खेत्ते परूवणा णेया । आसिज्ज अईअद्धं परूवणा उण फरिसणाए ॥'
इति गाथायां वर्तमानकालादेर्ग्रहणं समयादिकाले पर्यवसितं बोद्धव्यमिति ।

तथा "असंखयमे भागे" इत्यत्राऽऽधारार्थायाः सप्तम्याया विभक्तेरुपादानं क्षेत्राभिधानाय, यतः सर्वाधारमाकाशम्, तच्च क्षेत्रमप्युच्यते, जीवादिपदार्थानां तत्र निवसनात् । तदुक्तं श्रीतत्त्वार्थवृत्तौ-'क्षियन्ति-निवसन्ति यत्र जीवादिद्रव्याणि तत्क्षेत्रम्-आकाशम्' इति । ततश्चाष्टानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका एकस्मिन् समये लोकाकाशस्याऽसंख्येयभागे भवन्ति, तेषां क्षेत्रं लोकस्याऽसंख्येयभागमात्रं भवतीत्यर्थः । इत्थमेवोत्तरत्रापि बोद्धव्यम् ।

अथानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां क्षेत्रमाह-"णुक्कोसाअ पुण सव्वजगे" त्ति लुप्ताकारस्यदर्शनात् प्रकृतत्वाच्चाष्टानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'सर्वजगति'-सर्वस्मिन्नपि लोके बन्धकाः, भवन्तीत्यनुवर्तते । सुगमं चेदं द्विविधमपि क्षेत्रम्, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवाष्टप्रकृतिमत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्, तेषां च स्तोकत्वादुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रं स्तोकं प्राप्यते । अनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वे जीवा भवन्ति, ते चातिबहुकाः सर्वलोकव्यापिन इति कृत्वाऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं प्राप्यत इति ॥३२९॥

तदेवमभिहितमोघतोऽष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकक्षेत्रम् । साम्प्रतं तदेवादेशतो व्याजिहिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

उक्कोसाअ ठिईए आउगवज्जाण सव्वलोगम्मि ।
होअन्ति बंधगा खलु एगिंदियसव्वभेएसुं ॥३३०॥
पुहवाईण चउण्हं सव्वसुहुमबायरासमत्तेसुं ।
वण-सव्वणिगोएसुं अपज्जपत्तेअवणकाये ॥३३१॥

(प्रे०) "उक्कोसाअ ठिईए" इत्यादि, आयुष्कवर्जानां सप्तानां ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः "होअन्ति बंधगा खलु" त्ति 'बन्धकाः'-स्वामिनो 'खलु'-निश्चयेन भवन्ति । कुत्र ? "सव्वलोगम्मि" त्ति सर्वस्मिन्नपि लोके । कासु मार्गणास्वित्याह-"एगिंदिये" त्यादि, ओघ-सूक्ष्म-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेष्वेकेन्द्रियजातिमत्केषु सर्वभेदेषु, अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमाह-"पुहवाइणे" त्यादि, पृथिव्यप्तेजोवायुकायलक्षणानां पृथिव्यादीनां चतुर्णां "सव्वसुहुमबायरासमत्तेसु" ति ये 'सर्वे'ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयस्त्रयः सूक्ष्मभेदा ये च बादराऽपर्याप्तभेदास्तेषु षोडशमार्गणाभेदेषु तथा "वणसव्वणिगोएसु" ति वनस्पतिकायौघे, सर्वेषु निगोदभेदेषु तथाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे चेत्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? एतासु प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिर्बन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोक-

प्रदेशराशिप्रमितत्वात् तदधिकत्वाद् वा । अयम्भावः—मङ्गविच्याादिवत् क्षेत्रादिकमपि बन्धक-जीवपरिमाणाधीनम् , जीवानां बाहुल्यात् प्रतिसमयं मुमूर्षु जीवानामाधिक्येन मारणान्तिकसमु-द्घातादिनिरुद्धक्षेत्रस्याधिकतरलाभात् ।

तथाहि—पर्याप्तापर्याप्तपृथिव्यादिकाः सर्वेऽपि सूक्ष्मजीवराशयः प्रत्येकमतिबहुपरिमाणाः सन्तः समस्तलोकव्यापिनः सन्ति । उक्तं च **श्रीप्रज्ञापनासूत्रे द्वितीये स्थानपदे—**

'कहि णं भंते ! सुहुमपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं य ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! सुहु-मपुढवीकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसा अणाणत्ता सव्वलोयपरियावन्नगा पन्नत्ता समणाउसो ।' इत्यादि । (सू०३९)

अपर्याप्तबादरपृथिवीकायाप्कायतेजस्कायप्रत्येकवनस्पतिकायरूपाश्चत्वारो जीवनिचयाः, पर्या-प्तापर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायरूपौ च द्वौ जीवनिचयावित्येते षट्जीवनिचया यद्यपि स्वस्था-नमपेक्ष्य लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनस्तथापि तत्रापर्याप्तबादरपृथिव्यादिजीवनिचयानां प्रत्येक-मसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितत्वेन द्वयोश्च बादरसाधारणवनस्पतिकायजीवनिचययोरनन्तजीव-राशितया प्रतिसमयमुत्पद्यमानानां मुमूर्षूणां च जीवानां बहुत्वात् तैः प्रतिसमयं मारणान्तिक-समुद्घातादिना सर्वो लोको व्याप्यते । उक्तं च **स्थानपदे—**

'कहि णं भंते ! बादरपुढवीकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? जत्थेव बादरपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाण ठाणा पन्नत्ता तत्थेव बादरपुढवीकाइयाण अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वलोए, समु-ग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ।' इति ।

तथा—'कहि णं भंते ! बादरआउकाइयाण अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादर-आउकाइयाण पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता तत्थेव बादरआउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नता, उववाएण सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जइभागे ।' इति ।

इत्थमेव शेषाणामपर्याप्ततेजस्काया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तापर्याप्तबादरसाधारणवन-स्पतिकायानां प्रत्येकं स्थानविषये सूत्रसंवादो द्रष्टव्यः । अपर्याप्तबादरवायुकायिका अपि स्वस्थानम-पेक्ष्य न सर्वलोकव्यापिनः, किन्तु लोकस्याऽसंख्यबहुभागेष्वेव; यद्यप्येवं तथाप्यसंख्यलोका-काशराशितुल्यैस्तैः प्रतिसमयं मारणान्तिकसमुद्घातादिना सर्वोऽपि लोकः पूर्यते । उक्तञ्च—

"कहि णं भंते ! अपज्जबादरवाउकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जत्थेव बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव बादरवाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु ।" इति ।

पर्याप्तबादरवायुकायिकास्तु स्वस्थानापेक्षया लोकबहुभागान् पूरयन्तो ऽपि नाऽसंख्यलोका-काशप्रदेशराशितुल्याः, किन्तु लोकसंख्येयभागमात्रगतनभःप्रदेशराशितुल्या एव, तथा च सत्यल्पतया एकस्मिन् समये मारणान्तिकसमुद्घातादिनापि समग्रलोकं नैव व्याप्नुवन्ति । उक्तञ्च **स्थानपदे—**

'कहि णं भंते ! बादरवाउकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणवाएसु, सत्तसु घणवायवलएसु, सत्तसु तणुवाएसु, सत्तसु तणुवायवलयेसु, अहोलोए-पायालेसु, भवणेसु, भवणपत्थडेसु, भवणछिद्देसु, भवणनिक्खुडेसु, निरएसु, निरयावलियासु, निरयपत्थडेसु, निरयछिद्देसु, निरयनिक्खुडेसु,

उड्ढलोए--कप्पेसु, विमाणेसु, विमाणावलियासु, विमाणपत्थडेसु, विमाणछिद्देसु, विमाणनिक्खुडेसु, तिरियलोए--पाईण-पईण-दाहिण-उदीण(ईणं)सव्वेसु चेव लोगागासछिद्देसु, लोगनिक्खुडेसु य, एत्थ णं बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता;उववाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु,समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु ।' इति ।

पर्याप्तबादरपृथिवीकायादिजीवनिचयाः, नारक-देव-मनुष्यादिजीवनिचयाश्च प्रत्येकं स्वल्पस्वल्पतराद्याः स्वस्थानसमुद्घातादिनाऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रव्यापिनः; यतो जघन्यतोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितजीवानां निचयेनैव समुद्घातादिना एकस्मिन् समये समग्रो लोको व्याप्यते, न पुनस्तदल्पजीवानां निचयेनाऽऽपि । न च केवलिसमुद्घातत एकेनाऽपि जीवेन स्वात्मप्रदेशैरेकस्मिन् समये समग्रलोकः व्याप्यत एव, तद्दृष्टमेतदिति वाच्यम् । यतोऽत्र प्रकृतस्थितिबन्धमुद्दिश्य तद्बन्धकजीवाऽपेक्षयैतत् कथितमिति निर्दिष्टमेव, केवलिसमुद्घातमपेक्ष्यैकजीवेन समग्रलोकपूरणसम्भवेऽपि स्थितिबन्धकजीवानपेक्ष्य सम्भवन्मारणान्तिकसमुद्घातादिनाऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितो हीनसंख्याकैर्जीवैरेकस्मिन् समये लोकपूरणस्यासम्भवादिति ।

इत्थं हि यस्यां यस्यां मार्गणायामेतेषां सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तपृथिव्यादितत्तज्जीवनिचयानां समावेशोऽसमावेशो वा तदपेक्षया सर्वलोक-लोकाऽसंख्येयबहुभाग-कभागादिक्षेत्रं लभ्यते ।

तथाहि--तिर्यग्गत्योघै-केन्द्रियोघ-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्ता इति चत्वारो मार्गणाभेदास्तथैव पृथिवीकायौघ-सूक्ष्मपृथिवीकाय-तत्पर्याप्तापर्याप्ता इति चत्वारो मार्गणाभेदास्तथैवाप्कायसत्काश्चत्वारः, तेजस्कायसत्काश्चत्वारः, वायुकायसत्काश्चत्वारः, साधारणवनस्पतिकायसत्काश्चत्वारश्च; तथा वनस्पतिकायौघः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपाय--मत्यज्ञान--श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण--नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेत्येतेषु प्रत्येकं सूक्ष्मजीवनिचयस्य प्रवेशात् तदपेक्षया स्वस्थानतः समुद्घातादिना च क्षेत्रं सर्वलोकः । बादरैकेन्द्रिय-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादरवायुकाय-तदपर्याप्ता इत्येतेषु पञ्चमार्गणास्थानेषु सूक्ष्मजीवनिचयस्याप्रवेशेन पूर्ववदुभयथा न सर्वलोकः, किन्तु स्वस्थानतो लोकासंख्येयबहुभागाः, समुद्घातादितश्च सर्वलोकः । कुतः ? प्रत्येकमपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-साधारणवनस्पत्यन्यतरजीवनिचयस्य समावेशात्, बादरौघ-बादरापर्याप्तपृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काया इति षट्, तथा प्रत्येकवनस्पतिकाय-तदपर्याप्त-बादरसाधारणवनस्पतिकाय-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्ता इति पञ्चे-येतेष्वेकादशमार्गणाभेदेषु पुनः प्रत्येकं स्वस्थानतो लोकस्याऽसंख्येयभागः, समुद्घातादितश्च सर्वलोकः । यत एतेषु नास्ति सूक्ष्मजीवनिचयस्य प्रवेशः, न वा विद्यते बादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तन्यतरवायुकायजीवनिचयस्य प्रवेशः, किन्त्वपर्याप्तबादरपृथिव्याद्यन्यतमजीवनिचयस्य प्रवेशात् तदपेक्षया क्षेत्रमपि तथैव प्राप्यते । शेषेषु पुनः पञ्चनवतिमार्गणाभेदेषु तु समुद्घातादिना सर्वलोकव्यापिनोऽपर्याप्तबादरपृथिवीकायाद्यन्यतमस्यापि जीवनिचयस्याप्रविष्टतया शेषाणां पर्याप्तबादरपृथिवीकायादिजीवनिचयानां तु स्वस्थान-समुद्घातादिनाऽपि

लोकासंख्येयभागमात्रव्यापित्वेन च स्वस्थानात् समुद्घातादितश्च लोकासंख्येयभाग एव बोद्धव्यम् ।

उक्तं च **जीवसमासे**–'सेसा उ असंखभागम्मि' ॥ इत्यादि ।

इत्थं च स्थिते एकेन्द्रियादिषु प्रकृतद्वात्रिंशन्मार्गणासु कासुचिदसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यजीवानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामित्वात्, कासु चिच्चनन्तानां जीवानां तत्स्वामित्वाच्च प्रस्तुतबन्धकक्षेत्रमपि सर्वलोकः प्राप्यत इति ॥३३०-३३१॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतक्षेत्रं दिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

होअन्ति वाउकाये बायरवाउम्मि तस्स पज्जत्ते ।
हीणजगे सेसासु लोगस्स असंखभागम्मि ॥३३२॥

(प्रे०) "**होअन्ति वाउकाये**" इत्यादि, वायुकायौघे, बादरवायुकाये, तथा "**तस्स-पज्जत्ते**" त्ति तस्य बादरवायुकायस्य पर्याप्तभेद इत्येतासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं "**होणजगे**" त्ति सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका 'हीनजगति'-असंख्यैयतमैकभागेन हीने 'जगति'-लोके भवन्तीति पूर्वेण योग इति । कुतः ? त्रिसृषु प्रत्येकं स्वस्थानतो लोकाऽसंख्येयबहुभागव्यापिनां पर्याप्तबादरवायुकायिकानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् । **न चैते** प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः प्रकृतमार्गणात्रयगताः पर्याप्तबादरवायुकायिका मारणान्तिकसमुद्घातं प्राप्ताः सन्तः किञ्चिच्छेषं क्षेत्रमप्यवगाह्य समग्रमपि लोकं व्याप्नुयुरिति **वाच्यम्** । असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकानां तेषां कस्मिन्नप्येकसमये मारणान्तिकसमुद्घातेन समग्रलोकं व्याप्तुमसमर्थत्वात् । कुतोऽसामर्थ्यम् ? स्तोकपरिमाणत्वादिति प्रागभिहितमेवेति । "**सेसासु**" त्ति प्रागुक्तैकेन्द्रियादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्तथाऽनन्तरमभिहिता वायुकायौघाद्यास्तिस्रो मार्गणा विवर्ज्य शेषासु पञ्चत्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं "**लोगस्स असंखभागम्मि**" त्ति सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः कस्मिन्नप्येकसमये उत्कर्षतो लोकस्याऽसंख्येयतमैकभागे, भवन्तीत्यत्रापि युज्यत इति । कुतस्तावन्मात्रम् ? प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति, स्वस्थानक्षेत्रमपि च तेषां लोकासंख्येयभागमात्रं भवति, इत्येवमुक्ताधिकक्षेत्रस्यासम्भवादिति । **शेषमार्गणानामानि त्वेवम्**–सप्तचत्वारिंशदपि निरयादिगतिचतुष्कसत्कमूलोत्तरभेदाः, सर्वे द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिसत्कभेदाः, ते च द्वादश । ओघ-बादरौघ-पर्याप्तबादरभेदभिन्नाः पृथिव्यप्तेजस्कायानां प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदाः, ओघ-पर्याप्तभेदभिन्नौ प्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ, त्रयस्त्रसकायभेदाः, योगादिमार्गणासत्कास्तु सर्वेऽपि भेदास्ते च द्विषष्टिरित्येवं समुदिताः पञ्चत्रिंशदभ्यधिकं शतमिति ॥३३२॥

तदेवमभिहितं सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकक्षेत्रमादेशतः । अथ तेषामेव सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेस्तदादेशतो दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदि-णिगोअ-वण-सेससुहुमभेएसुं ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसुं ॥३३३॥
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य ।
उरलदुग-कम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३३४॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-अपसत्थलेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥३३५॥
होअन्ति बन्धगा खलु ठिईअ अगुरूअ सव्वलोगम्मि ।
देसेणूणे लोगे बायरपज्जत्तवाउम्मि ॥३३६॥

(प्रे०) **"तिरिये सव्वेगिंदिये"** त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, सर्वशब्दस्यैकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु निगोदभेदेष्वित्यर्थः । तथा वनस्पतिकायौघे **"सेससुहुमभेएसु"** ति 'सव्वेगिंदियणिगोअ' इत्यनेन गृहीतान् षट् सूक्ष्मैकेन्द्रियादिभेदान् विवर्ज्य शेषेषु पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्केषु सूक्ष्मौघ-सूक्ष्मपर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वादशसु सूक्ष्मपृथिवीकायादिभेदेषु, तथा **"पुहवाइचउसु"**त्ति पृथिव्यादिषु वायन्तेषु चतुर्ष्वोघभेदेषु, तथा **"तेसिं"** ति तेषां पृथिव्यादिचतुर्णां **"बायरबायरापज्जेसु"** ति चतुर्षु बादरौघभेदेषु, चतुर्षु बादरापर्याप्तभेदेषु चेत्यर्थः । अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमार्याद्वयमाह-**"पत्तेअवणम्मि"** इत्यादि, प्रत्येकवनस्पतिकायौघे तथा **"तदपज्जत्तम्मि"** त्ति तस्य प्रत्येकवनस्पतिकायस्या-ऽपर्याप्ते, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेद इत्यर्थः । काययोगसामान्ये । चः समुच्चये । **"उरलदुगे"** त्यादि, औदारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप औदारिकद्विके कार्मणकाययोगे, नपुंसकवेदे, क्रोधादिचतुःकषायेषु, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानद्वयरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमे, अचक्षुर्दर्शना-ऽप्रशस्तकृष्णादित्रिलेश्या-भव्यमार्गणासु, तथाऽभव्य-मिथ्यात्वयोरसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणयोः, इतरपदेनाऽनाहारकमार्गणायामित्येतासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह-**"होअन्ति बन्धगा खलु"** इत्यादि, प्रकृतत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां **"ठिईअ अगुरूअ"** त्ति 'अगुरोः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः खलु **"सव्वलोगम्मि"** त्ति सर्वलोके भवन्ति, एतेषामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोक इति भावः । कुतः ? कासुचित् स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मपृथिवीकायादीनां प्रवेशात्, कासुचित्पुनस्तेषामप्रवेशेऽपि मारणसमुद्घातेन सर्वलोकव्यापिनां बादरसाधारणवनस्पतिकायानामपर्याप्तबादरपृथिवीकायाद्यन्यतमजीवराशेर्वा प्रवेशात् , तैः सर्वैः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य निर्वर्तनाच्चेति । अथ बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां प्रकृतक्षेत्रमाह-**"देसेणूणे"** इत्यादि, देशेनाऽसंख्येयतमैकभागलक्षणेनोने-न्यूने लोके, सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका भवन्तीति प्रक्रमाद्गम्यते । कुत्रेत्याह-**"बायरपज्जत्तवाउम्मि"** त्ति सुगमम्, असंख्यलोकप्रदेशराशिमपेक्ष्य स्तोका-

नामपि बादरपर्याप्तवायुकायजीवानां स्वस्थानक्षेत्रस्यैव देशोनलोकप्रमाणत्वादिति ॥३३३ तः ३३६॥

अथैकयाऽऽर्यया शेषमार्गणासु प्रस्तुतमायुर्वर्जसप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रं सर्वमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रं च प्रदर्शयन्नाह—

लोगासंखियभागे सेसासु बंधगाऽत्थि सव्वासु ।
आउस्स गुरुठिईए लोगस्स असंखभागम्मि ॥३३७॥

(प्रे०) "**लोगासंखियभागे**"इत्यादि, लोकस्यासंख्येयतमैकभागे "**बंधगाऽत्थि**" त्ति प्रकृतत्वात्सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः सन्ति। कासु मार्गणास्वित्याह-"**सेसासु**" ति'तिरिये सव्वेगिंदिये'त्यादिगाथात्रयेणाभिहिताश्चतुःषष्टिमार्गणास्तथाऽनन्तरमेवोक्तां बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणां विहाय शेषासु निरयगत्योघादिपञ्चोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः ।

ताश्च **शेषमार्गणा नामत इमाः**-अष्ट निरयगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजः-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदाः, स्त्रीवेद-पुंवेदा-ऽपगतवेद-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिको-पशमिक-मिश्र-सासादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति । एतास्वन्यतमस्यामपि स्वस्थानेन समुद्घातादितश्चसर्वलोकव्यापिनः सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवराशेरनन्तकायिकजीवराशेर्बादराऽपर्याप्तजीवराशेर्वाऽप्रवेशादधिकृतक्षेत्रमपि सर्वलोकप्रमाणं न प्राप्यते, न चैतास्वन्यतमस्यां बादरपर्याप्तवायुकायजीवानामपि प्रवेशोऽस्ति, येन देशोनलोकमपि प्रस्तुतक्षेत्रं स्यात् । इत्थं हि लोकासंख्येयभागमात्रमेवोक्तम्, उक्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽनन्तकायिक-बादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तवायुकायजीवराशिवर्जानां शेषाणां सर्वजीवानामेकस्मिन् समये स्वस्थानतो मारणसमुद्घातेन वा लोकासंख्यभाग एवावगाहनादिति ।

तदेवं सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकक्षेत्रमभिधायावशेषस्यायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रमाविशेषेणाह-"**सव्वासु**"मित्यादि, निरगत्योघादिषु यत्रायुर्बन्धो भवति तासु सर्वमार्गणास्वायुषः "**गुरुठिईए**" त्ति उत्कृष्टायाः स्थितेर्लोकस्याऽसंख्यभागे, बन्धकाः सन्तीत्यत्रापि युज्यत इत्यक्षरार्थः । **भावार्थ पुनरयम्**-आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धका यासु मार्गणास्वसंख्येयाः प्राप्यन्ते तास्वपि ते नाऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्याः किन्त्वतीव स्तोका एव । कथम् ? उच्यते, चतुर्गतिष्वपि पूर्वकोटयाद्युत्कृष्टस्थितिकजीवानां स्तोकतया यथा पूर्वकोटयाद्युत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पद्यमाना जीवाः स्तोका एव प्राप्यन्ते, तथा पूर्वकोटयाद्युत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पित्सवो जीवाः पूर्वकोटयाद्युत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकजीवाश्च स्तोका एव प्राप्यन्ते । ते च पूर्वकोटयादिस्थितिकजीवराश्यपेक्षयाऽधिका

असन्तः कुतः सर्वलोकं व्याप्नुयुः ? न कुतश्चिद्, असंख्यलोकप्रदेशराशितः स्तोकजीवानामेकस्मिन् समये सर्वलोकव्याप्तेरदर्शनात् । न च ते लोकबहुभागानपि व्याप्नुवन्ति, असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकजीवराशिकेष्वपि पर्याप्तबादरवायुकायानामेव लोकबहुभागव्याप्तेर्दर्शनादिति ॥३३७॥

अथाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रमादेशत आह—

एगिंदिय-पुढवाइगचउग-णिगोएसु सव्वसुहुमेसुं ।
वण-तिरिय-कायुरलदुग-णपुमेसुं चउकसायेसुं ॥३३८॥
दुअणाणा-ऽयत-अणयण-असुहतिलेस-भवि-यियर-मिच्छेसुं ।
अमणे तह आहारे ठिईअ अगुरूअ सव्वजगे ॥३३९॥

(प्रे०) "एगिंदियपुढवाइगे" इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-पृथिवीकायादिकचतुष्कौघ-निगोदौघरूपासु षण्मार्गणासु, तथौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नासु सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायरूपासु सर्वासु सूक्ष्मजीवमार्गणासु, वनस्पतिकायौघ-तिर्यग्गत्योघ-काययोगौघौ-दारिकौदारिकमिश्रकाययोगद्वय-नपुंसकवेदेषु, चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणासु तथा "दुअणाणायते"त्यादि, द्वयोर्मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानयोरसंयमा-ऽनयन-कृष्णाद्यशुभत्रिलेश्यामार्गणासु, भव्य-तदितरयोर्मिथ्यात्वमार्गणायां चेत्यर्थः। तथा "अमणे तह आहारे" त्ति असंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणयोश्चेत्येतासु षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "ठिईअ अगुरूअ सव्वजगे" त्ति आयुःकर्मणः 'अगुरोः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'सर्वजगति'-सर्वस्मिँल्लोके, बन्धका इति गम्यते। कुतः ? इति चेत्, प्रत्येकं स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां प्रवेशात् । न च बादरैकेन्द्रियादिमार्गणासु सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामप्रवेशेऽप्यनन्तानां बादरसाधारणवनस्पतिकायजीवानां प्रवेशसद्भावेन प्रस्तुतबन्धकानां बाहुल्यात् सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रवत् प्रकृतबन्धकक्षेत्रमपि सर्वलोकः प्राप्येतेति वाच्यम् । यतो भवचरमान्तर्मुहूर्ते मारणसमुद्घातप्रयुक्तलोकव्याप्तिमपेक्ष्य हि तासु बादरैकेन्द्रियादिमार्गणासु सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रं सर्वलोकः प्राप्यते, तदानीं मारणसमुद्घातकालेऽपि तेषां जीवानां सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवात् । न चैतदायुःकर्मण्यपि घटामटाट्यते, तदानीं मारणसमुद्घातकाले आयुर्बन्धस्यैवाभावात् । इदमुक्तं भवति-आयुःकर्मणः स्थितेर्बन्धकक्षेत्रं तद्बन्धकजीवानां स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्यैव युज्यते, न पुनर्मारणसमुद्घातादिप्रयुक्तक्षेत्रमपेक्ष्य, पारभविकायुर्बन्धं निष्ठाप्य पश्चाद् भवान्तराभिमुखीभूतजीवानामेव मारणसमुद्घातस्य सम्भवात् , तदानीं चायुर्बन्धस्यैवाभावादिति ॥ ३३८-३३९ ॥

अथ शेष मार्गणास्वेकयाऽऽर्यया प्रस्तुतक्षेत्रं प्रतिपादयन्नाह—

देसूणजगे बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसुं ।
लोगस्स असंखयमे भागे सेसासु णायव्वा ॥३४०॥

(प्रे०) **"देसूणजगे"** त्ति असंख्येयतमैकभागलक्षणेन देशेनोने 'जगति'-लोके, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका भवन्तीति प्रक्रमाद्गम्यते । कासुमार्गणास्वित्याह–**"बायरे"**त्यादि, तत्र बादरशब्दस्यैकेन्द्रिय-वाय्वोः प्रत्येकं योजनाद् बादरैकेन्द्रिय-बादरवायुकायस्तत्केष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वभेदेष्वित्यर्थः । कुतः ? एतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकं सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मजीवानामप्रवेशेऽपि स्वस्थानतो देशोनलोकव्यापिनां पर्याप्ताऽपर्याप्तान्यतरबादरवायुकायजीवानां प्रवेशात्, स्वस्थानगतानामायुर्बन्धस्याऽविरुद्धत्वाच्चेति । **"लोगस्स असंखयमे भागे"** त्ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका लोकस्याऽसंख्येयतम एकभागे ज्ञातव्या इति परेणान्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह–**"सेसासु"** त्ति 'एगिंदियपुहवाइगे'त्यादिनाऽनन्तरमभिहिताः षट्चत्वारिंशन्मार्गणास्तथा 'बायरएगिंदियवाउमव्वभेएसु'मित्यनेनानुपदमेवाभिहिताः षण्मार्गणाश्च संत्यज्य शेषासु निरयगत्योघादिष्वेकादशाभ्यधिकशतमार्गणास्वित्यर्थः । ताश्च **शेषमार्गणा नामत इमाः**-अष्टौ निरयगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद् देवगतिभेदाः, ओघपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो द्वीन्द्रियभेदास्तथैव त्रयस्त्रीन्द्रियभेदास्त्रयश्चतुरिन्द्रियभेदास्त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदास्त्रयो बादरपृथिवीकायभेदास्त्रयो बादराप्कायभेदास्त्रयो बादरतेजस्कायभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्त्रयो बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदास्त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मत्यादिचतुर्ज्ञान--विभङ्गज्ञान-संयमौघ--सामायिक-छेदोपस्थापन--परिहारविशुद्धिक-देशसंयम--चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । कुतो लोकाऽसंख्येयभागमात्रमेव ? इति चेद्, प्रत्येकं स्वस्थानतो लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनां जीवराशीनामेव प्रवेशादिति ॥३४०॥

तदेवमभिहितमादेशतोऽपि मूलाष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकक्षेत्रम् । साम्प्रतं तेषामेवाष्टानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकक्षेत्रमभिधित्सुरादौ तावदोघत आह—

लोगासंखियभागे सत्तण्ह बंधगा लहुठिईए ।
अलहूअ सव्वलोगे आउस्स ठिईण दोण्हं वि ॥३४१॥

(प्रे०) **"लोगासंखियभागे"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां ज्ञानावरणादीनां 'लघुस्थितेः'-जघन्याः स्थितेर्बन्धकाः–स्वामिनः **"लोगासंखियभागे"** त्ति लोकस्यासंख्येयतम एकस्मिन् भागे सन्ति, लोकासंख्येयभागमात्रं तेषां क्षेत्रमिति भावः । कुतः ? अनिवृत्तिबादरक्षपकाणां सूक्ष्मसम्परायक्षपकाणां च तिर्यग्लोकासंख्यभागमात्रव्यापित्वादिति । **"अलहूअ"** त्ति प्रकृतत्वात्सप्तानामलघोः-पञ्च-अजघन्याः स्थितेर्बन्धकाः **"सव्वलोगे"**त्ति अनूने लोके, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः । सुगमं चैतदपि, सूक्ष्मनिगोदपर्यन्तानां जीवानामजघन्यस्थितेर्निर्वर्तकत्वात्, तेषां च सर्वलोकव्यापित्वादिति । **"आउस्स ठिईण दोण्हं वि"** त्ति अनन्तरोक्त 'सव्वलोगे' इत्येतत्पदं 'घण्टा-

लालान्यायेना'त्रापि सम्बध्यते, ततः शेषस्याऽऽयुःकर्मणो जघन्याऽजघन्यात्मिकयोर्द्विविधस्थित्योः प्रत्येकं सर्वलोके, बन्धका इति गम्यते । स्वस्थानत एव सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मनिगोदपर्यन्तानां जीवराशीनां सप्तकर्मणामजघन्यस्थितिबन्धवदायुषो जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धाऽर्हत्वादिति ॥३४१॥

अथाऽऽदेशतोऽभिधित्सुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकक्षेत्रमाह—

देसूणे लोगे लहुठिईअ सत्तण्ह बंधगा तिरिये ।
एगिंदिय-वाऊसुं सिं बायरसव्वभेएसुं ॥३४२॥
ओरालमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेमासुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-णाहागेसुं च ॥३४२॥
होअन्ति सव्वलोगे अट्ठारह सव्वसुहुम भेएसुं ।
सेसासु असंखयमे भागे लोगस्स णायव्वा ॥३४४॥

(प्रे०) **देसूणे लोगे**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां 'लघुस्थितेः' जघन्याः स्थितेर्बन्धका **देशोने लोके**, भवन्तीति शेषः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**तिरिये**" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, एकेन्द्रियवायुकायौघभेदयोस्तथा "**सिं**" त्ति तयोरेकेन्द्रियवायुकाययोः "**बायरसव्वभेएसु**"ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु बादरेषु सर्वभेदेषु । बादरैकेन्द्रियौघ-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियभेदेषु, बादरवायुकायौघ-पर्याप्तबादरवायुकाया-ऽपर्याप्तबादरवायुकायभेदेषु चेत्यर्थः । अन्यमार्गणाः संगृह्णन्नाह–"**ओरालमीसे**"त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादित्रयशुभलेश्यास्वभव्य–मिथ्यात्वयोरसंज्य-ऽनाहारिमार्गणयोश्चेत्येनास्वेकविंशतिमार्गणासु । एतच्च प्रत्येकं प्रविष्टस्य बादरपर्याप्तवायुकाय-बादरापर्याप्तवायुकायान्यतरजीवनिचयस्य स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्याज्ज्ञेयम् । नन्वेकेन्द्रियौघ-बादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणासु संक्लेशविशुद्धिरूपं विशेषं विहाय सूक्ष्मबादरपर्याप्तत्वादिकमपेक्ष्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धका जघन्यस्थितेर्बन्धकाश्चाविशिष्टा एवाभिहिताः, यदि चैवं तथापि सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रवत् सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकक्षेत्रं कथं सर्वलोको नाभिधीयते ? **इति चेद्** , **उच्यते**, सत्यमेतत् , यदेकेन्द्रियादिकतिपयमार्गणासु संक्लेशविशुद्धिरूपं विशेषमपहाय पर्याप्तत्वादिकमपेक्ष्य जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामनन्यत्वम् , ततश्चैकेन्द्रियादिमार्गणासु यथा पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायिकाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः सन्ति, तथा ते जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि भवन्ति, तथैव यथा पर्याप्तबादरवायुकायिकाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः सन्ति तथा ते सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽपि भवितुमर्हन्ति, यद्यप्येवं तथाऽपि प्राक्सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं यत्सर्वलोकमभिहितं तत् पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकायिकजीवानां मारण-

समुद्घातप्रयुक्तसर्वलोकव्याप्तिप्राधान्याद् । मारणान्तिकसमुद्घातो हि भवान्तराभिमुखानां जीवानामेव सम्भवति, तथा च सत्यसौ भवचरमान्तर्मुहूर्ते जायते, इत्थं हि यथा भवचरमान्तर्मुहूर्ते मारणान्तिकसमुद्घातगतानामनन्तानां बादरपर्याप्तनिगोदजीवानामुत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवात् सम्पूर्णलोकप्रमाणं क्षेत्रं लभ्यते तथा जघन्यस्थितिबन्धकानां बादरपर्याप्तनिगोदानां तत्र प्राप्यते । कुतः ? भवचरमान्तर्मुहूर्ते भवान्तराभिमुखेषु तेषु संख्येयानामेव जघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भवात् । कुतः ? इति चेद्, भवचरमान्तर्मुहूर्तवर्तिमुमूर्षुजीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानाभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्येव जघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्यविशुद्धेरपि स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानाभिमुखानां स्तोकजीवानामेव सम्भवात् ।

इदमुक्तं भवति–प्रागेकजीवाश्रये **कालद्वारे**–'एगिदियाणजोग्गसु तेसिं सुहुमेसु सिं अपज्जेसु' मित्यादि–(१४७)–गाथावृत्तौ सप्तस्वेकेन्द्रियादिमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्यैकसमयमात्रत्वव्युत्पादनावसरे मुमूर्षुजीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थान उत्पित्सूनां जीवानामेव स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशस्य सम्भवात्त एव तदानीं सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिं निर्वर्तयन्ति, नान्ये; इत्येवं रूपं नियमं प्रतिपाद्य तदुपपत्तौ स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशनिर्वर्तनीयानां गति-जात्यादीनां स्वप्रायोग्यसर्वापकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानत्वमभिहितम् । तेनैव न्यायेनाऽत्रापि स्वप्रायोग्यसर्वविशुद्ध्या निर्वर्तनीयानां गतिजात्यादीनां स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपता बोद्धव्या, भावनाऽपि तत्रोक्तरीत्यैव कर्तव्या; केवलं तत्रोत्कृष्टस्थितिबन्धमपेक्ष्य व्युत्पादितम्, अत्र तु जघन्यस्थितिबन्धमपेक्ष्य वैपरीत्येन स्वयं व्युत्पादनीयम् । अस्माभिस्तु प्रकृतोपयोग्येवोच्यते, तद्यथा–पर्याप्तबादरनिगोदजीवैः स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टविशुद्धौ सत्यां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजाति-पर्याप्तनामकर्मादिकं निर्वर्त्यते । वक्ष्यते चोत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धसंनिकर्षद्वार एकेन्द्रियादिमार्गणासु ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिं बध्नतो जीवस्य मनुष्यगति-पर्याप्तत्वादिकशुभप्रकृतिबन्धनियमः । इत्थं हि तेषां सर्वोत्कृष्टस्थानं पर्याप्तमनुष्यरूपमिति सिद्धम् । पर्याप्तमनुष्या हि लोक उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव लभ्यन्ते, अतः पर्याप्तमनुष्यनरकायुषो बन्धकानामिव पर्याप्तमनुष्यत्वाभिमुखा मुमूर्षवो जीवा अप्येकस्मिन् समये लोक उत्कृष्टतः संख्येया एव प्राप्यन्ते । तथा च सति पर्याप्तमनुष्यत्वाभिमुखा मारणान्तिकसमुद्घातं प्राप्ता जघन्यस्थितेर्बन्धकाः पर्याप्तबादरनिगोदजीवा अप्येकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येया एव लभ्येरन्; तैश्च मारणान्तिकसमुद्घातगतैर्मनुष्यलोकं यावन्निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डैरप्यत्यल्पतया समग्रो लोकोऽशितुं नैव शक्यते; स्वस्थानक्षेत्रं तु तेषां बादरनिगोदादीनां लोकासंख्येयभागमात्रमुक्तम्, अतस्तदपेक्षयोत्कृष्टतः सर्वलोकक्षेत्रस्यासम्भवाज्जघन्यस्थितिबन्धकानां बादरपर्याप्तवायुकायानां स्वस्थानक्षेत्रमाश्रित्य प्रकृतैकेन्द्रियादिमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोक इत्यभिहितम् ।

ननूक्तनियमात् पर्याप्तबादरवायुकायानां सर्वोत्कृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यस्थानं तिर्यग्गत्यादिरूपम्, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्चासंख्येयाः सन्ति, अतस्तत्स्थानाभिमुखा भवचरमान्तर्मुहूर्ते समुद्घातं

गता जघन्यस्थितेर्बन्धकाः पर्याप्तबादरवायुकायिका असंख्येया लभ्येरन्, तैश्च समुद्घातगतै-रितस्ततो निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डैः समग्रोऽपि लोकः पूर्येत ? इति चेद्, न, यतः स्थिति-बन्धस्य निर्वर्तकैर्जघन्यतोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितैरेव जीवैः समग्रो लोक एकस्मिन् समये पूरयितुं पार्यते, न पुनस्तदूनैः, एतच्च प्रागेवोक्तं कथं विस्मार्यते । पर्याप्तबादरवायुकायि-कास्तु समुद्घातं प्राप्ता अप्राप्ताश्च समुदिता अपि लोकसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशितुल्याः सन्तः समस्तं लोकं नैव व्याप्नुवन्ति, किं पुनः समुद्घातगतास्तदसंख्येयभागमात्रा जघन्यस्थितेर्बन्धकाः, अतः स्वस्थानगतानां जघन्यस्थितिबन्धकानां पर्याप्तबादरवायुकायानां क्षेत्रमपेक्ष्यैकविंशतिमार्ग-णास्वपि देशोनलोकक्षेत्रं मन्तव्यमित्यलं प्रसङ्गेन ।

अथ प्रकृतं प्रस्तुमः "**होअन्ति सव्वलोगे**" त्ति प्रकृतायाः सप्तकर्मणां जघन्यस्थिते-र्बन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**अट्ठारह-सव्वसुहुमभेएसु**" ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदादष्टादशधा भिन्नेष्वेकेन्द्रियपृथिव्यप्तेजोवायु-साधारणवनस्पतिकायसत्केषु सर्वेषु सूक्ष्ममार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । कुतः ? स्वस्थानतोऽप्येकेन्द्रिय-पृथिव्यादि-सर्वसूक्ष्मजीवौघानां सर्वलोकव्यापित्वात् । उक्तञ्च **पञ्चसंग्रहमलयगिरियवृत्तौ**–

'सूक्ष्मा एकेन्द्रिया पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतय प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वस्मिन्नपि जगति भवन्ति' इति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतक्षेत्रमाह–"**सेसासु**" इत्यादिना, उक्तशेषास्वेकत्रिंशदभ्यधिकशत-मार्गणासु प्रत्येकम् "**असंखयमे भागे लोगस्स णायव्व**" त्ति सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धका लोकस्यासंख्येयतमैकभागे ज्ञातव्या इत्यर्थः । तत्र **शेषमार्गणा नामत इमाः**–सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेजोवनस्पत्योघभेदास्तथैव-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना बादरपृथिव्यप्तेजः-प्रत्येकवनस्पतिकाय-बादरसाधारणवनस्पतिकाय-त्रसकायानां प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदाः, पञ्च मनोयोग-भेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा–ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्री–पुरुष–नपुंसकवेदा–ऽपगतवेद –क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान–विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक–छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-देश-संयम–चक्षुरादित्रिदर्शन-तेजः–पद्म-शुक्ललेश्या–भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ–पशमिक-सासादन-मिश्र-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । कुत एतासु सर्वासु प्रकृतबन्धकानां क्षेत्रं लोकासंख्य-भागमात्रम् ? उच्यते, निरयगत्यादिषु कासुचिन्मार्गणासु स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्म-जीवनिचयानां देशोनलोकव्यापिनां वायुकायजीवानां च प्रवेशाभावेन, शेषप्रविष्टजीवनिचयानां स्वस्थानतः लोकासंख्येयभागमात्रव्यापित्वात् सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धकानां क्षेत्रमपि लोका-संख्येयभागप्रमाणमेव प्राप्यते, पृथिव्याद्योघमार्गणासु काययोगादिमार्गणासु च सूक्ष्मजीवनिचयानां वायुकायिकजीवानां वा प्रवेशेऽपि तेषां जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वाभावादेव सप्तकर्मसत्कजघन्य-

स्थितेर्बन्धकक्षेत्रं सर्वलोको लोकासंख्यबहुभागमात्रं वा नैव प्राप्यते, किन्तु सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां पर्याप्तबादरपृथिवीकायिकादीनां मनुष्याणां वा क्षेत्रप्राधान्याल्लोकासंख्येयभागमात्रमेवात्राप्यत इति ॥३४२-३४३-३४४॥

तदेवमभिहितमायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्बन्धकक्षेत्रमादेशतो मार्गणास्थानेषु। अथैकयाऽऽर्ययाऽवशिष्टं तासामेवाऽजघन्यस्थितेर्बन्धकक्षेत्रमायुषो जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकक्षेत्रं चातिदेशद्वारेणाह—

अजहण्णाअ ठिईए सत्तण्ह अगुरुठिइव्व सव्वासुं ।
हस्सियराण ठिईणं आउस्स अगुरुठिइव्व सव्वासुं ॥३४५॥

(प्रे०) "**अजहण्णाअ ठिईए**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानामजघन्यायाः स्थितेः प्रकृतत्वात् बन्धकक्षेत्रम् "**अगुरुठिइव्व**" त्ति 'सत्तण्ह' इति देहलीदीपकन्यायेनाऽत्रापि युज्यते, ततः प्राक्—

'तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअ-वण सेससुहुमभेएसुं । पुहवाइचउसु तेसि बायर-बायरअपज्जेसुं ॥
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य । उरलदुग-कम्मणेसुं णपुमगे चउकसायेसु ॥
अणाणदुगे अयते अचक्खु-अपसत्थलेस-भवियेसु । अभविय-मिच्छत्तेसु असण्णि-आहारगियरेसुं ॥
होअन्ति बंधगा खलु ठिईअ अगुरूअ सव्वलोगम्मि । देसेणूणे लोगे बायरपज्जत्तवाउम्मि ॥
लोगासंखियभागे सेसासु बंधगाऽत्थि । ॥' (गाथा-३३३-३३४-३३५-३३६-३३७)

इत्यनेनाभिहितस्य सप्तानामगुरुस्थितिवत्, अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकक्षेत्रवदित्यर्थः। कासु मार्गणास्वित्याह–"**सव्वासु**" त्ति निरयगत्योघादनाहारकमार्गणापर्यन्तासु सप्तत्युत्तरशतसंख्याकासु सर्वास्वपि मार्गणास्वित्यर्थः। "**हस्सियराण ठिईणं आउस्स**" त्ति आयुषो 'ह्रस्वेतरयोः'-जघन्याऽजघन्यस्थित्योः प्रत्येकम् "**अगुरुठिइव्व**" त्ति 'आउस्स' इत्यस्यानन्तरोक्तन्यायेनाऽत्रापि योजनादायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिवत्—

'एगिंदिय-पुहवाइगचउग-णिगोएसु सव्वसुहुमेसुं । वण-तिरिय-कायुरलदुगणपुमेसुं चउकसायेसु ॥३३८॥
दुअणाणा-ऽयत-अणयण-असुहतिलेस-भवि-यियर-मिच्छेसुं । अमणाऽणाहारेसु य ठिईअ अगुरूअ सव्वजगे ॥
देसूणजगे बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसुं । लोगस्स असंखयमे भागे सेसासु णायव्वा॥३४०॥'

इतिगाथात्रयेण प्रागुक्तानुत्कृष्टस्थितिसत्कबन्धकक्षेत्रवदित्यर्थः। किमिति चेत् ? प्रक्रमाद्बन्धकक्षेत्रम्। कासु मार्गणास्वित्याह–"**सव्वासु**" त्ति गतार्थम्, केवलमायुषः प्रकृतत्वादायुर्बन्धप्रायोग्यासु वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वा-नाहारकमार्गणावर्जासु निरयगत्योघाद्याहारिपर्यन्तासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वित्यर्थः ॥३४५॥

तदेवं दर्शितं शेषं सप्तानामजघन्यस्थितेर्बन्धकक्षेत्रम्, आयुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकक्षेत्रं च मार्गणास्थानेष्वतिदेशद्वारेण, तस्मिँश्च दर्शिते गतं दशमं क्षेत्रद्वारम्।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे दशमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्ट-जघन्य-तदितर-

ओ	आयुर्वर्जसप्तानाम् —	उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रम् —	लोकाऽसंख्यभाग. ।
घ	,,	अनुत्कृष्ट ,, ,,	सर्वलोक ।
तः	आयुष —	उत्कृष्ट ,, ,, ,,	लोकाऽसंख्यभाग ।
	,,	अनुत्कृष्ट ,, ,, ,,	सर्वलोक. । (गाथा-३२९)

आदेशत		कुत्र	गति०	इन्द्रिय०	काय०
आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टस्थितेः	सर्वलोके		सर्वैकेन्द्रिय० ७	पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्का. सर्वसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादरभेदा· वनौघ-सर्वसाधारणवनभेदा, अपर्याप्तप्रत्येकवनभेदश्च २५
		देशोने			वायुकायौघ-बादरवायुकायौघ-तत्पर्याप्तभेदा ३
		लोकासंख्यभागे	सर्व० ४३	शेष० १२	ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्तभेदभिन्ना पृथिव्यप्तेजसां नवभेदा., वनौघ प्रत्येकवनौघ-तदपर्याप्त-सर्वसाधारणवनभेदाश्च १८
	अनुत्कृष्टायाः स्थितेः अजघन्यायाः स्थितेः	सर्वलोके	तिर्यगोघ, १	सर्वैकेन्द्रिय० ७	पृथिव्यप्तेजोवायुनामोघ-सर्वसूक्ष्म-बादरौघ तदपर्याप्तभेदा, वनौघ-प्रत्येकवनौघ-तदपर्याप्त-सर्वसाधारणवनभेदाश्च ३८
		देशोने०			पर्याप्तबादरवायुकाय १
		लोकासंख्यभागे	शेष० ८६	शेष० १२	पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेज.प्रत्येकवनभेदा:, सर्वे त्रसभेदाश्च ७
	जघन्यायाः स्थितेः	देशोने लोके	तिर्यगोघ, १	ओघ-सर्वबादरैकेन्द्रिय० ८	ओघ-सर्वबादरभेदभिन्ना वायुकायभेदा ४
		सर्वलोके		सर्वसूक्ष्मैकेन्द्रिय० ३	सूक्ष्मौघतत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना. पृथिव्य-प्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायभेदा १५
		लोकासंख्यभागे	शेष० ४६	शेष० १२	शेष० २३
आयुषः	उत्कृष्ट-स्थितेः	लोकासंख्यभागे	सर्व० ४३	सर्व० ६१	सर्व० ४२
	जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः अनुत्कृष्टस्थितेश्च.	सर्वलोके	तिर्यगोघ १	ओघ-सर्वसूक्ष्मैकेन्द्रिय० ४	ओघ-सर्वसूक्ष्मभेदभिन्ना पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनभेदा, वनस्पतिकायौघभेदश्च० २१
		देशोनोने		सर्वबादरैकेन्द्रिय ३	बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नवायुकायिकभेदा ३
		लोकासंख्यभागे	शेष० ४६	शेष० १२	शेष० १८

-स्थितिबन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकयन्त्रम्

ओ	आयुर्वर्जसप्तानाम्—जघन्यस्थितेर्बन्धकक्षेत्रम्—लोकाऽसंख्यभागः ।		
	,,	अजघन्य ,, ,, ,,	सर्वलोक
घ	आयुषः	जघन्य ,, ,, ,,	;, । (गाथा--३४२)
तः	,,	अजघन्य ,, ,, ,,	,,

योगः	वेदः	कषाय	ज्ञान०	संयम	दर्शन	लेश्या	भव्य०	सम्य	संज्ञी०	आहा०	मार्ग	गाथाङ्क
											३०	३३० ३३१
											३	३३२
सर्व० १८	सर्व० ४	सर्व० ४	सर्व ७	सर्व ७	सर्व० ३	सर्व ६	सर्व २	सर्व० ७	सर्व० २	सर्व० २	१३५	३३२
काययोगौघ औदारिकतन्मिश्रौ, कार्मण० ४	नपुं० १	सर्व० ४	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असंय० १	अचक्षु १	अशुभ ३	सर्व २	मिथ्या १	असं० १	,, २	६४	३३३ त ३३६
											१	३३६
शेष० १४	शेष० ३		विभङ्ग० १ मत्यादि० ४	शेष० ६	शेष० २	शेष० ३		शेष० ६	संज्ञी १		१०५	३३७
आहारकमिश्र० कार्मण० ७			मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असंय० १		अशुभ ३	अभ० १	मिथ्या १	असं० १	आहा १	७१	३४२ ३४३
											१८	३४४
शेष० १६	सर्व० ४	सर्व० ४	शेष० ५	शेष० ६	सर्व० ३	शेष० ३	भव्य १	शेष० ६	संज्ञी १	अना० १	१३१	३४४
सर्व० १६	सर्व० ३	सर्व० ४	सर्व० ७	सर्व० ६	सर्व० ३	सर्व० ६	सर्व २	सर्व० ५	सर्व० २	आहा० १	१६३	३३७
काययोगौघ० औदारिकतन्मिश्रौ. ३	नपुं० १	सर्व० ४	मत्यज्ञान- श्रुताज्ञान० २	असंय० १	अचक्षु १	अशुभ ३	सर्व० २	मिथ्या १	असं० १	आहा १	४६	३३८ ३३९
											६	३४०
शेष० १३	स्त्री-पु २		शेष० ५	शेष० ५	शेष० २	शेष० ३		शेष० ४	असंज्ञी १		१११	३४०

॥ अथैकादशं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अथाऽऽयातं क्रमप्राप्तं "**फोसणा**" इत्यनेनोद्दिष्टमेकादशं स्पर्शनाद्वारम् । तत्र प्रागुक्तस्वरूपां क्षेत्रद्वारोक्तक्षेत्रापेक्षया विलक्षणां स्पर्शनां व्याचिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धविषयां तामोघत आह—

फुसिआ तेरह भागा सत्तण्हं बंधगेहि जेट्ठाए ।
परिफासिअं ठिईएऽणुक्कोसाए जगं सव्वं ॥३४६॥
फुसणाअ वुच्चिरे इह जे भागा भाजिआअ चउदसहिं ।
तसनाडीअ लहिज्जउ जं तावइअप्पमाणा ते ॥३४७॥

(प्रे०) "**फुसिआ तेरहभागा**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकैस्त्रयोदशभागाः स्पृष्टाः । तासामेव सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः सर्वं जगत् परिस्पृष्टम्, बन्धकैरित्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्रापि बन्धकैरित्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । नन्वेते त्रयोदशभागाः प्रत्येकं कियन्माना इत्याशङ्कायां भणित-वक्ष्यमाणभागानां परिमाणं व्यवस्थापयन्नाह- "**फुसणाअ वुच्चिरे**" इत्यादि, 'इह'-प्रकृतग्रन्थे "**फुसणाअ**" त्ति 'स्पर्शनायां'--स्पर्शनाद्वारे ये भागाः "**वुच्चिरे**" त्ति 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा० ३-३-१३१) इत्यनेन वर्तमानस्य समीपे भूते भविष्यति च वर्तमानप्रत्ययः । ततोऽनन्तरोक्तास्त्रयोदशभागा वक्ष्यमाणाः षडादिभागाश्चेत्येवं समस्तस्पर्शनाद्वारे ये भागा उच्यन्ते ते सर्वेऽपीत्यर्थः । ते च प्रत्येकं "**भाजिआअ चउदसहिं तसनाडोअ**" त्ति चतुर्दशरज्ज्वुच्चैकरज्जुवृत्तविस्तृतायां त्रसनाड्यां चतुर्दशसंख्याभिर्भाजितायां सत्यां "**लहिज्जउ जं**" ति 'यद्'-यावद् भागफलं लभ्येत, "**तावइअप्पमाणा**" त्ति तावत्प्रमाणास्ते त्रयोदशादिभागा ज्ञेया इति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थस्त्वयम्–भङ्गविचयादीनि नानाजीवान् समाश्रित्योच्यन्ते, तत्र क्षेत्रमेकसमयमाश्रित्य स्पर्शना तु नानासमयानाश्रित्य प्ररूप्यन्त इत्येतत् प्राक् क्षेत्रद्वारप्रारम्भ एवाभिहितम् । तथा च सति नानाजीवैर्नानासमयानाश्रित्य यावत् क्षेत्रं स्पृश्यते तावत्क्षेत्रं प्रस्तुतस्पर्शनाद्वारप्ररूपणाविषयं भवतीति संस्थितम् । इत्थं हि प्रकृत ओघचिन्तायामादेशचिन्तायां च स्पर्शना क्षेत्रप्ररूपणावत् न जीवपरिमाणमप्यपेक्षा । कुतः ? स्पर्शनाया नानासमयसापेक्षतया पर्याप्तमनुष्यगत्यादिसंख्येयजीवराशिकादिमार्गणास्थानेषु वर्तमानसंख्येयादिजीवैरिव भूतकालेऽतिगतैरनन्तैः पर्याप्तमनुष्यादिभिरवगाढक्षेत्रस्याऽपि स्पर्शनाप्ररूपणाविषयत्वात् । इत्थं हि स्पर्शनानानात्वं न परिमाणाधीनम् । कस्याधीनं तर्हि ? इति चेद् , उच्यते, तत्तज्जीवराशीनां पारभविकोत्पत्तिस्थान-स्वस्थानक्षेत्रयोस्तयोरन्तरालक्षेत्रस्य गमनागमनक्षेत्रस्य चाधीनम् , यतो यस्य हि जीवराशेः स्वस्थान-

पारभविकोत्पत्तिक्षेत्र-तदन्तरालवर्तिक्षेत्र-गमनागमनादिक्षेत्राणि समुदितानि यावन्ति जायन्ते तावत्प्रमाणा तस्य जीवराशेः स्पर्शना भवति ।

ननु स्वस्थानक्षेत्र-पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रयोरन्तरालवर्तिक्षेत्रमपि कथं गृह्यते ? **इति चेत्,** कालस्यानन्त्येन भिन्नभिन्नकालेषु मारणान्तिकसमुद्घातादिगतैर्नानाजीवैस्तस्य सर्वस्याप्यन्तरालस्य स्पृष्टत्वात् । **किमुक्तं भवति**–स्वस्थानादितः स्वप्राग्योत्पत्तिस्थानेषु गच्छतां जीवानामृजुवक्रगतिभ्यां यावद्विकल्पैर्गन्तुं शक्यते, तावत्सर्वविकल्पगतं क्षेत्रं कालस्यानन्त्यात् मारणसमुद्घातगतैर्नानाजीवैर्नियमतः स्पृष्टमस्ति । कुतः ? मारणान्तिकसमुद्घातेऽप्युत्पत्तिस्थानं स्पृशद्भिर्जीवैः स्वस्थानादुत्पत्तिस्थानं यावत् स्वशरीरप्रमाणविष्कम्भबाहल्यस्य स्वात्मप्रदेशदण्डस्य प्रसारणात् । यदुक्तं **लोकप्रकाशतृतीयसर्गे**–

अन्तर्मुहूर्तशेषायुर्मरणान्तकरालित । मुखादिरन्ध्राण्यापूर्य शरीरी स्वप्रदेशकै ॥२४॥
स्वाङ्गविष्कम्भबाहल्य, स्वशरीरातिरेकतः । जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयांशमुत्कर्षतः पुन ॥२५॥
असंख्येययोजनान्येकदिश्युत्पत्तिस्थलावधि । आयमतोऽभिव्याप्यान्तर्मुहूर्तान्म्रियते तत ॥२६॥ **इत्यादि** ।

इत्थं हि स्तोकजीवराशिमत्काऽपि सा क्षेत्रापेक्षयाऽधिका लभ्यते । **तथाहि**–सप्तमपृथिव्याः प्रारभ्योपर्युपरि यथोत्तरं षष्ठादिपृथिवीषु नारकाः क्रमेणाधिकाऽधिकतराऽधिकतमाः सन्ति । उक्तं च **महादण्डके**–'आणतकप्पे देवा संखेज्जगुणा, अहे सत्तमाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, छट्ठाए तमाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा' इत्यादि । स्पर्शना पुनस्तेषां विपरिता प्राप्यते । कुतः ? उच्यते, नारकाणां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया पर्याप्तमनुष्यतया वा उत्पादात् पारभविकोत्पत्तिस्थानानि तिर्यग्लोक एव विद्यन्ते । तिर्यग्लोकश्च सप्तमपृथिवीनारकाणां दुरतरोऽतस्तयोरन्तरालसहितं स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानक्षेत्रमप्यधिकम्, तथा च स्पर्शनाऽपि शेषषष्ठादिनरकमार्गणास्थानापेक्षया सप्तमनरकमार्गणास्थानेऽधिका भवति । षष्ठादिपृथिवीनां तु क्रमेण तिर्यग्लोकस्यान्तिकान्तिकतरत्वादन्तिकतमत्वादिहेतोस्तत्र पुनः स्पर्शनाऽल्पाल्पतराद्या भवति।

तथाहि–'सर्वाधस्तनलोकान्तादारभ्योपरिगं तलम् । यावत्सप्तममेदिन्या एकारज्जुरियं भवेत् ॥९॥
प्रत्येकमेवं सप्तानां भुवामुपरिवर्तिषु तलेषु रज्जुरेकैका, स्युरेवं सप्तरज्जवः ॥१०॥'

इत्यादिवचनाल्लोकसर्वाधस्तनभागादारभ्योर्ध्वं यत्र प्रथमा रज्जुः समाप्यते, तत्र सप्तमपृथिवीनारकाणां स्वस्थानानि सन्ति, तिर्यग्लोकस्तु लोकाधस्तनभागादारभ्य यत्राष्टमी रज्जुः प्रारभ्यते-तत्र विद्यते । तथा च सति तयोरन्तराले षड्रज्जवः क्षेत्रम्, तच्चैकरज्जुप्रमाणतिर्यग्वृत्तविस्तृतं षड्रज्जुप्रमाणोच्चं सर्वक्षेत्रं सप्तमनरकतस्तिर्यग्लोके दिशायां विदिशायां वा वक्रगत्यादिनोत्पद्यमानैः पूर्वोत्पन्नैश्च जीवैर्नैरन्तर्येण स्पृष्टमस्ति, तथैव मारणसमुद्घातगतैस्तत्रत्यैर्नारकैरपि स्पृष्टमस्ति । इत्थं हि 'सप्तमनरकमार्गणायां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा । तथैवोपरितनैः षष्ठादिपृथिवीसत्कवर्तमानातीतनैरयिकैरपि मारणान्तिकसमुद्घातादितः स्वस्थानतिर्यग्लोकयोरन्तरालस्य नैरन्तर्येण स्पृष्ट-

त्वात् षष्ठादिपञ्चनरकमार्गणाभेदेषु जीवानां यथोत्तरमेकरज्जुवृत्तविस्तृता पञ्च-चतु-स्त्रि-द्व्ये करज्जु-प्रमाणा स्पर्शना प्राप्यते। प्रथमनरकस्य सप्तमरज्ज्वोरुपरितनभागवर्तित्वात् तिर्यग्लोकस्याष्टमरज्ज्वोः प्रारम्भभागवर्तित्वाच्च तयोरन्तरं नैकरज्जुप्रमाणमपि, किन्त्वेकस्या रज्ज्वोरसंख्येयतमभागमात्रम् ।

मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च स्वस्थानक्षेत्रं यद्यपि लोकासंख्येयभागमात्रं तथापि तेषां सूक्ष्मै-केन्द्रियतयाऽप्युत्पत्तेः स्वस्थानक्षेत्रं पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रं च समुदितं सत् सर्वलोकस्पर्शना भवति, अतीतकाले मारणसमुद्घातादिना पारभविकोत्पत्तिस्थानानि प्राप्तैर्मनुष्यैः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिश्च प्रत्येकं समग्रलोकस्य स्पृष्टत्वात् । तिर्यक्सामान्यैस्तु स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकः स्पृष्टोऽस्तीति सुप्रतीतमेव ।

देवानां स्पर्शनाविषये तु बहवो विकल्पाः सन्ति । **तद्यथा**-ईशानान्तदेवभेदेषु नव रज्जवः स्पर्शना । कुतः ? उच्यते, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्तानां देवानां तथास्वभावतोऽधोलोके पृथिवीकायादितयोत्पादाभावेऽपि नरकगतानां पूर्वभवस्वजनानां स्नेहवशात्तृतीयां पृथिवीं यावद् गमनागमने स्तः । उक्तश्च **पञ्चसंग्रहे**—

'सहसारंतियदेवा नारयनेहेण जंति तइयभुवं' इति ।

तथा च सति तेषां तिर्यग्लोकादधो रज्जुद्वयं स्पर्शना भवति, ऊर्ध्वं त्वीषत्प्राग्भारपृथिव्यां पृथिवीकायतयोत्पद्यमानान् पूर्वोत्पन्नांश्चेशानकल्पान्तदेवान् समाश्रित्य पूर्ववत् सप्तरज्जवः स्पर्शना सम्पद्यते । 'तत्थ वि सणकुमारं पभिइ एगिंदियेसु नो जंति' इत्यादिवचनेन सनत्कुमारादिसहस्रार-कल्पान्तानां देवानां त्वेकेन्द्रियतयोत्पत्तिरेव प्रतिषिद्धा, अतस्तेषामूर्ध्वमीषत्प्राग्भारपृथिव्यामुत्पादाभावेन तिर्यग्लोकादूर्ध्वं सप्तरज्जुस्पर्शना न लभ्यते, किन्तु स्वशक्त्या गन्तुमसमर्था अप्यधस्तनदेवा अच्युतकल्पसुरैः स्नेहादिनोर्ध्वं स्वस्थानेषु नीयन्ते । उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहे**—"निज्जंति अच्चुयं जा अच्चुयदेवेण इयरसुरा ॥३१॥" इति । तथा च नीयमानैः पूर्वनीतैश्च सनत्कुमारादिकल्पानां प्रत्येकमनन्तैः सुरैरच्युतकल्पान्तं तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतं सर्वं क्षेत्रं स्पृष्टं भवति, अतस्तेषां प्रत्येकं तिर्यग्लोकादूर्ध्वं षड्रज्जुस्पर्शनालाभात् समस्ता स्पर्शनाऽष्टरज्जुप्रमाणा जायते ।

ननु सनत्कुमारादिदेवा अपि प्रत्येकमसंख्येया एव श्रूयन्ते, तत्कथं प्रत्येकमनन्तैर्देवैरच्युतकल्पान्तमेकरज्जुवृत्तविस्तृतं सर्वक्षेत्रं स्पृष्टं भवतीति कथ्यते ? **भण्यतेऽत्रोत्तरम्**—न केवलं वर्तमानकालापेक्षयैतत्कथनम् , किन्त्वनन्तमतीतकालमपेक्ष्यापि, स्पर्शनाया नानासमयविषयत्वेनातीतकाले विनष्टानामपि देवानां तदन्तर्गतत्वादित्यादिप्रागभिहितमेव । अनयाऽपेक्षया यदि सूक्ष्मसम्परायादिमार्गणाविशेषेषु गतकालमतिक्रम्यानन्तानां जीवानां समावेशो भवति, तदा सनत्कुमारादिमार्गणासु तु का वार्ता । तदेवं नानासमयानाश्रित्य नास्ति कश्चिद्दोषः ।

न च "पणऽच्चुए" इति लोकनालिस्तववचनात् तिर्यग्लोकादूर्ध्वमच्युतकल्पं यावत् **पञ्च** रज्जव एव क्षेत्रं भवति, तथा च सति सनत्कुमारादिकल्पवासिनां समस्ताऽपि सप्त रज्जव एव स्पर्शना भवेदतोऽसङ्गतमेतदिति **वाच्यम्** । **जीवसमासे**—

'इसाणम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥१९१॥'
इत्यनेनाऽन्यथाऽपि रज्जुव्यवस्थादर्शनात् । न च तत्र पाठभ्रमः, तद्वृत्तौ तथैवाभिहितत्वात् ।

बृहत्संग्रहणीवृत्तौ मलयगिरिसूरिपादैरपि—

'सोहम्मि दिवड्ढा अड्ढाइज्जा य रज्जु माहिंदे । पंचेव सहस्सारे छ अच्चुए सत्त लोगंते ॥'
इत्यनेन तिर्यग्लोकाद् यावत् सौधर्मेशानदेवलोकौ तावत्सार्धरज्जुप्रमाणम्, यावत्सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्पौ तावत् सार्धरज्जुद्वयम्, यावच्च सहस्रारकल्पस्तावत्पञ्च रज्जवः, यावच्चाच्युतकल्पस्तावत् षड्ज्जवो लोकान्तं यावत्सप्त रज्जवश्च क्षेत्रमभिहितम् । एतदनुसारेण तु सुसङ्गतमेवेदम् । लोकनालिकास्तवाभिप्रायेण त्वन्यथा स्वयमेवोह्यमिति ।

आनतादीनां चतुर्णां कल्पानां देवास्त्वधस्तिर्यग्लोकं यावद्गच्छन्ति, न पुनर्नरकपृथिवीष्वपि । तथा च सति तेषां प्रत्येकं षड्ज्जव एव स्पर्शना भवति । 'गमणागमणं णत्थि अच्चुअपरओ सुराणं पि' इत्यादिवचनेनोपरितनानां ग्रैवेयकादिदेवानां तु गमनागमनाभावात् लोकासंख्येयभागमात्रैव स्पर्शना लभ्यते । **ननु** ग्रैवेयकादिदेवानां गमनागमनाभावेऽपि नारकाणामिव मारणसमुद्घातेन स्वोत्पत्तिस्थानं तिर्यग्लोकं यावत्स्पर्शना युज्यते, तत्कथं लोकासंख्येयभागमात्रा स्पर्शना कथ्यते ? **इति** चेद्, उच्यते, ग्रैवेकदेवानामूर्ध्वलोके तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतप्रतराणामसंख्येयभागमात्रे देशे स्वस्थानानि सन्ति । न केवलं स्वस्थानानि, किं तर्हि ? गमनागमनविरहितानां तेषामवस्थानमपि तत्र त्रसनाडीगतवृत्तविस्तृततिर्यक्प्रतरासंख्येयतमे भाग एव । अन्यच्च तेषां पारभविकोत्पत्तिस्थानान्यपि मनुष्यलोके एव, स च मनुष्यलोकोऽपि तिर्यग्लोकवर्तितिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रावगाढः । तथा च सति ग्रैवेयकविमानेभ्यो मनुष्यलोकपर्यन्तानां समुद्घातगतदेवात्मप्रदेशदण्डानामूर्ध्वाधः सप्तरज्जुप्रमाणदीर्घत्वेऽपि तिर्यक्क्षेत्रस्य स्वल्पतयैते आत्मप्रदेशदण्डाः समस्ता अपि सन्तस्तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतप्रतरासंख्येयभागमात्रमवगाहन्ते । इत्थं चोर्ध्वाधः सप्तरज्जूच्चाऽपि ग्रैवेयकदेवानां स्पर्शना तिर्यगेकरज्जोरसंख्येयभागमात्रेतिकृत्वा लोकस्यासंख्येयभागमात्रैव भवति ।

इदमत्र हृदयम्—येषां स्वस्थान-गमनागमनस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपाणि त्रिविधान्यपि स्थानानि प्रत्येकं त्रसनाडीगततिर्यग्वृत्तविस्तृतप्रतराऽसंख्येयभागमात्रमवगाहन्ते तेषामूर्ध्वाधःक्षेत्रयोरन्तरालस्य बाहुल्येऽपि तिर्यक्क्षेत्रस्य स्वल्पतया मारणान्तिकसमुद्घातमपेक्ष्यापि लोकाऽसङ्ख्यभागमात्रस्पर्शना सम्पद्यते । येषां पुनस्तेभ्यस्त्रिविधस्थानेभ्य एकविधान्यपि स्थानानि, तिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रावगाढानि न सन्ति, किन्तु ततोऽधिकाधिकतरादिभागगतानि सन्ति, तेषां तूर्ध्वाधःक्षेत्रान्तरस्य बाहुल्ये स्पर्शनाऽपि तदनुसारेणाधिकाधिकतराद्या लभ्यते । अत एव द्वितीयादिनरकभेदेषु स्पर्शना न लोकासंख्येयभागमात्रा, एवमानतादिदेवानामपि । **तथाहि**—स्वस्थान-गमनाऽऽगमनस्थानान्यपेक्ष्य तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागमात्रावस्थायिनामपि द्वितीयादिपृथिवीनैरयिकाणां ततश्च्युत्वा तिर्यग्लोके स्वयम्भूरमणसमुद्रजगत्यादिदेशान् विहाय तिर्यक्प्रतरस्य बहुभागेषूत्पादे-

नोत्पत्तिस्थानानां किञ्चिदूनतिर्यक्प्रतरव्यापित्वात् मारणसमुद्घातप्राप्ता स्पर्शना न लोकासंख्येय-भागमात्रा। एवमानतादिदेवानां स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं तिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रगतत्वेऽपि गमनागमनक्षेत्रस्य तिर्यग्वृत्तविस्तृतरज्जुप्रमाणत्वात् स्पर्शना न लोकासंख्येयभागमात्रा, किन्तु षड् रज्जवः प्राप्यते।

न च प्रथमपृथिवीनैरयिकाणां पारभविकोत्पत्तिस्थानानि तिर्यक्प्रतरस्यासंख्येयबहुभागेषु वर्तन्ते, तत्कथमेतेषां मारणसमुद्घातेनापि लोकासंख्येयभागमात्रा स्पर्शनोच्यत इत्याऽऽ**शङ्कयम्**। यतो यथा तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागादौ स्वस्थानादीनामवगाढतया तदनुसारेण स्पर्शनालाभस्तथैवोर्ध्वाधोवर्तिनां तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानानां यद् रज्ज्वसंख्येयभागादिप्रमाणमन्तरं तदप्यूर्ध्वाधः स्पर्शनायामपेक्ष्यत एव; अतो यत्रोर्ध्वाधःप्रतरवर्तिनां स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानानामन्तरं रज्ज्वसंख्येयभागमात्रं तत्र तेषां स्थानानां तिर्यक्प्रतरबहुभागव्यापित्वेऽपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभागमात्रैव लभ्यते। यत्र तु तदूर्ध्वाधःप्रतरगतस्वस्थानादीनामन्तरं रज्जुद्विरज्ज्वादिप्रमाणं तत्र तु तेषां स्थानानां तिर्यक्प्रतरबहुभागगतत्वे साऽप्येकद्वयादिरज्जुप्रमाणा प्राप्यते। तथा च सति प्रथमपृथिवीनारकाणां पारभविकोत्पत्तिस्थानानां तिर्यग्लोकगततिर्यक्प्रतरबहुभागव्यापित्वेऽप्यूर्ध्वाधोवर्तिनां तेषां स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानानामन्तरालस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रतया स्पर्शनाऽपि लोकासंख्येयभागमात्रोच्यत इत्यलं विस्तरेण। इदं हि तत्तन्मार्गणानामुत्कृष्टस्पर्शनोपपत्तौ दिङ्मात्रम्, अनया दिशा शेषमार्गणास्थानेषु तु स्पर्शना स्वयमेवोह्या।

अथ प्रस्तुतेऽस्याऽनन्तरोक्तस्य घटना प्रदर्श्यते—आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तजीवा यद्यपि लोकस्याऽसंख्येयभाग एव वर्तन्ते, तथापि तेषु ये भवनपत्यादीशानान्ता देवास्तैर्मारणसमुद्घातेनेषत्प्राग्भारापृथिवीं प्राप्तैरूर्ध्वलोकमत्काः सप्त रज्जवः स्पृश्यन्ते। न च तदानीं मारणसमुद्घातगतानां तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यासम्भवः। यत एते मारणसमुद्घातगता देवास्तदानीमेकेन्द्रियत्वाभिमुखाः सन्ति, एकेन्द्रियत्वं च तेषां पारभविकं सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानम्, तथा च सति तदानीं तेषां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानाभिमुखतयोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽविरुद्धः। कुतः? उच्यते, ये हि स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानाभिमुखा न सन्ति तेषां मारणसमुद्घातादिगतानामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्यानुत्पत्तेः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धो न भवति, स्वप्रायोग्यसर्वापकृष्टोत्पत्तिस्थानाभिखानां तु तदानीमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्य सम्भवादुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यापि सम्भव एव। इत्थं हि भवनपत्यादिदेवापेक्षयोर्ध्वलोकसम्बन्धिनी सप्तरज्जुस्पर्शनोपपन्ना। शेषा तिर्यग्लोकादारभ्याधोलोकमत्का षड्रज्जुस्पर्शना त्वनया नीत्यैव मारणान्तिकसमुद्घातेन सप्तमपृथिवीं यावन्निक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डैस्तिर्यग्भिः कृता द्रष्टव्या। एताश्च रज्जवः समस्ताः सत्यस्त्रयोदश भवन्ति, ता एवाधिकृत्य प्रकृत ओघत उत्कृष्टस्थितिबन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टा इत्युक्तम्।

ननु तिर्यग्मनुष्याणामनन्तरभवे सूक्ष्मैकेन्द्रियतयाप्युत्पत्तेः सम्भवेन तेषां पारभविकोत्पत्तिस्थानानि लोकसर्वाधस्तनप्रतरं यावद्विद्यन्ते, ततश्चोक्तनीत्याऽधोलोकसम्बन्धिनी सप्तरज्जुस्पर्शनाऽपि प्राप्यते, तत्कथं षड्ज्जव एव गृहीता ? इति चेद् , उच्यते, सत्यमेतत् , तथाऽपि साम्प्रतमुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिस्पर्शना प्रस्तूयते, औघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः, न पुनः सूक्ष्मैकेन्द्रियादयः । संज्ञिपञ्चेन्द्रितिर्यग्मनुष्याणां तु सा सप्तरज्जुस्पर्शना मारणान्तिकसमुद्घातादिना प्राप्येत, न तु स्वस्थानतो गमनागमनतो वा । सूक्ष्मैकेन्द्रियादितयोत्सिवो मारणान्तिकसमुद्घातं प्राप्ताश्चैत उत्कृष्टस्थितिबन्धमेव न कुर्वन्ति, भवान्तराभिमुखेषु जीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानाभिमुखानां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामेव तस्य सम्भवात् । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टं पारभविकोत्पत्तिस्थानं तु निरयगतिः, उत्कृष्टसंक्लेशोपेतैस्तैस्तस्या एव निर्वर्तनात् , इत्येवं सर्वं एकजीवाश्रयकालद्वारे 'एगिंदियणिगोएसुं तेसिं सुहुमेसु' इत्यादिगाथा(१४७)वृत्तौ दर्शितनीत्या विभावनीयम् । इत्थञ्चैकेन्द्रियत्वाभिमुखमुमूर्षुजीवानां तदानीं सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैवाऽसम्भवाद्यथोक्तसप्तरज्जुस्पर्शनां विहाय सप्तमनरकाभिमुखजीवानपेक्ष्य षड्ज्जवः स्पर्शनैव गृहीता ।

अमुमेव पदार्थं प्रतिपादयितुं प्राक्–'फुसणाअ वुच्चिरे इह जे भागा भाजिआअ चउदसहिं । तसनाडीअ लहिज्जउ जं तावइअप्पमाणा ते ॥३४७॥' इत्यत्र चतुर्दशभिस्त्रसनाड्येव विभक्तुमभिहिता, न तु लोकनाडी; यतस्त्रसनाडी चतुर्दशरज्जुप्रमाणोच्चा, एकरज्जुप्रमाणा तु वृत्तविस्तृता, तस्यां चतुर्दशभिर्भाजितायां सत्यामेकरज्जुप्रमाणोच्चमेकरज्जुप्रमाणं वृत्तविस्तृतमित्येतावत्क्षेत्रं भागफलतया लभ्यते, तावत्प्रमाणास्त्रयोदशभागाः प्रकृतेऽपि सङ्गच्छन्ते । तथाहि–मारणान्तिकसमुद्घातकाल ईषत्प्राग्भारापृथिव्यां निक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डैरीशानान्तदेवैर्ये ऊर्ध्वलोकसत्काः सप्त रज्जवः स्पृश्यन्ते, तास्त्रसनाड्यन्तर्गता एव सन्ति; त्रसनाड्या एकरज्जुवृत्तविस्तृतत्वात् ताः सप्तरज्जवोऽप्येकरज्जुवृत्तविस्तृता एव प्राप्यन्ते । इत्थमेव मारणान्तिकसमुद्घातेन सप्तमपृथिवीं प्राप्तानां तिर्यग्मनुष्याणामपि षड्ज्जवः स्पर्शनैकरज्जुप्रमाणवृत्तविस्तृतक्षेत्रसम्बन्धिन्यवगन्तव्या ।

अत्रेदमवधेयम्–स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य जगत्याः परभागवर्तिषु स्तोकमात्रदेशेषु पञ्चेन्द्रियतिरश्चामभावादुक्तषड्ज्जुस्पर्शना यद्यप्येकदेशेनोना भवति, तथापि तस्यैकदेशस्य स्वल्पत्वादविवक्षया सामान्यत एकरज्जुवृत्तविस्तृताः षड्ज्जवोऽभिहिताः । एवमन्यत्रापि यथासम्भवं द्रष्टव्यमिति । सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां सर्वलोकस्पर्शना तु सुगमेति ॥३४६-३४७॥

तदेवमोघतः सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधाया अपि स्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनाऽभिहिता । साम्प्रतमुत्कृष्टेतरस्यायुषस्तामोघतः प्राह—

आउस्स असंखयमो भागो लोगस्स फोसिओ होज्जा ।
उक्कोसाअ ठिईएऽणुक्कोसाए जगं सव्वं ॥३८४॥

(प्रे०) **"आउस्स"** इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकैर्लोकस्यासंख्यतम एको भागः स्पृष्टो भवति । तस्यैवानुत्कृष्टायाः स्थितेः सर्वं जगत् स्पृष्टं भवति, बन्धकैरिति तु प्रथमगाथातोऽत्राप्यनुवर्तते, यद्वा स्पृष्टमिति प्रयुक्तेऽनुक्तमपि प्रकरणाद्गम्यत इत्यक्षरार्थः । **भावार्थः** **नन्वयम्**-आयुर्बन्धो हि मारणसमुद्घातं गतानामन्तरालगतौ वर्तमानानां वा न भवति, तथा च सत्यायुर्बन्धकानां स्पर्शनाऽपि स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य गमनागमनक्षेत्रं वाऽपेक्ष्य प्राप्यते, स्वस्थानाद्विशिष्टं गमनागमनक्षेत्रं तु भवनपत्यादिदेवानामेव । आयुष ओघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः । तेषां च नास्ति किञ्चित्स्वस्थानाद्विशिष्टं गमनागमनक्षेत्रमतस्तेषां स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्ता स्पर्शना एव प्रकृते प्राप्यते,सा तु लोकासंख्यभागमात्राऽतस्तथैवोक्ता । आयुष ओघिकानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु सूक्ष्मैकेन्द्रियादयोऽपि, अतस्तेषां स्वस्थानापेक्षयापि सर्वलोकस्पर्शनैव भवतीत्योघत आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्पर्शना सर्वलोक उक्ता इति । ।।३४८।।

तदेवमभिहितौघतोऽष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकस्पर्शना । साम्प्रतं तामेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तानामुत्कृष्टस्थितेराह—

णिरये सत्तमणिरये तिरयम्मि तहा पणिंदितिरियदुगे ।
चउआणताइगेसु ओराल-णपुंस-सुक्कासु ॥३४९॥
सत्तण्हुक्कोसाए ठिईअ भागा छ फोसिआ होज्जा ।

(प्रे०) **"णिरये सत्तमणिरये"** इत्यादि, निरयगत्योघे, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे, तिर्यक्सामान्ये तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगात्मके पञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्विके, आनत-प्राणताऽऽरणा-ऽच्युतकल्पभेदभिन्नेषु चतुर्षु देवगतिमार्गणाभेदेषु । तथा औदारिककाययोग-नपुंसकवेद-शुक्ललेश्यासु, इत्येवं द्वादशमार्गणासु **"सत्तण्हुक्कोसाए"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः 'षड्भागाः'-त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागरूपाः षड्जवः स्पृष्टा भवन्ति, बन्धकैरित्यनुवर्तते । कथं षड्ज्जवः ? इति चेद् ,उच्यते,नरकगत्योघमार्गणायां सप्तमनरकमार्गणायां च मारणान्तिकसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं स्पृष्टैः स्वस्थानगतैर्नारकैरपि तदानीमुत्कृष्टस्थितिबन्धो निर्वर्तयितुं शक्यते, ततश्च सप्तमनिरयनैरयिकाणामुत्कृष्टस्पर्शनायाः प्रकृतमार्गणाद्वय उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिस्पर्शनातया युज्यमानत्वात् षड्ज्जुस्पर्शनोक्ता । एतेषां सप्तमपृथिवीनारकाणामुत्कृष्टस्पर्शनापेक्षयैव, यद्वा पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वक्ष्यमाणोत्कृष्टस्पर्शनापेक्षया नपुंसकवेदमार्गणायां प्रस्तुतस्पर्शना विज्ञेया । आनतादिदेवानां त्वधस्तिर्यग्लोकं यावदूर्ध्वं चाच्युतकल्पं यावद्गमनागमनस्याऽप्यभिमतत्वाद्गमनागमनकृतस्पर्शनापेक्षयापि षड्रज्जुस्पर्शना प्राप्यत इति तदनुसारेण सा भावनीया । शुक्ललेश्यामार्गणायामपि तथैवानतादिदेवानां स्पर्शनाप्राधान्यात्सा बोद्धव्या । तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगौदारिककाययोगमार्गणासु पुनर्मारणान्तिक-

समुद्घातेन पारभविकस्वोत्पत्तिस्थानसप्तमनिरयभूमिप्राप्तानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां तदानीं स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानाभिमुखतयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवात् तदपेक्षया प्रस्तुतस्पर्शनाऽपिषड् रज्जवो लभ्यत इति ॥३४९॥

द्वितीयपृथिव्यादिषु पञ्चसु निरयगतिमार्गणास्थानेषु प्रकृतस्पर्शनामाह—

एगाइणा कमूणा ते छट्ठाइपणणिरयेसुं ॥३५०॥

(प्रे०) "**एगाइणा कमूणा**" इत्यादि, एकादिना भागेन क्रमादूनाः "**ते**" त्तिऽनन्तरोक्ताः षड् भागाः, सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकैः स्पृष्टा भवन्तीत्यनुवर्तते। इत्थमेवोत्तरत्राऽप्यनुवृत्तिर्द्रष्टव्या। केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—"**छट्ठाइपणणिरयेसु**" ति आनुपूर्व्याऽसम्भवादनन्तरमेव सप्तमपृथिवीनिरयभेदे प्रतुतस्पर्शनाया अभिहितत्वाच्च पश्चादानुपूर्व्या षष्ठादिषु षष्ठ-पञ्चम-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीय-पृथिवीनिरयभेदरूपेषु पञ्चसु निरयमार्गणास्थानेष्वित्यर्थः। **इदमुक्तं भवति**—षष्ठपञ्चमादिनरकपृथिवीनां यथोत्तरं तिर्यग्लोकादभ्यर्णा-ऽभ्यर्णतरा-भ्यर्णतमवर्तित्वान्मारणसमुद्घातेन तत्रत्यनारकैः कृता स्पर्शनाऽप्यल्पा-ऽल्पतराद्या प्राप्यते, किञ्च तिर्यग्गतेस्तेषां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपत्वात् तदानीं मारणसमुद्घातगतानां तेषां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि सम्भवति। इत्थं हि अतीतकालसम्बन्धिभिर्मारणसमुद्घातगतैः सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैर्नारकैः कृता स्पर्शनाऽपि षष्ठपृथिवीनिरयभेदेऽनन्तरोक्तषड्रज्जव एकया रज्ज्वा न्यूनाः पञ्च रज्जवः, पञ्चमपृथिवीनिरयभेदे रज्जुद्वयेन न्यूनाश्चतूरज्जवः, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदे रज्जुत्रयेण न्यूनास्त्रिस्रो रज्जवः, एवमेवोत्तरत्राऽपि, ततस्तृतीयपृथिवीनिरयभेदे रज्जुद्वयम् द्वितीयपृथिवीनिरयभेदे त्वेका रज्जुः स्पर्शना भवतीति ॥३५०॥ अथ मार्गणान्तरेष्वाह—

होइ पण तिरिच्छीए सुर-इसाणंतदेव-तेऊसुं।
णव बारह कम्मण-थी सासण-ऽणाहारगेसुं य ॥३५१॥

(प्रे०) "**होइ पण तिरिच्छीए**" त्ति तिरश्चीमार्गणायां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैः कृता स्पर्शना "**होइ पण**" त्ति त्रसनाड्याः पञ्च चतुर्दशभागा भवति, एकरज्जुवृत्तविस्तृतपञ्चरज्जुप्रमाणोच्चा भवतीति भावः। इत्थमेवोत्तरत्रापि भागपदेन त्रसनाडीगतैका रज्जुर्वेदितव्येति। कुतः पञ्चरज्जुस्पर्शना ? इति चेद्, उत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतीभिस्तिरश्चीभिर्मारणसमुद्घातेनाधः षष्ठपृथिवीं यावत्स्पृष्टत्वात्। "**सुरईसाणंतदेवतेऊसु**" ति सुरगत्योघमार्गणाभेदे, भवनपतिव्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मे-शानकल्परूपेष्वीशानान्तदेवभेदेषु, तेजोलेश्यामार्गणाभेदे चेत्येतेषु सप्तसु प्रत्येकं "**नव**" त्ति त्रसनाड्या नव चतुर्दशभागाः, सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैः स्पृष्टा इत्यनुवर्तते। कथम् ? इति चेत्, मारणसमुद्घातेनेषत्प्राग्भाराभूमौ स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थान एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानैः पूर्वोत्पन्नैश्चोर्ध्वं सप्तरज्जुक्षेत्रमापूरणात्, तृतीयनरकपृथिवीं यावद्गमनागमनं कुर्वद्भिरधो रज्जुद्वयस्पर्शनाच्च समस्ता नव रज्जवो भवन्ति।

"बारह कम्मणथो" त्यादि, कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-सासादना-ऽनाहारकमार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाड्या द्वादश चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । तत्र कार्मणकाययोगमार्गणायां मूलसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतश्च्युत्वा पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना विग्रहगतिवर्तिनो जीवा इति प्रागभिहितमेव, तेऽप्यष्टमकल्पान्ता देवाः, अन्ये वा गतित्रयसम्बन्धिन एव भवन्ति, न त्वानतादिकल्पवासिनः, शुक्ललेश्याकैस्तैः कार्मणकाययोगमार्गणाबन्धप्रायोग्यत्कृष्टस्थितिबन्धस्याकरणात् । इत्थं च यदाऽच्युतकल्पसुरैः स्वस्थानं नीता सहस्रारकल्पान्ता देवास्तत्रस्था एवायुःक्षयात् कालं कृत्वा विग्रहगत्या तिर्यग्लोके तिर्यक्त्वेनोत्पद्यन्ते तदोर्ध्वलोकसत्काः षड् रज्जवः स्पर्शना लभ्यते, अधोलोकसत्काः षड् रज्जवस्तु सप्तमभूमौ नैरयिकतयोत्पद्यमानैर्विग्रहगतिस्थैस्तिर्यग्भिर्मनुष्यैर्वा स्पृष्टाः सन्ति, एताः समस्ताः सत्यो द्वादश रज्जवो भवन्ति । ता एव द्वादश रज्जवः प्रकृते सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धकाना-मुत्कृष्टस्पर्शना दर्शितेति । अनाहारकमार्गणायामप्ययमेव प्रकारो द्रष्टव्यः । स्त्रीवेदमार्गणायां त्वी-षत्प्राग्भारापृथिवीं प्राप्तानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां भवनपत्यादिदेवीनामूर्ध्वलोकसत्का सप्त-रज्जुस्पर्शना, तथा तिरश्चीनां षष्ठपृथिवीं यावदुत्पादादधोलोकसत्का पञ्चरज्जुस्पर्शना च समुदिता सती द्वादशरज्जुस्पर्शना भवतीति तथैव दर्शिता । उत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु तदानीं तासां देवीनां मानुषीणां च स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानाभिमुखतया सम्भवतीति प्राग्वद् बोद्ध-व्यम् । सासादनमार्गणायां पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सूनां षष्ठपृथिवीनैरयिकाणां मारण-समुद्घातेन प्राप्ताऽधोलोकसत्का पञ्चरज्जुस्पर्शना, शेषसप्तरज्जुस्पर्शना तूर्ध्वलोके लोकान्तं याव-दुत्पित्सूनां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां वा मारणान्तिकसमुद्घातनिष्पन्ना, एवं नानाजीव-नाना-समयसमाश्रयणादेकरज्जुतिर्यग्वृत्तविस्तृतद्वादशरज्ज्वूच्चा स्पर्शनोक्तेति ।

ननु तिर्यग्लोक उत्पित्सूनां सप्तमपृथिवीनैरयिकाणां षड्रज्जुस्पर्शनां विहाय कथमत्रा-धोलोकसत्का पञ्चरज्जुस्पर्शनैव गृहीता ? इति चेद् , उच्यते,भवचरमान्तर्मुहूर्तवर्तिनां मुमूर्षूणां सप्तपृथिवीनैरयिकाणां नियमतो मिथ्यादृष्टित्वेन प्रकृतमार्गणाबहिस्त्वात् तत्संबन्धिषड्रज्जुस्पर्शनां विहाय षष्ठपृथिवीनैरयिकसम्बन्धिनी सा पञ्चरज्जुमानैव गृहीता, षष्ठपृथिवीनैरयिकाणां सासादन-गुणयुतानामपि तिर्यग्मनुष्यतयोत्पत्तेः । उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहे**—"छट्ठाए नेरइओ सासणभावेण एइ तिरिमणुए" इति ॥३५१॥

सम्प्रति यासु मार्गणासु प्रकृतस्पर्शना समग्रलोकप्रमाणा ता मार्गणाः सङ्गृह्याह—

सव्वजगं सव्वेसुं एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।
असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसुं य ॥३५२॥

(प्रे०) **"सव्वजग"** मित्यादि, सर्वं जगत् , सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैः स्पृष्टं भवतीति

प्राग्वद्योगः । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह–"सव्वेसु एगिंदिये" त्यादि, 'सर्वेषु' सप्तसंख्याकेष्वप्येकेन्द्रियजातिसत्कभेदेषु, तथैव सर्वेषु नवस्वपि विकलेन्द्रियसत्कभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यादिपञ्चकायसत्केष्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु । मार्गणान्तरसङ्ग्रहायाह–"असमत्ते" त्यादि, तत्राऽपर्याप्तभेदवाचकोऽसमाप्तशब्दः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषु प्रत्येकं युज्यते, तथा च सत्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायरूपेषु चतुर्षु भेदेषु चेति ।

इयमत्र भावना–प्रकृतैकोनषष्टिमार्गणासु याः सूक्ष्मौघतत्पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्ना अष्टादशमार्गणास्तासु सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां स्वस्थानत एव सर्वलोके सद्भावात्प्रकृतस्पर्शना तदनुसारेण सर्वलोकः प्राप्यते, यद्वा प्रकृतसर्वमार्गणगतानां जीवानां सर्वनिकृष्टं स्वप्रायोग्यं पारभविकोत्पत्तिस्थानमपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदात्मकम्, अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवास्त्वन्यूने लोके व्याप्ताः, अस्तत्रोत्पित्सवः प्रकृतप्रत्येकमार्गणासम्बन्धिजीवा मारणसमुद्घातावस्थायां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्तः सर्वं लोकं स्वात्मप्रदेशैः पूरयितुं शक्नुवन्ति, ततो नानासमयसव्यपेक्षा प्रकृतस्पर्शनाऽपि सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यत इति ॥३५२॥

इदानीं यासु प्रस्तुतस्पर्शनाऽष्टौ रज्जवस्ता मार्गणाः संगृह्याह—

भागाऽट्ठ होज्ज तइआइसहस्सारंतसुर-तिणाणेसुं ।
ओहि-पउम-सम्म-खइअ-वेअगु-वसमेसु मीसे य ॥३५३॥

(प्रे०)"**भागाऽट्ठ होज्जे**" त्यादि, सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाड्या अष्टौ भागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । केष्वित्याह–"**तइआइसहस्सारंते**" त्यादि, तृतीयसनत्कुमारकल्पमादौ कृत्वा सहस्त्रारकल्पान्तेषु षट्सु सुरगतिभेदेषु, मनःपर्यवज्ञानवर्जेषु त्रिषु मतिश्रुतावधिरूपज्ञानभेदेषु, तथा "**ओहिपउमे**" त्यादि, अवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदेषु चेत्येषु षोडशमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र सनत्कुमारादिसहस्रारान्तानां पूर्वसाङ्गतिकैरच्युतकल्पे नीतानां देवानां तत्रैव भवचरमान्तर्मुहूर्ते प्राप्ते मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं यावत् स्पर्शनादूर्ध्वलोके षड् रज्जवः स्पर्शना, तृतीयनरकं यावदधोरज्जुद्वयमपि तत्रगतानां समुद्घातकरणेनेति समस्ताऽष्टौ भागाः स्पर्शना । यद्वाऽष्टावपि रज्जवः स्पर्शना तेषां गमनागमनक्षेत्रापेक्षयैव बोद्धव्या । पद्मलेश्यामार्गणायामपीत्थमेव विभावनीयम् । शेषनवमार्गणास्वपि तथैव,नवरं ज्ञानत्रया-ऽवधिदर्शनौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणासु गमनागमनं कुर्वतां मिथ्यात्वाभिमुखानामुत्कृष्टस्थितिबन्धं विदधतां देवानां स्पर्शनाऽपेक्षया प्रकृतस्पर्शना बोद्धव्या, न पुनः समुद्घातापेक्षयाऽपि । किं कारणम् ? अभिमुखावस्थायां मरणस्यैव मारणसमुद्घातस्याप्यसम्भवादिति ॥३५३॥ यासु मार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाड्यास्त्रयोदश भागाः स्पृष्टास्ताः सङ्गृह्याह—

पंचिंदियदुग-तसदुग-पणमणवयणेसु काय-विउवेसुं ।
पुरिस-चउकसायेसुं तिअणाणा-ऽसंयमेसुं च ॥३५४॥
णयणा-ऽणयणेसु तहा भविये-यर-मिच्छ-सण्णि-आहारे ।
तेरहभागा छिहिआ उक्कोसाए ऽत्थि सत्तण्हं ॥३५५॥

(प्रे०) **"पंचिंदियदुगतसदुग"** इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरमपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदयोः प्राग् गृहीतत्वात् **"पंचिंदियदुग"** इत्यनेन शेषौ पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदौ तथा **"तसदुग"** इत्यनेन त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदौ समुच्चितौ । तथा च सति पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाद्याहारिपर्यन्तेषु द्वात्रिंशन्मार्गणास्थानेषु सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । एतेषु द्वात्रिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकमोघवदूर्ध्वलोके सप्तरज्जुस्पर्शना ईशानान्तदेवकृता, अधोलोके षड्रज्जुस्पर्शना तु सप्तमनरकनैरयिककृता, सप्तमपृथिव्यां नैरयिकतयोत्पित्सुभिः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः कृता वा बोद्धव्या, केवलं नैरयिकाणां नियमतो नपुंसकवेदितया पुंवेदमार्गणायां तिर्यक्कृतैवाधः षड्रज्जुस्पर्शना लभ्यते, तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायां वैपरित्येन सप्तमपृथिवीनैरयिककृतैव सा षड्रज्जुस्पर्शना लभ्यते, न पुनस्तिर्यक्कृताऽपीति तत्र मार्गणाद्वये तथा द्रष्टव्येति ॥३५४-३५५॥

शेषमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामेकगाथयाऽऽह—

किण्हाईसुं कमसो तेरेगार णव फोसिया भागा ।
बिंति छ चउरो दोऽण्णे सेसासुं जगअसंखंसो ॥३५६॥

(प्रे०) **"किण्हाईसु"** मित्यादि, कृष्णादिषु कृष्ण-नील-कापोतलक्षणासु तिसृषु लेश्यामार्गणासु 'क्रमशः'-यथाक्रमं त्रयोदश,एकादश, नव **"फोसिया भागा"**त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैर्यथोक्तलक्षणास्त्रसनाडीसत्का भागाः स्पृष्टाः । तत्र कृष्णादिषु क्रमेण षड्,चत्वारो द्वौ च तिर्यक्तयोत्पित्सुभिः समुद्घातगतैस्तत्तल्लेश्याकनैरयिकजीवैः कृताऽधोलोकस्पर्शनापेक्षयाऽवसातव्याः, तत्तल्लेश्याकनैरयिकाणामुत्कृष्टतस्तिर्यग्लोकात्षड्रज्ज्वाद्यन्तरे सप्तमादिपृथिवीषु वर्तमानत्वात् । यत उक्तम्–'दुसु काऊ, तइआए काऊ नीला य, नील पकाअ । धूमाअ नीलकिण्हा, दुसु किण्हा हुन्ति लेसाओ' इति । शेषसप्तभागास्तूर्ध्वमीषत्प्राग्भाराभूमौ मारणसमुद्घातेन निक्षिप्तात्मप्रदेशैः स्वस्थानगतैर्भवनपत्यादिभिर्निर्वर्तितोर्ध्वलोकस्पर्शनापेक्षयाऽवसातव्याः, तदानीं स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानाभिमुखानां तेषां नैरयिकदेवानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवात् ।

अथ प्रस्तुतमार्गणात्रये महाबन्धकारमते देवा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न भवन्ति । कथम् ? तैरपर्याप्तावस्थाया अन्यत्र देवानामशुभलेश्याया अनङ्गीकारात्, अपर्याप्तावस्थायां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्या-

भावाच्च। एवं सति महाबन्धकारमते देवकृता ऊर्ध्वलोकसत्का सप्तरज्जुस्पर्शना प्रस्तुतमार्गणात्रये न प्राप्यते, किन्तु केवला नैरयिककृता षडादिरज्जव एव प्राप्यत इत्यतस्तन्मते प्रस्तुतस्पर्शनां तथैव दर्शयन्नाह–"**बिंति छ चउरो**" इत्यादि, गतार्थम्।

अथोक्तशेषमार्गणास्वाह–"**सेसासु जगअसंखंसो**" त्ति अनन्तरोक्तनिरयगत्योघाद्येकोनचत्वारिंशदधिकशतमार्गणा विहाय शेषास्वेकत्रिंशन्मार्गणासु 'जगतः'-लोकस्यैकोऽसंख्येयतमोंशः प्रस्तुतबन्धकैः स्पृष्टो भवतीत्यर्थः। तत्र **शेषमार्गणानामानि त्वेवम्**–प्रथमपृथिवीनरकभेदः, नव ग्रैवेयकदेवभेदास्तथैव पञ्चानुत्तरदेवभेदाः, अपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगरूपाश्चत्वारो योगमार्गणाभेदाः, अपगतवेद-मनःपर्यवज्ञानभेदौ, असंयमवर्जाः षट् संयममार्गणाभेदा असंज्ञिमार्गणाभेदश्चेति।

तत्र मनुष्यत्रिकौ-दारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-देशसंयम-ऽसंज्ञिमार्गणावर्जशेषचतुस्त्रिंशतिमार्गणासु प्रत्येकं जीवानां स्वस्थान-गमनागमनस्थानानि तथा पारभविकोत्पत्तिस्थानानि च प्रत्येकं तिर्यक्प्रतरस्यासंख्येयभागमात्रवर्तीनि सन्ति, तथा सति मूलतोऽपि तेषामुत्कृष्टस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रा प्राप्यते, तत्पुनरुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां स्पर्शनायास्तु का वार्ता, अर्थाल्लोकाऽसंख्येयभागादधिकस्पर्शनाया असम्भव एव। न च संयमसामान्यमार्गणागतानां केवलिभगवतां केवलिसमुद्घातमपेक्ष्य सर्वलोकस्पर्शना लभ्येतेति वक्तुं युज्यते, स्थितिबन्धस्य प्रकृतत्वेन स्थितिबन्धस्वामिनां सम्भवन्मारणसमुद्घाताद्यपेक्षया लभ्यमानायाः स्पर्शनाया एवात्रोपयोगित्वात्, तस्यास्तु यथोक्तप्रमाणत्वाच्चेति। एवं प्रथमनरकभेदेऽप्युक्ताधिकस्पर्शना नाशङ्क्या, तस्या अपि प्राङ् निराकृतत्वादिति। मनुष्यौघमार्गणायां तु मारणसमुद्घातकाले नारकतयोत्पित्सूनामेव मार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवाल्लोकासंख्येयभागस्पर्शनोक्ता। एवं पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोर्योज्यम्, नवरं मानुषीमार्गणायां षष्ठनरकाभिमुखीनां मारणसमुद्घातमपेक्ष्य ज्ञेयम्।

ननु पर्याप्तमनुष्याणां सप्तमनरकमेव स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं पारभविकमुत्पत्तिस्थानम्, तथा च सति भवचरमान्तर्मुहूर्ते तदभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवः, नान्येषाम्। इत्थं हि षष्ठपृथिव्यभिमुखीनां स्त्रीणां पर्याप्तमनुष्यत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धः कथं भवेद्? **इति चेद्, उच्यते,** षष्ठनरकेऽपि सप्तमनरकवत् कृष्णलेश्याया एव सद्भावात् षष्ठसप्तमपृथिव्यभिमुखजीवानां स्थितिबन्धस्वामित्वविषये न कश्चिद्विशेषः, षष्ठपृथिव्यभिमुखानां नरकप्रायोग्यं बध्नतामपि कृष्णलेश्यत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्य सम्भवादिति भावः। एवं पञ्चमपृथिव्यभिमुखानां स्थितिबन्धस्वामित्वविषयेऽपि विज्ञेयम्, न पुनरन्येषु नरकभेदेष्वेवं सम्भवति, तदभिमुखानां कृष्णेतरलेश्यत्वात्। अत एव नरकगति-नरकानुपूर्वीप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टा स्थित्युदीरणाऽधस्तनपृथिवीत्रय एव प्रत्यग्रोत्पन्नानां नारकाणां दर्शिता, न त्वन्यपृथिवीगतानां नारकाणाम्। उक्तञ्च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

'णिरयगतिणिरयाणुपुव्वीणं तिरियो वा मणुयो वा उक्कोसं ठिर्ति बंधित्ता हेट्ठिल्लाणं तिण्हं पुढवीणं अण्णयराए उववण्णो तस्स पढममसमयाउ आढत्तं जाव आवलिया ताव उक्कोसा ठितीउदीरणा णिरयगतीए भवति। एवं णिरयाणुपुव्वीए वि। णवरि तिण्णि समया उक्कोसा ठितीउदीरणा होति।' इत्यादि।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु स्वस्थानगतानां करणापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धो जायते, न पुनर्लब्ध्यपर्याप्तानामपीतिकृत्वा लोकाऽसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना प्राप्यते, न पुनरधिका। कुतः ? करणापर्याप्तानां स्वप्रायोग्यपर्याप्तीनां समाप्तेरर्वागायुर्बन्धस्याऽसम्भवेन मारणसमुद्घातादेरप्यसम्भवादिति। असंज्ञिमार्गणायां तु प्रथमनरकभेदवद्भिावनीयम्, केवलं स्वस्थानोत्पत्तिस्थानानां वैपरीत्येनेति। वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां हि देवानां वर्तमानभवसत्कोत्पत्तिस्थानप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते। कुतः ? तदानीमपर्याप्तावस्थायां गमनागमनस्याऽभावात्, उत्पत्तिस्थानानि तु तेषां व्यन्तरदेवज्योतिष्कदेवानधिकृत्यापि प्रतरसंख्येयभागमात्रगतानि, शेषाणां तु ततः स्वल्पस्वल्पतराण्येव, अतः स्पर्शनाऽपि तेषां लोकासंख्यभागमात्रोक्ता। देशसंयममार्गणायामपि मिथ्यात्वाभिमुखानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धकानां देशविरतानां तदानीं मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायां मरणस्येव मारणसमुद्घातस्याप्यसम्भवात् प्रकृतस्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य लोकस्याऽसंख्येयभागप्रमाणैव दर्शितेति ॥३५६॥

तदेवमुक्ताऽऽयुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शना विभागतोऽपि। इदानीं तेषामेव सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनौघतः प्रागुक्तेतिकृत्वाऽऽदेशतो व्याचिकीर्षुर्लाघवार्थं कतिपयमार्गणास्वतिदेशद्वारेणैवाह—

> सव्वणिरय-सुर-विउवा-ऽहारदुग-अवेअ-णाणचउगेसुं।
> जइ-समइअ-छेएसुं परिहारम्मि सुहुमोहीसुं ॥३५७॥
> सुहलेस-सम्म-वेअग-खइ-उवसम-मीस-सासणेसु य।
> सत्तण्ह होज्ज फुसणा अगुरुठिईए गुरुठिइव्व ॥३५८॥

(प्रे०) "**सव्वणिरयसुरे**"त्यादि, नरकगत्योघ-प्रथमनरकादिषु सासादनान्तासु सार्धगाथया सङ्गृहीतासु द्विषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शना तत्तन्मार्गणासु प्राग्दर्शितसप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनावदेव भवतीति संक्षेपार्थः। **विस्तरार्थस्त्वेवम्**—नरकगत्योघभेदे, सप्तमनरकभेदे, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्परूपेषु चतुर्षु देवगतिभेदेषु, शुक्ललेश्यामार्गणाभेदे च प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धकादिजीवविशेषाननपेक्ष्य सामान्यतः सर्वनारकादिजीवैः कृता स्पर्शनाऽप्युत्कृष्टतस्त्रसनाडीसत्काः षट् चतुर्दशभागा एव भवति। प्रथमनरकभेदे, नवसु ग्रैवेयकविमानभेदेषु, पञ्चस्वनुत्तरविमानभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगेषु, तथाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोप-

स्थापनसंयम--परिहारविशुद्धिकसंयम--सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु च प्रत्येकं सा उत्कृष्टस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रा सम्पद्यते। द्वितीयनरकभेदे तु सा उत्कृष्टतोऽपि त्रसनाडीसत्क एकश्चतुर्दशभागः, तृतीयपृथिवीभेदे द्वौ चतुर्दशभागौ, चतुर्थपृथिवीभेदे त्रयश्चतुर्दशभागाः, पञ्चमपृथिवीभेदे चत्वारश्चतुर्दशभागाः, षष्ठपृथिवीभेदे पञ्च चतुर्दशभागा उत्कृष्टा स्पर्शना प्राप्यते। देवगत्योघमार्गणायामीशानान्तेषु पञ्चसु देवगत्युत्तरभेदेषु तेजोलेश्यामार्गणायां च प्रत्येकमुत्कृष्टा स्पर्शना त्रसनाड्या नव चतुर्दशभागा अवाप्यते। सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्सु देवगतिभेदेषु मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिक-मिश्रदृष्टिरूपेषु दशमार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं सा उत्कृष्टतोऽपि त्रसनाडीसत्का अष्ट चतुर्दशभागाः प्राप्यते। वैक्रियकाययोगमार्गणायां त्रयोदश चतुर्दशभागाः, एकरज्जुवृत्तविस्तृतत्रयोदशरज्जूच्चक्षेत्रसम्बन्धिनी स्पर्शनेत्यर्थः। सासादनमार्गणायां तु तादृश्यो द्वादश रज्जवः स्पर्शनोत्कृष्टतोऽपि लभ्यते। एषा तत्तन्मार्गणासु सामान्यतो लभ्यमानोत्कृष्टस्पर्शनैव द्विषष्टिमार्गणाभेदेष्वपि प्रत्येकं सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामप्युत्कृष्टतः प्राप्यते। कुतः ? सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तत्तन्मार्गणागतैः सर्वजीवैर्निर्वर्तनात्, प्रायशः सर्वावस्थायां भावाच्चेति।

ननु न केवलमेतेषु मार्गणाभेदेष्वेवैष प्रकारः, किन्तु सर्वेषु मार्गणाभेदेषु मार्गणागतजीवैर्बाहुल्येन सर्वावस्थायां सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव निर्वर्त्यते, अतः सर्वमार्गणाभेदेषु यावत्युत्कृष्टस्पर्शना लभ्यते तावती सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां द्रष्टव्या भवति, तत्कथमेतावत्सु मार्गणाभेदेष्वेव तथोच्यते ? **इति चेत्**, सत्यम्, यतोऽन्यमार्गणाभेदेष्वपि तथैव दर्शयिष्यते; नवरं लाघवार्थमेतेषूत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनायास्तुल्यवक्तव्यत्वात् तथैवातिदिष्टेति ॥३५७-३५८॥

उक्तशेषमार्गणाभेदेष्वेकगाथया प्रकृतस्पर्शनामाह—

देसम्मि पंच भागाऽणुक्कोसाए ठिईअ सत्तण्हं।
छिहिओ हवेज्ज सव्वो सेसासु फोसिओ लोगो ॥३५९॥

(प्रे०) "**देसम्मि**" इत्यादि, देशसंयममार्गणायां सप्तकर्मणामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाडीसत्का पञ्च चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्ति। उक्तशेषासु तु सप्तोत्तरशतमार्गणासु सर्वो लोकः स्पृष्टः, सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैरित्यनुवर्तते। इत्यक्षरार्थः। **भावार्थस्त्वयम्**—देशसंयममार्गणायांमारणसमुद्घातेन तिर्यग्भिः सहस्रारकल्पं यावत् स्पर्शनात् तिर्यग्लोकादारभ्य सहस्रारकल्पपर्यन्ता या त्रसनाड्यन्तर्वर्तिपञ्चरज्जुक्षेत्रप्रमाणा स्पर्शना सैवदेशविरतिमार्गणायामुत्कृष्टस्पर्शना, सैव प्राग्वदनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानामपीति पञ्च भागा उक्ताः। उक्तशेषमार्गणासु पुनः प्रत्येकं सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायतयोत्पित्सुभिर्जीवैर्मारणसमुद्घातेन सर्वो लोकः स्पृश्यते, तथा च सति तासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्पर्शनाऽपि सम्पूर्णलोकोऽवाप्यते, सैव पूर्ववदनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानामपीति।

शेषमार्गणास्विमाः—पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, तथैव चत्वारोऽपि मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, एकोनविंशतिरपीन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशदपि कायमार्गणासत्कभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञाना-ऽसंयम-चक्षु-रचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाश्चेति ।३५९।

तदेवमुक्ता सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्पर्शनाऽप्यादेशतो मार्गणास्थानेषु । साम्प्रतं **प्रागोघत** उक्तेतिकृत्वाऽऽयुर्विषयामपि तामादेशतो चिकथयिषुरादावुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामाह—

आउस्स बंधगेहिं देव-सहस्सारअंत-विउवेसुं ।
उक्कोसाअ ठिईए भागा आलुंखिआ अट्ठ ॥३६०॥

(प्रे०) "**आउस्स बंधगेहिं**" इत्यादि, देवगत्योघ-भवनपत्यादिषु सहस्रारकल्पान्तेषु द्वादशदेवगतिभेदेषु वैक्रियकाययोगे च प्रत्येकमायुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकैरष्टौ चतुर्दशभागाः "**आलुंखिआ**" त्ति 'स्पृश फास-फंस-फरिस-छिव-छिहा-ऽऽलुङ्खा-ऽऽलिहा' (सिद्धहेम० ८।४।१८२) इत्यनेन सूत्रेण स्पृशः 'आलुङ्ख' इत्यादेशः, ततः स्पृष्टा इत्यर्थः । **इयमत्रोपपत्तिः**—क्षेत्रप्ररूपणावत् स्पर्शनाप्ररूपणायामप्यायुषः स्थितिबन्धकानां मारणसमुद्घातप्राप्ता स्पर्शना नैव युज्यत इति प्रागेवाभिहितम् , तथा सति मारणसमुद्घातप्राप्यस्पर्शनां विहाय या स्वस्थान-गमनागमनक्षेत्रापेक्षया स्पर्शना प्राप्यते, तदपेक्षया चिन्त्यमाना प्रकृतत्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमष्टौ रज्जव उत्कृष्टस्पर्शना प्राप्यते । कथम् ? भवनपत्यादिदेवानामधस्तृतीयां पृथिवीं यावदुपरि चाच्युत-कल्पं यावद्गमनागमनयोरभिमतत्वात् तदानीमुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्यापि सम्भवाच्चेति ॥३६०॥

प्रकृतस्पर्शनामेवान्यत्राह—

छिविआ होज्ज छ भागा चउसुं देवेसु आणताईसुं ।
देसूणजगं पुट्ठं बायरअसमत्तवाउम्मि ॥३६१॥

(प्रे०) "**छिविआ होज्ज**" इत्यादि, प्रकृतैरायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाड्या षट् चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्ति । कियन्मार्गणाभेदेष्वित्याह—"**चउसु**" इत्यादि, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्परूपेषु चतुर्ष्वानतादिषु देवगतिसत्कमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । सुगमं चैतद् , यत आनतकल्पादि-सुराणामूर्ध्वमच्युतकल्पं यावद्गमनेऽप्यधस्तिर्यग्लोकात् परतोऽगमनात् सहस्रारान्तदेववन्नाष्टरज्जु-स्पर्शना, किन्तु षड्रज्जव एव । शेषं त्वनन्तरोक्तसहस्रारान्तदेवमार्गणास्थानवदेव भावनीयमिति । "**देसूणजगं पुट्ठ**"मिति, प्राग्वदायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैर्'देशोनम्'-असंख्येयतमेनैकभागेनोनं जगत् स्पृष्टं भवतीत्यर्थः, । कस्यां मार्गणायामित्याह—"**बायरअसमत्तवाउम्मि**" त्ति अपर्याप्त-

बादरवायुकायमार्गणायामित्यर्थः। कुतः ? स्वस्थानमपेक्ष्योत्कृष्टस्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वादिति ॥३६१॥

शेषमार्गणास्वेकया गाथयाऽधिकृतस्पर्शनामाह—

सव्वेसुं सुहुमेसुं लोगो सव्वो वि फासिओ होज्जा।
सेसासु होइ छिविओ असंखभागो उ लोगस्स ॥३६२॥

(प्रे०) "**सव्वेसुं**" इत्यादि, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेष्वेकेन्द्रियपृथिव्यादिसम्बन्धिष्वष्टादशसंख्याकेषु सर्वेष्वपि सूक्ष्मजीवभेदेषु, प्रकृतत्वादायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैर्लोकः सर्वोऽपि स्पृष्टः, न पुनरपर्याप्तबादरवायुकायवदेकदेशेनोन इत्यपिशब्दार्थः। कुतः ? सूक्ष्मजीवभेदानां प्रत्येकं स्वस्थानापेक्षयाऽपि सर्वलोकव्यापित्वादिति।

"**सेसासु**" ति अनन्तरोक्तदेवगत्योघमार्गणाया आरभ्य सर्वसूक्ष्मपर्यन्ताः षट्त्रिंशन्मार्गणास्त्यक्त्वा शेषासु यास्वायुर्बन्धो भवति तासु सप्तविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। **शेषमार्गणा नामत इमाः**—अष्टावपि नरकगतिभेदाः, पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, चत्वारोऽपि मनुष्यगतिभेदाः, नव ग्रैवेयकविमानभेदाः, पञ्चानुत्तरविमानभेदाः, इत्येवमेकत्रिंशद्गतिमार्गणासत्कभेदाः। एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाः, विकलेन्द्रियसत्का नव भेदाः, पञ्चेन्द्रियसत्कास्त्रयो भेदाः, इत्येवमिन्द्रियमार्गणासत्काः षोडश भेदाः। पृथिवीकायसत्का ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्ता इत्येवं चत्वारो भेदाः, एवमेवाप्कायसत्कचतुर्भेदाः, तेजस्कायसत्कचतुर्भेदाः, वायुकायसत्कास्तु बादरापर्याप्तवर्जास्त्रयो भेदाः, साधारणवनस्पतिकायसत्कास्तु चत्वारोऽपि, वनस्पतिकायौघमार्गणाभेदः, प्रत्येकवनस्पतिकायसत्कास्त्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयः, एवं त्रसकायसत्का अपि त्रयो भेदा इत्येवं षड्विंशतिः कायमार्गणासत्कभेदाः। पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा इत्येवं पञ्चदश योगमार्गणासत्कभेदाः, तथा त्रिवेद-चतुःकषाय-चतुर्ज्ञान-त्र्यज्ञान-सूक्ष्मसम्परायवर्जषट्संयमभेद-त्रिदर्शन-षल्लेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाश्चेति।

एतासु सप्तविंशत्युत्तरशतशेषमार्गणासु किमित्याह—"**होइ छिविओ**" इत्यादि, एतासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टानां जीवानां स्वस्थानक्षेत्रं लोकाऽसंख्येयभागमात्रमत उक्तनीत्या स्पर्शनापि तावन्मात्रा लोकासंख्येयभागमानैवेत्यर्थः। न चैकेन्द्रियादिकतिपयमार्गणासु आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटिवर्षप्रमाणः, स च तत्तन्मार्गणागतैः सूक्ष्मैकेन्द्रियैरपि निर्वर्तयितुं शक्यते, ते च सूक्ष्मैकेन्द्रियाः स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्यापि सर्वलोकव्यापिनस्तत्कथं तास्वेकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि प्रकृतस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रोच्यत **इत्याशङ्क्यम्**। यतोऽत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणः स्थितिबन्धोऽधिकृतः, स चोत्कृष्टाऽबाधासमेतोत्कृष्टनिषेककालप्रमाणः सन्नुत्कृष्टस्थितिकैरेकेन्द्रियादिजीवैरेव निर्वर्तयितुं शक्यते, देव-निरयभेदवर्जासु मार्गणासूत्कृष्टाबाधाया

उत्कृष्टभवस्थितिसत्त्वापेक्षत्वात् । एकेन्द्रियादिमार्गणासूत्कृष्टायुष्कजीवा न सूक्ष्मा अपर्याप्ता वा, किन्तु खरबादरपृथिवीकायादिरूपाः; तेषां चोत्कृष्टमपि स्वस्थानक्षेत्रं लोकासंख्येयभागमात्रमतः स्पर्शनाऽपि तावन्मात्रैवेत्युक्त्वा तथैवोच्यते ।

अत्र हि बादरापर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायामौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां च प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां देशोनलोकव्यापिनामपर्याप्तबादरवायुकायजीवानां समावेशादुत्कृष्टस्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रापेक्षयाऽपि देशोनलोकप्रमाणा सम्भवति । अन्यच्च पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाया-मप्यनया युक्त्या देशोनलोकमिता स्पर्शना वक्तव्या भवति । यद्यप्येवं तथापि उक्ता तु लोकाऽसंख्यभागमात्रा, सा तु पर्याप्तबादरपृथिवीकायमार्गणायां यथोत्कृष्टायुष्कजीवाः खरबादर-पृथिवीकायिका एव सन्ति, नान्ये, तथैव पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायामप्युत्कृष्टायुष्कजीवाः केचन् घनवातवलयादिगता एव स्युरिति सम्भावनया बोद्धव्या; अन्यथा सर्वत्रगतानां तेषां पर्याप्त-बादरवायुकायिकजीवानामप्युत्कृष्टायुष्मत्त्वे तेषामप्युत्कृष्टाबाधया लाभाद् उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्य विहितत्वाच्च बादरवायुकायानामुत्कृष्टस्वस्थानप्रमाणोत्कृष्टस्पर्शनाऽपि देशोनलोकः सम्पद्येत । तदत्र तन्त्रज्ञैरागमेक्षिकयाऽवलोक्याऽवधारणीयेयमिति ॥३६२॥

अथाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनां मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिपुरादौ तावद्यासु मार्गणासु सा स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा ता मार्गणाः सङ्गृह्याह—

तिरिये एगिंदिय-पणकाय-णिगोएसु सव्वसुहुमेसुं ।
कायु-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअण्णाण-अयतेसुं ॥३६३॥
अणयण-असुहतिलेसा-भवि-यियर-ऽऽहार-मिच्छ-अमणेमुं ।
सव्वो लोगो छुविओ आउस्स ठिईअ अगुरूए ॥३६४॥

(प्रे०) "**तिरिये एगिंदिये**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघभेदे, पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु पञ्च-कायसत्केष्वोघभेदेषु, "**निगोएसु**" त्ति साधारणवनस्पतिकायौघभेदे, सर्वेष्वष्टादशस्वपि सूक्ष्मै-केन्द्रियादिषु सूक्ष्मभेदेषु तथा "**काये**" त्यादि, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-चतुःकषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणाभेदेषु, तथा "**अणयणे**" त्यादि, अचक्षुर्दर्शना-ऽशुभकृष्णादिलेश्यात्रय-भव्य-तदितराभव्या-ऽऽहारि-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदेषु चेत्येतेषु षट्चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । एतेषु किमित्याह-"**सव्वो**"इत्यादि, एतेषु प्रत्येक-मायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां सूक्ष्मपृथिवीकायाद्यन्यतमानां सूक्ष्मजीवानां समावेशात् तेषां स्वस्था-नक्षेत्रापेक्षयाऽपि सर्वलोकव्यापित्वाच्चाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकैः सर्वो लोकः "**छुप्त**"-स्पृष्ट इत्युक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥३६३--३६४॥

साम्प्रतं यासु मार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टास्ताः सङ्गृह्णाह—

देव-ऽट्ठमंतसुर-दुपणिंदितस-पणमणवयण-विउवेसुं ।
थी-पुम-तिणाण-विब्भंगो-हि-णयण-तेउ-पम्हासुं ॥३६५॥
सम्मत्त-खइअ-वेअग-सासण-सण्णीसु अट्ठ छिप्पीअ ।

(प्रे०) "**देवट्ठमंते**"त्यादि, देवगत्योघः, सहस्रारकल्पान्ता अन्ये एकादश सुरगतिभेदाः, ओघ-पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदौ द्वौ त्रसकायमार्गणाभेदौ च, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगभेदश्चेत्येतेषु, तथा "**थीपुमे**"त्यादि, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽवधिदर्शन--चक्षुर्दर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणासु, तथा "**सम्मत्ते**"त्यादि, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सासादन-संज्ञिमार्गणासु चेत्येतासु द्विचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम्, "**अट्ठ छिप्पीअ**" त्ति अष्टौ रज्जवोऽस्पृश्यन्त, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैरिति प्रकरणाद्गम्यते। अत्र हि भवनपत्यादिदेवानामच्युतकल्पादारभ्याधस्तृतीयभूमिं यावद् यद् गमनागमनक्षेत्रं तदपेक्षयाऽष्टौ रज्जवः स्पर्शना प्राग्वदवसातव्या ।

न च पञ्चेन्द्रियत्वादिभावानां तृतीयभूमेः परतोऽधस्तननारकेष्वपि सत्त्वादधिकस्पर्शनाऽपि लभ्येतेति **वाच्यम्** । आयुर्बन्धकानां स्पर्शनायाः स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया गमनागमनक्षेत्रापेक्षया वा लाभात्, नारकाणां स्वस्थानक्षेत्र-गमनागमनक्षेत्रयोर्लोकासंख्येयभागमात्रत्वाच्च साऽष्टौ रज्जवः स्पर्शना न कयाचिदेकादिरज्ज्वाऽधिका लभ्यते, लोकासंख्येयभागस्पर्शना तु यत्र केवलं तावन्मात्रा तत्रैव प्रदर्श्यते, नान्यत्र, अन्यथा एषा देवानामष्टरज्जुस्पर्शनाऽपि देशोनैव वक्तव्या भवेत् । कुतः ? तिर्यक् स्वयम्भूरमणसमुद्रवेदिकायाः परभागेषु भवनपत्यादिदेवानामनुत्पादात् । उक्तं च **लोकप्रकाशतृतीयसर्गे** भवनपत्यादीनां तैजसशरीरस्योत्कृष्टावगाहनां भावयद्भिः **श्रीमद्विनयविजयविबुधवरैः**—

'तिर्यक् स्वयम्भूरमणापरान्तवेदिकावधि । ऊर्ध्वं तथेषत्प्राग्भारापृथिव्यूर्ध्वतलावधि ॥५८॥
एतावदन्त पृथिवीकायत्वेन समुद्भवात् । ततः परं च पृथिवीकायादीनामसम्भवात् ॥५९॥' **इति** ।

इत्थं हि लोकासंख्येयभागरूपेणैकदेशेन न्यूनताऽधिकता वाऽत्र ग्रन्थे विस्तरभयात्स्फुटं नोक्ता, सा तत्रस्तननरकाद्यपेक्षया लभ्यमानाऽलभ्यमाना वा यथासम्भवं स्वयमेव योज्या ।

ननु भवतु स्त्रीवेदवर्जासु देवगत्योघाद्येकचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनाऽष्टौ रज्जवः, **न पुनः** स्त्रीवेदमार्गणायां सा सङ्गतिमङ्गति, 'उववाओ देवीण कप्पदुगं जा परओ सहस्सारा । गमणागमणं नत्थी अच्चुअपरओ सुराणं पि' इति वचनेन भवनपत्यादिदेवानामूर्ध्वमच्युतकल्पं यावद् गमना-ऽऽगमनस्य विहितत्वेऽपि देवीनां तस्य सहस्रारकल्पात् परतः प्रतिषिद्धत्वाद् ? **इति चेत्**, सत्यम्, किन्तु न एवमेव, यतोऽन्यत्र देवीनां गमनमूर्ध्वमच्युतकल्पं यावदभिमतम्, तथा

चाभाणि कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपुङ्गवैर्योगशास्त्रस्वोपज्ञवृत्तौ—

'उत्पत्तिर्देवीनामा ईशानात्, गमनं च आ अच्युतात्।'

एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रेऽपि कथितम्, यत्—

"आ ऐशानात् समुत्पत्तिर्देवीनां गतिराच्युतात्" इति। इत्थं स्त्रीवेदमार्गणायामुक्ताष्टरज्जुस्पर्शना ना सङ्गतेति ॥३६५॥ अथान्यत्र प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

परिफोसिआ छ भागा चउआणतआइसुइलासुं ॥३६६॥

(प्रे०) "परिफोसिया" इत्यादि, परिस्पृष्टाः षड् 'भागाः'-रज्जवः। केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह–"चउआण०" त्यादि, चतुर्ष्वानतकल्पादिदेवगतिभेदेषु शुक्ललेश्यामार्गणायां चेत्यर्थः। सुगमं चैतत्, आनतादिदेवानां तिर्यग्लोकादधो नारकनिवासेष्वगमनात्, शुक्ललेश्यायामप्यानतादिदेवापेक्षयैवोत्कृष्टस्पर्शनाया लाभाच्चेति ॥

शेषमार्गणास्वेकयाऽऽर्ययाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकस्पर्शनामाह—

देसूणजगं बायरएगिंदियवाउसव्वभेएसुं।
सेसासु असंखयमो भागो लोगस्स छुहिओऽत्थि ॥३६७॥

(प्रे०) "देसूणजगं" इत्यादि, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु बादरैकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु बादरवायुकायभेदेषु च प्रत्येकं बादरपर्याप्त-बादरापर्याप्तान्यतरवायुकायजीवानां समावेशात् तेषां स्वस्थानतोऽपि देशोनलोकव्यापित्वाच्च प्रस्तुतस्पर्शनाऽपि "देसूणजगं" ति देशोनं जगल्लभ्यत इति। "सेसासु" त्ति तिर्यग्गत्योघाद्या अनन्तरोक्ता नवनवतिमार्गणा विहाय शेषासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकम् "असंखयमो" त्ति लोकस्याऽसंख्यतमो भागः स्पृष्टोऽस्ति, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैरिति गम्यते। **चतुःषष्टिशेषमार्गणास्तु नामत इमाः**—नरकौघ-सप्तनरकपृथिवीभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, नव ग्रैवेयकभेदाः, पञ्चानुत्तरभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदः, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो बादरपृथिवीकायभेदास्तथैव त्रयो बादराप्कायभेदास्त्रयो बादरतेजस्कायभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्त्रयो बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदास्तथाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेदः, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकछेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणाभेदा श्चेति। एतेषु चतुःषष्टिमार्गणाभेदेष्वन्यतममार्गणाभेदेऽपि स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया गमनागमनक्षेत्रापेक्षया वा लोकासंख्येयभागादधिकस्पर्शनाऽऽक्षेपकानां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तबादरवायुकायिकानामच्युतकल्पान्तानां देवानां वा प्रवेशाभावात् स्पर्शनाऽपि लोकासंख्येयाभागादधिका नैव सम्पद्यते, अतोऽन्यविकल्पानुपेक्ष्य मार्गणाप्रविष्टजीवानां स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया लोकासंख्येयभागमात्रा स्पर्शना दर्शितेति ॥३६७॥

तदेवमुक्ताऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां स्पर्शनौघत आदेशतश्च। साम्प्रतं जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकस्पर्शनाप्रदर्शनावसरः, तत्रादौ तावदोघतो व्याजिहीर्षुराह—

सत्तण्ह असंखंसो जगस्स हस्साअ फोसिओ सव्वो ।
लोगो अजहण्णाए आउस्स ठिईण दोण्हमवि ॥३६८॥

(प्रे०) "**सत्तण्हे**" त्यादि, पदानां यथायथं योजनात् सप्तानामायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां 'हस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकै'र्जगतः'- लोकस्य 'असंख्यांशः'-असंख्यतमैकभागः स्पृष्ट इत्यर्थः। कथम्? क्षपकश्रेणिगतैर्महर्षिभिरेव ज्ञानावरणादिसत्कौघिकजघन्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तनात् तेषां मारणसमुद्घातादेरसम्भवाच्चेति। "**सव्वो लोगो**" इत्यादि, सप्तप्रकृतीनामजघन्यायाः स्थितेरायुषो "**दोण्हमवि**" त्ति जघन्याऽजघन्योर्द्वयोरपि स्थित्योर्बन्धकैः प्रत्येकं सर्वो लोकः स्पृष्ट इत्यर्थः। तत्र सप्तकर्मणामजघन्यस्थितेर्बन्धकानां सर्वलोकस्पर्शना सुगमा। आयुषो जघन्याजघन्यन्यस्थित्योर्बन्धकाः सूक्ष्मैकेन्द्रिया अपि भवन्तीति तत्रापि सर्वलोकस्पर्शनैव लभ्यते, सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां स्वस्थानक्षेत्रतोऽपि सर्वलोकव्यापित्वादिति ॥३६८॥

अथादेशतो विभणिषुरादावायुर्वर्जसप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनामाह—

एगिंदिय-वाऊसु तेसिं सव्वेसु बायरेसु च ।
तिरि-युरलमीस-कम्मण-दुअणाण-ऽयत-कुलेसासु ॥३६९॥
अभविय-अमणेसु तहा मिच्छा-ऽणाहारगेसु देसूणो ।
लोगो जहण्णगाए ठिईअ सत्तण्ह छिप्पीअ ॥३७०॥

(प्रे०) "**एगिंदिये**"त्यादि, एकेन्द्रियौघ-वायुकायौघभेदौ तयोस्तथा "**तेसिं सव्वेसु बायरेसु**" ति तयोरेकेन्द्रियवायुकाययोर्ये बादरौघ-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्नाः सर्वे बादरभेदास्तेषु, बादरैकेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेषु बादरवायुकायौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेषु चेत्यर्थः। चकार उक्तानुक्तमार्गणाभेदानां समुच्चये। तत्रानुक्तमार्गणाभेदानाह–"**तिरियुरले**"त्यादिना, तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणाभेदेषु "**कुलेसासु**" ति दुर्गतिनिबन्धनत्वात् कुत्सितासु–अप्रशस्तासु कृष्ण-नील-कापोताख्यासु तिसृषु कुलेश्यामार्गणासु तथा "**अभविये**" त्यादि, अभव्यमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामनाहारिमार्गणायां चेत्यर्थः। एतेष्वेकविंशतिमार्गणाभेदेषु किमित्याह–"**देसूणो लोगो**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेर्देशोनो लोकोऽस्पृश्यत, बन्धकैरिति शेषः। एषा हि देशोनलोकस्पर्शना येषु मार्गणास्थानेषु पर्याप्तबादरवायुकायजीवाः प्रविष्टास्तेष्वपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाभेदवर्जेष्वेकान्नविंशतिमार्गणास्थानेषु पर्याप्तसंज्ञि-

पञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं यावन्निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डानां स्वस्थानस्थितानां वा पर्याप्तबादरवायुकायानामुत्कृष्टस्पर्शनापेक्षया भावनीया । अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाद्वयेऽपि तथैव, नवरं तथाविधानामेवापर्याप्तबादरवायुकायिकानामुत्कृष्टस्पर्शनापेक्षयेति विशेष इति ॥३६९-३७०॥

यत्र प्रस्तुतस्पर्शनाऽष्टौ रज्जवस्तत्र तथैवाह—

अट्ठ फरिसिआ भागा जोइसपहुडीसु अट्ठमंतेसु ।
देवेसु विउव-सामण-मीसेसु हुन्ति णायव्वं ॥३७१॥

(प्रे०) "अट्ठ फरिसिआ" इत्यादि, ज्योतिष्कप्रभृतिष्वष्टमसहस्रारकल्पान्तेषु "देवेसु" देवगतिमार्गणाभेदेषु, वैक्रियकाययोग-सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदेषु चाष्टौ भागाः स्पृष्टा भवन्तीति ज्ञातव्यम् । सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धकैरिति त्वनुवृत्त्या द्रष्टव्यम् । भावना तु प्राग्वत् सहस्रारकल्पान्तानां देवानां गमनागमनप्राप्तस्पर्शनापेक्षयैव कर्तव्या, न त्वीषत्प्राग्भारपृथिव्यामेकेन्द्रियतयोत्पित्सूनां समुद्घातकृतस्पर्शनापेक्षया, तदानीं स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानाभिमुखतया तेषामीशानान्तदेवानां जघन्यस्थितिबन्धाभावादिति ॥३७१॥

अन्यत्राधिकृतस्पर्शनामाह—

छ फरिसिआ खलु भागा चउसु देवेसु आणताईसु ।
सव्वेसु सुहुमेसु सव्वो होज्ज फुसिओ लोगो ॥३७२॥

(प्रे०) "छफरिसिआ" इत्यादि, "सव्वेसु सुहुमेसु" इत्यादि, च सुगमम् । केवलं षड्भागास्तिर्यग्लोकादारभ्याच्युतकल्पपर्यन्ता ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिन इति ॥३७२॥

उक्तशेषमार्गणास्वाधिकृतामाह—

सेसासु जहण्णाए असंखभागो जगस्स उ फरिसिओ ।

(प्रे०) "सेसासु जहण्णाए" इत्यादि, अनन्तरमेव "एगिंदियवाउसु" मित्यादिगाथाचतुष्कोक्तप्रस्तुतस्पर्शनाः पञ्चपञ्चाशन्मार्गणा विवर्ज्य शेषासु नरकगत्योघादिषु पञ्चदशोत्तरशतमार्गणासु "जहण्णाए" त्ति सप्तप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेः, बन्धकैरिति गम्यते । तैः किमित्याह-"असंखभागो" इत्यादि, सुगमम् । नामतस्तु शेषमार्गणा अमूः–अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, चत्वारोपि मनुष्यगतिभेदाः, देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तर-नवग्रैवेयक-पञ्चाऽनुत्तररूपाः सप्तदश देवगतिमार्गणाभेदाः, विकलेन्द्रियसत्का नव भेदाः, पञ्चेन्द्रियसत्कास्त्रयः, पृथिवीकाय-ऽप्काय-तेजस्काय-वनस्पतिकायरूपाश्चत्वार ओघमार्गणाभेदाः, तथा बादरपृथिव्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पति-बादरसाधारणवनस्पतिसत्का ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदाः,

साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणाभेदस्तथा त्रसत्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोग-सामान्यौ-दारिक-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, त्रयो वेदाः, अपगतवेदः, क्रोधादि-चतुःकषायाः, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि विभङ्गज्ञानम्, संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापन-परिहारवि-शुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-देशसंयमरूपाः षट् संयममार्गणभेदाः, चक्षु-रचक्षु-रवधिदर्शनानि, शुभलेश्यात्रयम्, भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति ।

तत्र प्रथमभूमिनरकभेदे सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यश्च्युत्वा नारक-तयोत्पद्यमाना अन्तरालगतिस्थाः भवप्रथमद्वितीयसमये वर्तमाना जीवा एव, तैश्च तिर्यग्लोकादष्टमरज्जु-प्रारम्भभागात् सप्तमरज्जुप्रान्तभागेऽऽगच्छद्भिर्लोकासंख्यभाग एव स्पृश्यते । एवमेव नरकौघमार्गणाभेदे-ऽपि द्रष्टव्यम्, देवौघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदेष्वपर्याप्तमनुष्यभेदे चैवमेव, नवरं तत्तन्मार्गणागतदेवादि-जीवापेक्षया । शेषद्वितीयपृथिव्यादिनरकभेदेषु तु मरणसमुद्घातकाले सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भवेऽपि लोकासंख्येयभागमात्रैव स्पर्शना लभ्यते । कुतः ? मनुष्यतयोत्पित्सूनामेव जघन्यस्थिति-बन्धसम्भवात् । कस्मादेवम् ? उच्यते, यथा मुमूर्षुजीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थाना-भिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धः सम्भवति, तथा जघन्यस्थितिबन्धोऽपि स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविको-त्पत्तिस्थानाभिमुखानामेव भवति । नारकाणां तु स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टं पारभविकमुत्पत्तिस्थानं मनुष्य-गतिरेव, अतो मारणसमुद्घातेऽपि तदभिमुखानामेव जघन्यस्थितिबन्धसम्भव इति ।

न च सप्तमभूमिनारकाणां स्वप्रायोग्यं सर्वोत्कृष्टमपि पारभविकोत्पत्तिस्थानं पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्त्वम्, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया तु स्वयम्भूरमणसमुद्रं यावदुत्पत्तिः सम्भवति, तथा च तदभिमुखानां जघन्यस्थितिबन्धसम्भवात्तेषां प्रकृतस्पर्शना षड्रज्जवोऽवाप्स्येतेति वाच्यम् । यतस्तदानीं तिर्यक्त्वाभि-मुखानां तेषां सम्यक्त्वाभावात् न जघन्यस्थितिबन्धः, किन्तु स्वस्थानगतानां सम्यग्दृष्टिनैरयि-काणामेव, अतः स्पर्शनाऽपि स्वस्थानक्षेत्राऽपेक्षया लोकासंख्येयभागमात्राऽवाप्यत इति । अपर्याप्त-भेदवर्जेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्केषु त्रिषु भेदेषु स्वस्थानस्थितानां भवनपतितया व्यन्तरतया वोत्पित्सूनां मारणसमुद्घातगतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव जघन्यस्थितिबन्धभावाल्लोकासंख्यभागमात्रोक्तेति ।

शेषमार्गणाभेदेषु कासुचित्पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु स्वस्थानस्थितानामेव कासुचित्पुनर-पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिषु लोकासंख्येयभागमात्रे स्वस्थानक्षेत्रे स्थितानां मारणसमुद्घाते मनुष्य-गत्यभिमुखानामेव वा सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिबन्धस्य सम्भवात् स्पर्शनापि तदनुसारेण लोकाऽसं-ख्येयभागमात्रोक्ता ।

ननु 'सत्तमिमहिनेरइए तेऊ वाऊ असंखनरतिरिए । मुत्तूण सेसजीवा उप्पज्जंति नरभवम्मि ।' इत्यादिवचनात् तेजस्कायिकानां मनुष्यतयोत्पादाभावेन मनुष्यत्वाभिमुखताऽपि न सम्भवति, न च तावन्मात्रम्, किन्तु तथा सति तेषां स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टमुत्पत्तिस्थानं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वम्, अतस्तदभिमुखानां मारणसमुद्घातकाले जघन्यस्थितिबन्धसम्भवे तेजस्कायौघमार्गणादावधिकाऽपि

स्पर्शना स्यात् ? **इति चेद्, न,** तेजस्कायौघादिषु चतुर्मार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धका बादरतेजस्कायिका एव, ते च स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य मनुष्यलोके एव वर्तन्ते, ततश्च मनुष्यलोकात्तिर्यग्लोक एव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पित्सूनां तेषां मारणसमुद्घातापेक्षयाऽपि लोकासंख्येयभागमात्रस्पर्शनैव लभ्यत इति ॥

तदेवमोघतः सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धकविषया स्पर्शनोक्ता । तेषामेवाऽजघन्यस्थितिबन्धस्तु सामान्यतः सर्वेषां जीवानां सर्वावस्थाभावीतिकृत्वा तद्बन्धकानां स्पर्शनाऽपि तत्तन्मार्गणानामुत्कृष्टस्थितिबन्धकस्पर्शनावल्लभ्यते, अतो तथैवाभिधित्सुरतिदेशेनाह—

सव्वासु अहस्साएऽणुक्कोसठिईव्व णायव्वा ॥३७३॥

(प्रे०) **"सव्वासु"** इत्यादि, निरगत्योघाद्यनाहारिपर्यन्तासु सोत्तरभेदासु प्रस्तुतग्रन्थेऽधिकृतासु सप्तत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानां स्पर्शना **"णुक्कोसठिइव्व णायव्व"** त्ति तासामेव सप्तानां प्राक्—

'सव्वणिरयसुर-विउवा-ऽऽहारदुग-अवेअ णाणचउगेसुं । जइ-समइअ-छेअसुं परिहारम्मि सुहुमो-हिसुं ॥३५७॥
सुहलेस-सम्म-वेअग-खइ-उवसम-मीस-सासणेसुं य । सत्तण्ह होज्ज अगुरुठिईए गुरुठिइव्व ॥३५८॥
देसम्मि पचभागाऽणुक्कोसाए ठिईअ सत्तण्ह । छिहिओ हवेज्ज सव्वो सेसासु फासिओ लोगो ॥३५९॥'

इतिगाथात्रयेणाभिहिताऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनावज्ज्ञातव्या ।

तद्यथा–निरयगत्योघे, सप्तमभूमिनिरयभेदे, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्पेषु शुक्लेश्यायामित्येतासु सप्तमार्गणासु त्रसनाडिसत्काः षट् चतुर्दशभागाः । प्रथमपृथिवीनिरयभेदे, नवसु ग्रैवेयकभेदेषु, पञ्चस्वनुत्तरविमानभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगेषु तथाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु चेत्येतासु पञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना । द्वितीयपृथिवीनिरयभेदे तु त्रसनाड्या एकश्चतुर्दशभागः, तृतीयपृथिवीनिरयभेदे द्वौ चतुर्दशभागौ, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदे त्रयश्चतुर्दशभागाः, पञ्चमपृथिवीनिरयभेदे तु चत्वारश्चतुर्दशभागाः, षष्ठपृथिवीनरकभेदे पुनः पञ्च चतुर्दशभागा उत्कृष्टा स्पर्शना प्राप्यते । देवगत्योघभेदे,ईशानान्तेषु भवनपत्यादिषु पञ्चभेदेषु, तेजोलेश्यायां च प्रत्येकं तादृशा नव भागाः । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्सु देवगतिभेदेषु तथा मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिरूपेषु दशमार्गणाभेदेषु प्रत्येकं त्रसनाडीसत्का अष्टौ चतुर्दशभागाः स्पर्शना भवति । वैक्रियकाययोगे तु तादृशास्त्रयोदशभागाः स्पर्शना, देशसंयममार्गणायां पञ्च भागाः, सासादनमार्गणायां पुनस्तादृशा द्वादश भागाः । सर्वेषु तिर्यग्गतिभेदेषु, सर्वेषु मनुष्यगतिभेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, तथैव सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पञ्चेन्द्रियभेदेषु, तथैव सर्वेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसत्केषु भेदेषु, त्रसकायसत्केषु सर्वभेदेषु , एवमेव पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काय-

योगसामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणास्वित्येतासु सप्ताभ्यधिकशतमार्गणासु तु सर्वलोकस्पर्शनेति । अत्र प्रत्येकं मार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनोपपत्तिरप्यनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनावत् तत्तन्निरयगत्योघादिमार्गणानां नानाजीवाश्रितायाः स्पर्शनायास्तथात्वात्तथा द्रष्टव्या, सप्ताना-मनुत्कृष्टस्थितिबन्धवत् सप्तानामजघन्यस्थितिबन्धस्यापि प्रायशः सर्वावस्थायां सर्वजीवानां च सम्भवादिति ।

तदेवं मार्गणास्थानेष्वपि दर्शिता सप्तकर्मणां जघन्याजघन्यस्थितिबन्धकानां स्पर्शना; केवलमायु-कर्मणः साऽवशिष्टाऽतस्तामेव दिदर्शयिषुरादौ जघन्यस्थितिबन्धकविषयामाह—

तिरिये एगिंदिय-पणकाय-णिगोएसु सव्वसुहमेसुं ।
काय-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअणाण-अयतेसुं ॥३७४॥
अणयण-असुहतिलेसा-भवि-यियरा-ऽऽहार-मिच्छ-अमणेसुं
आउस्स जहण्णाए ठिईअ छुहिअं जगं सव्वं ॥३७५॥

(प्रे०) "तिरिये एगिंदिये" त्यादि, तिर्यग्गत्योघाद्यसंज्ञिपर्यन्तासु सार्धगाथया सङ्गृहीतासु पट्चत्वारिंशन्मार्गणास्वायुषो जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टमिति गाथाद्वय-पिण्डार्थः । अक्षरगमनिकास्तु प्राग्वत्सुगमा, केवलं "दुअणाण" त्ति मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमा-र्गणयोः "भवियियर" त्ति भव्यमार्गणा तथा भव्येतरा-ऽभव्यमार्गणा तयोरित्यर्थः । सर्वलोक-स्पर्शनाया भावना त्वेतासु प्रत्येकं विद्यमानानां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामप्यायुषः जघन्यस्थितिबन्ध-सम्भवात् तेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापित्वाच्चेति ॥३७४-३७५॥

अन्यमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

छिविआऽट्ठ देव-अट्ठमअंतसुर-विउव-तिणाण-ओहीसुं ।
तेउ-पउम-सम्म-खइअ-वेअग-सासायणेसुं च ॥३७६॥

(प्रे) "छिविआट्ठ देवे" त्यादि, देवगत्योघा-ऽष्टमसहस्रारकल्पान्तकादशसुरगतिभेद-वैक्रिय-काययोग-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणासु, तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदक-सासादनेषु चेत्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु "छिविआट्ठ" त्ति त्रसनाड्यन्तर्गता अष्टौ रज्जवः स्पृष्टा इत्यर्थः । आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकैरिति प्रक्रमाद्गम्यते । मारणसमुद्घाते आयुषोऽ-बन्धादेषाऽष्टरज्जुस्पर्शना भवनपत्यादिदेवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया यथायथं भावनीयेति ॥३७६॥

अन्यमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

होज्ज छविआ छ भागा आणतपहुडिचउदेव-सुइलासु ।
देसूणजगं सव्वेसु बायरेगिंदिवाऊसु ॥३७७॥

(प्रे०) "**होज्ज छविआ**" इत्यादि, आनतकल्पप्रभृतिष्वच्युतकल्पान्तेषु चतुर्षु देवगतिमार्गणाभेदेषु शुक्ललेश्यामार्गणाभेदे चाऽऽयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाडीसत्काः 'षड् भागाः'-षड् रज्जवः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । इयं हि स्पर्शना तेषां देवानां गमनागमनक्षेत्रप्राधान्याद्विज्ञेयेति। "**देसूणजगमि**" ति तत्र "**सव्वेसु**" त्ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु बादरैकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु बादरवायुकायभेदेषु चेत्येतेषु षट्सु मार्गणाभेदेषु प्रस्तुतबन्धकैर्देशोनं जगत् स्पृष्टमित्यर्थः । अत्रापि स्पर्शना तत्तन्मार्गणागतानां पर्याप्तबादरवायुकायानामपर्याप्तबादरवायुकायानां वा स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्यादवगन्तव्या । इति ॥३७७॥ शेषमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

सेसासु जहण्णाए जगस्स होज्ज छिहिओ असंखंसो ।

(प्रे०) "**सेसासु**"त्ति अनन्तरमेव गाथाचतुष्के "तिरिये एगिंदिये पणकाये"त्यादिनाभिहिता अशीतिमार्गणाः संत्यज्य शेषासु नरकगत्योघादित्र्यशीतिमार्गणासु प्रत्येकं "**जहण्णाए**" त्ति आयुषो जघन्यायाः स्थितेः, बन्धकैरितिशेषः । तैः किमित्याह-"**जगस्स**" इत्यादि, 'जगतः'-लोकस्या'ऽसंख्यांशः'-असंख्याततमैकभागः स्पृष्टो भवति । ताश्च **शेषमार्गणा इमाः**—अष्टौ नरकभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिमार्गणाभेदा, नव ग्रैवेयकदेवभेदाः, पञ्चानुत्तरविमानभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, ओघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो बादरपृथिवीकायभेदास्तथैव त्रयो बादराप्कायभेदास्त्रयस्तेजस्कायभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्त्रयो बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदास्त्रयस्त्रसकायभेदास्तथा पञ्च मनोयोगभेदाः पञ्च वचोयोगभेदाः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदौ, स्त्रीवेद-पुंवेद-मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयम-चक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ।

उपपत्तिस्त्वेवम्-आयुर्बन्धस्य मरणसमुद्घातात्प्रागेव भावादायुर्बन्धकानां स्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया गमनागमनकृतस्पर्शनापेक्षया वा प्राप्यते, न तु मारणसमुद्घातापेक्षयेति प्राग्दर्शितमेव । अत्र शेषमार्गणास्वन्यतमस्यामपि मार्गणायां स्वस्थानक्षेत्रादधिका नास्ति काचिद् गमनागमनकृता विशिष्टस्पर्शना, अच्युतान्तानां देवानामेव गमनागमनकृतविशिष्टस्पर्शनाया अभिहितत्वात् । ते च प्रकृतशेषनिरयगत्योघाद्यन्यतमस्यामपि मार्गणायां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितिकायुषः स्वामिनो न सन्ति । तदभावे त्ववशिष्टा स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्ता स्पर्शना, सा त्वेतासु प्रत्येकं लोकासंख्येयभागमात्रा, अत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धकानां स्पर्शनाऽपि तथैवोक्तेति ॥

तदेवमायुषो जघन्यस्थितिबन्धविषयाऽपि स्पर्शना सर्वासु मार्गणास्वभिहिता । साम्प्रतमवशिष्टामायुषोऽजघन्यस्थितिबन्धविषयां तां व्याजिहीर्षुर्गाथार्धेनातिदिशति—

आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रम्

स्पर्शना:-	ओघ ३ / १३ रज्जवः	सर्वलोक	रज्जु० १२	रज्जु० ११	रज्जु० ९	रज्जु० ८	रज्जु० ६	रज्जु० ५	रज्जु० ४	रज्जु० ३	रज्जु० २	रज्जु० १	लोकासंख्यभाग:
गति०		अपर्याप्त पञ्चेन्द्रि-यतिर्यग् मनुष्यौ २			देवौघ० ईशानान्त-देवभेदाश्च ८	सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेव० ६	★ ९	षष्ठ-नरक० तिरश्ची २	पञ्चम-नरक० १	चतुर्थ-नरक० १	तृतीय-नरक० १	द्वितीय-नरक० १	+ १८
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २	शेष० १७											
काय०	त्रसौघ-तत्पर्याप्त-वर्जी० २	शेष० ३७											
योग०	सर्वमनोवचो० काययोगौ १० वैक्रियिक० १०		कार्मण १				औदारिक० १						शेष० ४
वेद०	पुंवेद० १		स्त्री० १				नपुं० १						अवेद० १
कषाय०	सर्व० ४												
ज्ञान०	अज्ञानत्रिक० ३					मत्यादि ३							मनःप० १
संयम०	असंयम० १												शेष० ६
दर्शन०	चक्षुरचक्षु० २					अवधि १							
लेश्या०	कृष्ण० △ १			नील △ १	कापोत० तेजो० १, १	पद्म १	शुक्ल १						
भव्य०	सर्व० २												
सम्य०	मिथ्यात्व० १		सासा० १			शेष० ४							
संज्ञी०	संज्ञी० १												असं० १
आहा०	आहारक० १		अना० १										
सर्वमार्गणा -	३३	५६	४	१	८	१६	१२	२	१	१	१	१	३१
गाथाङ्का -	३५६	३५२	३५१	३५६	३५१ ३५६	३५३	३४९ ३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५६

★ निरयौघ-सप्तमनिरय-तिर्यगौघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगौघ-तत्पर्याप्ता-ऽऽनतादिदेवभेदचतुष्टयरूपा नव भेदा ।

+ प्रथमनिरय-ग्रैवेयकनवका-ऽनुत्तरपञ्चक-मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदादष्टादश भेदा ।

△ मतान्तरे कृष्णादित्रिलेश्यासु यथाक्रमं षट् , चतस्र , द्वे रज्जु० । (गाथा-३५६)

आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्या-ऽनुत्कृष्टत्रिविधस्थितिबन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रम्

	जघन्यस्थितेर्बन्धकानाम्					अजघन्या-ऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानाम्		
स्पर्शना-	देशोनलोकः	अष्टौ रज्जवः	षड्रज्जवः	सर्वलोकः	ओघवत् लोकाऽसंख्यभागः	उत्कृष्टस्थितिबन्धकानां स्पर्शनावद्	पञ्चरज्जु	सर्वलोकः
गति०	तिर्यगोघ० १	ज्योतिषकादि-सहस्रारान्त-देवभेद० १	आनताद्याश्चतु-र्देवभेद० ४		शेष० ३३	सर्वनिरयदेव-भेदाः ३८		सर्वतिर्यग्-मनुष्यभेद० ९
इन्द्रिय०	ओघ-सर्व-बादरभेद० ४			सर्वसूक्ष्मैके-न्द्रियभेद० ३	शेष० १२			सर्व० १९
काय०	ओघ-सर्व-बादरवायु-कायभेद० ८			पृथिव्यादि सर्वसूक्ष्म० १५	शेष० २३			सर्व० ४२
योग०	औदारिक-मिश्र कार्मण० २	वैक्रिय० १			शेष० १५	वैक्रियाऽऽहा-रकद्विके, ४		शेष० १४
वेद०					सर्व० ४	अवेद० १		त्रिवेद० ३
कषाय०					" ४			सर्व० ४
ज्ञान०	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २				शेष० ५	मत्यादि-ज्ञान० ६		अज्ञान० ३
संयम०	असं० १				शेष० ६	असंयम देश-संयम० ५	देश०	असंयम० १
दर्शन०					सर्व० ३	अवधि० १		शेष० २
लेश्या०	अशुभ० ३				शुभ० ३	शुभ० ३		अशुभ० ३
भव्य०	अभ० १				भव्य० १			सर्व० २
सम्यक्त्व	मिथ्यात्व० १	सासादन० मिश्र० २			शेष० ४	मिथ्यात्ववर्ज-शेषभेद० ६		मिथ्यात्व १
संज्ञी०	असं० १				संज्ञी० १			सर्व० २
आहारी०	अना० १				आहा० १			सर्व० २
सर्वमार्गणा —	२५	१२	४	१८	११५	६२	१	१०७
गाथाङ्का —	३६९-३७०	३७१	३७२	३७२	३७३			

आयुष उत्कृष्ट-जघन्यस्थित्योर्बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकम्

ओघतः—उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां लोकाऽसंख्यभाग । जघन्यस्थितेर्बन्धकानां सर्वलोक ।

आदेशतः —	उत्कृष्टस्थितेर्बंधकानाम्					जघन्यस्थितेर्बन्धकानाम्	
स्पर्शना -	अष्टौ रज्जव	षड्रज्जव	देशोनलोक	सर्वलोक	लोकस्याऽसंख्यभाग०	लोकाऽसंख्यभाग०	अनुत्कृष्टस्थितिबन्धकस्पर्शनावत्
गति०	देवौघ० भवनपत्यादिसहस्रारान्ताश्च १२	आनत-प्राणताऽऽरणा-ऽच्युत-देवभेदा ४			उत्कृष्टोदश-वर्जा निरयौघादिभेदाः ३१		सर्व० ४७
इन्द्रिय०				सर्वसूक्ष्मैकेन्द्रिय० ३	सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदत्रयवर्जा शेष। १६	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त २	शेष० १७
काय०			अपर्याप्तबादर-वायुकाय० १	स०सूक्ष्मपृथ्व्यादिभेद० १५	शेष० २६	त्रसौघ-तत्पर्याप्त० २	शेष० ४०
योग०	वैक्रिय० १				शेष० १५	सर्वमनोवचो० १०	शेष० ६
वेद०					सर्व० ३	स्त्री०पु० २	नपु० १
कषाय०					सर्व० ४		सर्व० ४
ज्ञान०					सर्व० ७	विभङ्ग० १	शेष० ६
संयम					सर्व० ६		सर्व० ६
दर्शन०					सर्व० ३	चक्षु० १	अचक्षु०अवधि० २
लेश्या०					सर्व० ६		सर्व० ६
भव्य०					सर्व० २		सर्व० २
सम्य०					सर्व० ५		सर्व० ५
सञ्ज्ञी०					सर्व० २	सञ्ज्ञी० १	असञ्ज्ञी० १
आहारी०					आहारी० १		आहारी० १
सर्वमार्गणा.-	१६	४	१	१८	१२७	१९	१४४
गाथाङ्काः-	३६०	३६१	३६१	३६२	३६२	३७८	३७४ ...३७८

आयुषोऽजघन्याऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकम्

अजघन्याऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां प्रत्येकम् (गाथा—३७८)

स्पर्शनाः-	ओघवत् सर्वलोक	अष्टौ रज्जवः	षड्रज्जव	देशोनलोक	लोका-ऽसंख्य-भाग
गति०	तिर्यग्गत्योघ० १	देवौघ० भवनपत्यादिसहस्रारान्ताश्च० १२	आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतदेवभेदा, ४		शेषनिरयगत्योघादि० ३०
इन्द्रिय०	ओघ-सर्वसूक्ष्मैकेन्द्रियभेद० ४	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तौ, २		सर्वबादरैकेन्द्रियभेद० ३	सर्वविकलाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १०
काय०	ओघ सर्वसूक्ष्मभेदाद्विंशति पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारण-वनभेदा वनौघश्च २१	त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २		ओघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदास्त्रयो बादरवायुकायभेद० ३	उक्तशेषा १६
योग०	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्रौ च० ३	सर्वमनोवचो० वैक्रियश्च ११			[illegible]-तन्मिश्रौ, २
वेद०	नपुंसक० १	स्त्री-पुरुषवेदौ, २			
कषाय०	सर्व० ४				
ज्ञान०	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २	मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि विभङ्ग० ४			मनःपर्यव० १
संयम०	असंयम० १				शेषभेद० ५
दर्शन०	अचक्षु० १	चक्षु० अवधि० २			
लेश्या०	अशुभकृष्णादि० ३	तेजः-पद्म० २	शुक्ल० १		
भव्य०	सर्व० २				
सम्य०	मिथ्यात्व० १	सम्यक्त्वौघ क्षायिक क्षायोपशमिक० सासादन० ४			
संज्ञी०	असंज्ञी० १	[illegible] १			-
आहारी०	आहारक० १				
सर्वमार्गणा –	४६	४२	५	६	६४
गाथाङ्का –	३६२-३६३-३६४	३६५-३६६	३६६	३६७	३६७

सव्वासु अहस्साए फुसणा होज्ज अगुरुठिइव्व ॥३७८॥

(प्रे०) **"सव्वासु"**त्ति त्रिषष्ट्यधिकशतसंख्याकासु सर्वास्वपि मार्गणासु प्रकृतस्याऽऽयुषो **"अहस्साए"**त्ति 'अह्रस्वायाः'-अजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकस्पर्शना**"अगुरुठिइव्व"**त्ति तत्तन्मार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां 'तिरिये एगगिदिय-पणकाय-णिगोअेसु सव्वसुहुमेसुं । कायु-रलदुग-णपु-मचउकसाय-दुअण्णाण-अयतेसुं ॥३६३॥'इत्यादिना प्रागभिहिता या स्पर्शना तद्वद् भवेदिति । एषा हि समुद्घातमनपेक्ष्य स्वस्थानक्षेत्र-गमनागमनक्षेत्रमात्रापेक्षया लभ्यमानया तत्तन्मार्गणामत्कोत्कृष्टस्पर्शनया तुल्या भवति,आयुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धस्याप्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धवत्सर्वजीवानां भावादिति ।३७८।

तदेवं प्ररूपिताऽऽयुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकानामपि स्पर्शना । तस्यां च प्ररूपितायां गतमेकादशं स्पर्शनाद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे
द्वितीयाधिकारे एकादश नानाजीवा-
ऽऽश्रयस्पर्शनाद्वार समाप्तम ॥

॥ अथ द्वादशं कालद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रये कालद्वारे मूलकर्मणामुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं कालं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्त्योर्बन्धकानां तमोघतः प्रतिपादयति—

सत्तण्ह बंधगाणं समयो हस्सो ठिईअ जेट्ठाए ।
पल्लाऽसंखियभागो परमो अगुरूअ सव्वद्धा ॥३७९॥

(प्रे०) **"सत्तण्ह बंधगाण"** मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं बन्धकानां समयो 'ह्रस्वः'-जघन्यः, काल इति गम्यते । सप्तानां कस्याः स्थितेर्बन्धकानामित्याह–**"ठिईअ जेट्ठाए"** त्ति सप्तानां 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेरित्यर्थः । **"पल्लाऽसंखियभागो परमो"** त्ति तस्या एवानन्तरोक्तायाः सप्तानां ज्येष्ठस्थितेर्बन्धकानां 'परमः'-उत्कृष्टः कालः **"पल्लाऽसंखियभागो"** त्ति पदैकदेशेनापि पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् पल्योपमासंख्येयभाग इत्यर्थः । तत्र

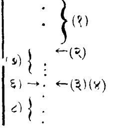
सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां समयमात्रो जघन्यकालस्तु प्रागुक्तैकजीवाश्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धकालवदेवावगन्तव्यः । अयम्भावः-ओघत आदेशतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र तत्तदुत्कृष्टादिस्थितिबन्धार्हा जीवा असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति तत्र मार्गणादावुत्कृष्टाया जघन्यायाश्च स्थितेर्बन्धकानां जघन्यकालः क्रमेणोत्कृष्टजघन्यस्थित्योरेकजीवाश्रयबन्धकालतुल्यः प्राप्यते, न पुनरधिकः । कुतः ? एकजीवाश्रयस्य तत्तत्स्थितिबन्धजघन्यकालस्यापि तत्तदुत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्बन्धकीभूतनानाजीवाश्रयजघन्यकालतया प्राप्तेः सम्भवात् ।

ननु एकजीवाश्रयस्य, अर्थादेकेन जीवेन समयमात्रं निर्वर्तितस्योत्कृष्टादितत्तत्स्थितिबन्धस्य जघन्यकालो यदि नानाजीवाश्रितोत्कृष्टादितत्तत्स्थितिबन्धजघन्यबन्धकालतया प्राप्येत, तदा को नाम विशेषो येन पूर्वोक्त एकजीवाश्रयः कालः, प्रस्तुतस्तु नानाजीवाश्रयकालः ? इति चेद्, अस्ति विशेषः, यतो नानाजीवाश्रयः काल एकजीवाश्रयकालात् स्तोको नैव भवति । न च मा भवतु स्तोकः, तुल्यप्राप्तावपि कथं नामैकजीवाश्रय-नानाजीवाश्रयबन्धकालयोः पार्थक्यमिति वाच्यम् । यतो जघन्यपदे तुल्योऽप्यसौ नानाजीवाश्रयः काल उत्कृष्टपदे एकजीवाश्रयकालापेक्षया दीर्घातिदीर्घः प्राप्यते । इत्थं चोत्कृष्टपदे एकजीवमाश्रित्य प्राप्यमाणकालापेक्षया नानाजीवाश्रितकालस्याऽधिकप्रमाणप्राप्तेर्विद्यते एकजीवाश्रय-नानाजीवाश्रयकालयोर्विशेषः ।

न च नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो युगपदनेकबन्धकसम्बन्धी गृह्यताम्, न त्वेकजीवसम्बन्धी, तेनोत्कृष्टपदवज्जघन्यपदेऽप्यमावेकजीवाश्रयकालापेक्षयाऽधिकः सम्पद्येत, ततश्चोत्कृष्टपद इव जघन्यपदेऽप्यधिककालप्राप्तिरूपो विशेषोऽवाप्येतेति वाच्यम् । जघन्यपदे युगपदनेकबन्धकसम्बन्धिकालग्रहणद्वारेणाधिककालप्राप्तिरूपविशेषाधानप्रयासस्याऽज्ञानमूलकतयाऽऽयासमात्रत्वात् । कथम् ? इति चेद्, युगपन्नानाबन्धकसम्बन्धिकालस्यैव नानाबन्धकाश्रयकालतया ग्रहणे प्रस्तुतैकजीवाश्रयकालापेक्षयाऽपि तस्य युगपन्नानाबन्धकसम्बन्धिकालस्य जघन्यपदे स्तोकमात्रस्य प्राप्तेः । तथाहि-निरयगत्योघे आयुर्बन्धकाः कदाचित् प्राप्यन्ते, कदाचिन्न, प्राग् भङ्गविचयेऽष्टभङ्गानां कथितत्वादुत्तरत्र नानाजीवाश्रयान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । अतो यदा नासन् केऽप्यायुर्बन्धकास्तादृशकालादूर्ध्वं केनाऽप्येकेन नारकजीवेनानुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धः प्रारब्धः, न पुनरन्येन, स चानुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्तस्यान्तर्मुहूर्तं यावन्नियमतः प्रवर्तते, नवरमसावन्तर्मुहूर्तकालो भवन्निर्दिष्टविवक्षया नानाबन्धकाश्रयकालतयाऽङ्गीकर्तुं न युज्यते, तस्य एकबन्धकसम्बन्धित्वात् । यदा चासौ नारकजीवस्तस्या आयुर्बन्धाद्धायाश्चरमे समये वर्तते तदा केनाप्यन्येन नारकजीवेनानुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धः प्रारब्धः, अतस्तदानीमनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकसद्भावात् स समयमात्रः कालो भवदुक्तविवक्षया नानाबन्धकाश्रयकालतयाऽङ्गीकर्तुं युज्यते, न तु तदुत्तरवर्तिसमया अपि, तदानीमुत्तरसमयेषु पूर्वप्रारब्धायुर्बन्धेन जीवेनायुर्बन्धस्य निष्ठापितत्वेन, अन्येन केनाऽप्यनुत्कृष्ट-

स्थितिकायुर्बन्धस्यानारब्धत्वेन चैकायुर्बन्धकसम्बन्धित्वात्, तस्य चैकबन्धकसम्बन्धिकालस्य तु भवदुक्तविवक्षया नानाजीवाश्रयकालतयाऽयुज्यमानत्वात्। इत्थं हि नानाबन्धककाल इत्यत्र नानापदवाच्य तया युगपत्स्थितिबन्धनिर्वर्तकानामनेकानामेव ग्रहणविवक्षया निरयगत्योघादिमार्गणासु पूर्वोत्तरसमये एकैकस्य,मध्ये एकस्मिन् समये तु निष्ठापक-प्रारम्भकयोर्युगपत्प्राप्तेः सम्भवाद् व्यत्यासेनैकजीवाश्रितकालापेक्षया स्तोकः समयमात्रोऽपि नानाजीवाश्रयकालः प्राप्यते । अत्र **स्थापना**—

एकजीवाश्रयकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वेऽपि नानाजीवाश्रयस्य समयमात्रसम्भव इयं स्थापना ।



(१) आयुर्बन्धकानां सर्वथाऽभावकालः, (२) अत्रैकेन जीवेनाऽनुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्ध प्रारब्धः, (३) तस्याऽऽयुर्बन्धस्य निष्ठासमयः, (४) तस्य निष्ठासमयं एवाऽन्येनाऽनुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्ध प्रारब्धः,(५) तस्याऽऽयुर्बन्धनिष्ठासमयः,(६) अत्र बन्धकद्वयसद्भावादयमेक समयो नानाबन्धकसम्बन्ध्यायुरनुत्कृष्टस्थितिबन्धकालतया प्राप्तः, तस्मात्पूर्वोत्तराः (७-८) समया एकैकबन्धकसम्बन्धिन एव इति ।

इत्थमेव मार्गणान्तरेष्वपि ज्ञेयम् । न च युगपद्नानाजीवसम्बन्धिकालविवक्षया मा भवतु जघन्यपदे एकजीवाश्रयजघन्यकालान्नानाजीवाश्रयकालोऽधिकः, स्तोकप्राप्तावपि उत्कृष्टपद इव जघन्यपदेऽप्येकजीवाश्रयकालापेक्षया नानाजीवाश्रयकाले विशेषस्तु लभ्येतेति वाच्यम् । निरयगत्योघादिमार्गणासु 'अगुरूअ मुहुत्तनो आउस्सेमेव सव्वासु' (गाथा-१४२) इत्यनेन प्रागुक्तैकजीवाश्रयस्याऽऽयुष्काऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यकालवन्नानाजीवाश्रयस्याऽपि तस्याऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यकालस्य 'सेसासु भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो'(गाथा-३९८) इत्यनेनाऽन्तर्मुहूर्तमात्रस्यैव वक्ष्यमाणतया तादृशविवक्षायाऽनधिकृतत्वात् ।

इत्थञ्च नानाजीवाश्रयकालोऽत्र न युगपल्लभ्यमाननानाजीवसम्बन्ध्येव, किन्तु मार्गणागतविवक्षितस्थितिबन्धकसर्वजीवराशिमपेक्ष्य नैरन्तर्येण विवक्षितस्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवा यावन्तो लभ्यन्ते, विवक्षितस्थितिबन्धकतावत्सर्वजीवसम्बन्ध्येव, स्याद्यदि विवक्षितस्थितेः निरन्तरसर्वबन्धकतया एको जीवः, अनेके वा । तत्र विवक्षितस्थितिबन्धस्तु कुत्रचिदेकजीवस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावद्बन्धप्रायोग्योऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितजीवानां बन्धप्रायोग्यतयाऽन्यान्यजीवैर्नैरन्तर्येण प्रवर्तमानः सर्वाकालमवाप्यते । कुत्रचिन्मार्गणादौ पुनरुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावद्बन्धप्रायोग्योऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकानामसंख्येयानां संख्येयानां वा जीवानां बन्धप्रायोग्यतया नैरन्तर्येण पल्योपमाऽसंख्येयभागादिप्रमाणकालं यावदुत्कृष्टतः प्रवर्तमानो लभ्यते, न तु सर्वदा, अतस्तत्र मार्गणादौ तावानेव कालस्तस्य विवक्षितस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः । जघन्यतोऽप्योघतो मार्गणास्थानेषु वा तत्र तत्र प्रविष्टसर्वजीवराशौ एकादिना जीवेन तस्य विवक्षितस्थिति-

बन्धस्यैकजीवाश्रयं समया-ऽन्तमुर्हूर्तादिजघन्यबन्धकालं यावत् तस्मिन् विवक्षितस्थितिबन्धे कृते तदनु निरन्तरं तत्र प्रविष्टसर्वजीवेभ्यस्तदन्येन जीवेन तदन्यैर्वा जीवैस्तादृशः स्थितिबन्धो न क्रियते तदा तत्र मार्गणादौ स विवक्षितस्थितिबन्धो तत्रस्थसर्वजीवापेक्षया चिन्त्यमानोऽपि जघन्यत एक-जीवाश्रयतदीयजघन्यबन्धकालं यावदेव प्रवर्तमानो लभ्यते, अतस्तावानेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालेन तुल्य एकजीवकृतस्थितिबन्धमम्बध्यपि समयादिकाल एव विवक्षाभेदान्नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो बोद्धव्यः। अत एवात्र द्वारे नानाजीवाश्रयस्थितिबन्धकालमनुक्त्वा तत्तद्विवक्षितस्थितेर्बन्धककालप्ररूपणेऽपि न कश्चिद्दोषः, अधिकृतविवक्षया विवक्षितस्थितेर्नानाजीवाश्रयबन्धकालस्य तदीयनानाबन्धककाल-स्य च सर्वथैव तुल्यत्वात्। इत्येवमेकजीवाश्रयकालप्ररूपणायामन्यान्यजीवान् विहाय विवक्षितैकजीवनि-र्वर्तितविवक्षितस्थितिबन्धस्य निरन्तरकालस्याधिकृतत्वात्, नानाजीवाश्रयकालप्ररूपणायां तत्तन्मार्ग-णादौ वर्तमानैकादिसर्वबन्धकैर्नैरन्तर्येण निर्वर्तितस्य तस्य विवक्षितस्थितिबन्धस्य निरन्तरबन्धकाल-स्य विवक्षितत्वात् कुत्रचिज्जघन्यपदे विवक्षितस्थितिबन्धस्यैकजीवकृतत्वेऽपि तदानीं तत्र मार्गणादौ तदन्यस्य तादृशबन्धकतयाऽविद्यमानत्वेन तस्यैवैकजीवस्य सर्वबन्धकतया लाभात् तस्य नाना-जीवाश्रयजघन्यादिकालरूपो विवक्षाकृत एकजीवाश्रयकालापेक्षया भेद एवेत्यलं पल्लवितेनेति।

अथ प्रस्तुतम्—तत्र सप्तानामुत्कृष्टस्थितेः समयमात्रो जघन्यबन्धककालो यथोक्तनीत्या एक-जीवाश्रयजघन्यबन्धकालवद्भावनीयः। **ननु** सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालस्तर्हि कुतः पल्योपमासंख्येयभागमात्र उच्यते, न पुनः सर्वाद्धा? इति चेद्, **भण्यते**-असावुत्कृष्टस्थितिबन्धः केना-प्येकजीवेन निरन्तरमुत्कृष्टतोऽन्तमुर्हूर्तकालादधिककालं न निर्वर्त्यते, अन्यच्च तद्बन्धार्हा जीवा असं-ख्येयाः सन्तोऽपि नाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः, किन्तु ततो हीनाः स्वल्पतरा एव। पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव सप्तकर्मणमन्यकोधिकोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्। तथा च सति तस्याः सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालः पल्योपमासंख्येयभागमात्रः प्राप्यते। **इदमुक्तं भवति**—यस्या एकस्थितिबन्धस्थानरूपाया उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेरेकजीवाश्रयो बन्धकाल उत्कृष्टतोऽप्यन्तमुर्हूर्तं बन्धकपरिमाणं चासंख्येयं सदप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकं भवति, तस्या उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धका नैरन्तर्येणोत्कृष्टतः पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणकालं यावल्ल-भ्यन्ते, तदूर्ध्वं तु नियमतस्तद्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवति। यस्याः स्थितेर्बन्धकाः पुनरसंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति तस्याः स्थितेरेकजीवाश्रय-बन्धकालो यद्युत्कृष्टतः संख्येयसमयमात्रस्तदा तद्बन्धका नैरन्तर्येणोत्कृष्टत आवलिकाया असंख्य-भागमात्रकालं यावत्प्राप्यन्ते, न पुनः परतः, परतस्तु नियमेन तेषामन्तरस्य प्रवर्तनात्। मूलसप्तकर्मणा-मुत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्यान्तमुर्हूर्तत्वात्तद्बन्धकपरिमाणस्योत्कृष्टतोऽसंख्येयत्वे-प्यसंख्यलोकापेक्षया स्तोकत्वाच्च तद्बन्धकानामुत्कृष्टः कालः पल्योपमासंख्येयभागमात्रः प्राप्यते,

न पुनस्तदधिक इति तथैवोक्तः। इत्थमेव मार्गणास्थानेष्वपि वक्ष्यमाणपल्योपमासंख्यभागादिकाल उत्कृष्टपदगतबन्धकपरिमाणै-कजीवाश्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धाकालानुसारेणाभ्यूह्य इति।

अथ यस्यास्तूत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धका असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यास्तदधिका वा तस्या स्थितेरेकजीवाश्रयकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवतु, समयो वा भवतु, तथाऽपि तद्बन्धकाः सर्वदैव लभ्यन्ते, न पुनस्तद्बन्धकानां कदाप्यन्तरं भवति। तथा च सप्तानामौघिकानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामनन्तत्वात् तदीयैकजीवाश्रयबन्धकालस्य च दीर्घत्वात् तद्बन्धकास्तु सर्वदैव प्राप्यन्त इत्येतद् दर्शयन्नाह—"**अगुरूअ सव्वद्धा**" त्ति सप्तानामगुरोः-अनुत्कृष्टाया स्थितेर्बन्धकानां 'सर्वाद्धा',-सर्वकाल इत्यर्थः। गतार्थमिति ॥३७९॥

अथोत्तशेषस्यायुष उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां कालमोघतो दर्शयन्नाह—

आउस्स लहू समयो उक्कोसाए ठिईअ उक्कोसो।
आवलिआऽसंखंसो ऽणुक्कोसाए उ सव्वद्धा ॥३८०॥

(प्रे०) "**आउस्स लहू समयो**" इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां 'लघुः'-जघन्यकालः समयः, भवतीति शेषः। "**उक्कोसो**" त्ति तेषामेवायुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टः कालः "**आवलिआऽसंखंसो**" त्ति आवलिकाऽसंख्यभागः, आवलिकाया असंख्येयभागगतसमयप्रमाण इत्यर्थः। "**णुक्कोसाए उ सव्वद्धा**" त्ति प्राग्वत्, नवरमायुषः प्रकृतत्वात्तस्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कालः सर्वाद्धेति बोद्धव्यम्। अत्रैकसमयः सर्वाद्धा च सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानामनन्तरदर्शितैकसमयसर्वाद्धावद्भावनीयः। आवलिकाया असंख्येयभागप्रमाणकालस्त्वायुष औघिकोत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयस्योत्कृष्टबन्धकालस्य समयमात्रत्वात्, तादृशबन्धकानामुत्कृष्टपरिमाणस्यासंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वेऽप्यसंख्येयत्वाच्चोक्तव्याप्त्योह्यः ॥३८०॥

तदेवमभिहितोऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां काल ओघतः। अथ तमेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनामाह—

सत्तण्ह बंधगाणं उक्कोसाए ठिईअ सव्वद्धा।
सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु वणकाये ॥३८१॥
असमत्तबायरेसुं पत्तेअवण-पुहवाइचउसुं च।
तह पुहवाइचउण्हं सव्वेसुं सुहुमभेएसुं ॥३८२॥

(प्रे०) "**सत्तण्हे**" त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तान्यतमानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः "**सव्वद्धा**" त्ति नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति। कासु मार्गणास्वित्याह-"**सव्वेसु**" मित्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु निगोदभेदेषु, वनस्पतिकायौघे, तथाऽपर्याप्तबादरेषु प्रत्येक-

वनस्पतिपृथिव्यप्तेजोवायुकायिकभेदेषु च । अत्र प्रत्येकवनस्पतिकाये बादरेति विशेषणं स्वरूपदर्शकपरमेव बोद्धव्यम्, 'पत्तेअवण' इत्यस्य पूर्वनिपातोऽपि छन्दानुलोम्यादेवेति । **"तह पुहवाइचउण्हं"** ति तथा पृथिव्यादीनां वायुकायान्तानां चतुर्णां **"सव्वेसु सुहुमभेएसु"** त्ति सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदनिष्पन्नेषु 'सर्वेषु'-द्वादशष्वपि भेदेष्वित्यर्थः । एतासु द्वात्रिंशत्स्वपि मार्गणासु प्रत्येकमौघिकानुत्कृष्टस्थितिबन्धकवत् सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यत्वात्तदधिकत्वाद्वा प्रकृतकालः सर्वाद्धाऽभिहित इति ॥३८१-३८२॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतकालमाह—

> चउणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहार-देसेसु ।
> सम्मो-हि-वेअगु-वसम-मीसेसु लहू मुहुत्तंतो ॥३८३॥
> णेयो भिन्नमुहुत्तं अहवा समयो तिमिस्सजोगेसु ।
> सेसासु भवे समयो

(प्रे०) **"चउणाणसंयमेसु"**मित्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञानमार्गणा-संयमौघमार्गणासु सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणास्ववधिदर्शने, सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्वित्येतासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकं **"लहु मुहुत्तंतो"** त्ति आयुर्वर्जमप्तान्यतमकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो 'लघुः'-जघन्यः कालो 'मुहूर्त्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेय इत्यर्थः । कस्मादन्तर्मुहूर्तमेव ? चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वाद्यभिमुखानामेव प्रकृतस्थितिबन्धस्वामित्वात् तद्बन्धकानाममंख्यलोकापेक्षया स्तोकत्वाच्चेति । अयं हि सप्तानामौघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धककालवदेकजीवाश्रयप्रागुक्तकालानुसारी ज्ञेयः । मिश्रयोगत्रये स्वामित्वविषयकमतद्वयेन प्रस्तुतनानाजीवाश्रयकालं यथासम्भवमाह-**"भिन्नमुहुत्तं अहवा"** इत्यादि, गतार्थम्, भावना त्वेकजीवाश्रयबन्धकालवदेव द्रष्टव्या । अथ शेषमार्गणास्वाह-**सेसासु भवे समयो** त्ति उक्तशेषा निरयगत्योघाद्येकविंशत्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां जघन्यः काल एकसमयो भवेत् ।

शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकायसत्काश्चत्वार ओघमार्गणाभेदाश्चत्वारश्च बादरौघभेदास्तथा चत्वारः पर्याप्तबादरपृथिव्यादिभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-पर्याप्तभेदौ, सर्वे त्रसकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणकाययोगाः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञान-सूक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णादिषल्लेश्या-भव्या-ऽभव्य-क्षायिकसम्यक्त्व-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु

प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धकपरिमाणस्याऽसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वात् तथैकजीवाश्रयस्य प्रकृतोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालस्य जघन्यतः समयमात्रत्वादोघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां जघन्यकालवत् प्रकृतजघन्यबन्धकालसमयमात्रोऽभिहित इति ॥३८३॥

अथ सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालं मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुराह—

अह उक्कोसो मुहुत्तंतो ॥३८४॥

तिमणुस-सव्वत्थेसुं आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥३८५॥

(प्रे०) "**अह उक्कोसो**" इत्यादि, 'अथ'-सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां ह्रस्वकालनिरूपणानन्तरम् "**उक्कोसो**" त्ति तेषामेवोत्कृष्टः कालो निरूप्यते, स च "**मुहुत्तंतो**" त्ति भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यः। कासु मार्गणास्वित्याह—"**तिमणुसे**" त्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जास्वोघ-पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नासु त्रिसृषु मनुष्यमार्गणासु, सर्वार्थसिद्धाख्यदेवगतिभेदे, आहरका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोस्तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्वित्येतासु त्रयोदशमार्गणास्वित्यर्थः। कुत एतासु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमेव ? इति चेत्, जीवानां संख्येयत्वादेकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाच्च। **इदन्तु बोद्धव्यम्**—सप्तानामेकजीवापेक्षान्तर्मुहूर्तोत्कृष्टबन्धकालान्नानाजीवाश्रयः प्रकृतोऽन्तर्मुहूर्तकालः संख्येयगुणाधिको भवति, संख्येयानां बन्धकानामविरततया लाभसम्भवादिति ॥३८४-३८५॥

अथ शेषमार्गणास्वेकयाऽऽर्यया प्रकृतोत्कृष्टकालमाह—

कम्मा-ऽऽणाहारेसुं आवलिआए भवे असंखंसो ।
सेसासु असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे ॥३८६॥

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**" मित्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः "**आवलिआए भवे असंखंसो**" त्ति सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टः काल आवलिकाया असंख्येयभागः, असंख्येयभागगतसमयप्रमाणो भवेदित्यर्थः। कुतः ? इति चेद्, उच्यते, एतयोः प्रत्येकं प्रकृतस्थितेरेकजीवाश्रयो बन्धकाल उत्कृष्टतोऽपि द्विसमयमात्रोऽभिहितः, बन्धकपरिमाणं चासंख्येयं सदप्यसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकमभिहितम् , इत्थञ्च मार्गणाद्वयेऽपि प्रकृतकाल उत्कृष्टपदे आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रः प्राप्यते, नत्वधिकः। अथ यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकाल उत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणः,तद्बन्धका चौघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकवदसंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकास्तासु तासामुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयं कालं तथैव पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं दर्शयन्नाह—"**सेसासु**" इत्यादिना, गतार्थम्।

शेषमार्गणा नामनस्त्विमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जाः शेषा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्काश्चत्वार ओघभेदाश्चत्वारो बादरौघभेदाश्चत्वारश्च पर्याप्तबादरभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ, सर्वे त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौदारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान--विभङ्गज्ञान-देशसंयमा-ऽसंयम--चक्षु-रचक्षु- रवधिदर्शन--कृष्णादिषल्लेश्या-भव्या--ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ--क्षायिक-वेदकौ--पशमिकसम्यक्त्व--सासादन-मिश्र--मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । **इदन्तु बोद्धव्यम्**—एतासु प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागमात्रोऽपि प्रकृतकालो बन्धकपरिमाणादिकस्य हीनाधिकताऽपेक्षया स्तोकोऽधिको वा भवति, केवलं स्तोकोऽपि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणः, अधिकोऽपि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाण एव; पल्योपमासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादिति तुल्य एवेति नावधारणीय इति ॥३८६॥

तदेवमभिहितः सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां द्विविधोऽपि कालः । साम्प्रतं तेषामेव सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिमधिकृत्य तमाह—

होइ अणुक्कोसाए ठिईअ सत्तण्ह मीसु-वसमेसुं ।
हस्सो भिन्नमुहुत्तं मिस्सदुजोगेसु समयो वा ॥३८७॥

(प्रे०) "**होइ अणुक्कोसाए**"इत्यादि, मिश्रदृष्ट्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोरायुर्वर्जानां सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः "**हस्सो भिन्नमुहुत्तं**" ति प्रकृतत्वाद् बन्धकानां 'ह्रस्वः'-जघन्यः कालो भिन्नमुहूर्तं भवति । कुतः ? इति चेत् , नानाजीवानाश्रित्य मार्गणाद्वयस्य सान्तरत्वादेकजीवमाश्रित्य प्रकृतानुत्कृष्टस्थितिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वाच्च । **इदमुक्तं भवति**—अपर्याप्तमनुष्यभेद-वैक्रियमिश्रकाययोगा--ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग--छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्रदृष्टिरूपा दश मार्गणाः स्वभावत एव सान्तराः, तासु मार्गणासु कदाचिज्जीवा भवन्ति, कदाचिच्चपर्याप्तमनुष्यादितया कस्याऽपि जीवस्यासद्भावेन सर्वथाजीवाभावरूपमन्तरमपि प्रवर्तते, अपगतवेदमार्गणाया अपि सर्वजीवापेक्षया निरन्तरत्वेऽपि स्थितिबन्धकजीवापेक्षया तु सान्तरत्वमेव । कुतः ? श्रेणिगतजीवानामेव तत्र प्रवेशात् , श्रेणिद्वयस्य सान्तरत्वाच्च । अत एवोक्तं **जीवसमासे**—

'पल्लाऽसंखियभाग सासणमिस्सासमत्तमणुएसु । वासपुहुत्तं उवसामएसु खवगेसु छम्मासा ॥
आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्तं विउव्वमिसेसुं । बारस हुंति मुहुत्ता सव्वेसु जहण्णओ समओ ॥' इति॥

ततः किं ? **ततस्तास्वेकादशमार्गणास्वेवानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामजघन्यस्थितेर्बन्धकानां**

चाऽन्तरं प्राप्यते । शेषमार्गणासु तु सर्वदा जीवानां सद्भावात् तैर्जीवितबहुभागेषु सप्तानां नानास्थितिबन्धात्मकस्यानुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितिबन्धस्यैव निर्वर्तनाच्चानुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितेर्बन्धकाः सर्वदा प्राप्यन्ते, ततश्चैकादशमार्गणावर्जासु शेषमार्गणासु प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां ह्रस्वेतरभेदभिन्नं सावधिकं कालमप्रदर्श्य सर्वाद्धैत्र प्रस्तुतकाल उत्तरत्र दर्शयिष्यते । अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु त्वमावनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कालो द्विधा दर्शयितुं युज्यते, सादिसान्तत्वात्तासाम् । तत्राऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां जघन्यकालः प्रायेणैकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालतुल्यः प्राप्यते,अनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालस्तु मार्गणाया नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालतुल्यः प्राप्यते । अजघन्यस्थितेर्बन्धकानां कालोऽप्यनया नीत्यैव प्राप्यते, अत एव वक्ष्यतेऽग्रे यद्–"अजहण्णाअ ठिईए सत्तण्ह अणुक्कठिइव्व" इत्यादि,अत्र नियमे प्रायोग्रहणं छेदोपस्थापनीयसंयमादिमार्गणान्तरे दीर्घकालं यावन्नियमतोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां लाभेनातिप्रसङ्गनिवारणार्थम् । औपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणाद्वये सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु प्रागेकजीवमाश्रित्यान्तर्मुहूर्तमभिहितस्ततो नानाजीवानाश्रित्याऽप्ययं तथैवान्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यः । वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोस्तु प्रागेकजीवमाश्रित्य सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो मतद्वयेन यथासम्भवं समयोऽन्तर्मुहूर्तं चोक्तः, स एव प्रकृतेऽपि लभ्यत इति तथैव दर्शयन्नाह–"**मिस्सदुजोगेसु समयो वा**" त्ति ऽनन्तरोक्तस्य 'भिन्नमुहुत्त'मित्यस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनाद् वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वये सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां ह्रस्वः कालो भिन्नमुहूर्तं समयो वा भवतीत्यर्थः । अत्र भावनात्वेकजीवाश्रयबन्धकालवत्तत्तन्मतानुसारेण कर्तव्येति ॥३८७॥

समयो असमत्तणरे आहारम्मि गयवेअ-सुहमेसुं ।
सासायणे य णेयो छेए अड्ढतइअसयसमा ॥३८८॥

(प्रे०) "**समयो असमत्तणरे**" इत्यादि, प्रकृतो ह्रस्वकालः समयो ज्ञेय इति गाथोत्तरार्धेऽन्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**असमत्तणरे**" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्या-ऽऽहारककाययोगगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयम-सासादनरूपासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । सुगमं चैतत्, सूक्ष्मसम्पराये परेषां तथा शेषासु प्रत्येकं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्य समयमात्रत्वादिति । "**छेए**" त्ति 'भीमो भीमसेने'तिन्यायाच्छेदोपस्थापनसंयममार्गणायाम् "**अड्ढतइअसयसम**" त्ति । प्रकृतो ह्रस्वकालोऽर्धतृतीयशतानि 'समाः'-वर्षाणि, पश्चादादस्त्यधिकशतद्वयवर्षाणि भवतीत्यर्थः । कुतः ? उत्सर्पिण्यां प्रथमतीर्थंकरतीर्थस्य तावत्कालं प्रवर्तनात्, तत्तीर्थान्तं यावच्छेदोपस्थापनसंयतानां वर्तनाच्च । **इदमुक्तं भवति**–छेदोपस्थापनसंयता जघन्यतः सार्धशतद्वयवर्षाणि यावन्नैरन्तर्येण प्राप्यन्ते । उक्तं च **श्रीपञ्चमाङ्गे पञ्चविंशतितमशतकसप्तमोद्देशे**—

"छेदोवट्ठावणिएसु पुच्छा० गोयमा ! जहन्नेणं अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं, उक्कोसेणं पन्नासं सागरोवमकोडिसयसहस्साइं" इति ।

तत्र जघन्यकाल उत्सर्पिण्यामादितीर्थकरतीर्थकालापेक्षया, उत्कृष्टकालस्त्ववसर्पिण्यां प्रथमतीर्थकरशासनकालापेक्षया प्राप्यते । उक्तञ्च तद्वृत्तौ **श्रीमदभयदेवसूरिपादैः—**

"पृथक्त्वेन कालचिन्तायां "**छेओवट्ठावणिए**" इत्यादि, तत्रोत्सर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं भवतीति, तीर्थं च तस्य सार्द्धे द्वे वर्षशते भवतीत्यत उक्तम्—"**अड्ढाइज्जाइं**" इत्यादि, तथाऽवसर्प्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्तते, तच्च पञ्चाशत्सागरोपमकोटीलक्षा इत्यतः "**उक्कोसेणं पन्नास**"मित्याद्युक्तम्' इति ।

इत्थं च तीर्थजघन्यकालस्य प्रान्तं यावत् केचन सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका नियमेन लभ्येरन् । न च तीर्थकालमध्य एव कदाचित् सर्वेषां च्छेदोपस्थापनीयसंयतानामुत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवः, यतस्तथाभावेऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं तेषां सर्वेषां मिथ्यात्वगमनेन तीर्थकालेऽवशेष एव च्छेदोपस्थापनसंयताभावः स्यात् । स च नेष्यते, आदितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं भवतीत्यभिधानात् । इत्थं हि च्छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कालो नाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावदेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसार्येकसमयः, किन्तु नानाजीवाश्रयजघन्यमार्गणाकालतुल्यः सार्धे द्वे वर्षशत इति तथैवाभिहित इति ॥३८८॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामपि प्रकृतबन्धकानां कालोऽनन्तरोक्तनीत्या नान्तर्मुहूर्तमात्रः, किन्तु देशोनशतवर्षद्वयं प्राप्यते, परिहारविशुद्धिकसंयमस्य नानाजीवाश्रयजघन्यकालस्य तावन्मात्रत्वात् । उक्तं च **श्रीमत्यां भगवत्याम्—**

'परिहारविसुद्धीए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण देसूणाइं दो वाससयाइं, उक्कोसेण देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ' इति ।

अतः परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां प्रकृतबन्धकालं तावन्मात्रं तथा शेषमार्गणासु बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणस्याऽन्तरस्यैवाऽभावात् तासु सर्वाद्धां च दर्शयन्नेकां गाथामाह—

परिहारे वासाणं वीसपुहुत्तं हवेज्ज सेसासुं ।
सव्वद्धा णायव्वोऽणुक्कोसाए खलु ठिईए ॥३८९॥

(प्रे०) "**परिहारे वासाण**"मित्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां "**वासाणं वीसपुहुत्तं हवेज्ज**"त्ति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां निरन्तरो जघन्यकालो वर्षाणां विंशतिपृथक्त्वानि भवेत् । एष तूक्तनीत्या नानाजीवाश्रयप्रकृतमार्गणासत्कदेशोनशतवर्षद्वयात्मकजघन्यकालाक्षिप्तो बोद्धव्यः, प्रकृतमार्गणायामपि छेदोपस्थापनसंयममार्गणावत् मार्गणान्तराभिमुखानामेव सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् । मार्गणाजघन्यकालस्त्वित्थं भाव्यते—वर्षशतायुषा केनाऽपि नवकेन गणेन स्वायुष एकोनत्रिंशद्वर्षेषु गतेषूत्सर्पिण्यामाद्यतीर्थकरस्य समीपे परिहारविशुद्धिकं चारित्रं प्रतिपद्यैकसप्ततिवर्षाणि निरन्तरं निर्व्यूढम्, तदायुःपर्यन्ते च तत्समीपे वर्षशतायुषैवाऽन्येन नवकगणेन स्वायुष एकोनत्रिंशद्वर्षेषु व्यतीतेषु परिहारविशुद्धिकचारित्रमङ्गीकृतं, तच्च स्वायुषोऽन्तं

यावन्नैर्यन्तर्येण तेनाप्यनुपालितम् ,अतः परं न कोऽपीदं प्रतिपद्यते,तीर्थकरं तत्समीपे प्रतिपन्नप्रकृत-चारित्रं वा विहायान्यसमीपे तत्प्रतिपत्तेर्निषेधात् । एवं च सति जघन्यतो द्विचत्वारिंशदभ्यधिक-वर्षशतं निरन्तरं प्रकृतचारित्रिणां प्राप्तिर्भवति, एषैव श्रीमद्भगवत्यां देशोनशतवर्षद्वयेनाभिहिता, प्रकृते च वर्षाणां विंशतिपृथक्त्वैरपि तावन्मात्रः काल एवाभिहित इति ।

"**सेसासु**" ति अनन्तरोक्ताः सम्यग्मिथ्यात्वाद्येकादशमार्गणाः संत्यज्य शेषास्वेकोनषष्ठ्यु-त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं "**सव्वद्धा णायव्वो**" इत्याद्युत्तरार्धम्, आयुर्वर्जानां सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां कालः सर्वाद्धा ज्ञातव्यः । किं जघन्य उत्कृष्टो वा ? इति चेत् , न जघन्यो न वोत्कृष्टः, सर्वाद्धाया निरवधिकत्वेन जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नत्वाभावात् । एष ह्यनन्तरं"होइ अणुक्कोसाए" इत्यस्या गाथाया वृत्तौ भावित इति ॥३८९॥

तदेवमुक्तोऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणानां सान्तरत्वात्तासु सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थिते-र्बन्धकानां जघन्यकालो यथासम्भवम् , शेषासु तु सर्वाद्धा । साम्प्रतं यासु जघन्यकाल उक्तस्ता-स्वेव नानाजीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टावस्थानकालाऽऽक्षिप्तमुत्कृष्टकालं दर्शयन्नाह—

अममत्तमणुस-विक्कियमीसु-वसम-मीस-सासणेसु गुरू ।
पलिअअसंखियभागो आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसुं ॥३९०॥ (गीतिः)
भिन्नमुहुत्तं छेए अयरा पण्णासलक्खकोडीओ ।
परिहारे विण्णयो देसूणा पुव्वकोडी दो ॥३९१॥

(प्रे०) "**असमत्तमणुसे**"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोगौ-पशमिकसम्य-क्त्व-मिश्र-सासादनमार्गणासु प्रत्येकं "**गुरू**" त्ति प्रकृतत्वात् सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालः "**पलिअअसंखियभागो**" त्ति पल्योपमाऽसंख्यभागो भवति, तत्तन्मार्ग-णानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् । उक्तं च **पञ्चसंग्रहवृत्तौ**—

'नानाप्रकारा *अपर्याप्तकानेकमनुष्यकायस्य तत्सन्ततेरव्यवच्छिन्नाया उत्कृष्टत. पल्योपमासंख्येयभाग-मात्रा स्थिति ' इति ।

तथैव 'पल्लासखियभागो वेउव्वियमिस्सगाण अणुसारो' तथा 'पल्लासंखियभागो सासणमिस्सा य हुंति उक्कोसं ।' इत्यादिभिः **श्रीजीवसमासादिग्रन्थवचनैः** प्रकृतमार्गणानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तथात्वात् प्रकृतबन्धककालोऽपि तथोपपादनीय इति ।

"**आहारदुगे अवेअसुहुमेसु**" ति आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयो-र्द्विके, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोरित्येतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं 'भिन्नमुहूर्त'-मित्युत्तरगाथायामन्वयः, सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टः काल इति प्रक्रमाद् बोद्धव्यम् । अत्रापि "भिन्नमुहुत्तं आहारमिस्से"त्यादिना ग्रन्थान्तरोक्ता प्रकृतमार्गणासत्का नानाजीवाश्रयोत्कृष्ट-

* अत्र काचिदशुद्धिः सम्भाव्यते, उद्धरणीया विबुधै. सम्यगालोच्य सेति ।

कायस्थितिरेवानुसर्तव्या। यद्वा सान्तरासु प्रकृतचतुर्मार्गणासु प्रत्येकं संख्येया एव जीवाः, एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिश्च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमात्राऽभिहिता, एवं च सति मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां संख्येयत्वादुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयस्य गुरुबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाच्च यथा नानाजीवाश्रयः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते तथा प्रकृतचतुर्मार्गणानां नानाजीवाश्रयः कालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्येतेति सामर्थ्याद्गम्यते, तथा च सति प्रकृतानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालोऽपि तावन्मात्रोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यत इति।

"छेए" त्ति प्राग्वच्छेदोपस्थापनसंयममार्गणायाम् **"अतरा पण्णासलक्खकोडिओ"** त्ति अतिमहत्त्वाददधिवत् तरितुम्-अधिगत् पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराः-सागरोपमाणि पञ्चाशल्लक्षकोटय इत्यर्थः। कुतः ? छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तावत्प्रमाणत्वात्। छेदोपस्थापनसंयममार्गणाया नानाजीवाश्रयो उत्कृष्टकालस्तु प्राग्-"उक्कोसेण पन्नास सागरोवमकोडिसयसहस्साइं" इति **श्रीभगवतीग्रन्थेन** दर्शित एवेति। परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामपि "परिहारविसुद्धिय पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण देसूणाइं दो वाससयाइं उक्कोसेण देसूणाओ दो पुव्वकोडिओ" इत्यनेन **श्रीभगवत्यां** परिहारविशुद्धिकसंयमस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य देशोनपूर्वकोटीद्वयप्रमाणस्याभिहितत्वात् प्रकृतकालोऽपि तावन्मात्र एव प्राप्यत इति तं तथैव दर्शयन्नाह-**"परिहारे विण्णेयो"** इत्यादि, गतार्थम् ॥३९०-३९१॥

तदेवमभिहित आयुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां कालो मार्गणास्थानेष्वपि। साम्प्रतमवशेषस्यायुःकर्मण उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां कालं दिदर्शयिषुराद्यं तावदुत्कृष्टां स्थितिमधिकृत्याह—

आउस्सुक्कोसाए ठिईअ कालो हवेज्ज सव्वासुं ।
हस्सो समयो परमो आवलियाए असंखंसो ॥३९२॥
णवरं परमो समया संखेज्जा होअए-तिमणुसेसुं ।
आणतपहुडिसुरेसुं आहारदुग-चउणाणेसुं ॥३९३॥
संयम-सामइएसुं छेए परिहार-देस-ओहिसुं ।
सुहलेस-सम्म-खाइअ-वेअग-सामायणेसुं च ॥३९४॥

(प्रे०) **"आउस्सुक्कोसाए ठिईअ"** इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेः **"कालो"** त्ति नानाबन्धकाश्रयः कालः **"हवेज्ज सव्वासु"** ति त्रिषष्ट्यभ्यधिकशतसंख्याकासु सर्वमार्गणासु भवेत्। कीदृशः कियांश्चेत्याह-**"हस्सो समयो"** इत्यादि, 'हृस्वः'-लघुः कालः समयः, 'परमः'-दीर्घः काल आवलिकाया असंख्यांशः, आवलिकाऽसंख्येयतमैकभागगताऽसंख्येयसमया इत्यर्थः।

किं सर्वास्वित्थमेवोतास्ति कासुचित्कश्चिद्विशेष इत्यत आह-"णवरं परमो" इत्यादिगाथाद्वयम्, 'नवरं'-परमयमत्र विशेषः, कोऽसावित्याह-"परमो" इत्यादि, 'परमः'-उत्कृष्टः कालः संख्येयाः समया भवति । कासु मार्गणास्वित्याह-"तिमणुसेसु"मित्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-रूपेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु तथाऽऽनतकल्पादिषु पञ्चानुत्तरविमानपर्यन्तेष्वष्टादशसु देवगति-मार्गणाभेदेष्वाहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्विक-मत्यादिचतुर्ज्ञानमार्गणासु, संयमौघ-सामायिकसंयममार्गणयोः, छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-मार्गणासु, तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व--वेदकसम्यक्त्व--सासादनमार्गणासु चेत्येतासु चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः ।

तत्र जघन्यकालः सर्वमार्गणास्वोघवदेकसमयस्तूत्कृष्टाबाधाऽधीनस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्ध-स्यैकस्मिन भवे सकृत् समयमेव प्रवर्तनात्, तद्बन्धकपरिमाणस्य च प्रत्येकं मार्गणास्वसंख्यलोक-प्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वाच्च । स चैकजीवाश्रितजघन्यकालवद्भिद्भावनीयः । सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियादि-मार्गणासूत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धकानामसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षयास्तोकत्वं तूत्कृष्टस्थितिकजीवानां लोके स्तोकत्वेन हेतुना परिमाणद्वारे भावितमिति तत एवात्रसेयम् । प्रतिमार्गणमुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धक-परिमाणस्तोकत्वादेवायुप उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालोऽपि यासु मार्गणासु बन्धकपरिमाण-मसंख्येयं तासु मार्गणास्वसंख्येयाः समयाः प्राप्यते, यासु पुनर्मार्गणासूत्कृष्टस्थितेर्बन्धकजीवपरि-माणं संख्येयं तासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु संख्येयसमयमात्रः प्राप्यते, अत सः "परमो आवलिआए असंखंसो" इत्यौत्सर्गिकवचनेन सर्वमार्गणासु लाघवार्थमावलिकाऽसंख्यभाग-मात्रोऽभिहितोऽपि मन् "नवरं परमो समया संखेज्जा" इत्यादिना मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु पश्चादपोदित इति ॥३९२-३९४॥ अथायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कालमभिधित्सुराह—

सव्वद्धा-ऽऽउस्स भवे अगुरुठिईअ तिरियम्मि सव्वेसुं ।
एगिंदि-णिगोएसुं पुहवाइपणसु य सेससुहुमेसुं ॥३९५॥
बायरपुहवाइचउसु पत्तेअवणे य सिं अपज्जेसुं ।
काये उरालियदुगे णपुंसग-कसायचउगेसुं ॥३९६॥
अण्णाणदुगम्मि तहा असंयमा-ऽचक्खु-असुहलेसासुं ।
भवि-येयर-मिच्छेसुं असण्णि-आहारगेसुं च ॥३९७॥

(प्रे०) "सव्वद्धाउस्स भवे"इत्यादि,अनन्तरं वक्ष्यमाणतिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणास्वा-युषः "अगुरुठिईअ" त्ति 'अगुरुस्थितेः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः "सव्वद्धा" त्ति प्रकृतो नाना-बन्धकाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवेदित्यर्थः । तिर्यग्गत्योघादिमार्गणा एवाह-"तिरियम्मि"इत्यादिना,

तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रियभेद-सर्वनिगोदभेद-पृथिव्यादिपञ्चकायौघभेदेषु तथा सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायु-कायौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तरूपासु द्वादशसु शेषसूक्ष्मभेदेषु, बादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायरूपासु चतुर्षु बादरपृथिव्याद्योघभेदेषु, प्रत्येकवनस्पतिकायौघभेदे च, तथा "सिं अपज्जेसु" ति तेषां बादर-पृथिव्यादिचतुःप्रत्येकवनस्पतिकायपञ्चमानामपर्याप्तभेदेषु. अपर्याप्तबादरपृथिवीकायाद्यपर्याप्तप्रत्येक-वनस्पतिकायान्तेषु पञ्चस्वपर्याप्तभेदेष्वित्यर्थः। "काये उरालिय" इत्यादि, सार्धगाथा तु सुगमाः। एतासु तिर्यग्गत्योघाद्याहारिपर्यन्तासु द्विषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्य-लोकप्रदेशराशितुल्यास्तदधिका वाऽनन्ताः सन्तिः, ततश्च निरन्तरमनेकानां प्रस्तुतबन्धकानां लाभात् प्रस्तुतकालः सर्वाद्धा प्राप्यत इति तथैवोक्त इति ॥३९५-३९६-३९७॥

अथानन्तरोक्तद्वाषष्टिमार्गणावर्जासु शेषमार्गणासु प्रकृतकालः सावधिक इति तं जघन्यादि-भेदेन दिदर्शयिषुरादौ तावज्जघन्यत आह—

पणमणवय-विउवेसु आहारदुगे जहण्णगो समयो।
णायव्वो सेसासु भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥३९८॥

(प्रे०) "पणमणवये" त्यादि, पञ्चशब्दस्य मनोवचसोः प्रत्येकं योजनात् पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रियकाययोगेषु, तथाऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वय इत्येतासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकं "जहण्णगो" त्ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां जघन्य एव जघन्यकः कालः "समयो" त्ति समयमात्रो ज्ञातव्य इत्युत्तरार्धेऽन्वयः। कुतः? असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकबन्धकपरिमाणासु मार्गणास्वेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसारेण प्रकृतकालस्य लाभात्, एक-जीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्य त्वधिकृतमार्गणायां समयमात्रत्वाच्च। उक्तश्च प्राग्—

'अणुक्कोसाउ लहू खणो होइ पणमणवयेसुं। काये उरले विउवे आहारदुगे कसायेसु ॥१४३॥' इति।

अत्र काययोगौ-दारिककाययोग-कषायमार्गणानां वर्जनं तासु प्रत्येकं बन्धकपरिमाणस्यानन्त-त्वादिति बोद्धव्यमिति। "सेसासु" त्ति तिर्यग्गत्योघाद्यनन्तरोक्तद्विषष्टिमार्गणाः, प्रकृतगाथोक्ता मनोयोगादित्रयोदशमार्गणाश्च विहाय शेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु निरयगत्योघाद्यष्टाशीतिमार्गणासु "भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो" त्ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्य इत्यर्थः। अयमपि कालः शेषमार्गणासु बन्धकपरिमाणस्योक्ता-ऽपेक्षया स्तोकत्वे सत्यप्येकजीवाश्रयस्य जघन्यबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वात् प्रागुक्तनीत्या बोद्धव्य इति। **शेषा अष्टाशीतिमार्गणाः पुनर्नामत इमाः**-सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादर-पर्याप्ताः पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः सर्वे त्रसकायभेदाः, स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्ग-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-चक्षु-

दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥३९८॥

अथ प्रकृतमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धककालमुत्कृष्टत आह—

परमो अंतमुहुत्तं णेयो पज्जत्तणर-मणुस्सीसुं ।
आणतपहुडिसुरेसुं आहारदुगम्मि मणणाणे ॥३९९॥
संयम-सामइएसुं छेए परिहार-सुइल-खइएसुं ।
सेसासु असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे ॥४००॥

(प्रे०) "**परमो अंतमुहुत्तं णेयो**" इत्यादि, 'परमः'-उत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयः, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामिति प्रक्रमाद्गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह-"**पज्जत्तणरे**" त्यादि, पर्याप्तमनुष्य--मानुषीमार्गणयोरानतकल्पप्रभृतिषु पञ्चानुत्तरविमानान्तेषु देवगतिमार्गणाभेदेष्वाहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्विके, मनःपर्यवज्ञाने, संयमौघ-सामायिकसंयमयोः, छेदोपस्थापनसंयमे, परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या--क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वित्येतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकमायुर्बन्धकानां संख्येयत्वादेकजीवाश्रयबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाच्चेति । "**सेसासु**" त्ति उक्तशेषासु निरयगत्योघादिद्विसप्ततिमार्गणासु "**असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे**" त्ति प्रकृतकालः पल्योपमस्यासंख्येयतमैकभागप्रमाणो भवेदित्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकं बन्धकपरिमाणस्यासंख्येयत्वेऽप्यसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षयास्तोकत्वादेकजीवाश्रयबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाच्चेति ।

शेषमार्गणा नामतस्त्विमाः-सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवौघः,-भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता अन्य एकादशदेवभेदाश्च,सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्ताः पृथिव्यादिवायुकायान्ताश्चत्वारो भेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदः, सर्वे त्रसकायभेदाः,पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्ग-देशसंयम-चक्षु-रवधिदर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥३९९-४००॥

तदेवमभिहित आदेशतोऽप्यष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योः प्रत्येकं बन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो द्विविधोऽपि निरन्तरकालः । साम्प्रतं जघन्याऽजघन्यस्थितिविषयं तं दिदर्शयिषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगाणं भिन्नमुहुत्तं ठिईअ हस्सासुं ।
हस्सियरो अलहूए सव्वद्धा-ऽऽउस्स दोण्हं वि ॥४०१॥

(प्रे०) **"सत्तण्ह बंधगाण"**मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं **"ठिईअ हस्साए"** त्ति 'ह्रस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेः **"बंधगाणं"** ति 'बन्धकानां'-निर्वर्तकानां 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं, कालो भवतीति प्रक्रमाद्गम्यते। किं जघन्य उत्कृष्टो वैष भिन्नमुहूर्तं काल इत्याह-**"हस्सियरो"** त्ति ह्रस्वः-जघन्यः, 'इतरः'-दीर्घः, जघन्योत्कृष्टद्विविधकालः प्रत्येकमप्यन्तर्मुहूर्तमेवेत्यर्थः। अत्र ह्रस्वापेक्षया दीर्घकालः संख्यातगुणाधिको बोद्धव्यः, संख्येयानां जीवानां निरन्तरं क्रमशो जघन्यस्थितिबन्धसम्भवादिति। **"अलहुए"** त्ति सप्तानामलघोः-अजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानां कालस्तु **"सव्वद्धा"** त्ति सर्वाद्धा भवतीति। अथाऽऽयुषस्तमाह-**"उस्स दोण्हं वि"** त्ति अकारस्य पूर्वं दर्शनात् 'सव्वद्धा' इतिपदस्य देहलीदीपकन्यायेनात्राऽपि योजनाच्चाऽऽयुषो 'द्वयोरपि'-जघन्याऽजघन्ययोः स्थित्योः कालः सर्वाद्धा,-अनाद्यनन्त इत्यर्थः। असंख्यलोकादिपरिमाणेषु जीवराशिष्वायुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकानां नैरन्तर्येणाऽऽकालं लाभात्, प्रकृते च जीवपरिमाणस्य तथात्वादिति ॥४०१॥

अथ प्रकृतकालमेव मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानां कालमाह—

णेयो सव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहुमेसु वणकाये ।
असमत्तबायरेसुं चउसुं पुहवाइभेएसुं ॥४०२॥
पत्तेअवणापज्जे तिरिय-उरलमीस-कम्मणेसुं च ।
अण्णाणदुगे अयते तीसुं अपसत्थलेसासुं ॥४०३॥
अभविय-मिच्छत्तेसुं असणा-ऽणाहारगेसु सव्वद्धा ।
सत्तण्हं कम्माणं जहण्णगाए खलु ठिईए ॥४०४॥

(प्रे०) **"णेयो सव्वेगिंदिये"** त्यादि, सर्वशब्दस्यैकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वेकेन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु निगोदभेदेषु तथा **"सव्वेगिंदियणिगोअ"** इत्यनेन संगृहीतास्त्रयः सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदास्त्रयश्चसूक्ष्मनिगोदभेदा इत्येतान् षड्भेदान् विहाय शेषेषु सर्वेषु पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्केषु द्वादशसु सूक्ष्मपृथिवीकायादिभेदेषु, वनस्पतिकायौघभेदे, तथा पृथिव्यादिसत्केष्वपर्याप्तबादरपृथिव्यादिरूपेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु। अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमाह-**"पत्तेअवणापज्जे"** इत्यादि, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे, तिर्यग्गत्यौघौदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगेषु, । चः समुच्चये। मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके, असंयममार्गणायां त्रिष्वप्रशस्तकृष्णादिलेश्यामार्गणासु, तथाऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोरसंज्य-ऽनाहारकमार्गणयोश्चेत्येतासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं **"सव्वद्धा"**त्ति प्रस्तुतनानाबन्धकाश्रयो कालः सर्वाद्धा, ज्ञेय इति पूर्वे-

णान्वयः । कस्याः स्थितेः प्रकृतकालः सर्वाद्धेत्याह–"**सत्तण्ह**" मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां जघन्याः स्थितेरित्यर्थः । सुगमं चेदं, तिर्यग्गत्योघाद्यष्टाविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्यानन्त्यात् । उक्तश्च प्राक् **परिमाद्वारे** यत्—

'तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोदभेअ-वण-उरलमीसेसुं । कम्मण-दुअणाणेसुं अयते अपसत्थलेसासुं ॥३२२॥
अभविय-मिच्छत्तेसु अमणा-णाहारगेसु य अणंता । सत्तण्ह बंधगा खलु हुन्ति ठिईए जहण्णाए ॥'३२३ इति

शेषास्वपर्याप्तबादरपृथिव्यादिमार्गणास्वपि प्रत्येकं बन्धकजीवा असंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यास्ततः प्रकृतबन्धका निरन्तरं प्राप्यन्त इति सर्वाद्धाऽभिहित इति ॥४०२-४०४॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धककालोऽसर्वाद्धेत्यर्थाद्गम्यते। स च सावधिक इतिकृत्वा जघन्योत्कृष्टभेदेन दिदर्शयिषुरादौ जघन्यपद आह—

सव्वणिरय-पंचिंदियतिरियेसु तहा अपज्जमणुसम्मि ।
सव्वामर-विगलेसुं असमत्तपणिंदिय-तसेसुं ॥४०५॥
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरसमत्तभेएसुं ।
पत्तेअवणम्मि तहा समत्तपत्तेअवणकाये ॥४०६॥
पणमण-वय-कायेसुं आहार-विउव्वदुग-उरालेसुं ।
उवसम-सासाणेसुं ह्रस्सो समयो मुणेयव्वो ॥४०७॥

(प्रे०) "**सव्वणिरये**"त्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत्, ततः सर्वेषु निरयभेदेषु, सर्वेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, तथाऽपर्याप्तमनुष्यभेदे, सर्वेष्वमरभेदेषु,सर्वेषु देवगतिभेदेष्वित्यर्थः । तथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे, पृथिव्यादिषु चतुर्ष्वोघभेदेषु, तेषामेव पृथिव्यादीनां चतुर्षु बादरौघभेदेषु, तेषामेव पृथिव्यादीनां चतुर्षु पर्याप्तबादरभेदेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकायौघभेदे, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदे, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, काययोगसामान्ये, आहारक-तन्मिश्रकाययोगयोर्द्विके, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगयोर्द्विके, औदारिककाययोगे, औपशमिक-सास्वादनमार्गणयोश्चेत्येतासु षडशीतिमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतायाः सप्तानां जघन्याः स्थितेर्नानाजीवाश्रयो 'ह्रस्वः'-जघन्यः कालः समयो ज्ञातव्यः । एष हि प्रकृतस्थितेरेकजीवाश्रयजघन्यकालवद् बोद्धव्यः, असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकबन्धकपरिमाणासु मार्गणासु नानाबन्धकाश्रयजघन्यकालोऽप्येकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवल्लभ्यत इति तु प्रागुपपादितमेव, प्रकृतमार्गणासु-प्रत्येकमेकजीवाश्रयः सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु प्रागेकजीवाश्रयबन्धकालप्ररूपणायामेकसमयो दर्शितो भावितश्च, अत्राप्ययं तथैव भावनीय इति ॥ ४०५-४०७॥

परिहारे तेऊए पउमाए वेअगे य समयो वा ।
भिन्नं मुहुत्तं व भवे सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥४०८॥

(प्रे०) **"परिहारे"** इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमे, तेजोलेश्यायां, पद्मलेश्यायां, वेदकसम्यक्त्वे चेत्येतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो ह्रस्वः कालः **"समयो वा भिन्नमुहुत्तं व भवे"** त्ति स्वस्थानाऽप्रमत्तसंयतस्यापि जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमिच्छतां समयो भवेत् । वाकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् कृतकरणाद्धाया अनन्तरप्राग्भाविस्थितिबन्धं कुर्वतोऽप्रमत्तस्यैव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वमिच्छतोक्तान्यमतेन तु भिन्नमुहूर्तं प्रकृतबन्धकाल इत्यर्थः । एष हि मतद्वयापेक्षयाऽप्येकजीवाश्रयस्य सप्तानां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्य तथात्वात्तथा बोद्धव्यः । उक्तं चैकजीवाश्रयकालद्वारेऽपि—

"परिहारे तेऊए पउमाए वेअगे य समयो वा । भिन्नमुहुत्त व भवे" ॥१९१॥ इति ।

"सेसासु" त्ति उक्तशेषासु मनुष्यगत्योघादिपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो ह्रस्वकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवेत् । तत्र **शेषमार्गणा नामत इमाः**—मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-वेदत्रया-ऽपगतवेद-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्पराय-देशसंयम-चक्षुरादिदर्शनत्रिक-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणा इति । अत्रापि पूर्ववदेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसारेणैव प्रकृतकालो भावनीय इति ॥४०८॥

अथ प्रकृतसप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाजीवाश्रयकालमुत्कर्षतो व्याजिहीर्षुराह—

णिरय-पढमणिरयेसुं देव-भवणदुग-अपज्जमणुसेसुं ।
उक्कोसो णायव्वो आवलिआए असंखंसो ॥४०९॥

(प्रे०) **"णिरयपढमणिरयेसु"**मित्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोस्तथा देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरद्विका-ऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणासु च प्रत्येकं **"उक्कोसो णायव्वो"** त्ति आयुर्वर्जसप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टः-दीर्घः कालो ज्ञातव्यः । कियानित्याह—**"आवलियाए असंखंसो"** त्ति आवलिकाया 'असंख्यांशः'- असंख्येयतमैकभागगतसमयप्रमाण इत्यर्थः । कुतः ? एतासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धस्य विग्रहगतौ भावेनैकजीवमाश्रित्याऽपि द्वौ समयावेव सम्भवात्, तद्बन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वाच्च । **इदमुक्तं भवति**—यथा कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकाल आवलिकाया असंख्यभागमात्रस्तथा एतासु मार्गणास्वपि जघन्यस्थितेर्बन्धकानामसौ बोद्धव्यः, कार्मणकाययोगादिमार्गणावन्निरयगत्योघादिमार्गणास्वप्येकजीवाश्रितस्य सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकालस्य तद्-

बन्धकानां च तुल्यत्वात् । ननु कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाश्चतुर्गतिकाः सन्ति, एतासु निरयगत्योघादिमार्गणासु तु जघन्यस्थितेरपि त एकैकगतिसत्कास्तदुभयत्र बन्धकानां तुल्यत्वकथने कथं न दोषः ? इति चेद्, न, असंख्यलोकप्रदेशराशितः स्तोकत्वमपेक्ष्यैव तुल्यत्वस्याऽभिहितत्वादिति ॥४०९॥

अथाऽऽर्यात्रयेण शेषमार्गणासु प्रकृतकालमाह—

सेसेसु णिरयेसु सव्वेसु पणिंदितिरिय-विगलेसु ।
सव्वत्थवज्जसेससुरा-ऽपज्जपणिंदियतसेसु ॥४१०॥
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरसमत्तभेएसु ।
पत्तेअवणम्मि तहा समत्तपत्तेअवणकाये ॥४११॥
वेउव्वदुगे मीसे सासाणम्मि य भवे असंखयमो ।
पलिओवमस्स भागो सेमासु भवे मुहुत्तंतो ॥४१२॥

(प्रे०) "**सेसेसु णिरयेसु**" मित्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोरनन्तरमेव गृहीतत्वात्ताभ्यां विना द्वितीयादिसप्तमान्तपृथिवीभेदभिन्नेषु शेषनिरयगतिभेदेषु, तथा सर्वेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, तथा "**सव्वत्थवज्जसेससुर**" त्ति देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदानामनन्तरमेव गृहीतत्वात् तैस्त्रिभिः सहितं सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदं विहाय शेषेषु ज्योतिष्कादिषु चतुरनुत्तरविमानपर्यन्तासु षड्विंशतिदेवगतिमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । तथाऽपर्याप्तशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदेऽपर्याप्तत्रसकायभेदे च । अन्यभेदानपि संग्रहीतुमाह—"**पुहवाइचउसु**"इत्यादि, "**वेउव्वदुगे**"इत्यादि च, पृथिव्यादिवायुकायान्तेषु चतुर्ष्वोघमार्गणास्थानेषु, तेषामेव चतुर्णां चतुर्षु बादरौघेषु चतुर्षु पर्याप्तबादरेष्वित्येवमष्टपूत्तरभेदेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकायौघभेदे, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये, वैक्रियकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाद्विके, सम्यग्मिथ्यात्वे सासादने चेत्येतासु समस्तासु पञ्चषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतः सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो दीर्घः कालः पल्योपमस्याऽसंख्यतमैकभागो भवेदित्यर्थः । अयं हि सप्तानामोघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालवद्बोद्धव्यः, तद्वदत्रापि प्रकृतस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्यासंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वेऽप्यसंख्येयत्वादेकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वाच्च ।

ननु एतासु मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितेर्बन्धकजीवा असंख्येयाः सन्तोऽपि कासुचिन्मार्गणास्वौघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणापेक्षयाऽसंख्येयगुणा अपि भवन्ति, तत्तास्वप्यसौ कथं स्तोकबन्धकपरिमाणप्रयुक्तौघिकोत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धककालवत्पल्योपमासंख्येयभागप्रमाण एवोच्यते ?

इति चेद्, भण्यते–यथौघिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणं प्रकृतैकैकमार्गणामत्कपरिमाणं च न तुल्यम्, किन्तु हीनाधिकमपि सद् असंख्येयस्याऽसंख्येयभेदभिन्नतयाऽसंख्येयमिति तुल्यव्यपदेशं भजते, तथा पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धककालविषये प्रकृततत्तन्मार्गणासत्ककालविषये च 'पल्योपमासंख्येयभाग' इत्येवंरूपव्यपदेशसाम्यमेव, न पुनः कालसाम्यमपि, कालस्य तु बन्धकपरिमाणाद्यनुसारेण हीनाऽधिकस्य सम्भवादिति।

"सेसासु" त्ति उक्तशेषासु मनुष्यगत्योघादिचतुःपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकमेकजीवाश्रयस्य सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकालस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वेऽपि बन्धकपरिमाणस्य संख्येयत्वात् नानाजीवाश्रितो जघन्यस्थितेरुत्कृष्टकालोऽप्यौघिकजघन्यस्थितेरुत्कृष्टकालवदन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिक अतस्तथैव दर्शयन्नाह–**"भवे मुहुत्तंतो"** त्ति सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रय उत्कृष्टकालो 'मुहूर्तान्तः'-मुहूर्ताभ्यन्तवर्ती भवेत्, अन्तर्मुहूर्तमिति यावदिति। **शेषमार्गणाऽभिधानानि** त्वेवम्–अपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः,सर्वार्थसिद्धाभिधदेवगतिभेदः, ओघ–पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिभेदौ, तथैव द्वौ त्रसकायभेदौ, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-वेदत्रया-ऽपगतवेद-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-देशसंयम--चक्षुरादित्रिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ–क्षायिक-क्षायोपशमिकौ--पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारकमार्गणाश्चेति ॥४१०-४११-४१२॥

तदेवं दर्शितः सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो द्विविधोऽपि कालः। साम्प्रतं तासामेव सप्तानामजघन्यस्थितेस्तं दिदर्शयिषुः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयकालेन बहुसाम्यमितिकृत्वैकयाऽऽर्यया सापवादमतिदिशति—

अजहण्णाअ ठिईए सत्तण्ह अगुरुठिइव्व सव्वासु।
णवरि लहू खुड्डभवो दुसमयहीणो अपज्जणरे ॥४१३॥

(प्रे०) **"अजहण्णाअठिईए"** इत्यादि, सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनां नानाबन्धकाश्रयः कालः **"अगुरुठिइव्व सव्वासु"** त्ति निरयगत्योघादिसप्तत्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं सामान्यतोऽगुरुस्थितिवत्,-सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेः प्रागुक्तनानाबन्धकाश्रयजघन्योत्कृष्टद्विविधकालवदित्यर्थः। **इदमुक्तं भवति**—

'होइ अणुक्कोसाए ठिईए सत्तण्ह मीसु-वसमेसु। हस्सो भिन्नमुहुत्तं मिस्सदुजोगेसु समयो वा ॥३८७॥
समयो असमत्तणरे आहारम्मि गयवेअ-सुहुमेसु। सासायणे य णेयो छेए अद्धतइअसयसमा ॥३८८॥
परिहारे वासाणं वीसपुहुत्तं हवेज्ज सेसासु। सव्वद्धा णायव्वोऽणुक्कोसाए खलु ठिईए ॥३८९॥
असमत्तमणुस-विक्किअमीसु-वसम-मीस-सासणेसु गुरू। पलिआऽसंखियभागो आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसु ॥
भिन्नमुहुत्तं छेए अयरा पण्णासलक्खकोडीओ। परिहारे विण्णेयो देसूणा पुव्वकोडी दो ॥३९१॥

इति गाथापञ्चकेना-ऽऽयुर्वर्जसप्तकर्मणामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्नानाजीवाश्रितकाल एकादशमार्गणासु सावधिकतया जघन्यत उत्कृष्टश्च यावानभिहितस्तावान् सप्तानामजघन्यस्थितेरपि बोद्धव्यः । शेषमार्गणासु त्वसौ निरवधिकतया सर्वाद्धैव बोद्धव्यः । इत्थं ह्यतिदेशे कृते याऽतिप्रसक्तिस्तां निराकुर्वन्नाह–"**णवरि**" इत्यादि, नवरं तत्रापर्याप्तनरमार्गणायां सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यः कालः 'समयो असमत्तणरे' इत्यनेन समयमात्रः कथितः सोऽत्र तथा न वक्तव्यः, किन्तु "**खुड्डभवो दुसमय हीणो**" त्ति, द्विसमयोनक्षुल्लकभवः सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यकालतयाऽभिधातव्य इत्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकालस्य विग्रहगतौ भवप्रथमद्विसमययोरेव सम्भवेनाऽजघन्यस्थितेर्बन्धकालो भवतृतीयसमयादारभ्याजीवनं नैरन्तर्येण प्राप्यते, स चाजघन्यस्थितिसत्कैकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसारेण बोद्धव्यः । शेषसर्वमार्गणासु त्वतिदिष्टद्विविधकालोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामुत्कृष्टकालश्च सर्वथैवानुत्कृष्टस्थितेः प्राग्भावितकालानुसारेण भावनीय इति ॥४१३॥

तदेवं दर्शितः सप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्नानाबन्धकाश्रयो द्विविधोऽपि कालो यथायथमतिदेशादिना । साम्प्रतमवशेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तं प्रतिपिपादयिषुरतिदेशादिनैव प्राह—

जासु अणुक्कोसाए ठिईअ आउस्स होइ सव्वद्धा ।
तासु तह से लहूए उक्कोसठिइव्व सेसासुं ॥४१४॥
णवरा-ऽऽवलिआऽसंखियभागो णर-देस-सासणेसु गुरू ।
णेयो अजहण्णाए ऽणुक्कोसठिइव्व सव्वासुं ॥४१५॥

(प्रे०) "**जासु अणुक्कोसाए**" इत्यादि, यासु मार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्नानाजीवाश्रितकालः "**होइ सव्वद्धा**" त्ति प्राक् "सव्वद्धाउस्स भवे अगुरुठिईअ तिरियम्मि" इत्यादिगाथात्रयेण सर्वाद्धाऽभिहितो भवति "**तासु तह से लहूए**" त्ति तासु तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणासु "**से**" त्ति तस्यायुषो 'लघोः'-जघन्यायाः स्थितेः 'तथा'-तद्वत्, सर्वाद्धा इति यावत् । नानाबन्धकाश्रयकाल इति तु गम्यते । **इदमुक्तं भवति**–तिर्यग्गत्योघे, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायौघभेदेषु, सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुकायौघतत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेषु, बादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायौघ-तदपर्याप्तभेदेषु, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तदपर्याप्तभेदयोः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग--नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या--भव्या-ऽभव्य--मिथ्यात्वा--ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणवदायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्याऽप्यसंख्येयलोकादिप्रदेशराशितुल्यत्वान्नानाबन्धकाश्रयः कालोऽपि सर्वदैव प्राप्यत इति ।

"उक्कोसठिइव्व सेसासु" त्ति उक्तशेषमार्गणासु प्रत्येक'मुत्कृष्टस्थितिवद्'-उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां ह्रस्वेतरकालवज्जघन्यस्थितेर्बन्धकानां ह्रस्वेतरकाल इत्यर्थः । अत्रैवापवदन्नाह–**"णवरावलि"** इत्यादि, 'नवरं'-परं **'णरदेससासणेसु'** त्ति शेषमार्गणागतासु नरगत्योघ-देशसंयम-सासादनरूपासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकानां 'गुरुः'-दीर्घः काल 'आवल्यसंख्येयभागः' आवलिकाया असंख्येयतमैकभागगतसमयप्रमाणः । **अयम्भावः**–असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकबन्धकपरिमाणासु निरयगत्योघाद्येकोत्तरशतशेषमार्गणास्वेकजीवाश्रयोत्कृष्टस्थितिबन्धकालाऽजघन्यस्थितेर्बन्धकालस्य समयमात्रत्वेन तुल्यत्वेऽप्यायुष उत्कृष्टजघन्यस्थित्योर्बन्धकपरिमाणं तु मनुष्यगत्योघ-देशसंयम-सासादनवर्जासु शेषनिरयगत्योघादिमार्गणास्वेव तुल्यम्, न पुनर्मनुष्यगत्योघादिमार्गणात्रयेऽपि, तत्र मार्गणात्रये आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्य संख्येयत्वात् तदीयजघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्य त्वसंख्येयत्वात्, इत्यतः 'उक्कोसट्ठिइव्व सेसासु' इत्यनेन शेषसर्वमार्गणासु सामान्यतोऽतिदिष्टोऽपि प्रस्तुतकालो मनुष्यगत्योघादिमार्गणाचतुष्के पश्चादपोद्याऽऽवल्यसंख्यभागप्रमाणो दर्शितः ।

इत्थं च शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेः प्रस्तुतकाल इयान् प्राप्यते–पर्याप्तमनुष्य-योनिमन्मनुष्यभेदौ, आनतकल्पाद्या अष्टादशदेवगतिभेदाः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धिकसंयमा-ऽवधिदर्शन-शुभलेश्यात्रिक-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाश्चेत्येतासु सप्तत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो दीर्घः कालः संख्येया समयाः । सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवगत्योघ-सहस्रारान्तदेवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदः, सर्वे त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शन-सासादन-संज्ञिमार्गणाश्चेत्येतासु चतुःषष्टिमार्गणासु तु प्रकृतकाल उत्कर्षत आवलिकाया असंख्येयभागः । एताश्चतुःषष्टिमार्गणास्तथाऽनन्तराभिहिताः सप्तत्रिंशन्मार्गणा इत्येवमेकोत्तरशतमार्गणासु त्वायुषो जघन्यस्थितेः प्रकृतकालो जघन्यत एकसमय इति।

अथाऽऽयुषोऽजघन्यस्थितेः प्रकृतकालमतिदिशति–**"णेयो अजहण्णाए"** इत्यादिना, सुगमम् । अत्रापि भावनाऽनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयकालवदेव द्रष्टव्येति ॥४१४-४१५॥

तदेवं प्ररूपितः शेषस्याऽऽयुषोऽपि जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकानां सम्भवज्जघन्योत्कृष्टद्विविधकालः, तस्मिँश्च प्ररूपिते गतं नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे द्वादशं नानाजीवाश्रयकालद्वारं समाप्तम् ॥

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

	जघन्यकालः		उत्कृष्टकालः			
	अन्तर्मुहूर्तम्	ओघवद् एकसमयः	अन्तर्मुहूर्तम्	आवलिका-ऽसंख्यभागः	ओघवत् पल्याऽसंख्य-भागः	सर्वाद्धा
गति०		सर्वभेद० ४७	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी०सर्वार्थ-सिद्धश्च० ४		निरयौघादि-शेषभेदा ४३	
इन्द्रिय०		सर्वविकलपञ्चेन्द्रि-यभेदा, १२			सर्वविकल-पञ्चेन्द्रिय १२	सर्वैकेन्द्रिय० सर्वसूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-बादरभेदभिन्नाः पृथिव्यप्तेजोवायु-कायभेदा, वनौघ० अपर्याप्तप्रत्येक-वन० सर्वसाधारणवनभेदाश्च०
काय०		ओघबादरौघतत्प-र्याप्तभेदात् पृथि-व्यप्तेजोवायुभेदा प्रत्येकवनौघ-तत्प-र्याप्तौ, सर्वत्रस-भेदाश्च १७				
योग०		★ सर्वभेद० १८	आहारकद्विक० २	कार्मण० १	शेष० १५	
वेद०		सर्वभेद० ४	गतवेद० १		वेदत्रिक० ३	
कषाय०		सर्व० ४			सर्व० ४	
ज्ञान०	मत्यादि० ४	अज्ञान० ३	मनःपर्यव० १		शेष० ६	
संयम०	संयमौघ०सामा० छेद० परिहार० देश० ५	सूक्ष्मसम्पराय० असंयमश्च. २	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० सूक्ष्म० ५		देशसंयम० असंयम० २	
दर्शन०	अवधि० १	चक्षु० अचक्षु० २			सर्व० ३	
लेश्या०		सर्व० ६			सर्व० ६	
भव्य०		सर्व० २			सर्व० २	
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ० क्षायोप० औप० मिश्र० ४	क्षायिक० सास्वा-दन० मिथ्यात्व० ३			सर्व० ७	
संज्ञी०		सर्व० ३			सर्व० २	
आहारी०		सर्व० २		अनाहा० १	आहारी० १	
सर्वमार्गणाः— १४		१२४	१३	२	१२३	३२
गाथाङ्काः— ३८३		३८४	३८४-३८५	३८६	३८६	३८१-३८२

★ मतान्तरे मिश्रयोगत्रये जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् ।

आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थितिबन्धयोर्नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यतः- एकसमयः / उत्कृष्टतः-अन्तर्मुहूर्त०		एकसमयः / पल्योपमाऽसंख्यतमैकभाग	२५० वर्षाणि / पञ्चाशल्लक्षकोटिसागरोपमाणि	विंशतिपृथक्त्ववर्ष. / देशोनपूर्वकोटिद्वयम्	अन्तर्मुहूर्त० / पल्योपमाऽसंख्यभागः	ओघवत् / सर्वाद्धा
गति०		अपर्याप्तमनुष्य० ★ १				शेष० ४६
इन्द्रिय०						सर्व० १९
काय०						सर्व० ४२
योग०	आहारक-तन्मिश्र० △ २	वैक्रियमिश्र० △ १				शेष० १५
वेद०	अपगतवेद० १					त्रिवेद० ३
कषाय०						सर्व० ४
ज्ञान०						सर्व० ७
संयम०	सूक्ष्मसंपराय १		छेदोपस्थापन० १	परिहार० १		शेष० ४
दर्शन०						सर्व० ३
लेश्या०						सर्व० ६
भव्य०						सर्व० २
सम्यक्त्व.		सास्वादन० १			औपशमिक० मिश्र० २	शेष० ४
संज्ञी०						सर्व० २
आहारी०						सर्व० २
सर्वमार्गणा —	४	३	१	१	३	१५९
गाथाङ्काः—	३८७-३८८ ३९०-३९१	३८७-३८८ ३९०	३८८-३९१	३८९-३९१	३८७-३९०	३८९

△ मतान्तरे मिश्रयोगद्वये जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् ।

★ अपवादः-अजघन्यस्थितेः प्रस्तुतकालो जघन्यतो द्विसमयन्यूनक्षुल्लकभवः ।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

	जघन्यतः		उत्कृष्टतः			सर्वाद्धा
	ओघवद् अन्तर्मुहूर्तम्	समयः	ओघवद् अन्तर्मुहूर्तम्	आवलिकाऽसंख्यभाग०	पल्योपमाऽसंख्यभाग०	
गति०	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी० ३	सर्वे निरयतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-देवभेदाः, अपर्याप्तनरश्च ४३	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी० सर्वार्थसिद्ध० ४	निरयौघ० प्रथमनरक० देवौघ० भवनपति० व्यन्तर० अपर्याप्तमनुष्य० ६	द्वितीयपृथिव्यादिषड्निरयभेद० सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद० ज्योतिष्कादिचतुरनुत्तरान्त२६देवभेदाश्च. ३६	तिर्यग्गत्योघ० १
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २	सर्वविकल० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १०	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २		सर्वविकला-ऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय० १०	सर्व एकेन्द्रिय-भेदाः ७
काय०	त्रसौघ-तत्पर्याप्त-भेदौ, २	ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुभेदा, ओघ-पर्याप्तप्रत्येकवनभेदौ, अपर्याप्तत्रसश्च १५	त्रसौघ-तत्पर्याप्त-भेदौ, २		ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्त-पृथिव्यप्तेजोवायु०घओ-पर्याप्तप्रत्येकवनभेदौ० अपर्याप्त-त्रसश्च० १५	उक्तसप्तदश-भेदवर्जाः शेषाः २५
योग०		औदारिकमिश्र-कार्मणवर्जा शेषा १६	सर्वमनोवचोभेद० काययोगौघ० आहारक-तन्मिश्र० औदारिक० १८		वैक्रिय-तन्मिश्रौ, २	औदारिक-मिश्र० कार्मण० २
वेद०	सर्व० ४		सर्व० ४			
कषाय०	सर्व० ४		सर्व० ४			
ज्ञान०	मत्यादिज्ञान० ४ विभङ्ग० १		मत्यादि० ४ विभङ्ग० १			मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २
संयम०	असंयमवर्जाः शेषा, ६		असंयमवर्जाः शेषा, ★ ६			असंयमः १
दर्शन०	सर्व० ३		सर्व० ३			
लेश्या०	शुभ० ३		शुभ० ★ ३			अशुभ० ३
भव्य०	भव्य० १		भव्य० १			अभव्य० १
सम्य०	सम्यक्त्वौघ० क्षायि० क्षायो० मिश्र० ४	औपशमिक० सास्वादन० २	सम्यक्त्वौघ० क्षायि० ★ क्षायो० औपशमिक० ४		सास्वादन० मिश्र० २	मिथ्यात्व० १
सञ्ज्ञी०	सञ्ज्ञी० १		सञ्ज्ञी० १			असञ्ज्ञी० १
आहारी०	आहारी०, १		आहारी, १			अनाहा० १
सर्वमार्गणाः—	३९	८६	५४	६	६५	४५
गाथाङ्काः—	४०८	४०४-५-६-७	४१२	४०९	४१०-४११-४१२	४०२-३-४

★ मतान्तरे—परिहारविशुद्धिकसंयम-तेजः-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषूत्कृष्टतोऽपि समयः (गाथा-४०८)

आयुष उत्कृष्ट-जघन्यस्थितिबन्धयोर्नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

	उत्कृष्टस्थिति०		जघन्यस्थिति०		
	जघन्यतः- समयः उत्कृष्टतः- संख्येयाः समया	ओघवत् समय आवलिकाऽसंख्यभागः	समयः संख्येया समया	समय आवलिकाऽसंख्यभाग	ओघवत् सर्वाद्धा
गति०	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्तौ, मानुषी, आनतादि-१८ देवभेदाश्च २१	उक्तमनुष्यौघाद्येकविंशतिभेदवर्जशेष० २६	पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदौ, आनतादि-१८ देवभेदाश्च. २०	सर्वनरकातिर्यक्पञ्चेन्द्रिय० मनुष्यौघ-तदपर्याप्तौ देवौघ-भवनपत्यादि-सहस्रारान्ताश्च २६	तिर्यग्गत्योघ० १
इन्द्रिय०		सर्व० १९		सर्वविकल पञ्चेन्द्रियभेदा, १२	एकेन्द्रिय० ७
काय०		सर्व० ४२		बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुभेद० पर्याप्तप्रत्येकवन-सर्वत्रसभेदाश्च० ८	उक्तादृष्टभेदवर्जा० ३४
योग०	आहारक-तन्मिश्र० २	शेष० १४	आहारक-तन्मिश्रौ, २	सर्वमनोवचो०वैक्रिय० ११	काययोगौघ०औदारिक-तन्मिश्र० ३
वेद०		वेदत्रय, ३		स्त्री-पुरुषवेदौ २	नपुंसक० १
कषाय०		सर्व० ४			सर्व० ४
ज्ञान०	मत्यादिज्ञान० ४	अज्ञान० ३	मत्यादिज्ञान० ४	विभङ्ग० १	शेष० २
संयम०	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० देश० ५	असंयम० १	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० ४	देशसंयम० १	असंयम० १
दर्शन०	अवधि० १	चक्षु० अचक्षु० २	अवधि० १	चक्षु० १	अचक्षु० १
लेश्या०	शुभ० ३	अशुभ० ३	शुभ० ३		अशुभ० ३
भव्य०		भव्या-भव्यौ, २			सर्व० २
सम्यक्त्व.	सम्यक्त्वौघ० क्षायि० क्षायो० सास्वादन० - ४	मिथ्यात्व० १	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० क्षायोपशमिक० ३	सास्वादन० १	मिथ्यात्व० १
संज्ञी०		सर्व० २		संज्ञी० १	असंज्ञी० १
आहारी०		आहारक० १			आहारी० १
सर्वमार्गणाः- ४०		१२३	३७	६४	६२
गाथाङ्क - ३९२-३९३		३९२-३९३	४१४	४१४-४१५	४१४

आयुषोऽनुत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यतः-- अन्तर्मुहूर्तम		अन्तर्मुहूर्तम्	ओघवत्
उत्कृष्टतः-- अन्तर्मुहूर्तम्		पल्योपमस्याऽसंख्यभाग.	सर्वाद्धा
गति०	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आनतादिसर्वार्थसिद्धान्त-देवभेदाश्च० २०	सर्वनरकभेद० सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद० मनुष्यौघ-तत्पर्याप्तौ, देवौघ० भवन-पत्यादिसहस्रारान्ता देवभेदाश्च० २६	तिर्यग्गत्योघ० १
इन्द्रिय०		सर्वविकलसर्वपञ्चेन्द्रियभेद० १२	सर्वैकेन्द्रियभेद० ७
काय०		पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुभेदा, पर्याप्तप्रत्येकवन-सर्वत्रसभेदाश्च० ८	उत्कृष्टभेदवर्जा शेषाः पृथिवीकायौघाद्याः, ३४
योग०	आहारक-तन्मिश्रयोगौ, ∴ २	सर्वमनोवचोभेदाः, वैक्रिय० ∴ ११	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्रयोगौ च ३
वेद०		स्त्री-पुरुषवेदौ, २	नपुंसक० १
कषाय०			सव० ४
ज्ञान०	मनःपर्यव० १	मति-श्रुता-ऽवधि० विभङ्ग० ४	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने० २
संयम०	संयमौघ० सामायिक० छेद० परिहार० ४	देशसंयम० १	असंयम० १
दर्शन०		चक्षु० अवधि० २	अचक्षु० १
लेश्या०	शुक्ल० १	तेज-पद्मलेश्या० २	कृष्णाद्यशुभ० ३
भव्य०			भव्या-ऽभव्यौ, २
सम्यक्त्व.	क्षायिक० १	सम्यक्त्वौघ० क्षायोपशमिक० सास्वादन० ३	मिथ्यात्व० १
संज्ञी०		संज्ञी० १	असंज्ञी, १
आहार०			आहारी, १
सर्वमार्गणाः--	२६	७२	६२
गाथाङ्काः--	३९८-३९९	३९८-४००	३९५-३९६-३९७

∴ **अपवादः**—आहारक-तन्मिश्र-सर्वमनोवचोभेद-वैक्रियकाययोगेषु प्रत्येकं जघन्यतः समयमात्रः, न पुनरन्तर्मुहूर्तम् (गाथा--३९८)।

॥ अथ त्रयोदशमन्तरद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रयेऽन्तरद्वारे मूलाष्टकर्मसत्कोत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकानामन्तरं व्याचिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्यधिकृत्यौघत आह—

अंतरमट्ठण्ह लहुं जेट्ठाअ ठिईअ बंधगाण खणो ।
अंगुलअसंखभागो परमं अगुरूअ णेव भवे ॥४१६॥

(प्रे०) "**अंतरमट्ठण्हे**"त्यादि, अष्टानां ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां 'लघु'-जघन्यमन्तरं सर्वथाऽभावलक्षणं "**खणो**" त्ति समयः, समयमात्रं भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । "**अंगुलअसंखभागो परमं**" ति तेषामेवाऽष्टप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां 'परमं'-दीर्घमन्तरमङ्गुलाऽसंख्यभागः, अङ्गुलासंख्यभागप्रमाणक्षेत्रगताकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयं नैरन्तर्येणैकैकाकाशप्रदेशेऽपह्रीयमाणे यावान् कालोऽपगच्छति, तावानसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणकालो भवेदित्यर्थः । "**अगुरूअ णेव भवे**" त्ति अष्टानामपिमूलप्रकृतीनामगुरोः-अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां नैव भवेत्, प्रकृतत्वादन्तरमिति गम्यत इति । अत्र समयप्रमाणाद्युक्तान्तरस्य भावना त्वनन्तरमेव मार्गणास्थानेषु वक्ष्यमाणसमयाद्यन्तराणामुपपत्त्यनुसारेण द्रष्टव्या, तत एव प्रकृतसमयाद्यन्तराणां सुखावसेयत्वादिति ॥४१६॥

अथ मार्गणास्थानेषु प्रकृतान्तरं दिदर्शयिषुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

जासु जेट्ठठिईए कालो सत्तण्ह होइ सव्वद्धा ।
तासु जेट्ठठिईए सत्तण्हं अंतरं णत्थि ॥४१७॥

(प्रे०) "**जासु जेट्ठठिईए**" इत्यादि, यास्वेकेन्द्रियौघादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेः "**कालो**" त्ति नानाबन्धकाश्रयकालः सर्वाद्धा प्राग्भणितो भवति, तासु मार्गणासु सप्तानां ज्येष्ठस्थितेः "**अंतरं**" ति प्रकृतं नानाबन्धकाश्रयमन्तरं 'नास्ति' न विद्यत इत्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, बन्धककालस्य सर्वाद्धात्वादेव । **इदमुक्तं भवति**–यत्र मार्गणादौ यस्याः उत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्बन्धकानां परिमाणमसंख्येयलोकादिप्रमाणं तस्याः स्थितेर्बन्धकास्तत्र मार्गणादौ निरन्तरं प्राप्यन्ते,ततस्तत्र तद्बन्धकानां कालः प्राक् सर्वाद्धाऽभिहितः । यतो बन्धकानां कालः सर्वाद्धाः, अर्थाद् बन्धकप्राप्तिर्निरन्तराः, तत एव बन्धकानामन्तरं न भवतीति तु सुगमः, निरन्तरस्यैवान्तराभावाऽर्थकत्वात्, इत्येवमन्योन्यगमकत्वात् सर्वाद्धा-निरन्तरयोरिति । इत्थमेवानन्तरमोघतोऽष्टकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामन्तरप्रतिषेधे मार्गणास्थानेषु वक्ष्यमाणान्तरप्रतिषेधे च विभावनीयमिति ॥४१७॥

एकेन्द्रियौघादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जसप्तकर्मणां ज्येष्ठस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयसर्वाद्धाप्रतिपादिके गाथे पुनरिमे—

'सत्तण्ह बंधगाणं उक्कोसाए ठिईअ सव्वद्धा । सव्वेसुं एगिंदिय-णिगोअभेएसु वणकाये ॥३८१॥
असमत्तबायरेसुं पत्तेअवण-पुढवाइचउसु च । तह पुढवाइचऊण्हं सव्वेसुं सुहुमभेएसुं ॥३८२॥ " इति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतं सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिसत्कनानाबन्धकाऽऽश्रयमन्तरं जघन्योत्कृष्टभेदतः प्रतिपादयन्नेकामार्यामाह—

सेसासु लहुं समयो वासपुहुत्तं अवेअ-सुहुमेसुं ।
उक्कोसं सेसासुं अंगुलभागो असंखयमो ॥४१८॥

(प्रे०) "**सेसासु लहु**"मित्यादि, एकेन्द्रियौघादिद्वात्रिंशन्मार्गणावर्जासु शेषासु निरयगत्योघाद्यष्टत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं "**लहुं**" ति प्रकृतत्वात् सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां 'लघु'-जघन्यमन्तरं 'समयः'-समयमात्रं,भवतीति शेषः । कथम् ? एकेन समाप्त उत्कृष्टस्थितिबन्धे समयान्तरेण तस्यैव तत्प्रवृत्तेरशक्यत्वेऽपि तदन्यस्य तत्प्रवृत्तेः शक्यत्वादिति ।

अथ प्रकृतमेवोत्कृष्टत आह—"**वासपुहुत्तं अवेअसुहुमेसु**" ति अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां वर्षपृथक्त्वमन्तरम् "**उक्कोसं**" ति 'उत्कृष्टम्' उत्कृष्टपदे ज्ञेयम् । सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां प्रतिपतच्चारित्रमोहोपशमकानां वर्षपृथक्त्वं यावत् सर्वथाऽभावस्यापि सम्भवात् । कुतः सम्भवः ? नानाजीवानाश्रित्योपशमश्रेणेरुत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं चान्यत्र-"वासपुहुत्तं उवसामएसु" इति ।

अथोक्तशेषास्वाह—"**सेसासुं अंगुलभागो असंखयमो**" त्ति एकेन्द्रियौघादिद्वात्रिंशन्मार्गणा अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणे च विहाय याः शेषा निरयगत्योघादिषट्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणास्तासु शेषसर्वमार्गणासु प्रकृतोत्कृष्टान्तरमङ्गुलस्य भागोऽसंख्यतमः, ओघवदङ्गुलासंख्यभागप्रमाणक्षेत्रगताऽऽकाशप्रदेशापहारलक्षणाऽसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिण्य भवतीत्यर्थः ।

इदमत्र हृदयम्—यासु मार्गणासु सप्तकर्मणां तत्तत्स्थितेर्बन्धकानामसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वाद्बन्धकान्तरसम्भवस्तासु प्रत्येकमेकस्थितिबन्धस्थानात्मिकाया उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्बन्धका यदि श्रेणिबहिस्थास्तदा तस्या उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्नानाबन्धकाश्रयमुत्कृष्टमन्तरमङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणं यथोक्तमेव प्राप्यते, यदि च तयोरेकस्थितिबन्धस्थानात्मिकयोः स्थित्योर्बन्धकाः श्रेणिगतास्तदा त्वपगतवेदादिमार्गणावत् श्रेण्यन्तरकालानुसारेणोत्कृष्टान्तरं स्तोकं प्राप्यते, जघन्यान्तरं तु तयोस्सर्वत्र समयमात्रमासाद्यते । कुतः ? विवक्षितजीवैर्निष्ठापिते जघन्यादिस्थितिबन्धेऽन्यैर्जीवैः समयान्तरेणैव तत्स्थितिबन्धस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात् । सप्तानां नानास्थितिबन्धस्थानात्मकयोरुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितिबन्धयोः प्रकृतं नानाबन्धकाश्रयमन्तरं

तु या अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशसान्तरमार्गणास्तास्वेव प्राप्यते, नान्यासु । कुतः ? नानास्थितिबन्धस्थानात्मकानुत्कृष्टादिस्थितिबन्धस्य जीवनबहुकालभावितया सर्वदा तद्बन्धकानां लाभेनाऽनन्तरं कालद्वारे सर्वाद्धाया अभिहितत्वात् । सान्तरमार्गणासु तु तयोरुत्कृष्टमन्तरं मार्गणाया नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरप्रमाणं प्राप्यते, जघन्यं तु यथासम्भवं समयादिकम् ।

इत्यतोऽपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां च प्रकृतोत्कृष्टान्तरं स्तोकमभिहितम्, तत्रोपशमश्रेणिगतानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् । शेषमार्गणासु तु श्रेणिबहिःस्थानामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्तदुत्कृष्टतोऽङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणमभिहितम्, जघन्यं च शेषसर्वमार्गणासु समयमात्रं दर्शितमिति ॥४१८॥

तदेवमुक्तं सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयमन्तरम् । साम्प्रतं तासामेवाऽऽयुर्वर्जसप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेस्तं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ण अपज्जणरे आहारदुगे विउव्वमीसे य ।
गयवेए सुहमम्मि य उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥४१९॥
समयोऽणुक्कोसाए ठिईअ ह्रस्सं सहस्सवासाणि ।
तेवट्ठी चुलसीई कमसो छेअ-परिहारेसुं ॥४२०॥

(प्रे०) "**सत्तण्हे**"त्यादि, तत्र 'सत्तण्ह' इत्यस्य 'समयोऽणुक्कोसाए ठिईअ ह्रस्स' मिति परेणान्वयः, तत आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः'ह्रस्वं' जघन्यमन्तरं समयः, अस्तीति शेषः । कासु मार्गणास्वित्याह—"**अपज्जणरे**" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामाहारक – ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वये वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गणासु च प्रत्येकमित्यर्थः । "**सहस्सवासाणि तेवट्ठी चुलसीई कमसो**" त्ति 'णुक्कोसाए ठिईअ ह्रस्स'मिति काकाक्षिगोलकन्यायेनाऽत्रापि सम्बध्यते, ततः सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानां ह्रस्वमन्तरं वर्षसहस्राणि त्रिषष्टिश्चतुरशीतिश्च क्रमशः, भवतीति शेषः । कुत्रेत्याह—"**छेअपरिहारेसु**" ति छेदोपस्थापनसंयमे परिहारविशुद्धिकसंयमे चेत्यर्थः । **इदमुक्तं भवति**—अपर्याप्तमनुष्याद्यनन्तरोक्तनवमार्गणास्वपर्याप्तमनुष्यादितया जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं जघन्यतः समयमात्रं सम्पद्यते, ततश्च तासु मार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणं जघन्यमन्तरमपि समयमात्रं प्राप्यते, न चैवं च्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोरपि । कस्मात् ? तयोर्नानाजीवाश्रयजघन्यान्तरस्याऽप्युक्तप्रमाणत्वात् । उक्तं च **श्रीपञ्चसङ्ग्रहे**—

'छेदोवट्ठावणियं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं तेसट्ठि वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोपम-कोडाकोडिओ, परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं चउरासीइं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ' इति ।

न च जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं मा भवतु समयमात्रं, सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामन्तरं तु तावत्स्यात्, को दोषः ? इति **वाच्यम्** । यतः प्रकृतमार्गणागतसर्वजीवानां सममेवोत्कृष्टस्थितिबन्धसद्भावे तावदन्तरस्य सम्भवः, सममेव सर्वेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धसद्भावे त्वन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं तेषां सर्वजीवानां मिथ्यात्वादौ गमने प्रकृतमार्गणाया एवान्तरं प्रवर्तेत, तत्तु नेष्यते, यदा तु सर्वे जीवामार्गणान्तरं गच्छन्ति, तदा तु यथोक्तान्तरमेव प्राप्यते, न पुनः सामयिकम् । इत्थं न कुतश्चिदपि प्रकृतानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामन्तरं जघन्यतः समयादिमात्रं भवितुमर्हतीतिकृत्वा शेषमार्गणापेक्षया दीर्घं यथासम्भवमुक्तमिति ॥४१९-४२०॥ अथोक्तशेषमार्गणानां निरन्तरत्वात्तत्र प्रकृतान्तरं निषेधयन् तथा-ऽनन्तरोक्तसान्तरमार्गणासु प्रकृतान्तरमुत्कर्षतः प्रतिपादयन्नाह—

सेसासु अंतरं णो अपज्जणर-मीस-सासणेसु गुरुं ।
पल्लाऽसंखियभागो बारमुहुत्ता विउवमीसे ॥४२१॥
परमं आहारदुगे वासपुहुत्तं अवेअ-सुहुमेसु ।
णायव्वं छम्मासा होइ उवसमम्मि सत्तदिणा ॥४२२॥
छेए परिहारम्मि य अयरा अट्ठार कोडिकोडिओ ।
उक्कोसमंतरं खलु होइ ठिईए अजेट्ठाए ॥४२३॥

(प्रे०) **"सेसासु अंतरं णो"** इत्यादि, उक्तशेषासु निरयगत्योघादिमार्गणासु सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामन्तरं **"णो"** त्ति न भवतीत्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकं मार्गणानां निरन्तरत्वादिति । अथाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणानां सान्तरत्वेन तत्राऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां जघन्यमन्तरमभिहितम्, न पुनरुत्कृष्टमिति तदेव दर्शयन्नाह-**"अपज्जणरमीसे"**त्यादि, अपर्याप्तनरभेदे सम्यग्मिथ्यात्वे सासादने च **"गुरु"** ति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयं 'गुरु' उत्कृष्टमन्तरं **"पल्लाऽसंखियभागो"** त्ति पल्योपमाऽसंख्यभागप्रमाणं भवतीत्यर्थः । कुतः ? मार्गणात्रयस्योत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । यदुक्तं **जीवसमासे**—

'पल्लाऽसंखियभागं सासण-मिस्सा-ऽसमत्तमणुएसु' इति ।

"बारमुहुत्ता विउवमीसे" त्ति प्रकृतान्तरं वैक्रियकाययोगमार्गणायां द्वादश मुहूर्ता भवतीत्यर्थः । अत्राऽपि मार्गणोत्कृष्टान्तरस्य तथात्वादेवेति हेतुर्बोद्धव्यः । उक्तं चैतदपि **जीवसमासे**-'विउव्विमिस्सेसु । बारस हुंति मुहुत्ता' इति ।

"परमं आहारदुगे वासपुहुत्तं" त्ति आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्विके 'परमम्'-उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम् । एतदपि नानाजीवाश्रयमार्गणान्तरस्य वर्षपृथक्त्वात्पूर्ववदवसातव्यम् । अभिहितं च **जीवसमासे**-"आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्तं" इति । "आहारमाइ लोए छम्मासं जा न होंति उ कयाई"त्यादिवचनात्पुनरन्यथा प्रकृतान्तरं षण्मासमात्रमपि ज्ञायते, नवरं तन्नात्राधिकृतम्, अतो **श्रीप्रज्ञापनाद्यभिप्रायेण** तु तद्विशेषतः स्वयमेव द्रष्टव्यमत्रोत्तरत्र चेति ।

"अवेअसुहुमेसु णायव्वं छम्मासा" त्ति अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकमुपशमकानामिवानुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां क्षपकाणामपि प्रवेशात् तेषामुत्कृष्टान्तरस्य "खवगेसु छम्मासा" इति वचनेन षण्मासप्रमाणत्वाच्च प्रकृतोत्कृष्टान्तरमपि षण्मासप्रमाणं ज्ञातव्यमिति भावः ।

"होइ उवसमम्मि सत्त दिणा" त्ति उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतान्तरं सप्त दिनानि, सप्ताहोरात्राणीत्यर्थः । उपशमकानां सर्वथाऽभावलक्षणोत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां न त एवानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्वभाजोऽपि, तेषां चान्तरं सप्त दिनान्येवोत्कृष्टतोऽप्यवगमातव्यमिति भावः ।

अथ छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः प्रकृतमाह-**"छेए परिहारम्मि ये"** त्यादिना, अक्षरार्थस्तु सुगमः । भावनाऽपि तयोर्द्वयोर्मार्गणोत्कृष्टान्तरापेक्षयैव कर्तव्या । उत्कृष्टान्तरं पुनस्तयोरेवमुक्तम्-'छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण तेवट्ठिं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ । परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं चउरासीइं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ' इति **व्याख्याप्रज्ञप्तिपञ्चविंशतितमशतकसप्तमोद्देशके सामायिकसंयतादीनामन्तराधिकारे** । इति गाथात्रयार्थः ।।४२१-४२२-४२३।।

तदेवमभिहितं सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां यथासम्भवमन्तरम् । सम्प्रति शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तदादेशतो दिदर्शयिषुरादावुत्कृष्टस्थितिमधिकृत्याह—

आउस्सुक्कोसाए ठिईअ सव्वासु अंतरं णेयं ।
हस्सं समयो जेट्ठं अंगुलभागो असंखयमो ।।४२४।।

(प्रे०) **"आउस्सुक्कोसाए"** इत्यादि, निरयगत्योघाद्याहारिपर्यन्तास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु सर्वासु मार्गणास्वायुष उत्कृष्टायाः **स्थितेः "अंतरं णेयं"** त्ति नानाजीवाश्रयं बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं ज्ञेयम् । कियदित्याह-**"हस्सं समयो"** त्ति **'हस्वं'** लघु 'समयः' समयमात्रम्, **"जेट्ठं अंगुलभागो असंखयमो"**त्ति 'ज्येष्ठं' दीर्घं पुनस्तत्क्षेत्रतोऽङ्गुलस्याऽसंख्यतमो भागः, अङ्गुलासंख्यभागप्रमाणक्षेत्रप्रदेशानां प्रतिसमयाऽपहारलक्षणा असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । एतच्च ह्रस्वेतरं द्विविधमप्यन्तरं "सेसासु लहुं समयो वासपुहुत्तं **अवेअसुहुमेसु**"

उक्कोसं सेसासुं अंगुलभागो असंखयमो" ॥४१८॥ इत्यस्या गाथाया वृत्तावुक्तव्याप्त्यनुसारेणोपपादनीयमिति ॥४२४॥

अथायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामन्तरं प्रतिपिपादयिषयाऽऽर्याद्वयमाह—

जहि सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसठिईअ आउगस्स भवे ।
तहि तीअ अंतरं णो सेसासु भवे लहुं समयो ॥४२५॥
पंचिंदियतिरिय-विगल-पणिंदिय-तसेसु-सिं अपज्जेसुं ।
भिन्नमुहुत्तं जेट्ठं अण्णह णाऊण णेयव्वं ॥४२६॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, "जहि" त्ति 'यत्र' यासु मार्गणासु "**सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसठिईअ आउगस्स भवे**" त्ति 'सव्वद्धाउस्स भवे अणुक्कठिईअ तिरियम्मि' इत्यादि, गाथा— (३९५-३९६-३९७) त्रयेणायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां कालोऽनन्तरगते **कालद्वारे** सर्वाद्धा भणितः "**तहि**" त्ति तासु तिर्यग्गत्योघ-पर्याप्तबादरभेदवर्जषट्पृथिविकाय-षडप्काय-षट्तेजस्काय-षड्वायुकाय-वनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तभेदवर्जप्रत्येकवनस्पतिकायभेदद्वय-सर्वसाधारणवनस्पतिकायभेद-काययोगौघौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-ऽसंज्ञ्य-ऽऽहारकलक्षणासु द्विषष्टिमार्गणासु "**तीअ**" त्ति तस्या आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेः "**अंतरं णो**" त्ति प्रस्तुतत्वाद्बन्धकानामन्तरं न भवति । सुगमः, बन्धककालस्यैव सर्वाद्धात्वात् । बन्धककालः सर्वाद्धा तु कालद्वारे बन्धकपरिमाणबाहुल्यादुपपादित इति तत एवावसेयः ।

शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरस्य सम्भवात्तदादौ जघन्यत आह—"**सेसासु**" इत्यादि, अनन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणा अपहाय शेषासु यास्त्रायुर्बन्धो भवति, तासु निरयगत्योघाद्येकोत्तरशतमार्गणासु प्रस्तुतमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं "**लहुं समयो**" त्ति 'लघु' जघन्यं 'समयः' समयमात्रं भवेदित्यर्थः । सुगमम्, शेषमार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्योत्कृष्टपदेऽपि स्वल्पत्वात्, असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वादिति भावः । ततः किम् ? ततो भवति कदाचित् सर्वथा प्रस्तुतबन्धकाभावः, तथा च तादृशसर्वजघन्यसमयमात्रान्तरकालात्पूर्वोत्तरसमयेष्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां सम्भवे प्रस्तुतान्तरं जघन्यतः समयमात्रं प्राप्यते । भावना त्वन्यान्यजीवापेक्षया प्रागिव द्रष्टव्या, न त्वेकजीवापेक्षया विवक्षितैकजीवेनाऽऽयुर्बन्धे निष्ठापिते पुनरप्यन्तर्मुहूर्तादिकालादर्वाक् तस्यैवायुर्बन्धाऽप्रवर्तनात्, अत एवैकजीवाश्रयान्तरप्रस्तावे आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्रदर्श्याऽप्यत्र नानाजीवापेक्षया तत् समयमात्रं प्रदर्शितमिति ।

प्रस्तुतान्तरमुत्कर्षतो दर्शयितुमाह–"पंचिदिये"त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणासु प्रत्येकं नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्य सद्भावे सत्यन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सर्वदा लाभादायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टमन्तरमायुषः प्रकृतिबन्धान्तरवदन्तर्मुहूर्तमेव भवेत्, नाधिकमित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति–यदाऽऽयुषः प्रकृतिबन्धो जायते, तदा कुत्रचित् समयमेकं विहायाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तस्य नियमेन प्रवर्तते, एवञ्चाऽऽयुषो नानाजीवाश्रयप्रकृतिबन्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरयोर्नास्ति किञ्चिद्विशेषः । प्रकृतिबन्धान्तरसाधनेनैवाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं साधितं भवतीति भावः । आयुषः प्रकृतिबन्धान्तरं तु यत्र मार्गणायां नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरसद्भावे सत्यन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवाः सर्वदा प्राप्यन्ते तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणासूत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, नाधिकमिति तादृशमार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरमप्यन्तर्मुहूर्तं लभ्यते, नाधिकम् । न चान्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्त्यैव प्रस्तुतान्तर्मुहूर्तान्तरं प्रसाध्यताम्, किं नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्य साधनैकदेशतया प्रवेशेनेति वाच्यम् । यत आयुर्बन्धकान्तरे सिद्धे सति तदन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्त्योत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रायां पर्यवस्यति, न त्वायुर्बन्धकान्तरेऽसिद्ध एव । आयुर्बन्धकान्तरं तु नानाजीवाश्रयच्यवनान्तराधीनम् । को भावः ? यत्र मार्गणायां नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरं लभ्यते, तत्रैव मार्गणायामायुर्बन्धकान्तरमभ्युपगतम्, नान्यत्र । इत्थं हि नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्य साधनैकदेशतया प्रवेश आवश्यकः । अन्यथा तदप्रवेशे केवलेनाऽन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकलाभमात्रेणैव प्रस्तुतान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वसिद्धौ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्थानेषु नानाऽऽयुर्बन्धकाश्रयमन्तरमन्तर्मुहूर्तमापद्येत, तत्रान्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां नैरन्तर्येण लाभात् । न चेष्टापत्तिः, तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्थानेष्वायुर्बन्धकान्तरस्य सर्वथा प्रतिषिद्धत्वात् । न च तर्हि नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरेणैव प्रस्तुतान्तर्मुहूर्तमायुर्बन्धकान्तरं साध्यताम्, किं पुनरन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकसद्भावस्य हेत्वंशतया विनिवेशेन, तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्यैवाभावेन ★तावतैवोक्तापत्तेर्वारणसम्भवादित्यपि वाच्यम् । तथा सति निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्याऽभिमतत्वेन तत्राऽपि प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेव वक्तव्यं स्यात् । न च तथा वक्तुं युक्तम् । तत्र तस्य द्वादशमुहूर्तादिच्यवनान्तरमबाधित्वा दीर्घस्य किञ्चिदूनद्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्मासादिप्रमाणस्य सम्भवात् । तथाहि–निरयगत्योघमार्गणास्थाने 'ओहे बारसमुहुत्त गुरु' इति च्यवनान्तरप्रतिपादकग्रन्थान्तरवचनेन नानाजीवाश्रयं च्यवनान्तरं द्वादशमुहूर्तप्रमाणमस्ति, तथा च तत्र यदा कदाचिदुत्कृष्टायां षण्मासात्मिकायामबाधायां यावदजघन्याबाधमन्तर्मुहूर्ताबाधायां बद्धायुष्का नारका वर्तन्ते, ततः प्रभृति बध्नन्त-

★ नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरेणैवेति तावतैवेत्यस्य भावः ।

मुहूर्तोनान् द्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्मासान् यावत्कैश्चिज्जीवैरायुर्बन्धो न क्रियेत, तदा द्वादशमुहूर्ताश्च्यवनान्तरमन्तर्मुहूर्तोना द्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्मासा उत्कृष्टमायुर्बन्धकान्तरं च सुखेनोत्पद्येताम्, षण्मासान् यावत् पूर्वोक्तानामन्तर्मुहूर्ताद्यबाधायां बद्धायुष्कानां च्यवमानानां अभावात्, षण्मासादूर्ध्वं द्वादशमुहूर्तान् यावच्च्यवनान्तरस्य प्रवर्तनेन कस्यापि च्यवनस्याऽनपेक्षणात्, तदुत्तरं द्वादशमुहूर्तच्यवनान्तरस्यान्तप्रभृत्या तु तस्य च्यवनान्तरस्य समाप्तेरर्वागन्तर्मुहूर्तादिमात्राबाधायां जघन्याद्यबाधायां बद्धायुष्कानां यथोत्तरं च्यवनभावात्। अत एव द्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्मासप्रमाणमायुर्बन्धान्तरमसम्भाव्यान्तर्मुहूर्तोनमेवोत्कृष्टतः सम्भावितमिति।

इत्थं हि सावधारणान्तर्मुहूर्तमात्राऽऽयुर्बन्धकान्तरसिद्ध्यै न केवलं च्यवनान्तरमलम्, न वा केवलाऽन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्तिरलम्, किन्तु च्यवनान्तरसद्भावे सत्यऽन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्तिरित्येतावदेव। अत एव यत्र मार्गणासु नानाजीवापेक्षया च्यवनान्तरसद्भावे सत्यन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकसद्भावः सिद्धस्तत्र मार्गणास्वेव प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तमभिहितम्, न पुनर्निरयगत्योघादिमार्गणान्तरेषु। ननु मोच्यतां निरयगत्योघादिमार्गणान्तरेऽन्तर्मुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्तेरभावेन तत्र प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उक्तनीत्या तत्तत्र यथोक्तं किञ्चिदभ्यधिकषण्मासादिप्रमाणं तु वक्ष्यते? इति चेद्, न, यत उक्तयुक्त्या तस्य तावन्मात्रस्य सम्भवेऽपि, ततोऽपि प्रबलेन युक्त्यन्तरेण तत्ततः स्तोकमपि सम्भवति।

तथाहि–बद्धायुष्कानामवश्यं च्यवनभावात्, च्यवमानानां नियमतो बद्धायुष्कत्वाच्च च्यवनाऽऽयुर्बन्धौ परस्परं नियमितौ। इत्थं चौघतो मार्गणास्थानेषु चोत्कृष्टपदे च्यवनपरिमाणवदायुर्बन्धकपरिमाणं संख्येयमसंख्येयमनन्तं वा सदृशं लभ्यते, तथैव प्राक् परिमाणद्वारे प्रतिपादितं च, तेनैव न्यायेनाऽऽयुर्बन्धकान्तरमपि तत्तन्मार्गणासु ग्रन्थान्तरदर्शितनानाजीवाश्रयच्यवनान्तरेण तुल्यमेव साधनीयमुचितं प्रतिभाति, न पुनः पूर्वोक्तमभ्यधिकषण्मासादिमानम्। यद्यप्येवं तथाऽप्येकजीवापेक्षया च्यवनस्य सामयिकत्वेनाऽऽयुर्बन्धस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वेन च बाधकसम्भावनया नाऽयमपि पक्ष उपादास्यते, किन्तु 'णाऊण णेयव्व'मित्यनेन तत्प्रतिपादकग्रन्थान्तरलाभे तेन, तदभावे तथाविधाप्तपुरुषविशेषात्, तदभावे तु प्रबलोपपत्त्यन्तरतस्तत्स्वयमुन्नेयमित्येवमेव वक्ष्यते, उक्तसाधनाभावे तस्य स्पष्टं वक्तुमयुक्तत्वात्। स्याद्यदि तत्प्रतिपादकवचनादीनामन्यतमत्, तदा तु तस्य स्पष्टं कथनेऽपि न बाधा। न चैकजीवाश्रयाऽऽयुर्बन्धकाल-च्यवनकालयोरन्तर्मुहूर्त-समयमात्रतया भवतूत्कृष्टपदे नानाजीवाश्रया-ऽऽयुर्बन्धकाल-च्यवनकालयोरतुल्यत्वम्, न पुनस्तयोरन्तरस्य किञ्चिदापद्येत, अन्तरोपपत्तावेकजीवाश्रयच्यवनकाला-ऽऽयुर्बन्धकालवैषम्यस्य बाधकत्वसम्भावनाया एवाऽनवकाशादिति वाच्यम्। नानाजीवानाश्रित्याऽऽयुर्बन्धे समाप्ते तदन्तरस्य, तदन्तरे समाप्ते पुनरपि तद्बन्धस्य प्रवृत्तेरिव नानाजीवानाश्रित्य च्यवनसमाप्तौ तदन्तस्य, तत्समाप्तौ

पुनरपि तच्च्यवनप्रवृत्तेरावश्यकत्वादुत्कृष्टपदे तयोः कालस्य तारतम्ये उत्कृष्टपदेऽन्तरपरिमाणतारतम्यमपि कथं न स्यात् ।

यदि चैकजीवाश्रयच्यवनकालस्य समयमात्रत्वेनैकजीवश्रयाऽऽयुर्बन्धकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन च तयोर्मध्येऽसंख्येयगुणहीनाधिकत्वेऽपि उत्कृष्टपदगतैकजीवाश्रयाऽऽयुर्बन्धान्तर-च्यवनान्तरयोर्मध्येऽसंख्येभागमात्रेण हीनाधिक्यान्नानाजीवाश्रययोस्तयोर्मध्ये स्यात्तुल्यप्रायत्वं तुल्यत्वं वा तर्हि तु न कश्चिद्दोषमुत्पश्यामः, नवरं तयोस्तुल्यत्वमेव तुल्यप्रायत्वमेव वेति तु प्रबलसाधनाभावे निश्चेतुं न युक्तम्, इत्यतोऽपि 'णाउण णेयव्व' मित्येवमेवेदानीं सम्यग्। निश्चयतस्तु तस्य सूक्ष्मार्थवेदिवेद्यत्वादित्येवं विचारितं यथामति प्रसङ्गवशान्निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेष्वाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरम् । एतर्हि तदेव विभणिषुराह मूलकृत्-'अण्णाह णाउण णेयव्व' मिति, गतार्थम् । केवलमन्यत्रेति 'जहि सव्वद्धा' इत्यादिना प्रतिपिद्धप्रकृतान्तरास्तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणास्तथा 'पंचिदियतिरिय-विगले' त्यादिनाऽभिहितप्रकृतान्तरा द्वादशमार्गणा इत्येवं चतुःसप्ततिमार्गणाभ्यो 'ऽन्यत्र'–निरयगत्योघादिनवनवतिशेषमार्गणास्वित्यर्थः । ताश्च शेषमार्गणा इमाः-सर्वे निरयगतिभेदाः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, तिरश्ची, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाः, पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पति-पर्याप्तत्रसकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, स्त्रीवेद-पुंवेदौ, मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-संयम-देशसंयमाः, चक्षु-रवधिदर्शने, शुभलेश्यात्रिकम्, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वानि, सासादनं संज्ञिमार्गणास्थानञ्चेति ।

अत्रेदमवधेयम्–यत्र मार्गणादावायुष उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽसंख्यलोकान्न्यूनं, तत्र मार्गणादौ तद्बन्धकानां यथोक्तविवक्षया स्तोकत्वेन कादाचित्कान्तरमभ्युपगम्य पूर्वं भङ्गविचयद्वारे पर्याप्तबादरपृथिवीकायादिमार्गणास्थानेष्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितावष्टौ भङ्गा अभिहिता । यदि तत्र पञ्चसङ्ग्रहानुसारेण निरन्तरोत्पत्तिवच्च्यवनान्तरमपि नाभ्युपगम्यते, तदा तत्राऽष्टमो भङ्गस्तथा नानाजीवाश्रयकालद्वारे सर्वाद्धा, प्रस्तुतद्वारेऽन्तरप्रतिषेधश्च द्रष्टव्यो भवति । एवमन्यत्राऽपि यथासंभवं ज्ञेयमिति ॥४२५-४२६॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधस्थित्योर्बन्धकानां लोके सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरमोघत आदेशतश्च यथासम्भवम् । साम्प्रतं तासामेवाष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योस्तद्विभणिषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह लहुं समयो हस्साअ ठिईअ बंधगाण गुरुं ।
छम्मासा अलहूए णंतरमाउस्स दोण्हं वि ॥४२७॥

(प्रे०) **"सत्तण्ह"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां 'ह्रस्वायाः' जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानां **"लहु समयो"** त्ति 'लघु'-जघन्यमन्तरं 'समयः' समयमात्रं भवति । सुगमम् । उत्कृष्टमाह–**"गुरु"** मित्यादि, सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानां 'गुरु'-उत्कृष्टमन्तरं पुनः षण्मासा भवति, क्षपकाणामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् तेषां च सर्वथाऽभावलक्षणस्यान्तरस्योत्कर्षतः षण्मासप्रमाणत्वात् । उक्तञ्च **जीवसमासप्रकरणे**–'खवगेसु छम्मासा' इति । अजघन्यस्थितिबन्धकानामाह–**"अलहुए णंतर"**मिति, सप्तानामलघुस्थितेर्बन्धकानां **"णंतर"** त्ति अन्तरं न भवति । सुगमम्, एकेन्द्रियादिमर्वजीवराशिभिः सप्तानामजघन्यस्थितिबन्धस्य नैरन्तर्येण करणात्, तेषां बहूनां राशीनामविच्छेदेन प्राप्यमाणतया बन्धककालस्यैव सर्वाद्धात्वादिति । अथाऽयुष आह– **"आउस्स दोण्हं वि"** त्ति 'णंतर' मित्यत्राऽपि सम्बध्यते, तत आयुःकर्मणो 'द्वयोरपि'-जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानामजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानां चान्तरं न भवति, न पुनः केवलानामजघन्यस्थितेर्बन्धकानामित्यपिशब्दार्थः । सुगमं चेदमपि, प्रतिसमयं द्विविधस्थित्योरनन्तानां बन्धकानां लाभेन बन्धकाद्धाया एवानाद्यनन्तत्वात्, येषां च निरवधिको बन्धकाद्धा तेषां त्वन्तरं न लभ्यत इत्यनेकशः प्रतिपादितमिति ॥४२७॥

अथादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ यासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानामन्तरमुक्तनीत्या न सम्भवति, तासु प्रतिषेधयन्नाह—

जासु जहण्णठिईए कालो सत्तण्ह होइ सव्वद्धा ।
तासु जहण्णठिईए सत्तण्हं अंतरं णत्थि ॥४२८॥

(प्रे०) **"जासु"** इत्यादि, यासु तिर्यग्गत्योघादिपञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानां कालः सर्वाद्धा **"होइ"** त्ति उक्तो भवति, तासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानामन्तरं न भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्राग्वत् । यासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धककालः सर्वाद्धा,ता मार्गणाः पुनरिमाः-तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रियभेदाः,सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादरापर्याप्तभेदभिन्नाश्चत्वारः पृथिवीकायभेदास्तथैवाप्काय-तेजस्काय-वायुकायसत्काः प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारो भेदाः, वनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ, सर्वे साधारणवनस्पतिकायभेदाः, औदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगौ, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽशुभलेश्यात्रिका-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकमार्गणाश्चेति ॥४२८॥

उक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरस्य सम्भवात्तज्जघन्येतरभेदेन दर्शयन्नाह—

सेसासु लहु समयो गुरुमत्थि दुणर-पणिंदिय-तसेसु ।
पणमणवय-कायेसु उरालिय-अवेअ-लोहेसु ॥४२९॥

मइ-सुअ-संयम-समइअ-सुहुमेसु अचक्खु-चक्खु-सुक्कासुं ।
सम्म-खइअ-सण्णीसुं भविया-ऽऽहारेसु छम्मासा ॥४३०॥
वासपुहुत्तं मणुसी-णपुंसगि-त्थि-मणणाणु-वसमेसुं ।
साहियवासो हवए पुम-तिकसायो-हिजुगलेसुं ॥४३१॥
अहवा तिकसायेसुं छम्मासो-हिजुगलम्मि बिंति परे ।
वासपुहुत्तं छेए अट्ठारस जलहिकोडिकोडिओ ॥४३२॥ (गीतिः)
सेसासु मग्गणासुं अंगुलभागो भवे असंखयमो ।

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, उक्ततिर्यग्गत्योघादिपञ्चचत्वारिंशन्मार्गणा उत्सृज्य शेषासु निरयगत्योघादिपञ्चविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु पुनः सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानामन्तरं प्राप्यते, तच्च "**लहुं समयो**" त्ति जघन्यं समयमात्रं भवति । उत्कृष्टं तर्हि कियद्भवतीत्याह– "**गुरुमत्थि**" इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमानुषीभेदवर्जितयोरोघ-पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोर्नरगतिभेदयोस्तथैवौघ–पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेदयोः, पञ्चमनोयोगभेदेषु, पञ्चवचोयोगभेदेषु, काययोगौघे, औदारिककाययोगे, अपगतवेदे, लोभकषाये, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञि-भव्या--ऽऽहारकेष्वित्येवं समुदितासु त्रयस्त्रिंशन्मार्गणासु "**छम्मासा**" त्ति षण्मासा भवति । कुतः ? एतासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धस्य क्षपकस्वामिकतया क्षपकाणां सर्वथाऽभावलक्षणोत्कृष्टान्तरापेक्षया तल्लाभात्, क्षपकाणामुत्कृष्टान्तरस्य षण्मासत्वाच्चेति । अन्यत्राह–"**वासपुहुत्त**"मित्यादि, मानुषी-नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-मनःपर्यवज्ञानौ-पशमिकसम्यक्त्व-लक्षणासु पञ्चमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति ।

ननु भवत्वौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, उपशमकानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य **जीवसमासे** "वासपुहुत्तमुवसामएसु" इत्यनेन वर्षपृथक्त्वाभिधानात् । न पुनः शेषमानुष्यादिमार्गणास्वपि तद्युज्यते, तासु क्षपकाणामेव जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन मनुष्यगत्योघादिमार्गणावत्षण्मासप्रमाणस्यैव तस्य युज्यमानत्वात् ? **इति चेद्**, **उच्यते**, तत्तद्वेदतत्तज्ज्ञानादिनाऽविशिष्टानां सामान्यजीवानां सिद्धयगमनलक्षणमन्तरमुत्कृष्टतः षण्मासादधिकमभवदपि तत्तद्वेदतत्तज्ज्ञानादिना विशिष्टानां स्त्र्यादितत्तल्लिङ्गिनामवध्यादितत्तज्ज्ञानिनां विशेषतो यथा-स्त्रीवेदनपुंसकवेदसिद्धानामुत्कृष्टतः संख्येयानि वर्षसहस्राणि, पुंवेदसिद्धानां साधिकवर्षमानम्, यथा चाऽऽभिनिबोधिक-श्रुता-ऽवधिज्ञानपश्चात्कृतानां साधिकवर्षमानम्, आभि-

निबोधिक-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञानचतुष्कपश्चात्कृतानां जीवविशेषाणां तु संख्येयानि वर्षसहस्राण्युत्कृष्टान्तरं भवति । उक्तं च **सिद्धप्राभृतवृत्तौ**—

'पुरिससिद्धाणं पुरिसाणंतरसिद्धाणं य दोण्हं वि भंगाणं अंतरं वासं अहियं । सेसपुरिसे इत्थि-णपुंसगभंगेसु संखेज्जाणि वाससहस्साणि अंतरं' त्ति गाथार्थः ॥६८॥' **इति । तथा** 'सेसाणं विगप्पाणं वासं अहियं, तं जहा—"आभिणिबोहियसुयओहिनाणपच्छाकडाणं एयं 'मणपज्जणाणरहे' त्ति मणपज्जवणाणरहियाणं । सहियाणं पुण सेसभंगाणं आभिणिबोहियसुयमणपज्जवणाणपच्छाकडाणं वा 'संखसम' त्ति संखेज्जाणि वाससहस्साणि त्ति गाथार्थं ॥७३॥' इति ।

तथैव तत्तद्वेद-तत्तज्ज्ञानेनाऽविशिष्य सामान्यतः क्षपकजीवानामुत्कृष्टान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽपि तत्तद्वेदादिना विशिष्टानां तदुत्कृष्टान्तरमधिकं प्राप्यते, तच्च स्त्रीवेदविशिष्टानां वर्षपृथक्त्वम्, तत एव मानुषीणामपि वर्षपृथक्त्वम्, नपुंसकवेदिजीवानां मनःपर्यवज्ञानिनां च वर्षपृथक्त्वं विज्ञेयम्, पुंवेदेन क्षपकश्रेणिं समारूढानां तु तत्साधिकवर्षप्रमाणमेवोत्कृष्टतोऽपि भवति । इत्थमेवावधिज्ञानिनामवधिदर्शनिनामपि क्षपकाणां प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरं साधिकवर्षप्रमाणं भवति, अत एवानुपदं पुंवेदादिमार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं साधिकवर्षप्रमाणं वक्ष्यते ।

ननु 'पुरिसे वासं अहियं' इति **सिद्धप्राभृतवचनात्** तदनुसारेण भवतु पुंवेदिक्षपकान्तराधीनं प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टतः साधिकवर्षप्रमाणम्, एवं 'सेसाणं वासहियं' इति तद्वचनात् तदनुसारेणावधिज्ञानादिमार्गणासु साधिकवर्षमानं च, न पुनर्मानुषी-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-मनःपर्यवज्ञानमार्गणासु तद्वर्षपृथक्त्वं भण्यमानमुपपत्तिपथमामृशति, स्त्रीवेदादिसिद्धानामुत्कृष्टान्तरस्य संख्येयवर्षसहस्रप्रमाणकथनाद् ? **इति चेद्, न,** बहुवाचित्वेऽपि पृथक्त्वशब्दस्य दृश्यमाणत्वात् । **उक्तं चोपशमनाकरणचूर्णौ**—"पुहुत्तसद्दो बहुवाची" इति । इत्थं च वर्षपृथक्त्वमित्यनेन सम्भवद्बहुवर्षप्रमाणान्तरस्याऽपि ग्रहीतुं शक्यत्वादित्यलं विस्तरेण । पुंवेदादिमार्गणास्वेवाह—**"साहियवासो"** इत्यादि, पुरुषवेदे **"तिकसायोहिजुगलेसु"** त्ति लोभकषाये भणितत्वात्तद्वर्जेषु त्रिषु क्रोधादिकषायेषु, अवधिज्ञानेऽवधिदर्शने चेत्येवं समुदितासु षण्मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टमन्तरं साधिकवर्षमानं भवति । कषायत्रिके मतान्तरेणाह—**"अहवा"** इत्यादि, लोभवर्जक्रोधादिकषायत्रिके 'ऽथवा'-मतान्तरेण प्रस्तुतान्तरं षण्मासा भवति । अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयेऽनन्तरं साधिकवर्षमानं दर्शितम्, साम्प्रतं महाबन्धकारमतेन तत्पूर्वापेक्षयाविलक्षणमेवेति कथयति—**"ओहिजुगलम्मि"**इत्यादि, अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयलक्षणेऽवधियुगले प्रस्तुतान्तरं **"बिंति परे"** त्ति परे-महाबन्धकारा ब्रुवन्ति-प्रतिपादयन्ति । कियदित्याह—**"वासपुहुत्तं"** त्ति वर्षपृथक्त्वमिति ।

"छेए अट्ठारस जलहिकोडिओडीओ" त्ति छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरमष्टादश 'जलधिकोटिकोटयः'- सागरोपमकोटिकोटयो भवति । अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरमाह—**"सेसासु"** इत्यादि, अष्टौ निरयभेदाः, चत्वार-

स्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, त्रिंशद्देवगतिमार्गणाभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, ओघ-बादरौघ-बादरपर्याप्तभेदभिन्नाः पृथिव्यादीनां प्रत्येकं त्रयस्त्रय इति द्वादश भेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगौ, आहारक-तन्मिश्रकाययोगौ, विभङ्गज्ञानम् , परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमौ, तेजः-पद्मलेश्ये, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम् , सम्यग्मिथ्यात्वं सासादनं चेत्येवंरूपासूक्तशेषास्वशीतिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरं क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्यभागप्रमाणं भवति, कालतस्त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इति प्राग्वज्ज्ञेयमिति ॥४२९-४३०-४३१-४३२॥

अथ मार्गणास्थानेष्वेव सप्तानामजघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयमन्तरमाह—

अजहण्णाअ ठिईएऽणुक्कोसठिइव्व सव्वासुं ॥४३३॥

(प्रे०) "अजहण्णाअ" इत्यादि, सर्वासु निरयगत्योघाद्यनाहारकमार्गणापर्यन्तासु सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु प्रस्तुतत्वान्मूलप्रकृतीनामजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्यन्तरम् "णुक्कोसठिइव्व" त्ति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकान्तरवत् 'सत्तण्ह अपज्जणरे आहारदुगे विउव्वमिसे य' । इत्यादि(४१९...४२३)गाथापञ्चकेनोक्तमानं बोध्यम् । तद्यथा—अपर्याप्तमनुष्या-ऽऽहारककाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्र-सास्वादनलक्षणेषु नवमार्गणास्थानेषु जघन्यतः समयः, छेदोपस्थापनसंयमे तु तज्जघन्यतस्त्रिषष्टिवर्षसहस्राणि, परिहारविशुद्धिकसंयमे पुनश्चतुरशीतिवर्षसहस्राणि, एता एकादशमार्गणा विहाय सेसासु निरयगत्योघादिमार्गणासु त्वजघन्यस्थितिबन्धकानामन्तरमेव न भवति । प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टतः पुनरपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टि-सास्वादनमार्गणात्रये पल्योपमस्याऽसंख्येयभागमात्रम् , वैक्रियमिश्रकाययोगे द्वादश मुहूर्ताः, आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये वर्षपृथक्त्वम् , अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः षण्मासाः, औपशमिकसम्यक्त्वे तु सप्त दिनानि, छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः पुनरिदमुत्कृष्टमन्तरमष्टादश सागरोपमकोटिकोट्यो भवति । एतच्च जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमपि सप्तकर्मणामजघन्यस्थितिबन्धकानामन्तरं सर्वत्रैव सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामन्तरवद्विभावनीयमिति ॥४३३॥

उक्तमायुर्वर्जसप्तानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योर्नानाजीवाश्रयं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं मार्गणास्थानेष्वपि । अथ शेषस्यायुःकर्मणस्तद्विभणिषुरतिदेशेनैवाह—

जासु अणुक्कोसाए ठिईअ आउस्स अंतरं णत्थि ।
तासु जहण्णठिईअ वि अंतरमाउस्स णेव भवे ॥४३४॥
सेसासु लहुठिईए उक्कोसठिइव्व अंतरं णेयं ।
अजहण्णाअ ठिईएऽणुक्कोसठिइव्व सव्वासुं ॥४३५॥

(प्रे०) "**जासु**" इत्यादि, यासु मार्गणासु आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानामन्तरं "**णत्थि**" त्ति 'आउस्स अंतर णोऽणुक्कोसाए ठिईअ' इत्यादिना प्राक् प्रतिपिद्धं तासु तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वसाधारणवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादरौघा-ऽपर्याप्तबादरभेदभिन्न-पृथिव्यप्तेजोवायुकाय-वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-तदपर्याप्त-काययोगौघौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्य-ऽनाहारकलक्षणासु द्विषष्टिमार्गणासु "**जहण्णठिईअ वि**" त्ति आयुषो जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानामप्यन्तरं नैव भवेत्। न केवलमजघन्यस्थितेर्बन्धकानामन्तरं न भवति, किन्तु जघन्यस्थितेर्बन्धकानामन्तरमपि नैव भवतीत्यपिशब्दार्थः। कुतोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकानामिव न भवति ? असंख्येयलोकादिना रूपेण बन्धकपरिमाणस्य साम्यादिति।

"**सेसासु**" त्ति अनन्तरोक्ताः द्विषष्टिमार्गणाः परिहृत्य निरयगत्योघाद्येकोत्तरशतमार्गणासु सप्तानां लघुस्थितेर्बन्धकानाम् "**उक्कोसठिइव्व अंतरं णेय**"मिति जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानाम् 'आउस्सुक्कोसाए ठिईअ सव्वासु अंतरं णेयं। हस्सं समयो जेट्ठं अंगुलभागो असंखयमो॥'४२४॥ इत्यनेन प्रतिपादितान्तरवज्जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वङ्गुलासंख्यभागप्रमाणं ज्ञेयम्। निरयगत्योघाद्याः **शेषमार्गणाः पुनरिमाः**—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियजातिभेदाः, पर्याप्तबादराः पृथिव्यप्तेजोवायुकायाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, सर्वे त्रसकायिकाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधिमनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति। आयुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकानामाह—"**अजहण्णाअ**" इत्यादि, अजघन्यस्थितेर्बन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरं पुनः "**अणुक्कोसट्ठिइव्व सव्वासु**" ति सर्वासु द्विषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वप्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां प्रागस्मिन्नेवाऽन्तरद्वारे—

'जहि सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसठिईअ आउगस्स भवे। तहि तीअ अंतरं णो सेसासु भवे लहुं समयो॥४२५॥
पचिंदियतिरिय-विगल-पणिंदिय-तसेसु सि अपज्जेसु। भिन्नमुहुत्तं जेट्ठं अण्णह णाउण णेयव्वं'॥४२६॥

इत्यनेनोक्तानुत्कृष्टस्थितिबन्धकान्तरवज्ज्ञातव्यमिति ॥४३४-४३५॥

प्रदर्शितमायुषोऽपि जघन्या-ऽजघन्यद्विविधस्थितिबन्धयोर्नानाजीवाश्रयं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरम्। तस्मिँश्च प्रदर्शिते निष्ठितं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारमिति ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे त्रयोदशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धयोर्नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम्

उत्कृष्टस्थितेः			अजघन्याऽनुत्कृष्टस्थित्योः प्रत्येकम्							
जघन्यतः:-	नास्ति	ओघवत् समयः	समय	समय	समय	समय	समय	६३सहस्र-वर्षाणि	८४सहस्र-वर्षाणि	ओघवत्
उत्कृष्टतः:-	नास्ति	अङ्गुलाऽसंख्यभाग (क्षेत्रतः)	पल्योपमाऽसंख्यभा	द्वादश मुहूर्ता	वर्षपृथक्त्वम्	षण्मासा	सप्त दिनानि	१८कोटिकोटिसागरोपम	१८कोटिकोटिसागरोपम	शेषमार्गणासु नास्ति
गति०		सर्व० ४७	अपर्याप्त मनुष्य० १							शेष० ४६
इन्द्रिय०	सर्व एकेन्द्रियभेदा, ७	सर्वविकलपञ्चेन्द्रि० १२								सर्व० १९
काय०	सर्वसूक्ष्माऽपर्याप्तबादरभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभेदा, वनौघाऽपर्याप्रत्येकवन० सर्वसाधारणवनभेदाश्च० २५	ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्तभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभेदाः, प्रत्येकवनौघतत्पर्याप्तभेदौ, सर्वत्रसभेदाश्च० १७								सर्व० ४२
योग०		सर्व० १८		वैक्रियमिश्र १	आहारकद्विक					शेष० १५
वेद०		★ सर्व० ४				अवेद १				शेष० ३
कषाय०		सर्व० ४								सर्व० ४
ज्ञान०		सर्व० ७								सर्व० ७
संयम०		★ सर्व० ७				सूक्ष्मसंपरा १		छेदोपस्थापन० १	परिहारविशुद्धिक० १	शेष० ४
दर्शन०		सर्व० ३								सर्व० ३
लेश्या०		सर्व० ६								सर्व० ६
भव्य०		सर्व० २								सर्व० २
सम्यक्त्व		सर्व० ७	सास्वादन मिश्र० २				औपशमिक १			शेष० ५
संज्ञी०		सर्व० २								सर्व० २
आहारी०		सर्व० २								सर्व० २
सर्वमार्गणा -	३२	१३८	३	१	२	२	१	१	१	१५६
गाथाङ्काः-	४१७	४१८	४१९ ४२१	४१९ ४२१	४१९ ४२२	४१९ ४२२	४१९ ४२२	४२० ४२३	४२० ४२३	४२१

★ अपवादः—अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परासंयमयोरुत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वम्, न त्वङ्गुलासंख्यभागः (गा०-४१८)।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यत.	नास्ति	ओघवत् समय	समयः	समय.	समयः	समयः
उत्कृष्टतः-	नास्ति	षण्मासा	साधिकवर्ष	वर्षपृथक्त्वं,	१८ कोटिकोटि सागरोपम०	अङ्गुलाऽसंख्य-भाग (क्षेत्रतः)
गति०	तिर्यग्गत्योघ० १	मनुष्योघ-तत्पर्याप्त० २		मानुषी, १		शेष० ४३
इन्द्रिय०	सर्व एकेन्द्रियभेदाः, ७	पञ्चेन्द्रियोघ-तत्पर्याप्त० २				शेष० १०
काय०	सर्वसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादरभेद-भिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभेदाः, वनौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवन-भेदौ, सर्वसाधारणवन-भेदाश्च, २५	त्रसकायौघ-तत्पर्याप्त० २				शेष० १५
योग०	औदारिकमिश्र० कार्मण० २	सर्वमनोवचोभेद० काययोगौघ० औदारिक० [illegible]				शेष० ४
वेद०		अपगतवेद० १	पुरुष० १	स्त्री० नपुं० २		
कषाय०		लोभ० १	शेष० ३			
ज्ञान०	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	मतिज्ञान० श्रुतज्ञान० २	अवधि० १	मनःपर्यव० २		विभङ्ग० १
संयम०	असंयम., १	संयमौघ० सामायिक० सूक्ष्म० ३			छेदोपस्थापन० १	परिहार० देश० २
दर्शन०		चक्षु० अचक्षु० २	अवधि० १			
लेश्या०	अशुभ० ३	शुक्ला, १				तेजःपद्म० २
भव्य०	अभव्य० १	भव्य० १				
सम्यक्त्व	मिथ्यात्व० १	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० २		औपशमिक० १		क्षायोपशमिक० सासादन० मिश्र० ३
संज्ञी०	असंज्ञी, १	संज्ञी,० १				
आहारी	अनाहारक० १	आहारी, १				
सर्वमार्गणा –	४५	३३	६	५	१	८०
गाथाङ्काः–	४२८	४२९-४३०	४३१	४३१	४३२	४३३

आयुष उत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रकम्

	उत्कृष्टस्थिते	जघन्यस्थितेः		अजघन्या-ऽनुत्कृष्टस्थित्योः		
	जघ०—ओघवत्समय.	ओघवत् नास्ति	समयः	ओघवत् नास्ति	समय	समयः
	उत्कृष्टतः- अङ्गुलाऽसंख्यभागः	"	अङ्गुलाऽसंख्यभागः	"	अन्तर्मुहूर्तं	अन्यतो ज्ञेयम्
गति०	सर्व० ४७	तिर्यग्गत्योघ० १	शेष० ४६	तिर्यग्गत्योघ० १	पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-तदपर्याप्तभेदौ, २	शेष० ४४
इन्द्रिय०	सर्व० १९	सर्व एकेन्द्रियभेदा. ७	सर्वविकलपञ्चेन्द्रियभेदा १२	सर्व एकेन्द्रियभेदा ७	द्वि-त्रि-चतु-पञ्चेन्द्रियौघ-तदपर्याप्तभेदा ८	शेष० ४
काय०	सर्व० ४२	ओघ-बादरौघ-तदपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभेदा, प्रत्येकवनौघ-तदपर्याप्तभेदौ, वनौघ-सर्वसाधारणभेदाश्च ३४	पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुभेदा, पर्याप्तप्रत्येकवन० [illegible]भेदाश्च ८	ओघ-बादरौघ-तदपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुभेदा, प्रत्येकवनौघ-तदपर्याप्तभेदौ, वनौघ० सर्वसाधारणवनभेदाश्च ३४	त्रसकायौघ-तदपर्याप्तौ, २	शेष० ६
योग०	सर्व० १६	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्रयोगौ च, ३	शेष० १३	काययोगौघ० औदारिक-तन्मिश्रयोगौ च, ३		शेष० १३
वेद०	त्रयेऽपि, ३	नपुंसक० १	शेष० २	नपुंसकवेद० १		शेष० [illegible]
कषाय०	सर्व० ४	सर्व० ४		सर्व० ४		
ज्ञान०	सर्व० ७	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २	शेष० ५	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २		शेष० ५
संयम०	सर्व० ६	असंयम० १	शेष० ५	असंयम० १		शेष० ५
दर्शन०	सर्व० ३	अचक्षु० १	शेष० २	अचक्षु० १		शेष० २
लेश्या०	सर्व० ६	कृष्णाद्यशुभ० ३	शुभ० ३	कृष्णाद्यशुभ० ३		शुभ० ३
भव्य०	सर्व० २	भव्या-ऽभव्यौ, २		भव्या-ऽभव्यौ, २		
सम्यक्त्व	सर्व० ५	मिथ्यात्वम्, १	शेष० ४	मिथ्यात्वम्, १		शेष० ४
संज्ञी०	सर्व० २	असंज्ञी, १	संज्ञी, १	असंज्ञी, १		संज्ञी० १
आहारी०	आहा० १	आहारी, १		आहारी, १		
सर्वमार्गणाः-	१६३	६२	१०१	६२	१२	८९
गाथाङ्काः-	४२४	४३४	४३५	४२५-४३४ ४३५	४२६-४३५	४२६-३५

॥ अथ चतुर्दशं भावद्वारम् ॥

एतर्हि चतुर्दशस्य भावद्वारस्यावसरः, तत्र प्रस्तुतोऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितिबन्ध ओघत आदेशतश्चौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-दयिक-परिणामिकभावानां मध्ये केन भावेन जायत इत्येतद्दर्शयन्नेकामार्यामाह—

अट्ठण्हं कम्माणं चउव्विहाण वि ठिईण भावेणं ।
ओदइएणं बंधो एमेव हवेज्ज सव्वासु ॥४३६॥

(प्रे०) **"अट्ठण्ह"** मित्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलकर्मणां **"चउव्विहाण वि ठिईण"** त्ति उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यभेदाच्चतुर्विधानामपि 'स्थितीनां' स्थितिविशेषाणाम्, अस्य च **'बंधो'** इति परेणान्वयः, ततस्तासां बन्धः, भवतीति शेषः । केन भावेनेत्याह– **"भावेणं ओदइएणं"** ति औदयिकेन भावेन । कुतः ? इति चेत्, स्थितिबन्धस्य कषायप्रत्ययत्वात् । उक्तं च–'ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ" इति । कषायस्त्वौदयिकभाव एव, यतः कर्मणां विपाकोद्भवलक्षण उदयस्तेन निर्वृत्तः, तत्प्रयोजनो वा यो भावः स औदयिकभाव उच्यते । उक्तं च **तत्त्वार्थवृत्तौ**–'कर्मविपाकाविर्भाव उदयः, तत्प्रयोजनस्तन्निर्वृत्तो वा औदयिको भाव' ' इति ।

इदमुक्तं भवति–जीवस्य नैरयिकत्वादिपरिणामाः निरयगत्यादिकर्मणां विपाकोदयजन्यत्वाद् यथा औदयिकभावास्तथाऽनन्तानुबन्ध्यादिकषायोदयजन्यत्वात्स्थितिबन्धहेतुभूताः काषायिकात्मपरिणामा अप्यौदयिकभावा एव । **उक्तश्च तत्रैव**–'नरकगतिनामकर्मोदयान्नरकगतिरौदयिकोऽभिधीयते भाव, कषायमोहनीयोदयाच्च क्रोधी मानीत्याद्यौदयिकः' इत्यादि । इत्यतः सुष्ठूक्तम् 'भावेण ओदइएण बंधो' इति ।

अथ मार्गणास्थानेष्वपि चतुर्विधायाः स्थितेर्बन्ध औदयिकभावेनैव, अतस्तास्वपि तथैव विभणिषुरतिदेशेनाह–**"एमेव हवेज्ज सव्वासु"** त्ति एवमेव-यथा ओघतो ज्ञानावरणादेरन्यतमस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितिबन्ध औदयिकभावेनोक्तस्तथा निरयगत्योघादिष्वनाहारकपर्यन्तासु सर्वासु मार्गणास्वप्यसावौदयिकभावेनाऽवसातव्य इत्यर्थः ।

एतेन हि स्थितिबन्धे काषायिक औदयिकभाव एवाऽसाधारणो हेतुरन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभावात्, न पुनरन्ये गत्याद्योदयिकभावा औपशमिकादय भावा वा, उपशान्तमोहादिगुणस्थाने तेषां सद्भावेऽपि स्थितिबन्धस्याभावेनाऽन्वयव्यभिचारादित्यपि विज्ञेयम् । अत्र तु द्वितीयादिषु तृतीयादिषु वा समयेष्ववस्थानं स्थितिरित्येव निरुक्तिराश्रयणीया, न पुनः स्थानं स्थितिरिति, उपशान्तमोहादिगुणस्थाने बध्यमानदलिकानां समय-द्विसमयाऽवस्थानस्याऽभिमतत्वात् ।

यदवाचि **शतकचूर्णिटीप्पनके**ऽकलितकृत्याऽकृत्यकर्मकर्दमकलापकलङ्कितकुतार्किकतर्कित-तर्कतिमिरतरणिभिर्मुनिमनःकुमुदचन्द्रैः **श्रीमन्मुनिचन्द्रैः** सूरितल्लजैः—

'अल्पं'-स्तोकं कषायाभावेन तत्प्रत्ययस्थित्यनुभागापोढतया अल्पस्थित्यनुभागत्वात् । तथाहि-तत्कर्म प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमये निर्जीर्यत' इति ।

ननु 'एवमपि दशमगुणस्थाने लोभसूक्ष्मकिट्ट्युदयसद्भावेऽपि मोहनीयस्य स्थितिबन्धो नैव जायते, इत्थं च विद्यते तत्र कारणसत्त्वे कार्याभावलक्षणोऽन्वयव्यभिचारः । न च तत्र सूक्ष्मकषायस्यैवोदयः, स चाधिकृतौदयिकभावान्तर्गततया न गृह्यते, बादरकषायोदयस्यैवाऽधिकृतत्वादित्यपि वक्तुं शक्यते । एवं सति दशमगुणस्थाने ज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धस्याभिमतत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्वारत्वात् ?' **इति चेद्, न,** सति प्रकृतिबन्धे एव स्थितिबन्धसद्भावा-ऽसद्भावचिन्तनस्य प्रस्तुतत्वात् । न हि दशमगुणस्थाने मोहनीयप्रकृतिबन्धे प्रवर्तमानेऽपि तत्स्थितिबन्धाभावः प्रवर्तते, येन सूक्ष्मलोभकिट्ट्युदयसद्भावेऽपि मोहनीयस्थितिबन्धाभावलक्षणोऽन्वव्यभिचारस्स्यात् । यासां तु ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां तत्र बन्धः प्रवर्तते, तासां तु स्थितिबन्धोऽपि जायत एव । इत्थं बादरकषायोदयमेव प्रस्तुतौदयिकभावतयाऽभ्युपगम्य व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गापादनं निरवकाशमेव । अत एवाऽधस्तनगुणस्थानेषु काषायिकौदयिकभावस्य संततं प्रवर्तमानेऽपि तत्राऽऽयुषः स्थितिबन्धस्याऽसार्वदिकत्वेऽपि न काचित्क्षतिः, आयुर्बन्धस्यैव कादाचित्कत्वात् प्रकृतिबन्धसद्भावे तु तदीयस्थितिबन्धस्य नियमतः प्रवर्तनाच्चेत्यलं पल्लवितेनेति ॥४३६॥

तदेवमोघत आदेशतश्चाऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिबन्धे कृता भावप्ररूपणा, तस्यां च कृतायां गतं चतुर्दशं भावद्वारम् ।

अष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिबन्धे भावप्रदर्शकयन्त्रम्		
कुत्र	केषाम्	केन भावेन बन्धः
ओघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च.	अष्टकर्मसत्कोत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकम्	औदयिकेन भावेन

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे चतुर्दशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

अथ प्राप्तम् "अप्पबहु" इत्यनेनोद्दिष्टं चरममल्पबहुत्वद्वारम्। अत्र हि मूलकर्मणामुत्कृष्टादिस्थितेर्बन्ध-बन्धकपरिमाणभेदान्मुख्यतया सोत्तरभेदं द्विविधमल्पबहुत्वं वक्तव्यं भवेत्।

तत्र बन्धकपरिमाणाल्पबहुत्वं त्रिधा। **तद्यथा**– (१) उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकपदद्वयापेक्षम्, (२) जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्धकपदद्वयाश्रयम्, (३) उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धकरूपपदत्रयसमाश्रितं च। एतानि चैकैकमपि प्रत्येकं मूलकर्माण्याश्रित्य वक्तव्यानि।

स्थितिबन्धप्रमाणाल्पबहुत्वन्तु स्वस्थान-परस्थानभेदतो द्विधा, तत्र स्वस्थान उत्कृष्ट-जघन्यपदद्वयमपेक्ष्यैकविधमेवाल्पबहुत्वम्, परस्थाने तु त्रीणि। **तद्यथा**–आद्यं केवलमुत्कृष्टपदापेक्षम्, द्वितीयं केवलं जघन्यपदमधिकृत्य, तृतीयं तु जघन्योत्कृष्टपदद्वयं प्रतीत्येति।

तत्र हि आदौ तावद्बन्धकपरिमाणाल्पबहुत्वं बिभणिषुरुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्यधिकृत्याह—

उक्कोसाअ ठिईए अट्ठण्हं बंधगा मुणेयव्वा।
सव्वत्थोवा तत्तोऽणुक्कोसाए अणंतगुणा ॥४३७॥

(प्रे०) "**उक्कोसाअ ठिईए**" इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका ज्ञातव्या इति संटङ्कः। कियन्त इत्याह–"**सव्वत्थोवा**" त्ति सर्वस्तोकाः, अनन्तरवक्ष्यमाणद्वितीयपदापेक्षया स्तोका इत्यर्थः। तर्हि द्वितीयपदे कियन्त इत्याह–"**तत्तोणुक्कोसाए**" इत्यादि, पूर्वोक्तपदानामनुवर्तनाद् द्वितीये चरमे वा पदे ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः "तत्तो" त्ति तेभ्य उत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्यः "अणंतगुणा" त्ति अनन्तगुणा इति। **इयमत्र भावना**–ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव सम्भवन्ति, ते चासङ्ख्येयाः। ज्ञानावरणस्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु सूक्ष्मनिगोदपर्यन्ताः सर्वे, ते चानन्ताः, तथा सन्त्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकापेक्षया स्तोका भवन्ति, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकापेक्षयाऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वनन्तगुणा एव। इत्थमेव दर्शनावरणादिष्वपि प्रत्येकं द्रष्टव्यमिति ॥४३७॥

अथादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

तिरिये काय-उरलदुग-कम्म-णपुम-चउकसाय-अयतेसुं।
दुअणाण-अणयणेसुं तिअसुहलेसासु मिच्छे य ॥४३८॥
भवि-यियरा-ऽसण्णीसुं आहारि-यरेसु हुन्ति सव्वऽप्पा।
सत्तण्हुक्कोसाए तो इयराए अणंतगुणा ॥४३९॥

(प्रे०) "**तिरिये कायउरले**"त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरम् "**उरलदुगे**" त्यनेनौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगौ, "**णपुमे**"त्यनेन नपुंसकवेदस्तथा "**तिअसुहलेसासु**" इत्यनेन कृष्ण-नील-कापोतलेश्याश्च ग्राह्या। इत्येवं सार्धगाथया संगृहीतासु तिर्यग्गत्योघाद्यनाहारिपर्यन्तासु त्रयोविंशतिमार्गणासु "**हुन्ति**" त्ति भवन्ति। बन्धका इत्यनुवर्तते, कस्याः स्थितेर्बन्धकाः कियन्त-श्चेत्याह-"**सव्वप्पा**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः सर्वा-ल्पाः। "**तो इयराए**" त्ति 'ततः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्यः 'इतरायाः'-उत्कृष्टेतरायाः अनुत्कृष्टाया अनन्तगुणाः, बन्धका इति गम्यते। अत्रापि सर्वमोघवद्भावनीयम्, नवरमसंज्ञिमार्गणायामुत्कृष्टस्थिते-र्बन्धकाः पर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति वक्तव्यमिति ॥४३८-४३९॥

अथ गाथाद्वयेन शेषमार्गणासु प्रकृताल्पबहुत्वमाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४४०॥
सुहुम्मि य सत्तण्हं उक्कोसाए ठिईअ थोवा तो ।
अपराए संखगुणा असंखियगुणा उ सेसासुं ॥४४१॥

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगति-भेदाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामा-यिकछेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां चेत्येतासु समुदितासु पर्याप्तमनुष्यादिसूक्ष्मसम्परायान्तासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं "**सत्तण्ह**" मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः स्तोकाः, बन्धका इति गम्यते, । "**तो**" त्ति 'ततः'-उत्कृष्टस्थिति-बन्धकेभ्यः "**अपराए संखगुणा**" त्ति 'अपरायाः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणा इति। सुगमं चैतद्, एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि संख्येयानां जीवानां लाभाद्, एकस्थितिबन्धस्थानात्मिकाया उत्कृष्टस्थितेः केषाञ्चित् कदाचिद्बन्धप्रायोग्यत्वाच्चेति ।

उक्तशेषासु पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वाह-"**असंखियगुणा उ सेसासुं**" ति उक्तशेष-मार्गणासु तु प्रत्येकं सप्तानां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका उत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्योऽसंख्येय-गुणाः, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु स्तोका इत्यर्थः। कुतः ? एवं ज्ञायत इति चेत्, "अपराए" इत्य-स्य पूर्वतोऽनुवर्तनात्, सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रस्तुतत्वात् शेषस्यार्थाद्गम्यत्वाच्च 'असंखियगुणा उ सेसासुं' इत्येतावन्मात्रोक्त्याऽपि व्याख्यातार्थोऽवबुध्यत इति। **शेषाः पञ्चत्रिंशदभ्यधिक-शतमार्गणास्त्विमाः**-अष्टौ नरकगतिमार्गणाभेदाः, चत्वारोऽपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनु-ष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जाः शेषा एकोनत्रिंशद्देवगतिमार्गणाभेदाः,

एकोनविंशतिरपीन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशदपि कायमार्गणाभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगभेदौ, स्त्रीवेद-पुंवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम--चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन--तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वौघ-क्षायिक--क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ।

ननु अनन्तरं पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु जीवानां संख्येयत्वादनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका यथा संख्येयगुणाः, तथा नरकगत्योघादिमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादुत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्योऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येयगुणा इति सुष्ठूक्तम्, न पुनरनन्तराशिकास्वेकेन्द्रियादिमार्गणास्वप्यसंख्येयगुणा इति वाच्यम् । यतोऽत्र न केवलं तत्तन्मार्गणासु प्रागुक्तं परिमाणमेव यथोक्ताल्पबहुत्वे प्रयोजकं किन्तु बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानपरिमाणमपि, ततश्चोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टयोर्द्विविधस्थितिबन्धयोर्बन्धकपरिमाणस्य संख्येयत्वेन रूपेण, एवमसंख्येयत्वेनाऽनन्तत्वेन वा रूपेण तुल्यत्वे सति यद्येकसमये नानाजीवापेक्षया बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयानि तदोत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्योऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, यदि चैकसमये नानाजीवानाश्रित्य बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयानि तदा तु तेऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाऽसंख्येयगुणाः संपद्यन्ते। एकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि प्रत्येकं निरयगत्योघादिमार्गणावद् द्विविधस्थितेर्बन्धकानां तुल्यमनन्तपरिमाणमेवोक्तम्, एकसमये नानाजीवानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि त्वसंख्येयानि, ततश्चैकस्थितिबन्धस्थानात्मकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकेभ्योऽसंख्येयस्थितिबन्धस्थानात्मकानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येयगुणा एव लभ्यन्त इति न कश्चिद्दोष इति ॥४४०-४४१॥

तदेवमुक्तं सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टा-नुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानामल्पबहुत्वमादेशतोऽपि । इदानीमुक्तशेषस्याऽऽयुषः स्थितिबन्धकविषयं तदाह--

तिरिये वणप्फईए सव्वेगिंदिय-णिगोअभेएसुं ।
काय-उरालदुगेसुं णपुंसग-कसायचउगेसुं ॥४४२॥
दुअणाणा-ऽयत-अणयण-किण्हासुं णील-काउ-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसु य असण्णि-आहारगेसुं च ॥४४३॥
आउस्सुक्कोसाए ठिईअ होअन्ति बंधगा थोवा ।
तत्तोऽणुक्कोसाए ठिईअ णेया अणंतगुणा ॥४४४॥

(प्रे०) "**तिरिये वणप्फईए**" इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वयेन तिर्यग्गत्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणाः संगृहीताः, तृतीयगाथया च तासु मार्गणास्वायुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानामल्पबहुत्वमभि-

हितम् । अक्षरार्थस्तु प्राग्वत् ततस्तिर्यग्गत्योघमार्गणायां, वनस्पतिकायौघमार्गणायां, सर्वेषु निगोदभेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, काययोगौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगमार्गणासु, नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्कयोः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्यामार्गणासु, नीललेश्या-कापोतलेश्या-भव्यमार्गणासु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः, असंज्ञ्या-ऽऽहारकमार्गणयोश्चेत्येतासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः स्तोका भवन्ति, "तत्तो" त्ति तेभ्यः "णुक्कोसाए" त्ति आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरनन्तगुणा ज्ञेयाः, बन्धका इत्यनुवर्तत इति । एतासु प्रत्येकं साधारणवनस्पतिकायिकानामपि समावेशेनायुषो बन्धकानामनन्तत्वेऽप्यायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वसंख्येया एव । कस्मात् ? प्रकृतमार्गणासु बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितेर्वेदकानां जीवानां लोकेऽसंख्येयत्वेन तदधिकानामुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धकानामप्यसम्भवात् , इत्थं च यथोक्तमेवाल्पबहुत्वमुपपद्यत इति ॥४४२-४४३-४४४॥

अथ गाथाद्वयेन शेषमार्गणासु प्रकृताल्पबहुत्वमाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४४५॥
सुइल-खइएसु थोवा उक्कसाए ठिईअ आउस्स ।
अगुरूए संखगुणा असंखियगुणा उ सेसासुं ॥४४६॥

(प्रे०) "पज्जमणुसे" त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणास्थानयोः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगात्मके आहारकद्विके, अष्टादशस्वानतादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तेषु देवगतिभेदेषु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु, शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरित्येतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं स्तोकाः । के इत्याह- "जेट्ठाअ" इत्यादि, आयुषो 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेः, बन्धका इति प्राग्वदनुवर्तते । "तओ" त्ति 'ततः'-आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकेभ्यः "अगुरूए संखगुणा" त्ति आयुषः'अगुरोः'-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणाः, बन्धका इति पूर्ववत् । सुगमम्, प्रत्येकमायुर्बन्धकजीवानामेव संख्येयत्वादिति ।

उक्तशेषास्वष्टनवतिमार्गणास्वाह-"असंखियगुणा उ सेसासु" ति शेषमार्गणासु तु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येयगुणाः । केभ्यः ? इति चेत् , स्तोकेभ्य आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्य इति प्राग्वदर्थादवसीयत इति । शेषमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवगत्योघभेदः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता एकादश देवगत्युत्तरभेदाः, नवविकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिवीकायसत्काः सर्वे, अप्कायसत्काः सर्वे, तेजस्कायसत्काः सर्वे, वायुकायसत्काः सर्वे भेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकाय-

भेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुदर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिक-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥४४५-४४६॥

तदेवमुक्तमोघत आदेशतश्चाष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानामल्पबहुत्वम्। साम्प्रतं जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकानामल्पबहुत्वं व्याजिहीर्षुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगाऽप्पा लहूअ ताउ अलहूअऽणंतगुणा ।
आउस्स लहूएऽप्पा असंखियगुणा अहस्साए ॥४४७॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह बंधगाऽप्पा**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनां बन्धकाः 'अल्पाः'-स्तोकाः। कस्याः स्थितेरित्याह-"**लहूअ**" त्ति 'लघोः'-जघन्यायाः स्थितेः। तेभ्यः "**अलहूअ**" त्ति अजघन्यायाः स्थितेरनन्तगुणाः, बन्धका इत्यनुवर्तते। सुगमम्, क्षपकाणामेव जघन्यस्थितिबन्धकतया निगोदपर्यन्तानां जीवानामजघन्यस्थितिबन्धकतया च लाभादिति। आयुष आह-"**आउस्से**" त्यादिना, आयुषः 'लघोः'-जघन्यायाः स्थितेरल्पाः-स्तोकाः। "**अहस्साए**" त्ति तेभ्यो जघन्यस्थितिबन्धकेभ्य आयुषः 'अह्रस्वायाः'-अजघन्यायाः स्थितेरसंख्येयगुणाः। उभयत्र बन्धका इति प्राग्वद्योज्यम्। अत्र जघन्यस्थितिकमायुःसूक्ष्मनिगोदादिसत्कमपि बध्यते, अतस्तद्बन्धका अप्यनन्ताः सम्पद्यन्ते। ते च शेषायुर्बन्धकेभ्योऽसंख्यभागगता इति **भागद्वारे** उक्तमेव, तथा चाजघन्यस्थितिकायुषो बन्धका असंख्यगुणा एव भवन्ति, न पुनरनन्तगुणाः। विशेषतस्तु तुल्यपरिमाणत्वेऽप्येकस्मिन् समयेऽसंख्येयानामेवस्थितिविशेषाणां बन्धप्रायोग्यत्वादित्येवमत्रैवाल्पबहुत्वे प्रागुक्तहेतुनोह्यम् ॥४४७॥

अथाऽऽदेशतः प्रकृताऽल्पबहुत्वं बिभणिषुरादौ तावदायुर्वर्जानामाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४४८॥
सुहुमम्मि य सव्वऽप्पा जहण्णगाए ठिईअ सत्तण्हं ।
तत्तो संखेज्जगुणा हुन्ति ठिईअ अजहण्णाए ॥४४९॥

(प्रे०) "**पज्जमणुस**" इत्यादि, प्राग्वत् पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमरूपासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं "**सव्वऽप्पा**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां जघन्याया एव जघन्यकायाः स्थितेः सर्वाल्पाः, बन्धका इत्यनुवर्तते। "**तत्तो-संखेज्जगुणा हुन्ति**" त्ति तेभ्यो जघन्यस्थितिबन्धकेभ्यः संख्येयगुणाः भवन्ति। के ? "**ठिइअ अजहण्णाए**" त्ति अजघन्याः स्थितेर्बन्धका इत्यर्थः। सुगममिति ॥४४८-४४९॥

शेषमार्गणास्वेकया गाथया प्रकृताल्पबहुत्वमाह—

कायु-रल-णपुंसेसुं कसायचउगे अचक्खु-भवियेसुं ।
आहारेऽणंतगुणा अवसेसासुं असंखगुणा ॥४५०॥

(प्रे०) "कायुरले" त्यादि, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषाय-चतुष्का-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु प्रत्येकमनन्तगुणाः, सप्तानामजघन्यस्थितेर्बन्धका इत्यनुवर्तते, सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः स्तोकास्तेभ्यश्चेमेऽनन्तगुणा इत्यर्थाद्गम्यते । एवमुत्तरत्रापि बोद्धव्यम् । उक्तशेषमार्गणास्वाह—"अवसेसासुं असंखगुणा" त्ति प्राग्वदवशेषासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः स्तोकास्तेभ्योऽजघन्यस्थितेर्बन्धका असंख्येयगुणा इत्यर्थः । **अवशेषमार्गणास्त्विमा अष्टचत्वारिंशदधिकशतम्**—सर्वे नरकगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जाः शेषा एकोनत्रिंशद् देवगतिभेदाः, सर्वे इन्द्रियमार्गणाभेदाः, तथैव सर्वे कायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोग-स्त्री-पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान--विभंगज्ञान-देशसंयमा-ऽसंयम--चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-कृष्णादिपल्लेश्या-ऽभव्य--सम्यक्त्वौघ-क्षायिक--क्षायोपशमिकौ-पशमिक-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकमार्गणाश्च । सुगममिति ॥४५०॥

तदेवमुक्तं सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्याजघन्यस्थितिबन्धकपदद्वयाश्रयमल्पबहुत्वमादेशतः । अथाऽऽयुषस्तदादेशतः प्राह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४५१॥
सुइल-खइएसु थोवा जहण्णगाए ठिईअ आउस्स ।
अलहूए संखगुणा असंखियगुणा उ सेसासुं ॥४५२॥

(प्रे०) "पज्जमणुसे" त्यादि, पर्याप्तमनुष्य--मानुष्या-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगाऽऽनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताष्टादशदेवगतिभेद--मनःपर्यवज्ञान--संयमौघ--सामयिक--छेदोप--स्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वरूपास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्या एव जघन्यकास्तस्या जघन्यकायाः स्थितेः 'स्तोकाः'-अल्पाः, बन्धका इति प्रकरणाद्गम्यते, "अलहूए संखगुणा" त्ति अनन्तरोक्तेभ्यो जघन्यस्थितिबन्धकेभ्यः'अलघोः'-अजघन्यस्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । अत्र हि प्रत्येकं सामयिकोत्कृष्टबन्धकपरिमाणस्यैव संख्येयत्वात्प्राग्वत्संख्येयगुणत्वं भावनीयमिति । उक्त शेषमार्गणास्वाह—"**असंखियगुणा उ सेसासु**" ति प्राग्वत्शेषासु चतुस्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकाः स्तोकास्तेभ्यस्तस्यैवाऽजघन्यस्थितेर्बन्धका

असंख्येयगुणा इत्यर्थः । **शेषमार्गणा इमाः**—सर्वे नरकगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवौघः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्तैकादशभेदाश्च, सर्वे इन्द्रियमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञाना-ऽसंयम-देशसंयम-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शन-शुक्लवर्जलेश्यापञ्चक-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिक-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति ।।४५१-४५२।।

तदेवमुक्तं पदद्वयमपेक्ष्य बन्धकाल्पबहुत्वम् । साम्प्रतं जघन्यस्थितिरुत्कृष्टस्थितिरजघन्यानुत्कृष्टस्थितिरिति पदत्रयमपेक्ष्य तद्बन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपादयितुमना आदावोघत आह—

सत्तण्ह बंधगाऽप्पा ह्स्साअ ठिईअ तो असंखगुणा ।
जेट्ठाअ तो ठिईए अलहुगुरूए अणंतगुणा ।।४५३।।
आउस्सुक्कोसाए थोवाऽणंतगुणिया जहण्णाए ।
अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ णेया असंखगुणा ।।४५४।।

(प्रे०) "**सत्तण्ह बंधगाऽप्पा**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां 'ह्रस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः 'अल्पाः'-स्तोकाः "**तो**" त्ति 'ततः'-अनन्तरोक्तेभ्यो जघन्यस्थितिबन्धकेभ्योऽसंख्यगुणा बन्धकाः । कस्या इत्याह-"**जेट्ठाअ**" त्ति 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः स्थितेः । "**तो अलहुगुरूए**" त्ति ततः 'अलघुगुरोः'-लघुगुरुभिन्नायाः स्थितेरित्यर्थः । "**अणंतगुणा**" त्ति अनन्तगुणाः बन्धका इत्यर्थः ।

तत्र मूलसप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः क्षपकश्रेणिगताः संख्याता एवेतिकृत्वा स्तोका उक्ताः, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, ते चोत्कृष्टतोऽसंख्येयाः प्राप्यन्त इत्यतः पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणा दर्शिताः, अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु सूक्ष्मनिगोदपर्यन्ताः सर्वेऽपि, ते चानन्ता इतिकृत्वा चरमपदे तेऽनन्तगुणा अभिहिता इति ।

अथ भणितशेषस्याऽऽयुकर्मणः प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—"**आउस्सुक्कोसाए**" इत्यादिना, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या एव, जघन्यस्थितेर्बन्धकास्तु निगोदादिजीवा अपीत्यत उक्तम्:—"**बंधगाऽप्पा उक्कसाए ठिईअ**" त्ति उत्कृष्टायाः स्थितेः 'अल्पाः'-स्तोकाः । "**ऽणंतगुणिया जहण्णाअ**" त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो बन्धकेभ्यो जघन्याया स्थितेरनन्तगुणाः, बन्धका इति गम्यते । तेभ्योऽप्यजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका असंख्यगुणा ज्ञेयाः, यतो निगोदजीवानां जघन्याऽजघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेऽपि जघन्यस्थितिरेकस्थितिबन्धस्थानात्मिका, अजघन्या त्वसंख्येयस्थितिबन्धस्थानात्मिका, ततश्च कस्मिन्नपि समये जघन्यस्थितिबन्धकापेक्षयाऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धकसञ्चयोऽसंख्येयगुणो लभ्यत इति ।।४५३-४५४।।

तदेवमुक्तमोघतः । अथादेशतो दिदर्शयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

तिरि-युरल-मीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासु ।
अभविय-मिच्छत्तेसु अमणा-ऽणाहारगेसु च ॥४५५॥
सत्तण्हुक्कोसाए थोवाऽणंतगुणिया जहण्णाए ।
अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ णेया असंखगुणा ॥४५६॥

(प्रे०) "**तिरियुरलमीसे**" त्यादि, तिर्यग्गत्योघौदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादित्र्यशुभलेश्यास्वभव्य-मिथ्यात्वयोरसंज्ञ्य-ऽनाहारकमार्गणयोश्चेत्यर्थः । एतासु त्रयोदशमार्गणासु किमित्याह-"**सत्तण्हुक्कोसाए**" इत्यादि, एतासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः "**थोवा**" त्ति बन्धकाः स्तोकाः, "**अणंतगुणिया जहण्णाए**" त्ति सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकास्तु तेभ्योऽनन्तगुणिताः । कुतः ? प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धस्य बादरसाधारणवनस्पतिकायजीवानामपि भावात्, ते चानन्ताः, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु संज्ञिनोऽसंख्याता एवेतिकृत्वा जघन्यस्थितेर्बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति । "**अजहण्णुक्कोसाए**" इत्यादि, अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु जघन्यस्थितिबन्धकेभ्योऽसंख्यगुणा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्राप्यसंख्येयगुणत्वं प्राग्वद्भावनीयमिति ॥४५५-४५६॥

अथान्यमार्गणास्वाह—

जेट्ठाअ जहण्णाए अलहुगुरूअ कमसो असंखगुणा ।
पंचिदियतिरियचउग-असमत्तपणिंदियतसेसु ॥४५७॥

(प्रे०) "**जेट्ठाअ**" इत्यादि, प्रकृतसप्तप्रकृतीनां 'ज्येष्ठायाः'-उत्कृष्टायाः, जघन्यायाः, अलघुगुरुस्थितेश्च क्रमशः "**असंखगुणा**" त्ति बन्धका असंख्यगुणाः । उत्कृष्टस्थितेः स्तोकाः, ततो जघन्यस्थितेरसंख्येयगुणाः, ततोऽजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेरसंख्यगुणा इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह-"**पणिंदिये**"त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्केषु चतुर्षु भेदेषु, अपर्याप्तवाचकस्यासमासशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेदयोरित्येवं समुदितासु सप्तमार्गणास्विति ॥४५७॥ अथाऽपरमार्गणास्वाह—

णर-चउअणुत्तरेसु सव्वेगिंदि-पणकाय-विगलेसु ।
सत्तण्ह जहण्णाए ठिईअ खलु बंधगा थोवा ॥४५८॥
तत्तो संखेज्जगुणा उक्कोसाए ठिईअ ताहिन्तो ।
अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ णेया असंखगुणा ॥४५९॥

(प्रे०) "**णरे**"त्यादि, नरगत्योघभेदे, सर्वार्थसिद्धवर्जाश्चत्वारोऽनुत्तरविमानभेदास्तेषु, तथा सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणासत्कभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदा इत्येतासु षष्टिमार्गणास्वित्यर्थः। एतासु किमित्याह–"**सत्तण्ह जहण्णाए**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः स्तोकाः "**तत्तो**" त्ति तेभ्यः "**संखेज्जगुणा उक्कोसाए ठिईए**" त्ति तासामेवोत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः। **कुतः ? इति चेद्, उच्यते**, जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोः स्वामिनां विशुद्धिसंक्लेशापेक्षया पार्थक्येऽपि मिथ्यादृष्टित्वादिकमपेक्ष्य कासुचिन्मार्गणासु सादृश्यं विद्यते। यासु च मार्गणासु तेषां मिथ्यादृष्टित्वादिरूपेण साम्यं विद्यते, तासु तद्बन्धकानामनन्तत्वेन रूपेणाऽसंख्येयत्वादिरूपेण वा तुल्यत्वेऽपि जघन्यस्थितेर्बन्धकापेक्षयोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणा एव लभ्यन्ते। कुतः सम्यग्दृष्ट्यादिरूपेण सजातीयजीवसमुदाये जघन्यसंक्लेशयुतजीवापेक्षयोत्कृष्टसंक्लेशपरिणतजीवानामुत्कृष्टतः संख्येयगुणानामेव लाभात्। प्रकृते च सर्वार्थसिद्धवर्जेऽनुत्तरविमानचतुष्के सर्वेषां जीवानां सम्यग्दृष्टितया जघन्याया उत्कृष्टायाश्च स्थितेर्बन्धका अपि सम्यग्दृष्टय एव, तथा च सत्युक्तनीत्या जघन्यसङ्क्लिष्टाध्यवसनानां जीवानामपेक्षयोत्कृष्टसंक्लिष्टाध्यवसायानां जीवानां संख्येयगुणत्वेनोत्कृष्टसंक्लेशनिर्वर्तनीयाया उत्कृष्टस्थितेर्बन्धका अपि संख्येयगुणा लभ्यन्ते। इत्थमेवैकेन्द्रियादिपञ्चपञ्चाशन्मार्गणास्वपि केवलानां मिथ्यादृष्टिजीवानामेव सद्भावेन जघन्यस्थितेर्बन्धकापेक्षयोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणा लभ्यन्ते। मनुष्यगत्योघमार्गणायां यद्यपि जघन्यस्थितेर्बन्धका उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाश्च भिन्ना भिन्नाः सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च,तथाऽपि ते पर्याप्ता एव, न पुनरपर्याप्ता अपि, पर्याप्तमनुष्यास्तूत्कृष्टतोऽपि संख्येया भवन्ति, अतस्तयोर्बन्धकेष्वपि संख्येयगुणतारतम्यमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिकम्, संख्येयजीवेषु तदधिकस्याऽसंख्येयगुणादितारतम्यस्याऽसम्भवादिति। "**ताहिन्तो**" इत्यादि, तेभ्योऽनन्तरोक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्यः शेषा अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्येयगुणा ज्ञेयाः, अत्राप्यजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तःप्रविष्टानां स्थितिबन्धविकल्पानामेकविकल्परूपजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादिति हेतुर्द्रष्टव्य इति ॥४५८-४५९॥ अथान्यत्राह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगे तहा य सव्वत्थे।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४६०॥
सत्तण्ह जहण्णाए थोवा तत्तो गुरूअ संखगुणा।
अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ होअन्ति संखगुणा ॥४६१॥

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**"त्यादि, पर्याप्तमनुष्य–मानुषीमार्गणयोराहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगरूप आहारकद्विके। तथाकारचकारौ समुच्चये। '**सव्वत्थे**'–सर्वार्थसिद्धविमानमार्गणाभेदे, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु चेत्यर्थः।

एतासु दशमार्गणासु किमित्याह–"**सत्तण्ह जहण्णाए**" इत्यादि, आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेः स्तोकाः, ततः 'गुरोः'-उत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणाः, तेभ्यश्चाजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणा भवन्ति। बन्धका इति सर्वत्र गम्यते, तद्विषयकाल्पबहुत्वस्यैव प्रस्तुतत्वात्। सुगमं चैतदल्पबहुत्वम्। न च जघन्यस्थितिबन्धस्थानापेक्षयाऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानानामत्राप्यसंख्येयगुणत्वात्तद्बन्धकाः कथमसंख्येयगुणा नोच्यन्त इत्यपि वक्तुं युज्यते। यत एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि संख्येयानां जीवानामेव लाभादेकस्मिन् समये बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयान्येव सन्ति, न त्वसंख्येयानि. ततश्च प्रागुक्तनीत्या संख्येयगुणत्वमेवोपपद्यतेऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धकानामिति ॥४६०-४६१॥ आनतादिशेषदेवगतिभेदेष्वाह—

सत्तण्हुक्कोसाए थोवा संखगुणिया जहण्णाए।
इयराअ असंखगुणा सेसाणतआइदेवेसुं ॥४६२॥

(प्रे०) "**सत्तण्हुक्कोसाए**" इत्यादि, प्राग्वत्सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यो जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणिताः, तेभ्यः "**इयराअ**" त्ति अनन्तरोक्ते ये जघन्योत्कृष्टे स्थिती ताभ्यामितरा याऽजघन्यानुत्कृष्टा स्थितिः सा इतरा स्थितिस्तस्या इतरस्याः स्थितेः "**असंखगुणा**" त्ति सुगमम्, बन्धका इति गम्यते। कासु मार्गणास्वित्याह–"**सेसाणतआइदेवेसु**" ति अनन्तरोक्ताश्चत्वार एकश्चेति पञ्चाऽनुत्तरविमानमस्कान देवगतिभेदान् विहाय ये शेषाः 'आनतादयः'-आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युत-ग्रैवेयकनवकरूपास्त्रयोदश'देवाः-'देवगतिमार्गणाभेदास्तेष्वित्यर्थः। **इयमत्र भावना**–सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिद्विविधबन्धकेषु सत्सु सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका मिथ्यादृष्टयो जघन्यस्थितेर्बन्धकास्तु सम्यग्दृशः, प्रकृतासु च त्रयोदशदेवगतिसत्कमार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिदेवापेक्षया सम्यग्दृशो देवाः संख्येयगुणाः सन्ति, ततश्चोत्कृष्टस्थितिबन्धकापेक्षया जघन्यस्थितेर्बन्धका अपि संख्येयगुणा लभ्यन्ते। चरमपदेऽसंख्येयगुणत्वं तु प्राग्वदिति ॥४६२॥ काययोगादिदशमार्गणास्वाह—

कायु-रल-णपुंसेसुं कसायचउगे अचक्खु-भवियेसुं।
आहारे सतण्हं सव्वत्थोवा जहण्णाए ॥४६३॥
तत्तो उक्कोसाए ठिईअ खलु बंधगा असंखगुणा।
अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ णेया अणंतगुणा ॥४६४॥

(प्रे०) "**कायुरल**" इत्यादि, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-नपुंसकवेदेषु, क्रोधादिकषायचतुष्के, अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोराहारिमार्गणायां च प्रत्येकं सप्तानां "**जहण्णाए**" त्ति जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्य उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः खल्वसंख्येयगुणाः, तेभ्यो-

ऽजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका अनन्तगुणा ज्ञेयाः । सुगमं चैतद् , यतो जघन्यस्थितेर्बन्धकाः क्षपकश्रेणिगता इति कृत्वा संख्येया एव, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तुः पर्याप्ताः संज्ञिनस्तिरश्चोऽपि, ततश्चासंख्येयाः, शेषास्त्वजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका एकेन्द्रियादयोऽपि ते चानन्ताः, इत्येवमल्पबहुत्वमपि तदपेक्षया यथोक्तमेव प्राप्यत इति ॥४६३-४६४॥

अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोराह—

गयवेए सत्तण्हं सुहुमे छण्हं कमेण संखगुणा ।
जेट्ठाअ जहण्णाए अलहुगुरूए मुणेयव्वा ॥४६५॥

(प्रे०) "**गयवेए सत्तण्हं**" इत्यादि,सुगमम् , नवरं "**सत्तण्हं**" ति आयुर्वर्जानाम् , "**छण्हं**" ति मोहनीयायुर्वर्जानाम्, "**कमेण**" त्ति यथाक्रमम्,तेन च ज्येष्ठायाः स्थितेर्बन्धकापेक्षया क्रमोक्ताया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि क्रमप्राप्ताया अजघन्योत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ॥४६५॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतपदत्रयसत्कबन्धकाल्पबहुत्वमाह—

सेसासु सत्तण्हं जहण्णगाए ठिईअ सव्वऽप्पा ।
कमसो असंखियगुणा उक्कोसाए तदियराए ॥४६६॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादिना, उक्तशेषासु षट्पञ्चाशन्मार्गणासु सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यकायाः स्थितेः सर्वाल्पाः "**कमसो असंखियगुणा**" त्ति 'क्रमशः'-गाथान्यस्तक्रमाद्-संख्येयगुणाः । कयोरित्याह—"**उक्कोसाए तदियराए**" त्ति तासामेवोत्कृष्टायाः स्थितेस्तथा ताभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां जघन्योत्कृष्टस्थितिभ्यामितरस्याः—तदितरस्याः, अजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेरित्यर्थः । तत्र **शेषमार्गणास्त्विमाः**—अष्टौ नरकगतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, देवौघ-भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता द्वादश देवगतिभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्लेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति । तत्र नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवीनरकभेद-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरभेदरूपासु पञ्चमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्य विग्रहगतौ द्विसमयमात्रं सम्भवात् तद्बन्धकतया द्विसमयसञ्चिता जीवा लभ्यन्ते, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वन्तर्मुहूर्तसञ्चिताः, तथा च सत्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धका जघन्यस्थितिबन्धकापेक्षयाऽसंख्येयगुणा भवन्ति ।

अयम्भावः—प्रतिसमयं नव्यानां नव्यानां स्थितिबन्धारम्भकाणां तत्तज्जघन्यादिस्थितेर्बन्धकतया तावदवस्थानं सम्भवति यावत्तदीयोत्कृष्टबन्धाद्धायाश्चरमसमयः, जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्ध-

कालस्तु निरयगत्योघादिप्रस्तुतपञ्चमार्गणासु समयद्वयमात्रः, तथा च सति प्रथमसमयजघन्यस्थिति-बन्धप्रारम्भकाः, अनन्तरद्वितीयसमये जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकाश्चेत्येत एव कस्मिँश्चिदेकस्मिन् समये युगपज्जघन्यस्थितिबन्धकतयाऽऽप्यन्ते, न पुनस्तृतीयादिसमयजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भकैः समं प्रथमसमयप्रारम्भकाः। कुतः ? प्रथमसमये जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकाणां जघन्यस्थितिबन्धस्य तृतीयसमयं यावदप्रवर्तनात्, तृतीयसमये तेषामजघन्यस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनादितिभावः। उत्कृ-ष्टस्थितिबन्धकतया त्वसंख्येयसमयेषूत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भकाणामप्येकसमये सञ्चयो लभ्यते। कुतः ? विवक्षिते प्रथमसमये, एवं द्वितीयादिसमयेषु चोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रारम्भकाणामुत्कृष्टस्थिते-रुत्कृष्टबन्धकालान्तर्मुहूर्तं यावदुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतयाऽवस्थानस्य सम्भवात्, ते च विवक्षितप्रथम-समयारब्धोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य चरमेऽसंख्याततमे समये बहवः सम्पद्यन्ते, यतः प्रथमादिसमयेषु तैस्तैरारब्ध उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽद्यापि चरमसमयं यावत्तेषां प्रवर्तते। इत्येवमसंख्यसमयेषूत्कृष्टस्थिति-बन्धस्य प्रारम्भका एकस्मिन् समय उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकतया प्राप्यन्ते, जघन्यस्थितिबन्धस्य प्रारम्भ-कास्तु द्विसामयिका एव। न च तावन्मात्रम्, किन्तु यत उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सर्वेषां नारकाणां सम्भवति, जघन्यस्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्य आगतानां भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनां केषाञ्चिदेव, ततोऽपि सुतरां प्रकृतपञ्चमार्गणायां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः सर्वस्तोकाः प्राप्यन्ते, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु तेभ्योऽसंख्येयगुणा इति।

शेषसहस्रारान्तदेवगतिभेदेषु, षट्पूक्तशेषनरकगतिभेदेषु, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोश्च प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धकाः सम्यग्दृष्टयो जीवाः, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु मिथ्यादृष्टयः, एतासु मार्गणासु सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयो जीवा असंख्यगुणाः, सन्ति समप्राणामपि सम्यग्दृशां पल्यो-पमाऽसंख्यभागगतसमयराशिप्रमाणत्वात्, प्रकृतदेवनारकाणां तु केषाञ्चन श्रेण्यसंख्यभागगतनभः-प्रदेशराशितुल्यत्वात्, केषाञ्चित्तु तदधिकत्वाच्च। इत्थञ्च प्रकृताल्पबहुत्वमपि यथोक्तं सम्पद्यत इति।

मिश्रदृष्टिमार्गणायामपि सम्यक्त्वाभिमुखजीवापेक्षयाऽसंख्येयगुणानां मिथ्यात्वाभिमुखानां सद्भावमपेक्ष्य जघन्यस्थितेर्बन्धकपरिमाणादुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽसंख्येयगुणं ज्ञेयम्। कथम् ? तत्तद्गुणस्थानाभिमुखानामेव तत्तज्जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात्। शेषमार्गणासु तु प्रत्येकं स्थितिबन्धकजीवानामसंख्येयानां सद्भावेऽपि सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितेर्बन्धकास्तु पर्याप्तमनुष्या एव, ते च संख्येयाः, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु तिर्यगादयोऽपि ते चासंख्येयाः, एवं च स्फुटमुत्कृष्टस्थिते-र्बन्धकानामसंख्येयगुणत्वम्। अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामसंख्येयगुणत्वं तु सर्वासु मार्गणासु प्राग्वद्भावनीयमिति ॥४६६॥

तदेवमभिहितमायुर्वर्जानां जघन्यो-त्कृष्ट-तदितरस्थितिबन्धपदत्रयापेक्षया बन्धकाल्पबहुत्वमा-देशतः। साम्प्रतमवशेषस्याऽऽयुषस्तदभिधातुकाम आह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअ-वणकायु-रालियदुगेसुं ।
णपुम-चउकसायेसुं दुअणाणा-ऽयत-अचक्खुसुं ॥४६७॥
असुहतिलेसासु तहा भवि-यियरा-ऽऽहार-मिच्छ-अमणेसुं ।
आउस्सुक्कोसाए ठिईअ होअन्ति सव्वऽप्पा ॥४६८॥
तत्तो जहण्णगाए ठिईअऽणंतगुणिया मुणेयव्वा ।
ताहिन्तो अण्णाए ठिईअ णेया असंखगुणा ॥४६९॥

(प्रे०) "**तिरिये सव्वेगिंदिये**" त्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां तथा सर्वशब्दस्यैकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-वनस्पत्योघभेद--काययोगसामान्यभेदौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगमार्गणासु, नपुंसकवेद-चतुःक्रोधादिकषायमार्गणासु, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु, कृष्णाद्यशुभत्रिलेश्यामार्गणासु, तथाशब्द उक्तानुक्तसमुच्चये, तत्रानुक्तमार्गणा आह—"**भवियियराहारे**" इत्यादिना, भव्यमार्गणायां, तदितरस्यामभव्यमार्गणायामाहारिमार्गणायां मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणयोश्चेत्यर्थः । एतासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु किमित्याह—"**आउस्सुक्कोसाए**" इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेः "**सव्वप्पा**" त्ति सर्वाल्पा भवन्ति, बन्धका इति शेषः । "**तत्तो**" त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धकेभ्यः "**जहण्णगाए ठिईअ**" त्ति आयुषो जघन्यैव जघन्यका तस्या जघन्यकायाः स्थितेः '**णंतगुणिया मुणेयव्व**' त्ति अनन्तगुणिता ज्ञातव्याः, बन्धका इत्यत्रापि वाक्यशेषः । "**ताहिन्तो**" त्ति तेभ्यो जघन्यस्थितिबन्धकेभ्यः "**अण्णाए ठिईअ**" त्ति उक्तान्यस्याः स्थितेः, तत्रोक्तस्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च, अतस्तदन्या याऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिस्तस्या अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेरित्यर्थः । तस्याः कियन्त इत्याह—"**णेया असंखगुणा**" त्ति बन्धका असंख्यगुणा ज्ञेयाः ।

तत्रैकेन्द्रियसत्काः सप्त, निगोदवनस्पतिकायसत्काः सप्तेति चतुर्दशभेदाः वनस्पतिकायौघभेदश्चेत्येतान् पञ्चदश भेदान् मुक्त्वा शेषमार्गणाभेदेष्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः कतिपयपञ्चेन्द्रिया एव, ते चाऽसंख्या इतिकृत्वा स्तोकतयाऽऽदौ गृहीताः । जघन्यस्थितेर्बन्धकास्त्वेकेन्द्रिया अपि भवन्ति, ते चानन्ता इतिकृत्वा पूर्वोक्तेभ्योऽनन्तगुणा उक्ताः । अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वनन्ता अपि पूर्ववदसंख्यातानां नानास्थितिबन्धस्थानानां निर्वर्तका गृह्यन्ते, ते चासंख्यातेषु भिन्नभिन्नसमयेष्वायुर्बन्धप्रारम्भका अप्येकसमये बन्धकतया प्राप्यन्ते, जघन्यस्थितेर्बन्धकास्त्वेकसामायिका एव प्राप्यन्त, तथा च सति जघन्यस्थितिबन्धकेभ्योऽजघन्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धका असंख्यगुणा एव सम्पद्यन्त इति तथैवोक्ताः । एवमुत्तरत्राप्यजघन्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धकविषयेऽसंख्येयगुणत्वं विभावनीयमिति । एकेन्द्रियादिषु पञ्चदशमार्गणास्वप्येवमेव, नवरमायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धका एकेन्द्रियाः

सन्तोऽपि पञ्चेन्द्रियसत्कमायुर्बध्नन्तस्तेऽसंख्येया एव लभ्यन्ते, न पुनः पञ्चेन्द्रियपरिमाणादधिका, तथा चाल्पबहुत्वमपि तिर्यग्गत्योघादिमार्गणावदेवोपपद्यत इति ॥४६७-४६८-४६९॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्रकृताल्पबहुत्वमाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४७०॥
सुइल-खइएसु थोवा उक्कोसाए ठिईअ ह्स्साए ।
संखेज्जगुणा तत्तो इयराअ ठिईअ संखगुणा ॥४७१॥

(प्रे०) "**पज्जमणुसे**" त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोराहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽऽनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तदेवगतिभेदेषु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं "**थोवा**" त्ति स्तोका बन्धकाः, । कस्याः स्थितेरित्याह-"**उक्कोसाए ठिईअ**" त्ति प्रकृतत्वादायुष उत्कृष्टायाः स्थितेरित्यर्थः । "**ह्स्साए संखेज्जगुणा तत्तो**" त्ति तत आयुषः 'ह्रस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेः संख्येयगुणाः, बन्धका इति गम्यते । "**इयराअ ठिईअ संखगुणा**" त्ति अनन्तरोक्तजघन्योत्कृष्टस्थित्यपेक्षयेतरा याऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिस्तस्याः संख्येयगुणा बन्धका इत्यर्थः । **न च** भवतु पर्याप्तमनुष्यादिसंख्येयजीवराशिकासु मार्गणासूत्कृष्टादिस्थितिबन्धकानां यथोत्तरं संख्येयगुणत्वम्, कथं पुनरसंख्येयजीवराशिकेष्वानतप्रभृतिदेवभेदष्वपि तेषां यथोत्तरं संख्येयगुणत्वमेवेति **वाच्यम्** । यत आनतकल्पादिष्वसंख्येयजीवराशिकेष्वप्यायुर्बन्धका एकस्मिन् समये संख्येया एव लभ्यन्ते, एतच्च प्रागनेकश उक्तं भावितं च, ततश्च यथोत्तरं संख्येयगुणत्वमेव युज्यते, न त्वसंख्येयगुणत्वमिति ॥४७०-४७१॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे य आउस्स ।
पज्जमणुसव्व णेया णवरियराए असंखगुणा ॥४७२॥

(प्रे०) "**णाणतिगे**" इत्यादि, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानमार्गणारूपे ज्ञानत्रिके, अवधिदर्शनमार्गणायाम् । चः पादपूर्त्यै । "**सम्मत्ते वेअगे य**" त्ति, सम्यक्त्वौघमार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु किमित्याह-"**आउस्से**"त्यादि, आयुकर्मणः पर्याप्तमनुष्यमार्गणावज्ज्ञातव्याः, जघन्यादिस्थितीनां बन्धका इति शेषः । किं सर्वथा तथैव ज्ञातव्या, अस्ति वा कश्चिद्विशेषः ? इत्यतो विशेषं दर्शयन्नाह-"**णवरियराए असंखगुणा**" त्ति द्वितीयपदे जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इत्युक्त्वा तृतीयपदे इतरस्या अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका असंख्यगुणा वक्तव्याः, न पुनस्तद्वत्संख्येयगुणा इत्यर्थः । सुगमं चेदम्, मतिज्ञानादिप्रस्तुतमार्गणासु तु प्रत्येकमेकस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽसंख्येयानामायुर्बन्धकानां लाभादिति ॥४७२॥

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुतपदत्रयविषयमायुर्बन्धकाल्पबहुत्वमाह--

सेसासुक्कोसाए आउस्सऽप्पा तओ जहण्णाए ।
ताहिन्तो सेसाए ठिईअ कमसो असंखगुणा ॥४७३॥

(प्रे०) "सेसासुक्कोसाए" इत्यादि, उक्तशेषासु निरयगत्योघादिद्विनवतिमार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टायाः स्थितेः "प्पा" त्ति अकारस्य दर्शनाद् "अप्पा" त्ति सर्वाल्पाः बन्धका इति शेषः । ततो जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकास्ततश्च शेषाया अजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेः क्रमशोऽसंख्यगुणा इति । **शेषमार्गणास्त्विमाः**–अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः,मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवगत्योघ-सहस्रारकल्पान्ता देवगतिसत्का द्वादश भेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेजोवायुकायानां प्रत्येकं सप्त सप्त भेदा इतिकृत्वाऽष्टाविंशतिर्भेदाः, त्रयः प्रत्येकवनभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सासादन-संज्ञि-मार्गणाश्चेति ।

एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टपदेऽसंख्येया आयुर्बन्धकास्तत्राप्यसंख्येयबन्धकराशिर्यथाऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धार्हस्तथोत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धार्हा जघन्यस्थितिकायुर्बन्धार्हाश्च जीवा असंख्येया एव, विहाय मनुष्यौघ-देशसंयम-तेजः-पद्मलेश्या-सासादनमार्गणाः । एतत्तु परिमाणद्वारेणैव गतार्थम्, केवलं तस्यां तस्यां निरयगत्योघादिमार्गणायां त्रिविधबन्धकानां प्रत्येकमसंख्येयत्वेऽप्युत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धकानां स्तोकत्वं तु सर्वसुलभजघन्याबाधानान्तरीयकजघन्यस्थितिकायुर्बन्धापेक्षया उत्कृष्टाबाधाऽविनाभाव्युत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्य सुदुर्लभत्वात् । इत्थञ्चोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका जघन्यस्थितिकायुर्बन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणहीनाः प्राप्यन्ते, किञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणासु यावदायुर्जघन्यस्थितिकायुस्त्वेन बध्यते तावदायुषां जीवानां बहुत्वात्तादृगायुर्बन्धका अपि लोके बहवो लभ्यन्ते, एवं यावदायुरुत्कृष्टस्थितिकायुष्ट्वेन बध्यते तावदायुषां जीवानां स्तोकत्वात् तादृशायुषो बन्धका अपि प्रकृतमार्गणासु स्तोका असंख्येयगुणहीनाः सम्पद्यन्ते । तृतीयपदे तु बन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानानामेवासंख्येयगुणत्वादजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका जघन्यस्थितिकायुर्बन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणा इति सुगममसंख्येयगुणत्वमिति ॥४७३॥

तदेवं समाप्तमायुष उत्कृष्टस्थित्यादिपदत्रयमपेक्ष्य बन्धकाल्पबहुत्वमादेशतोऽपि, तत्समाप्तौ च समाप्तमुत्कृष्टादिस्थितिबन्धपदत्रयापेक्षं बन्धकाल्पबहुत्वम्, तस्मिंश्च समाप्ते गतं बन्धकपरिमाणाल्पबहुत्वम् ।

अथ स्वस्थान-परस्थानभेदभिन्नस्थितिबन्धपरिमाणाऽल्पबहुत्वभणनावसरः । तत्र ज्ञानावरणादीनां स्वस्थानाल्पबहुत्वे प्रथमं तावज्जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धपदद्वयमधिकृत्याभिधित्सुरोघत आह—

अट्ठण्हं ठिइबंधो हस्सो थोवो हवेज्ज ताहिन्तो ।

उक्कोसो ठिइबंधो असंखियगुणो मुणेयव्वो ॥४७४॥

(प्रे०) "**अट्ठण्ह**"मित्यादि, ज्ञानावरणादिलक्षणानामन्तरायपर्यन्तानामष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं 'ह्रस्वः'-जघन्यः स्थितिबन्धः "**थोवो हवेज्ज**" त्ति स्तोको भवेत् । "**ताहिन्तो**" त्ति तेभ्यो ज्ञानावरणादीनां स्वकस्वकजघन्यस्थितिबन्धेभ्यः "**उक्कोसो ठिइबंधो**" त्ति ज्ञानावरणादीनां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणो ज्ञातव्यः । **अयम्भावः**-ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्वोघतस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणः, इत्थं च भवति ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, अन्तर्मुहूर्तकालापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागमात्रकालस्याऽप्यसंख्येयगुणत्वे त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटिकालस्य तु का कथा, सुतरामसंख्येयगुणत्वमिति भावः । इत्थमेव दर्शनावरणादीनां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धपदद्वयस्याप्यबहुत्वं पृथक् पृथग् द्रष्टव्यम् , स्वस्थानाल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वात् ।

तद्यथा-ज्ञानावरणस्येव दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, ततः पुनस्तयोरेवोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । वेदनीयस्य जघन्यः स्तोकः, स च द्वादशमुहूर्तप्रमाणः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः पूर्ववत् त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वात् । आयुषो जघन्यः स्तोकः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः, स चाष्टमुहूर्तमानः, ततस्तयोरेवोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः, विंशतिकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वादिति । इत्थमेव मार्गणास्थानेष्वपि प्रत्येकं तत्तत्कर्मणोऽल्पबहुत्वं पृथक् पृथग्द्रष्टव्यम् , तत्र जघन्यस्थितिबन्धस्य स्तोकत्वं तु स्थितिबन्धस्य जघन्यपदगतत्वादेव विज्ञेयम् , उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यासंख्येयगुणत्वादिकं तु प्राक् **स्थितिबन्धप्रमाणद्वारोक्त**-जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणद्वारेणोपपादनीयमिति ॥४७४॥

तदेवं प्रतिकर्म जघन्योत्कृष्टस्थित्योः स्वस्थानाल्पबहुत्वमोघतोऽभिधाय साम्प्रतमादेशतोऽभिधित्सुरादौ तावत्सप्तप्रकृतिविषयं तदाह—

णरतिग-दुपणिंदियतस-पणमणवयणेसु काय-उरलेसुं ।
वेअतिग-कसायचउग-णाणचउग-संयमेसुं च ॥४७५॥
समइअ-छेअ-तिदरिसण-सुइल-भविय-सम्म-खइ-उवसमेसुं ।
सण्णिम्मि तहाऽऽहारे सत्तण्ह गुरू असंखगुणो ॥४७६॥

(प्रे०) "**णरतिगे**" इत्यादि, सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा 'णरतिग' इत्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदा गृह्यन्ते । कुतः ? स्थितिबन्धप्रमाणद्वारोक्तार्थानुसारेणानन्तरं वक्ष्यमाणस्य

"**सत्तण्ह गुरू असंखगुणो**" इत्यस्याऽपर्याप्तवर्जभेदत्रय एवोपपत्तेः । अत एव "**दुपणिंदिय-तसे**"त्यत्र पञ्चेन्द्रियत्रसोभयत्रयोजनीयद्विशब्देनाऽपर्याप्तभेदवर्जौ पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-रूपौ द्वौ भेदौ, तथैवापर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ त्रसकायभेदौ गृह्येते । "**पणमणवयणे**" त्यादि, प्राग्वत् पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगास्तेषु, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगयोः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप-वेदत्रिक-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संयमौघमार्गणासु। च उक्तानुक्तसमुच्चये। अनुक्त-मार्गणा आह-"**समइअ**" इत्यादिना, सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु संज्ञिमार्गणायां तथाऽऽहारिमार्गणायामित्येतासु त्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं-"**सत्तण्ह गुरू असंखगुणो**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां 'गुरुः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽसंख्यगुणो भवतीत्यर्थः । कस्माद् ? इति चेत्, स्तोकाज्जघन्यस्थितिबन्धात् । पदद्वयस्याल्पबहुत्व एकपदस्याऽसंख्येयगुणत्वादिकेऽभिहितेऽन्यपदस्य स्तोकत्वं सुतरां गम्यते । ततश्च ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकस्ततो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्यगुणः, एवमायुर्वर्जदर्शनावरणादीनामपि ज्ञेयम् । यद्वा "**जहण्णाओ**" इति पूर्वतोऽनुवर्तते, अतस्तदपेक्षया मंख्येयगुणत्वं योजनीयम् । एवमेवाग्रेऽपि ज्ञेयम् । भावना त्वत्रौघवद् द्रष्टव्या, यद्वा तत्तन्मार्गणायां **स्थितिबन्धप्रमाणद्वारो**क्तजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमपेक्ष्य द्रष्टव्येति ॥४७५-४७६॥

गयवेए उक्कोसो संखेज्जगुणो चउण्ह घाईणं ।
णेयो असंखियगुणो तिण्ह अघाईण उक्कोसो ॥४७७॥

(प्रे०) "**गयवेए**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां "**चउण्ह घाईणं**" ति ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणानां चतुर्णां घातिप्रकृतीनां "**उक्कोसो**" त्ति उत्कृष्टस्थिति-बन्धः "**संखेज्जगुणो**" त्ति प्राग्वज्जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणः । "**तिण्ह अघाईण उक्कोसो**" त्ति अधिकृतमार्गणायामायुर्बन्धस्याऽभावादायुर्वर्जानां वेदनीय--नाम--गोत्रलक्षणानां त्रयाणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः "**णेयो असंखियगुणो**" त्ति असंख्यगुणो ज्ञेयः । स्वस्थानाल्पबहुत्वस्य प्रकृतत्वादत्रापि ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया ज्ञानावरणस्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धः संख्येयगुण इत्यादिकं प्रतिकर्म प्राग्वत् स्वयमेव योज्यमिति ॥४७७॥

अथोक्तशेषमार्गणास्वेकयाऽऽर्ययाऽऽह—

सत्तण्हं सव्वेसुं एगिंदियविगलपंचकायेसुं ।
जेट्ठो विसेसअहियो णेयो सेसासु संखगुणो ॥४७८॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं**" इत्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यादि-वनस्पत्यन्तपञ्चकायसत्कभेदेष्वित्येवं पञ्चपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**सत्तण्ह**" त्ति आयु-र्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः "**विसेसअहियो**" त्ति स्तोक-

प्रमाणाज्जघन्यस्थितिबन्धाद्विशेषाधिकः । "णेयो सेसासु संखगुणो" त्ति नरत्रिकेत्यादिना-ऽनन्तरोक्ता नवनवतिमार्गणास्त्यक्त्वा शेषास्वेकसप्ततिमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयगुणो ज्ञातव्यः, सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्युनुवर्तते, जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयेति गम्यत इति ।

शेषमार्गणास्त्विमाः-अष्टौ नरकभेदाः, त्रिंशदपि देवगतिभेदाः, पञ्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदाः, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कार्मणकाययोगाः, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्या-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति ॥४७८॥

तदेवमुक्तमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामादेशतोऽपि प्रकृताल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमायुषस्तदादेशत आह—

सव्वेसु णिरया-ऽमर-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसु ।
असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसु च ॥४७९॥
आहारदुगे विउवे उरालमीस-मणपज्जवेसु च ।
संयम-सामाइएसु छेए परिहार-देसेसु ॥४८०॥
आउस्स जहण्णाओ ठिइबंधाओ हवेज्ज संखगुणो ।
ठिइबंधो उक्कोसो असंखियगुणो उ सेसासु ॥४८१॥

(प्रे०) "**सव्वेसु**"इत्यादि, सर्वासु निरयगतिमार्गणासु, सर्वासु देवगतिमार्गणासु, तथैव सर्वैकेन्द्रिय-सर्वपृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्कमार्गणास्वित्यर्थः । "**असमत्ते**" त्यादि, अत्राप्यसमत्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणास्वित्यर्थः । चकारस्तु समुच्चये । तेनान्यमार्गणाः समुच्चिन्वन्नाह-"**आहारदुगे**" इत्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप आहारकद्विके वैक्रियकाययोगमार्गणायामौदारिकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञानमार्गणयोः । चः पादपूर्त्यै । "**संयमे**" त्यादि, संयमौघ-सामायिकसंयममार्गणयोः, छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणयोरित्येतासु सप्तोत्तरशतमार्गणासु । एतासु किमित्याह-"**आउस्स जहण्णाओ**" इत्यादि, आयुःकर्मणः स्तोकाजघन्यस्थितिबन्धात्तस्यैवोत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवेदित्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, कासुचिन्निरयगत्योघादिमार्गणासूत्कृष्टस्थितिबन्ध औधिकजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽपि संख्येयगुण एव । कथम् ? पूर्वकोटित्रिभागप्रमाणत्वात् । ततः किम् ? ततो निरयगत्यादिमार्गणासत्कजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया त्वसौ सुतरां संख्येयगुणो भवेत् । कासुचिन्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु त्वायुषो जघन्यः स्थितिबन्ध एव पल्योपमपृथक्त्वं तदधिको वा जायते, तदपेक्षया त्वौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि संख्येयगुणः,

किं पुनस्तत्तन्मार्गणाभाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धः । इत्यतो निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धापेक्षयोत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण एवोक्त इति ।

अथ शेषमार्गणास्वाह–"**असंखियगुणो उ सेसासु**" इति सुगमम्, नवरम् 'आउस्स जहण्णाओ ठिइबंधाओ हवेज्ज' इत्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । **शेषमार्गणास्त्विमाः**–तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-योनिमत्तिर्यग्-मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-स्त्री-पुं--नपुंसकवेद--क्रोधादिचतुःकषाय--मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽसंयम--चक्षुरादित्रिदर्शन-कृष्णादिषल्लेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा इति ॥४७९-४८०-४८१॥

तदेवमुक्तं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धावधिकृत्य ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं स्वस्थानाल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमुत्कृष्टादिस्थितिबन्धमाश्रित्य समुदितानामष्टानामपि ज्ञानावरणादीनां यत्परस्थानाल्पबहुत्वं, तद्भणनावसरः । तत्रादौ तावदुत्कृष्टस्थितिबन्धमधिकृत्य व्याजिहीर्षुरोघत आह—

आउस्सुक्कोसोऽप्पो ताहिन्तो वीसगाण संखगुणो ।
तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥४८२॥

(प्रे०) "**आउस्सुक्कोसोऽप्पो**" इत्यादि, आयुःकर्मण उत्कृष्टः स्थितिबन्धः 'अल्पः'-सर्वस्तोकः । तस्मात् "**वीसगाण**"त्ति ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमधिकृत्य 'विंशतिकयोः'-विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकयोर्नाम-गोत्रकर्मणोः प्रत्येकं संख्येयगुणः, परस्परं तु तयोस्तुल्य इति गम्यते । कथम् ? युगपदभिधानात् । **अयम्भावः**--कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्याधिकृतत्वादायुष ओघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटीत्रिभागेनाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः सन्नपि शेषसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया स्तोक एव भवति । नामकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोटयः,स चायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणो भवति । तथैव गोत्रकर्मणोऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोटय इतिकृत्वा नामकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धेन सह तुल्यः सन्नायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुण एव भवति, ततश्च नामकर्मणा समं तुल्यत्वख्यापनार्थमायुषा समं संख्येयगुणत्वप्रदर्शनाय च नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य युगपत्संख्येयगुणता कथिता । यत्पुनः "**वीसगाणे**"त्यत्र बहुवचनं, तत्तु प्राकृतवशात् । एवमुत्तरत्रापि युगपदभिहितानां स्थितिबन्धविषये परस्परं तुल्यताऽपि विभावनीयेति । "**तो तीसगाण अहिओ**" त्ति 'ततः'-विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धात् 'त्रिंशत्कानां'–त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयोघोत्कृष्टस्थितिकानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमधिकः-विशेषाधिकः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । अत्रापि ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य परस्परं तुल्यत्वमेकैकस्य

चानन्तरोक्तस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिकत्वमिति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । "**तत्तो मोहस्स संखगुणो**" त्ति 'ततः'-त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धात् 'मोहस्य'-मोहनीयकर्मणः संख्येयगुणः। अत्राऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तत इति। भावना तु सुगमा; प्रागुक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणानुसारेण स्वयमेव कर्तव्येति ॥४८२॥

उक्तमोघत उत्कृष्टपदमधिकृत्य मूलकर्मणां परस्थानस्थितिबन्धाल्पबहुत्वम्। अथ तदेवादेशतो दर्शयन्नाह—

सव्वेसु णिरया-ऽमर-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसु ।
असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसु च ॥४८३॥
विउवे उरालमीसे अमणे आउस्स होइ सव्वऽप्पो ।
एआउ वीसगाणं असंखियगुणो मुणेयव्वो ॥४८४॥
तो तीसगाण अहियो ताओ मोहस्स होइ संखगुणो ।
णवरि पणणुत्तरेसु मोहस्स भवे विसेसहियो ॥४८५॥

(प्रे०) "**सव्वेसु**" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत्सुगमः। **गाथात्रयपिण्डार्थस्त्वेवम्**—सर्वनिरयगतिभेद-सर्वदेवगतिभेद-सर्वैकेन्द्रियभेद—सर्वविकलेन्द्रियभेद-सर्वपृथिव्यादिवनस्पत्यन्तपञ्चकायसत्कभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्या-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय--वैक्रियकाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोगा-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदरूपेषु शतमार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः सर्वाल्पः, तस्माद्विंशतिकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरसंख्यातगुणः, ततस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमस्थितिकानां ज्ञानावरण--दर्शनावरण--वेदनीया--ऽन्तरायकर्मणां विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्यातगुणो भवति, नवरमयमत्रापवादः--देवगतिसत्केषु पञ्चानुत्तरविमानभेदेषु चरमपदे मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्यातगुणो न भवति, किन्तु विशेषाधिक एव भवति, अतस्तथैव वाच्यः। कुतः संख्यातगुणो न भवति ? तत्र मिथ्यात्वमोहनीयप्रकृतेरबन्धात्।

इदमुक्तं भवति—मूलप्रकृत्युत्कृष्टादिस्थितिबन्धमानमधिकतमस्थितिकतया बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतिबन्धाधीनम्। अत एव मोहनीयस्यौघिकोत्कृष्टस्थितिबन्धमानं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः। एवं ज्ञानावरणादीनां मूलकर्मणां त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिकं च। तत्र मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो यः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः स ओघतो बन्धप्रायोग्यमिथ्यात्वमोहनीयापेक्षया, एवमेव ज्ञानावरणादीनामपि यथासम्भवं मतिज्ञानावरणाद्यपेक्षया। अत एवौघवदेकेन्द्रियादिमार्गणाभेदेष्वऽपि ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण उक्तः, तथैव तेषां ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयजघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण उक्तः, न पुनरनुत्तरविमानभेदादौ, तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्य बन्धाभावेन बन्धप्रायोग्याऽप्रत्याख्यानावरणकषायाद्यपेक्षया मूलप्रकृत्य-

ल्पबहुत्वस्यापि ला ात् । अयम्भावः—यथाऽसत्कल्पनया यदि मिथ्यात्वमोहनीयाख्यप्रकृतिरेव न स्यात्तदाऽनन्तानुबन्ध्याद्युत्तरप्रकृत्यपेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टोऽप्यौघिकस्थितिबन्धश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटिकोट्य एव स्यात्, ज्ञानावरणादेस्तु त्रिंशत्सागरोपमकाटीकोट्यादिरेव, तथा चो ा एव ज्ञानावरणापेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, स चोपरितनगुणस्थानेषु संक्लेशहान्या हीयमानोऽपि श्रेणिं विहाय यथोक्तं विशेषाधिकत्वरूपं मिथस्तारतम्यं नातिक्रमेत । कुतः ? सास्वादनादिगुणस्थानेषु चत्वारिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यौघिकोत्कृष्टस्थितिकानामप्रत्याख्यानावरणादिकषायाणां मतिज्ञानावरणादेश्च बन्धभावात्, मिथ्यात्वस्य त्वबन्धात् । एवमेव सास्वादनादिगुणस्थानेषु स्वरूपतो एव मिथ्यात्वमोहनीयबन्धाभावेन ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः प्राप्यते, नत्वसत्कल्पनया, मिथ्यात्वगुणस्थाने तु यथोक्तासत्कल्पनयैव विशेषाधिकः, स्वरूपतस्तु संख्येयगुण एव । प्रकृते त्वनुत्तरविमानवासिनां मिथ्यात्वाख्यमोहनीयोत्तरप्रकृतेर्बन्धाभावेन चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटयोघोत्कृष्टस्थितिकबध्यमानाऽप्रत्याख्यानावरणाद्युत्तरप्रकृत्यपेक्षया मोहनीयस्याऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणोऽपि स्थितिबन्धो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिक एव प्राप्यते, ज्ञानावरणस्यैकैकोत्तरप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तासां प्रत्येकमनुत्तरविमानवासिनां बन्धभावाच्च ।

यदि च स्यादेवम्—मूलज्ञानावरणकर्मणः पञ्चस्वुत्तरप्रकृतिषु केवलज्ञानवरणस्यौघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमाणि, मिथ्यात्वगुणस्थान एव तद्बन्धश्च, शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां तूत्कृष्टाऽप्यौघिकीस्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, तासां तूपरितनगुणस्थानेष्वपि बन्धस्तदाऽनुत्तरवासिनां देवानां सम्यग्दृष्टितया मिथ्यात्वस्येव केवलज्ञानावरणस्याऽपि बन्धाभावात् शेषाणां तु ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनां विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकत्वात् कषायमोहनीयाऽपेक्षया जायमानोऽपि मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धः सम्यग्दृष्टिगुणस्थाने बध्यमानज्ञानावरणानां जायमानोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया द्विगुणः स्यात्, न पुनः विशेषाधिकः । किन्तु नास्त्येवम्, यतो ज्ञानावरणस्य पञ्चानामप्युत्तरप्रकृतीनामोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य एव भवति, ताश्च प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः सत्य उपरितनगुणस्थानेष्वपि बध्यन्ते, इत्थं मूलोक्तमेवाल्पबहुत्वं प्राप्यत इति दिक् । अनया दिशा पूर्वत्रोत्तरत्र च विभावनीयमल्पबहुत्वं स्वधिया । विशेषार्थिना तूत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धविधानग्रन्थोऽवलोकनीय इति ॥४८३-४८४-४८५॥

आहारदुगम्मि तहा चउणाण-जईसु समइए छेए ।
परिहारे देस-अवहि-सम्म-खइअ-वेअगेसुं च ॥४८६॥
सासायणे य आउस्सऽप्पो तो वीसगाण संखगुणो ।
तो तीसगाण तत्तो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥४८७॥

(प्रे०) "**आहारदुगम्मि तहा**" इत्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्विके, तथा मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघमार्गणासु, सामायिकसंयममार्गणायां, छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां, देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु । चकारः पादपूर्त्यै । सासादनमार्गणायां चेत्येतासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकमायुषः 'अल्पः'-सर्वस्तोकः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां, ततो मोहनीयकर्मणः "**कमा**" त्ति 'क्रमाद्'-यथासंख्यं विशेषाधिकः । नामगोत्रयोरपेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां विशेषाधिकस्ततो मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इत्यर्थः । अत्रापि ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य विशेषाधिक्यमनन्तरोक्तनीत्या प्रस्तुतमार्गणाद्वये मिथ्यात्वस्याऽबन्धादवसातव्यम् ॥४८६-४८७॥

विक्कियमीसे कम्मेऽणाहारे वीसगाण सव्वप्पो ।
तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥४८८॥

(प्रे०) "**विक्कियमीसे**" इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां "**कम्मे**" त्ति कार्मणकाययोगमार्गणायां "**णाहारे**" त्ति लुप्ताकारस्य दर्शनादनाहारकमार्गणायामित्येतासु तिसृषु प्रत्येकं विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः सर्वाल्पः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकम् "**अहिओ**" त्ति विशेषाधिकः । ततो मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्यातगुणः । आयुःकर्मणः प्रकृतमार्गणात्रयेऽबन्ध एवेति नोक्त इति ॥४८८॥

मीसु-वसमेसु णेयो सव्वप्पो वीसगाण ताहिन्तो ।
होएज्ज तीसगाणं तत्तो मोहस्स अब्भहिओ ॥४८९॥

(प्रे०) "**मीसुवसमेसु**" इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च प्रत्येकं विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः सर्वाल्पो ज्ञातव्यः । तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां, ततो मोहनीयकर्मणः 'अभ्यधिकः'-विशेषाधिको भवेद्, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते, क्रमादितिशेषः । ततश्च नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः । ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति । चरमपदे विशेषाधिक्यं मिथ्यात्वस्याऽबन्धात्प्रागवद्विज्ञेयमिति ॥४८९॥

गयवेए सव्वऽप्पो मोहस्स तिघाइगाण संखगुणो ।
तो दोण्ह असंखगुणो ततो तइअस्स अब्भहियो ॥४९०॥

(प्रे०) "**गयवेए**" इत्यादि, 'गयवेए' त्ति अपगतवेदमार्गणायां "**मोहस्स**" त्ति मोहनीयकर्मणः "**सव्वप्पो**" त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धः सर्वाल्पः। "**तिघाइगाण**" त्ति मोहनीयस्यानन्तरमेव कथितत्वात् तच्छेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां 'घातिकानां'-घातिकर्मणां "**संखगुणो**" त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। "**तो दोण्ह असंखगुणो**" त्ति ततो द्वयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्यगुणः। "**तत्तो तइअस्स अब्भहिओ**" त्ति ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽभ्यधिक इति ॥४९०॥

सुहुमम्मि तिघाईणं सव्वप्पो ताउ णामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स भवे विसेसहियो ॥४९१॥

(प्रे०) "**सुहुमम्मि**" त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां "**तिघाईणं**" त्ति मोहनीयस्याऽबन्धाद् बन्धप्रायोग्याणां त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां "**सव्वप्पो**" त्ति प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धः सर्वाल्पः। "**ताउ णामगोआणं संखेज्जगुणो**" त्ति ततो नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धो संख्येयगुणः। "**तत्तो तइअस्से**" इत्यादि, सुगमम्, नवरं "**तइअस्स**" त्ति वेदनीयकर्मण इति ॥४९१॥

अथ शेषसप्तचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रकृताल्पबहुत्ववक्तव्यता तुल्येतिकृत्वा तासु युगपदाह—

सेसासुं आउस्स उ सव्वप्पो वीसगाण संखगुणो ।
तो तीसगाण अहिओ तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥४९२॥

(प्रे०) "**सेसासुं आउस्स**" इत्यादि, उक्तशेषमार्गणासु पुनः "**आउस्स उ सव्वप्पो**" आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः सर्वाल्पः। तुकारः पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च, स च प्राग्योजितः। "**वीसगाण संखगुणो तो**" त्ति ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रकृतोत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, "**तीसगाण अहिओ**" त्ति, अनन्तरोक्तस्य "**तो**" शब्दस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनात् ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धः'अधिकः'-विशेषाधिकः। ततश्च मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति। **शेषमार्गणास्त्विमाः**-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची-मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगौदारिककाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाया-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-षल्लेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा इति ॥४९२॥

तदेवमुक्तमादेशतोऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धमधिकृत्याष्टानां प्रकृतीनां परस्थानाल्पबहुत्वम्। अथ जघन्यस्थितिबन्धमधिकृत्य प्रचिकटयिषुरादौ तावदोघत आह—

सव्वऽप्पो ठिइबंधो आउस्स जहण्णगो मुणेयव्वो ।
ताहिन्तो णायव्वो संखेज्जगुणो उ मोहस्स ॥४९३॥
तत्तो उ तिघाइणं संखगुणो तो य नामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओऽब्भहिओ ॥४९४॥

(प्रे०) "सव्वऽप्पो" इत्यादि, आयुष जघन्य एव जघन्यकः स्थितिबन्धः सर्वाल्पो ज्ञातव्यः । तस्मादायुषो जघन्यस्थितिबन्धात् मोहनीयकर्मणः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्रापि जघन्यस्थितिबन्ध इत्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । "तत्तो उ" त्ति ततस्तु मोहनीयवर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततश्च नाम-गोत्रयोर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो 'विशेषतोऽभ्यधिकः',-विशेषाधिक इत्यर्थः ॥४९३-४९४॥

उक्तमोघतः । अथाऽऽदेशतो नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेष्वभिधित्सुराह—

दुइआइणिरय-जोइसपहुडिसुर-विउव्व-तेउ-पउमासुं ।
वेअग-सासाणेसुं आउस्स लहू भवे थोवो ॥४९५॥
ताहिन्तो णायव्वो असंखियगुणो उ णाम-गोआणं ।
तो तीसियाण तत्तो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥४९६॥

(प्रे०) "दुइआइणिरये" त्यादि, द्वितीयादिमसप्तमपृथिव्यन्तेषु षट्सु निरयगतिभेदेषु, ज्योतिष्कप्रभृतिसर्वार्थसिद्धविमानपर्यन्तेषु सप्तविंशतिसुरगतिभेदेषु, वैक्रियकाययोग-तेजोलेश्या- पद्मलेश्यामार्गणासु,वेदकसम्यक्त्व-सामादनमार्गणयोश्च प्रत्येकमायुषो 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोको भवेत् । ततो नाम-गोत्रयोस्तु लघुस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणो ज्ञातव्यः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः, ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः क्रमाद्विशेषाधिकः, ज्ञातव्य इत्यनुवर्तते । अत्र त्रिंशत्कानां जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयजघन्यस्थितिबन्धस्य विशेषाधिक्यकथनं तत्स्वामिनां सम्यग्दृष्टित्वेन प्रागुक्तनीत्या मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽबन्धात् , कषायमोहनीयापेक्षया तु मूलप्रकृत्यल्पबहुत्वे विशेषाधिक्यस्य लाभाच्चेति । एवमुत्तरत्रापि श्रेणिबहिर्वर्तिनां सम्यग्दृशां मिथ्यात्वमोहनीयस्य बन्धाभावेन बध्यमानमोहनीयोत्तरप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया विशेषाधिक्यमुपपादनीयमिति ॥४९५-४९६॥

णरतिग-दुपणिंदिय-तस-पणमणवयणेसु कायु-रालेसुं ।
पुरिस-चउकसाय-भविय-णयणियरा-ऽऽहार-सण्णीसुं ॥४९७॥

आउस्स जहण्णोऽप्पो कमसो मोहस्स तो तिघाईणं ।
तो वीसगाण संखियगुणो तओ साहिओ उ तइअस्स ॥४९८॥

(प्रे०) "**णरतिगदुपणिंदिये**" त्यादि, तत्र "**णरतिगे**" इत्यनेना-ऽपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदा गृह्यन्ते, एवं पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योज्यद्विशब्देनाऽप्यपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिभेदौ, अपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ त्रसकायभेदौ च ग्राह्यौ, तासु सप्तमार्गणासु तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग--काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-पुरुषवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-भव्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽऽहारि-संज्ञिमार्गणास्वित्येतासु समुदितास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु किमित्याह--"**आउस्से**" इत्यादि, ओघवदायुषो जघन्यस्थितिबन्धः 'अल्पः-'सर्वाल्पः, क्रमशो मोहनीयस्य, ततस्त्रिघातिकर्मणां, ततो विंशतिकयोः संख्येयगुणः स्थितिबन्धः । ततः "**साहिओ उ**" त्ति 'साधिकः'-विशेषाधिकस्तु तृतीयस्य । **अयम्भावः**--आयुषो जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततश्च शेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततश्च तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक इत्येवं मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वं सर्वथौघवदेवेति ॥४९७-४९८॥

विक्कियमीसे मीसे सव्वऽप्पो वीसगाण णायव्वो ।
तो तीसियाण तत्तो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥४९९॥

(प्रे०) "**विक्कियमीसे**" इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदे चायुषोऽबन्धात्तच्छेषेषु सर्वाल्पो जघन्यस्थितिबन्धो विंशतिकयोर्नाम-गोत्रकर्मणोर्ज्ञातव्यः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां ततो मोहनीयकर्मणः क्रमाद्विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिबन्ध इति गम्यते । कुतो विशेषाधिकः ? इति चेद् , मार्गणाद्वयेऽपि जघन्यस्थितिबन्धकानां मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽबन्धादिति ॥४९९॥

कम्मा-ऽणाहारेसुं सव्वप्पो वीसगाण णायव्वो ।
तो तीसियाण अहियो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५००॥

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**" ति कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां चोभयत्रा-प्यायुषोऽबन्धात्सर्वाल्पो जघन्यस्थितिबन्धो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्ज्ञातव्यः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणाम् "**अहियो**" त्ति विशेषाधिकः । ततो मोहनीय-कर्मणः संख्येयगुणः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यत्रापि प्राग्वद्गम्यत एवेति । हेतुस्तु मार्गणाद्वयेऽपि जघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वेन तद्बन्धकाले मिथ्यात्वस्य नियमेन बन्धादिति ॥५००॥

आहारदुगे देसे परिहारे आउगस्स सव्वप्पो ।
तो वीसगाण णेयो संखगुणो तीसगाणऽहियो ॥५०१॥
तत्तो मोहस्स हवइ विसेसअहियो भवे णपुम-थीसुं ।
आउस्स उ सव्वऽप्पो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५०२॥
तो तिण्हं घाईणं संखगुणो ताउ णामगोआणं ।
णेयो असंखियगुणो तत्तो तइअस्स अब्भहियो ॥५०३॥

(प्रे०) "**आहारदुगे**" इत्यादि, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप आहारकद्विके "**देसे**" त्ति देशसंयममार्गणायां तथा "**परिहारे**" त्ति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम् । एतासु प्रत्येकमित्यर्थः । किमित्याह–"**आउगस्स**" इत्यादि,आयुष्कस्य जघन्यस्थितिबन्धः सर्वाल्पः, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः, "**तीसगाणऽहियो**" त्ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, ततो मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको भवति ।

अथाऽन्यत्राह–"**भवे णपुमथीसुं**" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च भवेत् । किं भवेदित्याह–"**आउस्स उ**" इत्यादि, प्राग्वदायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्तु सर्वाल्पः, ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिनां प्रत्येकं संख्येयगुणः, तस्मान्नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, ततः पुनस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः 'अभ्यधिकः'-विशेषाधिको ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥५०१-५०३॥

गयवेअ-उवसमेसुं मोहस्सऽप्पो तओ तिघाईणं ।
तो वीसगाण संखगुणो तत्तो तइअस्स अब्भहिओ ॥५०४॥

(प्रे०) "**गयवेअ**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च मोहनीयकर्मणः "**प्पो**" त्ति अकारस्य दर्शनाद् 'अल्पः'-सर्वस्तोकः, जघन्यस्थितिबन्ध इति गम्यते । ततः शेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः संख्येयगुणः, क्रमादिति शेषः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणोऽभ्यधिकः, जघन्यस्थितिबन्ध इति सर्वत्र प्राग्वद्योज्यमिति ॥५०४॥

णाणतिगे ओहिम्मिय सुइला-सम्म-खइएसु णायव्वो ।
मोहस्स सव्वथोवो तओ तिघाईण संखगुणो ॥५०५॥

तो वीसियाण णेयो संखगुणो तो विसेसओऽब्भहियो ।
तइअस्स हवइ तत्तो आउस्स हवेज्ज संखगुणो ॥५०६॥

(प्रे०) **"णाणतिगे"** इत्यादि, "णाणतिगे" त्ति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् तां विहाय शेषाणां मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानमार्गणानां त्रिके-ज्ञानत्रिके, **"ओहिम्मि"** त्ति अवधिदर्शनमार्गणायां, चकारस्समुच्चयार्थो भिन्नक्रमश्च **"सम्मखइएसु"** इत्यस्योत्तरं योज्यस्ततः **"सुइल"** त्ति शुक्लेश्यामार्गणायां **"सम्मखइएसु"** त्ति सम्यक्त्वौघमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्येतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञातव्य इत्यर्थः । कः कियानित्याह-**"मोहस्स सव्वथोवो"** इत्यादि, मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः सर्वस्तोकः । ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो 'विशेषतोऽभ्यधिकः'-विशेषाधिको जघन्यस्थितिबन्धः **"तइअस्स हवइ"** त्ति तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो भवति, तत आयुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवेदिति ॥५०५-५०६॥

मणणाण संयमेसुं समइअछेएसुं होइ सव्वप्पो ।
मोहस्स तओ णेयो तिण्हं घाईण संखगुणो ॥५०७॥
तो वीसगाण णेयो संखगुणो तो विसेसओऽब्भहियो ।
तइअस्स हवइ तत्तो आउस्स भवे असंखगुणो ॥५०८॥

(प्रे०) **"मणणाण"** इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघमार्गणायां तथा सामायिकछेदोपस्थापनसंयममार्गणयोः प्रत्येकं मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः सर्वाल्पो भवति। ततस्त्रयाणां-ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेयः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेयः । ततो विशेषतोऽभ्यधिकस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो भवति । ततः पुनरायुषो जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्यगुणो भवेदिति ॥५०७-५०८॥

सुहुमम्मि तिघाईणं सव्वप्पो ताउ णामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओ अहिओ ॥५०९॥

(प्रे०) **"सुहुमम्मि तिघाईणमि"**त्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयस्याऽबन्धाच्छेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः सर्वाल्पः । तस्मात् नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको भवतीत्यर्थः ॥५०९॥ उक्तशेषमार्गणास्वाह—

सेसासुं आउस्स उ थोवो दोण्हं तओ असंखगुणो ।
तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५१०॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, अनन्तरं पृथक् पृथगुक्ता द्वितीयपृथिवीनरकभेदाद्येकोननवति-**मार्गणा** विवर्ज्य शेषासु नरकगत्योघभेदाद्येकोनाशीतिमार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यः स्थिति-**बन्धः** "**थोवो**" त्ति सर्वस्तोकः । "**दोण्हं तओ**" त्ति ततो द्वयोर्नामगोत्रकर्मणोरसंख्यगुणः, जघन्य-स्थितिबन्ध इति प्राग्वद्गम्यते । "**तो**" त्ति ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धात् त्रिंशत्कानां ज्ञाना-**वरण**-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणामधिकः-विशेषाधिकः । ततो मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति । **शेषमार्गणा नामत इमाः**—नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवीनरकभेदौ, पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पति-कायसत्काः सर्वे भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, औदारिकमिश्रकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्ग-ज्ञाना-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥५१०॥

तदेवं जघन्यस्थितिबन्धमधिकृत्याप्युक्तमष्टानां मूलप्रकृतीनां परस्थानाल्पबहुत्वमादेशतो-ऽपि । साम्प्रतं पुनस्तदेव जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धद्वयमधिकृत्य व्याजिहीर्षुरादौ तावदोघत आह—

सव्वऽप्पो ठिइबंधो आउस्स जहण्णगो मुणेयव्वो ।
ताहिन्तो णायव्वो संखेज्जगुणो उ मोहस्स ॥५११॥
तो तिण्हं घाईणं संखगुणो ताउ णामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओऽब्भहियो ॥५१२॥
ताऽऽउस्स असंखगुणो जेट्ठो तो वीसगाण संखगुणो ।
तो तीसगाण अहिओ तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५१३॥

(प्रे०) "**सव्वऽप्पो**" इत्यादि, सर्वाल्पः स्थितिबन्धो 'ज्ञातव्य' इति परेणान्वयः । कथम्भूतः ? इत्याह—"**आउस्स जहण्णगो**" त्ति साधिकक्षुल्लकभवप्रमाणो य आयुकर्मणो जघन्यः स्थितिबन्धः स इत्यर्थः । "**ताहिन्तो**" त्ति तस्मात् मोहनीयकर्मणः संख्यातगुणो ज्ञातव्यः, जघन्य-स्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । "**तो तिण्ह**"मित्यादि, ततस्त्रयाणां घातिकर्मणां संख्येयगुणः, जघन्य-स्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्रापि तदनुवृत्तेः "**ताउ नामगोआणं**" त्ति ततो नामगोत्र-**कर्मणो**र्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः 'विशेष-तोऽभ्यधिकः'-विशेषाधिक इत्यर्थः । "**ताऽऽउस्स**" त्ति तत आयुःकर्मणो 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थिति-बन्धोऽसंख्यगुणः । "**तो वीसगाणं**" ति ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः "**संखगुणो**" त्ति

संख्येयगुणः, ज्येष्ठस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते, क्रमादिति शेषः। **"तो तिसगाण"** त्ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणाम् **"अहियो"** त्ति विशेषाधिकः। **"तत्तो मोहस्स संखगुणो"** त्ति ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्युभयत्राप्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम्। इदमप्यल्पबहुत्वं स्थितिबन्धप्रमाणानुसारेण प्राग्वत्स्वयमेव भावनीयम्, वक्ष्यमाणादेशप्ररूपणायामप्येवं तत्तन्मार्गणोक्तस्थितिबन्धप्रमाणानुसारेण प्रागिवाभ्युह्यमिति ॥५११-५१२-५१३॥

उक्तमोघतो जघन्योत्कृष्टपदद्वयसम्बन्धि परस्थानाल्पबहुत्वम्। अथ तदेवादेशत आह—

णिरय-पढमणिरयेसुं सुर-भवण-दुगेसु उरलमीसे य।
असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसुं य ॥५१४॥
आउस्स लहू थोवो तत्तो परमो हवेज्ज संखगुणो।
तो वीसगाण ह्स्सो असंखियगुणो मुणेयव्वो ॥५१५॥
तो तीसगाण अहिओ तत्तो मोहस्स होइ संखगुणो।
तो वीसगाण जेट्ठो संखेज्जगुणो मुणेयव्वो ॥५१६॥
तो तीसगाण अहिओ तत्तो मोहस्स होइ संखगुणो।

(प्रे०) **"णिरयपढमणिरयेसु"** इत्यादि, नरकौघ-प्रथमपृथिवीनरकभेदयोः, **"सुर"** त्ति सुरगत्योघे, भवनपति-व्यन्तरदेवभेदयोः, औदारिकमिश्रकाययोगे च। अन्यमार्गणासङ्ग्रहायाह-**"असमत्ते"** त्यादि, तत्र **"असमत्त"** शब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणास्वित्यर्थः। चकार उक्तसमुच्चये। तत एतासु समुच्चितासु दशमार्गणासु प्रत्येकम् **"आउस्स लहु थोवो"** त्ति आयुषः 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोकः। **"तत्तो परमु"** त्ति ततस्तस्यैवाऽऽयुषः 'परमः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः **"हवेज्ज संखगुणो"** त्ति संख्येयगुणो भवेत्। **"तो वीसगाणे"**त्यादि, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ह्रस्वः'-जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्यातगुणो ज्ञातव्यः। **"तो तीसगाण"** त्ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकम् **"अहिओ"** त्ति विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते। **"तत्तो मोहस्स"** त्ति ततो मोहनीयकर्मणः **"होइ संखगुणो"** त्ति संख्येयगुणो भवति, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यावर्तते। **"तो वीसगाणे"**त्यादि, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रयो'र्ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः। **"तो तीसगाण अहिओ"** त्ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं विशेषाधिकः, ज्येष्ठस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते। **"तत्तो मोहस्स"** त्ति ततो मोहनीयकर्मणः **"होइ संखगुणो"** त्ति प्राग्वत् **"जेट्ठो"** इत्यस्याऽत्राप्यनुवर्तनादुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवतीति ॥५१४-५१५-५१६॥

भणितार्थेन सादृश्यबाहुल्याल्लाघवार्थी कतिपयमार्गणासु सापवादमतिदिशति—

एमेव जाणियव्वं सेसणिरयदेव-विउवेसुं ॥५१७॥
णवरं मोहस्स लहू विसेसअहिओ हवेज्ज एएसुं ।
पणऽणुत्तरेसु णेयो मोहस्स गुरू वि अब्भहियो ॥५१८॥

(प्रे०) "**एमेवे**" त्यादि, प्राकृतत्वेन वकारस्य लुप्तत्वाद् "एमेव" त्ति एवमेव, तत्रैवंशब्दस्य सादृश्यार्थित्वेन यथाऽव्यवधानेन मार्गणादशकेऽल्पबहुत्वमभिहितं तथैव "**जाणियव्वं**" ति वक्ष्यमाणमार्गणास्वल्पबहुत्वं ज्ञातव्यमित्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**सेसणिरयदेवविउवेसु**" ति अनन्तरोक्ता निरयगत्योघ-प्रथमनरक-देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरभेदरूपा याः पञ्च निरयगति-देवगतिसत्का मार्गणास्तास्त्यक्त्वा शेषासु षट्सु निरयगतिमार्गणासु, शेषासु सप्तविंशतिदेवगति-मार्गणासु तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायां चेत्यर्थः । किमेतासु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु सर्वथैव नरकौघ-प्रथमनरकमार्गणादिवदुतास्ति कश्चिद्विशेषोऽपीत्याह–"**णवरमि**" ति नवरं-परमयमत्र विशेषः । कोऽसावित्याह–"**मोहस्स**" इत्यादि "**पणणुत्तरेसु**" इत्यादि च । **तस्यायमर्थः**–चतुस्त्रिंशन्मार्गणाभ्योऽनुत्तरविमानवर्जास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमतिदेशानुसारेण पूर्वोक्तक्रमतोऽल्पबहुत्वेऽभिधीयमाने ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धो यथोक्तस्थानं पूर्वपदापेक्षया विशेषाधिक इत्युक्त्वा तदनन्तरं मोहनीयकर्मणो 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः प्राग्वत् संख्येयगुणो न वक्तव्यः, किन्तु विशेषाधिको वक्तव्यः, एतासु जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां मिथ्यात्वस्याबन्धात् । ततस्तु पूर्ववद् यथाक्रमं तथैव । पञ्चानुत्तरविमानसत्कमार्गणाभेदेषु त्वित्थमेव मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति वक्तव्यम्, अन्यच्च चरमपदे मोहनीयस्य गुरुः स्थितिबन्धः पूर्ववर्तिपदापेक्षया विशेषाधिक इत्यपि वक्तव्यम् । कुतः ? तत्र सर्वेषां सम्यग्दृष्टितयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामपि मिथ्यात्वस्याबन्धेन "**वि अब्भहियो**" इत्यत्रापिशब्दस्यानन्तरापोदितार्थसमुच्चायकतयोपादानादिति । इत्थं हि द्वितीयपृथिवीनिरयभेदाद्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितिबन्धः सर्वस्तोकः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो नाम-गोत्रयोर्जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्य विशेषाधिकः, ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टो विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्योत्कृष्टः संख्येयगुण इत्येवमल्पबहुत्वं भवति । पञ्चानुत्तरविमानेषु तु चरमपदेऽपि मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इत्यभिधातव्यमिति ॥५१७-५१८॥

तिरिय-अणाणदुगा-ऽयत-तिअसुहलेसा-अभविय-मिच्छेसुं ।
आउस्स लहू थोवो तत्तो दोण्हं असंखगुणो ॥५१९॥

तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स होइ संखगुणो ।
तत्तो आउस्स गुरू संखेज्जगुणो मुणेयव्वो ॥५२०॥
तो वीसगाण णेयो संखेज्जगुणो तओ विसेसहिओ ।
होएज्ज तीसगाणं तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५२१॥

(प्रे०) "**तिरियअणाणे**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघ-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादित्र्य-शुभलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणासु प्रत्येकमायुषो 'लघुः'-जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः, ततो द्वयोर्नामगोत्रकर्मणोरसंख्येयगुणः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्राप्यनुवृत्तिबलान्नामगोत्रयोरेकैकस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः "**अहिओ**" त्ति विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवति, तत आयुषो 'गुरुः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः । इत उत्तरत्रापि 'गुरू' इति शब्दस्यानुवृत्तेस्ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेयः, ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां "**विसेसहिओ होज्ज**" त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिको भवेत् , ततो मोहनीयकर्मणः उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति ॥५१९-५२०-५२१॥

पंचिंदियतिरियतिगे विभंग-तेउ-पउमासु णायव्वो ।
आउस्स लहू अप्पो तत्तो परमो असंखगुणो ॥५२२॥
तो वीसगाण हस्सो संखगुणो ताउ तीसगाणऽहियो ।
तो य कमा संखगुणो मोहस्स तओऽत्थि वीसगाण गुरू ॥५२३॥
तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स होइ संखगुणो ।
णवरं मोहस्स लहू अब्भहिओ तेउ-पउमासु ॥५२४॥

(प्रे०) "**पंचिंदिय**" इत्यादि, 'असमत्तपणिंदितिरिये'त्यादिना प्रागपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेऽल्पबहुत्वस्याभिहितत्वात् तेन विना ये पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-योनिमत्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदास्तेषां त्रिकं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिकं तस्मिन् , तथा विभङ्गज्ञान-तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणासु च ज्ञातव्यः । कः कियानित्याह-"**आउस्स लहू**" इत्यादि, आयुःकर्मणो 'लघुः'-जघन्यस्थितिबन्धः 'अल्पः'-सर्वस्तोकः, ततः "**परमो**" त्ति 'परमः'-तस्यैवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः "**असंखगुणो**" त्ति सुगमम् । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ह्रस्वः'-जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, । तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां "**हिओ**"

त्ति अकारस्य दर्शनादनन्तरोक्तस्य **"हस्सो"** इत्यस्याऽनुवर्तनाच्च जघन्यस्थितिबन्धः 'अधिकः'-विशेषाधिकः, ततः क्रमात्संख्येयगुणः, केषामित्याह—**"मोहस्स तओऽत्थि"** त्ति मोहनीयकर्मणः, अस्यापि जघन्यस्थितिबन्धो बोद्धव्यः। कुतः ? पूर्ववद् **"हस्सो"** इतिपदस्यानुवृत्तेः, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः। अनयोः को जघन्य उत्कृष्टो वेत्याह—**"गुरू"** त्ति उत्कृष्टः स्थितिबन्धः। **अयम्भावः**—ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धान्मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः,ततश्च नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः,ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामधिकः-विशेषाधिकः, स च गुरुशब्दानुवृत्तेरुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽवसातव्यः। एवमग्रेऽपि; ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवतीति। तदेवं सामान्यतोऽभिहिते याऽतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुराह—**"णवरं"** इत्यादि, परमयमत्र विशेषः, कोऽसावित्याह—**"मोहस्से"**त्यादि। **अयम्भावः**—तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां च प्रत्येकमनन्तरोक्ताल्पबहुत्वं न सर्वथाऽनन्तरोक्तं तथैव, किन्तु ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धादूर्ध्वं मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको द्रष्टव्यः, अन्यपदेषु तु यथोक्त एव; तदन्यमार्गणासु तु निरपवादं यथोक्त एवेति ॥५२२-५२३-५२४॥ अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां प्रागभिहितत्वेन क्रमप्राप्तासु शेषमनुष्यमार्गणास्वतिदिदिक्षुः प्रसंगादन्यमार्गणास्वपि सममेवातिदिशन्नाह—

णरतिग-दुपणिंदिय-तस-पणमणवयणेसु कायुरालेसुं।
वेअतिग-कसायचउग-चक्खु-अचक्खु-भवियेसुं च ॥५२५॥
सण्णिम्मि तहा-ऽऽहारे ओघव्व हवइ परं णपुम-थीसुं।
णेयो असंखियगुणो जहण्णगो णामगोआणं ॥५२६॥

(प्रे०) **"णरतिगदुपणिंदिये"** त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यभेदवर्जेषु त्रिषु नरगतिभेदेषु तथैवाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोस्तथैव द्वयोस्त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदयोः, पञ्चमनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगमार्गणयोः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेदरूपे वेदत्रिके, क्रोधादिकषायचतुष्के, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणासु, चः समुच्चये, व्युत्क्रमेण योज्यः, ततश्चसंज्ञिमार्गणायां तथाऽऽहारिमार्गणायां चेत्येतास्वेकत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् **"ओघव्व हवइ"** त्ति प्रकृताल्पबहुत्वमोघवद्भवति। अतिदिष्टार्थेऽघटमानार्थमपवदन्नाह—**"पर"**मित्यादि, परमयमत्र विशेषः, स च **"णपुमथीसुं णेयो"** त्ति नपुंसकवेदमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च ज्ञातव्यः। कोऽसावित्याह-**"असंखियगुणो"** इत्यादि। **अयम्भावः**—त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धं मोहनीयजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणमुक्त्वाऽनन्तरं नामगोत्रकर्मणो जघन्यस्थितिबन्ध औघिकाल्पबहुत्वे यः संख्येयगुण उक्तः सोऽत्राऽसंख्येयगुणो ज्ञेयः। **तद्यथा**—नपुंसकवेद-स्त्रीवेदमार्गणयोरायुषो जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोकः, ततो मोहनी-

यस्य जघन्यः संख्येयगुणः, ततः शेषत्रिघातिनां प्रत्येकं जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोर्जघन्योऽसंख्यगुणः, ततो वेदनीयस्य जघन्यो विशेषाधिकः, तत आयुष उत्कृष्टः स्थितिबन्धोऽसंख्यगुणः, ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टः संख्येयगुणः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टो विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति ॥५२५-५२६॥

ठिइबंधो सव्वेसुं एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।
आउस्सऽप्पो हस्सो तत्तो परमो उ संखगुणो ॥५२७॥
तो वीसगाण हस्सो असंखियगुणो तओ भवे तेसिं ।
जेट्ठोऽब्भहियो तत्तो अब्भहियो तीसगाण लहू ॥५२८॥
तेसिं चिअ उक्कोसो विसेसअहिओ तओ य संखगुणो ।
मोहस्स लहू तत्तो तस्सुक्कोसो विसेसहियो ॥५२९॥

(प्रे०) "**ठिइबंधो सव्वेसुं**" इत्यादि, "**ठिइबंधो**" इत्यस्य "**आउस्सप्पो हस्सो**" इत्यादिना परेणान्वयस्तत आयुषो ह्रस्वः स्थितिबन्धः स्तोको भवति । कासुमार्गणास्वित्याह– "**सव्वेसुं**" इत्यादि. सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कभेदेषु, इत्येवमेतासु पञ्चपञ्चाशन्मार्गणास्वित्यर्थः । ततः पुनः किमित्याह-"**तत्तो परमो**" इत्यादि, "**तत्तो**" त्ति तस्मादायुषो जघन्यस्थितिबन्धात् "**परमो**" त्ति "**आउस्स**" इत्यस्यानुवृत्तेरायुष एव 'परमः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः "**उ संखगुणो**" त्ति संख्येयगुणः । तुः पादपूर्त्यै । ततो विंशतिकयोर्नाम-गोत्रयोः 'ह्रस्वः' जघन्यः स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः, ततः "**तेसिं**" ति "**दुवयणे बहुवयणं**" इति प्राकृतलक्षणात् 'तयोः'-अनन्तरोक्तयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽभ्यधिकः-विशेषाधिक इत्यर्थः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयाऽन्तरायकर्मणां "**लहू**" त्ति जघन्यः स्थितिबन्धोऽभ्यधिक इति पूर्वेणान्वयः । "**तेसिं चिअ**" त्ति तेषामनन्तरोक्तानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामेवोत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः, ततश्च संख्येयगुणः । क इत्याह-"**मोहस्स लहू**" त्ति मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः । ततः "**तस्सुक्कोसो**" त्ति तस्यैव मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषतोऽभ्यधिकः, विशेषाधिक इत्यर्थ इति ॥५२७-५२८-५२९॥

विकियमीसे मीसे जहण्णगो वीसगाण सव्वऽप्पो ।
तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स अब्भहियो ॥५३०॥
तो वीसगाण जेट्ठो संखगुणो ताउ तीसगाणऽहियो ।
मोहस्स उ संखगुणो णवरं मीसे विसेसहियो ॥५३१॥

(प्रे०) **"विउव्वियमीसे मीसे"** इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणायां च प्रत्येकं **"वीसगाण"** त्ति विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्य एव जघन्यकः स्थितिबन्धः सर्वाल्पः, ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणाम् **"अहियो"** त्ति विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते। ततो मोहनीयस्य स्थितिबन्धोऽभ्यधिकः, स च प्रागुक्तस्य **"जहण्णगो"** इत्यस्याऽत्राप्यनुवर्तनाज्जघन्य इति गम्यते। ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः। तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकम् 'अधिकः'-विशेषाधिकः**"जेट्ठो"** इत्यस्यानुवृत्तेरुत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यवमीयते। एवमुत्तरत्राऽपि तदनुवृत्तेः **"मोहस्स उ संखगुणो"** त्ति मोहनीयस्य 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः। इदमेव चरमपदमाश्रित्य मिश्रदृष्टिमार्गणायां याऽतिप्रसक्तिस्तामपसिपारयिषुराह- **"णवरं मीसे विसेसहियो"** त्ति 'नवरं'-परमयं चरमपदोक्तो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो मिश्रदृष्टिमार्गणायां तु विशेषाधिक एव मन्तव्यः, न पुनः संख्येयगुणः,वैक्रियमिश्रमार्गणायां मिथ्यात्वस्य बन्धेऽपि मिश्रदृष्टिमार्गणायां तद्बन्धाऽभावादिति भाव इति ॥५३०-५३१॥

आहारदुगे देसे तह परिहारम्मि आउगस्स लहू।
सव्वत्थोवो तत्तो उक्कोसो होइ संखगुणो ॥५३२॥
तो वीसगाण हस्सो संखगुणो ताउ तीसगाण भवे।
अब्भहियो ताहिन्तो मोहस्स भवे विसेसहियो ॥५३३॥
तो वीसगाण जेट्ठो संखगुणो ताउ तीसगाण भवे।
अब्भहियो तो णेयो मोहस्स विसेसओ अहियो ॥५३४॥

(प्रे०) **"आहारदुगे देसे"** इत्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्द्विके, देशसंयमे, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां चायुष्कस्य 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वस्तोकः। ततः **"उक्कोसो"** त्ति **"आउगस्स"** इत्यस्यानुवर्तनादायुष उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवति। ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ह्रस्वः'-जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः। तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं **"हस्सो"** इत्यस्यानुवृत्तेः 'ह्रस्वः'-जघन्यस्थितिबन्धः 'अभ्यधिकः'-विशेषाधिको भवेदित्यर्थः। **"ताहिन्तो"** त्ति तस्मात् **"मोहस्स भवे विसेसहियो"** त्ति 'ह्रस्व'इतिपदस्यात्रापि योजनान्मोहनीयस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिको भवेदित्यर्थः। ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः। तस्मात् त्रिंशत्कानामभ्यधिको भवेत्, ततो मोहनीयस्य विशेषतोऽभ्यधिको ज्ञातव्यः। अत्रापि द्विचरमपदे चरमपदे च ज्येष्ठशब्दानुवृत्त्या ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धो बोद्धव्य इति ॥५३२-५३४॥

कम्मा-ऽणाहारेसुं जहण्णगो वीसगाण सव्वप्पो ।
तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५३५॥
तो वीसगाण जेट्ठो संखेज्जगुणो तओ विसेसहियो ।
हवइ खलु तीसगाणं तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५३६॥

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**" इत्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च विंशतिकयोर्नामगोत्रयोर्जघन्यकः स्थितिबन्धः सर्वाल्पः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमधिकः-विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यावर्तते । ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणः, जघन्यस्थितिबन्ध इति प्राग्वदत्रापि युज्यते । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । कुतः ? इति चेद् , ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकतया पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणत्वाद् , तेषामेवोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकतयाऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वाच्च भवति संख्येयगुणत्वम् । ततो विशेषाधिको भवति, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । कस्येत्याह- "**खलु तीसगाणं**" ति त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां प्रत्येकम् । खलुशब्दः पादपूरणे । ततो मोहनीयकर्मणः संख्येयगुणः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इति पूर्ववदनुवृत्त्या बोद्धव्यमिति ॥५३५-५३६॥

गयवेए सव्वऽप्पो मोहस्स लहू तओ तिघाईणं ।
तो वीसगाण कमसो संखेज्जगुणो मुणेयव्वो ॥५३७॥
तो तइयस्सऽब्भहियो तो जेट्ठो तेण चिअ कमेण कमा ।
संखगुणो संखगुणो असंखियगुणो विसेसहियो ॥५३८॥

(प्रे०) "**गयवेए सव्वऽप्पो**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सर्वाल्पः । कः ? इत्याह- "**मोहस्स लहू**" त्ति मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः । "**तओ तिघाईणं**" ति 'लहू' इति पदानुवृत्त्या ततस्त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्यस्थितिबन्धः क्रमशः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणोऽभ्यधिकः; जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । "**तो जेट्ठो**" त्ति तत एतेषामेव ज्ञानावरणादिकर्मणां 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिबन्धः । केन क्रमेण कियाँश्चेत्याह- "**तेण चिअ कमेणे**" त्यादि, तेनानन्तरोक्तेन क्रमेणादौ मोहनीयकर्मणस्ततस्त्रिघातिनां ततो विंशतिकयोस्ततस्तृतीयस्य वेदनीयस्य क्रमात्संख्येयगुणः संख्येयगुणोऽसंख्येयगुणो विशेषाधिकश्च । **अयम्भावः**- वेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक उक्तस्ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततः शेषाणां त्रयाणां घातिनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोः प्रत्येक-

मसंख्येयगुणः, ततो वेदनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति ॥ ५३७-५३८ ॥

चउणाण-संयमेसुं स.मइअ-छे-ओहि-सम्म-खइएसुं ।
मोहस्स लहू थोवो तओ तिघाईण संखगुणो ॥५३९॥
तो वीसगाण णेयो संखगुणो तो विसेसओऽब्भहियो ।
तइअस्स हवइ तत्तो आउस्स हवेज्ज संखगुणो ॥५४०॥
आउस्स असंखगुणो उक्कोसो ताउ वीसगाण भवे ।
संखगुणो तो कमसो चउण्ह मोहस्स चब्भहियो ॥५४१॥
णवरं आउस्स लहू असंखियगुणो तओ भवे जेट्ठो ।
संखगुणो मणपज्जव-संयम-सामइअ-छेएसुं ॥५४२॥

(प्रे०) "चउणाण संयमेसु" इत्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञानमार्गणासु, संयमौघमार्गणायां, तथा सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमा-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु प्रत्येकं मोहनीयस्य 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोकः । इतः प्रभृति जघन्यस्थितिबन्धाभिधायकस्य "लहू" इत्यस्योत्तरत्राप्यनुवृत्तेः "तत्तो तिघाईणं" ति ततस्त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रयोर्जघन्यः स्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः । ततो विशेषाधिकस्तृतीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो भवति । तत आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवेत् । "आउस्स असंखगुणो उक्कोसो" त्ति तस्मादायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणः । इतस्तूत्कृष्टस्थितिबन्धाभिधायकस्य "उक्कोसो" इति शब्दस्यानुवृत्तेः "वीसगाण भवे संखगुणो" त्ति विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, "तो कमसो चउण्ह मोहस्स चब्भहियो" त्ति ततः क्रमशश्चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां मोहनीयस्य च प्रत्येकमभ्यधिक उत्कृष्टस्थितिबन्धः।

अयम्भावः—नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः। ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिबन्धः परस्परं तु तुल्यः । ज्ञानावरणादीनामेकैकस्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति । अनन्तरोक्तैकदेशमपवदन्नाह—"णवरं" इत्यादि नवरं परमयमत्र विशेषः, कोऽसावित्याह—"आउस्स लहू" इत्यादि, यत्र स्थाने आयुषोजघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुण इत्युक्तस्तत्रैवाऽसौ तथाऽनुक्त्वाऽसंख्यगुण इति वक्तव्यः, तदपेक्षया च "जेट्ठो" त्ति आयुषो 'ज्येष्ठ':-उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति द्रष्टव्यम् , न पुनः शेषस्थानेषु, अर्थाच्छेषेषु मोहनीयादीनां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धरूपेषु स्थानेषु तत्तज्जघन्यादिस्थितिबन्धो यथोक्तः स्तोकादिक एव द्रष्टव्य इति ।

किमेतदपवादपदमुक्तमतिज्ञानादिसर्वमार्गणासु बोद्धव्यमुत कासुचिदेवेत्याह–"**मणपज्जवे**" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणासु न पुनस्तदन्यमार्गणासु, अन्यमार्गणासु देवानामायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वेन वर्षपृथक्त्वस्थितिकस्य मनुष्यायुषो बन्धसम्भवात्, तदपेक्षया साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्यासंख्येयगुणत्वाच्च । मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु त्वायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनामिव जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनां मनुष्याणां जघन्यतोऽपि पल्योपमपृथक्त्वस्थितिकदेवायुष एव बन्धभावात्, तदपेक्षया साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकस्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणत्वाच्च विशेषतो वक्तव्यम् । तद्यथा–मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः सर्वस्तोकः । ततः शेषत्रिघातिनामसौ संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोर्जघन्यः संख्येयगुणः । ततो वेदनीयस्य जघन्यो विशेषाधिकः । तत आयुषो जघन्योऽसंख्येयगुणः । ततस्तस्यैवायुष उत्कृष्टः संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टः संख्येयगुणः । ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां चतुर्णां विशेषाधिकः । ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिक इति ॥५३९-५४०-५४१-५४२॥

सुहमम्मि तिघाईणं हस्सोऽप्पो ताउ णामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओ अहियो ॥५४३॥
तो तीसगाण जेट्ठो संखगुणो ताउ णामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स भवे विसेसहिओ ॥५४४॥

(प्रे०) "**सुहमम्मि**" इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयस्याबन्धात् तच्छेषाणां ज्ञानावरणादीनां त्रयाणां घातिकर्मणां "**हस्सोप्पो**" त्ति 'ह्रस्वः'-जघन्यः स्थितिबन्धः 'अल्पः'-स्तोकः । तस्मान्नामगोत्रयोः संख्येयगुणः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो विशेषतोऽधिकः । उभयत्राऽपि "**हस्सो**" इत्यस्यानुवृत्तेर्जघन्यस्थितिबन्ध इति ज्ञातव्यम् । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिको भवेदित्यर्थः ।अत्रापि पदद्वये पूर्ववद् "**जेट्ठो**" इतिपदानुवृत्त्योत्कृष्टस्थितिबन्ध इति बोद्धव्यमिति ।

ओहिव्व उ सुइलाए णवरं मोहस्स होइ उक्कोसो ।
संखगुणो अहुवसमे मोहस्स लहू भवे थोवो ॥ ५४५ ॥
तो तीसगाण णेयो संखगुणो ताउ णामगोआणं ।
संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओऽब्भहिओ ॥५४६॥

ताउ असंखेज्जगुणो उक्कोसो होइ णामगोआणं ।
तो तीसगाण तत्तो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥५४७॥

(प्रे०) "ओहिव्व" इत्यादि, अवधिज्ञानमार्गणावदवधिदर्शनमार्गणावद्वा, अल्पबहुत्वमिति-शेषः । तुः पादपूरणे । तद्वत्कस्यामित्याह-"सुइलाए" त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायाम् । किं सर्वथा तद्वदुत किञ्चिदन्यथाऽप्यस्तीत्याह-"णवरं मोहस्स" इत्यादि । अयम्भावः-सामान्यतः सर्वथा तथैव, परं मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धोऽवधिज्ञानमार्गणायां विशेषाधिक उक्तः, सोऽत्र शुक्ललेश्या-मार्गणायां संख्येयगुणो भवति । कुतः ? सप्तप्रकृतिमत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धकशुक्ललेश्याकजीवानां मिथ्यात्वस्य बन्धसद्भावात् । अतस्तथैव द्रष्टव्यः । तद्यथा-मोहनीयस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सर्वस्तोकः । ततः शेषत्रिघातिनामसौ संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोरसौ जघन्यः संख्येयगुणः । ततो वेदनीयस्य तु स विशेषाधिकः । तत आयुषो जघन्यः संख्येयगुणः । ततस्तु तस्यैवोत्कृष्टोऽसं-ख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टः संख्येयगुणः । ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरा-याणां चतुर्णां विशेषाधिकः । ततस्तु मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति ।

"अहुवसमे" त्ति अथशब्दस्यानन्तयर्थिकत्वेन शुक्ललेश्यामार्गणाऽनन्तरमौपशमिकसम्य-क्त्वमार्गणायाम् । तत्र किमित्याह-"मोहस्स लहू" इत्यादि, मोहनीयकर्मणो 'लघुः'-जघन्यः स्थितिबन्धः "भवे थोवो" त्ति स्तोको भवेत्, वक्ष्यमाणस्थानापेक्षयेति गम्यत एव । ततः "तीस-गाण" त्ति वेदनीयस्योत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वाद्वेदनीयवर्जानां 'त्रिंशत्कानां'-ज्ञानावरणादीनां त्रयाणाम् "णेयो संखगुणो" त्ति संख्येयगुणो ज्ञातव्यः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम् । तस्मात् नामगोत्रयोः संख्येयगुणो जघन्यस्थितिबन्ध इति पूर्ववत् । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो विशेष-तोऽभ्यधिकः । अत्रापि जघन्यस्थितिबन्ध इति पूर्ववदनुवृत्तेर्द्रष्टव्यम् । ततोऽसंख्येयगुण उत्कृष्ट-स्थितिबन्धो भवति । कस्येत्याह-"णामगोआणं" ति नामगोत्रकर्मणोः "तो तीसगाण" त्ति ततस्त्रिंशत्कानां चतुर्णां ज्ञानावरणादीनाम्, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इति प्राग्वत् । "तत्तो मोहस्स" त्ति ततो मोहनीयकर्मणः, उत्कृष्टस्थितिबन्ध इति पूर्ववत् । कियानित्याह-"कमा विसेसहियो" त्ति उक्तक्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिक इत्यर्थ इति ॥५४५-५४६-५४७॥

वेअग-सासाणेसुं आउस्स भवे जहण्णगो थोवो ।
ताहिन्तो उक्कोसो असंखियगुणो मुणेयव्वो ॥५४८॥
तत्तो संखेज्जगुणो जहण्णगो होइ णामगोआणं ।
तो तीसगाण तत्तो मोहस्स कमा विसेसऽहियो ॥५४९॥
तत्तो संखेज्जगुणो उक्कोसो होइ णामगोआणं ।
तो तीसगाण तत्तो मोहस्स कमा विसेसऽहियो ॥५५०॥

(प्रे०) "वेअगसासाणेसु" इत्यादि, वेदकसम्यक्त्व-सासादनसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकमायुषो जघन्य एव जघन्यकः स्थितिबन्धः स्तोकः। तस्माद् "उक्कोसो" त्ति 'आउस्से'त्यस्यानुवृत्तेरायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणो ज्ञातव्यः। ततः संख्येयगुणो जघन्य एव जघन्यकः स च स्थितिबन्ध इति गम्यते। कस्य कस्येत्याह-"णामगोआणं" ति नामगोत्रकर्मणोः। ततस्त्रिशत्कानां चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां ततो मोहनीयकर्मणः क्रमाद् विशेषाधिकः; जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते। ततः संख्येयगुण उत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति नामगोत्रकर्मणोः। ततस्त्रिशत्कानां चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां ततो मोहनीयकर्मणः क्रमाद् विशेषाधिकः; उत्कृष्टस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तत इति ॥५४८-५४९-५५०॥

पंचिंदियतिरियव्व उ होइ असण्णिम्मि णवरि ठिइबंधो।
हवइ असंखेज्जगुणो जहण्णगो णामगोआणं ॥५५१॥

(प्रे०) "पंचिंदियतिरियव्वे" त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरमसंज्ञिमार्गणायामित्थमल्पबहुत्वम्—आयुषो जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः। तत आयुष उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽसंख्यगुणः। ततो नामगोत्रयोर्जघन्योऽसंख्येयगुणः। ततश्चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां जघन्यो विशेषाधिकः। ततो मोहनीयस्य जघन्यः संख्येयगुणः। ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टः संख्येयगुणः। ततश्चतुर्णां ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टो विशेषाधिकः। ततो मोहनीयस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः संख्येयगुण इति ॥५५१॥

तदेवं प्ररूपितं पदद्वयसम्बन्धि तृतीयं परस्थानस्थितिबन्धाल्पबहुत्वमपि। साम्प्रतं मन्दमेधसां लघ्ववधारणकृते प्राग्वदत्रापि प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराण्यल्पबहुत्वयन्त्रकाण्यालिखनीयानि। तानि त्वेवम्—* ।

तदेवमालिखितान्यल्पबहुत्वप्रदर्शकयन्त्रकाण्यपि, तेषु चाऽऽलिखितेषु गतं पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम्। तस्मिँश्च गते निष्ठतः पञ्चदशद्वारात्मको द्वितीयाधिकारः ॥

एनमपराधिकारं विवृण्वता यन्मया सुकृतमाप्तम्।
तेन हि विश्वं विश्वं विश्वग्विश्वसतु जिनवचने ॥ (पथ्यार्या)

॥ इति श्री बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीया धिकार ॥

* अल्पबहुत्वयन्त्राणि दिदृक्षवः पाठकाः पश्यन्तु ४२४ तमादीनि पृष्ठानि ।

उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकापेक्षयाऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका						
	आयुर्वर्जसप्तान्यतमकर्मण			आयुःकर्मण		
	अनन्तगुणाः	संख्येयगुणा	असंख्यगुणा.	अनन्तगुणा	संख्येयगुणा	असंख्यगुणा.
गति०	तिर्यग्गत्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य-मानुषी० सर्वार्थसिद्धदेवाः, ३	शेष० ४३	तिर्यग्गत्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य-मानुषी०आनता-दिसर्वार्थसिद्धान्त-देवाश्च० २०	शेष० २६
इन्द्रिय०			शेष० १६	सर्वैकेन्द्रियभेदाः ७		शेष० १२
काय०			सर्व० ४२	वनौघ० सर्वसाधा-रणवनभेदाः ८		शेष० ३४
योग०	काययोगौघ० औदा-रिकद्विक० कार्मण० ४	आहारक-तन्मिश्रौ, २	शेष० १२	काययोगौघ० औदारिकद्विक० ३	आहारकद्विक० २	शेष० ११
वेद०	नपुंसक० १	अपगतवेद० १	शेष० [illegible]	नपुंसक० १		स्त्री-पुरुष० २
कषाय०	सर्व० ४			सर्व० ४		
ज्ञान०	मतिश्रुताऽज्ञाने, २	मनःपर्यव० १	शेष० ४	मतिश्रुताऽज्ञाने, २	मनःपर्यव० १	शेष० ४
संयम०	असंयम० १	संयमौघ० सामायिक० छेद० परिहार० सूक्ष्म० ५	देशसंयम० १	असंयम० १	संयमौघ० सामा-यिक०छेद०परि हार० ४	शेष० १
दर्शन०	अचक्षु० १		शेष० २	अचक्षु० १		शेष० २
लेश्या०	अशुभ० ३		शुभ० ३	अशुभ० ३	शुक्ला० १	शेष० २
भव्य०	सर्व० २			भव्याभव्यौ० २		
सम्यक्त्व	मिथ्यात्व० १		शेष० ६	मिथ्यात्व० १	क्षायिक० १	शेष० ३
संज्ञी०	असंज्ञी० १		संज्ञी० १	असंज्ञी० १		संज्ञी० १
आहारी०	सर्व० २			आहारी० १		
सर्वमार्गणा —	२३	१२	१३५	३६	२९	९८
गाथाङ्का —	४३७-४३८-४३९	४४०-४४१	४४१	३३७-३४२ ३४३-३४४	४४५-४४६	४४६

※ अष्टमूलप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योर्बन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम् ※

— जघन्यस्थितेर्बन्धकापेक्षयाऽजघन्यस्थितेर्बन्धका —

	आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्			आयुःकर्मणः	
कियद्-गुणा —	संख्येयगुणा	ओघवद् अनन्तगुणा	असंख्येयगुणा	संख्येयगुणा	ओघवद् असंख्येयगुणा.
गति०	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वार्थसिद्धदेवभेदश्च. ३		शेषमार्गणा ४४	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी०आनतादि-सर्वार्थसिद्धान्त-देवभेदाश्च २०	शेषमार्गणा० २७
इन्द्रिय०			सर्व० १९		सर्व० १९
काय०			सर्व० ४२		सर्व० ४२
योग०	आहारक-तन्मिश्रयोगौ, २	काययोगौघ० औदारिकश्च २	शेष० १४	आहारक तन्मिश्रयोगौ, २	शेष० १४
वेद०	गतवेद० १	नपुंसक० १	स्त्री-पुरुष० २		वेदत्रिक० ३
कषाय०		क्रोधादि० ४			सर्व० ४
ज्ञान०	मनःपर्यव० १		मत्यादिज्ञान० ३ अज्ञानत्रिक० ३	मनःपर्यव० १	मत्यादिज्ञान० ३ अज्ञान० ३
संयम०	संयमौघ०सामायिक० छेद० परिहार० सूक्ष्मसम्पराय० ५		देशसयमा-ऽसंयमौ, २	संयमौघ० सामायिक० छेद०परिहार.४	देशसयम० असंयम० २
दर्शन०		अचक्षु० १	चक्षु० अवधि० २		सर्व० ३
लेश्या०			सर्व० ६	शुक्ल० १	शेष० ५
भव्य०		भव्य० १	अभव्य० १		सर्व० २
सम्य०			सर्वभेद० ७	क्षायिक० १	शेष० ४
संज्ञि०			संज्ञि० असंज्ञि० २		सर्व० २
आहारि०		आहारक० १	अनाहारक० १		आहारक० १
सर्वमार्गणा —	१२	१०	१४८	२९	१३४
गाथाङ्काः-	४४८-४४९	४४७-४५०	४५०	४५१-४५२	४४७-४५२

आयुर्वर्जज्ञानावरणादिसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम् →

स्थिति० बन्धका. जघन्याया.- स्तोका. उत्कृष्टाया:-असंख्यगुणाः अजघन्यानुत्कृ०– ,,		–सर्वस्तोकाः –संख्येयगुणा. –असख्य ,,	–सर्वस्तोका –संख्येयगुणा –,, ,, ,,	ओघवत् सर्वस्तोकाः असंख्यगुणाः अनन्तगुणाः	उत्कृष्टस्थिते·- स्तोक.जघन्यायाः अनंतगु० अजघ-न्यानु.असं.गुण	स्थिते·- उत्कृ० स्तोकाः जघ० असंख्यगु अज० ,,
गति०	सर्वनरक० देवौघ० भवनपत्यादिसहस्रा-रान्तदेवभेद.अपर्याप्त-मनुष्य० २१	मनुष्यौघ० सर्वार्थ-सिद्धवर्जानुत्तर-भेदचतुष्क० ५	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वार्थ-सिद्धदेवभेदश्च. ३		तिर्यग्गत्योघ० १	सर्वे पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेदा , ४
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ०तत्प-र्याप्तभेदौ, ७	सर्वैकेन्द्रियभेदा सर्व विकले ,, १६				अपर्याप्तपञ्चेन्द्रि० १
काय०	त्रसौघ-तत्पर्याप्त-भेदौ० २	पृथिव्यादिवनस्पति-कायान्तसर्वभेद० ३९				अपर्याप्तत्रस० १
योग०	सर्वमनोवचो०वैक्रिय-तन्मिश्रौ, १२		आहारक-तन्मि-श्रयोगौ, २	काययोगौघ० औदारिक० २	औदारिकमिश्र० कार्मण० २	
वेद०	स्त्री-पुरुषवेदौ २			नपुंसक० १		
कषाय०				सर्व० ४		
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽवधि० विभङ्ग० ४		मन.पर्यवज्ञान० १		मत्यज्ञान-श्रुता-ऽज्ञाने, २	
संयम०	देशसयम० १		संयमौघ० सामा० छेद०परिहार ४		असयम० १	
दर्शन०	चक्षु० अवधि० २			अचक्षु० १		
लेश्या०	शुभ० ३				अशुभ० ३	
भव्य०				भव्य० १	अभव्य० १	
सम्य०	मिथ्यात्ववर्ज० ६				मिथ्यात्व० १	
संज्ञि०	सज्ञी० १				असज्ञी, १	
आहारि०				आहारक० १	अनाहारक० १	
सर्वमार्गणाः—	५६	६०	१०	१०	१३	६
गाथाङ्काः—	४६६	४५८-४५९	४६०-४६१	४५३-४६३-४६४	४५५-४५६	४५७

← आयुर्वर्जानाम्			आयुःकर्मणः			
स्थितेः- उत्कृष्टाया. जघन्याया. अजघन्यानु	स्तोका· संख्येयगुणाः असंख्यगुणा	स्तोका· संख्येयगुणा ,,	स्तोका· असंख्यगुणाः असंख्यगुणाः	ओघवत् स्तोकाः अनन्तगुणाः असंख्यगुणाः	स्तोकाः संख्येयगुणाः ,,	स्तोकाः संख्येयगुणाः असंख्यगुणाः
गति०	आनतादिदेवभेद-चतुष्कनवग्रैवेयक-भेदाश्च०. १३		सर्वे नरक-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघ-तदपर्याप्तौ, देवौघ-भवनपत्यादि सहस्रारान्ताश्च २६	तिर्यग्गत्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य-मानुषी०आनतादिसर्वार्थसिद्धान्त-देवभेदाश्च, २०	
इन्द्रिय०			सर्वे विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदा· १२	सर्वे एकेन्द्रियभेदा·, ७		
काय०			सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायु-प्रत्येकवनस्पति-त्रसकायभेदाः ३४	सर्वे साधारणभेदाः वनौघश्च० ८		
योग०			सर्वमनोवचोभेदा·, वैक्रिययोगश्च, ११	काययोगौघ० औदारिकद्विक० ३	आहारकद्विक० २	
वेद०		गतवेद० १	स्त्री-पुरुषवेदौ, २	नपुंसक० १		
कषाय०				सर्व० ४		
ज्ञान०			विभङ्गज्ञानम्, १	मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञाने, २	मन पर्यव० १	मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान० ३
संयम०		सूक्ष्मसंपराय १	देशसंयम, १	असंयम, १	संयमौघ० सामा० छेद० परिहार० ४	
दर्शन०			चक्षुर्दर्शन० १	अचक्षु० १		अवधि० १
लेश्या०			तेजः-पद्म० २	अशुभ० ३	शुक्ल० १	
भव्य०				भव्याऽभव्यौ, २		
सम्यक्त्व०			सास्वादन० १	मिथ्यात्व० १	क्षायिक० १	सम्यक्त्वौघ० क्षायोपशमिक० २
संज्ञी०			संज्ञी, १	असंज्ञी, १		
आहारी०				आहारक० १		
सर्वमार्गणा.-	१३	२	९२	३६	२९	६
गाथाङ्काः-	४६२	४६५	४७३	४५४-४५९	४७०-४७१	४७२

ओघवद्— जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धा. क्रमेण कियद्गुणा ?	गति०	
आयु० मोह० त्रिघाति० नामगोत्र० वेद० *आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोह० तत ततः तत तत तत तत तत तत. स्तोक० सं०गु० स०गु० सं०गु० विशे० असं०गु० स०गु० विशेषा० स०गुण-	मनुष्योघ० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	1
,, ,, ,, असं०गु० ,, ,, ,, ,, ,,—		2
आयु०* आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोह० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोह० ततः ततः तत तत तत तत तत स्तोक० सं०गु० असंगु० विशेषा० स०गु० स०गुण० विशेषा० स०गुण -	निरयोघ०प्रथमानर०देवोघ० भवनपति०व्यन्तर०अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यौ ७	3
,, ,, ,, , विशेषा० ,, ,, विशेषा —	अनुत्तरदेवभेदा ५	4
,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, स०गुण —	उपर्युक्तशेषनिरयदेव० २८	5
,, असं०गु० स० गु० ,, स०गु० ,, ,, ,, —	पञ्चेन्द्रियतिर्यग० तत्पर्याप्त०तिरश्ची० ३	6
,, ,, ,, ,, विशेषा० ,, ,, ,,		7
० ० स्तोक० ,, ,, ,, ,, , —		8
० ० ,, ,, ,, ,, ,, विशेषा०—		9
स्तोक० स०गु० स०गु० ,, ,, ,, ,, ,, —		10
० ० स्तोक० ,, सं०गुण० ,, , स०गुण —		11
स्तोक० असं०गु० स०गु० ,, विशेषा० ,, ,, विशेषा० -		12
,, ,, असं०गु० ,, स०गुण० ,, ,, स०गुण —		13
मोहनी० त्रिघाति० नामगोत्र० वेदनी० आयु० आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोहनी० स्तोक० स०गु० स०गु० विशेषा०असं०गु० स०गु० स०गु० विशेषा० विशेषा०—		14
,, ,, ,, ,, स०गु० असं०गु० ,, ,, ,,		15
,, ,, ,, ,, अबन्ध अबन्ध असं०गु० ,, ,, —		16
,, ,, ,, ,, स०गु० असं०गु० स०गु० ,, स०गुण —		17
मोहनी० त्रिघाति० नामगोत्र० वेदनी० मोहनी० त्रिघाति० नामगोत्र० वेदनीय० स्तोक० स०गु० स०गु० विशेषा० स०गु० स०गु० असं०गुण० विशेषाधि०		18
० स्तोक० ,, ,, अबन्ध. ,, स०गुण० ,, —		19
आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोहनी० आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोहनी० स्तोक० असं०गु० विशेषा० स०गु० स०गु० स०गु० विशेषा० स०गुण —	नियगत्योघ १	20
आयु० आयु० नामगोत्र० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, ज्ञानादि०४, मोहनी० मोहनी० स्तोक० स०गु० असं०गु० विशेषा० विशेषा० विशेषा० स०गुण० विशेषा०—		21

* पूर्वन्यस्ताऽऽयुरादिपदेन तदीयजघन्यस्थितिबन्ध उत्तरन्यस्तेन तु तेन तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धश्च ज्ञेयः ।

	इन्द्रिय०	काय०	योग०	वेद०	कषाय	ज्ञान०	संयम०	दर्शन	लेश्या	भव्य	सम्यक्त्व०	संज्ञी	आहा	सत्रमार्गणा	गाथा
1	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त० २	त्रसौघ० न पर्याप्त० २	सर्वमनोवचोभेदा कायौघ० औदा० १२	पुरुष० १	सर्व० ४			चक्षु. अच० २		भव्य० १		संज्ञी० १	आहा १	२९	५२५ ५२६
2				स्त्रीनपु										२	,,
3	अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय १	अपर्याप्त-त्रस० १	औदारिक-मिश्र० १											१०	५१४ ५१५ ५१६
4														५	५१८
5			वैक्रिय०											२९	५१८
6						विभङ्ग० १								४	५२२ ५२४
7									तेजपद्म					२	,,
8			वैक्रियमिश्र											१	५३०
9											मिश्र०			१	५३१
10			—२				★ २							४	५३२–
11			कार्मण०										अना०	२	५३५–
12											× २			२	५४८–
13												असं०		१	५५१–
14						मनःपर्यव० १	संयमौघ० सामा० छेद० ३							४	५३९–
15						मति श्रु		अवधि			● २			६	५४२–
16											औप०			१	५४५–
17									शुक्ल०					१	५४५–
18				गतवेद०										१	५३७ ५३८
19							सूक्ष्मसं०							१	५४३–
20						卐 २	असंयम० १		अशुभ ३	अभव्य १	मिथ्यात्व १			६	५१९– ५२१
21	सर्वकेन्द्रिय-सर्वविकलेन्द्रि० १६	शेषसर्वपञ्चकायभेदा ३९												५५	५२७– ५२९

— आहारक-तन्मिश्रयोगौ, ★ परिहारदेश-संयमे, 卐 मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, × वेदक-सास्वादने, ● सम्यक्त्वौघ-क्षायिके ।

	यथोत्तरं कियद्गुण. ?	गति०	इन्द्रिय०	काय०
—उत्कृष्टस्थितेः—	आयु० । नामगोत्र० । ज्ञानादि० ४, । मोहनीय० ततः तत तत स्तोक० । असंख्येयगुण० । विशेषाधिक० । सख्येयगुण०	सर्वनरक०देवौघ०भवन-पत्यादिनवमग्रैवेयकान्तदेव०अपर्याप्तमनुष्य०अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-३५	सर्वकेन्द्रिय० सर्वविकले० अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय० १७	पृथिव्यादिवन-स्पत्यन्तसर्व० अपर्याप्तत्रस० .४०.
	,, ,, ,, विशेषाधिक –	अनुत्तरदेवपञ्चक० ५		
	,, संख्येयगुण० , ,,			
	० स्तोक० ,, सख्येयगुण —			
	० ,, ,, विशेषाधिक —			
	ओघवत्— स्तोक० सख्येयगुण० ,, सख्येयगुण —	अपर्याप्तवर्जतिर्यग्गतिभेद ४। मनुष्यौघ०तत्पर्याप्त० मानुषी०= ७	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २	त्रसौघ०तत्प-र्याप्त० २
	मोहनीय०। ज्ञाना०दर्शना०अन्तरा०। नामगोत्र०। वेदनी० स्तोक०। सख्येयगुण० । असंख्यगु० । विशेषा०			
	० स्तोक० सख्येयगुण० ,,			
—: जघन्यस्थितेः :—	आयु० । नामगोत्र० । ज्ञानादि०४, । मोहनीय० तत तत तत स्तोक० । असंख्येयगु० । विशेषाधिक० । विशेषाधिक०	६ द्वितीयादिनरकभेद० २७ज्योतिष्कादिदेवभेद० ३३		
	० स्तोक० ,, ,,			
	० ,, ,, सख्येयगुण:—			
	स्तोक० संख्येयगुण० ,, विशेषाधिक —			
	,, असंख्येयगुण० ,, सख्येयगुण.—	निरयौघ०प्रथमा च, सर्व तिर्यग्०अपर्याप्तमनुष्य० देवौघ०भवन.व्यन्तर.११	सर्वकेन्द्रिय० सर्व-विकले०अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय० १७	पृथिव्यादिवन स्पत्यन्तसर्व० त्रसापर्या०४०
	मोहनीय० । शेषत्रिघाति०। नामगो० । वेदनी० । आयु० तत तत ततः तत स्तोक० । संख्येयगुण० । संख्येयगु० । विशेषा० । असंगु०			
	,, ,, ,, ,, —			
	,, ,, ,, ,, संख्येयगुण:			
	० स्तोक० ,, ,, :—			
	आयु० मोहनीय० शेषत्रिघाति० नाम० वेदनी० ओघवद् स्तोक० संख्यगुण० संख्यगुण० संख्यगु० विशेषा०	मनुष्यौघ०तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २	त्रसौघ० तत्पर्याप्त०२
	,, ,, ,, असंख्यगुण० ,, :—			

योग०	वेद०	कषाय	ज्ञान०	संयम०	दर्शन	लेश्या	भव्य	सम्यक्त्व०	संज्ञी	आहा०	मार्गणा	गाथाङ्का:
औदारिकमिश्र० वैक्रिय० २									असं० १		६५	४८३ ४८४ ४८५
											५	४८५
आहारक० तन्मिश्र० २			मत्यादि-ज्ञान०४	सय सामा छेद परि देश ५	अवधि १			△			१६	४८६ ४८७
वैक्रियमिश्र कार्म										अना०	३	४८८
								औप मिश्र			२	४८९
सर्वमनोवचोभेदा कायौघ० औदारिक० १२	वेद-त्रिक० ३	सर्व० ४	अज्ञान-त्रिक० ३	असंयम० १	चक्षु० अचक्षु. २	सर्व० ६	सर्व० २	मिथ्यात्व० १	संज्ञी १	आहा० १	४७	४८२ ४९२
	अवेद०										१	४९०
				सूक्ष्मसम्प०							१	४९१
वैक्रिय० १						तेज.-पद्म० २		क्षायोपश० सासाद०२			१८	४९५ ४९६
वैक्रियमिश्र० १								मिश्र० १			२	४९९
कार्मण० १										अना०	२	५००
आहा० तन्मिश्र०				परिहार देश०				~-			४	५०१-
औदारिकमिश्र०१			अज्ञान-त्रिक० ३	असंयम० १		अशुभा ३	अभ० १	मिथ्यात्व. १	असं०१		७९	५१०-
			मन पर्यव. १	संयमौघ० सामा०छेद०३							४	५०७ ५०८
	अवेद०							औपश०			२	५०४,
			मत्यादि. ३		अव०१	शुक्ल. १		★ २			७	५०५-
				सूक्ष्मसम्प०							१	५०९-
सर्वमनोवचो.काययोग० औदा० १२	पुं०१	सर्व० ४			चक्षु० अच०२		भव्य.१		संज्ञी,१	आहा० १	२१	४९३- ४९७
	स्त्री.न.										२	५०२-

△ सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सास्वादनानि=४। ★ सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वे २।

* अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरल्पबहुत्वदर्शकं यन्त्रकम् *

मार्गणाः	आयुर्वर्जसप्तानां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धाऽपेक्षया उत्कृष्टस्थितिबन्ध —				आयुषो जघन्यस्थितिबन्धाऽपेक्षया उत्कृष्टस्थितिबन्धः-	
	ओघवद् असंख्यगुण·	★	विशेषाधिकः	संख्येयगुणः	संख्येयगुण.	असंख्येयगुण
गति०	मनुष्यौघ० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३			सर्वनरक तिर्यग् देव०अपर्याप्त-मनुष्यश्च, ४४	सर्वनरक-देवभेद० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्०अपर्याप्त-मनुष्य० ४०	तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ तत्पर्याप्त० तिरश्ची० मनुष्यौघ० तत्पर्याप्त० मानुषी च, ७
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २		सर्वैकेन्द्रिय० सर्वविकले० १६	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १	सर्वैकेन्द्रिय० सर्वविकलेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चे० १७	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २
काय०	त्रसौघ० तत्पर्याप्त० २		पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्ता सर्वभेद० ३६	अपर्याप्तत्रस० १	पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तसर्व० अपर्याप्तत्रसश्च ४०	त्रसौघ० तत्पर्याप्त० २
योग०	सर्वमनोवचोभेद० कायौघ० औदारिकयोग० १२			औदारिकमिश्र० वैक्रि०तन्मिश्र० आहा० तन्मिश्र० कार्मण० ६	आहारक तन्मिश्र० औदारिकमिश्र० वैक्रिय० ४	सर्वमनोवचोभेद० काययोगौघ० औदारिकश्च १२
वेद०	वेदत्रिक० ३	अवेद०				वेदत्रिक० ३
कषाय०	क्रोधादि० ४					क्रोधादि० ४
ज्ञान०	मत्यादिज्ञान० ४			मत्यज्ञा०श्रुताज्ञा० विभङ्ग० ३	मन पर्यव० १	मतिश्रुताऽवधिज्ञानानि अज्ञानत्रिक च, ६
संयम०	सयमौघ० सामा० छेद० ३			परिहार०सूक्ष्म० असयम० देशसयमश्च० ४	सयमौघ०सामा० छेद० परिहार० देशसयम० ५	असयम० १
दर्शन०	चक्षुरादित्रय० ३					चक्षुरादित्रय० ३
लेश्या०	शुक्ल० १			कृष्णादि० ५		सर्व० ६
भव्य०	भव्य० १			अभव्य० १		सर्व० २
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ० क्षायि०औपशमि० ३			क्षायोप० मिश्र० सास्वाद० मिथ्यात्व० ४		सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० क्षायोपशमिक० सासादन० मिथ्यात्व० ५
संज्ञी०	सज्ञी० १			असञ्ज्ञी० १		सर्व० २
आहार०	आहारी० १			अनाहारी० १		आहारी० १
सर्वमार्गणाः-	४३	१	५५	७१	१०७	५६
गाथाङ्क:-	४७५-४७६	४७७	४७८	४७८	४७९-८०-८१	४८१

★ घातिनां संख्येयगुणः, अघातित्रयस्याऽसख्येयगुण. ।

॥ भूयस्काराधिकारः ॥

एतर्हि क्रमप्राप्तस्य "भूगारा" इत्यनेन प्रस्तुतस्थितिबन्धग्रन्थप्रारम्भे उद्दिष्टस्य तृतीयस्य भूयस्काराधिकारस्यावसरः । अत्र ह्यधिकारे मूलप्रकृतीनां भूयस्कारस्तदुपलक्षणादल्पतरः, अवस्थितः, अवक्तव्य इत्येवं चतुःप्रकाराः स्थितिबन्धविशेषाः सत्पदस्वामित्वादिद्वारेषु प्राग्वच्चिन्तनीयाः, अतोऽधिकारप्रारम्भ आदौ तावत्प्राक् 'तेसुं पढमाइसुं अहिगारेसुं' इत्यादितृतीयगाथायां संख्यामात्रेण कीर्तितानां त्रयोदशद्वाराणां नामधेयान्याविष्कुर्वन्नाह गाथायुग्मम्—

तइए भुओगारे अहिगारम्मि हविरे दुआराइं ।
तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं च ॥५५२॥
भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत्तफोसणाउ तहा ।
कालो अंतरभावा अप्पाबहुगं जहाकमसो ॥५५३॥

(प्रे०) "तइए भुओगारे" इत्यादि, मूलप्रकृतिस्थितिबन्धमधिकृत्योद्दिष्टषडधिकारान्तर्गते तृतीये भूयस्काराभिधेऽधिकारे त्रयोदश द्वाराणि यथाक्रमशः भवन्तीति क्रियायोगः । तत्र द्वारनामानि तु "संतपय"मित्यादिनाऽभिहितानि । तद्यथा-(१) आद्यं सत्पदद्वारम्,(२) तदनु द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्, (३) ततस्तृतीयं कालद्वारम्, (४) ततोऽन्तरद्वारम्, (५) तत्पश्चाद् भङ्गविचयद्वारम्, (६) ततो भागद्वारम्, (७) ततः परिमाणद्वारम्, (८) ततः क्षेत्रद्वारम्, (९) ततः स्पर्शनाद्वारम्, (१०) ततस्तु कालद्वारम्, (११) ततोऽन्तरद्वारम्, (१२) ततो भावद्वारम्, (१३) ततस्त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् । अत्राऽपि गताधिकारवद्भङ्गविचयादीनि पञ्चमादीनि द्वाराणि नानाजीवानाश्रित्य प्ररूपयिष्यन्त इति विज्ञेयम् । सत्पदवर्जशेषद्वारव्याख्यानमपि पूर्ववदेव द्रष्टव्यम् । सत्पदद्वारस्य त्वेवम्—सन्ति-विद्यमानानि पदानि भूयस्कारादिस्थितिबन्धलक्षणानीति सत्पदानि, तानि यत्र द्वारे चिन्त्यन्ते तत् सत्पदद्वारम् । ओघतः सर्वजीवराशौ, विशेषतो मार्गणास्थानेषु च मूलाष्टकर्मणां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिबन्धेभ्यः कियन्ति पदानि सद्भूतानीत्यस्य प्ररूपणमिति भाव इति ॥५५२-५५३॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवमुक्तानि सक्रमं प्रारिप्सिताधिकारगतानां द्वाराणां नामानि । साम्प्रतमुद्दिष्टक्रमेणैव तेषु भूयस्कारादिस्थितिबन्धं चिचिन्तयिषुरादौ तावत् प्रथमे सत्पदद्वार ओघतः सत्पदानि दर्शयन्नाह-

सत्तण्ह भूअगारो अप्पयरोऽवट्ठियो अवत्तव्वो ।
बन्धो चउहाऽऽउस्स उ दुविहोऽप्पयरो अवत्तव्वो ॥५५४॥

(प्रे०) '**सत्तण्ह भूअगारो**'' इत्यादि, तत्र ''**सत्तण्ह**'' त्ति आयुर्वर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामित्यर्थः । अस्य चान्वयः ''**बन्धो चउह**.'' इति परेण, ततस्तासां सप्तानां प्रकारान्तरेण चिन्त्यमानो ''**बंधो**'' त्ति प्रकृतत्वात् स्थितिबन्धः''**चउह**.'' त्ति चतुर्धा, अस्तीति शेषः । चातुर्विध्यमेव दर्शयन्नाह– ''**भूअगारो**'' इत्यादि, वक्ष्यमाणस्वरूपो भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धोऽवस्थितबन्धोऽवक्तव्यबन्धश्चेत्यर्थः । अथ शेषस्यायुःकर्मण आह– ''**उस्स उ दुविहो**'' इत्यादि, पूर्वमाकारस्य दर्शनादायुषस्तु 'द्विविधो'अल्पतरोऽवक्तव्यश्च स्थितिबन्धोऽस्तीति ॥५५४॥

ननु किमेतेषां स्वरूपमित्याशङ्कायां तेषां स्वरूपं दर्शयन्नाह—

पूव्वसमयाउ समये अणंतरे बंधए पहुत्तयरं ।
बंधो स भूअगारोऽप्पयरं बंधइ स अप्पयरो ॥५५६॥
तावइयं चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्ठिओ बंधो ।
होउं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो ॥५५७॥

(प्रे०) ''**पूव्वसमयाउ**'' इत्यादि, पूर्वसमये स्तोकस्थितिं बध्नन् कश्चिज्जीवः पूर्वसमयादनन्तरे समये यदा ''**पहुत्तयरं**'' त्ति 'प्रभूततराम्' समयादिनाऽधिकां स्थितिं बध्नीयात् तदा तस्य स बन्धः प्रकृते भूयस्कारनामा ''**बंध**'' त्ति स्थितिबन्धो भवतीति परेणान्वयः । एवमुत्तरत्रापि बोद्धव्यम् । अल्पतरबन्धस्वरूपमाह–''**प्पयरं बंधइ**'' इत्यादि, अत्र लुप्ताऽकारस्य दर्शनात् ''**पूव्वसमयाउ समये अणन्तरे**'' इत्यस्यानुवर्तनाच्च पूर्वसमये प्रभूतस्थितिं बध्नन् कश्चिज्जीवः पूर्वसमयादनन्तरे समये यदा ''**ऽप्पयरां बंधइ**'' त्ति अल्पतरां समयद्विसमयादिना हीनां स्थितिं बध्नाति तदा तस्य सोऽल्पतरनामा स्थितिबन्धो भवतीत्यर्थः । अवस्थितबन्धस्वरूपमाह– ''**तावइयां चिअ बंधइ**'' इत्यादि, पूर्वत्र पूर्वसमये स्तोकस्थितिं प्रभूतस्थितिं वा बध्नन् यः कश्चिज्जीवः पूर्वसमयादनन्तरे समये ''**तावइयां चिअ**'' त्ति 'तावतीमेव'-पूर्वसमयबद्धस्थित्या तुल्यामेव स्थितिं बध्नाति; न पुनः समयादिना हीनामधिकां वेत्यर्थः । तस्य किमित्याह–''**सो णायव्वो**''इत्यादि,तस्य स बन्धोऽवस्थितनामा स्थितिबन्धो ज्ञातव्य इत्यर्थः । अवक्तव्यबन्धस्वरूपमाह–''**होउं अबंधगो उण**'' इत्यादि, पुनः शब्दोऽनन्तरोक्तबन्धत्रयस्वरूपापेक्षयाऽवक्तव्यबन्धस्वरूपस्य वैलक्षण्यद्योतकः, यतः पूर्वं तत्तद्भूयस्कारादिस्थितिबन्धानां निर्वर्तको जीवस्तत्तद्बन्धसमयादनन्तरप्राक्समये प्रभूत-स्तोकतुल्यानामन्यतमस्याः स्थितेर्बन्धक आसीद्, अत्र चरमप्रकारे त्वसावन्यतमस्या अपि स्थितेर्बन्धको न भवति, किन्तु सर्वथाऽबन्धक एव भवति । एतदेव दर्शयन्नाह–''**होउं**

अबन्धगो" त्ति कश्चिज्जीवः पूर्वसमये **"अबन्धगो"** त्ति तत्तज्ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतेः स्थितिबन्धमपेक्ष्याऽबन्धको भूत्वाऽनन्तरे समये **"बंधइ"** त्ति बन्धप्रायोग्यस्थितीनामन्यतमां स्थितिं बध्नाति **"स हवइ अवत्तव्वो"** त्ति स तस्याबन्धादनन्तरजायमानोऽन्यतमस्थितेर्बन्धो प्रथमसमयेऽवक्तव्यनामा स्थितिबन्धो भवति ।

इदमुक्तं भवति–भूयस्कारादिस्थितिबन्धाः पूर्वसमये स्तोकादि-स्थितिबन्धसद्भावेन तदपेक्षया उत्तरसमयबध्यमानस्थितेर्भूयस्त्वादितया भूयस्कारादिपदवाच्या भवन्ति । अबन्धादुत्तरसमये जायमानस्थितिबन्धस्तु पूर्वसमये स्थितिबन्धाभावाद्भूयस्कारादिवन्नाधिकः स्तोकस्तुल्यो वेत्यतो भूयस्कारादिपदत्रयेण वक्तुमशक्य इतिकृत्वाऽवक्तव्यपदेनैव व्यपदिश्यते । उक्तं च **महोपाध्यायैः श्रीमद्यशोविजयपूज्यैः कर्मप्रकृतिटीकायाम्**—

'यदा तु सर्वथैवाऽबन्धकादिभूत्वा भूयोऽपि बन्धादिकमारभते तदा स बन्धादेश्चतुर्थो भेदोऽवक्तव्यनामा, भूयस्कारादिशब्देन वक्तुमशक्यत्वात् । ' इति ।

भूयस्कारादीनां लक्षणानि कर्मप्रकृत्यादिष्वपीत्थमेवाभिहितानि । यदुक्तं **कर्मप्रकृतौ** क्रमेण तल्लक्षणानि प्रतिपादयद्भिः **शिवशर्मसूरिपुङ्गवैः**–

'एगादहिगे पढमो एगाईऊणगम्मि बिइओ उ । तत्तियमेत्तो तइओ पढमे समये अवत्तव्वो' ॥५२॥ इति ।

इत्थं हि भूयस्कारादिलक्षणानां स्थितिबन्धविशेषाणां स्वरूपे व्यवस्थिते प्रथमगाथोक्तौघिक-**सत्पदभावनात्वेवं कार्या**--क्षपकश्रेणिबहिःस्थस्य ज्ञानावरणादीनां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धादन्यं स्थितिबन्धं विदधतः कस्याऽपि जीवस्य वर्तमानगुणस्थानादपकृष्टगुणस्थानकान्तरप्राप्तौ स्थितिबन्धवृद्धिर्भवति । एवमेकेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा द्वीन्द्रियादित्वेनोत्पत्तावपि नियमेन स्थितिबन्धवृद्धिर्भवति। एवं वैपरित्येन वर्तमानगुणस्थानकाद् विशुद्धगुणस्थानकान्तरप्राप्तौ संज्ञिभ्यश्च्युत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाद्यन्यतमतयोत्पद्यमानस्य वा स्थितिबन्धहानिर्जायते । एवंविधकारणाभावेऽपि प्रत्यन्तर्मुहूर्तं जघन्यतः समयमुत्कृष्टतः समयद्वयं वा सर्वजीवानां स्थितिबन्धस्य वृद्धिहानयस्तथास्वाभाव्येन प्रवर्तन्त एव । तत्र यः पूर्वसमयादुत्तरसमये जायमानः समय-द्विसमयादिना वृद्धस्थितिबन्धः, स एव प्रथमसमये भूयस्कारः, इत्येवं भूयस्कारपदं सदैव। अनेनैव प्रकारेणाधिकस्थितिबन्धस्याऽपि जघन्यतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं नियमेन हीनस्थितिबन्धतया परावृत्तेर्भावादल्पतरस्थितिबन्धपदमपि सदैव। यदा तूपर्युक्तान्यतमकारणं न विद्यते,तदा तु यावान् स्थितिबन्धः पूर्वसमय आसीत्तावानेवोत्तरसमये प्रवर्तत इति त्ववस्थितः, इत्येवमवस्थितस्थितिबन्धसत्ताऽपि प्रसिद्धा। अवक्तव्यस्थितिबन्धस्तूपशमश्रेण्यां व्युपरतस्थितिबन्धस्य जीवस्योपशान्ताद्धाक्षयात्प्रतिपाते, कालकरणेन देवगतावुत्पत्त्या वा पुनरपि स्थितिबन्धप्रारम्भसद्भावात् प्रारम्भप्रथमसमयजातस्थितिबन्धापेक्षया प्राप्यत एव; एतच्चानन्तरं स्वामित्वद्वारे ग्रन्थकारः स्वयमेव व्यक्तीकरिष्यति । आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यरूपद्विविधस्थितिबन्धस्य सत्त्वं तु सुसिद्धम् , कादाचित्कत्वादायुर्बन्धस्य । तद्यथा– यदायुर्बन्धः प्रारभ्यते,

तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यस्थितिबन्धः । कुतः ? तत्पूर्वसमये सर्वथैवाबन्धात् । द्वितीयादिसमयेषु पुनरायुष्कस्थितिबन्धान्तर्गताया अबाधायाः प्रतिसमयं हानेः प्रवर्तनादायुर्बन्धविच्छेदं यावत्प्रतिसमयमल्पतरस्थितिबन्धा एव प्राप्यन्ते । अत एवायुषो भूयस्कारा-ऽवस्थितस्थितिबन्धौ सन्तौ नाभिहिताविल्यपि विज्ञेयमिति ॥५५५-५५६॥

तदेवमभिहितान्योघतोऽष्टकर्मणां स्थितिबन्धभूयस्कारादिसत्पदानि । अथादेशतो मार्गणास्थानेषु भूयस्कारादिसत्पदानि चिचिन्तयिषुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तकर्माण्यधिकृत्य प्राह—

णरतिग-दुपणिंदियतस-पणमणवयणेसु काय-उरलेसुं ।
गयवेए णाणचउग-संयम-तिदरिसण-सुइलासुं ॥५५७॥
भविए सम्मे खइए उवसम-सण्णीसु य तह आहारे ।
भूगाराई होअइ सत्तण्हं चउविहो बंधो ॥५५८॥

(प्रे०) "**णरतिगदुपणिंदिये**"त्यादि, अत्र 'णरतिगे'त्यादिनाऽपर्याप्तभेदवर्जाः शेषभेदा गृह्यन्ते; ततोऽपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु; तथैवाऽपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोः, द्विशब्दस्य त्रसेत्यत्रापि योजनादपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोस्त्रसकायभेदयोः, पञ्चमनोयोगभेदाः पञ्चवचोयोगभेदास्तेषु, तथा काययोगसामान्यौदारिककाययोगमार्गणयोः, "**गयवेए**" त्ति अपगतवेदमार्गणायाम् , तथैव मत्यादिज्ञानचतुष्के, संयमौघ-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्यामार्गणासु, भव्यमार्गणायां सम्यक्त्वौघमार्गणायां, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणयोः "**आहारे**" त्ति आहारिमार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिश्चतुर्विधो बन्धो भवति । चतुर्विधबन्धः सन्नित्यर्थः, सत्पदप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वाद् , भूधातोः सत्तार्थकत्वाच्चेत्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्–क्षपकश्रेणिबहिःस्थानां नरकगत्योघाद्यनाहारकमार्गणापर्यन्ततत्तत्सर्वमार्गणागतजीवानां कषायोदयजन्या विशुद्धिः संक्लेशो वोत्कृष्टतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं तथास्वाभाव्येन नियमतोऽन्यान्यस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशतया विशुद्धितया वा विपरिवर्तते । तथा च सति तैर्जीवैः प्रारब्धाः स्थितिबन्धा अप्युत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमवस्थाय संक्लेशविशुद्ध्यनुसारेण विपरावर्तन्त इत्यनन्तरमुक्तमेव । ततः किम् ? ततः प्रतिमार्गणं सप्तकर्मणां तावन्मात्रस्थितिबन्धप्रवर्तनरूपोऽवस्थितस्थितिबन्धः, समयद्विसमयादेरूर्ध्वमधिकस्थितिबन्धे प्रारब्धे भूयस्कारस्थितिबन्धः, हीनस्थितिबन्धे प्रारब्धे त्वल्पतरस्थितिबन्धश्चेत्येवं त्रिविधबन्धस्तु सुतरां लभ्यते । अवक्तव्यस्थितिबन्धः पुनर्यासु मार्गणासु ज्ञानावरणादिकर्मसत्कस्थितेरबन्धः प्राप्यते तासु मार्गणास्वेव सम्भवति । आयुर्वर्जानां सप्तमूलकर्मणां स्थितेरबन्धस्तु समग्रायामपि भवभ्रान्तौ न कुत्रचिदवाप्यते, विहायोपशमश्रेणिं । तत्रापि मोहनीयस्थितेरबन्धोऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानादूर्ध्वं तथाऽऽयुर्मोहनीयवर्जानां षण्णां

स्थितेरबन्धस्तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानादूर्ध्वमुपरितनगुणस्थानेष्वेवावाप्यते, तथा च सति यासु अनिवृत्तिबादरगुणस्थाः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाश्च जीवा लभ्यन्ते तासु मोहनीयसत्कः, यासु च मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायगुणस्था उपशान्तमोहगुणस्थाश्च जीवाः प्राप्यन्ते तासु षट्कर्मसत्कोऽवक्तव्य-स्थितिबन्धोऽपि सम्पद्यते, अबन्धोत्तरबन्धरूपत्वात्तस्य । लभ्यन्ते च प्रकृतपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं तादृशा जीवाः, तेषां चोपशमश्रेणितः प्रतिपत्य पुनरपि स्थितिबन्धप्रारम्भेऽवक्तव्यबन्धभावात् पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु सप्तकर्मणां चतुर्थोऽवक्तव्यबन्धोऽपि सन्नभिहित इति ।

ननूपशमश्रेणावुपशान्तमोहगुणस्थाने पञ्चत्वं प्राप्य ये केचन जीवा देवगतावुत्पद्य तत्राभि-नवमबन्धोत्तरस्थितिबन्धं प्रारभन्ते,तादृशजीवानपेक्ष्य देवगत्योघादिमार्गणास्वपि सप्तानां मूलप्रकृतीना-मवक्तव्यलक्षणः स्थितिबन्धः सत्पदविषयीकर्तव्यो भवति, तत्कथमेता देवगत्योघादिमार्गणा न संगृ-हीताः ? इति चेद्, उच्यते, सत्यमेतद्, यद् उपशान्ताद्धायामायुःक्षयाद्देवतयोत्पद्यमानानां जीवा-नामबन्धोत्तरबन्धप्रारम्भः, न पुनस्तदपेक्षया देवगतिमार्गणायां सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्ध इत्यपि, यतो देवगतिमार्गणायां हि ये देवगतिनामकर्मोदयाद् देवपर्यायमापन्ना जीवास्त एव प्रविष्टाः,नान्ये उपशान्तमोहगुणस्था भवचरमसमयवर्तिनो मनुष्यपर्यायापन्ना अपि, इत्थं च न विद्यते तादृशो देव-पर्यायापन्नो जीवः यस्य देवपर्यायापन्नस्य सप्तानामबन्धोऽनन्तरोत्तरसमये त्वभिनवबन्धप्रारम्भश्च, अर्थात् पूर्वमबन्धकत्वे सत्यव्यवहितोत्तरमभिनवस्थितिबन्धप्रारम्भकत्वं यथा मनुष्य-पञ्चेन्द्रियादि-पर्यायापन्नजीवस्य सम्पद्यते, तथा देवपर्यायापन्नस्य कस्यापि जीवस्य नोपपद्यते,तदभावे च कुतो देव-गत्योघादिमार्गणास्ववक्तव्यस्थितिबन्धसम्भवः, न कुतश्चित् । इत्येवं विवक्षितपर्यायस्य जीवस्यैवाऽ-बन्धकत्वादित्वेऽवक्तव्यबन्धस्य स्वीकृतत्वेन देवगत्योघादिमार्गणासत्कजीवानां सप्तकर्मसत्कावक्तव्य-स्थितिबन्धस्याऽसम्भवाद् देवगत्योघादिमार्गणा न सङ्गृहीता इत्यलं प्रसङ्गेन ॥५५७-५५८॥

तदेवं यासु मार्गणासु सप्तकर्मणां भूयस्कारादिश्चतुर्विधोऽपि स्थितिबन्धः सम्भवति, तासु तत्सत्त्वं प्रतिपादितम् । साम्प्रतमुक्तशेषमार्गणासु सप्तानां सर्वमार्गणास्वायुषश्च तद्दिदर्शयिषुराह—

सेसासु भूअगारो अप्पयरोऽवट्ठिओ तिहा बंधो ।
मोहस्स अवत्तव्वो लोहे सव्वह दुहाउस्स ॥५५९॥

(प्रे०) **'सेसासु'** इत्यादि, अभिहितशेषासु निरयगत्योघादिपञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं भूयस्कारः, अल्पतरः, अवस्थितश्चेत्येवं 'त्रिधा'-त्रिप्रकारः स्थितिबन्धः सन् वर्तते, त्रिणि पदान्येव सन्ति, न पुनरवक्तव्यस्थितिबन्धपदमपि । किं सर्वासु शेषमार्गणासु सप्तानामप्यवक्तव्य-स्थितिबन्धलक्षणं चतुर्थपदमसदुतास्ति कासुचित्कस्यचित्सदपीत्याह—**"मोहस्स अवत्तव्वो लोहे"** त्ति शेषमार्गणान्तःप्रविष्टायां लोभकषायमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धश्च सन्नित्येवं लोभमार्गणायां मोहनीयस्य चत्वार्यपि पदानि सन्ति, मोहनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां शेषकर्मणां तु शेषनिरयगत्योघादिमार्गणावत् त्रीण्येवेति भावः ।

तत्र शेषमार्गणास्त्विमाः-अष्टौ नरकगतिभेदाः,पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणाभेदः सर्वेऽपि देवगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, तथा पृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-प्रत्येकवनस्पतिकाय-साधारणवनस्पतिकायसत्काः सर्वे भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, औदारिकमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगभेदाः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोत-तेजः-पद्मलेश्या-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति ।

एतासु प्रत्येकं भूयस्कारादिबन्धत्रयलाभस्तु पूर्ववन्नुगमः । अवक्तव्यबन्धाभावस्तु सूक्ष्मसम्परायसंयम-लोभमार्गणावर्जासु शेषमार्गणासु केषाञ्चिदपि जीवानां सप्तकर्मणां स्थितिबन्धाभावस्यालाभात्प्रागुक्तनीत्या भावनीयः । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु मोहनीयकर्मसत्कस्थितेरबन्धस्य लाभेऽप्यबन्धात् पूर्वं स्थितिबन्धप्रारम्भस्याऽभावाद् विशेषणाभावप्रयुक्तायास्तल्लक्षणाप्राप्तेरवक्तव्यबन्धो न प्राप्यते। **किमुक्तं भवति**? यथोक्तं विशिष्टबन्धकाधीनावक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणमंशद्वयापन्नम् , एको विशेष्यांशोऽन्यो विशेषणांशः । पूर्वमबन्धे सति बन्धप्रारम्भोऽवक्तव्यबन्धस्तत्र पूर्वमबन्धे सतीत्येतावान् विशेषणांशः, बन्धप्रारम्भ इत्येतावान् विशेष्यांशः । मार्गणास्थानेषु प्रकृतबन्धचिन्तायामेतल्लक्षणं विवक्षितनारकत्वादिपर्यायापन्नतत्तन्मार्गणास्थजीवमपेक्ष्य चिन्तनीयम् , तच्च प्रागुक्तमनुष्यत्रिकादिमार्गणास्वेवोपपद्यते, न पुनः शेषासु नरकगत्योघादिमार्गणासु । कथम् ? कासुचिन्नरकगत्योघादिमार्गणासु विशेषणविशेष्योभयाभावात् , कासुचिद्देवगत्योघादिमार्गणासु विशेषणाभावात् , सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयकर्मस्थितिबन्धविषये तु विशेष्यांशविरहाच्च ।

तथाहि–नरकगत्योघादिषु नास्ति कस्यापि नारकत्वादिपर्यायापन्नस्य जीवस्य ज्ञानावरणादीनां सप्तानां स्थितेरबन्धः, एवमुपशमश्रेणावबन्धकावस्थायां कालं कृत्वा नारक-तिर्यगादितयोत्पादाभावेन देवगत्योघादिमार्गणावत्सप्तानामभिनवबन्धप्रारम्भोऽपि नास्ति । देवगत्योघादिकतिपयमार्गणासु तादृशबन्धप्रारम्भसम्भवेऽपि देवत्वादिपर्यायविशेषे प्रवर्तमान एव नास्ति कस्यापि देवजीवस्य सप्तकर्मणां स्थितेरबन्धः, एवं सति विशेषणाभावप्रयुक्तप्रकृतलक्षणाप्राप्तेरवक्तव्यबन्धसत्त्वं न प्रतिपादितम् । इत्थमेव सामायिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोर्मोहनीयकर्मस्थितिबन्धविषये तथा सूक्ष्मसम्परायसंयम-लोभकषायमार्गणयोर्मोहनीयवर्जषट्कर्मस्थितिबन्धविषये बोद्धव्यम् । कथम् ? उपशमश्रेणितः प्रतिपतज्जीवापेक्षयाऽपि मोहनीयादिकर्मणां स्थितेरबन्धस्य सामायिकादिमार्गणातो बहिर्भावात् । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयकर्मस्थितिबन्धविषये तु विशेषणांशस्य स्थितेरबन्धलक्षणस्य सद्भावेऽपि सूक्ष्मसम्परायमार्गणायामेव मोहनीयस्थितिबन्धप्रारम्भलक्षणस्य विशेष्यांशस्याऽसद्भावाद्विशेष्याभावप्रयुक्ता प्रकृतावक्तव्यबन्धलक्षणाप्राप्तिः, अतस्तत्र मोहनीयस्थितेरवक्तव्यबन्धो नोक्तः ।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदप्रदर्शकं यन्त्रम्

भूयस्कारादयः स्वरूपतः —
(१) पूर्वसमयादुत्तरसमये समयाद्यधिकस्थितिबन्धे भूयस्कारस्थितिबन्धः।
(२) पूर्वसमयादुत्तरसमये समयादिहीनस्थितिबन्धेऽल्पतरस्थितिबन्धः।
(३) पूर्वसमयदुत्तरसमये तावन्मात्रस्थितिबन्धेऽवस्थितस्थितिबन्ध ।
(४) स्थितिबन्धाभावात्स्थितिबन्धेऽवक्तव्यस्थितिबन्धः । (गाथा-५५५-५५६)

	आयुवर्जसप्तप्रकृतीनाम्		आयुषः
सत्पदानि	ओघवद् भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिताऽवक्तव्यलक्षणानि चत्वारि सत्पदानि	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितलक्षणानि त्रीणि पदानि सद्भूतानि, अवक्तव्यपद त्वसत् ।	ओघवद् अल्पतरा-ऽवक्तव्य-लक्षणे द्वे सत्पदे,
गति०	मनुष्योघ० तत्पर्याप्त० मानुषी, ३	सर्वनिरय० सर्वतिर्यग्० सर्वदेव० अपर्याप्तमनुष्य० ४४	सर्व० ४७
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ० तत्पर्याप्त० २	सर्वैकेन्द्रिय० सर्वविकलेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १७	सर्व० १९
काय०	त्रसौघ० पर्याप्तत्रस० २	पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसत्कासर्वभेदाः, अपर्याप्तत्रसकाय-भेदश्च, ४०	सर्व० ४२
योग०	सर्व मनोवचो० औदारिक० काययोगौघ० १२	औदारिकमिश्र० वैक्रिय-तन्मिश्र० आहारक-तन्मिश्र० कार्मणकाययोगश्च, ६	सर्व० १६
वेद०	अपगतवेद० १	स्त्री, पुरुष० नपुंसक० ३	सर्व० ३
कषाय०	लोभ० ★ १	क्रोध० मान० माया० ३	सर्व० ४
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽवधि-मन.पर्य ४	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान० ३	सर्व० ७
संयम०	संयमौघ० १	सामायिक-छेद-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसयम-देश-संयमा-ऽसयमा — ६	सर्व० ६
दर्शन०	चक्षु०अचक्षु०अवधि० ३		सर्व० ३
लेश्या०	शुक्ल० १	कृष्ण० नील० कापोत० तेजः० पद्म० ५	सर्व० ६
भव्य०	भव्य० १	अभव्य० १	सर्व० २
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० औपशमिक० ३	क्षायोपशमिक० मिश्र० सासादन० मिथ्यात्व० ४	सर्व० ५
सञ्ज्ञी०	सञ्ज्ञी. १	असञ्ज्ञी, १	सर्व० २
आहारी०	आहारी, १	अनाहारी, १	सर्व० १
सर्वमार्गणाः-	३६	१३४	१६३
गाथाङ्काः—	५५७-५५८	५५६	५५६

★ लोभमार्गणाया मोहनीयस्यैवा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धः सन्, अतो मोहनीयस्यैव चत्वारि पदानि सन्ति, शेष-ज्ञानावरणादीना त्ववक्तव्यवर्जाणि त्रीण्येव सत्पदानि (गाथा-५५६)।

लोभमार्गणायां तु मोहनीयकर्मणोऽबन्धादुत्तरं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके कालं कृत्वा देवगतावुत्पद्य मोहनीयस्थितिबन्धप्रारम्भं यावत् तत्स्वामी लोभमार्गणायामेव वर्तते, तथा सति लोभपर्यायापन्नस्यैव जीवस्य पूर्वोत्तरसमययोर्मोहनीयकर्मस्थितेरबन्ध-बन्धयोर्लाभाद् , यद्वा क्रमेण प्रपततोऽनिवृत्तिबादर-सम्परायगुणस्थाने पूर्वप्रवृत्तलोभमार्गणायामबन्धोत्तरं मोहनीयबन्धप्रारम्भादवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षण-सङ्गतेर्मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धः प्राप्यतेऽतस्तत्रासौ विशेषेण समभिहित इति दिक् । अनया दिशा प्रतिमार्गणं भावना तु स्वयमेव कर्तव्येति । तदेवं शेषमार्गणास्वपि सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदानि दर्शितानि ।

अथावशेषस्यायुषस्तानि गाथाशेषेणाह–"**सव्वह दुहाउस्स**" त्ति 'सर्वत्र'-त्रिषष्ट्यभ्यधिक-शतसंख्याकास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु सर्वमार्गणासु "**दुहाउस्स**" त्ति ओघवदायुषोऽल्पतरावक्तव्यभेदाद् 'द्विधा'-द्विविधोऽपि स्थितिबन्धः सन् भवतीत्यर्थः । सुगमं चैतद् , आयुर्बन्धस्य कादाचित्कतया सर्वमार्गणासु तद्बन्धप्रारम्भेऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य, प्रारम्भद्वितीयादिसमयेषु त्वल्पतरस्थितिबन्धस्य च प्रभवनात् । **न च** 'अप्पमत्तो आउगं बंधिउं णाढप्पइ, पमत्तेणाढत्तं अप्पमत्तो बंधइ' इति **शतकचूर्णि**-वचनादप्रमत्तसंयतानामायुर्बन्धप्रारम्भस्याभावेनाऽवक्तव्यस्थितिबन्धासम्भवान्निरपवादं सर्वासु मार्ग-णास्वायुषो द्विविधोऽपि बन्धः सन्नित्यभिधानं कथं संगच्छेदिति **वाच्यम्** । यतो देशसंयतादि-वन्नात्र काचिदप्रमत्तसंयतमार्गणा पृथगधिकृता येनोक्ताऽसङ्गतिः स्यात् ,संयमौघमार्गणायां त्वप्रमत्त-जीवापेक्षया केवलस्यायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्यैव सद्भावेऽपि प्रमत्तसंयतापेक्षया यथोक्तद्विविधो-ऽप्यसौ प्राप्यते, प्रमत्तसंयतेन आयुर्बन्धप्रारम्भस्यापि करणादिति ॥५५९॥

तदेवमभिहितान्यष्टानां प्रकृतीनां भूयस्कारादीनि सत्पदान्यादेशतोऽपि तस्मिंश्चाभिहिते गतमाद्यं सत्पदद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ "**यथोद्देशं निर्देश**" इति न्यायेन क्रमप्राप्ते स्वामित्वद्वार आदौ तावदोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्वामिनः प्ररूपयन्नाह—

भूओगाराईणं सत्तण्हं बंधगो उ अण्णयमो ।
तिण्ह पयाणं दोण्ह वि आउस्स पयाण णायव्वो ॥५६०॥
उवसामगो पडंतो सेढीए बंधगो णरो अहवा ।
पढमखणसुरो णेयोऽवत्तव्वस्स खलु सत्तण्हं ॥५६१॥

(प्रे०) '**भूओगाराईणं**" इत्यादि, तत्र "**भूओगाराईण**" मित्यस्य "**तिण्ह पयाण**" मिति परेणान्वयः, ततश्च "**सत्तण्हं**" ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादीनां भूयस्कार-ऽल्पतर-ऽवस्थितलक्षणानां त्र याणां 'पदानां'-स्थितिबन्धविशेषाणां "**बंधगो उ अण्णयमो**" त्ति 'बन्धकः'-स्वामी त्वन्यतमः,नारक-तिर्यग्-मनुष्य-देवानामिति शेषः । यथागमभवमिति गम्यम् । कथम्? श्रेण्यारोहा-ऽवरोह-मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाविशेषेषु क्षपकोपशमकादिजीवानां भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिबन्धभावेन तेषां वर्जनार्थमिति । कुतोऽन्यतमः ? एकस्थितिबन्धस्थानप्रायोग्याध्यवसायानामन्तर्मुहूर्तादधिकमनवस्थानेनोत्कृष्टतोऽपि प्रत्यन्तर्मुहूर्तं स्थितिबन्धवृद्धिहान्योः सर्वजीवानां भावात् । अथायुःकर्मण आह-"**दोण्ह वि**" इत्यादि, 'बंधगो उ अण्णयमो' इत्यत्रापि संबध्यते, अत आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धरूपयोर्द्वयोरपि पदयोर्बन्धकः-स्वाम्यन्यतमगतिको जीवो ज्ञातव्य इति । सुगमं चैतत् सत्पदविवरणाद्गतार्थं चेति । अथ सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य स्वामिनो दर्शयन्नाह-"**उवसामगो**" इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'बन्धकः'-स्वामी "**सेढीए**" त्ति उपशमश्रेणितः पतन्नुपशामको 'नरः'-मनुष्योऽथवा "**पढमखणसुरो**" त्ति उपशमश्रेणावबन्धकावस्थायां मृत्वा यो देवगतौ देवतयोत्पन्नः स प्रत्यग्रोत्पन्नः 'प्रथमक्षणसुरः'-देवायुःप्रथमसमयवेदको देवः । अत्राऽथवा शब्दो समुच्चये, न पुनर्मतान्तरे; एवं खलुशब्दोऽवधारणार्थो जातावेकवचनं च । ततोऽयमर्थः-ओघत उपशान्ताद्धाक्षयात्पतन्त उपशमकाः, उपशान्ताद्धायां कालकरणेन देवतयोत्पन्ना देवाश्च सप्तकर्मणाम्, तथा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने भवक्षयेण देवतयोत्पन्ना मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनः; नान्ये इति । एतदपि सत्पदचिन्तायां भावितप्रायम्, न पुनर्भाव्यत इति ॥५६०-५६१॥

तदेवं दर्शिता ओघतोऽष्टानामपि मूलकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्वामिनः । अथाऽऽदेशतो व्याचिकीर्षुर्लाघवार्थमतिदेशपूर्वकमाह—

एवं सव्वासु णवरि पढमखणसुरोत्ति णेव वत्तव्वं ।
णरतिग-पणमणवयुरल-अवेअ-मणणाण-संयमेसु ंच ॥५६२॥

(प्रे०) "**एवं सव्वासु**" इत्यादि, तत्रैवंशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वेनानन्तरं प्रथमे **सत्पदद्वार** ओघतः सत्तया प्रतिपादितानां सप्तकर्मणां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिबन्धानामायुषोऽल्पतराऽवक्तव्य-द्विविधस्थितिबन्धयोश्च स्वामिनो यथौघचिन्तायां दर्शितास्तथा "**सव्वासु**" त्ति निरयगत्यो-घादिषु सर्वासु मार्गणासु, वक्तव्या इति शेषः । यासु मार्गणासु येषां कर्मणां भूयस्कारादयो यावन्तः स्थितिबन्धाः सन्तः प्रतिपादितास्तासु मार्गणासु तेषां कर्मणां तत्तद्भूयस्कारादिसत्पदानां स्वामिन ओघवद्वक्तव्या इतिभावः । इत्येवं सामान्यतोऽतिदिष्टे या काचिदतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुराह—"**णवरि**" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः । **भावार्थः पुनरयम्**—अनन्तरोक्तात् 'एवं सव्वासु' इत्यौ-त्सर्गिकवचनात् मनुष्यगत्योघादिपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु ज्ञानावरणादीनामवक्तव्यबन्धसद्भावेन श्रेणितः पतन्त उपशमकाः प्रथमसमयदेवाश्चेति वक्तव्यं भवति, नवरं मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-योनि-मन्मनुष्य-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणानां पञ्चेन्द्रियादिमार्गणावद् देवगतिमनुष्यगतिद्वयव्यापित्वाभावात्तासु भवप्रथमसमयदेवा अवक्तव्य-बन्धस्वामितया नैव वक्तव्याः । कुतः ? देवगतिमनुष्यगतिद्वयव्यापिनीषु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणा-स्वेव मार्गणानुरूपपञ्चेन्द्रियत्वादिविवक्षितैकपर्यायापन्नानां जीवानां तत्तत्कर्मणामवक्तव्यबन्धप्रयो-जकयोः स्थितेरबन्ध-बन्धयोर्लाभेन तास्वेव तेषामवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति । तदेवमपोदिते मनुष्यगत्यादिसप्तदशमार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तकर्मणामवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनः श्रेणितः पतन्त उप-

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्वामित्वप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघत —आयुर्वर्जसप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिन —	श्रेणित. पतन्त उपशमका स्थितिबन्धप्रथमसमये, अबन्धकाले च्युत्वा देवतयोत्पन्ना भवप्रथमसमये वर्तमाना जीवाश्च,
आयुर्वर्जसप्ताना- शेषत्रिविस्थितिविधबन्ध-स्वामिन —	यथासम्भव भूयस्कारा-ऽल्पतरबन्धकतया क्षपको-पशमक-सम्यक्त्वाभिमुखादिजीवान् विहाय संसार-स्था अन्यतमजीवा ,
आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थिति-बन्धस्वामिन —	आयुर्बन्धका ससारस्था अन्यतमजीवा ,

आदेशतः—सर्वासु मार्गणासु ज्ञानावरणादिसर्वमूलप्रकृतीना सर्वेषा भूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदाना स्वामिन —ओघवत् , **केवलम्**—

मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्वमनोवचोयोगभेदौ-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्ययज्ञान-सयमौघ-लक्षणासु सप्तदशमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनः श्रेणितः पतन्त उपशमका एव, न पुनर्देवा इति ।

शमका एव, पञ्चेन्द्रियोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-मत्यादित्रिज्ञान--चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य--सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ--पशमिकसम्यक्त्व--संज्ञा-ऽऽहारिरूपास्त्र-ष्टादशमार्गणासु तु भवप्रथमसमयवर्तिनो देवा अपि। इत्थमेव लोभमार्गणायामपि, नवरं मोहनीय-कर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनः, न पुनः शेषकर्मणामपि, लोभमार्गणायां शेषकर्मणामवक्त-व्यस्थितिबन्धस्यैवासत्त्वात्। सप्तकर्मणां भूयस्कारादिशेषत्रिविधस्थितिबन्धस्वामिनस्तु तत्तन्मार्ग-णागता अन्यतमजीवा भवन्ति। अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरल्पतरस्थितिबन्धस्वामितया प्रति-पतन्त उपशमका वर्जनीयाः, एवं भूयस्कारस्थितिबन्धस्वामितया श्रेणिं समारोहन्तः क्षपका उप-शमकाश्च वर्जनीयाः। आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तु त्रिषष्ट्यभ्यधिकशतमार्गणास्वोघ-वदन्यतमा जीवा ये केचनायुःप्रकृतिबन्धस्वामिनो भवन्ति ते सर्वास्विति विज्ञेयमिति ॥५६१-५६२॥

तदेवमभिहिता आदेशतोऽपि मूलाष्टकर्मणां भूयस्कारादिलक्षणस्थितिबन्धस्वामिनः, तस्मिँश्चाभिहिते गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

साम्प्रतं "काल"-इत्यनेनोद्दिष्टे एकजीवाश्रिते कालद्वारे मूलकर्मणां भूयस्कारादिस्थिति-बन्धानामेकजीवाश्रयं कालं विभणिषुरल्पवक्तव्यत्वादादौ तावदायुषो भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं कालमोघत आदेशतश्चाह—

आउस्स जहण्णियरो अप्पयरस्स हवए मुहुत्तंतो।
कालोऽवत्तव्वस्स उ समयो एमेव सव्वासुं ॥५६३॥
णवरि जहण्णो समयो अप्पयरस्सऽत्थि पणमणवयेसुं।
कायु-रल-विउव्वेसुं आहारदुगे कसायेसुं ॥५६४॥

(प्रे०) "**आउस्स जहण्णियरो**" इत्यादि, आयुःकर्मणः "**अप्पयरस्स**" त्ति अल्पतर-स्थितिबन्धस्य जघन्यः 'इतरः'-उत्कृष्टश्च कालो "**हवए मुहुत्तंतो**" त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवति, एक-जीवाश्रयौ जघन्योत्कृष्टकालौ प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं भवत इत्यर्थः। "**ऽवत्तव्वस्स उ**" त्ति अनन्तरो-क्तस्य 'कालो' इति शब्दस्येतत आरभ्य कालद्वारप्रान्तं यावदनुवर्तनादवक्तव्यस्थितिबन्धस्य कालस्तु "**समयो**" त्ति अजघन्यानुत्कृष्ट एकः समय एव भवति, तुशब्दस्यात्रावधारणार्थत्वात्।

अयम्भावः–आयुर्बन्धः कादाचित्कस्तथा प्रारब्धः सन्नन्तर्मुहूर्तं प्रवृत्त्यैव विरमति। उक्तं **श्रावश्यकचूर्णावुपोद्घातनिर्युक्तौ**–'सव्वजीवाणं आउबंधो अणाभोगभिनिव्वित्तिओ, तेण सो अंतोमुहुत्तिओ' इति। इत्थं च तत्प्रारम्भेऽवक्तव्यस्थितिबन्धो लभ्यते, द्वितीयसमयात्तु समय-समयहीयमानाबाधापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तं यावत्प्रतिसमयं हीन-हीनतरादिस्थितिबन्धलाभान्निरन्तरमल्पतरबन्धाः प्राप्यन्ते, अतोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टो वा कालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्तथाऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य त्वजघन्यानुत्कृष्टः समयप्रमाण एव कालो लभ्यत इति।

ननु सर्वेषामपि जीवानां समयमात्रप्रवर्तनाद् यथाऽऽयुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य कालः सर्वार्थसिद्धदेवानां भवस्थितिवदजघन्यानुत्कृष्टकालतया दर्शितस्तथैवाऽऽयुषोऽल्पतरस्थितिबन्धोऽपि सर्वजीवानामन्तर्मुहूर्तमेव प्रवर्तते, तत्कथममाप्यजघन्यानुकृष्टान्तर्मुहूर्तं नाभिधीयते ? **इति चेद्**, अन्तर्मुहूर्तमात्रस्याऽपि तस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नत्वात्, यत आयुर्बन्धाद्धाऽन्तर्मुहूर्तमात्राऽपि कदाचिद्ध्रस्वा भवति, कदाचित्तु दीर्घा, अत एव **श्रीप्रज्ञापना**यामायुषो जघन्यस्थितिबन्धस्वामित्वं प्रदर्शनावसरे **श्रीमताऽऽर्यश्यामपादेना**ऽऽयुर्बन्धाद्धायाः सर्वमहत्त्वविशेषणमुपात्तम्। **तथा चोक्तम्**–'सव्वमहतीए आउयबंधद्धाए' इति। इत्येवमायुर्बन्धाद्धायाः सर्वत्राऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि कुत्रचिद्ध्रस्वत्वात्, कुत्रचित्तु दीर्घत्वादायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रोऽपि कुत्रचित्स्तोकः, कुत्रचित्त्वधिको भवति, इत्यतोऽसाववक्तव्यस्थितिबन्धकालवदजघन्यानुत्कृष्टो वक्तुमनुचितः, ततश्च जघन्योत्कृष्टभेदेनैव प्रतिपादित इति।

अथ मार्गणास्थानेषु प्रस्तुतस्यायुषो भूयस्कारादेः कालं दिदर्शयिषुर्लाघवार्थ मापवादमतिदिशति–"**एमेव सव्वासु**" मित्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः।

भावार्थस्त्वयम्–पञ्चमनोयोगभेदेष्वेकजीवाश्रयमार्गणाजघन्यकायस्थितेः समयप्रमाणत्वात्तदपेक्षया प्रकृतकालोऽपि समयमात्रः प्राप्यते, एवं वचोयोगभेदेष्वपि। यद्वा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्या-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-वैक्रियौ-दारिककाययोग-क्रोधादिचतुःकषायलक्षणास्वपवादविषयभूतास्वेकोनविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं पूर्वप्रवृत्तमनोयोगादिना जीवेनाऽपि यदा मार्गणाद्विचरमसमय आयुर्बन्धः प्रारभ्यते तदा तस्य प्रस्तुतमार्गणायां समयद्वयमायुर्बन्धः प्रवर्तते, तत्र प्रथमे समयेऽबन्धादुत्तरमायुर्बध्नतोऽवक्तव्यः, द्वितीयसमये तु वेद्यमानायुरवशेषलक्षणाया अबाधाया समयमात्रं परिक्षयात् तदधीनाया आयुषोऽवस्थानयोग्यतालक्षणबध्यमानस्थितेरपि हीनभावादल्पतरबन्धः। तदनन्तरसमयेषु यद्यपि तस्य जीवस्याऽल्पतरस्थितिबन्धो विद्यते एव, तथाऽपि नासौ प्रकृतमार्गणाविषयः, तदानीं मनोयोगादिविवक्षितमार्गणातो बहिर्भावात्तस्य। इत्थं हि तादृशैर्जीवैर्मनोयोगादिमार्गणाद्विचरमसमयारब्धायुर्बन्धमपेक्ष्य मनोयोगाद्येकोनविंशतिमार्गणास्वपि प्रकृतबन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते, न शेषासु। अयमेव समयमात्रोऽल्पतरबन्धकाल आयुर्बन्धाद्धा-

द्विचरमसमये प्रवृत्तमनोयोगादेर्द्वितीयसमयापेक्षयाऽपि प्राप्यते, तृतीयसमये मार्गणाविच्छेदात्। इत्येवमन्यथाऽपि भावनीय इति।

ननु मनोयोगादिमार्गणास्थानानामिव स्त्रीवेदादिमार्गणास्थानानामप्यैकजीवाश्रिता जघन्य-कायस्थितिः समयमात्रा भवति। उक्तं च **जीवसमासे**–'मण-वइ-उरल-विउव्विय-आहारय-कम्म-जोग-अणरि-त्थी। संजमविभाग-विब्भंग-सासाणे एगसमयं तु' ॥२३६॥ इति। तत्कथमेतासु स्त्रीवेदादि-मार्गणास्वप्यायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धकालो जघन्यपदे समयमात्रो नोक्तः? **इति चेद्, उच्यते,** स्त्रीवेदादीनामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्तूपशान्ताद्धाक्षयेण प्रपततां जीवानां स्त्रीवेदोदयाद-नन्तरसमये मरणव्याघाते समुपजात एव प्राप्यते, न च तदानीं तेषामायुर्बन्धसम्भवः, आयुषो जघन्याबाधाया अप्यन्तर्मुहूर्तत्वेन तावदायुष्यवशेषे पूर्वमेवाऽऽयुर्बन्धसमाप्तेः। मनोयोगादि-मार्गणास्तु मरणव्याघाताभावेऽपि स्वीयाद्धाक्षयादुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते नियमेन योगान्तर-तया परावर्तन्ते, अतो मनोयोगादिवर्जासु समयमात्रजघन्यकायस्थितिकास्वपि स्त्रीवेदादिषु मार्ग-णास्वायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य जघन्यकालः समयो नोक्तः, मनोयोगादिषु तूक्तः।

इदन्तु बोध्यम्–सासादनस्य जघन्यकायस्थितिर्यद्यपि मरणव्याघातं विनाऽपि समयमात्रा प्राप्यते, तथापि सासादनमार्गणायां प्रारब्धायुर्बन्धस्य सास्वादनमार्गणायामेव समाप्तेरल्पतरस्थिति-बन्धकालः समयो न प्राप्यते, किन्त्वन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते। **ननु** सासादनमार्गणायां प्रारब्धायु-र्बन्धः कस्मात्सास्वादनमार्गणायामेव समाप्यते, न पुनर्मनोयोगादिवन्मार्गणान्तरं प्राप्याऽपि? **इति चेद्,** आयुर्बन्धस्य घोलनापरिणामप्रायोग्यतया निरन्तरमनन्तगुणक्रमेण संक्लिश्यमानायां मिथ्या-त्वाभिमुखावस्थायां तद्बन्धस्य विरुद्धतया पूर्वमेव तत्समाप्तेरावश्यकत्वादिति ॥५६३-५६४॥

तदेवमुक्त आयुषो भूयस्कारादिस्थितिबन्धकाल ओघत आदेशतश्चोभयथापि। साम्प्रतं शेष-सप्तकर्मणां तं व्याजिहीर्षुरादौ तावदोघत आह—

भूओगाराईणं चउण्ह सत्तण्ह होअइ जहण्णो।
समयो परमो समया भूओगारस्स चत्तारि ॥५६५॥
अप्पयरस्सुक्कोसो समया तिण्णि उ अवट्ठिअस्स भवे।
भिन्नमुहुत्तं परमोऽवत्तव्वस्स समयो णेयो ॥५६६॥

(प्रे०) **"भूओगाराईणं"** इत्यादि, **"सत्तण्ह"** त्ति आयुर्विषयेऽनन्तरमेवोक्तत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां **"भूओगाराईणं चउण्ह"** त्ति भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्य-स्थितिबन्धलक्षणानां चतुर्णां प्रत्येकम् **"होअइ जहण्णो समयो"** त्ति जघन्यः-'ह्रस्वः' कालः समयो भवति। **"परमो"** त्ति 'परमः'-दीर्घः कालः **"समया"** त्ति अस्य परेण

"**चत्तारि**" इत्यनेनान्वयस्ततश्चत्वारः समयाः । कस्येत्याह-"**भूओगारस्स**" त्ति भूयस्कारलक्षणस्थितिबन्धस्य, सप्तप्रकृतीनामित्यनुवर्तते । भूयस्कारादिस्थितिबन्धानां ह्रस्वकालस्तु सुगमः ।

भूयस्कारस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालस्त्वित्थं भावनीयः-कश्चिदेकेन्द्रियो विकलेन्द्रियो वा जीवो भवद्विचरमसमये पूर्वप्रवृत्तजघन्यादिस्थितिबन्धप्रायोग्यविशुद्धेः क्षयात्तं जघन्यादिस्थितिबन्धं समाप्य नव्यं पूर्वापेक्षयाधिकं स्थितिबन्धं प्रारभते तदा तस्य प्रथमसमयभूयस्कारः, तदनन्तरसमये पुनरपि तथास्वाभाव्येन संक्लेशवृद्धेः पूर्वसमयापेक्षयाऽधिकस्थितिबन्धं कुर्वतस्तस्य निरन्तरो द्वितीयसमयभूयस्कारो लभ्यते, ततश्चानन्तरसमये मृत्वा स जीवः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमान एकसामयिक्यां विग्रहगतौ वर्तमानोऽद्याप्युत्पत्तिस्थानमप्राप्तः सन्नसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं स्थितिबन्धं विदधाति, तदा तस्य निरन्तरस्तृतीयसमयभूयस्कारो भवति, तदनन्तरसमये तूत्पत्तिस्थानं प्राप्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणं स्थितिबन्धं कुर्वतस्तस्य निरन्तरश्चतुर्थसमयभूयस्कारबन्धः प्राप्यते; न पुनस्ततोऽप्यूर्ध्वम् । कुतः ? जात्यन्तरपरावृत्त्यादेरसम्भवात् ।

इदमुक्तं भवति-एकेन्द्रियाद्यन्यतमजातीयस्य कस्यापि जीवस्य जात्यन्तरपरावृत्त्यादिकारणान्तराहतेऽपि तथास्वाभाव्येनैवोत्कृष्टतो निरन्तरं समयद्वयमन्यान्यस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायपरावर्तनात् निरन्तरौ भूयस्काराल्पतरौ वा प्राप्येते, तदूर्ध्वं तु जात्यन्तरपरावृत्त्यादिना निरन्तरं भूयस्कारादिप्राप्तिर्भवति, न पुनर्जात्यन्तरपरावृत्त्याद्यभावेऽपि । प्रकृतेऽपि दृष्टान्तीकृतजीवस्यैकेन्द्रियाद्यवस्थायां तथास्वाभाव्येन भूयस्कारद्वयभवनादनन्तरं जात्यन्तरप्राप्तौ विग्रहगतौ पूर्वापेक्षयाऽधिकस्थितिबन्धकरणात्तृतीयो निरन्तरो भूयस्कारो लब्धः, तत ऊर्ध्वमपि संज्ञितयोत्पत्तिस्थानरूपकारणान्तरप्राप्त्याऽधिकस्थितिबन्धभावान्निरन्तरश्चतुर्थो भूयस्कारः प्राप्तः; इत ऊर्ध्वन्तु निरन्तरं पञ्चमे समये न सम्भवति जात्यन्तरप्राप्त्यादिकारणान्तरम् , तदभावे तु संज्ञिभवद्वितीयसमयप्रवृत्तस्याधिकतरस्थितिबन्धस्यैव तृतीयादिसमयेषु प्रवर्तनादवस्थितबन्धः प्रवर्तते, न पुनर्निरन्तरः पञ्चमादिभूयस्कारोऽपि । इत्येवं निरन्तरचतुर्थभूयस्कारस्थितिबन्धादूर्ध्वमनन्तरसमये जात्यन्तरपरावृत्त्याद्यधिकस्थितिबन्धप्रयोजकानामन्यतरस्याऽप्यसद्भावादोघिकभूयस्कारस्थितिबन्धस्योत्कृष्टोऽपि कालश्चत्वारः समया एवाभिहित इति । अनया नीत्योत्तरत्राऽपि भूयस्काराल्पतरयोः समयद्वयकालसद्भावे तौ द्वौ समयौ तत्स्वाभाव्येन संक्लेशपरावृत्त्या भावनीयौ, समयद्वयादधिककालसद्भावे तु तत्र तृतीयादिसमयभूयस्कारादौ जात्यन्तरपरावृत्त्यादेः प्रयोजकता द्रष्टव्येति ।

अथाल्पतरस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालमानमाह-"**अप्पयरस्से**" त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामल्पतरस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालस्त्रयः समयाः । अयमपि यथोक्तनीत्या प्राप्यते, नवरं वैपरित्येन भावनीयः । **तथाहि**-चतुरिन्द्रियादितयोत्पित्सोः कस्यचित्संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवस्य भवद्विचरमसमयेऽन्तर्मुहूर्तात्प्रवृत्तस्थितिबन्धः स्वप्रायोग्यसंक्लेशाद्धाक्षयाद्विरतः सन् पूर्वापेक्षया हीनः प्रवर्तयितुं लग्नः । कस्मात् ? पूर्वापेक्षया विशुद्धस्याभिनवाध्यवसायस्य प्राप्तेः । असौ हीनस्थितिबन्धो-

ऽप्यनन्तरे भवचरमसमये तथास्वाभाव्येनाधिकतरविशुद्धाध्यवसायप्राप्त्या व्यवच्छिन्नः, हीनतरस्थितिबन्धश्च प्रवृत्तः; इत्येवं निरन्तरौ द्वावल्पतरौ तु जात्यन्तरपराष्ट्रत्यादिकारणान्तरं विनैव प्राप्तौ, तदनन्तरसमये तु मृत्वाऽन्तरालगतौ वर्तमानस्योत्पत्तिस्थानं वा प्राप्तस्य तस्य चतुरिन्द्रियादिभवप्रथमसमयादेव चतुरिन्द्रियादिबन्धप्रायोग्यः स्थितिबन्धो भवति, न पुनः पूर्ववद्विग्रहगतावसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्योऽपि; इत्थं त्रय एव निरन्तरा अल्पतरस्थितिबन्धाः प्राप्यन्ते। यदि चासौ प्रागसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सुरासीत्, मृत्वा चासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पन्नस्तर्हि तस्य विग्रहगतावसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्थितिबन्धो जायते, तथापि तत ऊर्ध्वमुत्पत्तिस्थानप्राप्तस्याऽपि तस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यपूर्वप्रवृत्तस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनात् निरन्तरचतुर्थाल्पतरबन्धस्यासम्भव एव। इत्थं ह्येकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां भवप्रथमसमयप्रारब्धस्यैव स्थितिबन्धस्य द्वितीयादिसमयेषु प्रवर्तनात् निरन्तरास्त्रय एवाल्पतरबन्धाः प्राप्यन्ते, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तु केषाञ्चिदेकेन्द्रियविकलेन्द्रियेभ्य आगतानामन्तरालगतौ भवप्रथमसमयेऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्याधिकस्थितिबन्धस्य भावादुत्पत्तिस्थानप्राप्तौ भवद्वितीयसमये संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्याधिकतरस्थितिबन्धस्य च भावादल्पतरबन्धस्योत्कृष्टकालापेक्षया भूयस्कारस्योत्कृष्टबन्धकालः समयाधिकः प्राप्यत इति। इदं हि दिङ्मात्रम्, यतो यथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तत्र तत्रोत्पत्त्या हीनतरस्थितिबन्धभावात् पूर्ववत् त्रिसमया अल्पतरस्थितिबन्धस्य निरन्तरबन्धकालो लभ्यते, तथैकेन्द्रियतया वा द्वीन्द्रियतया वा त्रीन्द्रियतया वोत्पित्सुचतुरिन्द्रियापेक्षयाऽप्यसौ निरन्तरत्रिसमयाल्पतरबन्धकालोऽवाप्यते। एवमेव त्रीन्द्रियादीनपेक्ष्यापि बोद्धव्यम्। भूयस्कारस्यकचतुःसमयोत्कृष्टबन्धकालस्तु तथा नोत्पद्यते। कुतः? तृतीयसमयभाव्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रयुक्तात् निरन्तरप्राप्ततृतीयसमयभूयस्कारादूर्ध्वमप्यव्यवहितोत्तरसमय उत्पत्तिस्थानप्राप्तौ यस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धप्रायोग्यान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धस्य सम्भवात् निरन्तरश्चतुर्थसमयबन्धकालो लभ्यते, असोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिबन्धो द्वीन्द्रियादितयोत्पित्सूनामेकेन्द्रियाणां न भवति, ततश्च तदपेक्षस्य निरन्तरचतुर्थभूयस्कारस्थितिबन्धस्याप्यलाभादुत्कृष्टकालस्त्रयः समया एव सम्भवति, न पुनश्चत्वारः समया इत्यलं विस्तरेण।

अथाऽवस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालमाह–"**अवट्ठियस्स भवे**" इत्यादि, सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य 'परमः'-उत्कृष्टः कालो 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं भवेदित्यर्थः। कुतः? इति चेत्, एकस्य नियतस्थितिबन्धस्योत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं नियमतः स्थितिबन्धान्तरतया परावर्तनात्।

इदमुक्तं भवति–एकैकस्थितिबन्धप्रायोग्यानामध्यवसायानां नियमतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावृत्तिर्भवति, अतस्तन्निबन्धनाः स्थितिबन्धा अप्युत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमवस्थाय परावृत्य पूर्वापेक्षया हीना अधिका वा नियमेन जायन्ते, तथा च सति समयमेकं भूयस्कारस्याल्पतरस्य वा स्थितिबन्धस्य भावादवस्थितस्थितिबन्धो व्युपरमते, इत्येवं प्रागुक्तनीत्याऽवस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव सम्पद्यते, नाधिक इति। अथावक्तव्यस्य प्रकृतबन्धकालमाह–"**वत्तव्वस्स**" इत्यादि,

पूर्वमकारस्य दर्शनात् परमशब्दस्य घण्टालालान्यायेनात्रापि योजनाच्चाऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'परमः'-उत्कृष्टः कालः 'समयः'-एकसमयो ज्ञेयः। ननु अवक्तव्यस्योत्कृष्टबन्धकालोऽपि जघन्यबन्धकालवत् कथं समयमात्रः, न पुनर्द्व्यादिसमयप्रमाणः ? इति चेत्, तत्स्वरूपस्यैव तथात्वात्।

अयम्भावः–प्रकृतकालोऽनन्तरं प्ररूपणीयमन्तरं चैकजीवमपेक्ष्य प्ररूपणीये, किञ्चाबन्धादुत्तरं जायमानस्थितिबन्धः प्रथमसमय एवावक्तव्य उक्तः, तथाभूतोऽवक्तव्यबन्धः काञ्चिदेकां प्रकृतिमपेक्ष्य कस्याप्येकजीवस्य निरन्तरे समयद्वयेऽपि न प्राप्यते, अबन्धापेक्षत्वात्तस्य। अवक्तव्यबन्धादूर्ध्वं द्वितीयसमये यद्यपि स्थितिबन्धो भवति, तर्ह्यपि नासाववक्तव्यः, तत्पूर्वसमयेऽबन्धस्याभावात्, यदि चासत्कल्पनया कस्यचिज्जन्तोः प्रथमसमयेऽवक्तव्यः, द्वितीयसमयेऽबन्धस्तदूर्ध्वं तृतीयसमये पुनर्बन्धभावेनावक्तव्यबन्धलाभस्तदाप्यसौ न निरन्तरः, अवक्तव्यबन्धद्वयस्य मध्य एकसामयिकस्यान्तरालस्य भावात्। इत्येवमेकजीवमाश्रित्यैकां च प्रकृतीमाश्रित्य नैरन्तर्येण समयद्वयमवक्तव्यबन्धस्यालाभ एव, तदा तदधिककालस्य तु का कथा। इत्येवमवक्तव्यबन्धलक्षणकृत एवैकजीवाश्रय एकप्रकृत्याश्रयोऽवक्तव्यस्थितिबन्धकालोऽजघन्यानुत्कृष्टः समयमात्रो भवति। प्रकृतेऽप्येकैकप्रकृतेरेकजीवाश्रितावक्तव्यस्थितिबन्धकालोऽभिधानीयः, अतोऽसौ समयमात्रोऽभिहित इति ॥५६५-५६६॥

तदेवमुक्तः सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकाल ओघतः। अथाऽऽदेशत आह—

भूओगाराईणं चउण्ह सत्तण्हऽणू भवे समयो ।
सव्वासुं, अह परमो भूओगारस्स चउ समया ॥५६७॥
तिरिय-तितस-काय-णपुंस-कसायचउग-दुअणाण-अयतेसुं ।
णयणेयर-अपसत्थतिलेसा-भवियियर-मिच्छेसुं ॥५६८॥

(प्रे०) "**भूओगाराईणं**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**भूओगाराईणं चउण्ह**" त्ति भूयस्कारादीनां चतुर्णां स्थितिबन्धविशेषाणां "**णू भवे समयो**" त्ति पूर्वमकारस्य दर्शनाद् 'अणुः'-जघन्यकालः समयो भवेत्। कासु मार्गणास्वित्याह–"**सव्वासु**" ति यासु मार्गणासु प्रथमे सत्पदद्वारे सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिसन्तस्थितिबन्धाः सन्तोऽभिहितास्तासु सर्वासु मार्गणास्वित्यर्थः। अथैतेषामेव भूयस्कारादिस्थितिबन्धानामुत्कृष्टकालं दिदर्शयिषुरादौ तावत्सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धविषयं तं दर्शयन्नाह–"**अह परमो**" इत्यादिना, तत्राथशब्द आनन्तर्ये, ततः सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धानां जघन्यकालाभिधानानन्तरं प्ररूपयितव्ये तेषामुत्कृष्टकाल आदौ सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धस्य 'परमः'-उत्कृष्टकालः "**चउसमय**" त्ति चत्वारः समयाः। किं सर्वासु मार्गणास्वुत कासुचिदेवेत्याह–"**तिरियं**" त्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां, त्रिषु त्रस-

कायमार्गणाभेदेषु, काययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुरचक्षुर्दर्शना-ऽप्रशस्तकृष्णादित्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणास्वित्येतमेतास्वेकविंशतिमार्गणासु ।

अयम्भावः—एतासु तिर्यग्गत्योघाद्येकविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाद्यन्यतमजातीयजीवानां पञ्चेन्द्रियजातीयजीवानां च समावेशेनैकेन्द्रियादितश्च्युत्वा पञ्चेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानानामपि न प्रकृतमार्गणातः प्रच्युतिर्भवति, तथा च सत्योघवदेकेन्द्रियादि-भवचरमद्विचरमसमययोः पञ्चेन्द्रियभवप्रथमकयोरन्तरालगत्युत्पत्तिस्थानप्राप्तिसमययोश्चेत्येव चतुर्षु समयेषु निरन्तरं भूयस्कारबन्धानां लाभसम्भवात् सप्तानां भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवच्चतुःसमयप्रमाणोऽभिहितः । विशेषभावनात्वोघवत्स्वयमेव द्रष्टव्येति ॥५६७-५६८॥

भूगारस्स तिसमया पणिंदितिरियचउगे पणिंदितिगे ।
ओरालियमीसम्मि य थी-पुम-अमणेसु आहारे ॥५६९॥

(प्रे०) "**भूगारस्से**" त्यादि, प्रकृतानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं "**भूगारस्स**" त्ति भूयस्कारलक्षणस्य स्थितिबन्धस्य "**तिसमय**" त्ति उत्कृष्ट एकजीवाश्रयः कालस्त्रयः समया इत्यर्थः, । कासु मार्गणास्वित्याह—"**पणिंदितिरियचउगे**" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्चतुष्के, पञ्चेन्द्रियजातिभेदत्रिके, औदारिकमिश्रकाययोगे । चः समुच्चये । स्त्रीवेद-पुंवेदा-ऽसंज्ञिष्वाहारि-मार्गणायां चेत्यर्थः । **तत्र**—चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, त्रिषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु स्त्रीवेद-पुरुषवेदमार्गणयोश्च प्रत्येकं संज्ञिनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च जीवानां समावेशादसंज्ञिभ्यः संज्ञितयो-त्पद्यमानानां प्रथमद्विसमयभूयस्कारावसंज्ञिभवचरमसमयद्वयसत्कौ, तृतीयसमयभूयस्कारस्तु संज्ञिभव-प्रथमसमयसत्कः, इत्येवमुत्कृष्टतस्त्रिसमयाः सप्तानां निरन्तरभूयस्कारबन्धकालः प्राप्यते । असंज्ञि-मार्गणायां तु संज्ञिनाम समावेशेऽप्यन्यान्यजातीयानां जीवानां समावेशेनैकेन्द्रियादिभ्यो द्वीन्द्रिया-दितयोत्पद्यमानेजीवैर्निरन्तरतृतीयसमयकृतभूयस्कारमपेक्ष्यायं बोद्धव्यः । औदारिकमिश्रकाययोग-मार्गणायां तूभयथाऽप्युपपद्यत इति यथेच्छं भावनीय इति ॥५६९॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सुहलेसा-सम्म-खइ-उवसमेसुं ।
वेअगसण्णीसु गुरू भूओगारस्स समया दो ॥५७०॥

(प्रे०) "**णाणतिगे**" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणारूपे ज्ञानमार्गणात्रिके, अवधिदर्शनमार्गणायाम् । चः समुच्चये । तेजः-पद्म-शुक्लाख्यत्रिशुभलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्य-क्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणयोश्चेत्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं "**गुरू भूओगारस्स समया दो**" त्ति सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिबन्धस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ । एतासु प्रत्येकं संज्ञ्यसंज्ञिनां भिन्नभिन्नजातीयानां वा जीवानामसमावेशेन

जात्यन्तरपरावृत्त्यादिकारणान्तरसव्यपेक्षस्तृतीयसमयभूयस्कारो न लभ्यत इत्यतस्तथास्वाभाव्येन संक्लेशक्षयप्रयुक्तद्विसमयभूयस्कारमपेक्ष्य प्रकृतकालो भावनीयः। यद्वा मतिज्ञानादिमार्गणागतानां देशसंयतादिजीवानां देवगतावुत्पत्त्या तत्र प्रथमसमये भूयस्कारबन्धसम्भवेऽपि तथाविधानां प्राग्भवे भवचरमसमय एकस्यैव भूयस्कारस्य सम्भवात् तदपेक्षया प्रकृतबन्धकालो भावनीयः, केवलं संज्ञि-मार्गणायां मार्गणान्तरादागच्छतामन्तरालगतावेकं समयमुत्पत्तिस्थानप्राप्तौ च द्वितीयसमयमित्येवं समयद्वयं नैरन्तर्येण भूयस्कारबन्धसम्भवात् प्रकारान्तरेणाऽपि द्वौ समयौ प्रकृतबन्धकालो द्रष्टव्यः। **केचित्तु** स्वस्थाने देशसंयमाद्यवस्थायां कालं कृत्वा देवगतावुत्पद्यमानानामपि मनुष्यादिभवद्वि-चरम-चरमसमययोस्तथास्वाभाव्येन भूयस्कारद्वयस्याविरोधात्प्रकृतसर्वमार्गणासु निरन्तरत्रिसमय-भूयस्कारमपीच्छन्तीति ॥५७०॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयन्नेकामार्यामाह—

कम्मण-गयवेएसुं सुहुमा-ऽणाहारगेसु खलु समयो ।
भूओगारस्स गुरू सेसासु भवे दुवे समया ॥५७१॥

(प्रे०) "**कम्मणगयवेएसु**" इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणयोः सूक्ष्मसम्प-रायसंयमा-ऽनाहारकमार्गणयोश्च प्रत्येकं मूलसप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिबन्धस्य "**गुरू**" त्ति एक-जीवाश्रयो 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालः "**खलु समयो**" त्ति खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, एकः समय एव भवतीत्यर्थः। **तत्र**–कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोरेकेन्द्रियादिभवश्च्युत्वा द्वीन्द्रियादितयो-त्पद्यमानानां विग्रहगतौ प्रथमसमयजायमानबन्धमपेक्ष्य यदा द्वितीये समयेऽधिकबन्धकरणे भूयस्कार-स्थितिबन्धो भवति, तदा एकसमयभूयस्कारः प्राप्यते। अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोरपि प्रत्येकं स्थितिबन्धानां मरणव्याघाताभावेऽन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थिततया प्रवर्तनात् श्रेणितोऽद्धाक्षयेण क्रमशः प्रतिपतन्तं जीवमपेक्ष्य स्थितिबन्धप्रारम्भप्रथमसमयसत्क एकसामयिको भूयस्कारस्थितिबन्धः प्राप्यते, तदूर्ध्वं द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितस्थितिबन्ध एव। मरणव्याघातेन निरन्तरं सम्भवन् द्वितीयसमय-भूयस्कारस्तु नापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोः, किन्तु पुरुषवेदा-ऽसंयममार्गणयोरित्येवमेकसमया-दधिककालस्यासम्भव एव इति। उक्तशेषमार्गणास्वाह–"**सेसासु**" इत्यादिना 'भूओगारस्स गुरू' इत्यस्य देहलीदीपकन्यायेनात्रापि योजनाच्छेषासु नरकगत्योघाद्येकत्रिंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिबन्धस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवेदित्यर्थः।

तत्र शेषमार्गणा इमाः–अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगति-भेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियजातिभेदाः, पृथिवीकायादिवायुकायान्तानां प्रत्येकं सप्त सप्तेत्यष्टाविंशतिर्भेदाः, वनस्पतिकायमार्गणासत्का एकादश भेदाः, दश मनोयोगवचोयोगमार्गणाभेदाः, औदारिक-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग–मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदाश्चेति।

नन्वेतासु निरयगत्योघादिशेषमार्गणासु कस्मात्सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टो भूयस्कारस्थितिबन्धकालो द्वौ समयावेव, न पुनस्तदधिकस्त्रयः समयाश्चत्वारः समया वा ? **इति चेद्**, उच्यते, निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कारो हि प्राग्दर्शितनीत्या य एकेन्द्रियादयो जीवा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियादितया जात्यन्तरे समुत्पद्यन्ते तेषां जायते, जात्यन्तरपरावृत्त्यादेर्विनाय तथास्वाभाव्येन निरन्तरं तृतीयादेर्भूयस्कारबन्धस्याऽल्पतरबन्धस्य वाऽसम्भवात् । जात्यन्तरपरावृत्तिर्हि भवक्षयमविना भाविनी । इत्थञ्च निरयगत्योघादिषु यासु मार्गणासु भवक्षयेण सममेव मार्गणाक्षयोऽपि नियमेन जायते तासु न सम्भवति निरन्तरस्तृतीयसमयभूयस्कारस्थितिबन्धः, अतस्तासु सर्वनिरयभेद-सर्वदेवभेद-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणासु द्वौ समयावेव निरन्तरभूयस्कारकालो दर्शितः, न पुनस्त्रयः समयाः चत्वारः समया वा, तृतीयसमयनिरन्तरभूयस्कारासम्भवे चतुर्थसमयनिरन्तरभूयस्कारस्यापि सुतरामसम्भवात् । **न च** मा भवतु निरयगत्योघादौ मरणव्याघातेन मार्गणाविच्छेदान्निरन्तरस्तृतीयसमयभूयस्कारः, किन्तु ये सम्यग्दृशो नारकादयो जीवास्तथास्वाभाव्येन निरन्तरसमयद्वयं भूयस्कारौ निर्वर्त्यापकृष्टतरं गुणस्थानकान्तरं स्पृशन्ति, तेषां तत्र नियमतोऽधिकस्थितिबन्धभावात्प्राप्स्यति निरन्तरस्तृतीयसमयभूयस्कार इत्याशङ्कनीयम् । यतो मिथ्यात्वादितथाविधगुणान्तरपरावृत्तेरनन्तरपूर्वसमयेषु तादृशजीवानां तथाविधहीनतरगुणान्तराभिमुखतयाऽऽन्तर्मुहूर्तिकस्थितिबन्धा एव प्रवर्तन्ते, न पुनः सामयिकस्थितिबन्धाः । इत्थं च तादृशां जीवानां निरन्तरद्विसमयभूयस्कारावेव न प्राप्येते । येषां पुनस्तथास्वाभाव्येन द्विसामयिकः सामयिको वा भूयस्कारो जायते ते तु तदनन्तरसमये तथाविधहीनतरगुणान्तरमेव न गच्छन्ति, तत्कुतो निरयगत्योघादिमार्गणासु तादृशसम्यग्दृष्ट्यादिजीवानपेक्ष्यापि निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कारस्थितिबन्धसम्भवः, न कुतश्चिदपि । अत एव सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन-मार्गणयोरपि प्रकृतकालो समयद्वयमेवोक्तः । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रकृतग्रन्थाधिकृतविवक्षया भवप्रत्यय-वैक्रियकाययोगोपेतजीवानामेव प्रवेशात्तेषां च मरणासम्भवेन जात्यन्तरपरावृत्तेरप्यसम्भवान्न प्राप्यत उक्ताऽधिको भूयस्कारस्थितिबन्धकालः । शेषेषु मनुष्यगतिभेदचतुष्क-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वविकलेन्द्रिय-सर्वपृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तभेदेषु यद्यपि भवक्षयेण समं मार्गणाक्षयो नाऽपि भवति, तथापि यदा भवक्षयेण समं जात्यन्तरपरावृत्तिर्जायते तदा तु नियमेन मार्गणाक्षयोऽपि जायते, ततश्च न लभ्यते, निरयगत्योघादिमार्गणावन्निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कारः, तदभावे चतुर्थसमयभूयस्कारश्चेति ॥५७१॥

तदेवमुक्तो मूलसप्तप्रकृतिसत्कभूयस्कारस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकाल आदेशतः । साम्प्रतं सप्तानामल्पतरस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालं दिदर्शयिषुराह—

तिरियपणिंदि-तसेसुं सव्वेसुं काय-उरलमीसेसुं ।
थी-पुरिस-णपुंसेसुं कसायचउग-दुअणाणेसुं ॥५७२॥

**अयत-णयणियर-असुहतिलेसा-भवियियर-मिच्छ-अमणेसु ।
आहारगे य जेट्ठो तिखणाऽप्पयरस्स सत्तण्हं ॥५७२॥**

(प्रे) "**तिरियपणिंदितसेसु**" इत्यादि, सर्वेषु तिर्यग्गतिभेदेषु, सर्वेषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु, **सर्वेषु त्रसकायभेदेषु,** काययोगसामान्यौ-दारिकमिश्रकाययोगयोः, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेदेषु, **कषायचतुष्क-मत्यज्ञान**-श्रुताज्ञानेष्वसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णाद्यशुभत्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्य-**मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिष्वाहारके** चेत्येवं समुदितासु त्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां **मूलप्रकृतीनां** प्रत्येकमल्पतरस्थितिबन्धस्य 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः कालः "**तिखणा**" त्ति त्रयः समयाः, भवतीति शेषः। तत्र प्रथमौ द्वौ समयौ त्वोघवत्तथाऽऽयाभाव्यप्रयुक्तावेव, तृतीयसमया-ऽल्पतरबन्धोऽपि तथैव, नवरं यथासम्भवं संज्ञिपञ्चेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितयोत्प-द्यमानानां तत्तन्मार्गणागतानां जीवानां भवप्रथमसमयस्थितिबन्धमपेक्ष्य विज्ञेयः। **ननु** भवतु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु नानाजातीयजीवानां प्रवेशेन जात्यन्तर उत्पत्त्यापि तिर्यग्गत्योघादिमार्गणा-**स्वेवोत्पत्तेः** सम्भवाज्जात्यन्तरोत्पत्तिप्रयुक्तस्तृतीयसमयाऽल्पतरः; ततश्चाल्पतरस्योत्कृष्टो बन्धकाल-स्त्रयः समयाः, कथं पुनः सर्वेषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु स्त्रीवेदमार्गणायां पुंवेदमार्गणायामपि प्रकृत-**कालस्त्रिसमयः** सम्पद्यते? **इति चेद्, उच्यते,** पञ्चेन्द्रियजातिमार्गणायां संज्ञिनामिवाऽ-संज्ञिजीवा-**नामपि प्रवेशो** विद्यते, ते चासंज्ञिनो यद्यपि पञ्चेन्द्रियजातीया एव, तथाऽपि तेषामेकेन्द्रियादिवद् **विवक्षाधीना** पृथग्जातिरेवाङ्गीकर्तव्या, एकेन्द्रियादिवन्मरणं विना संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामप्यसंज्ञिपञ्चे-**न्द्रियत्वेनाभवनात्**, विजातीयस्य **सहस्रसागरोपम**त्रिसप्तभागादिप्रमाणस्य नियतस्थितिबन्धविशेषस्यैव भावाच्च। इत्थं च भवचरमसमयद्वयेऽल्पतरस्थितिबन्धद्वयं कृत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतया ये संज्ञिपञ्चे-न्द्रियजीवा उत्पद्यन्ते, तेषां तत्र भवप्रथमसमयेऽल्पतरबन्धः प्राप्यते, स च प्रकृतपञ्चेन्द्रियमार्गणागत-जीवमपेक्ष्य निरन्तरस्तृतीयाऽल्पतरबन्ध एव। एवमेव पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोः स्त्रीवेद-पुंवेदमार्गणाद्वये च विज्ञेयम्, स्त्रीवेदमार्गणादावपि **पञ्चसङ्ग्रहाद्य**भिप्रायेणासंज्ञिनामपि प्रवेशात्। उक्तं च **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकाकारैः**—

'यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ तथाऽपि स्त्री-पुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्तौ' इति।

सप्ततिकाचूर्णिकारस्तु—"असन्निपज्जत्तगस्स तिहिं वि वेएहिं" इति वचनादसंज्ञिन्यपि लब्धिपर्याप्तके यथायोगं वेदत्रयस्याप्युदयमिच्छति.' इत्यादि **सप्ततिकाभाष्यवृत्तौ**।

यदि चाभिप्रायान्तरेणासंज्ञिनां केवलं नपुंसकवेदमधिकृत्य प्रकृताल्पतरबन्धकालश्चिन्तनीय-स्तदा त्वमौ मार्गणाद्वये समयद्वयमेव प्राप्येतेत्येवं विवक्षाभेदेनाऽभिप्रायभेदेन वा स्वयमेव यथा-सम्भवं विभावनीयः प्रस्तुतकाल इति ॥५७२-५७२॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तप्रकृतिसत्काल्पतरस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालमाह—

कम्मण-गयवेएसुं सुहुमा-ऽणाहारगेसु होइ खणो ।
अप्पयरस्सुक्कोसो सेसासु गुरू दुवे समया ॥५७४॥

(प्रे०) **"कम्मणगयवेएसु"** इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणयोः सूक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनामल्पतरस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः 'क्षणः'-समयो भवति । अयं हि प्रकृतमार्गणास्वेव प्राग्दर्शितभूयस्कारस्थितिबन्धस्यैकसमयकालवद्भावनीयः । उक्तशेषमार्गणास्वाह-**"सेसासु गुरू दुवे समया"** त्ति अनन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघादिसप्तत्रिंशन्मार्गणावर्जासु शेषासु त्रयस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनामल्पतरस्थितिबन्धस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवतीत्यर्थः । तत्र **शेषमार्गणा नामत एताः**-अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद् देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियजातिभेदाः, नव विकलेन्द्रियजातिभेदाः, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणासत्का एकोनचत्वारिंशद्भेदाः, पञ्चमनोयोगभेदाः, पञ्चवचोयोगभेदाः, औदारिक-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदाः, मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिको-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु कुतो द्वौ समयावेव ? उच्यते, निरन्तरतृतीयसमयाल्पतरस्थितिबन्धो जात्यन्तर उत्पत्त्यैव लभ्यत इति प्रागसकृद्भावितम् । स च प्रकृते न सम्भवति, जात्यन्तर उत्पादे प्रकृतनरकगत्योघादिमार्गणानामेव विच्छेदाद्, इत्थं हि द्विसामयिकभूयस्कारस्थितिबन्धकालवदविकृतशेषमार्गणासु द्विसामयिकाल्पतरबन्धकालोऽपि भावनीय इति ॥५७४॥

अथ सप्तप्रकृतीनामेवावस्थिताऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोरुत्कृष्टकालं मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

कम्म-ऽणाहारेसु अवट्ठिअस्स तिखणा गुरू णेयो ।
सेसासु मुहुत्तंतो जहऽवत्तव्वो तह खणो से ॥५७५॥

(प्रे०) **"कम्मणाहारेसु उ"** इत्यादि, तत्र तुकारो विवक्षाविशेषद्योतनार्थः । ततो विवक्षाविशेषेण कार्मणकाययोगा-नाहारकमार्गणयोर्ज्ञानावरणादीनामवस्थितस्थितिबन्धस्य 'त्रिक्षणाः'-त्रयस्समयाः **"गुरू"** त्ति उत्कृष्टबन्धकालो ज्ञेयः । विवक्षाविशेषस्त्वत्र मार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिबन्धस्याऽप्यनन्तरपूर्वसमये मार्गणान्तरभाविस्थितिबन्धेन तुल्यत्वेऽवस्थितस्थितिबन्धत्वविवक्षणलक्षणः ।

एतदुक्तं भवति-मार्गणास्थानेषु भूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदत्वं विवक्षितमार्गणायामेव पूर्वसमयजातेन स्थितिबन्धादिना सहाधिक्यतुल्यत्वादिना तदुत्तरसमयभाविस्थितिबन्धस्येदानीं यावद् विवक्षितम्, तदपेक्षया स्वामित्वादिप्ररूपणं कृतम्, उत्तरत्र कालादिप्ररूपणमपि तदपेक्षयैव करिष्यते च । अनया विवक्षया देवगत्योघादिमार्गणास्थानेषु ज्ञानावरणादीनामवक्तव्यस्थितिबन्धाभाववन्न लभ्यते कार्मणकाययोगादिमार्गणाद्वयेऽपि मार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिबन्धो भूयस्कारादितया,

अवस्थितस्थितिबन्धतया वा, तदभावेऽवस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टतस्त्रिसमयकालश्च। कथम्? एक-जीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टावस्थानस्यैव त्रिसमयमात्रत्वात्। एवमपि **"कम्माणाहारेसु उ अवट्ठि-अस्स तिरवणा गुरू णेयो"** इत्यभिधानाच्च पूर्वोत्तरग्रन्थविरोधः। कथम्? इति चेद्, पूर्वोत्तरग्रन्था-ऽधिकृतविवक्षया कार्मणकाययोगादिमार्गणाद्वये ज्ञानावरणादीनामवस्थितस्थितिबन्धोत्कृष्टकालस्य द्विसमयमात्रस्य स्पष्टत्वेऽपि समयत्रयस्य प्रतिपदानं तु विवक्षाविशेषेणैव। विवक्षाविशेषेण समय-त्रयप्रतिपादनस्य बीजन्तु विवक्षाविशेषेणाऽपि भूयस्कारादिस्थितिबन्धप्ररूपणसम्भवप्रदर्शनम्, मार्ग-णान्तरचरमसमयभाविस्तोकादिस्थितिबन्धमपेक्ष्य तदुत्तरं विवक्षितमार्गणाप्रथमसमये नैरन्तर्येण जातस्य समयादिनाऽधिकादिस्थितिबन्धस्यापि भूयस्कारादिस्थितिबन्धत्वं विवक्ष्य भूयस्कारादि-स्थितिबन्धप्ररूपणा सम्भवतीति भावः। केवलं नायं प्रकारोऽत्र मुख्यवृत्त्याऽधिकृतः। कार्मणकाय-योगादिमार्गणाद्वये ज्ञानावरणादीनामवस्थितस्थितिबन्धं विहायान्यत्र तस्यानधिकृतत्वेन गौणत्वात्।

एवं हि द्विविधविवक्षया भूयस्कारादिस्थितिबन्धप्ररूपणस्य सम्भवेऽप्येकविधविवक्षा मुख्यत-याऽऽदृता, अन्यविधविवक्षा तु गौणभावेनैव दर्शिता, कार्मणकाययोगादिमार्गणाद्वये ज्ञानावरणादी-नामवस्थितस्थितिबन्धलक्षणे स्थानविशेष एव तस्याधिकृतत्वात्।

वस्तुतस्तु—कार्मणकाययोगादावस्थितस्थितिबन्धलक्षणे स्थानविशेषे गौणभावेनाभ्युपगता विवक्षैव मुख्यवृत्त्या मार्गणान्तरेष्वादरणीयोचिता प्रतिभाति, न पुनर्या मुख्यतया निरयगत्योघादि-सर्वमार्गणास्वधिकृता सा, तया विवक्षया प्रतिमार्गणं मार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिबन्धस्य भूय-स्कारादिचतुर्विधस्थितिबन्धानामन्यतमतयाऽप्राप्तेः तदप्ररूपणरूपन्यूनताभावात्।

ननु अयमेव प्रकारो गौणः, यः पुनः कार्मणकाययोगादिमार्गणाद्वये समयत्रयावस्थितस्थिति-बन्धकालस्योत्पादको भवता गौणतयोच्यते, स एव मुख्य इत्यवधार्यताम्, तथाऽप्युक्तसर्वग्रन्थो-पपत्तेः, विहाय देवगत्योघादौ ज्ञानावरणादीनामवक्तव्यस्थितिबन्धप्रतिषेधम्। स तु 'विवक्षितमार्ग-णायां तत्रैव भाविनं स्तोकादिस्थितिबन्धमपेक्ष्य तदनन्तरभाविस्थितिबन्धानां भूयस्कारादिस्थिति-बन्धत्वम्, न पुनर्मार्गणान्तरभाविस्तोकादिस्थितिबन्धाद्यपेक्षया' इत्येवंलक्षणेन गौणीभूतेन विवक्षा-विशेषेणैवोपपद्येत, न च स्यादुक्तन्यूनता? **इति चेत्, सत्यम्,** निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासूक्तसर्व-सत्पदादिप्ररूपणस्य, एवं कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरवस्थितस्थितिबन्धविषयकप्ररूपणस्य देवगत्यो-घादिमार्गणादावक्तव्यस्थितिबन्धप्रतिषेधस्य च भवदुक्तनीत्योपपत्तेरपि कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये 'कम्मा-ऽणाहारेसुं ण होअए अंतरं चेव' इत्यनेन वक्ष्यमाणस्यैकजीवाश्रयभूयस्कारादिस्थितिबन्धान्तर-प्रतिषेधस्यानुपपत्तिरेव, अतस्तदर्थमपि देवगत्योघाद्युक्ताऽवक्तव्यस्थितिबन्धप्रतिषेधोपपत्तिवद् विवक्षा-न्तरानुसरणमावश्यकं स्याद्, न चैतद्युक्तम्, विवक्षान्तरेणाऽपि भूयस्कारादिस्थितिबन्धप्ररूपणं सम्भवतीत्येतावन्मात्रप्रदर्शनार्थं कुत्रचिद्देवगत्योघादौ केवलेऽवक्तव्यस्थितिबन्धप्रतिषेधे तदनुसरणस्य पर्याप्तत्वेन पुनः कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोः भूयस्काराद्यन्तरप्रतिषेधे तदनुसरणस्य व्यर्थत्वा। इत्यतः

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदानामेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

कालः-	भूयस्कारस्थितिबन्धस्य			△	अल्पतरस्थितिबन्धस्य			अवस्थितस्य	
जघन्यतः- समयः		ओघवत् समय	समय	समय	ओघवत्: समयः	समय	समय	समय	ओघवत् समयः
उत्कृष्टत - ३ समया		४ समया	१ समय	२ समयौ	३ समयाः	१ समय	२ समयौ	३ समय,	अन्तर्मुहू०
गति०	सर्वपञ्चेन्द्रिय तिर्यग्० ४	तिर्यगोघ० १		शेष० ४२	सर्वतिर्यग्गति भेद० ५		शेष० ४२		सर्व० ४७
इन्द्रिय०	सर्वपञ्चेन्द्रिय ३			शेष० १६	सर्वपञ्चेन्द्रि ३		शेष० १६		सर्व०-१९
काय०		सर्वत्रस० ३		शेष० ३९	सर्वत्रस० ३		शेष० ३९		सर्व० ४२
योग०	औदारिक-मिश्र० १	काययोगौघ० १	कार्मण १	शेष० १५	काययोगौघ० औदारिक-मिश्र० २	कार्मण० १	शेष० १५	कार्मण० १	शेष० १७
वेद०	स्त्री० पु० २	नपुं० १	अवेद० १		त्रिवेद० ३	अवेद० १			सर्व० ४
कषाय०		सर्व० ४			सर्व० ४				,, ४
ज्ञान०		मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २		मत्यादि ★ ४ विभङ्ग १	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २		शेष० ५		,, ७
संयम०		असंयम० १	सूक्ष्मसम्पराय० १	शेष० ५	असंयम० १	सूक्ष्मस० १	शेष० ५		,, ७
दर्शन०		चक्षु अचक्षु २		अवधि० ★ १	चक्षु अचक्षु २		अवधि० १		,, ३
लेश्या०		अशुभ० ३		शुभ० ★ ३	अशुभा० ३		शुभ० ३		,, ६
भव्य०		सर्व० २			सर्व० २				,, २
सम्य०		मिथ्यात्व० १		शेष० ★ ६	मिथ्यात्व० १		शेष० ६		,, ७
सञ्ज्ञी०	असञ्ज्ञी० १			सञ्ज्ञी० ★ १	असञ्ज्ञी १		सञ्ज्ञी० १		,, २
आहारी०	आहारक० १		अनाहा० १		आहारी० १	अनाहा १		अना० १	आहा० १
सर्वमार्गणा - १२		२१	४	१३३	३३	४	१३३	२	१६८
गाथाङ्का -	५६७-५६९-	५६७-५६८	५६७-५७१	५६७ ७०-७१	५६७ ७२-७३	५६७-७४	५६७-७४	५६७-७५	५६७-७५

△ **अवक्तव्यस्थितिबन्धो** यत्र सन् तत्र सर्वत्र—ओघतो मनुष्यगत्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणास्थानेषु च तस्य प्रस्तुतकालोऽजघन्यानुत्कृष्ट समयमात्र. (गाथा—५६७–५७५)।

★ **केवित्तु**—मति-श्रुताऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन--शुभलेश्यात्रिक--सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ--पशमिक-क्षायोपशमिक-सञ्ज्ञिलक्षणासु द्वादशमार्गणासूत्कृष्टकालस्त्रयः समया (७५ गाथावृत्तौ)।

आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोरेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रकम्		
अवक्तव्यस्य	**ओघत.** सर्वमार्गणास्थानेषु च जघन्योत्कृष्टोभयथा समयमात्र ।	गाथा-
अल्पतरस्य	सर्वमनोवचोयोगभेद-काययोगौघा-ऽऽहारक-तन्मिश्रौ-दारिक-वैक्रियकाययोग क्रोधादिकषाय-चतुष्कलक्षणासु १६ मार्गणासु जघन्यत समय, उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम् । **ओघत** शेषमार्गणासु च जघन्योत्कृष्टोभयथाऽन्तर्मुहूर्तम् ।	५६३ ५६४

कार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयेऽवस्थितस्थितिबन्धविषयकप्रतिपादन एव मार्गणान्तरचरमसमयभावि-स्तोकस्थितिबन्धेन तुल्यत्वादिना तदुत्तरप्रवृत्तमार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिबन्धस्याऽपि भूयस्कारादि-त्वमित्येवंरूपा विवक्षा तादृग्विवक्षया प्ररूपणस्य सम्भवमात्रप्रदर्शनार्थं गौणतयाऽऽदृता, अन्यत्र तु सर्वत्र देवगत्योघादवक्तव्यस्थितिबन्धप्रतिषेधिका विवक्षैवाङ्गीकृता, इति सैव मुख्यरूपेण विज्ञेया, तयैव पूर्वोत्तरग्रन्थो सङ्गमनीयः, विहाय कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयेऽवस्थितस्थितिबन्धविषयकप्ररू-पणमित्यलं पल्लवितेनेति ।

अनन्तरोक्तमार्गणाद्वयवर्जशेषमार्गणास्वाह–**"सेसासु मुहुत्तंतो"** त्ति सप्तमूलप्रकृतीनामव-स्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः शेषास्वपर्याप्तत्रसगतमार्गणासु प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तम् । अवस्थितबन्धकालस्त्वोघवत्सुगमः । अथावक्तव्यस्थितिबन्धमाह–**"जहऽवत्तव्वो"** इत्यादिना, तत्र **"जह"** त्ति 'यत्र'-यासु मार्गणासु **"वत्तव्वो"** त्ति अकारस्य दर्शनात्प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धः प्राक् प्रथमे **सत्पदद्वारे** सत्तयाऽभिहित इत्यर्थः । **"तह"** त्ति 'तत्र'-तासु मनुष्यगत्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु **"खणो से"** त्ति तस्यावक्तव्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालः 'क्षणः'-एकसमयो ज्ञेयः । **अयम्भावः**–अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिभेदेषु तथैव पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ-पर्याप्तत्रस-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽपगत-वेद-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वो-पश-मिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदेषु च सप्तानामपि प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकाल एकः समयः, लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकाल एकसमयश्च । शेष-मार्गणासु शेषकर्मणां चावक्तव्यस्थितिबन्धस्यैवासम्भवादसौ नोक्त इति । वस्तुतोऽवक्तव्यस्या-जघन्यानुत्कृष्टकाल एक समयः, यद्यप्येव तथापि प्राग् लाघवार्थं भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिबन्धानां प्रत्येकं जघन्यकालं समयमात्रमभिधाय तदनन्तरं भूयस्कारादिबन्धानामुत्कृष्टकालस्य भेदेनाभिधाने स्यादाशङ्का-'अवक्तव्यस्थितिबन्धस्योत्कृष्टः कालः कियान्' इत्यतोऽसौ प्राग् जघन्यव्यपदेशेनाभि-हितोऽप्यत्रोत्कृष्टव्यपदेशेन पुनरप्यभिहित इति ॥५७५॥

तदेवं प्रतिपादित आयुर्वर्जशेषसप्तकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालो-ऽपि मार्गणास्थानेषु । तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं तृतीयमेकजीवाश्रयं कालद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे तृतीयमेकजीवाश्रयकालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्तेऽन्तरद्वारे मूलप्रकृतिमङ्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धानामेकजीवाश्रितमन्तरं प्ररूपयिषुराद्यौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह अंतरं खलु भूगार-प्पयर-ऽवट्ठिआण भवे ।
समयो हस्सं परमं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५७६॥
सत्तण्ह मुहुत्तंतोऽवत्तव्वस्संतरं लहु णेयं ।
जेट्ठं अद्धपरट्टो देसूणो पोग्गलाण भवे ॥५७७॥
आउस्स अंतरं खलु पयाण दोण्ह वि लहु मुहुत्तंतो ।
उक्कोस्सं विण्णेयं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥५७८॥

(प्रे०) **"सत्तण्हं अंतरं"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारा-ल्पतरा-ऽवस्थितलक्षणानां स्थितिबन्धानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयमन्तरं खलु भवेत् । कियदित्याह-**"समयो हस्सं"** ति 'हस्वं'-जघन्यं 'समयः'-एकसमयो भवेत्, **"परमं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं"** ति तेषामेव भूयस्कारादिस्थितिबन्धानां 'परमम्'-उत्कृष्टमन्तरं 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

इमेऽत्रोपपत्तिपन्थानः-कस्यचिद्देशसंयतादेर्भवद्विचरमसमये पूर्वस्थितिबन्धापेक्षयाऽधिकस्थितिबन्धो जातस्ततस्तस्य भूयस्कारस्थितिबन्धोऽभूत् , ततस्तु भवचरमसमये तावन्मात्रः स एव स्थितिबन्धः प्रवृत्त इत्येवं भवचरमसमये तस्याऽवस्थितो नाम स्थितिबन्धोऽभूत् , तदूर्ध्वं तु कालकरणेन देवगतावुत्पन्नस्य तस्य तत्राऽसंयमावस्थायां प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात् पूर्वभवचरमसमयापेक्षया संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धः प्रवृत्तः, अतस्तदानीं तस्य जन्तोः पुनरपि भूयस्कारस्थितिबन्धः प्राप्तः । एवं तस्य पूर्वभवद्विचरमसमयजातोत्तरभवप्रथमसमयजातौ भूयस्कारबन्धावेकसामायिकेनावस्थितस्थितिबन्धेनान्तरितावभूताम् । एतादृशजीवेन कृतस्यैकसामयिकावस्थितस्थितिबन्धान्तरितभूयस्कारस्थितिबन्धद्वयस्य जघन्यमन्तरमेकसमयं प्राप्यते; अन्यथा वैकेन्द्रियादिभ्यो द्वीन्द्रियादितयोत्पाद्येदं भावनीयम् । प्रकारान्तरेण वा तथास्वाभाव्यात् स्वस्थान एव समयान्तरजातयोर्भूयस्कारयोर्मध्यवर्त्यवस्थितस्थितिबन्धस्य समयमात्रजघन्यकालापेक्षयाऽपि भूयस्कारस्य जघन्यमन्तरं भवतीति यथासम्भवं द्रष्टव्यमिति ।

अल्पतरस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरमप्यनया रीत्या भाव्यते, नवरं भवद्विचरमसमये हीनस्थितिबन्धम्, ततश्चरमसमये तावन्मात्रस्थितिबन्धं कृत्वाऽनन्तरं संज्ञिपञ्चेन्द्रियादितश्च्युत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितयोत्पत्तौ नियमतो न्यूनस्थितिबन्धभावात् तादृशजीवविशेषापेक्षया भावनीयम् । अन्यथा वा स्वस्थाने संक्लेशाद्धाक्षयादल्पतरबन्धः, ततः समयमेकमवस्थितबन्धः, तत पुनरपि स्व-

भावतः संक्लेशहानौ पुनरप्यल्पतरस्थितिबन्धो भवति तदाप्येकसमयमन्तरं प्राप्यते, इत्येवं प्रकारान्तरैरपि यथासम्भवं भावनीयमिति।

अवस्थितस्थितिबन्धजघन्यान्तरं तु सुलभम्, सामान्यतोऽवस्थितस्थितिबन्धादूर्ध्वमेकसामयिके भूयस्कारबन्धेऽल्पतरबन्धे वा जाते प्रायेण पुनरप्यवस्थितस्थितिबन्धस्य प्रवर्तनादिति ।

सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पुनः प्रमत्तगुणस्थाने चरमं भूयस्कारबन्धं समाप्योपशमश्रेणिमारुह्य ततः प्रतिपततो जीवस्य लभ्यते । कुतः ? श्रेणिमारोहतो जीवस्याऽवस्थितबन्धानामल्पतरबन्धानां चैव भावेन तैः संख्येयैरल्पतरबन्धैरवस्थितबन्धैश्चान्तरितयोर्भूयस्कारस्थितिबन्धयोरन्तरं सर्वदीर्घं भवतीति कृत्वा ।

अल्पतरस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपीत्थमेव लभ्यते, नवरमनिवृत्तिबादरगुणस्थानके मोहनीयस्य, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने शेषाणां षण्णां चरमस्थितिबन्धप्रारम्भेऽल्पतरबन्धं कृत्वा क्रमेणोपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्य तत उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य प्रमत्तगुणस्थाने पुनरप्यल्पतरस्थितिबन्धं कुर्वतो जीवस्य प्राप्यते ।

अवस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं तु भूयस्कारादीनामुत्कृष्टकालापेक्षया न लभ्यते, किन्त्वबन्धकालापेक्षया प्राप्यते । **तथाहि**–उपशमश्रेण्यां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमयेऽवस्थितस्थितिबन्धं समाप्योपशान्तमोहगुणस्थानं प्राप्तः यः कश्चिज्जीव उपशान्तमोहगुणस्थानकालं तत्रैव निर्गमय्य ततः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानेऽवक्तव्यबन्धादूर्ध्वं मृत्वा देवगतावुत्पद्य देवभवद्वितीयसमये भूयस्कारबन्धादनन्तरं मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णामवस्थितस्थितिबन्धं पुनरपि प्रारभते, तस्य षण्णामवस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्विसमयाधिकोपशान्तमोहगुणस्थानकालप्रमाण प्राप्यते. तदेव प्रकृते उत्कृष्टान्तरतया विज्ञेयम् । मोहनीयकर्मणोऽवस्थितस्थितिबन्धस्य तु तद् बृहदन्तर्मुहूर्तप्रमाणं बोद्धव्यम्, मोहनीयाऽबन्धस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानेऽपि लाभात् । भावना तु प्रागिव कर्तव्येति ।

अथाऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरे दर्शयन्नाह-"**सत्तण्ह मुहुत्तंतोऽवत्तव्वस्से**" त्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'लघु'-जघन्यमन्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् । "**जेट्ठं**" त्ति तस्यैवावक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'ज्येष्ठम्'-उत्कृष्टमन्तरम् "**अद्धपरट्टो देसूणो पोग्गलाण भवे**" त्ति 'देशोनः'-एकदेशेनोनः पुद्गलानामर्धः परावर्तो भवेत्, उपशश्रेण्युत्कृष्टान्तरवद् देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवेदित्यर्थः । तत्रोपशान्तमोहगुणस्थानात् पततस्तत्तत्प्रकृतीनां स्थितिबन्धप्रारम्भसमयादूर्ध्वं प्रवृत्तमवक्तव्यस्थितिबन्धान्तरमधस्तादन्तर्मुहूर्तं विश्रम्य पुनरप्युपशमश्रेणिमारुह्याबन्धद्वितीयसमये कालकरणेन देवगतौ पुनरप्यवक्तव्यबन्धे जाते यदा निष्ठामेति तदा सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं लभ्यते, तच्चान्तर्मुहूर्तमेव भवति । कुतः ? उपशमश्रेण्यारोहणावरोहणकालस्याधो जघन्यावस्थानकालस्य च समुदितस्याप्यन्तर्मुहूर्तमात्रत्वादिति ।

एवमेवोत्कृष्टान्तरमप्युपशमश्रेणेर्देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणेनैकजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरवद् भावनीयम्, केवलमन्तरप्रारम्भात् पूर्वमुपशमश्रेणित उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपातादवक्तव्यस्थितिबन्धो द्रष्टव्यः, तदूर्ध्वं तु देशोनार्धपुद्गलपरावर्तकालं संसारपर्यटनादनन्तरमन्तर्मुहूर्तेऽवशेषे संसारे पुनरप्युपशमश्रेणित उपशान्ताद्धाक्षयेण पातादवक्तव्यस्थितिबन्धो द्रष्टव्यः, न पुनरेकदाऽप्युपशमश्रेणौ कालकरणेन देवगतावुत्पत्त्या । कस्मात् ? अन्तरप्रारम्भ उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवगतावुत्पद्यमानस्योत्कृष्टतोऽपि संख्येयभवप्रमाणाल्पसंसारत्वेनोत्कृष्टान्तरस्यानुत्पत्तेः, अन्तरप्रान्ते तु तथात्वे शेषसंसारकालस्य जघन्यतोऽपि संख्येयसागरोपमप्रमाणतयोत्कृष्टान्तरानुत्पत्तेश्चेति ।

अथायुषो द्विविधबन्धस्य द्विविधान्तरमाह–"**आउस्स अंतरं खलु**" इत्यादिना, आयुःकर्मणः "**पयाण दोण्ह वि**" त्ति अल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः प्रत्येकं 'लघु'-जघन्यमन्तरं खलु 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तम् । तथा "**उक्कोसं**" ति तयोरेव द्वयोः पदयोरुत्कृष्टं-दीर्घमन्तरमभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि विज्ञेयमित्यर्थः ।

इयमत्र भावना–यदाऽऽयुर्बन्धो जायते तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यस्थितिबन्धो द्वितीयसमयादन्तर्मुहूर्तं यावदल्पतरस्थितिबन्धाश्च नियमेन भवन्तीत्यसकृदभिहितम्, तथा च सत्यायुःप्रकृतिबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरानुसारेण तदीयाल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोरपि द्विविधान्तरं प्राप्यते । **तथाहि**–वेद्यमानायुषस्त्रि-नव-सप्तविंशतितमभागाद्यवशेषप्रकारेणायुर्बन्धप्रायोग्यां द्विचरमाद्धां प्राप्य कश्चिज्जन्तुः प्रथमाकर्षेणायुर्बन्धं प्रारभते तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यस्थितिबन्धं करोति, तदूर्ध्वं त्ववक्तव्यबन्धस्यान्तरं प्रारब्धम्, द्वितीयसमयात्प्रवृत्तात्पतरस्थितिबन्धस्त्वन्तर्मुहूर्तं यावन्नैरन्तर्येण प्रवृत्याऽऽयुर्बन्धनिष्ठया समं निष्ठां याति, तदूर्ध्वं त्वल्पतरस्थितिबन्धस्यान्तरं प्रवृत्तं, ते च द्वेऽप्यन्तरेऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते यदाऽसौ जीव आयुर्बन्धप्रायोग्यां चरमामद्धां प्राप्य द्वितीयाकर्षेण पुनरप्यायुर्बन्धं प्रारमते, तदा क्रमेण निस्तिष्ठतः । इत्थमल्पतरा-ऽवक्तव्ययोः द्वयोरपि स्थितिबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं लभ्यते । उभयत्र यो विशेषः स तु भावनातो गम्यतेऽतः पृथङ्नोच्यत इति ।

द्विविधबन्धयोरुत्कृष्टान्तरमपीत्थमेव भावनीयम्, नवरं प्रथमायुर्बन्धो वेद्यमानपूर्वकोटीवर्षायुषस्तृतीये भागेऽवशेषे द्रष्टव्यः, तदनन्तरं द्वितीयायुर्बन्धस्तु मृत्वा नरकगतौ देवगतौ वोत्कृष्टस्थितिकतयोत्पद्य तत्र वेद्यमानोत्कृष्टायुषश्चरमान्तर्मुहूर्तेऽसंक्षेप्याद्धायां वर्तमानस्य द्रष्टव्यः, नत्वर्वाक् । एवं सति प्रकृतोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं लभ्येत, तदेवाऽऽयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरतया बोद्धव्यमिति ॥५७७-५७८॥

तदेवमुक्तमष्टानां प्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधानामपि स्थितिबन्धानां द्विविधमेकजीवाश्रयमन्तरमोघतः । अथ तदेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादावायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामाह—

सव्वासु सत्तण्हं लहु खणो अंतरं मुणेयव्वं ।
भूगारप्पयराणं भिन्नमुहुत्तं उ उक्कोसं ।।५७९।।
णवरि हवेज्ज कणिट्ठं भिन्नमुहुत्तं अवेअ-सुहुमेसु ।
कम्मा-ऽणाहारेसु ण होअए अंतरं चेव ।।५८०।।

(प्रे०) "**सव्वासु सत्तण्ह**" मित्यादि, नरकगत्योघादिषु सर्वमार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां 'लघु'-जघन्यमन्तरं "**खणो**" त्ति समयो ज्ञातव्यम् । कस्य कस्येत्याह–"**भूगारप्पयराणं**" ति भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमित्यर्थः । तयोरेवोत्कृष्टान्तरमाह–''**भिन्नमुहुत्तं**" इत्यादि, तयोः सप्तमूलप्रकृतीसत्कभूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं तु 'भिन्नमुहूर्तम्,-अन्तर्मुहूर्त मित्यर्थः । अयं हि लाघवकृतः सामान्यो निर्देशः, तथा च निर्दिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुराह–"**णवरि**" इत्यादि, परमयमत्र विशेषः । कोऽसावित्याह–"**हवेज्ज कणिट्ठं**" इत्यादि, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः प्रत्येकं "**कणिट्ठ**" ति प्रकृतबन्धद्वयसत्कं 'कनिष्ठं'-जघन्यमन्तरं 'भिन्नमुहूर्तं भवेत्, न पुनः समय इत्यर्थः ।

"**कम्माणाहारेसु**" इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोश्चप्रत्येकं भूयस्कारा-ऽल्पतरलक्षणस्थितिबन्धद्वयसत्कमन्तरमेव न भवतीत्यर्थः । अत्रापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः प्रकृतान्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्य कथनं तयोर्मार्गणयोर्जायमानाः स्थितिबन्धाः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं प्रवृत्य परावर्तन्ते, न त्वर्वाक्, तथा च श्रेणितः प्रपततां तत्तत्स्थितिबन्धप्रथमसमये जायमानाद्भूयस्कारादनन्तरप्रवृत्तोऽवस्थितबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमवतिष्ठत एव, तदूर्ध्वमन्यविधेऽधिकस्थितिबन्धे प्रारब्ध एव पुनर्भूयस्कारबन्धसम्भवः, न तु ततोऽर्वागपि, इत्येवमवस्थितस्थितिबन्धस्य जघन्यकालतुल्यं जघन्यतोऽप्यन्तरं प्राप्यते, अवस्थितबन्धस्य जघन्यकालस्तु प्रकृतमार्गणयोरन्तर्मुहूर्तम्, अतो भूयस्कारबन्धस्य जघन्यान्तरमपि तावदुक्तम् । इत्थमेवाल्पतरस्थितिबन्धस्य जघन्यान्तरविषयेऽपि विभावनीयम् । यस्तु कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोः प्रकृतान्तराभावः सोऽपि मुख्यतयाऽधिकृतेन विवक्षाविशेषेण विग्रहगत्यामपि कार्मणकाययोगावस्थायां प्रथमसमयबन्धस्य मार्गणान्तरजातपूर्वसमयबन्धेन तुल्यत्वादात्रपि भूयस्कारतयाऽल्पतरतया वाऽलाभात्, शेषसमयद्वयमपेक्ष्य त्वन्तरस्यैवाऽसम्भवादिति । एताश्चतस्रो मार्गणा विवर्ज्य शेषासु तु प्रस्तुतबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमोघिकभावनानुसारेण स्वयमेव योज्यमिति ।।५७९-५८०।।

अथ सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्थितिबन्धस्यान्तरं दिदर्शयिषुराह—

सव्वासु सत्तण्हं समयो हस्सं अवट्ठिअस्स भवे ।
परमं वि भवे समयो कम्मे सुहुमे अणाहारे ।।५८१।।

(प्रे०) "**सव्वासु**" त्ति नरकगत्योघाद्यनाहारकपर्यन्तासु सर्वासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्य स्थितिबन्धस्य 'ह्रस्वं'-जघन्यमन्तरं "**समयो**" त्ति एकसमयप्रमाणं भवेदित्यर्थः । सुगमम् । भावनात्वोघवद् द्रष्टव्येति । अथैतस्यैवावस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह–"**परमं वि भवे समयो**" इत्यादि, कार्मणकाययोग-सूक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽनाहारकमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कावस्थितस्थितिबन्धस्य 'परमम्'-उत्कृष्टमन्तरमपि समय एव भवेत्, किं पुनर्जघन्यान्तरमित्यपिशब्दार्थः ।

तत्र कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरेकजीवापेक्षयोत्कृष्टतोऽपि समयत्रयाऽवस्थानेन मध्यसमये भूयस्काराल्पतरान्यतरबन्धभावे **कालद्वारे** 'कम्माणाहारेसु उ' इत्यादि (५७५) गाथायां गौणभावेन दर्शितविवक्षान्तरमधिकृत्य प्रथमचरमसमयजायमानाऽवस्थितस्थितिबन्धयोरन्तरं समयमात्रं विज्ञेयम्, न तु मुख्यवृत्त्याऽधिकृतविवक्षया, तया विवक्षया मार्गणाप्रथमसमयजातस्थितिबन्धस्याऽवस्थितस्थितिबन्धतयाऽप्यप्राप्तेः, शेषसमयद्वयापेक्षया तु भूयस्कारादिवदवस्थितस्थितिबन्धान्तरस्याप्यसम्भव एवेति । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु भूयस्काराल्पतरद्विविधस्थितिबन्धयोरुत्कृष्टस्यापि कालस्य समयमात्रत्वात्तेनान्तरितयोरवस्थितस्थितिबन्धयोरन्तरमपि समयादधिकं नैव भवतीति समयमात्रमभिहितमिति ॥५८१॥

यासु मार्गणास्ववस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टान्तरं चत्वारः समयास्ताः संगृह्णाह—

तिरिय-अपज्जतस-णपुम-कसायचउग-दुअणाण-अयतेसुं ।
असुहतिलेसा-अभविय-मिच्छेसुं होइ चउसमया ॥५८२॥

(प्रे०) "**तिरियअपज्जतसे**" त्यादि, तिर्यग्गत्योघा-ऽपर्याप्तत्रसकाय-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणासु तथाऽशुभकृष्णादित्रिलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कावस्थितस्थितिबन्धस्यान्तरं चत्वारः समया भवन्तीत्यर्थः । कुतः ? उच्यते, एतासु प्रत्येकमवस्थितबन्धादन्ये ये भूयस्कारादिबन्धास्तेषु भूयस्कारस्थितिबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः प्राप्यते, तेन समयचतुष्कप्रमाणभूयस्कारबन्धकालेनान्तरितयोरवस्थितस्थितिबन्धयोरन्तरं चत्वारः समया भवति ।

ननु प्रस्तुततिर्यग्गत्योघादिपञ्चदशमार्गणावत् त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणास्वपि प्रत्येकमवस्थितेतरस्य भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समया एवोक्ताः, तर्हि त्रसकायौघादिमार्गणाः कथमत्र न संगृहीताः ? **इति चेद्, उच्यते,** तासु त्रसकायौघादिमार्गणासूपशमश्रेणिगतानामपि जीवानां प्रवेशेन तदीयस्थितेरबन्धकालमाश्रित्यावस्थितस्थितिबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमपि लभ्यते, न पुनरधिकृततिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वपि, श्रेणिगतानामुपशमकानामत्राप्रवेशात् । इत्येवं चतुःसमयान्तरकथनप्रस्तावात्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाः संगृह्याऽपि त्रसकायौघादिमार्गणा उपेक्षिता इति ॥५८२॥

अथ यासु मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धस्यान्तरं त्रिसमयास्ताः पिण्डीकृत्याह—

पंचिंदियतिरियचउग-असमत्तपणिंदि-उरलमीसेसुं ।
थी-पुरिस-असण्णीसुं अवट्ठिअस्स तिखणा परमं ॥५८३॥

(प्रे०) "**पंचिंदियतिरियचउगे**" त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्चतुष्का-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ-दारिकमिश्रकाययोगमार्गणासु स्त्रीवेद-पुरुषवेदा-ऽसंज्ञिमार्गणासु च प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कावस्थित-स्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं त्रिसमयप्रमाणं लभ्यत इत्यर्थः । अत्राप्यन्यतमस्यां मार्गणायामुपशान्त-चारित्रमोहानां जीवानामप्रवेशेन स्थितेरबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं न प्राप्यते, किञ्च पञ्चे-न्द्रियतिर्यगोघादिद्वादशमार्गणासूत्कृष्टोऽपि भूयस्कारस्थितिबन्धकालस्त्रिसमया एव लभ्यते, अतः त्रिसामयिकभूयस्कारबन्धेनान्तरितयोरवस्थितस्थितिबन्धयोरन्तरालमपेक्ष्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तर-मपि त्रयस्समया एव सम्पद्यते, न पुनस्तदधिकमिति । यद्वाऽल्पतरस्थितिबन्धकालप्रयुक्ताऽन्तरा-लमपेक्षयाऽपि तल्लाभः सम्भवतीति प्रकारान्तरेणाप्युपपादनीयमिति ॥५८३॥

अथशेषमार्गणासु प्रकृतान्तरं दर्शयन्नाह—

णरतिग-दुपणिंदियतस-काय-ऽवगयवेअ-णाणचउगेसुं ।
संयम-णयणियर-अवहि-सुइल-भविय-सम्म-खइएसुं ॥५८४॥
उवसम-सण्णीसु तहा आहारम्मि हवए मुहुत्तंतो ।
सेसासु दोण्णि समया अवट्ठिअस्स हवए परमं ॥५८५॥

(प्रे०) "**णरतिगदुपणिंदिये**"त्यादि, अत्र "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" रितिन्या-येन नरत्रिकेत्यनेनापर्याप्तमनुष्यभेदवर्जाः शेषा मनुष्यगतिमार्गणासत्कास्त्रयो भेदा ग्राह्याः, अत-स्तेषु मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणासु, तथा तेनैव न्यायेनापर्याप्तवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रिय-जातिभेदयोः, द्विशब्दस्य त्रसेत्यनेनापि योजनादपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोस्त्रसकायभेदयोः, काययोग-सामान्या-ऽपगतवेद-मत्यादिज्ञानचतुष्केषु, संयमौघ--चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्लेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ--क्षायिकौ--पशमिकसम्यक्त्व--संज्ञिमार्गणासु, तथाऽऽहारिमार्गणायां प्रत्येकं "**हवए मुहुत्तंतो**" त्ति प्रकृतं सप्तप्रकृतीसत्कावस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्त-र्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । सुगमं चैतत्, प्रत्येकमुपशान्तमोहगुणस्थानादिगतानां जीवानां प्रवेशात् । भावनात्वबन्धकालमधिकृत्य द्रष्टव्येति ।

"**सेसासु**" त्ति '**कम्मे सुहुमे अणाहारे**' इत्यादिनाभिहिताः कार्मणकाययोगादिचतुःपञ्चा-शन्मार्गणा विहाय शेषासु नरकगत्योघादिषोडशोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् "**अवट्ठिअस्स**" त्ति सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्थितिबन्धस्य 'परमम्'-उत्कृष्टमन्तरं "**दोण्णि समया**" त्ति द्वौ समयौ

भवतीत्यर्थः । तत्र **शेषमार्गणा नामत इमाः**–अष्टौ नरकगतिभेदाः, एकोऽपर्याप्तमनुष्यभेदः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्ता मूलोत्तराः सर्वे इत्येकोनत्रिंशत्कायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिक-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-विभङ्गज्ञान-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादनमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु षोडशाभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमवस्थितबन्धस्य द्विसमयादधिकान्तरनिष्पादकश्चतुःसामयिको भूयस्कारबन्धस्त्रिसामयिको भूयस्काराल्पतरान्यतरबन्धो वा नास्ति, किञ्च स्थितेरबन्धकालोऽपि प्रकृतान्तरप्रयोजको भवितुं नार्हति, किन्तु द्विसामयिको भूयस्कारबन्धोऽल्पतरो वा बन्ध एव लभ्यते, अतस्तदन्तरितयोरवस्थितस्थितिबन्धयोरन्तरमप्युत्कृष्टतो द्विसमयप्रमाणमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिकमिति ।।५८४-५८५।।

तदेवं मार्गणास्थानेषूक्तं सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्यान्तरम् । अथ यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य सद्भावः प्राक् सत्पदद्वारे प्रतिपादितस्तास्वक्तव्यबन्धान्तरसम्भवाऽसम्भवाशङ्कायां यासु तदसम्भवस्तासु प्रतिषेधयन्नाह—

पणमणवय-काय-उरल-अवेअ-सुइलु-वसमेसु सत्तण्हं ।
मोहस्स तहा लोहेऽवत्तव्वस्संतरं णत्थि ।।५८६।।

(प्रे०) "**पणमणवये**" त्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-शुक्लेश्यौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां तथा लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धसद्भावेऽपि तस्यावक्तव्यस्थितिबन्धस्याऽन्तरं 'नास्ति' न विद्यत इत्यर्थः । कुतः ? द्वितीयावक्तव्यबन्धात्पूर्वमेव प्रकृतमार्गणानां व्यवच्छेदात् ।

इदमुक्तं भवति–आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमेकजीवाश्रयस्यावक्तव्यस्थितिबन्धस्यैकस्यामुपशमश्रेण्यां सकृदेव सम्भवः, अवक्तव्यबन्धस्यान्तरं त्ववक्तव्यबन्धे वारद्वयं जाते तदन्तरालमपेक्ष्य लभ्यते, प्रकृते च कस्यचिज्जीवस्योपशमश्रेण्यां प्रथमावक्तव्यबन्धादूर्ध्वं द्वितीयवारमवक्तव्यबन्धोऽधः प्रतिपत्य पुनरपि श्रेण्यारोहणे क्रमेण सम्भवति, न पुनस्तदर्वागपि; पुनः श्रेण्यारोहणं तदा सम्भवति, यदाऽसावधोऽप्रमत्तादिगुणस्थाने क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं स्पृशेत् । कस्मात् ? नैरन्तर्येण प्रवर्तमान औपशमिकसम्यक्त्वे सकृदेवोपशमश्रेण्यारोहणस्य सम्भवात् । इत्थं हि प्रोक्तमनोयोगादितत्तन्मार्गणायां कश्चिज्जीवः प्रथमवारमवक्तव्यस्थितिबन्धं कृत्वा यावत्क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं स्पृशति तावत्तु तस्य मनोयोगादिसर्वमार्गणातो बहिर्भावो जायते, तत्र योगादीनां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तनात्तद्बहिर्भावः, वेदोदयात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्पर्शनाच्चापगतवेदमार्गणौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाबहिस्त्वं विज्ञेयम् । इत्येवं प्रकृतमार्गणास्वविच्छेदेन प्रवर्तमानासु सतीसु वारद्वयमवक्तव्यबन्धस्याऽसम्भवात्तदन्तरस्याऽभाव एवाऽवाप्यत इति ।।५८६।।

तदेवं मनोयोगादिमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धान्तरे निषद्धे तदन्यमार्गणासु तद्विद्यत इत्यर्थाद्गम्यते, नपुनस्तत्प्रमाणमपि, अतः शेषासु तत्कियत्प्रमाणमिति जिज्ञासायामादौ तावज्जघन्यत आह–

सेसासु मुहुत्तंतोऽवत्तव्वस्स हवए कणिट्ठं उ ।

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, यासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धो सन् , ताभ्यः षट्त्रिंशन्मार्गणाभ्योऽनन्तरोक्ता मनोयोगादिषोडशमार्गणास्त्यक्त्वा शेषासु विंशतिमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'कनिष्ठं'-जघन्यमन्तरं तु '**मुहुत्तंतो**' त्ति अन्तर्मुहूर्तं भवति । **तच्चैवम्**–उपशमश्रेणौ सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धं कृत्वा पश्चात् प्रमत्ताप्रमत्तभावं स्पृष्ट्वा पुनरप्युपशमश्रेणिमारुह्य यावद्द्वितीयवारं सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्तावदपि प्रस्तुतशेषसर्वमार्गणा अविच्छेदेन प्रवर्तन्ते, एवं सत्यवक्तव्यस्थितिबन्धस्यान्तरालमपि प्रकृतमार्गणास्वेव सम्पद्यते, तच्चान्तर्मुहूर्तमिति तथैवोक्तम्, अत्र विस्तरभावना तु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्यौघिकजघन्यान्तरानुसारेण द्रष्टव्येति ॥ अथैतास्वेव शेषमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धान्तरमुत्कृष्टत आह–

तिणरेसुं उक्कोसं कोडिपुहुत्तं उ पुव्वाणं ॥५८७॥

(प्रे०) "**तिणरेसुं**" ति अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्यैवाभावात्तदन्तरस्यापि नास्ति चिन्ता, अतस्तामपर्याप्तमनुष्यमार्गणां विहाय शेषासु त्रिसृषु 'णरेसु' त्ति मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणासु नरमार्गणासु "**उक्कोसं**" त्ति सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं "**कोडिपुहुत्तं उ पुव्वाणं**" ति पूर्वकोटिपृथक्त्ववर्षप्रमाणमित्यर्थः ।

अयम्भावः–एतासां त्रिसृणां मार्गणानां प्रत्येकमेकजीवाश्रितोत्कृष्टा कायस्थितिः—

'तिपणिंदियतिरियाण तिणराण य पलिओवमा तिण्णि । अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा' ॥१५५॥

इत्यनेन प्राक् पूर्वकोटीपृथक्त्वाधिकत्रिपल्योपमप्रमाणाऽभिहिता, तत्रापि त्रीणि पल्योपमानि तु मार्गणाविच्छेदादर्वाग्भाविचरमयुग्मिभवमपेक्ष्य प्राप्यन्ते, अतस्तान्यत्र वर्ज्यन्ते । कुतः ? तस्मिन् युग्मिभव उपशमश्रेणेरसम्भवात्, तदनन्तरभवे तु जीवानां प्रकृतमार्गणातो बहिर्भावात् ;तथा च त्रिपल्योपमकालेनोना शेषा कायस्थितिरत्र गृहीता । कस्मात् ? तस्यां संख्येयवर्षायुष्कनानाभवनिष्पन्नायां शेषायां कायस्थितौ प्रारम्भे प्रान्ते चाऽष्टवर्षादिकालं त्यक्त्वौपशमश्रेणेः सम्भवात् । तत्रोपशमश्रेणाववक्तव्यबन्धौ तु प्रागवद् द्रष्टव्यौ,तयोरन्तरालमपेक्ष्यान्तरमपि च प्राग्वद्भावनीयम् । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यमिति ॥५८७॥ अथ शेषमार्गणासु प्रकृतोत्कृष्टान्तरं दर्शयति—

देसूणऽद्धपरट्टोऽवत्तव्वस्स हवए उ सत्तण्हं ।
अणयण-भवियेसु गुरुं, अण्णह ऊणगुरुकायठिई ॥५८८॥

(प्रे०) "**देसूणऽद्धपरट्टो**" इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य, उत्कृष्टान्तरमिति गम्यते । कियदित्याह–"**देसूणऽद्धपरट्टो**" त्ति ओघवद् देशोनार्धपुद्गलपरावर्त इत्यर्थः । कस्यां कस्यां मार्गणायामित्याह–"**अणयणभवियेसु**" त्ति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां चेत्यर्थः । भावनाप्यत्र सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्यौघिकोत्कृष्टान्तरवद् द्रष्टव्येति । अथ शेषमार्गणास्वाह–"**गुरु अण्णहे**" त्यादि, उक्तमनोयोगादिमार्गणाभ्योऽन्यत्र, पञ्चेन्द्रियौघादिशेषपञ्चदशमार्गणास्वित्यर्थः । "**गुरु**" ति आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामेकजीवाश्रयं 'गुरु'–उत्कृष्टमन्तरम् "**ऊणगुरुकायठिई**" त्ति ऊनाऽन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेन 'गुरुः'-उत्कृष्टा, एकजीवाश्रयान्तरस्य प्रकृतत्वादेकजीवाश्रया तत्तन्मार्गणानां कायस्थितिर्भवति । तत्र कायस्थितौ न्यूनत्वविशेषणोपादानं प्रागिव कायस्थितिप्रारम्भप्रान्तयोरवक्तव्यस्थितिबन्धादिसत्कंकियत्कालस्य प्रस्तुतान्तरबाह्यत्वात्तावत्कालस्य प्रस्तुतान्तरतया प्रतिषेधार्थम् । शेषमार्गणा **नामत इमाः**–पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय–त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मत्यादिज्ञानचतुष्क--चक्षुर्दर्शन–संयमौघ–सम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणा इति । कायस्थितयस्तु तासां **द्वितीयाधिकार एकजीवाश्रयकालद्वारे** 'कायठिई उक्कोसा' इत्यादि-(१५२) गाथाकदम्बकेनाभिहिता अतस्तत एव द्रष्टव्याः, भावनाऽप्येतासु कायस्थितेः प्रारम्भप्रान्तसमासन्नभाव्युपशमश्रेणिद्वयानुसारेण प्राग्वत्कार्येति ॥५८८॥

तदेवमुक्तं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधबन्धस्यान्तरमादेशतोऽपि । साम्प्रतमायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थितिबन्धयोरन्तरमादेशतो विभणिषुराह—

पणमणवयेसुं विउवे आहारदुगे कसायचउगे य ।
सासाणे य पयाणं दोण्हा-ऽऽउस्संतरं णत्थि ॥५८९॥

(प्रे०) "**पणमणवयेसु**" इत्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पञ्चमनोयोगमार्गणाभेदेषु, पञ्चवचोयोगमार्गणाभेदेषु, वैक्रियकाययोगे, आहारककाययोगा--ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप आहारकद्विके, क्रोधादिकषायचतुष्के, चः समुच्चये, सासादनसम्यक्त्वमार्गणायाम् , चः प्राग्वत् । एतास्वष्टादशमार्गणासु प्रत्येकम् 'आयुषः'-शेषस्यायुःकर्मणः "**पयाण दोण्ह**" त्ति अल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धरूपयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकमन्तरं नास्ति, अन्तरं न विद्यत इत्यर्थः । कुतः ? अल्पकालावस्थायिनीष्वेतासु प्रत्येकं वारद्वयमायुर्बन्धाभावात् । **इदमुक्तं भवति**–आयुषोऽल्पतरादिस्थितिबन्धस्यान्तरं द्विरायुर्बन्धे सति लभ्यते, एतच्चौघिकभावनायां दर्शितमेव, एता मार्गणास्तु प्रत्येकं स्वल्पकालावस्थायिन्यः अतस्ता द्वितीयायुर्बन्धादर्वागेव विच्छेदमियर्ति, तत्कृतस्त द्बन्धद्वयाधीनमन्तरमपि लभ्येत, न कुतश्चिदित्यर्थः ॥५८९॥ शेषमार्गणास्वायुषोऽल्पतरावक्तव्यद्विविधस्थितिबन्धान्तरं दिदर्शयिषुर्जघन्यादिक्रमेणाह—

सेसासु मुहुत्तंतो हस्सं परमं हवेज्ज छम्मासं ।

सव्वणिरयदेवेसु पसत्थअपसत्थलेसासु ॥५९०॥

(प्रे०) "**सेसासु मुहुत्तंतो**" इत्यादि, अनन्तरोक्तमनोयोगाद्यष्टादशमार्गणा विहाय शेषासु यास्वायुर्बन्धो भवति, तासु निरयगत्योघादिपञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं "**मुहुत्तंतो ह्रस्सं**" ति आयुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्याऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य च प्रत्येकं 'ह्रस्वं' जघन्यमन्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । सुगमम् । भावना तु सर्वथैवोघवद् द्रष्टव्येति । एतास्वेव पञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकशतसंख्याकासु शेषमार्गणासूत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह-"**परमं हवेज्जे**" त्यादि, आयुषोऽधिकृतद्विविधस्थितिबन्धस्य प्रत्येकं 'परमम्'-उत्कृष्टमन्तरं षण्मासा भवेत् । कासु मार्गणास्वित्याह-"**सव्वणिरये**" त्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेषु नरकगतिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु, षट्सु प्रशस्ता-ऽप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते, निरयदेवानां वेद्यमानायुषो मासषट्केऽनवशेषे परभवायुर्बन्धो न भवति, तथा च सति प्रथमाकर्षेण षण्मासात्मिकायामुत्कृष्टाबाधायां प्रथमवारमायुर्बन्धं कृत्वा द्वितीयाकर्षेण जघन्याबाधायां भवचरमान्तर्मुहूर्ते पुनरप्यायुर्बन्धभाव उत्कृष्टान्तरं लभ्यते, यद्यप्येवं प्रकृतान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं भवति, मूले च षण्मासा इत्यभिहितम् , तथाऽपि सूत्रस्य सूचकत्वाददोषायेति । शेषकृष्णलेश्यादिषण्मार्गणास्वपि प्रस्तुतान्तरं देवनिरयसत्कप्रस्तुतान्तरानुसारेणैव भावनीयमिति ॥५९०॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्रस्तुतान्तरमाह—

परमं सव्व-तिरिय-णर-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसु ।
असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवठिई णेयं ॥५९१॥

(प्रे०) "**परमं सव्वतिरिय**" इत्यादि, आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः 'परमम्'-उत्कृष्टमन्तरं, साधिका भवस्थितिर्ज्ञेयमिति गाथा प्रान्तेऽन्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह-"**सव्वतिरिये**" त्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे "**णर**" त्ति मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणासत्का भेदास्तेषु चतुःषष्टिमार्गणाभेदेषु, तथा "**असमत्त**" इत्यादि, अत्राप्यसमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायामपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां च प्रत्येकमित्यर्थः । कुत आसु साधिकभवस्थितिः प्रस्तुतान्तरम् ? आसां मार्गणानां प्रत्येकं नानाभवावस्थायित्वात् ।

किमुक्तं भवति ? पूर्वोक्तमार्गणाः प्रत्येकं भवद्वयेऽवस्थायिन्यो नासन् ,अतस्तास्वेकस्मिन् भव एवाकर्षद्वयेन वारद्वयमायुर्बन्धं कुर्वन्तं जीवमपेक्ष्याऽन्तरमानीतम् , प्रकृतमार्गणास्तु नानाभवावस्थायिन्यः, प्रतिभवमेकवारं तु नियमेनायुर्बन्धो जायते, स चोत्कृष्टस्थितिक एकस्मिन् भवे यदा उत्कृष्टाबाधायां, तादृशे च तदनन्तरभवे जघन्याबाधायामित्येवं द्विः क्रियते तदाऽऽयुर्बन्धस्योत्कृष्टान्तरं लभ्यते, तच्च प्रथमभवसत्कतृतीयभागाभ्यधिकान्तर्मुहूर्तोनद्वितीयभवप्रमाणं, तदेव

मूले साधिकभवस्थितिप्रमाणप्रस्तुतान्तरतयाभिहितम् । कथम् ? आयुर्बन्धेन सममेव तयोरवक्तव्याल्पतरस्थितिबन्धयोरपि नियमतो भावात् । अत्र हि भवस्थितिरुत्कृष्टा ज्ञेया, उत्कृष्टान्तरस्य प्रस्तुतत्वादिति ॥५९१॥ अथाऽन्यत्राह—

कायम्मि भूभवठिई देसूणतिभागसंजुया जेट्ठा ।
उरलेऽब्भहियाणि गुरुं सत्तसहस्साणि वासाणि ॥५९२॥

(प्रे०) "**कायम्मि**" इत्यादि, काययोगौघमार्गणायामायुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं "**भूभवठिई**" त्ति भूवः-पृथिवीकायिकस्य भवस्थितिर्भूभवस्थितिः, अस्य चान्वयः परेण "**जेट्ठा**" इत्यनेन; ततश्च पृथिवीकायस्योत्कृष्टा भवस्थितिरित्यर्थः । प्रस्तुतान्तरस्य पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितितोऽप्यधिकसम्भवात्पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिं विशिनष्टि–"**देसूणतिभागसंजुया**" त्ति देशोनेन स्वीयतृतीयभागेन 'संयुता'-अभ्यधिका इत्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति–निरन्तरकाययोगिन उत्कृष्टभवस्थितिका जीवाः पृथिवीकायिका एव सन्ति, अतः पूर्वोक्तन्यायेनोत्कृष्टस्थितिकयोर्निरन्तरयोर्द्वयोर्भवयोः, क्रमेणोत्कृष्टाबाधायां जघन्याबाधायां च जायमानायुर्बन्धद्वयस्यान्तरालमपेक्ष्य काययोगमार्गणायामायुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तलक्षणैकदेशेनोनस्वतृतीयभागेनाभ्यधिका पृथिवीकायस्योत्कृष्टभवस्थितिः सम्पद्यते, अतस्तथैवोक्तमिति ।

"**उरले**" त्ति औदारिककाययोगमार्गणायामायुषः प्रस्तुतस्थितिबन्धद्वयस्य प्रत्येकं 'गुरु'-उत्कृष्टमन्तरमभ्यधिकानि-साधिकानि सप्तसहस्रवर्षाणि भवन्तीत्यर्थः । इदमप्यनन्तरोक्तपृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिमपेक्ष्यैव भावनीयम्, नवरं द्वितीयवारमायुर्बन्धोऽपि प्रथमभव एव जघन्याबाधायां द्वितीयाऽऽकर्षेण द्रष्टव्यः न पुनस्तदनन्तरभवे । कुतः ? तत्रोत्पत्त्याऽपर्याप्तावस्थायां प्रस्तुतौदारिककाययोगमार्गणाया विच्छेदप्रसंगात् । इत्थं हि पृथिवीकायस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, तस्यास्तृतीयभागेऽवशेषयुत्कृष्टाबाधायां प्रथमवारमायुर्बन्धादूर्ध्वं द्वितीयवारं भवचरमान्तर्मुहूर्ते आयुर्बन्धकरणेऽधिकृतान्तरं लभ्यते, आयुर्बन्धेन सममेव तदीयावक्तव्याल्पतरस्थितिबन्धयोरपि नियमेन भावादिति ॥५९२॥ औदारिकमिश्रकाययोग-स्त्रीवेदयोः प्रस्तुतान्तरमाह—

ओरालियमीसम्मि उ भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज उक्कोसं ।
अब्भहिया पणपण्णा पलिया थीए गुरुं णेयं ॥५९३॥

(प्रे०) "**ओरालियमीसम्मि उ**" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । किमित्याह–"**उक्कोसं**" ति आयुषो द्विविधस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरम् । सुगमं चैतत्, अपर्याप्तजीवानां निरन्तरे भवद्वये जायमानायुर्बन्धद्वयमपेक्ष्य तल्लाभा-

दिति। भावना काययोगसामान्यवदपर्याप्तोत्कृष्टभवद्वयापेक्षया द्रष्टव्येति। अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—"**अब्भहिया**" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायामधिकृतं 'गुरु'-उत्कृष्टमन्तरम'भ्यधिकानि'-पूर्वकोटीत्रिभागेनाभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि ज्ञेयम्। "पलिया" इत्यत्र पुंस्त्वं प्राकृतत्वशात्। प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रम्। यदाहुः **श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः** स्वप्राकृतलक्षणे 'लिङ्गमतन्त्रम्' (सिद्धहेम० ८।४।४४५) इति। अत्र पूर्वकोटीतृतीयभागः पूर्वकोट्यायुष्कमनुष्यावस्थायामुत्कृष्टाबाधायां प्रथमवारमायुर्बन्धकरणाच्छेषमनुष्यभवसत्कः, पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि तूत्कृष्टस्थितिकदेवीतयोत्पद्य तत्रान्तर्मुहूर्तात्मिकायामसंक्षेप्याद्धायां द्वितीयवारमायुर्बन्धकरणादायुर्बन्धात्प्रागतीतदेवभवसत्कानि, शेषं तु प्राग्वद्योज्यमिति ॥५९३॥

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
उक्कोसं पुव्वाणं कोडितिभागो उ देसूणो ॥५९४॥

(प्रे०) "**मणणाणे**" त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः सामायिक-छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणासु च प्रत्येकम् "**उक्कोसं**" ति आयुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टं दीर्घमन्तरं "**पुव्वाणं कोडितिभागो उ देसूणो**" त्ति पूर्वाणां 'पुव्वस्स उ परिमाणं' इत्यादिनाऽन्यत्रोक्तस्वरूपाणां या कोटिस्तस्याः "**तिभागो**" त्ति तृतीयभाग इति पूर्वकोटित्रिभागः स च "**देसूणो**" त्ति अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनः, अन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटितृतीयभाग इति भावः। तद्यथा—संयमिनो देशसंयमिनश्चोत्कृष्टतः पूर्वकोटीवर्षायुष्का एव सन्ति, तेषु केनाप्युत्कृष्टाबाधायां प्रथमाकर्षेण, ततोऽसंक्षेप्याद्धायां द्वितीयाकर्षेणेत्येवं द्विरायुर्बन्धे कृते प्रकृतान्तरं यथोक्तप्रमाणमवाप्यत इति ॥५९४॥ अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

विब्भंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
देसूणा छम्मासा हवइ त्ति भणन्ति अण्णे उ ॥५९५॥

(प्रे०) "**विब्भंगे**" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा "**कायट्ठिई**" त्ति 'कायठिई उक्कोसा णिरयसुराणं विभङ्गणाणस्स' इत्यादिना पूर्वं कालद्वारेऽभिहितमाना देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि विभङ्गज्ञानमार्गणाया एकजीवाश्रया कायस्थितिः '**देसूणा**' त्ति किञ्चिदूनपूर्वकोटितृतीयभागद्वयलक्षणेनैकदेशेनोना सती प्रकृतयोरायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यलक्षणस्थितिबन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं ज्ञातव्यम्। अत्र महाबन्धकाराभिमतमाह—"**देसूणा छम्मासा**" इत्यादि, सुगमम्, तन्मते नारकेष्वपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्यानभ्युपगमात्, तिर्यग्नरेषूत्कृष्टतो निरन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव विभङ्गज्ञानस्य स्वीकृतत्वाच्च। विशेषस्तु प्रस्तुतमार्गणायां **द्वितीयाधिकारै**कजीवाश्रयकालद्वारदर्शिताऽऽयुरनुत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवद्विभावनीयमिति ॥५९५॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतान्तरं दिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम्

★		अवस्थितस्थितिबन्धस्य				अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य	
जघन्यतः-समय		१ समय	१ समयः	ओघवत् १ समय	१ समयः	नास्ति	ओघतः △ अन्तर्मुहूर्तम्
उत्कृष्टतः- ,,		४ समयाः	३ समय	अन्तर्मुहूर्तम्	२ समय	,,	देशोनकायस्थिति.
गति०		तिर्यग्गत्योघ. १	सर्वपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेद० ४	मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीः ३	शेष० ३९		मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी० * ३
इन्द्रिय०			अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २	,, १६		पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तौ, २
काय०		अपर्याप्तत्रस० १		त्रसौघ-तत्पर्याप्तौ २	,, ३९		त्रसौघ-तत्पर्याप्त-भेदौ० २
योग०	कार्म १		औदारिकमिश्र० १	काययोगौघ० १	,, १५	सर्वमनोवचो-काययोगौघ० औदारि० १२	
वेद०		नपुंसक० १	स्त्री०पुंवेद० २	अपगतवेद० १		गतवेद० १	
कषाय०		सर्व० ४				लोभ० १	
ज्ञान०		मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २		मत्यादिज्ञान-चतुष्क० ४	विभङ्ग० १		मत्यादिज्ञान-चतुष्क० ४
संयम०	सूक्ष्म १	असंयम० १		संयमौघ० १	शेष० ४		संयमौघ० १
दर्शन०				चक्षुरादि० ३			चक्षुरादि० △ ३
लेश्या०		अशुभ० ३		शुक्ल० १	,, २	शुक्ल० १	
भव्य०		अभव्य० १		भव्य० १			भव्य० △ १
सम्यक्त्व		मिथ्यात्व० १		सम्यक्त्वौघ० क्षायि० औप० ३	,, ३	औपशमिक० १	सम्यक्त्वौघ० क्षायि० औप० ३
संज्ञी०			असंज्ञी० १	संज्ञी, १			संज्ञी० १
आहारी०	अना.१			आहारी, १			आहारी, १
सर्वमार्गणाः-	३	१५	६	२४	११९	१६	२०
गाथाङ्काः-	५८१	५८१-५८२	५८१-५८३	५८४-५८५	५८५	५८६	५८७-५८८

★ **भूयस्कारा-ऽल्पतरयोः** प्रत्येकमोघतो निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु च जघन्यत समयः ,उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम्, **केवलम्**—कार्मणाऽनाहारकयोरन्तरमेव नास्ति,अवगतवेद-सूक्ष्मसम्परायायोर्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम् । (गा-५७६-७९-८०)

* मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीमार्गणात्रय उत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वम्, न तु देशोनकायस्थितिः । (गाथा-५८७)

△ **ओघतो**ऽचक्षुर्दर्शने भव्यमार्गणास्थाने चोत्कृष्टतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तं । (गाथा-५८८)

आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोरेकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम्		
ओघतः सर्वमार्गणासु च	अवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिबन्धयोः प्रत्येकम्	सर्वथा-ऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवत् ★

अब्भहियपुव्वकोडी गुरु असण्णिम्मि होइ सेसासु ।
साहियतेत्तीसुदही उक्कोसं अंतरं णेयं ॥५९६॥

(प्रे०) "**अब्भहियपुव्वकोडी**" इत्यादि. असंज्ञिमार्गणायां "**गुरु**" त्ति प्रकृतमायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं 'गुरु'-उत्कृष्टमन्तरमभ्यधिकपूर्वकोटिः, देशोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाभ्यधिकपूर्वकोटीवर्षप्रमाणं भवतीत्यर्थः । एतच्च प्रागुक्तकाययोगसामान्यमार्गणावद्भावनीयम्, नवरमुत्कृष्टस्थितिकासंज्ञिनो भवद्वयमपेक्ष्येति । "**सेसासु**" त्ति यास्वायुर्बन्धो भवति ताभ्योऽनन्तरोक्ता मनोयोगाद्यसंज्ञिपर्यन्ता मार्गणा विविच्य शेषासु पञ्चेन्द्रियौघादित्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमायुषो द्विविधस्थितिबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयो ज्ञातव्यमित्यर्थः । **शेषमार्गणा नामत इमाः**—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुंवेद-नपुंसकवेद-मत्यादित्रिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा इति । एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिकायुर्बद्ध्वा सप्तमभूमौ नारकतयोत्पादेऽनुत्तरविमाने देवतयोत्पादे वा तत्राऽपि प्रकृतपञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणा अनुवर्तन्ते, ततश्च प्रथमे पूर्वकोटीस्थितिकमनुष्यादिभव उत्कृष्टाबाधायां प्रथमवारं तदनन्तरं तूत्कृष्टस्थितिके निरयभवे देवभवे वा जघन्याबाधायां द्वितीयवारमायुर्बन्धं कुर्वन्तं जीवमपेक्ष्य प्रकृतान्तरं प्राप्यते, अतस्तदधिकपदेन पूर्वकोटीतृतीयभागेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि वेदितव्यमिति ॥५९६॥

तदेवमभिहितमायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रकृतमेकजीवाश्रयमन्तरं शेषमार्गणास्वपि, तस्मिँश्चाभिहिते गतं चतुर्थमेकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे चतुर्थं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

★ आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरप्रदर्शकं यन्त्रं तु २३६ तमे पृष्ठे आलिखितम् ।

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

साम्प्रतं नानाजीवाश्रितेषु भङ्गविचयादिद्वारेषु क्रमप्राप्ते "**भङ्गविचयो**" इत्यनेनोदिष्टे भङ्गविचयाभिधे पञ्चमे द्वारे नानाजीवाश्रयां भङ्गविचयप्ररूपणां चिकीर्षुर्वक्ष्यमाणकरणेन भङ्गविचयोत्पत्तौ बीजभूतं तत्तद्भूयस्कारादिबन्धकपदानां ध्रुवत्वादिकमादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगा खलु भूगाराईण तिण्ह णियमात्थि ।
भयणीआऽवत्तव्वस्साउस्स पयाण दोण्ह धुवा ॥५९७॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह बंधगा**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**भूगाराईण**" त्ति 'भूयस्कारादीनां'-भूयस्काराऽल्पतरावऽवस्थितलक्षणानां त्रयाणां स्थितिबन्धविशेषाणां प्रत्येकं 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः "**णियमात्थि**" त्ति नियमात् सन्ति, नियमस्य त्रिकालापेक्षया कृतत्वादोघचिन्तायां तद्बन्धकानां न कदाचिदभावो लभ्यत इत्यर्थः । ध्रुवपदान्येतानीति यावत् । "**भयणीआऽवत्तव्वस्स**" त्ति तेषामेव सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'भजनीयाः'-भाज्याः, कदाचिल्लभ्यन्ते कदाचित् नेत्यर्थः । अध्रुवपदमेतदिति यावत् । "**उस्स पयाण दोण्ह**" त्ति विश्लेशप्राप्तस्याऽऽकारस्य पूर्वं दर्शनादायुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः "**धुवा**' त्ति बन्धका ध्रुवाः, सर्वदा लभ्यन्त इत्यर्थः । अत्र भंगविचयप्रस्तावेऽपि भूयस्कारादिस्थितिबन्धकपदानां ध्रुवाध्रुवत्वप्रदर्शनं ध्रुवाध्रुवपदैरेव वक्ष्यमाणकरणेन भङ्गविचयोत्पत्तेरितिज्ञेयम् । तत्तत्पदानां ध्रुवा-ऽध्रुवत्वोपपत्तिस्तु मार्गणास्थानेषु तत्तत्पदानां वक्ष्यमाणध्रुवाऽध्रुवत्वोपपत्तिवत्कार्येति ॥५९७॥

तदेवं दर्शितान्योघतो भङ्गविचयप्रयोजकानि ध्रुवाध्रुवपदानि । साम्प्रतमादेशतो दिदर्शयिषुः सप्तप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकपदानां ध्रुवत्वादिकं दर्शयति—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहमेसु वणकाये ।
पुढवाइ चउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसुं ॥५९८॥
पत्तेअवणे तस्स य असमत्ते कायुरालियदुगेसुं ।
कम्मण-णपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥५९९॥
अयताऽचक्खूसु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥६००॥ (उपगीतिः)
सत्तण्ह बंधगा खलु भूगाराईण तिण्ह णियमाऽत्थि ।
एआसु अवत्तव्वो जहि तहि से अत्थि भयणीया ॥६०१॥

(प्रे०) **"तिरिये"** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, सर्वशब्दस्यैकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियभेदाः, सर्वनिगोदभेदाः, सूक्ष्मपृथिवीकायादिद्वादशसूक्ष्मजीवभेदास्तेषु, वनस्पतिकायौघे तथा **"पुढवाइचउसु"** त्ति पृथिवीकायादिवायुकायान्तेषु चतुर्षु पृथिव्याद्योघभेदेषु, **"तेसिं"** ति तेषां पृथिव्यादिचतुर्णां **"बायरबायरअपज्जेसु"** ति बादरभेदेष्वपर्याप्तबादरभेदेषु च, बादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायेष्वपर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायेषु चेत्यर्थः। प्रत्येकवनस्पतिकायस्यौघे, तस्य च प्रत्येकवनस्पतिकायस्याऽपर्याप्तभेदे, **"कायुरालियदुगेसु"** ति काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्रकाययोगेषु चेत्यर्थः। तथा कार्मणकाययोग-नपुंसकवेदयोः, क्रोधादिकषायचतुष्के, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनयोस्तथाऽप्रशस्तकृष्णादित्रिलेश्या-भव्यमार्गणाभेदेषु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः, असंज्ञिमार्गणायां, आहारकमार्गणायां तथेतरपदादनाहारकमार्गणायां चेत्येवं चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां **"भूगाराईण तिण्ह"** त्ति 'भूयस्कारादीनां'-भूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां त्रयाणां **"बंधगा"** त्ति बन्धकाः-निर्वर्तकाः, खलु पादपूर्त्यै, **"णियमाऽत्थि"** त्ति प्राग्वत् नियमात्सन्ति-सर्वदा प्राप्यन्ते, एतानि त्रीण्यपि ध्रुवपदानीति भावः।

एतासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सर्वासु न सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धसद्भावः, किन्तु कासुचित्काययोगसामान्यादिमार्गणास्वेव, अतस्तास्ववक्तव्यबन्धकपदं ध्रुवमध्रुवं वेत्येतद्दर्शयन्नाह–**"एआसु"** इत्यादि, एतासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्य बन्धकास्तु **"अवत्तव्वो जहिं"** त्ति 'यत्र'-यासु मार्गणास्ववक्तव्यस्थितिबन्धः सम्भवितः **"तहिं"** त्ति तासु काययोगौदारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणश्च **"से"** त्ति तस्यावक्तव्यस्थितिबन्धस्य **"अत्थि भयणीआ"** त्ति बन्धका भजनीया सन्ति, अवक्तव्यबन्धकानापदमध्रुवमित्यर्थः।

तत्तत्पदानां ध्रुवत्वाद्युपपत्तिमार्गास्त्विमे–विहायाऽवक्तव्यस्थितिबन्धसत्पदं सप्तानां भूयस्कारादित्रिविधस्थितिबन्धसत्पदान्योघत आदेशतश्च सर्वजीवानां बन्धप्रायोग्यानि, अन्यच्च कुत्रचिन्मार्गणास्वसंख्यलोकप्रदेशराशिपरिमाणास्तदधिका अनन्ता वा जीवाः सन्ति, यथौघतस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्थानेषु च। कुत्रचित्तु ततः स्तोकाः स्तोकतराः स्तोकतमाः संख्येया एवोत्कृष्टतोऽपि भवन्ति। तेऽपि कासुचिन्नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेषु निरन्तरं प्राप्यन्ते, कासुचिदपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणासु तु कदाचित्प्राप्यन्ते, कदाचित्तु नाऽपि प्राप्यन्ते। इत्थं च यत्र कदाचिन्नाऽपि प्राप्यन्ते तस्यास्तु मार्गणाया एवाऽध्रुवत्वात्तत्र मार्गणायां सर्वविधभूयस्कारादीस्थितिबन्धकपदान्यध्रुवाण्येव भवन्तीति तु सुगमः। यत्र तु जीवपरिमाणमेवाऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा तत्र तु भूयस्कारादीनि त्रिविधान्यपि पदानि ध्रुवाण्येव भवन्ति, बन्धकानामतिबहुतयाऽन्याऽन्यजीवानां नैरन्तर्येण भूयस्कारादिबन्धकतया परिणतेः। अत एवौघतस्तिर्यग्-

न्योघादिचतुःषष्टिमार्गणास्थानेषु चायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादित्रिविधस्थितिबन्धकपदानां ध्रुवत्वमभिहितम् । यत्र पुनर्निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु नास्ति जीवपरिमाणं तावदसंख्येयलोकादिलक्षणम् , न वा भवति जीवानामेव नारकादितया सर्वथाऽभावस्तत्र त्ववस्थितस्थितिबन्धकलक्षणमेकमेव पदं ध्रुवं भवति, भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिबन्धकास्त्वध्रुवं प्राप्यन्ते । कस्मात् ? प्रत्यन्तर्मुहूर्तभाविनामपि भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धानां मध्ये भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धयोरुत्कृष्टस्याऽप्येकजीवाश्रयकालस्यैकद्व्यादिसंख्येयसमयमात्रत्वेन तदीयैकजीवाश्रयान्तरस्योत्कृष्टतोऽसंख्येयसमयप्रमाणत्वेन च प्रत्येकं जीवानां जीवितासंख्येयबहुभागेष्ववस्थितस्थितिबन्धकतया परिणतेः, भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिबन्धकतया तु जीवितासंख्येयैकभागमात्रकालं परिणतेश्च । जीवितासंख्येयबहुभागकालेष्ववस्थितस्थितिबन्धस्य प्रवर्तनात् , जीवितासंख्येयैकभागकाल एव भूयस्कारादिस्थितिबन्धानां प्रवर्तनाच्चेति भावः । अत एवानन्तरमपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणासु सर्वपदानामध्रुवत्वं प्रतिपाद्याऽपि निरयगत्योघादिमार्गणासु त्ववस्थितस्थितिबन्धकानां ध्रुवत्वमेव वक्ष्यते । सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनस्तूपशमश्रेणिं समारुह्य निपतन्तः केचनैव जीवाः, ते च नानाजीवानाश्रित्योपशमश्रेणेरेव सान्तरत्वात्कदाचित्प्राप्यन्ते, कदाचित्तु नेत्योघतो मार्गणास्थानेषु वा सर्वत्र यत्र कुत्रचित्सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धपदं सदभिहितं तत्र तदध्रुवमेव लभ्यते । आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धसत्पदयोस्तु प्रस्तुतध्रुवाऽध्रुवत्वमोघतो मार्गणास्थानेषु वा सर्वत्र सर्वथैवाऽऽयुः प्रकृतिबन्धकानां ध्रुवा-ऽध्रुवत्ववदेव लभ्यते । कथम् ? कादाचित्कमप्यायुःप्रकृतिबन्धं कुर्वतां जीवानां तदीयाऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धयोर्नियमतो भावात् , बन्धकपरिमाणस्याऽसंख्येयलोक-तदधिक-तद्धीनत्वादिरूपेण तुल्यत्वाच्च । अत एवौघत आयुषो द्विविधपदे ध्रुवेऽभिहिते तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्थानेष्वपि ते ध्रुवेऽभिधास्यते, अन्यत्र त्वध्रुव इति ॥५९८-६०१॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतमायुर्वर्जानां भूयस्कारादितत्तद्बन्धकानां ध्रुवत्वादिकमाह—

असमत्तणरा-ऽऽहारगजुगल-विउवमीसगेसु गयवेए ।
छेए परिहार-सुहम-उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥६०२॥
सत्तण्ह सगपयाणं भयणीआ बंधगाऽत्थि सेसासुं ।
णियमा अवट्ठिअस्स हि सेससगपयाण भयणीआ ॥६०३॥

(प्रे०) "**असमत्तणरे**"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां, तथाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्युगले,वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां,गतवेदमार्गणायां,छेदोपस्थापनसंयमे,परिहारविशुद्धिकसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-मिश्रदृष्टिमार्गणासु चेत्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह—"**सत्तण्ह**" इत्यादि आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धलक्षणानां 'स्वकपदानां'-स्वकीयपदानाम् , भूयस्कारादीनि यावन्ति पदानि यस्यां मार्गणायां सद्भूतानि तावन्ति

तस्यां स्वकपदानि, तानि चाऽपर्याप्तमनुष्य-काययोगौघ-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाय-योग-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादनरूपनवमार्गणासु ज्ञानावरणादीनां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितस्थितिबन्धलक्षणानि त्रीणि, औपशमिकसम्यक्त्वा-ऽपगतवेदमार्गणयोस्तु प्रत्येकं सप्तानां भूयस्काराल्पतरावस्थितावक्तव्यस्थिति-बन्धलक्षणानि चत्वारि । तेषां स्वकपदानां "**भयणीआ बन्धगा**" त्ति 'बन्धकाः'-निर्वर्तका भजनीयाः । कुत एतासु सर्वपदानि भाज्यानि ? इति चेद्, नानाजीवानाश्रित्यैतासां मार्गणा-नामेव सान्तरत्वादिति । "**सेसासु**" त्ति उक्तशेषासु पञ्चनवतिमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां "**णियमा अवट्ठिअस्स हि**" त्ति अवस्थितस्यैव बन्धका नियमात्, सन्तीति शेषः । "**सेस-सगपयाण**" त्ति प्राग्वत्, नवरमवस्थितस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकानां कथितत्वात्तेन वर्जानां शेषाणां स्वकपदानामित्यर्थः । तेषां किमित्याह—"**भयणीआ**"त्ति सुगमम् ।

तत्र **शेषमार्गणा इमाः पञ्चनवतिः**—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजो-वायुकायाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रियकाययोगः, पुरुषवेद-स्त्रीवेद-विभङ्गज्ञान-सामायिकसंयम-देशसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणा इति सप्त-षष्टिस्तथाऽपर्याप्तमनुष्यभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संयमौघ-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिरूपा अष्टाविंशतिश्चेति ।

तत्र प्रथमोदितासु नरकगत्योघादिसप्तषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां भूयस्काराल्पतरद्विविध-स्थितिबन्धयोर्निर्वतका एव भजनीयाः । कुतः ? तास्ववक्तव्यबन्धस्याभावात्, शेषपदेष्ववस्थितस्थिति-स्थितिबन्धकपदस्य तु ध्रुवत्वेन द्वे एव शेषस्वपदेऽध्रुव इतिकृत्वा । तदनन्तरोदितासु मनुष्यगत्यो-घाद्यष्टाविंशतिमार्गणासु पुनः सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरावक्तव्यत्रिविधस्थितिबन्धानां निर्वर्तका भजनीया इति । एतासु पञ्चनवतिमार्गणासु भूयस्कारादेर्बन्धकानां भजनीयाभजनीयत्वं तु 'तिरिये' इत्यादि(५९८......)गाथाचतुष्टयवृत्तौ तत्तद्भूयस्कारादेर्बन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोकप्रदेशराश्य-पेक्षयाऽतिस्तोकत्वादिना प्रकारेण साधितमेवेति ॥६०२-६०३॥

अथ गाथात्रयेण मार्गणास्थानेष्वेव शेषस्याऽऽयुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धयोर्निर्वर्तकानां ध्रुवाऽध्रुवत्वं दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहमेसु वणकाये ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसुं ॥६०४॥

पत्तेअ३णे तस्स य असमत्तो कायुरालियदुगेसु ।
णपुम-चउकसायेसु दुअणाणा-ऽयत-अचक्खूसु ॥६०५॥
असुहतिलेस-भवियियर-मिच्छाऽसण्णीसु य तह आहारे ।
दुपयाण बंधगाऽऽउस्स धुवा सेसासु भयणीआ ॥६०६॥

(प्रे०) **"तिरिये"** इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः सप्तकर्मभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां ध्रुवत्वादिप्रतिपादकगाथाव्याख्यानेनोक्तप्रायश्च । **भावार्थस्त्वयम्**–सार्धगाथाद्वये **"तिरिये"** इत्यादिना नामत उपात्तासु तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुषः सत्पदद्वयस्य बन्धका जघन्यतोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः सन्ति, तथा च सति बन्धकबाहुल्यात्प्रागुक्तनीत्याऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं निर्वर्तकानामन्तरं कदाचिदपि न लभ्यत इति तेषां ध्रौव्यं प्रतिपादितम्, शेषासु पुनर्यास्वायुर्बन्धो भवति तासु नरकगत्योघाद्येकोत्तरशतमार्गणासु तूक्तबन्धकबाहुल्यस्याभावादेवाऽऽयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं निर्वर्तकानां कदाचिदन्तरस्यापि लाभात्तेषां भजनीयता दर्शितेति ॥६०४-६०६॥

अथाष्टानामपि प्रकृतीनां भूयस्कारादेर्बन्धकानां भङ्गविचयोपयोगिनं ध्रुवत्वादिकं प्रतिपाद्य भङ्गविचयमानयनाय करणं व्याचिकीर्षु ध्रुवपदानां नानात्वेऽपि तत्सत्क एक एव भङ्गो भवतीति तत्र वक्तव्यताऽभावात्सुगमत्वाद्वा ध्रुवपदान्युपेक्ष्याध्रुवपदप्रयुक्तभङ्गोत्पादने करणगाथामाह––

भयणीअपयस्स दुवे भंगेगाणेगबंधगाहिन्तो ।
ते चिअ तिगुणा दुजुआ पयपयवुड्ढीअ कायव्वा ॥६०७॥

(प्रे०) **"भयणीअपयस्स"** इत्यादि, भजनीयपदस्येत्यत्रैकवचनस्योपादानादेकस्य भजनीयपदस्य **"दुवे भंग"** त्ति द्वौ भङ्गौ । अत्र भङ्गद्वैविध्ये हेतुमाह–**"गाणेगबंधगाहिन्तो"** त्ति विश्लेशप्राप्तस्यैकारस्य दर्शनादेकाऽनेकबन्धकेभ्यः, कदाचिदेकबन्धकलाभात्, कदाचिदनेकबन्धकलाभादित्यर्थः । **अयम्भावः**–भजनीयपदे कादाचित्कबन्धकाभाव इव कदाचिदेको बन्धकः कदाचिच्चानेके बन्धका इत्येवं द्वौ भङ्गौ प्राप्येते, अत ओघत आदेशतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र कुत्रचिदेकमध्रुवपदं तत्र तत्सत्कौ द्वौ भङ्गौ धर्तव्यौ । यत्रैकस्मादधिकानि द्व्यादीन्यध्रुवपदानि तत्र पुनः किं कर्तव्यमित्याह–**"ते चिअ तिगुणे"** त्यादि, तत्र **"पयपयवुड्ढीअ"** त्ति ततः 'पदपदवृद्धौ'-प्रतिभजनीयपदवृद्धावित्यर्थः । **"ते चिअ"** त्ति तावनन्तरपदप्राप्तौ द्वौ भङ्गौ **"तिगुणा दुजुआ"** त्ति बहुवचनं प्राकृतत्वादतस्त्रिगुणौ द्वियुतौ, कर्तव्याविति परेणान्वयः । अत्र **"ते"** इत्यनेनान्तरोक्तौ द्वौ भङ्गौ परामृश्येते, तथापि तौ न द्विभङ्गरूपेण परामृश्यौ किन्तु पूर्वपदप्राप्तभङ्गरूपतया परामृश्यौ । कुतः ? **"पयपयवुड्ढीअ"** इत्यनेन प्रतिपदवृद्धौ तथैव करणीयतयाऽत्र

व्यासेनैव दर्शितत्वात् । तथा च सति यत्र द्वे पदे भजनीये तत्र पदवृद्धिरितिकृत्वा तौ पूर्वपदप्राप्तौ द्वौ भङ्गावेव त्रिगुणौ द्वियुतौ कर्तव्यौ, ततो(२×३+२=८)ऽष्टौ भङ्गा प्राप्यन्ते । यत्र पुनरपि पदवृद्धिरर्थात् त्रीणि पदानि भजनीयानि तत्र "ते" इत्यनेन पूर्वपदप्राप्तावष्टौ भङ्गास्त्रिगुणा द्वियुताः क्रियन्ते, ततश्च (८×३+२=२६) षड्विंशतिर्भङ्गाः सम्पद्यन्ते, एवमुत्तरत्रापि पदवृद्ध्या द्रष्टव्यम् । **तद्यथा**–यत्र चत्वारि पदानि भजनीयानि तत्र पुनरपि पदवृद्धिरितिकृत्वा पूर्वप्राप्ताः षड्विंशतिर्भङ्गास्त्रिगुणा द्वियुताः क्रियन्ते । तथा च सति (२६×३+२=८०) अशीतिर्भङ्गकाः प्राप्यन्ते, इत्थमेव प्रतिपदवृद्धौ भङ्गवृद्धिः स्वयमेव द्रष्टव्या । एते द्वि-अष्ट-षड्विंशत्यादिभङ्गा अध्रुवपदनिष्पन्ना एव, प्रकृतकरणस्याध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गानयनार्थमभिहितत्वात् । अतो यत्रैकद्व्यादीनि ध्रुवपदानि तत्र तु तन्मत्क एको भङ्गोऽधिकः प्राप्यत इति द्व्यादिभङ्गेष्वमी प्रक्षेप्य इति ।

अस्य प्रकृते योजना त्वेवम्–ओघत आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थितिबन्धका अध्रुवा भणिताः, शेषभूयस्कारादित्रयाणां तु ध्रुवा उक्ता, तथा च सत्यध्रुवपदमेकमितिकृत्वा द्वौ भङ्गौ प्राप्तौ, ध्रुवपदत्रयनिष्पन्नस्त्वेको भङ्गः प्राप्त इत्येवमोघतो ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं त्रयो भङ्गा जाताः । **तद्यथा**–ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमस्य स्यादनेके भूयस्कारस्थितिबन्धकाः,अनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धका इति प्रथमः । अवक्तव्यबन्धकानामभावकाल एवायं प्राप्यते, । द्वितीयभङ्गस्तु स्यादनेके भूयस्कारस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः,एकोऽवक्तव्यस्थितिबन्धक इति । तृतीयभङ्गः पुनस्स्यादनेके भूयस्कारस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽवक्तव्यस्थितिबन्धका इति । आयुर्विषये त्वोघचिन्तायामेक एव भङ्गः, पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वात् । नानापदानां ध्रुवत्वेऽप्येकभङ्गप्राप्तिस्तु सुगमा । तदुच्चारणा त्वेवं भवति–अनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धका अनेकेऽवक्तव्यस्थितिबन्धका इति ।

अथ मार्गणास्थानेषु प्रकृतकरणे योजिते प्राप्तभङ्गविचयः प्रदर्श्यते–नरकगत्योघमार्गणायामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरस्थितिबन्धकानां प्रत्येकं भजनीयतोक्ता, अवस्थितस्थितिबन्धकानां तु ध्रुवत्वमभिहितमित्येवं द्वे पदेऽध्रुवे,एकं ध्रुवम् ,ततश्चाष्टौ भङ्गा अध्रुवाः, अध्रुवपदनिष्पन्ना इत्यर्थः । एकोभङ्गो ध्रुवश्च प्राप्यते, एको भङ्गो ध्रुवपदनिष्पन्नः प्राप्यत इत्यर्थः । एवमुत्तरत्राऽपि विज्ञेयम् । **तदुच्चारणं त्वेवम्**–ज्ञानावरणादीनां सप्तानामन्यतमस्याः [1]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धका इति प्रथमो भङ्ग एकसंयोगी । संयोगस्य प्राधान्यादेकत्वेऽप्येकसंयोगीत्युच्यत इति बोद्धव्यम् । [2]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, एको भूयस्कारस्थितिबन्धक इति द्वितीयो भङ्गः । [3]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, अनेके भूयस्कारस्थितिबन्धका इति तृतीयो भङ्गः । [4]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः,एकोऽल्पतरस्थितिबन्धक इति चतुर्थो भङ्गः । [5]स्यादनेके-

ऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धका इति पञ्चमभङ्गः। एते चत्वारो द्विसंयोगिनो भङ्गा जाताः। त्रिसंयोगिनोऽपि चत्वारो भङ्गा भवन्ति। तद्यथा– [६]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, एको भूयस्कारस्थितिबन्धकः, एकोऽल्पतरस्थितिबन्धकश्चेति षष्ठभङ्गः। [७]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, एको भूयस्कारस्थितिबन्धकोऽनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धका इति सप्तमो भङ्गः। [८]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः, अनेके भूयस्कारस्थितिबन्धकाः, एकोऽल्पतरस्थितिबन्धक इत्यष्टमभङ्गः। [९]स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिबन्धकाः,अनेके भूयस्कारस्थितिबन्धकाः,अनेकेऽल्पतरस्थितिबन्धकाश्चेति नवमभङ्ग इति। इत्थमेव शेषनिरयगतिभेदेषु, चतुर्षु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदेषु, देवगतिसत्क-त्रिंशद्भेदेषु, विकलेन्द्रियसत्कनवभेदेषु, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदे,बादरपृथिव्यादिसत्केषु चतुर्षु पर्याप्तभेदेषु, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे तथा वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेद--विभङ्गज्ञान--सामायिकसंयम--देशसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेष्वित्येवं षट्षष्टिमार्गणास्वपि प्रत्येकमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामेकैकस्या नव नव भङ्गका द्रष्टव्याः।

मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी--पञ्चेन्द्रियौघ--पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ--पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-मत्यादिचतुर्ज्ञान--संयमौघ-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन--शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणारूपास्वष्टाविंशतिमार्गणासु तु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धकानां भजनीयतोक्ताऽतस्त्रीणि पदान्यध्रुवाणि, अवस्थितबन्धकास्तु ध्रुवा उक्ताः, तथा च षड्विंशतिरध्रुवभङ्गा प्राप्ताः, एको भङ्गस्तु ध्रुवः प्राप्तः। इत्येवमेतासु प्रत्येकं सप्तविंशतिर्भङ्गा बोद्धव्याः। भङ्गोच्चारणं तु पूर्ववत्स्वयमेव कर्तव्यमिति।

अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोगा--ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग--छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-मिथ्यात्व-सासादनरूपासु नवमार्गणासु पुनः प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धका अध्रुवा दर्शिताः, अतस्त्रीणि पदान्यध्रुवाणि, नास्त्येकमपि ध्रुवपदम्। कुतः ? नानाजीवानाश्रित्यापि प्रकृतमार्गणानां सान्तरत्वात्। इत्थं ह्यध्रुवपदत्रयीनिष्पन्नाः षड्विंशतिर्भङ्गा लभ्यन्त इति।

काययोगौदारिककाययोगा--ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकरूपासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यबन्धका अध्रुवाः, शेषभूयस्कारादित्रयाणां ध्रुवाश्च दर्शिताः; इत्थं ह्यध्रुवपदस्यैकत्वाद् द्वौ भङ्गौ, एकश्च ध्रुवभङ्ग इत्येवमोघवत् त्रयो भङ्गका भवन्ति।

औपशमिकसम्यक्त्वाऽपगतवेदमार्गणयोश्चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वात् ध्रुवपदस्य चाभावाद-शीतिर्भङ्गाः प्राप्यन्ते; वारत्रयं पदवृद्धावशीतिभङ्गोत्पत्तिस्तु प्राक्करणगाथाव्याख्याने दर्शिता।

तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-शेषसूक्ष्मपृथिव्यादिभेद--वनस्पतिकायौघ-पृथिव्यप्तेजोवायुकायौघभेद--बादरपृथिव्यादिचतुर्भेदा-ऽपर्याप्तबादरपृथिव्यादिचतुर्भेद-प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्त-

मनोऽवमनस्सयिकायौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादित्रितुष्कषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहाररूपास्वेकोनषष्टिमार्गणासु अवक्तव्यस्थितिबन्ध एव नास्ति, शेषभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां तु निरन्तरं प्राप्तेस्त्रीणि पदानि ध्रुवाणीत्येवमेक एव भङ्गः प्राप्यते, केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यबन्धस्य निर्वर्तका भजनीया इतिकृत्वा लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणः प्रकृतभङ्गास्त्रयो द्रष्टव्याः, शेषकर्मणां तु यथोक्त एक एवेति ।

अथायुषो द्विविधबन्धकास्त्वनुपदमुक्ततिर्यग्गत्योघाद्येकोनषष्टिमार्गणाभ्यः कार्मणकाययोगा-ऽनाहारिमार्गणाद्वयं विहाय शेषासु सप्तपञ्चाशन्मार्गणासु काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु च प्रत्येकं ध्रुवं लभ्यन्त इतिकृत्वा तास्वोघवदेको भङ्गो द्रष्टव्यः। शेषमार्गणास्वायुर्बन्धकानां प्राप्तिरध्रुवा उक्ता अतः शेषमार्गणासु द्वेऽपि पदे भजनीये, तथा च सत्युक्तकरणानुसारेणाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्त इति । अत्र सर्वत्रापि भङ्गोच्चारणं तु स्वयमेव कर्तव्यमिति ॥६०७॥ अथैकसंयोग्यादिभङ्गान् पृथग्जिज्ञासतां कृते करणान्तरमाह—

भयणीअपयाण कमा संखा ठप्पा विपज्जयेणाहो ।
सुवरिल्लाए पढमा हेट्ठिल्ला खलु विभत्तव्वा ॥६०८॥
बीआ पुव्वत्ताए लद्धीए हेट्ठिमा गुणिअ पच्छा ।
भइअव्वुवरिमगाए एमेव जहुत्तरं कज्जं ॥६०९॥
जाओ पढमाईओ पत्ता लद्धीउ ताउ णायव्वा ।
कमसो एगाईणं संयोगाणं खलु विगप्पा ॥६१०॥
एगाई संयोगी भंगा कमसो दुगेण ताउ कमा ।
दुगुणदुगुणेण गुणिआ ते एगाणेगजीवाणं ॥६११॥

(प्रे०) "भयणीअपयाण कमा" इत्यादि, "भयणीअपयाणकमा" त्ति भजनीयपदानां क्रमात् "संख" त्ति "संख्याः"-संख्यादर्शकचिह्नानि, एक-द्वि-त्र्याद्यङ्का इति यावत् । ताः "ठप्प" त्ति 'स्थाप्याः' न्यसनीयाः, एक-द्व्यादिभजनीयपदेषु सत्स्वेतावतामेकादीनामेकोत्तराणामङ्कानां न्यासः कर्तव्य इति भावः । एवमेवोत्तरत्राऽपि विज्ञेयम् । अत्र यस्यां सर्वाधिकानि भजनीयपदानि तस्यामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सममेव भाव्यते, तत्रौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां भजनीयपदानि चत्वारि, अतस्तत्संख्यका एकोत्तरा एकाद्यङ्काः क्रमेण स्थाप्याः,[१ २ ३ ४]एककः, द्विकः,त्रिकः,चतुष्क इति । ततः किं कर्तव्यमित्याह–"विपज्जयेणाहो" त्ति 'भयणीअपयाण संखा ठप्पा' इत्यनुवर्तते, अतो भजनीयपदानां संख्याः क्रमेण स्थापयित्वाऽनन्तरम् "अहो" त्ति

तासां स्थापितसंख्यानामधो भजनीयपदानां संख्या 'विपर्ययेण'-व्यत्यासेन स्थाप्या इत्यर्थः। तथा च सति प्रकृते [१ २ ३ ४ / ४ ३ २ १] पूर्वस्थापितैकसंख्याया अधश्चतुःसंख्या, द्विसंख्याया अधस्त्रिसंख्या, त्रिसंख्याया अधो द्विसंख्या, चतुःसंख्याया अध एकसंख्येति। ततः किं कर्तव्यमित्याह-**"सुवरिल्लाए"** इत्यादि, **"पढमा हेट्ठिला खलु विभत्तव्व"** त्ति प्रथमाऽधस्तनी संख्या खलु विभक्तव्या। कयेत्याह-**"सुवरिल्लाए"** त्ति 'स्वोपरितनया'-स्वोपरितनवर्तिन्या संख्यया, स्वमस्तकस्थेनाङ्केनेत्यर्थः। तथा च सति प्रकृते [१)४(४ लब्धि·] प्रथमाया अधस्तन्याश्चतुःसंख्यायास्तदुपरितन्यैकसंख्यया भागे हृते लब्धं चत्वार इति भागफलम्, इदं हि लब्धिरप्युच्यते।

अथ द्व्याद्यङ्केषु यत्करणीयं तदाह-**"बीआ पुव्वत्ताए"** इत्यादि, द्वितीया **"हेट्ठिमा"** त्ति अधस्तनी संख्या **"पुव्वत्ताए लद्धीए"** त्ति पूर्वाऽऽप्तया लब्धया,-पूर्वप्राप्तेन भागफलेनेत्यर्थः। **"गुणिअ"** त्ति गुणयित्वा, गुणनीयेति भावः, तथा च सति प्रकृते [३×४=१२] द्वादशसंख्या प्राप्ता। अतः पश्चात् किं कर्तव्यमित्याह-**"पच्छा भइअव्वुवरिमगाए"** ततः पश्चात् सा प्राप्तसंख्या स्वोपरितनवर्तिन्या संख्यया भक्तव्येत्यर्थः। तथा च कृते प्रकृते [२)१२(६ लब्धि·] षट्संख्या प्राप्ता। **"एमेव जहुत्तरं कज्जं"** तत्र "एमेव" त्ति यथाऽनन्तरमुक्तं तथैव, पूर्वप्राप्तलब्ध्योत्तरवर्त्यधस्तनसंख्याया गुणनम्, तत उपरितनसंख्यया प्राप्तगुणनफलस्य भागहरणं 'यथोत्तरं कार्यं' यथोत्तरस्थापिताङ्केषु कार्यमित्यर्थः। ततश्च प्रकृते तृतीयस्थाने [६×२=१२, ३)१२(४-लब्धिः] चतुःसंख्या भागफलतया प्राप्ता, पुनरपि तथैव कृते [४×१=४, ४)४(१ लब्धिः] चतुर्थस्थाने लब्धावेकसंख्या प्राप्तेति।

या एता लब्धयः प्राप्तास्ता एवैकादिसंयोगिनो भङ्गा बोद्धव्या इति ज्ञापयन्नाह-**"जाओ पढमाईओ"** इत्यादि, या अनन्तरोक्तप्रक्रियया प्रथमादयो 'लब्धयः'-चतुष्कादिनि प्रथमादिभागफलानित्यर्थः। प्राप्तास्ता 'खलु' निश्चयेन क्रमेणै 'कादीनां'-एक-द्वि-त्र्यादीनां संयोगानां 'विकल्पाः'-भङ्गा ज्ञातव्याः। तथा च सति प्रकृते चत्वार एकसंयोगिनो भङ्गाः, षड् द्विसंयोगिनो भङ्गाः, चत्वारस्त्रिसंयोगिनो भङ्गाः, एकश्चतुःसंयोगी भङ्गश्च प्राप्तः।

किमेतावन्त एव प्रकृते भङ्गा बोद्धव्याः? न, यत एते बन्धकसामान्यापेक्षया सन्ति, प्रकृते भजनीयपदेषु कालभेदेनैकानेकबन्धकानां सम्भवात् तदपेक्षया द्रष्टव्याः। नन्वेकानेकबन्धकापेक्षया तर्हि कियन्तो भङ्गा इत्याह-**"एगाई संयोगी"** त्यादि, अनन्तरप्राप्ता एकादिसंयोगिनो भङ्गाः 'क्रमशः' यथाक्रमं, संस्थाप्येति शेषः। **"गुणिआ ते एगाणेगजीवाणं"** इति, गुणिताः सन्तस्ते 'एकानेकजीवानाम्'-एकानेकबन्धकजीवानां, भङ्गका भवन्तीति शेषः।

नन्वेत एकादिसंयोगिनो भङ्गाः क्रमेण संस्थाप्य केन गुणिताः सन्त एकानेकबन्धकानां भङ्गा भवन्तीत्याह-**"दुगेण ताउ कमा दुगुणदुगुणेण"** त्ति प्रथमा द्विकेन, ततः क्रमात्

द्विगुणद्विगुणेन,-पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरं द्विगुणेन द्विगुणेन गुणकेनेत्यर्थः । तथा च प्रकृते एते पूर्वोक्ता एकसंयोग्यादिभङ्गाः स्थाप्यन्ते-(४,६,४,१), ततः प्रथमाश्चत्वारो द्विकेन ताड्यन्ते, (४×२=८) तदा जाता अष्टावेकसंयोगिनो भङ्गाः । ततो द्वितियाः षट् पूर्वापेक्षया द्विगुणेन चतुरात्मकेन गुणकेन ताड्यन्ते (६×४=२४), तदा जाताश्चतुर्विंशतिर्द्विसंयोगिनो भङ्गाः । ततस्तृतीयाश्चत्वारः पूर्वापेक्षया द्विगुणेनाऽष्टात्मकेन गुणकेन गुणिताः सन्तो (४×८=३२) जाता द्वात्रिंशत् त्रिसंयोगिनो भङ्गाः । एवमन्त्य एकः पूर्वापेक्षया द्विगुणेन षोडशात्मकेन गुणकेन हन्यते (१×१६=१६), तदा जाताः षोडश भङ्गाश्चतुःसंयोगिनः । एतेषां सर्वेषां सङ्कलने (८+२४+३२+१६=८०) जाता अशीतिर्भङ्गाः ।

इत्थमौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्राग्दर्शितकरणेनेव प्रकृतकरणेनाप्यशीतिर्भङ्गाः प्राप्ताः, केवलमत्रैकद्व्यादिसंयोगिनो व्यक्ता इति । अथ यत्र त्रीणि पदानि भाज्यानि तत्र भङ्गानयनार्थं प्रकृतकरणानुसारेण केवला **स्थापना** प्रदर्श्यते—

१ २ ३ ३ २ १	१)३(३ प्रथमा ३ लब्धि ०	३ × २ ६	२)६(३ द्वितीया ६ लब्धि ०	३ × १ ३	३)३(१ तृतीया ३ लब्धि ०	प्र० लब्धि ३ × २ ६	द्वि० लब्धि ३ × ८ + १२	तृ० लब्धि १ × ८ + ८	भङ्ग-विचय = २६

यत्रैकमपि पदं ध्रुवं तत्रैको भङ्गोऽन्यः प्रक्षेप्तव्यः, इत्थं हि मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु प्राग्वत्सप्तविंशतिर्भङ्गाः स्युः । यत्र पुनरेकमपि ध्रुवपदं नास्ति तास्वपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्राग्वत् षड्विंशतिर्भङ्गा लभ्येरन्निति । इत्थमेवान्यत्रापि यथायथं द्रष्टव्यमिति ॥६०८...६११॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धे भङ्गविचयप्रदर्शकयन्त्रकम्						
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीना प्रत्येकम्					आयुषः	
कुत्र ?	भूयस्कारा-ऽल्पतरपद०	अवस्थित०	अवक्तव्य-पदे सति	अवक्तव्य-पदेऽसति	अवक्तव्या-ऽल्पतरपद०	भङ्गा.
अपर्याप्तमनुष्यादिषु सान्तर-मार्गणासु	अध्रुव०	अध्रुव०	भङ्गा ८०	भङ्गा २६	अध्रुव०	८
असंख्यलोक-तदधिकजीवपरिमाणासु निरन्तरमार्गणासु	ध्रुव०	ध्रुव०	ओघवत् ३	१	ध्रुव०	ओघवत् १
शेषनिरन्तरमार्गणासु	अध्रुव०	ध्रुव०	२७	६	अध्रुव०	८

तदेवं पृथक्पृथगेकसंयोग्यादिभङ्गकान् जिज्ञासूनां कृते दर्शितं तथाविधं करणान्तरम् । तस्मिंश्च दर्शिते गतं पञ्चमं भङ्गविचयद्वारमिति ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ "भागो" इत्यनेनोद्दिष्टे षष्ठे भागद्वारे मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकभागान् प्रकटयन्नाह–

भूगारप्पयराणं सत्तण्हं बंधगा असंखंसो ।
भागा अवट्ठिअस्स उ असंखिया<ऽ>ण्णस्स<ऽ>णंतंसो ॥६१२॥

(प्रे०) "भूगारप्पयराण" मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरयोः स्थितिबन्धयोः प्रत्येकं 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः "असंखंसो" त्ति असंख्यांशः, भूयस्कारादिसर्वबन्धकानामसंख्येयतमैकभागवर्तिन इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि स्थितिबन्धकजीवानपेक्ष्यासंख्यैकभागबहुभागादयस्तत्तद्बन्धका ज्ञेयाः, न पुनः सर्वजीवापेक्षयेति। "भागा अवट्ठिअस्स उ असंखिय" त्ति प्रकृतत्वात् सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवस्थितस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकास्त्वसंख्येयाः "भाग" त्ति बहुभागाः। अत्र बहुभागा इत्येतद् बहुवचनान्तनिर्देशाद् विज्ञेयम्। यत्रैकवचनान्तो निर्देशस्तत्रैको भागो बोद्धव्यो यत्र तु बहुवचनान्तो निर्देशस्तत्र बहुभागा इति भावः। "ण्णस्स" त्ति पूर्वमकारस्य दर्शनाद् 'अन्यस्य'-दर्शितान्यस्य, सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्येति भावः। तस्य किमित्याह-"णंतंसो" त्ति अत्रापि पूर्वमकारस्य दर्शनादनन्तांशः-अनन्ततमैकभागः, बन्धका इति गम्यते। तत्रैकजीवमाश्रित्य शेषबन्धत्रयस्योत्कृष्टप्रवर्तनकालपेक्षयाऽवस्थितस्थितिबन्धस्योत्कृष्टप्रवर्तनकालस्याऽसंख्येयगुणत्वात्तद्बन्धकानां शेषबन्धकापेक्षयाऽसंख्येयगुणः सञ्चयः प्राप्यत इति तेऽसंख्येयबहुभागाः कथिताः। तत एव शेषा असंख्येयैकभागप्रमाणाः प्राप्यन्त इति तु सुगमम्। तत्रापि सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धकास्तु भूयस्कारादिबन्धकवदेकेन्द्रियादयो न भवन्ति, किन्तु केचन मनुष्या देवाश्चैवेति ते पुनरनन्तैकभागप्रमाणा अभिहिता इति ॥६१२॥

उक्ताः सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकभागाः। अथायुषो द्विविधबन्धकभागानाह—

आउस्स असंखेज्जा भागा<ऽ>प्पयरस्स बंधगा हुन्ति ।
भागो<ऽ>वत्तव्वस्स उ जाणेयव्वो असंखयमो ॥६१३॥

(प्रे०) "आउस्स" इत्यादि, आयुःकर्मणः "<ऽ>प्पयरस्स बन्धगा हुन्ति" त्ति अल्पतरस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका भवन्ति। कियन्त इत्याह–"असंखेज्जा भाग" त्ति असंख्येया बहुभागा इत्यर्थः। कुतः ? इति चेद्, एकजीवाश्रयावक्तव्यबन्धकालापेक्षयाऽल्पतरबन्धकालस्योत्कृष्टपदेऽसंख्येयगुणत्वात् तदीयबन्धकपरिमाणस्य संख्यातीतत्वाच्च तद्बन्धकसञ्चयोऽप्यवक्तव्यबन्धकसञ्चयापेक्षयाऽसंख्यगुणः प्राप्यते, तथा च भागचिन्तायामपि यथोक्ता एव भवन्तीति ॥६१३॥

उक्ता ओघतः। अथादेशतो दिदर्शयिषुरादौ सप्तप्रकृतिविषयान् प्राह—

पज्जमणुस-मणुसीसु सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसु ।
मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुहमेसु ॥६१४॥
सत्तण्ह संखभागो भूगाराईण बंधगा दोण्हं ।
संखेज्जा खलु भागा अवट्ठिअस्स य मुणेयव्वा ॥६१५॥

(प्रे०) **"पज्जमणुसे"** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः **"सव्वत्थ"** त्ति देवगतिसत्के सर्वार्थसिद्धविमानभेदे, तथाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगात्मकयाहारकद्विकेऽपगतवेदमार्गणायां चेत्यर्थः। तथा **"मणणाणे"** त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। एतासु किमित्याह—**"सत्तण्ह"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां **"भूगाराईण"** त्ति भूयस्काराऽल्पतरलक्षणयोर्भूयस्कारादयोः **"दोण्हं"** त्ति द्वयोः स्थितिबन्धयोः प्रत्येकं बन्धकाः **"संखभागो"** त्ति मार्गणागतबन्धकजीवानां संख्येयतमैकभागप्रमाणा इत्यर्थः। **"संखेज्जा खलु"** इत्यादि, तत्र खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, चकारस्तु पादपूर्त्यै, ततः सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकाः खलु संख्येया बहुभागा ज्ञातव्या इत्यर्थः। एतासु प्रत्येकं बन्धकजीवा एव संख्येया इति कृत्वा संख्येयैकभागबहुभागा अभिहिताः। भावनास्त्वोघवद् द्रष्टव्या ॥६१४-६१५॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धत्रयस्य बन्धकभागान् दर्शयति—

सेसासु असंखयमो भागो सत्तण्ह बंधगा णेया ।
भूगारप्पयराणं असंखिया ऽवट्ठिअस्संसा ॥६१६॥

(प्रे०) **"सेसासु"** इत्यादि, उक्तशेषास्वष्टपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु पुनः प्रत्येकं संख्यातीतजीवानां सद्भावात्तेषां प्रत्येकं भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्वामित्वाच्च **"सत्तण्ह"** त्ति सप्तप्रकृतीनां **"भूगारप्पयराणं"** ति भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः **"असंखयमो भागो"** त्ति असंख्यतम एको भागो ज्ञेयाः। **"असंखियाऽवट्ठिअस्संसा"** त्ति सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका असंख्यबहुभागप्रमाणा इत्यर्थः। गतार्थः ॥६१६॥

अथ यासु ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमानामवक्तव्यस्थितिबन्धो भवति तासु तस्य बन्धका शेषबन्धकानां कतितमे भागे वर्तन्त इत्येतद् दिदर्शयिषुर्लाघवार्थं व्याप्त्याह—

जासु खलु अवत्तव्वो तासु जावइअ संखिया जीवा ।
हुन्ते तत्तियभागो णायव्वा बंधगा तस्स ॥६१७॥

(प्रे०) **"जासु खलु"** इत्यादि, यासु खलु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धसद्भावः प्रागभिहितस्तासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु **"जावइअसंखिया जीवा हुन्ति"** त्ति यावत्संख्येया

जीवा भवन्ति, संख्येयाः, असंख्येया, अनन्ता वा यावन्तः स्थितिबन्धकजीवाः सन्तीत्यर्थः। "तत्तिअभागो णायव्वा बंधगा तस्स" त्ति 'तावद्भागो' तावत्संख्येयतमाद्येकभागस्तस्य ज्ञानावरणादेरवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'बन्धकाः'-निर्वर्तका ज्ञातव्याः।

अयम्भावः–यासु मार्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितेर्बन्धकाः सन्ति तासु ते कस्मिंश्चिदप्येकसमय उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव,न पुनरधिकाः,प्रपतदुपशमकादीनामेव सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धसम्भवात्। यद्यप्येवं तथाऽपि तदन्येषामपि तत्तन्मनुष्यगत्योघादिमार्गणागतानां भूयस्काराद्यन्यतमस्थितिबन्धस्य नियमेन प्रवृत्तेस्तेऽपि बन्धकास्तु सन्त्येव,ते च कासुचिन्मार्गणासु संख्येयाः, अन्यासु कासुचिदसंख्येयाः, अपरासु कासुचिदनन्ताः सन्ति, तेभ्योऽवक्तव्यबन्धकसंख्यया भागे हृते यासु संख्येयाः जीवास्तासु संख्येयैकभागः प्रस्तुतावक्तव्यबन्धकाः प्राप्यन्ते, शेषास्तु संख्येयबहुभागा भूयस्कारादिस्थितिबन्धकतया प्राप्यन्ते, एवं यास्वसंख्येया जीवास्तास्वेतेऽवक्तव्यबन्धकजीवा असंख्यतमैकभागप्रमाणा आप्यन्ते,भूयस्कारादिबन्धकतया त्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः सम्पद्यन्ते। इत्थमेवानन्तजीवराशिविषयेऽपि बोद्धव्यम्। तथा च सति मनुष्यगत्योघ-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ–क्षायिकसम्यक्त्वौ–पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिरूपास्वसंख्येयजीवराशिकमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामप्यवक्तव्यस्थितिबन्धका असंख्येयैकभागगता भवन्ति। पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-गतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणास्तु प्रत्येकं संख्येयजीवराशिका इतिकृत्वा तासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धकाः संख्येयैकभागप्रमाणा बोद्धव्याः। तदन्यासु पुनः काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु लोभमार्गणायां च जीवानामानन्त्यादवक्तव्यबन्धका अप्यनन्ततमैकभागप्रमाणा अवसातव्याः, केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मण एवावक्तव्यस्थितिबन्धस्य सम्भवात् तस्यैव विज्ञेयाः, न पुनः शेषषण्णामपीति ॥६१७॥

तदेवमुक्ताः सप्तानामादेशतोऽपि भूयस्कारादिस्थितिबन्धकभागाः। अथ शेषस्याऽऽयुषस्तानाऽऽदेशतो व्याचिकीर्षुराह—

पज्जमणुस-मणुसीसु आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसु।
मणणाण-संयमेसु समइअ-छेअ-परिहारेसु ॥६१८॥
सुइल-खइएसु भागा संखेज्जाऽऽउस्स बंधगा णेया।
अप्पयरस्स उ भागोऽवत्तव्वस्स खलु संखयमो ॥६१९॥

(प्रे०) "पज्जमणुसमणुसीसु" इत्यादि, प्राग्वत् पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-हारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽऽनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तदेवगतिमार्गणाभेदेषु मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ–सामायिक–छेदोपस्थापन–परिहारविशुद्धिकमार्गणासु शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्चे-

त्येवमेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् **"ऽऽउस्स बंधगा णेया अप्पयरस्स उ"** त्ति आयुषोऽल्पतर-स्थितिबन्धस्य 'बन्धकाः' निर्वर्तकास्तु ज्ञेया इत्यर्थः। कियन्तो भागा इत्याह–**"भागा संखेज्ज"** त्ति मार्गणागतायुर्बन्धकजीवानपेक्ष्य संख्येया बहुभागा इत्यर्थः। **"भागोऽवत्तव्वस्स खलु संखयमो"** त्ति तस्यैवायुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका खलु संख्येयतमो भागः, आयुर्बन्धकानां संख्येयतमैकभागगता इत्यर्थः। अत्रोपपत्तिस्त्वोघवत्कर्तव्या, नवरं प्रकृतसर्वमार्गणास्वायुषो बन्धकानां सामयिकं परिमाणं संख्येयमेव, तच्च पर्याप्तमनुष्याणामेवायुर्बन्धकतया लाभात् पर्याप्तमनुष्यसत्कायुष एव बन्धभावाद्वा। अन्यतरस्माद्धेतोरिति ज्ञेयम्। विशेषार्थिना तु द्वितीयाधिकारभागद्वारवृत्तिर्विलोक्येति ॥६१८-६१९॥ अथ शेषमार्गणास्वाह—

सेसासु बंधगा खलु अप्पयरस्साऽऽउगस्स णायव्वा।
भागा उ असंखेज्जाऽवत्तव्वस्स य असंखंसो ॥६२०॥

(प्रे०) **"सेसासु बंधगा"** इत्यादि, उक्तशेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य बन्धका खलु ज्ञातव्याः। कियन्त इत्याह–**"भागा उ असंखेज्जा"** त्ति असंख्येया बहुभागा एवेत्यर्थः। **"ऽवत्तव्वस्स य असंखंसो"** त्ति आयुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकास्त्वसंख्यांशः,असंख्येयतमैकभागवर्तिन तुइत्यर्थः। एते भागाः प्रत्येकं तत्तन्मार्गणोक्तैकजीवाश्रयबन्धकालतारतम्यमपेक्ष्य सर्वथौघवद्भावनीया इति ॥६२०॥

तदेवमभिहिता आदेशतोऽपि शेषस्यायुषोऽल्पतरादेः स्थितिबन्धस्य बन्धकभागाः, तेषु चाऽभिहितेषु गतं षष्ठं भागद्वारम्।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां भागप्रदर्शकयन्त्रकम्

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्				आयुष		
कुत्र ?	भूयस्काराऽल्पतर०	अवस्थितबन्धका	अवक्तव्यबन्धका	कुत्र ?	अल्पतरबन्धका	अवक्तव्यबन्धकाः
ओघवद् अनन्तजीवराशिकमार्गणासु–	असंख्यैकभागः	असंख्यबहुभागाः	अनन्तैकभाग	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आहारकद्विक० आनतादि-१८ देवभेदाः,मनःपर्यवज्ञान० सयमौघ० सामायिक० छेद० परिहार० शुक्ल० क्षायिक० २९	संख्येयबहुभागा	संख्येय एको भाग०
असंख्यजीवराशिकमार्गणासु–	,,	,,	असंख्यैकभाग			
संख्येयजीवराशिकमार्गणासु–	संख्येयैकभाग	संख्येयबहुभागा.	संख्येयैकभागः	**ओघवत्** शेषमार्गणासु–	असंख्यबहुभागा.	असंख्यैकभागः

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे षष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते "परिमाण" इत्यनेन प्रागुद्दिष्टे परिमाणद्वार आदौ तावदोघतो मूलप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानामुत्कृष्टपदगतं परिमाणं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह हुन्ति तिण्हं भूगाराईण बंधगाऽणंता ।
संखेज्जाऽवत्तव्वस्साऽणंताऽऽउस्स दुपयाणं ॥६२१॥

(प्रे०) "सत्तण्ह हुन्ति तिण्ह"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितस्थितिबन्धात्मकानां त्रयाणां भूयस्कारादीनां प्रत्येकं बन्धकाः "णंता" त्ति विश्लेषप्राप्तस्याऽकारस्य दर्शनाद् अनन्ता भवन्ति । "संखेज्जाऽवत्तव्वस्स" त्ति तासामेव सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य संख्येयाः, बन्धका भवन्तीत्यनुवर्तते । सुगमं चैतत्, यतः सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनः केचन देवा उपशमश्रेणिगता मनुष्या वा भवन्ति, शेषभूयस्कारादिसर्वबन्धकास्त्वेकेन्द्रिया अपीति । "ऽणंताउस्स दुपयाणं" ति शेषस्याऽऽयुःकर्मणोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकमनन्ताः, बन्धका इत्यत्राप्यनुवर्तते । एतदपि सुगमम्, सर्वेषामायुर्बन्धकानां नियमेन द्विविधबन्धस्य भावात् साधारणवनस्पतिकायजीवेषु प्रतिसमयमनन्तानामायुर्बन्धकानां लाभाच्चेति ॥६२१॥

अथ मार्गणास्थानेषु प्रकृतबन्धकपरिमाणं प्रचिकटयिषुरादौ तावत्सप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

एगिंदिणिगोएसुं सव्वेसु तह तिरियम्मि वणकाये ।
काय-उरालदुगेसुं कम्म-णपुम-चउकसायेसुं ॥६२२॥
दुअणाणा-ऽयत-अणयण-असुहतिलेस-भवियियर-मिच्छेसुं ।
अमणा-ऽऽहारियरेसुं सत्तण्होघव्व तिपयाणं ॥६२३॥

(प्रे०) "एगिंदिणिगोएसुं" इत्यादि, प्राग्वत् सर्वेस्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु निगोदवनस्पतिभेदेषु, तथा तिर्यग्गत्योघे, वनस्पतिकायौघे, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगेषु कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु । अन्या मार्गणाः संगृह्णन्नाह-"दुअणाणायते"त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभकृष्णादित्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्यमिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिरूपास्वष्टत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "सत्तण्होघव्व तिपयाणं" ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां प्रत्येकं बन्धका ओघवदनन्ता इत्यर्थः । हेतुरप्यत्रौघवदेव द्रष्टव्य इति ॥६२२-६२३॥

अथ प्रस्तुतसप्तप्रकृतिविषयमुक्तशेषमार्याद्वयेनाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥६२४॥
सत्तण्हं संखेज्जा तिपयाण असंखिया उ सेसासुं ।
जासु पुण अवत्तव्वो तासुं खलु तस्स संखेज्जा ॥६२५॥

(प्रे०) "पज्जमणुसे"त्यादि, प्राग्वत् पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारकातन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहार-विशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां मूलप्रकृतीनां "संखेज्जा तिपयाणं" ति प्राग्वद् भूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां प्रत्येकं संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते । "असंखिया उ सेसासु" त्ति अनन्तरोक्तस्य 'सत्तण्हं' 'तिपयाणं' चेत्यस्य पदद्वयस्यात्राप्यनुवर्तनादुक्तशेषासु नरकगत्योघादिविंशत्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारादीनां त्रिपदानां प्रत्येकमसंख्येयाः,बन्धका इति प्राग्वत् । कुतः ? तत्तन्मार्गणागतैः प्रत्येक-जीवैर्भूयस्कारादिस्थितिबन्धत्रयस्य प्रत्यन्तमुहूर्तं करणात्, मार्गणागतजीवराशिवदसंख्येयादिकमेव प्रकृतबन्धकपरिमाणमप्याप्यते, तच्च यथोक्तमेवेति । अथावक्तव्यस्थितिबन्धस्य बन्धकपरिमाण-मादेशतो दर्शयति-"जासु खलु" इत्यादिना, एतदपि प्राग्वद्भावनीयमिति ॥६२४-६२५॥

उक्तमादेशतोऽपि प्रकृतबन्धकपरिमाणं सप्तप्रकृतीरधिकृत्य । अथायुष्कमधिकृत्याह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअ-वणकायु-रालियदुगेसुं ।
णपुम-चउकसायेसुं दुअणाणा-ऽयत-अचक्खूसुं ॥६२६॥
अपसत्थतिलेसासुं भवियर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारे ।
आउस्स हुन्ति दोण्ह वि पयाण खलु बन्धगाऽणंता ॥६२७॥

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, सर्वशब्दस्यैकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियभेद-सर्वनिगोदभेद-वनस्पतिकायौघ-काययोगसामान्यौ-दारिका-दारिकमिश्रकाययोगेषु, नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषायमार्गणासु, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु तथा "अपसत्थे" त्यादि, कृष्णाद्यप्रशस्तत्रिलेश्यामार्गणासु, भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणास्वा-हारिमार्गणायां चेत्येवं षट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषः "दोण्ह वि पयाण" त्ति अल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोर्बन्धका खल्वनन्ता भवन्ति, सुगमं गतार्थं चेति ॥६२७॥

अथ शेषमार्गणास्वायुर्द्वयेनाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥६२८॥
सुइल-खइएसु णेया दोण्हं वि पयाण वंधगाऽऽउस्स ।
संखेज्जा, सेसासुं असंखिया हुन्ति विण्णेया ॥६२९॥

(प्रे०) "**पज्जमणुसमणुसीसु**" इत्यादि, प्राग्वत् पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-ऽऽहारककाय-योगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा--ऽऽनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तदेवगतिभेद–मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन--परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि सत्पदयोर्बन्धकाः संख्येया ज्ञेयाः । "**सेसासु**" ति उक्तशेषासु नरकगत्योघाद्यष्टनवतिमार्गणासु प्रत्येकमसंख्येया विज्ञेया भवन्ति, आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोर्बन्धका इत्यनुवर्तते । कुतोऽसंख्येयाः ? एतासु प्रत्येकमसंख्यजीवानां सद्भावादसंख्येयजीवराशिमत्कायुषो बन्धप्रायोग्यत्वाच्च । विशेषतस्तु प्राग्वद्भाव्यमिति ।

शेषमार्गणाभिधानानि त्वेवम्–अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्योघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवौघ-भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता देवगतिभेदाः, नवविकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्काः प्रत्येकं सप्त सप्तेतिकृत्वाऽष्टाविंशतिभेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद--पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान--विभङ्गज्ञान--देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥६२८-६२९॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां परिमाणप्रदर्शकयन्त्रकम्

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्			आयुष	
कुत्र ?	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धका.	अवक्तव्य-बन्धका.	कुत्र ?	अल्पतरा-ऽवक्तव्यबन्धका.
ओघवद् अनन्तजीवराशिकमार्गणासु–	अनन्ता	संख्येया	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आहारकद्विक० आनतादि-सर्वार्थसिद्धविमानान्तदेवभेद० मनःपर्यवज्ञान० संयमौघ० सामायिक० छेद० परिहार० शुक्ल० क्षायिक० २९	संख्येया;
असंख्येयजीवराशिकमार्गणासु–	असंख्येया	,,	उक्तशेषासंख्यजीवराशिकमार्गणासु–	असंख्येयाः
संख्येयजीवराशिकमार्गणासु–	संख्येया.	,,	**ओघवद्** अनन्तजीवराशिकासु–	अनन्ताः

तदेवमभिहितमोघादेशोभयथा सर्वासां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानामुत्कृष्ट-पदगतं परिमाणम् । तथा च सति गतं सप्तमं परिमाणद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे
तृतीये भूयस्काराधिकारे सप्तमं
परिमाणद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथाऽष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते क्षेत्रद्वारे मूलप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां तदोघतः प्रतिपादयन्नाह—

सत्तण्ह बंधगा खलु भूओगाराइतिण्ह सव्वजगे ।
हुन्ति अवत्तव्वस्स उ लोगस्स असंखिये भागे ॥६३०॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह बंधगा**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**भूओगारा-इतिण्ह**" त्ति अवक्तव्यस्थितिबन्धवर्जानां शेषाणां भूयस्कारादित्रिविधस्थितिबन्धानां प्रत्येकं बन्धकाः खलु "**सव्वजगे**" त्ति 'सर्वजगति' सर्वलोके, भवन्तीति क्रियाऽन्वयः । सुगमं चैतत् , सूक्ष्मैकेन्द्रियादिभिरपि प्रस्तुतभूयस्कारादिस्थितिबन्धत्रयस्य निर्वर्तनात्तेषां च सर्वलोकव्यापित्वादिति । "**अव्वत्तव्वस्स उ**" त्ति तासामेव सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकास्तु लोकस्य 'असंख्येय-भागे'-असंख्येयतम एकभागे, भवन्तीति पूर्वेणान्वयः । एतदपि सुगममेव, उपशमश्रेणितोऽद्धा-क्षयेण भवक्षयेण वा निपततामेव तत्स्वामित्वादिति ॥६३०॥

अथाऽऽयुषोऽल्पतरादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रमोघतः प्राह—

आउस्स सव्वलोए दोण्हं वि पयाण बंधगा णेया ।

(प्रे०) "**आउस्से**"त्यादि, ओघत आयुःकर्मणः "**दोण्हं वि पयाण**" त्ति अल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः "**सव्वलोए**"त्ति सर्वस्मिन्नपि लोके ज्ञातव्याः । कथम् ? स्वस्थानतोऽपि समग्रलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपि तत्स्वामित्वादिति ॥

उक्तमोघतः । अथाऽऽदेशतः भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं दिदर्शयिषुरादौ सप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

सत्तण्ह बंधगा खलु भूगाराईण तिण्ह सव्वजगे ॥६३१॥ (गीतिः)
तिरिये सव्वेगिंदिय-निगोद-सेससुहुमेसु वणकाये ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसुं ॥६३२॥
पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।
कम्मण-णपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥६३३॥
अयता-ऽचक्खूसु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥६३४॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "**सत्तण्ह बंधगा खलु**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां "**भूगाराईण तिण्ह**" त्ति अवक्तव्यस्थितिबन्धवर्जानां भूयस्कारादीनां त्रयाणां बन्धकाः खलु 'सर्वजगति'-सम्पूर्णलोके, भवन्तीति शेषः । कासु मार्गणास्वित्याह-"**तिरिये**" इत्यादि, सार्धत्रयगाथा अपि सुगमशब्दार्थाः । तासां **पिण्डार्थः पुनरयम्**-तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-शेषद्वादशसूक्ष्मपृथिवीकायादिभेद-वनस्पतिकायौघ-पृथिवीकायादिवायुकायान्तचतुरोघभेद-बादरपृथिव्यादिचतुर्भेदाऽपर्याप्तबादरपृथिव्यादिचतुर्भेद-प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-काययोगसामान्यौदारिकौदारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहार्य-ऽनाहारिरूपासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमसंख्येयलोकप्रदेशराशिप्रमाणानां सूक्ष्मपृथिव्याद्यन्यतमजीवानां प्रवेशात् तेषां स्वस्थानतो मारणान्तिकसमुद्घातेन वा सर्वलोकव्यापित्वाच्च क्षेत्रमपि तदनुसारेण सर्वलोकः प्राप्यत इति ॥६३१-६३२-६३३-६३४॥ अथान्यत्राह—

भूओगाराईणं तिण्हं बायरसमत्तवाउम्मि ।
सत्तण्ह बंधगा खलु लोगम्मि हवन्ति देसूणे ॥६३५॥

(प्रे०) "**भूओगाराईणं**" इत्यादिना, बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादीनां त्रयाणां बन्धकाः खलु देशोने लोके भवन्ति । कुतः ? असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वेन तेषां बादरपर्याप्तवायुकायिकानां सर्वलोकाव्याप्तेः, स्वस्थानस्तु तेषां देशोनलोकावस्थायित्वाच्चेति । एतच्च विस्तरतो जिज्ञासुना मूलप्रकृतिस्थितिबन्धद्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारवृत्तिर्विलोकनीया, तत्र तस्य सुप्रपञ्चितत्वादिति ॥६३५॥ शेषमार्गणास्वाह—

सेसासुं सत्तण्हं भूगाराईण बंधगा तिण्हं ।
लोगाऽसंखियभागे जहऽवत्तव्वो तहेवं से ॥६३६॥

(प्रे०)"सेसासु" इत्यादि, उक्तशेषासु नरकगत्योघादिपञ्चाधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं मार्गणागतनारकादिजीवानामसंख्येयलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकतया न मारणान्तिकसमुद्घातादिनाऽपि सर्वलोकव्यापिलोकबहुभागव्यापित्वं तेषां, स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य त्वेते लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनः, तथा च सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादीनां त्रयाणां बन्धका लोकाऽसंख्येयभागे प्राप्यन्ते। अत्रापि प्रत्येकं मार्गणागतानां जीवानां व्याप्यक्षेत्रस्योपपत्तिर्विस्तरतस्तु द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारप्रेमप्रभातो द्रष्टव्या, तत्तन्मार्गणाविषयकक्षेत्रस्य तत्र विस्तरतो व्युत्पादितत्वात् ।

शेषमार्गणाभिधेयानि त्विमानि–अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेजस्कायसत्कास्त्रयो बादरपर्याप्तमार्गणाभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेदा-ऽपगतवेद-मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ।

अथ सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं मार्गणासु नाभिहितमिति तत्रातिदेशनाह–"जह-ऽवत्तव्वो तहेवं से" त्ति सप्तप्रकृतीनामन्यतमस्या अपि प्रकृतेरवक्तव्यस्थितिबन्धः "जह" त्ति 'यत्र'-यासु मार्गणासु भवति "तह" त्ति तत्र तासु मनुष्यगत्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु "से" त्ति तस्यावक्तव्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकाः "एवं" ति यथाऽनन्तरमुक्तास्तथैव लोकासंख्येयभागे, भवन्तीति शेषः ॥६३६॥

अथोक्तशेषस्यायुषोऽल्पतरादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रमाह—

तिरिये-गिंदियगेसुं पणकाय-णिगोअ-सव्वसुहुमेसुं ।
कायु-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअणाण-अयतेसुं ॥६३७॥
अणयण-असुहतिलेसा-भवियर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारे ।
आउस्स बंधगा खलु दोण्हं वि पयाण सव्वजगे ॥६३८॥

(प्रे०) "तिरियेगिंदियगेसु" इत्यादि, प्राग्वत् तिर्यग्गत्योघै-केन्द्रियौघभेदयोः, पृथिव्यादि-पञ्चकायसत्कौघभेद-निगोदौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघादि-सर्वसूक्ष्मभेदेषु, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणाभेदेषु, तथा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभत्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिष्वाहारिमार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु तिर्यग्गत्योघादिषट्चत्वारिंशन्मार्गणासु किमित्याह–"आउस्स" त्यादि, आयुःकर्मणः "दोण्हं वि पयाण" त्ति अल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः प्रत्येकं बन्धकाः खलु

'सर्वजगति'-सर्वस्मिॅल्लोके, सन्तीति शेषः। कुतः ? एतासु प्रत्येकमार्गणासु स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां प्रवेशादिति ॥६३७-६३८॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतद्विविधबन्धकक्षेत्रमाह—

हीणजगे सव्वेसुं बायरएगिंदिवाउकायेसुं
सेसासु बंधगा खलु लोगस्स असंखभागम्मि ॥६३९॥

(प्रे०) "**हीणजगे**" इत्यादि, 'आउस्स बंधगा खलु दोण्हं वि पयाण' इत्येतावत्पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, तत आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं बन्धकाः "**हीणजगे**" त्ति 'हीने जगति' देशोने लोके प्राप्यन्त इत्यर्थः। कासु मार्गणास्वित्याह—"**सव्वेसु**" इत्यादि, सर्वेषु बादरैकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु बादरवायुकायभेदेषु चेत्यर्थः। कुतः ? इति चेत्, अधिकृतमार्गणाषट्के सूक्ष्मजीवानामप्रवेशात् प्रविष्टजीवेभ्यो बादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तवायुकायजीवानां स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्याद् देशोनलोकक्षेत्रस्यैव प्राप्तेश्च। **को भावः** ? आयुर्बन्धो जीवानां स्वस्थान एव जायते, न तु मारणसमुद्घातादौ। ततश्चायुषो द्विविधस्थितिबन्धकानामपि क्षेत्रं मार्गणागतजीवानां स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्यात्प्राप्यते। तच्च प्रस्तुतमार्गणाषट्के प्रत्येकं बादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तान्यतरजीवराश्यपेक्षयाऽसंख्येयैकभागलक्षणेनैकदेशेनोनः सर्वलोकः प्राप्यत इतिकृत्वा प्रस्तुतद्विविधबन्धकक्षेत्रमपि देशोनलोकप्रमाणमभिहितमिति। "**सेसासु**" ति उक्तशेषासु नरकगत्योघाद्येकादशाभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं "**बंधग**" ति आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोर्निर्वर्तकाः खलु लोकस्यासंख्येयैकभागे भवन्तीत्यर्थः। अत्रापि प्रत्येकं स्वस्थानक्षेत्रस्य लोकासंख्येयभागमात्रप्राप्तेः प्रस्तुतक्षेत्रमपि तथैवाभिहितमिति। विशेषभावना **द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारप्रेमप्रभादर्शितनीत्या** स्वयमेव कर्तव्या।

शेषनरकगत्योघादिमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपृथिव्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकाय-बादरसाधारणवनस्पतिकाय-त्रसकायानां प्रत्येकमोघपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात् त्रयस्त्रयो भेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रकम्

कस्याः प्रकृतेः	भूयस्कारादेः कस्य बन्धकानाम्	कुत्र ?	कियत्क्षेत्रम्
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितानां प्रत्येकम्	ओघतः, यत्र सन्, तत्र सर्वमार्गणासु च	सर्वथाऽनुत्कृष्टास्थितबन्धकानां क्षेत्रवत्
	अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य	,,	लोकाऽसंख्यभागः
आयुषः	अल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकम्	,,	सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकवत्

काययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादिज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥६३९॥

प्रतिपादितं शेषमार्गणास्वप्यायुषो द्विविधस्थितिबन्धकानां क्षेत्रम् । तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं "**खेत्त**" इत्यनेनोद्दिष्टमष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे
तृतीये भूयस्काराधिकारेऽष्टम
क्षेत्रद्वारं समाप्तम ॥

●

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

साम्प्रतं "**फोसणा**" इत्येनोद्दिष्टे नानाजीवाश्रये स्पर्शनाद्वारे मूलप्रकृतिसत्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां स्पर्शनां प्ररूपयिषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगेहिं भूगाराईण तिण्ह आउस्स ।
दोण्ह वि य पयाण भवे सव्वो वि य फोसिओ लोगो ॥६४०॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह बंधगेहिं**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां मूलसप्तप्रकृतीनां "**भूगाराईण तिण्ह**" त्ति अवक्तव्यस्थितिबन्धवर्जानां त्रयाणां भूयस्कारादीनां प्रत्येकं "**बन्धगेहिं**" ति 'बन्धकैः'-निर्वर्तकैः "**आउस्स दोण्ह वि य पयाण**" त्ति आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोश्च, बन्धकैरित्यनुवर्तते । तैः किमित्याह–"**भवे सव्वो वि ये**" त्यादि, स्वस्थानतः सर्वलोकगतैस्तैः प्रत्येकं 'सर्वः'-सम्पूर्णो लोकः स्पृष्टो भवेदित्यर्थः । अत्राधिकृतः स्पर्शनाविशेषस्तु समयमात्रसव्यपेक्षक्षेत्रापेक्षया विलक्षणोऽनन्ताऽतीताद्धासव्यपेक्षो **द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारे** 'लोगस्स असखयमे' इत्यस्या (३२९) गाथाया वृत्तौ व्याख्यातस्वरूपस्तत एव विज्ञेयः, नात्र पुनः प्रपञ्च्यते, ग्रन्थविस्तरभयादिति ॥६४०॥

सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धकैस्तर्हि कियान स्पृष्ट इत्याह—

सत्तण्ह असंखंसो जगस्सऽवत्तव्वबंधगेहि भवे ।
छिहीओ जहि हविरे ते तासु ओघव्व फुसणा सिं ॥६४१॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह**" इत्यादि, ओघत आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**वत्तव्वबंधगेहि**" त्ति पूर्वमकारस्य दर्शनात् स्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वाच्चावक्तव्यस्थितिबन्धकैः "**असंखंसो जगस्स**" त्ति 'जगतः'-लोकस्य 'असंख्यांशः' असंख्येकभागः "**छिहिओ**" त्ति स्पृष्टो भवेद्,

एतेषां लोकासंख्यभागप्रमाणस्पर्शनेत्यर्थः । कुतः ? इति चेद् , उपशमश्रेणिगतानाम् , तादृशानां वा भवक्षयेण देवतया भवप्रथमसमयवर्तिनां देवानामेव सप्तकर्मसत्काऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामित्वात् तेषां च मनुष्यलोकैकदेशे वर्तमानानां, ततो वाऽनुत्तरसुरतयोत्पद्यमानानां लोकाऽसंख्येयभागाद्-धिकस्पर्शनाया असम्भवात् । असम्भवस्तु त्रसनाडीगततिर्यक्प्रतरासंख्येयतमभागमात्रवर्तित्वात् मनुष्यलोकस्यानुत्तरविमानानां चेत्यादिना **द्वितीयाधिकारस्पर्शनाद्वारप्रेमप्रभा**दर्शितनियमानु-सारेण स्वयमेव विभावनीय इति ।

अथ सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धकस्वामिनामोघिकस्पर्शनापेक्षया न सम्भवति कासुचिन्मा-र्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धकानां स्पर्शनाऽधिकतरा, अत लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदिश-न्नाह—"**जहिं हविरे**" इत्यादि, "**जहिं**" त्ति 'यत्र'-यासु मार्गणासु "**ते**" त्ति तेऽनन्तरोक्ताः सप्तानामवक्तव्यस्थितेर्बन्धका भवन्ति, "**तासु ओघव्व फुसणा सिं**" ति तासु मार्गणासु "**सिं**" ति तेषां सप्तानामवक्तव्यस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनौघवत् , ज्ञातव्या इति शेषः । तादृश्यो मार्गणास्तु यासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धः सत्पदद्वारे सन्नभिहितस्ता विज्ञेया इति ॥६४१॥

अथ सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिबन्धककृतां स्पर्शनां मार्गणास्थानेष्वाह—

णिरये सत्तमणिरये आणतपहुडिचउदेव सुइलासुं ।
भूगाराइगतिण्हं सत्तण्ह छ फासिआ भागा ॥६४२॥

(प्रे०) "**णिरये सत्तमणिरये**" इत्यादि, निरयगत्योघमार्गणायाम् , सप्तमभूमिनिरय-मार्गणाभेदे, आनतकल्पप्रभृतिचतुर्देवगतिसत्कभेदेषु, शुक्ललेश्यामार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु सप्त-मार्गणासु किमित्याह—"**भूगाराइगतिण्ह**"मित्यादि, बन्धकैरित्यनुवर्तते, तत आयुर्वर्जानां सप्तानां भूयस्कारादिकानां त्रयाणां बन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः । एते भागाः प्रत्येकं चतुर्दशरज्जूच्चाया एक-रज्जुवृत्तविस्तृतायास्त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागप्रमाणा बोद्धव्याः । कस्मात् ? प्रकृतग्रन्थाभिप्रायस्य तथा-त्वात् । उक्तं च अत्रैव **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे द्वितीयाधिकारस्पर्शनाद्वारे**—

'फुसआण वुच्चिरे इह जे भागा भाजिआअ चउदसहिं । तसनाडीअ लहिज्जउ जं णेया तावऽप्पमाणा ते ॥' इति

एवं च सति प्रकृते त्रसनाड्याः षट् चतुर्दशभागाः स्पर्शना प्राप्तेति । तद्भावना तु संक्षेपत उच्यते—प्रत्यन्तमुहूर्तं संक्लेशविशुद्ध्योः परावर्तमानत्वात् प्रकृतबन्धत्रयं प्रत्यन्तमुहूर्तभाव्य-स्ति । किञ्चाधिकृतबन्धत्रयस्य स्वामिनोऽपि तत्तन्मार्गणागताः सर्वे जीवाः सन्ति, न पुनरवक्तव्य-स्थितिबन्धकवत्केचनैव । तथा च सति प्रकृतबन्धत्रयं कुर्वद्भिर्नानाजीवैरनन्तकालमपेक्ष्य स्वप्रायोग्यं सर्वमुत्पादक्षेत्रं सर्वं मारणसमुद्घातक्षेत्रं गमनागमनक्षेत्रं स्वस्थानक्षेत्रं च स्पृष्टं भवति, अतस्तेषां स्पर्शनाऽपि यासु मार्गणासूत्कृष्टतो यावती भवति, तावती सर्वाऽप्यवाप्यते, ताश्च नरकगतिसत्क-भेदद्वये मारणान्तिकसमुद्घातकृतस्पर्शनाप्राधान्येन षड्रज्जवः प्राप्यत इति तथैवोक्ता, आनतदेवादि-

शेषमार्गणासु त्वानतकल्पादिदेवानां गमनागमनकृतस्पर्शनाप्राधान्यात् सा षड्भागप्रमाणामिहिता। एतेषां तत्तन्मार्गणाभेदगतजीवानां मारणसमुद्घातादिप्रयुक्ता यथोक्तस्पर्शना तु द्वितीयाधिकार-स्पर्शनाद्वारवृत्तौ विस्तरतो व्युत्पादिताऽस्माभिः, जिज्ञासुना तत एव ज्ञातव्या। एवं वक्ष्यमाण-मार्गणाविषयकस्पर्शनाविस्तरोऽपि तत एव द्रष्टव्यः, नात्र पुनर्वक्ष्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति ॥६४२॥

यासु मार्गणासु प्रस्तुतबन्धकानां स्पर्शना लोकासंख्यभागमात्रा ताः संगृह्याह—

घम्मा-गेविज्जाइ-विउवमीसा-ऽऽहारदुग-अवेएसुं।
मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥६४३॥
लोगासंखियभागो होइ, बिआइणिरयेसु हुन्ति कमा।
एगं दुवे य तिण्णि य चउरो पण फासिआ भागा ॥६४४॥

(प्रे०) **"घम्मागेविज्जाइ"** इत्यादि, तत्र **"घम्मा"** त्ति घर्माख्यप्रथमपृथिवीनिरयभेदे, **"गेविज्जाइ"** त्ति ग्रैवेयकादिसर्वार्थसिद्धविमानपर्यन्तेषु चतुर्दशदेवगतिभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाय-योगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणाभेदेषु,तथा **"मणणाणे"**त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येवं पञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं **"लोगासंखियभागो"** त्ति लोकस्यासंख्येयभागः **"होइ"** त्ति, स्पृष्टो भवति, सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकैरित्यनुवर्तते। एतासु प्रत्येकं स्वस्थानमारण-समुद्घातादिना प्रकारेणाप्युत्कृष्टस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रैव लभ्यते, तस्याश्च प्रकृतेऽपि युज्यमानत्वात्तथैवोक्तेति।

अथ मार्गणान्तरेष्वाह-**"बिआइणिरयेसु"** इत्यादिना, द्वितीयादिशेषपञ्चनरकभेदेषु क्रमादेको द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च भागाः स्पृष्टा भवन्ति। चकारः पादपूर्त्यै द्रष्टव्यः, प्राग्वत्सप्तानां भूयस्कारादिबन्धकैरित्यस्यानुवृत्तिश्च द्रष्टव्या। तथा सति द्वितीयपृथिवीनिरयभेदे सप्तानां भूय-स्कारादिस्थितिबन्धकैस्त्रसनाडीसत्क एकश्चतुर्दशभागः स्पृष्टः, तृतीयपृथिवीनिरयभेदे प्रस्तुतबन्धकै-र्द्वौ चतुर्दशभागौ स्पृष्टौ, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदे पुनस्तैस्त्रयश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, पञ्चमपृथिवी-निरयभेदे तु चत्वारश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, षष्ठपृथिवीनिरयभेदे पुनः प्रस्तुतबन्धकैः पञ्च चतुर्दश-भागाः स्पृष्टा भवन्तीति। इयमेकरज्ज्वादिस्पर्शना प्रत्येकं मारणान्तिकसमुद्घातप्राधान्याद् बोद्धव्येति ॥६४३-६४४॥ अथान्यत्राह—

भागाऽत्थि फासिआ णव सुर-ईसाणंतदेव-तेऊसुं।
विउवे तेरह, देसे पण, बारह सासणे णेया ॥६४५॥

(प्रे०) **"भागाऽत्थि फासिआ"** इत्यादि, सप्तप्रकृतीसत्कभूयस्कारादिप्रत्येकस्थिति-बन्धानां निर्वर्तकैः**"भागाऽत्थि फासिआ"**त्ति त्रसनाड्याश्चतुर्दशांशात्मका भागाः स्पृष्टा भवन्ति।

कस्यां कस्यां मार्गणायां कियन्तः कियन्तो भागा इत्याह–"णव सुरईसाणंतदेवलेऊसु" त्ति नव भागाः 'सुरे'–देवगत्योघमार्गणायामिशानकल्पान्तेषु भवनपत्यादिषु पञ्चस्वन्यदेवगतिभेदेषु तेजोलेश्यामार्गणायां चेत्यर्थः । भवनपत्यादिदेवानामधस्तृतीयपृथिवीं यावद्गमनागमनमपेक्ष्योर्ध्व-मीषत्प्राग्भारापृथिवीं यावन्मारणसमुद्घातेन स्पर्शनाच्च प्रकृतस्पर्शनाऽपि रज्जुद्वयमधोलोकसत्कं रज्जुसप्तकं चोर्ध्वलोकसत्कमितिकृत्वा नव रज्जव उक्ता। तेजोलेश्यायामपि सा भवनपत्यादि-देवानपेक्ष्यैव बोद्धव्येति । "विउवे तेरह" त्ति वैक्रियकाययोगमार्गणायां सप्तानां भूयस्काराल्प-तरावस्थितस्थितिबन्धकैस्त्रसनाड्यास्त्रयोदश भागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । कथम् ? प्रकृतत्रिविधबन्ध-स्य सर्वात्रस्थायां सम्भवेन मारणान्तिकसमुद्घातगतान् नैरयिकानपेक्ष्याधोलोकसत्कषड्रज्जुस्पर्शना-लाभाद्, ईषत्प्राग्भारापृथिवीं प्राप्तान् मारणसमुद्घातगतभवनपत्यादिदेवानपेक्ष्योर्ध्वलोकसत्क-सप्तरज्जुस्पर्शनालाभाच्च समुदितास्त्रयोदशरज्जुस्पर्शनाऽभिहितेति । "देसे पण" त्ति देशसंयम-मार्गणायां प्रकृतत्रिविधबन्धकैः प्रत्येकं त्रसनाड्याः पञ्च चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । कुतः ? तिर्यग्लोकादष्टमकल्पप्राप्तानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां देशविरततिरश्चां स्पर्शनामपेक्ष्याधि-कृतस्पर्शनाया लाभादिति । "बारह सासणे णेय" त्ति सासादनमार्गणायां तु प्रकृतबन्धकै-स्त्रसनाड्याः स्पृष्टा भागा द्वादश ज्ञेया इत्यर्थः । तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्तरज्जुस्पर्शनेशानान्त-देवैः समुद्घातकृता, अधोलोकसत्का पञ्चरज्जुस्पर्शना तु मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकप्राप्तैः षष्ठपृथिवी-नारकैः कृता, एते समुदिते सत्यौ द्वादशरज्जुस्पर्शना भवतीति ॥६४५॥

अट्ठ फरिसिआ भागा सेसऽट्ठमअंतसुर-तिणाणेसुं ।
ओहि-पउम-सम्म-खइअ-खयोवस-मुवसम-मीसेसुं ॥६४६॥

(प्रे०) "अट्ठफरिसिआ" इत्यादि, प्रकृतसप्तप्रकृतिसत्कभूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितीनां प्रत्येकं बन्धकैस्त्रसनाड्या अष्टौ भागाः स्पृष्टा इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वष्टौ भागाः स्पृष्टा इत्याह– "सेसऽट्ठमअंतसुरे" त्यादि, ईशानकल्पान्तदेवगतिभेदेषु प्रस्तुतबन्धकस्पर्शनायाः कथितत्वात् तैर्विना ये शेषा अष्टमकल्पान्ताः सनत्कुमारादिषड्देवगतिमार्गणाभेदास्तेषु, मति-श्रुता-ऽवधिरूपेषु त्रिज्ञानभेदेषु तथाऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्र-दृष्टिमार्गणास्वित्येतं षोडशमार्गणास्वित्यर्थः । तत्र सनत्कुमारादिसहस्रारकल्पान्तदेवानां गमना-गमनकृतस्पर्शनापेक्षयाधिकृतस्पर्शना लभ्यते । तद्यथा–सनत्कुमारादिदेवानामधस्तृतीयां पृथिवीं यावद्गमनाद् द्वे रज्जू स्पर्शनाऽधोलोकसत्का, ऊर्ध्वमच्युतकल्पं यावद्गमनाच्च षड्रज्जव ऊर्ध्वलोक-सत्का स्पर्शना प्राप्यते, तदानीं च भूयस्कारादिप्रस्तुतत्रिविधबन्धानां सम्भवात् सैवाऽष्टभागकथन-द्वारेण समुदिताऽभिहिता । एनामेव देवानां गमनागमनकृताष्टरज्जुस्पर्शनामपेक्ष्य मतिज्ञानादि-मिश्रदृष्टिमार्गणापर्यन्तासु शेषमार्गणास्वपि प्रस्तुतस्पर्शना भावनीयेति ॥६४६॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतबन्धकस्पर्शनामाह–

सेसासु बंधगेहिं सव्वो होएज्ज फोसिओ लोगो ।
भूओगाराईणं तिण्हं सत्तण्ह कम्माणं ॥६४७॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, उक्तशेषासु तिर्यग्गत्योघादिसप्तोत्तरशतमार्गणासु बन्धकैः सर्वो लोकः स्पृष्टो भवति । केषां बन्धकैरित्याह-"भूओगाराईण"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां भूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां भूयस्कारादीनां त्रयाणां प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र शेषमार्गणानामधेयान्येवम्-पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, एकान्न-विंशतिरिन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशत् पृथिव्यादिकायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचो-योग-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञानाद्यज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारक-ऽनाहारकमार्गणाभेदाश्चेति ।

तत्र तिर्यग्गत्याद्यौघिकमार्गणासु स्वस्थानजीवानपेक्ष्यापि सर्वलोकस्पर्शना लभ्यते । कुतः? तिर्यग्गत्योघादिमार्गणागतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकव्याप्तेः । अन्यासु यासु पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिभेदरूपासु नास्ति सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां प्रवेशस्तासु पुनर्मारणान्तिकसमुद्घातेना-ऽधिकृतसर्वलोकस्पर्शना लभ्यते । कुतः ? सूक्ष्मेतरेषामपि तेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादितयोत्पत्तेरप्रतिषेधात् । ततः किम् ? ततो मारणसमुद्घातेन स्वोत्पत्तिप्रायोग्यानि सूक्ष्मैकेन्द्रियसत्कोत्पादस्थानानि प्राप्तैः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिभिः नानाकालमाश्रित्य सर्वलोकः स्पृष्टो भवतीति प्रकृतेऽपि सर्वलोकस्पर्शनं लभ्यते मारणसमुद्घाताद्यवस्थायामपि भूयस्कारादिबन्धत्रयप्रवृत्तेरविरोधादिति ॥६४७॥

तदेवं दर्शिताऽऽदेशतोऽपि सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां स्पर्शना । अथावशेषा-णामायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धकानां स्पर्शनां दिदर्शयिषुराह—

तिरिये एगिंदिय-पणकाय-णिगोएसु सव्वसुहुमेसु ।
कायु-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअणाण-अयतेसु ॥६४८॥
अणयण-असुहतिलेसा-भवियर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारे ।
सव्वो लोगो छिहिओ दोण्हं वि पयाण आउस्स ॥६४९॥

(प्रे०) "तिरिये" इत्यादि, प्राग्वत् तिर्यग्गत्योघे तथैकेन्द्रियौघ-पृथिव्यादिपञ्चकाय-सत्कौघभेद-निगोदौघभेदेषु, सर्वेषु सूक्ष्मैकेन्द्रियाद्यष्टादशसूक्ष्मजीवभेदेषु, काययोगौघौ-दारिकमिश्र-काययोग-नपुंसकवेद-चतुःकषाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमेष्वचक्षुर्दर्शना-ऽशुभकृष्णादित्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिष्वाहारिमार्गणायां चेत्येवं षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु किमित्याह-"सव्वो लोगो" इत्यादि, आयुषः "दोण्ह वि पयाण" त्ति प्राग्वदल्पतरा-

ऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः **"सव्वो लोगो छिविओ"** त्ति बन्धकैः सर्वो लोकः स्पृष्टो भवतीत्यर्थः। एतासु प्रत्येकमोघवत् सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामपि प्रवेशात्, तेषां च स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकव्यापित्वात् प्रस्तुतस्पर्शनाऽपि सर्वलोकः प्राप्यत इति ॥६४८-६४९॥

अथ मार्गणान्तरेष्वाह—

देव-ऽट्ठमंतसुर-दुपणिंदितस-पणमणवयण-विउवेसु ।
थी-पुम-तिणाण-विब्भंगो-हि-णयण-तेउ-पम्हासु ॥६५०॥
सम्मत्त-खइअ-वेअग-सासण-सण्णीसु अट्ठ छिप्पीअ ।

(प्रे०) **"देवट्ठमंतसुरे"**त्यादि, देवगत्योघमार्गणाभेदे, भवनपत्याद्यष्टमसहस्रारकल्पान्तेष्वेकादशस्वन्यदेवगतिभेदेषु, तथा द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनाद्व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेश्च **"दुपणिंदितसे"**त्यनेन पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायलक्षणाश्चत्वारो भेदा गृह्यन्ते तेषु, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगेषु, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽवधिदर्शन-चक्षुर्दर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्यासु, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदेष्वित्येवमेकचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् **'अट्ठ छिप्पीअ'** त्ति प्रकृतैरायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धकैः प्रत्येकं त्रसनाड्या अष्टौ भागा अस्पृश्यन्त। एतासु प्रत्येकं प्रकृतस्पर्शना सहस्रारान्तदेवानां गमनागमनकृता बोद्धव्या। सा च प्राग् **द्वितीयाधिकारस्पर्शनाद्वारवृत्तौ** भाविताऽपि लेशतः प्रदर्श्यते, **तद्यथा**—सहस्रारकल्पान्तदेवाः पूर्वस्वजनस्नेहेनाधस्तृतीयनरकपृथिवीं यावद् गच्छन्ति, ऊर्ध्वमच्युतकल्पं यावत्स्वसामर्थ्यादगच्छन्तोऽपि तेऽच्युतकल्पवासिभिर्देवैः स्वस्थानेषु नियन्ते। उक्तं च **पञ्चसंग्रहे**—

'सहसारतियदेवा नारयनेहेण जंति तइयभुवं। निज्जंति अच्चुयं जा अच्चुअदेवेण इयरसुरा ॥३१॥' **इति**।

एवं च सत्यनन्तमतीतकालमाश्रित्य भिन्नभिन्नमार्गैरूर्ध्वाधो गमनागमनं कुर्वद्भिरनन्तैः सहस्रारान्तदेवैरष्टरज्जुप्रमाणमुच्चमेकरज्जुप्रमाणवृत्तविस्तृतं त्रसनाडिगतं क्षेत्रं स्पृष्टं भवति, तदानीं च तेषामायुर्बन्धस्य सम्भवेनानन्तैर्देवैरायुर्बन्धस्य कृतत्वादधिकृतस्पर्शनाऽपि तावत्यभिहिता। अत्र तिर्यग्लोकात् तृतीयां पृथिवीं यावद् रज्जुद्वयम्, ऊर्ध्वं चाच्युतकल्पं यावद् रज्जुषट्कमित्याद्येतत् सर्वं प्राक् स्पर्शनाद्वारवृत्तावभिहितमिति तत एव द्रष्टव्यम्, न पुनरुच्यते,। एवं मारणसमुद्घातेनाऽऽयुर्बन्धकस्पर्शना नोपपद्यते, तदानीं भवचरमान्तर्मुहूर्ते भवान्तराभिमुखैरायुर्बन्धस्यानिर्वर्तनादित्याद्यपि तत एवावगन्तव्यं विस्तरार्थिनेति ॥ अथान्यत्राह—

आणतपहुडिसुरेसु चउसु सुक्काअ य छ भागा ॥६५१॥

(प्रे०) **"आणतपहुडिसुरेसु"**इत्यादि, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्परूपेष्वानतप्रभृतिषु चतुर्षु देवगतिभेदेषु शुक्ललेश्यामार्गणायां च **"छ भाग"** त्ति प्राग्वत् प्रकृतैरायुषो द्विविध-

स्थितिबन्धकैरपि प्रत्येकं त्रसनाड्याश्चतुर्दशभागरूपाः षट्भागाः, स्पृष्टाः सन्तीति गम्यते, यद्वाऽस्पृश्यन्तेत्यनुवर्तेत इति । प्राग्वदेव भावनीयैषा, नवरं सहस्रारकल्पान्तदेवानामेवाधस्तृतीयपृथिवीं यावद्गमनमभिहितम्, न पुनस्तदुपरिवर्तिनामपि, तेषामानतादिकल्पचतुष्कजानां सुराणां जिनजन्ममहोत्सवादिनिमित्तानधिकृत्याऽपि तिर्यग्लोकं यावदेव गमनात् । तथाच सत्यधोलोकसत्करज्जुद्वयस्पर्शनाया असम्भवः, अतस्तावतीं स्पर्शनां विवर्ज्य षड्रज्जवः स्पर्शना द्रष्टव्येति ॥६५१॥

अथैकयाऽऽर्यया शेषमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनां व्याकुर्वन्नाह—

देसूणजगं बायरएगिंदियवाउमव्वभेएसु ।
सेसासु असंखयमो भागो लोगस्स छुहिओऽत्थि ॥६५२॥

(प्रे०) **देसूणजगमित्यादि**, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु बादरैकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु बादरवायुकायभेदेष्वित्येवं षण्मार्गणासु प्रत्येकं प्रविष्टबादरपर्याप्त-बादरापर्याप्तान्यतरवायुकायिकानां देशोनलोकप्रमाणस्वस्थानक्षेत्रापेक्षया प्रस्तुताऽयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिबन्धकानां स्पर्शनाऽपि "**देसूणजगं**" त्ति देशोनं जगल्लभ्यत इति । "**सेसासु असंखयमो भागो**" त्ति उक्तशेषासु नरकगत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु तु प्रस्तुतद्विविधबन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतम एको भागः स्पृष्टोऽस्ति, लोकाऽसंख्यभागप्रमाणा तेषां स्पर्शनेति भावः । कथम् ? इति चेद्, एतास्वन्यतमस्यामपि स्वस्थानतो गमनागमनतो वा लोकाऽसंख्यभागादधिकक्षेत्रव्यापिनः सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवराशेरप्रवेशादिति ॥ ६५२ ॥

तदेवं प्रदर्शिता शेषमार्गणास्थानेष्वप्यायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थितिबन्धकानां स्पर्शना । तथा च गतं नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रकम्

कस्याः प्रकृतेः	भूयस्कारादेः कस्य बन्धकानाम्	कुत्र ?	कियती स्पर्शना
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितानां प्रत्येकम्	ओघत, यत्र सन् तत्र सर्वमार्गणासु च	सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानां स्पर्शनावत्
	अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य	,,	लोकाऽसंख्यभाग
आयुषः	अल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोः प्रत्येकम्	,,	सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकवत्

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे नवमं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ दशमं कालद्वारम् ॥

एतर्हि क्रमप्राप्तनानाजीवाश्रयकालद्वारावसरः । तत्रौघत आदेशतश्च मूलकर्मसत्कभूयस्कारादि-स्थितिबन्धसत्पदानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं नानाजीवाश्रयं कालं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघतः प्रतिपादयन्नाह—

सव्वद्धा तिपयाणं भूगाराईण सत्तकम्माणं ।
तह आउस्स पयाणं दोण्हं कालो मुणेयव्वो ॥६५३॥

(प्रे०) **"सव्वद्धा"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तमूलकर्मणां **"तिपयाणं भूगाराईणं"** त्ति अवक्तव्यस्थितिबन्धकालस्यानन्तरं वक्ष्यमाणतया तद्वर्जानां 'भूयस्कारादीनां' भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां **"तह आउस्स पयाणं दोण्हं"** ति तथाऽऽयुः-कर्मणोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि सत्पदयोः **"कालो"** त्ति नानाबन्धकाश्रय-कालः, निरन्तरो बन्धकसत्त्वकाल इति यावत् । **"मुणेयव्वो"** अस्य च **"सव्वद्धा"** इति पूर्वेणान्वयस्ततः सर्वाद्धा ज्ञातव्य इत्यर्थः । सुगमश्चायम्, एतेषां पदानामेकेन्द्रियाद्यनन्तजीवस्वा-मिकत्वादिति । यद्वा भङ्गविचयद्वारे ध्रुवत्वसाधनादेव गतार्थ इति ॥६५३॥

उक्तशेषस्य सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयकालमोघतः प्रतिपिपादयिषुरवि-शेषाल्लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वपि सममेव प्राह—

सत्तण्ह लहू समयोऽवत्तव्वस्स परमोऽत्थि संखखणा ।
जहि अत्थि तस्स बंधो तहि तस्सेमेव विण्णेयो ॥६५४॥

(प्रे०) **"सत्तण्ह"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य **"लहू समयो"** त्ति प्रक्रमान्नानाजीवाश्रयो 'लघुः'-जघन्यः कालः समयो भवति । **"परमो-ऽत्थि संखखणा"** त्ति स एव सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धकालः 'परमः'-उत्कृष्टः 'संख्यक्षणाः'-संख्येयाः समया भवति ।

अथ लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदेशद्वारेणाह—**"जहि अत्थि"** इत्यादि, **"जहि"** त्ति 'यत्र' यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु **"अत्थि तस्स बंधो"** त्ति तस्य सप्तान्यतमकर्मणोऽवक्तव्यस्य बन्धः 'णरतिगदुपणिंदियतस-पणमणवयणे'त्यादिना **सत्पदद्वारे** सन्नभिहितः **"तहि"** त्ति 'तत्र'-तासु मनुष्यौघादिमार्गणासु **"तस्सेमेव विण्णेयो"** त्ति तस्याऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य प्रस्तुत-त्वान्नानाजीवाश्रयो बन्धकालः 'एवमेव'-ओघवदेव, जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतः संख्येयाः समयाश्च विज्ञेयः । कथम् ? इति चेद्, एकजीवाश्रितस्योत्कृष्टस्यापि कालस्य समयमात्रत्वात्, बन्धकपरिमाणस्याऽप्युत्कृष्टतः संख्येयत्वाच्च ।

इदमुक्तं भवति–ओघतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र कुत्रचिद् यस्याः कस्या अपि प्रकृतेर्यस्य कस्यापि भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका **भङ्गविचयद्वारे** 'तिरिये सव्वेगिंदिये' इत्यादि-(५९८...)गाथावृत्तौ दर्शितनीत्या ध्रुवं प्राप्यन्ते, तत्र मार्गणादौ तस्याः प्रकृतेस्तस्य भूयस्कारादि-स्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयः प्रस्तुतकालः सर्वाद्धा प्राप्यत इति तु सुगमः, अत एवाऽनन्तरमोघतः सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादित्रिविधस्थितिबन्धस्याऽऽयुषो द्विविधसत्पदयोश्चासौ सर्वाद्धा कथितस्तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्थानेषु तथा वक्ष्यते च। स च तत्तद्भूयस्कारादिबन्धकानां ध्रुवत्वसाधनयैव गतार्थो बोद्धव्यः। यत्र पुनस्ते भूयस्कारादिबन्धका भङ्गविचयद्वारोक्तनीत्या ध्रुवं न लभ्यन्ते,कदाचित्प्राप्यन्ते कदाचित्तु नापि प्राप्यन्त इत्यर्थः। एतेषां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवतीति यावत्। तत्र तु तस्य भूयस्कारादेर्नानाजीवाश्रयः कालो न सर्वाद्धा, किन्तु सावधिक एव। स च तस्य भूयस्कारादेर्बन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदे संख्येयं भवत्वसंख्येयं वा तदापि जघन्यतस्तस्य भूयस्कारादेरेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालेन तुल्य एव प्राप्यते, उत्कृष्टतस्त्वसौ बन्धकपरिमाणाद्यनुसारेण पूर्वोक्तनीत्या यथासम्भवं संख्येयसमया-ऽऽवलिकाऽसंख्येयभागादिप्रमाणः सम्पद्यते।

तद्यथा–यस्य भूयस्कारादेर्जीवितासंख्येयभागमात्रसम्भविनः स्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टोऽपि काल एकद्व्यादिसंख्येयाः समया एव, तदीयबन्धकपरिमाणमपि संख्येयमेव च, तस्य नानाजीवाश्रयः प्रस्तुतबन्धकालोऽप्युत्कृष्टतः संख्येयाः समया एव प्राप्यते, केवलमयमेकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालापेक्षया संख्येयगुणो भवति। यदि च तस्य बन्धकपरिमाणमसंख्येयं भवति तदा त्वसौ नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः कार्मणकाययोगमार्गणोक्तसप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालवदावलिकाऽसंख्यभागप्रमाणः प्राप्यते, अत एवौघतो मार्गणास्थानेषु चाऽऽयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्यासावुत्कृष्टकालः संख्येयाः समया अभिहितः, अनन्तरम्—

'जासुं हवेज्ज संखा तासुं संखसमया भवे जेट्ठो। जासु असंखा तासुं आवलिआए असंखंसो' ॥६५६॥

इत्यनेन पर्याप्तमनुष्यादिसंख्येयबन्धकपरिमाणासु मार्गणासु आयुर्वर्जसप्तानां भूयस्कारादेः प्रस्तुतकाल उत्कृष्टतः संख्येया समयाः, नरकगत्योघाद्यसंख्यबन्धकपरिमाणासु त्वावलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणोऽभिधास्यते च। यस्य पुनस्तादृशस्य जीवितासंख्येयभागमात्रसम्भविनः स्थितिबन्धविशेषस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादसंख्येयाः समयास्तस्य तु बन्धकपरिमाणस्य संख्येयत्वे तदीयनानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते, केवलमन्तर्मुहूर्तमिदमेकजीवाश्रयबन्धकालाऽपेक्षया संख्येयगुणं भवति। यदि च तादृशस्यैकजीवमाश्रित्योत्कृष्टतोऽसंख्येयसामयिकस्य स्थितिबन्धविशेषस्य बन्धकपरिमाणं संख्येयं तदा तु तदीयनानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणः सम्पद्यते, अत एव 'जहिं बंधगा अत्थि संखा तहिं तस्स भवे गुरू मुहुत्तंतो। सेसासु असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे' ॥६६३॥ इत्यनेनायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टं कालं पर्याप्तमनुष्यादिसंख्येयबन्धकपरिमाणास्वन्तर्मुहूर्तमभिधाय नरकगत्योघाद्यसंख्येय-

बन्धकपरिमाणात्तु त्वसौ पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणोऽभिप्रास्यते । जीवनबहुकालसम्भविनः सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतकालस्तूत्कृष्टतो यत्र तद्बन्धकनामध्रुवत्वं प्रतिपादितं तत्राऽपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धकानामुत्कृष्टकालवन्नानाजीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टावस्थानकालप्रमाणः प्राप्यते । एतच्च सर्वमर्थतो द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयकालद्वारे उत्कृष्टादिस्थितिबन्धानां नानाजीवाश्रयकालस्योपपादनेन गतार्थमेव, एवमप्यल्पमेधसां सुखोपपत्तये लेशतः प्रदर्शितम्, एवमेवोत्तरत्राऽपि यथायथं विभावनीयमिति ॥६५४॥

तदेवमभिहित ओघतस्सर्वकर्मणां भूयस्कारादिसर्वस्थितिबन्धसत्पदानां तथाऽऽदेशतो मार्गणास्थानेषु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धसत्पदस्य च नानाबन्धकाश्रयः कालो जघन्यत उत्कृष्टतश्च । एतर्हि सप्तकर्मणां शेषभूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदानां तं प्रदिदर्शयिषुर्गाथापञ्चकमाह—

भूगार-ऽप्पयराणं जासु णियमाऽत्थि बंधगा तासु ।
सव्वद्धा कालो सिं सेसासु भवे लहू समयो ॥६५५॥
जासु हवेज्ज संखा तासु संखसमया भवे जेट्ठो ।
जासु असंखा तासु आवलिआए असंखंसो ॥६५६॥
असमत्तणरे विक्कियमीस-उवसमेसु सासणे मीसे ।
पल्लासंखियभागो अवट्ठिअस्स हवए जेट्ठो ॥६५७॥
णेयो भिन्नमुहुत्तं आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसु ।
छेए हवेज्ज अयरा पण्णासा लक्खकोडीओ ॥६५८॥
परिहारविसुद्धीए देसूणा दोण्णि पुव्वकोडीओ ।
एआसु लहू समयो हवेज्ज सेसासु सव्वद्धा ॥६५९॥

(प्रे०) "**भूगारप्पयराण**" मित्यादि, "**सत्तण्ह**" त्ति अनन्तरगाथातोऽनुवर्तते, तत आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**भूगारप्पयराणं**" ति भूयस्काराऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोः स्थितिबन्धसत्पदयोः "**जासु णियमाऽत्थि बंधगा**" त्ति **भङ्गविचयद्वारे** 'तिरिये सव्वेगिंदिये' इत्यादिगाथा-(५९८-६०१) पञ्चके यासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धका नियमा उक्ताः, प्रस्तुतस्थितिबन्धकपदं ध्रुवं दर्शितमिति भावः । "**तासु सव्वद्धा कालो सिं**" ति तासु तिर्यग्गत्योघ-सर्वैकेन्द्रियभेद-वनस्पतिकायौघ-सर्वसाधारणवनस्पतिकायभेद-पृथिव्याद्योघ--तत्पर्याप्ता--ऽपर्याप्तभेदभिन्नशेषद्वादशसूक्ष्मभेद-पृथिव्यप्तेजोवायुकायौघ-बादरपृथिव्यप्तेजोवायुकाया--ऽपर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायुकाय--प्रत्येकवनस्पतिकायौघ--तदपर्याप्त-काययोगौघौ--दारिक-तन्मिश्र-कार्मणकाय-

योग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोत-लेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारका-ऽनाहारकरूपासु चतुःषष्टिमार्गणासु **'सिं'** ति तयो-र्भूयस्कारा-ऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोः स्थितिबन्धसत्पदयोर्नानाबन्धकाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति । अयं हि सर्वाद्धाकालोऽनन्तरोक्तनीत्या ध्रुवपदभावनयैव व्याख्यातार्थो न पुनर्व्याख्यायत इति ।

"सेसासु भवे लहू समयो" त्ति तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणा अपहाय शेषासु नरकगत्योघादिषडभ्यधिकशतमार्गणासु प्रस्तुतसप्तकर्मसत्कभूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिबन्धसत्पदयो-र्नानाबन्धकाश्रयो 'लघुः'-जघन्यः कालः समयो भवेत् । सुगमः, शेषनिरयगत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुतपदद्वयस्याऽध्रुवत्वेन सावधिकस्तन्नानाजीवाश्रयो जघन्यः कालोऽप्युक्तनीत्यैकजीवाश्रयजघन्य-बन्धकालवत्समयमात्रो लभ्यत इति ।

अथोत्कृष्टत आह–**"जासु हवेज्ज"** इत्यादि, यासु मार्गणासु तासां सप्तमूलप्रकृतीनां भूय-स्कारस्याऽल्पतरस्य वा स्थितिबन्धस्य निर्वर्तकपरिमाणं संख्येयमुक्तं तासु पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यादि-द्वादशमार्गणासु तस्य भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयः **"जेट्ठो"** त्ति उत्कृष्टकालः संख्येयाः समया भवेदिति । यासु पुनर्निरयगत्योघादिचतुर्नवतिमार्गणासु तद्बन्धकपरिमाणमसंख्येयं तासु तस्य भूयस्कारादिस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालोऽसंख्येयाः समया भवेदित्येतदेव दर्शय-न्नाह–**"जासु असंखा तासुं आवलिआए असंखंसो"** इति, गतार्थम् ।

पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणास्त्विमाः–पर्याप्तमनुष्य–मानुषी-सर्वार्थसिद्धविमान-देवगतिभेदा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमाः ।

निरयगत्योघादयस्त्विमाः—अष्टौ निरयगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघ-तदपर्याप्तभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाः पञ्च भेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, ते च दश, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगौ, स्त्री-पुंवेदौ, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, विभङ्गज्ञानम्, देशसंयमः, चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शने, शुभलेश्यात्रयम्, सम्य-क्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिक-सासादन सम्यग्मिथ्यात्वानि संज्ञिमार्गणाभेदश्चेति ।

अथाऽवस्थितस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतकालमाह–**"असमत्तणरे"** इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रौ-पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वलक्षणासु पञ्चमार्गणास्वाऽऽयुर्वर्जसप्तप्रकृ-तीनामवस्थितस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतो नानाजीवाश्रयः कालः **"जेट्ठो"** त्ति उत्कृष्टः पल्योपमस्याऽसं-ख्येयभागप्रमाणो भवेत् । आहारक-तन्मिश्रकाययोगयोरपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमयोश्चेत्येवं चत-सृषु मार्गणासु त्वसावुत्कृष्टकालः 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयः । **"छेए"** त्ति छेदोपस्थापन-

संयममार्गणास्थाने पुनरसौ पश्चाशल्लक्षकोट्यः 'अतराः'-सागरोपमाणि भवेत् । परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणास्थाने तु **"देसूणा दोण्णि पुव्वकोडीओ"** त्ति देशोनपूर्वकोटिद्वयं भवति । तदेवमपर्याप्तमनुष्याद्येकादशसान्तरमार्गणासु तत्तन्मार्गणाया नानाजीवाश्रयोत्कृष्टावस्थानकालाधीनः सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः पल्योपमासंख्येयभागादिप्रमाणो दर्शितः । स च सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयोत्कृष्टकालवदेव साधनीयः, सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धवदवस्थितस्थितिबन्धस्याऽपि जीवितबहुकालभावित्वादिति । **"एआसु लहू समयो"** त्ति एतास्वनन्तराभिहिताऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयो **'लहू'** त्ति जघन्यकालः समयो भवेत्, अयं त्वेकजीवाश्रयजघन्यकालस्य तथात्वात्प्राग्वत्साध्यः । **"हव्वेज्ज सेसासु सव्वद्धा"** त्ति उक्तैकादशमार्गणा अपहाय शेषासु निरयगत्योघाद्येकोनपष्टयम्यधिकशतमार्गणासु तु प्रस्तुतः सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवेत् । अयमप्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयकालवदेव साध्यः, यद्वा भङ्गविचयद्वारे तद्बन्धकानां ध्रुवत्वसाधनादेव साधितो बोद्धव्य इति ॥६५५-६५९॥

तदेवं प्रतिपादितः सप्तकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकालोऽपि सर्वमार्गणास्थानेषु । इदानीमुक्तशेषस्याऽऽयुःकर्मणोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धकानां तं व्याचिकीर्षुरार्याचतुष्टयमाह—

जहि बंधगाऽत्थि णियमा बासट्ठीअ दुपयाणऽऽउस्स तहिं ।
सव्वद्धा सेसासु समयोऽवत्तव्वगस्स लहू ॥६६०॥
जहि बंधगाऽत्थि संखा तहि से संखसमया गुरू णेयो ।
सेसासु विण्णेयो आवलिआए असंखंसो ॥६६१॥
पणमणवयेसु विउवे आहारदुगे जहण्णगो णेयो ।
अप्पयरस्स खणोऽण्णह भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥६६२॥
जहि बंधगाऽत्थि संखा तहि तस्स भवे गुरू मुहुत्तंतो ।
सेसासु असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे ॥६६३॥

(प्रे०) **"जहि बंधगा"** इत्यादि, तत्र **"जहि"** इत्यस्याऽन्वयः **'बासट्ठीअ'** इत्यनेन, ततो यत्र द्विषष्टिमार्गणासु **"बंधगाऽत्थि णियमा"** त्ति अस्य च **'दुपयाणऽऽउस्स'** इति परेणान्वयस्तत आयुषोऽवस्थिता-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः 'पदयोः' सत्पदयोर्बन्धकाः'-निर्वर्तका नियमात्सन्ति-सर्वदा लभ्यन्ते, पदद्वयमपि पूर्वं **भङ्गविचयद्वारे** 'तिरये सव्वेगिंदिये'त्यादि-(६०४-६०५-६०६) गाथात्रये ध्रुवमभिहितमिति भावः । **"तहिं सव्वद्धा"** त्ति तत्र तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणासु तयोर्द्वयोः पदयोर्बन्धकानां कालः सर्वाद्धा भवतीत्यर्थः । गतार्थः । उक्तद्विषष्टि-

मार्गणावर्जासु शेषनिरयगत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुतकालोऽसर्वाद्धेत्यतस्तं जघन्यादिभेदेनाह--**"सेसासु"** इत्यादिना, उक्तशेषास्वेकोत्तरशतमार्गणासु **"अवत्तव्वस्स समयो हस्सो"** त्ति आयुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकानां 'ह्रस्वः'-निरन्तरजघन्यकालः 'समयः'-समयमात्रो भवति। अयमपि सुगमः, एकजीवाश्रयस्य तस्य जघन्यतः समयमात्रत्वेनाऽत्रापि तथैव सम्भवात्। अथोत्कृष्टकालप्रतिपादनाय लाघवार्थं व्याप्तिरेवाह--**"जहिं"** इत्यादि, यत्र मार्गणास्थानेषु प्रस्तुताऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य **"बंधगाऽत्थि संखा"** त्ति 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः प्राक् **परिमाणद्वारे** 'पज्जमणुस-मणुसीसु' इत्यादिना (६२८-६२९)गाथाद्वये संख्येयाः प्रतिपादिताः सन्ति, **"तहिं"** त्ति 'तत्र'-पर्याप्तमनुष्य--मानुष्या-नतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताष्टादशदेवगतिभेदा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु **"से संखसमया गुरू णेयो"** त्ति तस्याऽऽयुषोऽवक्तव्यस्य प्रस्तुतत्वान्निरन्तरो बन्धकसत्त्वकालो नानाजीवाश्रयबन्धकालो वा 'गुरुः'-उत्कृष्टः संख्येयाः समया ज्ञेयः। सुगमः, बन्धकपरिमाणस्योत्कृष्टतः संख्येयत्वादेकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्याऽपि समयतया संख्येयसमयमात्रत्वाच्चेत्येवंप्रकारेणोपपादनीयेति ।

"सेसासु" त्ति तिर्यग्गत्योघाद्या द्विषष्टिमार्गणाः पर्याप्तमनुष्याद्या एकोनत्रिंशन्मार्गणाश्च विहाय या शेषाः, यासु प्रस्तुतपदं सद्भूतं ता वैक्रियमिश्रकाययोगादिवर्जा निरयगत्योघादिद्विसप्ततिमार्गणास्तासु शेषमार्गणासु प्रस्तुत आयुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धकानामुत्कृष्टो निरन्तरकालः **"विण्णेयो आवलिआए असंखंसो"** त्ति एकस्या आवलिकाया असंख्येयतमे भागे यावन्तस्समयास्तावान् विज्ञेयः। अयमपि प्रागिवैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य संख्येयसमयमात्रत्वादित्यादिना साध्य इति ।

अथाऽऽयुषोऽल्पतरस्थितिबन्धकानां द्विविधोऽपि कालस्तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणासु प्रतिषिद्धः, अतस्तच्छेषास्वसौ जघन्योत्कृष्टभेदेनाह--**"पणमणे"** त्यादि, पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगलक्षणासु त्रयोदशमार्गणासु **"जहण्णगो णेयो अप्पयरस्स खणो"** त्ति आयुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य जघन्य एव जघन्यकः स च प्रस्तुतत्वान्नानाजीवाश्रयकालः 'क्षणः'-समयो भवेत्। सुगमः, आयुर्बन्धे प्रवर्तमानेऽपि प्रस्तुतमार्गणानां मार्गणान्तरतया परावर्तनस्य शक्यत्वेनैकजीवाश्रयकालवन्नानाजीवाश्रयोऽप्ययं समयमात्रः सम्पद्यते। **न चैवं** तर्हि क्रोधकषायादिमार्गणानामपि तथात्वेन ताः क्रोधकषायादिमार्गणा अप्यत्र कथं न संगृहीता इत्या**शंकनीयम्**। क्रोधकषायादिमार्गणासु तथैव काययोगादिमार्गणासु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिजीवराश्यपेक्षया समयमात्रस्य प्रस्तुतकालस्य सम्भवेऽपि तत्राऽनन्तानामेकेन्द्रियजीवानामपि प्रवेशेन तेषु चान्यान्यजीवानां प्रस्तुतबन्धकतया नैरन्तर्येण लाभेन प्रस्तुतबन्धकानां ध्रुवत्वस्य प्रतिपादितत्वादिति। **"पणइ"** त्ति प्रस्तुतस्यायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः

'अन्यत्र'-उक्तान्यत्र, तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणास्तथा मनोयोगादित्रयोदशमार्गणा विहाय शेषासु निरयगत्योघाद्यष्टाशीतिमार्गणास्वित्यर्थः। ''भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो'' त्ति 'भिन्नमुहूर्तं'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यः । सुगमः, एतासु शेषमार्गणास्वेकजीवाश्रयस्याऽपि प्रस्तुतस्यायुषोऽवस्थितस्थितिबन्ध-जघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वादिति ।

अथोत्कृष्टकालं प्रदिदर्शयिषुः प्रागिव व्याप्त्याऽऽह–''जहि'' इत्यादि, यत्र पर्याप्तमनुष्या-दिमार्गणास्वायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य ''बंधगाऽत्थि संखा'' त्ति बन्धकपरिमाणं प्राक्परिमाण-द्वारे 'पज्जमणुस-मणुसीसु' मित्यादिना संख्येयं प्रतिपादितं ''तहिं'' त्ति 'तत्र'-तासु पर्याप्तमनुष्या-द्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् ''तस्स भवे गुरू मुहुत्तंतो'' त्ति तस्याऽल्पतरस्थितिबन्धस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टः कालः 'मुहूर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । गतार्थः । ''सेसासु'' त्ति तिर्यग्गत्योघा-दिद्विषष्टिमार्गणास्तथाऽपर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणा अपहाय शेषासु निरयगत्योघादिद्विसप्तति-मार्गणासु ''असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे'' त्ति सुगमः, एकजीवाश्रयस्योत्कृ-ष्टकालस्याऽन्तर्मुहूर्तत्वादिना प्रकारेण प्रागिवोपपादनीय इति ॥६६०-६६३॥

तदेवं भणित आयुःकर्मणोऽल्पतराऽवक्तव्यद्विविधस्थितिबन्धयोरपि जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो नानाजीवाश्रयः कालः सर्वमार्गणास्थानेषु । तस्मिँश्च भणिते गतं नानाजीवाश्रयं कालद्वारमिति ।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां नानाजीवाश्रकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

	आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्			आयुषः	
कुत्र ?	भूयस्कारा-ऽल्पतर०	अवस्थित०	अवक्तव्य०	अवक्तव्य०	अल्पतर०
असंख्यजीवराशिकासु सान्तर-मार्गणासु	जघ०समय । उत्कृ० आवलिकाऽसख्य-भाग ।	अनुत्कृष्ट-स्थितिबन्धक-कालवत्	जघ० समयः। उत्कृष्ट० सख्येयाःसमया	सर्वथा नानाजीवाश्रयजघन्यस्थितिबन्धकालवत्, केवलं—मत्यादित्रिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेष्वावलिकाऽसख्यभागः।	सर्वथा नानाजीवाश्रयाऽजघन्यस्थितिबन्धकालवत् ।
संख्येयजीवराशिकासु सान्तर-मार्गणासु	जघ० समय. । उत्कृ० सख्येया समयाः ।	,,	,,		
ओघतोऽसख्यलोक-तदधिकजीव-राशिकासु मार्गणासु च	सर्वाद्धा	सर्वाद्धा	,,		
उपर्युक्तवर्जास्वसख्यजीवराशि-कासु निरन्तरमार्गणासु	जघ० समय. । उत्कृ आवलिकाऽसख्य-भाग ।	,,	,,		
सख्येयजीवराशिकासु निरन्तर-मार्गणासु	जघ० समय । उत्कृ० सख्येयाः समयाः ।	,,	,,		

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे दशमं नानाजीवाश्रयं कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

प्राप्तं नानाजीवाश्रयमेकादशमन्तरद्वारम् । अत्र तु मूलकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिबन्धसत्पदानां नानाजीवाश्रितं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं प्ररूपणीयम् । तत्रौघतस्तावद्येषां तन्न भवति तेषां तत्प्रतिषेधयन्नाह—

> भूओगाराईणं तिण्हं सत्तण्ह अंतरं णत्थि ।
> एमेव जाणियव्वं दोण्हं वि पयाण आउस्स ॥६६४॥

(प्रे०) "भूओगाराईण" मित्यादि, "सत्तण्ह" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां "भूओगाराईणं तिण्हं" ति अवक्तव्यस्थितिबन्धान्तरस्याऽनन्तरगाथायां प्रतिपादनीयत्वादवक्तव्यस्थितिबन्धवर्जानां 'भूयस्कारादीनां'-भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां त्रयाणां "अंतरं णत्थि" त्ति नानाजीवाश्रयमन्तरं 'नास्ति' न भवति। इदं हि भङ्गविचयद्वारे प्रस्तुतभूयस्कारादिबन्धकानां ध्रुवत्वप्रतिपादनात्, कालद्वारे नानाजीवाश्रयकालस्य सर्वाद्धायाः प्रतिपादनाद्वा गतार्थमेवेति नात्र पुनः प्रपञ्च्यत इति। इत्थमुत्तरत्राऽपि भूयस्कारादिबन्धकानामन्तरप्रतिषेधस्तत्तद्बन्धकानां ध्रुवत्वादिसाधनेनैव साधितो द्रष्टव्य इति । अथाऽयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिबन्धपदद्वयस्य बन्धकानां ध्रुवत्वस्य सर्वाद्धाया वा प्रतिपादितत्वेन तस्याऽपि प्रस्तुतान्तरं नैव भवतीति तदपि प्रतिषेधयिषुरतिदेशेनाह–"एमेव"इत्यादि, यथा सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धपदत्रयस्य प्रस्तुतान्तरं न भवति तथाऽऽयुषोऽवक्तव्या-ऽवस्थितस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि सत्पदयोस्तन्न भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थोऽपि कथित एवेति ॥६६४॥

उक्तशेषस्य सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयान्तरस्य सद्भावात्तज्जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयन् लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदिशँश्चाह—

> सत्तण्हं कम्माणं लहु अवत्तव्वगस्स समयोऽत्थि ।
> वासपुहुत्तं जेट्ठं जहि स भवे तस्स तहि एवं ॥६६५॥

(प्रे०) "सत्तण्ह"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "लहुं अवत्तव्वगस्स समयोऽत्थि" त्ति अवक्तव्य एव अवक्तव्यकस्तस्याऽवक्तव्यकस्थितिबन्धस्य 'लघु'-जघन्यं नानाजीवाश्रयमन्तरं समयोऽस्ति । "वासपुहुत्तं जेट्ठं" ति तस्यैवावक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'ज्येष्ठम्'-उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति । कथम् ? इति चेद्, अवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामिनामुपशमाद्धाक्षयेण भवक्षयेण वा प्रतिपततामन्यान्योपशमकानां समयान्तरेणाऽवक्तव्यस्थितिबन्धकतया लाभसम्भवात्, उपशमकानामुत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वतया तदधीनस्योत्कृष्टान्तरस्य तथा लाभाच्चेति ।

"**जहि स भवे तस्स तहि एवं**" ति आदेशतः 'यत्र'-यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु स सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धो 'भवेत्'-सत्पदद्वारे सन् प्रतिपादितः "**तहि**" त्ति 'तत्र'-तासु मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्त-सर्वमनोवचोयोग-काययोगौघौदारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-चक्षु-रचक्षु-रवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारकमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणश्च "एवं" ति ओघवद्,अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयः,उत्कृष्टं वर्षपृथक्त्वं चेत्यर्थः। जघन्योत्कृष्टद्विविधमपि प्रस्तुतान्तरं सुगमम्, मनुष्यौघादिमार्गणास्थानेष्वप्योघवदुपशान्ताद्धाक्षयादिना प्रतिपततामेवाऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्वामित्वादिति ॥६६५॥

तदेवमोघतः मप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्यैव नानाजीवाश्रयान्तरस्य सम्भवाद्दर्शितं तत्, लाघवार्थमतिदेशेनादेशतोऽपि च। साम्प्रतमुक्तशेषपदानां तदादेशतो दिदर्शयिपुरार्यापञ्चकमाह—

सत्तण्ह जासु कालो भूगाराईण तिण्ह सव्वद्धा।
णो तासु अंतरं सिं सेसासु भवे लहुं समयो ॥६६६॥
पल्लासंखियभागो अपज्जणर-मीस-सासणेसु गुरुं।
वेउव्वमीसजोगे बोद्धव्वं बारह मुहुत्ता ॥६६७॥
आहारदुगे णेयं वासपुहुत्तं अवेअ-सुहुमेसुं।
भूओगारस्स वरिसपुहुत्तमियराण छम्मासा ॥६६८॥
भूओगाराईणं तिण्हं जलहीण कोडिकोडीओ।
अट्ठारस विण्णेयं परिहारविसुद्धि-छेएसुं ॥६६९॥
सत्त दिवसा उवसमे तिपयाणऽत्थि दुपयाण सेसासुं।
भिन्नमुहुत्तं सव्वह आउस्स अगुरुठिइव्व दुपयाणं ॥६७०॥

(प्रे०) "**सत्तण्हे**" त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां यासु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु "**कालो भूगाराईण तिण्ह सव्वद्धा**" त्ति शेषाणां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां "**कालो**" नानाजीवाश्रयः कालोऽनन्तरद्वारे सर्वाद्धा प्रतिपादित इत्यर्थः। "**णो तासु अंतरं सिं**" ति तासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु "**सिं**" ति भूयस्कारा-ऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोः स्थितिबन्धयोः, तथाऽपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणावर्जासु निरयगत्योघाद्येकोनषष्टयभ्यधिकशतमार्गणास्ववस्थितस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयमन्तरं न भवतीत्यर्थः। नानाजीवाश्रयकालद्वारेऽमीषां पदानां सर्वाद्धोपपादनेनैव गतार्थमिदमिति। उक्तशेषमार्गणासु पदत्रयस्याऽपि प्रस्तुतान्तरस्य सम्भवात्तज्जघन्यादिभेदेनाह–"**सेसासु**" इत्यादि, "**सिं**"मितिपदमत्राऽपि

सम्बध्यते, तत उक्तशेषासु निरयगत्योघादिषड्वत्तरशतमार्गणासु **"सिं"** ति सप्तानां भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोस्तथाऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणास्ववस्थितबन्धस्य **"भवे लहुं समयो"** त्ति 'लघु'-जघन्यं नानाजीवाश्रयमन्तरं समयो भवेत् । सुगमम् ।

एतदेवोत्कृष्टतः प्राह-**"पल्लासंखियभागो"** इत्यादि, 'भूगाराईण तिण्ह' इत्येतावत्पूर्वगाथा-तोऽनुवर्तते, ततो भूयस्कारादित्रिविधस्थितिबन्धस्य प्रत्येकमपर्याप्तमनुष्य-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-लक्षणमार्गणात्रये **"गुरु"** ति नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं भवति । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणास्थाने तु तत् **"बोद्धव्वं बारस मुहुत्ता"** त्ति द्वादशमुहूर्ता बोद्धव्यम् । **"आहारदुगे"** त्ति आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयलक्षण आहारकद्विके पुनस्तद्भूयस्कारादि-त्रिविधस्थितिबन्धानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं **"णेयं वासपुहुत्तं"** त्ति वर्षपृथक्त्वं ज्ञेयं भवति । अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोस्तु **"भूओगारस्स वरिसपुहुत्तं"** ति सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारलक्षणस्यैकविधस्थितिबन्धस्य प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं ज्ञेयम् , न त्वल्पतरा-ऽवस्थितलक्षणयोः स्थितिबन्धयोरपीति भावः । तर्हि तयोः कियद्भवतीत्याह--**"इयराण छम्मासा"** त्ति अवक्तव्यान्तरस्य पूर्वमतिदिष्टत्वाद् , भूयस्कारान्तरस्यानुपदमेवाऽभिहितत्वाच्चा-ऽवक्तव्य-भूयस्कारेतरयोरल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धयो प्रत्येकं षण्मासा भवति, न पुनर्भूयस्कारा-न्तरवद्वर्षपृथक्त्वम् , मार्गणाद्वयेऽप्युपशमकानामेव भूयस्कारस्थितिबन्धस्वामित्वात् , तेषां चारित्र-मोहोपशमकानामुत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वाच्च । उक्तञ्च **जीवसमासे**-'वासपुहुत्तमुवसामग्गेसु' इति ।

शेषपदद्वयस्य तु न केवला उपशमका एव स्वामिनः, किन्तु क्षपका अपि, क्षपकाणां तूत्कृ-ष्टान्तरं षण्मासा एव । उक्तञ्चैतदपि **जीवसमासे**-'खवगेसु छम्मासा' इति । इत्थं च तदधीनं प्रस्तुतान्तरमपि षण्मासा एव भवतीति तथैव दर्शयन्नाह-**"इयराण छम्मासा"** इति । गता-र्थम् , केवलम् **"इयराण"** त्ति उक्तेतरयोरल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरिति । **"भूओगाराइण"**मित्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमे छेदोपस्थापनसंयमे चेत्येवं मार्गणाद्वयेऽवक्तव्य-स्याऽसत्पदत्वाच्छेषाणां भूयस्कारादीनां त्रयाणामपि स्थितिबन्धसत्पदानां प्रस्तुतनानाजीवाश्रयो-त्कृष्टान्तरं **"जलहीण कोडिकोडीओ"** त्ति 'जलधीनां'-सागरोपमाणां कोटिकोट्योऽष्टादश विज्ञेयमिति । **"सत्त दिवसा उवसमे"** त्ति सप्त 'दिवसाः'-वासरा औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां **"तिपयाण"** त्ति अवक्तव्यस्थितिबन्धप्रस्तुतान्तरस्य 'जहि स भवे तस्स तहिं एवं' (गाथा-६६५) इत्यनेनातिदिष्टत्वाच्छेषाणां भूयस्कारादीनां त्रिविधस्थितिबन्धपदानामित्यर्थः । एतास्वपर्याप्तमनुष्याद्ये-कादशमान्तरमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं सर्वथा **द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयान्तरद्वारोक्तज्ञाना-**वरणाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवत् तत्तदपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणानामुत्कृष्टान्तरस्य पल्योपमा-ऽसंख्येयभागादिप्रमाणत्वात्साध्यम् । यः पुनरपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोर्भूयस्कारोत्कृ-ष्टान्तरविषये विशेषः, स तूपशमकानामेव तद्बन्धकत्वात्साधित एवेति ।

"दुपयाण सेसासु भिन्नमुहुत्त" ति भूयस्कारा ऽल्पतरलक्षणद्विविधस्थितिबन्धसत्पदयोः प्रस्तुतान्तरस्यासंख्यलोक-तदधिकबन्धकपरिमाणासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु प्रतिषिद्धत्वात् तास्तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणास्तथाऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशसान्तरमार्गणासु प्रस्तुतान्तरस्याभिहितत्वात्ता एकादशमार्गणा विहाय शेषासु निरयगत्योघादिपञ्चनवतिमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं 'भिन्नमुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तं भवति । गतार्थम् । केवलं **शेषमार्गणा इमाः**—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीमार्गणाः, सर्वे विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजोवायु पर्याप्तप्रत्येकवनस्पति-सर्वत्रसकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगः, स्त्री-पुरुषवेदौ, मत्यादिज्ञानचतुष्कम् , विभङ्गज्ञानम् , संयमौघ-सामायिकसंयम-देशसंयमाः, चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शने, शुभलेश्यात्रयम् , सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वानि संज्ञिमार्गणास्थानञ्चेति ।

तदेवं प्रतिपादितं सर्वमार्गणासु भूयस्कारादित्रिविधस्थितिबन्धस्याऽपि नानाजीवाश्रयमन्तरं द्विधा । साम्प्रतमायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धसत्पदयोस्तद्विभणिषुरतिदेशेनाह—**"सव्वह आउस्से"** त्यादि, अत्रैव **स्थितिबन्धग्रन्थे द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रितान्तरद्वारे—**

'जहि सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसठिईअ आउगस्स भवे । तहि तीअ अंतरं णो सेसासु भवे लहुं समयो ।।
पचिंदियतिरिय-विगल-पणिदिय-तसेसु सिं अपज्जेसु । भिन्नमुहुत्तं जेट्ठं अण्णह णाउण णेयव्वं ।।४२६।।'

इति गाथाद्वयेनाऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां जघन्यत उत्कृष्टतश्च यावत्समयादिकमन्तरं प्रतिपादितं तावत् **"दुपयाणं"** ति आयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिबन्धलक्षणोर्द्वयोः सत्पदयोः प्रत्येकमपि जघन्यत उत्कृष्टतश्च विज्ञेयम् ।

कथमनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवदतिदिष्टम् ? इति चेद् , उच्यते, यथाऽयुषः प्रकृतिबन्धाभावे न भवति तस्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धः, प्रकृतिबन्धसद्भावे तु प्रतिप्रकृतिबन्धमसावायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धो भवत्येव, ततश्च प्रागायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं तदीयप्रकृतिबन्धान्तरवत्तत्र तत्र सर्वाद्धासमया-ऽन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणं प्रतिपादितं तथैवाऽऽयुषः प्रकृतिबन्धाभावे न भवति प्रस्तुतद्विविधस्थितिबन्धोऽपि, प्रकृतिबन्धसद्भावे तु प्रतिप्रकृतिबन्धमसौ द्विविधोऽपि स्थितिबन्धः प्रवर्तत एवेत्येवमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवदायुषोऽल्पतरा—ऽवक्तव्यस्थितिबन्धयोरपि नानाजीवाश्रयं प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धवदुत्पद्यते, ततश्चतत्प्रकृतिबन्धान्तरवद्वक्तव्यं भवति, यद्यप्येवं तथाऽपि प्रकृतिबन्धनानाजीवाश्रयान्तरस्य दूरेण प्ररूपितत्वात् तदुपेक्ष्यानुत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयान्तरस्यात्रैव मूलप्रकृतिस्थितिबन्धेऽनन्तरे **द्वितीयाधिकारे** प्रतिपादितत्वेन संनिकृष्टत्वादायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयान्तरवदतिदिष्टमिति । विशेषोपपत्त्यर्थं त्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयान्तरविवृतिर्विलोकनीयेति ।।६६९-...६७०।।

तदेवं प्ररूपितमायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थितिबन्धसत्पदयोरपि नानाजीवाश्रयमन्तरमतिदेशद्वारेणैव । तस्मिंश्च प्ररूपिते समाप्तमेकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारम्।।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां नानाजीवाश्रया-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम्

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्								। आयुषः
कुत्र ?	भूयस्कारस्थिति-बन्धस्य		अल्पतरस्थिति-बन्धस्य		अवस्थितस्थिति-बन्धस्य		अवक्तव्य-स्थिति-बन्धस्य	
	जघन्यं।	उत्कृष्टम्	जघन्यं।	उत्कृष्टम्	जघन्य।	उत्कृष्टम्		
अपर्याप्तमनुष्य-सास्वादन-मिश्रदृष्टिरूपमार्गणात्रये--	समयः	पल्योपमस्या-ऽसंख्यभागः	समय	पल्योपमस्या-ऽसंख्यभागः	समयः	पल्योपमस्या-ऽसंख्यभागः	ओघतो यत्र सन् तत्र सर्वमार्गणास्थानेषु च जघन्य समयः, उत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तम् ।	ओघतः सर्वमार्गणास्थानेषु चाऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थित्योः सर्वथा नानाजीवाश्रिताऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरवत् ।
वैक्रियमिश्रकाययोगे--	,,	१२ मुहूर्ताः	,,	१ मुहूर्ताः	,,	१२ मुहूर्ताः		
आहारक-तन्मिश्रकाययो-गयोः--	,,	वर्षपृथक्त्वम्	,,	वर्षपृथक्त्वम्	,,	वर्षपृथक्त्वम्		
गतवेद-सूक्ष्मसम्पराय-संयमयोः--	,,	,,	,,	षण्मासाः	,,	षण्मासाः		
औपशमिकसम्यक्त्वे--	,,	सप्त दिनानि	,,	सप्त दिनानि	,,	सप्त दिनानि		
छेदोपस्थापन-परिहार-विशुद्धिकयोः--	,,	१८ कोटाकोटी सागरोपमाणि	,,	१८ कोटाकोटी सागरोपमाणि	,,	१८ कोटाकोटि सागरोपमाणि		
ओघतोऽसंख्यलोक-तद-धिकबन्धकपरिमाणासु मार्गणासु च --		सर्वाद्धा		सर्वाद्धा		सर्वाद्धा		
उपर्युक्तशेषासु मार्गणासु--	,,	अन्तर्मुहूर्तम्	,,	अन्तर्मुहूर्तम्	,,	अन्तर्मुहूर्तम्		

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे एकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

●

॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

एतर्हि भावद्वारस्यावसरः । तत्रोत्कृष्टादिस्थितिबन्धवन्मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धोऽप्यौपशमिकादिभावानां मध्ये केन भावेन जायत इत्येतत्प्रदिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

भावेणोदइएणं भूगाराईण अट्ठकम्माणं ।
बंधो एवं सव्वह सकम्माण सपयाणं ॥६७१॥

(प्रे०) "**भावेणे**"त्यादि, ओघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरणादीनामष्टानामपि मूलप्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेर्भूयस्कारादीनां सर्वेषां स्थितिबन्धसत्पदानां बन्ध उत्कृष्टादिस्थितिबन्धवदौदयिकेन भावेन भवतीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु **द्वितीयाधिकार-भावद्वार** उत्कृष्टादिस्थितिबन्धविशेषाणां कषायोदयलक्षणौदयिकभावप्रत्ययत्वसाधनेनैव गतार्थः ।

न च भूयस्कारस्थितिबन्धस्य समयाद्यधिकस्थितिबन्धरूपत्वाद्भवतु तत्र कषायोदयरूप औदयिकभावो हेतुः, अल्पतरस्थितिबन्धेऽपि कथमसौ युज्येत, तस्य समयादिहीनस्थितिबन्धरूपत्वेन तत्र तावत्कषायोदयहानेरेव हेतुतया युज्यमानत्वात्, तस्याश्च तावत्कषायोदयाभावलक्षणायाः कषायोदयप्रतिपक्षत्वेन कषायोदयरूपौदयिकभावबहिस्त्वात् ? **इति चेद्**, **न**, अल्पतरस्थितिबन्धे पूर्वसमयापेक्षया हीनस्थितिबन्धभावेऽपि नासौ स्थितिबन्धहानलक्षणस्थितिबन्धाभावरूपः, किन्तु समयादिस्थितिबन्धहान्योत्तरसमयजायमानस्थितिबन्धरूप एव, अन्यथा सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे ज्ञानावरणादीनामन्तर्मुहूर्तादिस्थितिबन्धात्तदुत्तरसमय उपशान्तमोहगुणस्थाने स्थितेरबन्धं कुर्वतां स्थितिबन्धाभावप्रवृत्त्या स्थितिबन्धहानेः सम्पद्यमानत्वात्तेषामप्यल्पतरस्थितिबन्धस्वामित्वं स्यात्, न च तद्भवति, तेषामुपशान्तमोहगुणस्थानप्रथमसमयवर्तिनां तत्र पूर्वसमयजायमानान्तर्मुहूर्तादिस्थितिबन्धस्य सर्वथा हानेरपि स्थितिबन्धस्यैव सर्वथाऽप्रवर्तनेनाऽसंख्येयानां स्थितिबन्धस्थानानां मध्ये स्थितिबन्धहान्याऽन्यतमस्थितिबन्धस्थाननिर्वर्तनलक्षणस्याऽल्पतरस्थितिबन्धस्याऽयुज्यमानत्वात् । **न च** सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धादबन्धं कुर्वतां पूर्वसमयबध्यमानस्थितेर्हानिसम्भवेऽपि तत्र तेषां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामेव बन्धाभावेन न विद्यते तेषां ज्ञानावरणादेरल्पतरस्थितिबन्धस्तदभावेऽल्पतरस्थितिबन्धस्वामित्वञ्च, सति प्रकृतिबन्धे तस्याभिमतत्वादित्यपि **वाच्यम्** । यतस्तथात्वेऽपि उपशान्तमोहगुणस्थाने वेदनीयबन्धस्य सर्वसम्मतत्वेन वेदनीयस्य तु तदापद्येतैव । इत्येवमल्पतरस्थितिबन्धो न स्थितिबन्धहानिरूप एव, किन्तु पूर्वसमयादनन्तरोत्तरसमये स्थितिबन्धहान्या बध्यमानान्यतमस्थितिबन्धस्थानरूपः । स च कषायोदयाभावे न लभ्यत इत्यतो भूयस्कारादिस्थितिबन्धवदल्पतरस्थितिबन्धेऽप्यौदयिकभावहेतुर्भवत्येव । इत्येवमल्पतरस्थितिबन्धेऽपि कषायोदयलक्षणौदयिकभाव एव हेतुतया युज्यत इत्यलं प्रपञ्चितेनेति ॥६७१॥

तदेवं दर्शितमोघत आदेशतश्चाष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिनिबन्धा अप्युत्कृष्टादिस्थितिबन्धवदौपशमिकादिभावानां मध्ये औदयिकेन भावेन जायन्त इति । तस्मिंश्च दर्शिते गतं भावद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं **"अप्पबहुग"**मित्यनेनोद्दिष्टे चरमेऽल्पबहुत्वद्वारे मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टपदगतानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानामल्पबहुत्वं जिज्ञापयिषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगाऽप्पाऽवत्तव्वस्स उ तओ अणंतगुणा ।
अप्पयरगस्स ताओ भूओगारस्स अब्भहिआ ॥६७२॥
तोऽवट्ठिअस्स णेया असंखियगुणाऽऽउगस्स णायव्वा ।
थोवाऽवत्तव्वस्स उ अप्पयरस्स य तओ असंखगुणा ॥६७३॥ ([redacted]नि:)

(प्रे०) **"सत्तण्ह बंधगा"** इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं **"बंधगाऽप्पाऽवत्तव्वस्स"** त्ति अवक्तव्यलक्षणस्थितिबन्धस्य 'बन्धकाः'-निर्वर्तका 'अल्पाः'-स्तोका इत्यर्थः। अनन्तरवक्ष्यमाणपदापेक्षयेति तु गम्यत एव । कुतः स्तोकाः ? उपशान्तमोहगुणस्थानादिभाव्यबन्धाद्तीये बन्धप्रारम्भकानां स्तोकानामेव लाभात् । एवमेव वक्ष्यमाणमार्गणास्थानेष्वप्यवक्तव्यबन्धकानां स्तोकत्वं भावनीयमिति । तुः पादपूरणे । **"तओ अणंतगुणा"** त्ति 'ततः'-अनन्तरोक्तेभ्यो ज्ञानावरणादेरवक्तव्यस्थितिबन्धकेभ्योऽनन्तगुणाः । कस्य बन्धका इत्याह–**"अप्पयरस्स"** त्ति अल्पतरस्थितिबन्धस्येत्यर्थः । सप्तप्रकृतीनामिति त्वनुवर्तते । कुतोऽनन्तगुणाः ? अल्पतरस्थितेर्बन्धकतयैकेन्द्रियादीनामपि लाभात् , तेषां च सर्वमनुष्यापेक्षयाऽप्यनन्तगुणत्वादिति । **"ताओ भूओगारस्स अब्भहिआ"** त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्ताल्पतरस्थितिबन्धकेभ्यः सप्तानामेव भूयस्कारस्थितिबन्धस्य बन्धका 'अभ्यधिकाः'-विशेषाधिका इत्यर्थः । कुतः ? उच्यते, पूर्वापेक्षया समयाधिकसञ्चितानां बन्धकानामेकसमये भूयस्कारबन्धकतया लाभात् । **इदमुक्तं भवति**–प्रागुक्ता अल्पतरस्थितिबन्धका उत्कृष्टतोऽपि त्रिसमयसञ्चिता एव लभ्यन्ते । कुतः ? ओघत एकजीवस्योत्कृष्टतो निरन्तरं त्रिसमयान् यावदल्पतरबन्धस्य सम्भवात् । सप्तानामेकजीवाश्रयस्य भूयस्कारस्थितिबन्धस्याधिकोत्कृष्टकालस्य चतुःसमयप्रमाणत्वेन भूयस्कारबन्धकास्तु चतुःसमयसञ्चिता अपि प्राप्यन्ते । एवं हि सदृशानां तुल्यपरिमाणानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां भूयस्काराऽल्पतरबन्धद्वयार्हत्वेऽप्यल्पतरस्थितिबन्धकेभ्यः सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धकाः समयाधिकसञ्चिता इतिकृत्वा विशेषाधिका भवन्तीति । **"तोऽवट्ठिअस्स णेया असंखियगुणा"** त्ति तेभ्यः सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धकेभ्योऽवस्थितस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणा ज्ञेयाः, बन्धका इत्यनुवर्तत इति । अत्रापि पूर्ववत्प्रस्तुतबन्धस्य सदृशस्वामिकत्वे सत्येकजीवाश्रयतद्बन्धकालस्योत्कृष्टतो भूयस्कारबन्धकालादसंख्यगुणाधिकभावाद् बन्धकसञ्चयोऽप्यसंख्यगुणः सम्पद्यत इति ज्ञेयम् । उक्तमायुर्वर्जसप्तानां प्रत्येकं भूयस्कारादेर्बन्ध-

कानामल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमुक्तशेषस्याऽऽयुषो द्विविधबन्धकानां तदर्शयन्नाह—"उग्गस्स णायव्वा" इत्यादि, तत्र विश्लेशप्राप्तस्याऽऽकारस्य दर्शनादायुषः "थोवाऽवत्तव्वस्स उ" त्ति अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य स्तोका ज्ञातव्याः, बन्धका इत्यनुवर्तते, अनन्तरवक्ष्यमाणाल्पतरस्थितिबन्धकेभ्य इति गम्यत एव । "अप्पयरस्स य तओ असंखगुणा" त्ति तेभ्य आयुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धकेभ्य आयुष एवाल्पतरस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका असंख्यगुणाः, ज्ञातव्या इत्यनुवर्तते । सुगमम् , यत आयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिबन्धयोः सदृशस्वामिकत्वेऽप्युत्कृष्टपदेऽल्पतरस्थितिबन्धसत्कैकजीवाश्रयकाल एकजीवाश्रयाऽवक्तव्यस्थितिबन्धोत्कृष्टकालापेक्षयाऽसंख्येयगुणो भवति, तथा च सति बन्धकसङ्ख्ययोऽप्यसंख्यगुणः प्राप्यत इति ॥६७२-६७३॥

तदेवमुक्तमष्टानामपि मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिबन्धकानामल्पबहुत्वमोघतः । साम्प्रतं तदेवादेशतो मार्गणास्थानेष्वभिधित्सुरादौ तावत्सप्तप्रकृतीनामाह—

तिरिय-अपज्जतसेसु णपुंसगम्मि य कसायचउगम्मि ।
अण्णाणदुगे अयते तिअसुहलेस-भवि-मिच्छेसु ॥६७४॥
सव्वप्पाऽप्पयरस्स उ सत्तण्ह तओ विसेसओऽब्भहिआ ।
भूओगारस्स तओ अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥६७५॥
णवरं लोहे थोवाऽवत्तव्वस्स उ हवन्ति मोहस्स ।
तत्तो अणंतगुणिआऽप्पयरस्स तओ उ पुव्वव्व ॥६७६॥

(प्रे०) "तिरियअपज्जतसेसु" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघा-ऽपर्याप्तत्रसमार्गणयोर्नपुंसकवेदमार्गणायाम् । चः पादपूर्त्यै । क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्के । चः प्राग्वत् । मत्यज्ञानश्रुताज्ञानात्मकयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणयोः, असंयमे, त्रिकृष्णाद्यशुभलेश्या--ऽभव्य--मिथ्यात्वमार्गणास्वित्येवमेतासु पञ्चदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह—"सव्वप्पा" इत्यादि, "सत्तण्ह" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रत्येकं "सव्वप्पाऽप्पयरस्स" त्ति अल्पतरस्थितिबन्धस्य 'सर्वाल्पाः'-सर्वस्तोकाः, बन्धका इति गम्यते । "तओ" त्ति तेभ्यः "विशेषओऽब्भहिया भूओगारस्स" त्ति सप्तानां प्रत्येकं भूयस्कारस्थितिबन्धस्य 'विशेषतोऽभ्यधिकाः'-विशेषाधिका इत्यर्थः । बन्धका इति पूर्ववत् । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । "तओ अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा" त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्योऽवस्थितस्थितिबन्धस्याऽसंख्यगुणा बन्धका इति । एतासु प्रत्येकं प्रस्तुताल्पबहुत्वमोघवदेव भावनीयम्, केवलं तत्रौघिकाल्पबहुत्वे सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धोऽप्यासीत्, न चासावत्र सामान्यतः कासुचिदपि मार्गणासु लभ्यते, अतः प्रथमं स्थानं विहाय शेषभावना कर्तव्या । विशेषतस्तु लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धसद्भावात्तस्यां सर्वथैवौघवद् द्रष्टव्यम्,

एतदेव दर्शयितुमपवादपदमाह–"णवर"मित्यादिना,तदर्थस्त्वयम्–परं लोभमार्गणायां मोहनीयस्यावक्तव्यबन्धसद्भावात् सर्वस्तोका मोहनीयस्याऽवक्तव्यस्थितिबन्धका भवन्ति, तेभ्योऽनन्तगुणा अल्पतरस्य बन्धकाः,तेभ्यो भूयस्कारस्य विशेषाधिका बन्धकाः,तेभ्यश्चावस्थितस्य बन्धका असंख्यगुणा इति । उपपत्तिस्त्वत्र सर्वथैवौघवद् द्रष्टव्येति ॥६७४-६७५-६७६॥

अथान्यत्राह—

मणुस-दुपणिंदियेसुं पंचमणवयण-तिणाण-ओहीसुं ।
सुइलाए सम्मत्ते खइअ-उवसमेसु सण्णिम्मि ॥६७७॥
थोवाऽवत्तव्वस्स उ तत्तो दोण्ह हविरे असंखगुणा ।
भूगाराईण तओ अवट्ठिअस्स य असंखगुणा ॥६७८॥

(प्रे०) "मणुसे"त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्त्याऽत्र 'दुपणिंदियेसु' इत्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ ग्राह्यौ, ततो मनुष्यगत्योघ-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणासु, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-मत्यादित्रिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणासु, शुक्ललेश्यामार्गणायां, सम्यक्त्वौघमार्गणायां, क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः संज्ञिमार्गणायां चेत्येतासु द्वाविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं "थोवाऽवत्तव्वस्स उ" इत्यादि,सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थितिबन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यो भूयस्कारा ऽल्पतरस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः प्रत्येकं बन्धकाः "हविरे असंखगुणा" त्ति असंख्येयगुणा भवन्ति,परस्परं तु तुल्या इति । कथं तुल्याः ? इति चेत्, प्रत्येकमार्गणास्वुत्कृष्टपदे तुल्यसमयसञ्चितानां प्रस्तुतद्विविधबन्धकानां लाभात्, येषामेव भूयस्कारबन्धार्हत्वं तेषामेवाल्पतरबन्धार्हत्वाच्च । एवमुत्तरत्राऽपि तत्तद्बन्धकानां परस्परं तुल्यत्वेऽवसातव्यम् । अत एव पदद्वये युगपदसंख्येयगुणत्वाभिधानमपि प्राग्वद् विज्ञेयम् । तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो भूयस्काराल्पतरान्यतरबन्धकेभ्योऽवस्थितस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणाः, बन्धका इति गम्यते । सुगमम्, अवस्थितस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्य पूर्वापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादिति ॥६७७-६७८॥

मार्गणान्तरेष्वाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं मणपज्जवणाण-संयमेसुं च ।
सत्तण्हं सव्वऽप्पाऽवत्तव्वस्स उ मुणेयव्वा ॥६७९॥
तत्तो संखेज्जगुणा भूगाराईण दोण्ह णायव्वा ।
ताहिन्तो संखगुणा अवट्ठिअस्स उ मुणेयव्वा ॥६८०॥

(प्रे०) "पज्जमणुसे"त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोश्च प्रत्येकं सप्तानां मूलप्रकृतीनामेकैकस्या अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकाः । सर्वाल्पा

ज्ञातव्याः। तेभ्यः संख्येयगुणाः **"भूगाराईण दोण्ह णायव्वा"** त्ति भूयस्काराऽल्पतरयोर्द्वयोः स्थितिबन्धयोः प्रत्येकं ज्ञातव्याः, परस्परन्तु प्रागिव तुल्याः। **इयमत्रोपपत्तिः**–अधिकृतमार्गणाचतुष्के सप्तानां भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिबन्धयोरेकजीवाश्रय उत्कृष्टकालो द्वौ द्वौ समयावेव, अन्यच्च सदृशजीवा द्विविधबन्धसमर्थाः। तथा च सत्युभयत्र तुल्यसमयनिचितानां तुल्यानामेव बन्धकानां लाभः, ते चोत्कृष्टपदे परस्परं तुल्यपरिमाणाः सन्तोऽपि प्रत्येकं पूर्वोक्तेभ्योऽवक्तव्यबन्धकेभ्यः संख्येयगुणा भवन्ति, अवक्तव्यबन्धस्य केषांचित्स्तोकजीवानां कदाचित्समयमेव भावात्। **"ताहिन्तो"** त्ति तेभ्यो भूयस्कारा-ऽल्पतरैकविधबन्धकेभ्यः **"संखगुणा अवट्ठिअस्स उ मुणेयव्वा"** त्ति सप्तानामवस्थितस्थितिबन्धस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः ज्ञातव्या इत्यर्थः। अस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्य पूर्वापेक्षयाऽसंख्यगुणत्वेऽपि मार्गणागतजीवराशीनामेव संख्येयत्वात् संख्येयगुणत्वस्यैव सम्भवः, न पुनरसंख्येयगुणत्वस्येति भावः ॥६७९-६८०॥

तसदुग-काय-णयणियर-भविया-ऽऽहारेसु हुन्ति ओघव्व।
णवरि दुतस-चक्खूसु अप्पयरस्स उ असंखगुणा ॥६८१॥

(प्रे०) **"तसदुगकाये"**त्यादि, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां प्रागभिहितत्वेन तद्वर्जौ शेषौ त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायरूपौ द्वौ भेदौ, काययोगसामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्च तेषु प्रत्येकं **"हुन्ति ओघव्व"** त्ति प्रकृताल्पबहुत्वमोघवद्भवति। **तद्यथा**–सप्तानां प्रत्येकमवक्तव्यस्थितिबन्धकाः सर्वस्तोकाः,ततोऽल्पतरस्थितिबन्धका अनन्तगुणाः,तेभ्यो भूयस्कारस्थितिबन्धका विशेषाधिकाः,ततोऽवस्थितस्थितिबन्धका असंख्यगुणा भवन्तीत्यर्थः। इत्थमतिदिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्दिधीर्षुराह–**"णवरि"** इत्यादिना, 'नवरं'-परमयमत्र विशेषः। क इत्याह–**"दुतस"** इत्यादि। अयमभावः–त्रसकायौघ–पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोर्द्वयोस्त्रसकायभेदयोश्चक्षुर्दर्शनमार्गणायां च प्रत्येकं जीवा असंख्येया एव सन्ति, न पुनः शेषकाययोगादिमार्गणावदनन्ताः, तथा च सति द्वितीयपदेऽल्पतरबन्धकानामोघवदनन्तगुणत्वस्याऽसम्भव एव, अतस्तत्स्थानेऽल्पतरस्थितिबन्धका अवक्तव्यस्थितिबन्धकेभ्योऽसंख्यगुणा वक्तव्याः, तदूर्ध्वं त्वतिदेशानुसारेणौघवदेवेति ॥६८१॥

उरले अवत्तव्वस्स उ थोवा तत्तो य दोण्हऽणंतगुणा।
भूगाराईण तओ अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥६८२॥

(प्रे०) **"उरलेऽवत्तव्वस्से"**इत्यादि, तत्र तुः पुनरर्थे 'उरले' इत्यस्योत्तरं योज्यः, ततः **"उरले"** त्ति औदारिककाययोगमार्गणायां पुनः सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'स्तोकाः'-सर्वाल्पाः, बन्धका इति गम्यते। ततश्च **"भूओगाराईण"** त्ति बहुवचनं प्राकृतलक्षणादादिपदाच्चाल्पतरस्थितिबन्धो गृह्यते, अतो भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोरनन्तगुणाः, बन्धका इति प्राग्वत्, सममेवानन्तगुणत्वाभिधानात्तयोः परस्परं तुल्यत्वमपि प्राग्वद् बोद्धव्यम्;

तच्च भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धयोरेकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तुल्यत्वादिना प्राग्वदुपपादनीयम् । "तओ अवट्ठिअस्स उ" त्ति तेभ्योऽवस्थितस्य पुनरसंख्यगुणाः, बन्धका इति तु प्राग्वत् । असंख्यगुणत्वमपि प्राग्वत् सदृशस्वामिकत्वे सत्येकजीवाश्रयस्योत्कृष्टबन्धकालस्यासंख्येयगुणत्वादिति हेतोर्विज्ञेयमिति ॥६८२॥

भूगाराईणऽप्पा दोण्हं तोऽवट्ठिअस्स संखगुणा ।
सव्वत्था-ऽऽहारदुग-समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥६८३॥

(प्रे०) "भूगाराईणे"त्यादि, सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं 'भूयस्कारादयोः'-भूयस्काराऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोरल्पा बन्धकाः, परस्परन्तु तुल्या इति प्राग्वद्गम्यते । "तो" त्ति ततोऽवस्थितस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणा बन्धका इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह-"सव्वत्थाहारदुगे"त्यादि, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्विके, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमेष्वित्येवं षण्मार्गणास्वित्यर्थः । तत्र तुल्यत्वं सदृशस्वामिकत्वे सत्येकजीवाश्रयबन्धकालस्य तुल्यत्वात्, संख्येयगुणत्वं च जीवानां संख्येयत्वात्प्राग्वद्योज्यमिति ॥६८३॥

गयवेएऽवत्तव्वस्सऽप्पा तत्तो कमेण संखगुणा ।
भूओगारस्स तओऽप्पयरस्सा-ऽवट्ठिअस्स तओ ॥६८४॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थितिबन्धस्य बन्धका 'अल्पाः'-स्तोकाः । तेभ्यः क्रमेण संख्येयगुणा भूयस्कारस्य, ततोऽल्पतरस्य । अवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽल्पतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणा इत्यर्थः । ननु गतवेदमार्गणायामपि प्राग्वद्भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धयोरेकजीवाश्रयः कालस्तुल्य एकसमयोऽस्ति, तत्कथं भूयस्कारबन्धकापेक्षयाऽल्पतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणा उच्यन्ते ? भण्यते-बन्धकालस्य तुल्यत्वेऽपि तयोः स्वामिनो न सदृशाः, किन्तु विसदृशाः, यतो भूयस्कारस्थितिबन्ध उपशमश्रेणितः पततामेव लभ्यते, नान्येषाम् ; अल्पतरबन्धस्तूपशमश्रेणिमारोहतां क्षपकश्रेणिमारोहतां च । इत्थं हि भूयस्कारबन्धका एकविधाः, अल्पतरबन्धकास्तु द्विविधा भवन्ति, ततश्चैकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्य तुल्यत्वेऽपि बन्धकास्त्वल्पतरस्थितबन्धस्य संख्येयगुणाः सम्पद्यन्त इति ॥६८४॥

सुहुमे सव्वत्थोवा भूओगारस्स ताउ संखगुणा ।
अप्पयरस्स तओ खलु अवट्ठिअस्सऽत्थि संखगुणा ॥६८५॥

(प्रे०) "सुहुमे" त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां सर्वस्तोका भूयस्कारस्थितिबन्धस्य, बन्धका इति गम्यते । तेभ्यः संख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकास्तेभ्यः खल्ववस्थितस्य संख्येयगुणा

बन्धकाः सन्ति । प्रकृतिबन्धाविनाभावित्वात्स्थितिबन्धस्य बन्धप्रायोग्यानां षण्णां प्रकृतीनामिति गम्यते । भावनात्वपगतवेदमार्गणावदेव द्रष्टव्येति ॥६८५॥ अथ शेषमार्गणास्वाह—

सेसासुं सत्तण्हं भूगाराईण दोण्ह सव्वऽप्पा ।
ताहिन्तो णायव्वा अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥६८६॥

(प्रे०) "**सेसासु**" त्ति अनन्तरोक्तास्तिर्यग्गत्योघादिसूक्ष्मसम्परायसंयमपर्यन्ताः सप्तपञ्चाशन्मार्गणा अपहाय शेषासु नरकगत्योघादित्रयोदशाभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं "**सत्तण्ह**" त्ति आयुर्वर्जानां मूलसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं "**भूगाराईण दोण्ह सव्वऽप्पा**" त्ति भूयस्काराऽल्पतरस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः प्रत्येकं बन्धकास्तुल्याः स्तोकाश्चेत्यर्थः । "**ताहिन्तो**" त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो भूयस्कारा-ऽल्पतरैकैकस्थितिबन्धकेभ्यः"**णायव्वा अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा**"त्ति अवस्थितस्य बन्धका असंख्यगुणा ज्ञातव्या इत्यर्थः । सुगमं भावितप्रायं चेति । **शेषमार्गणाः पुनर्नामत इमाः**—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्का एकोनचत्वारिंशद्भेदाः, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादना-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकमार्गणाश्चेति ॥६८६॥

तदेवमुक्तमायुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकाल्पबहुत्वमादेशतोऽपि । साम्प्रतमवशेषस्यायुःकर्मणोऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकाल्पबहुत्वमादेशतो दिदर्शयिषुर्गाथाद्वयमाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समईअ-छेअ-परिहारेसुं ॥६८७॥
सुइल-खइएसु थोवाऽवत्तव्वस्साऽऽउगस्स ताहिन्तो ।
संखगुणाऽप्पयरस्स उ असंखियगुणाऽत्थि सेसासुं ॥६८८॥

(प्रे०) "**पज्जमणुसमणुसीसु**" इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोस्तथाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विकमानतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताष्टादशदेवभेदास्तेषु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः,सामायिक-छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु,शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोरित्येतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुर्बन्धकानां संख्येयत्वादवक्तव्यस्थितिबन्धकेभ्योऽल्पतरस्थितिबन्धकाः संख्येयगुणा एव भवन्तीत्यत उक्तम् "**थोवाऽवत्तव्वस्साउगस्स ताहिन्तो संखगुणाऽप्पयरस्स उ**" इति । **असंखियगुणाऽत्थि सेसासु**" ति "**थोवाऽवत्तव्वस्साऽऽउगस्स**' इत्यस्यात्राप्यनुवर्तनादुक्तशेषास्वायुर्बन्धप्रायोग्यासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिक-

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम्

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्					आयुष
कुत्र ?	अवक्तव्य-बन्धका ततः	अल्पतर-बन्धकाः ततः	भूयस्कार-बन्धकाः ततः	अव.स्थित-बन्धकाः	↓
तिर्यगोघा-ऽपर्याप्तत्रस-नपुंसक-कषाय-चतुष्क★-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽप्रशस्तलेश्यात्रिक-भव्य-मिथ्यात्वेषु १५	०	स्तोकाः	विशेषाधिका	असख्यगुणाः	सर्वत्राऽवक्तव्यबन्धका-स्तोकाः, तेभ्योऽल्पतरबन्धका यत्र संख्येय बन्धकपरिमाणा तत्र पर्याप्तमनुष्यादि-(२६) मार्गणासु संख्येयगुणाः, शेषमार्गणास्वोघतश्चाऽसंख्येयगुणा ।
मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-सर्वमनोवचोयोगभेद--मति--श्रुताऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-शुक्लेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिको--पशमकिसम्यक्त्व-सज्ञिषु— २२	स्तोका·	असख्यगुणा·	तुल्या	,,	
पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-सयमौघमार्गणासु— ४	,,	संख्येयगुणा	तुल्या.	सख्यगुणाः	
ओघतः काययोगौघा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकेषु च, ४	,,	अनन्तगुणा	विशेषाधिका	असख्यगुणा	
त्रसौघ-तत्पर्याप्त-चक्षुर्दर्शनमार्गणासु- ३	,,	असंख्य ,,	,,	,,	
सर्वार्थसिद्धदेवा--ऽऽहारकद्विक--सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि० ६		स्तोकाः	तुल्या.	सख्यगुणा	
औदारिककाययोगमार्गणायाम्— १	,,	अनन्तगुणा	,,	असख्यगुणाः	
अपगतवेदमार्गणायाम्— १	,,	सख्यगुणा	संख्यगुणा.	सख्यगुणा	
सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाम्— १	०	स्तोका	,,	,,	
उपर्युक्तमार्गणा विहाय शेषसर्वमार्गणासु— ११३	०	,,	तुल्याः	असंख्यगुणाः	
★अपवाद -लोभकषाये मोहनीयकर्मणः-	स्तोका	अनन्तगुणा	विशेषाधिका	असाख्यगुणा	

शतमाणासु प्रत्येकमायुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धकाः स्तोकाः,तेभ्योऽल्पतरस्थितिबन्धकास्यत्वसंख्येयगुणा इत्यर्थः । उपपत्तिस्तु सर्वथैवौघवदवगन्तव्येति ॥६८७-६८८॥

तदेवमभिहितं मार्गस्थानेषु शेषस्यायुःकर्मणोऽवक्तव्यादिस्थितिबन्धकाल्पबहुत्वम् । तथा च समाप्तं त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् । तत्समाप्तौ च समाप्तस्त्रयोदशद्वारात्मकस्तृतीयोऽधिकारः ॥

भूयस्काराख्यमिमं, प्रपञ्च्य मयकाऽऽप्तसुकृतसोपानैः ।
लघु यन्तु सिद्धिसौधं, भव्याः सन्मति-चरणयुक्ताः ॥ (पथ्यार्या)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीयभूयस्काराधिकार ॥

॥ पदनिक्षेपाधिकारः ॥

इदानीमधिकृतस्थितिबन्धग्रन्थारम्भे "**पयणिक्खेवो**" इत्यनेन संज्ञामात्रतः कीर्तितस्य चतुर्थस्य पदनिक्षेपाधिकारस्यावसरः । तत्र च त्रीण्यनुयोगद्वाराणि; तान्येवाधिकारारम्भे नामतः क्रमतश्चाह—

तुरिये पयणिक्खेवे अहिगारे तिण्णि हुन्ति दाराइं ।
संतपयं सामित्तं अप्पाबहुगं त्ति जहकमसो ॥६८९॥

(प्रे०) "**तुरिये**" इत्यादि, 'तुर्ये'-अधिकारक्रमापेक्षया चतुर्थे "**पयणिक्खेवे**" त्ति प्राग्व्याख्यातस्वरूपे भूयस्कारादिविशेषचिन्तनात्मके पदनिक्षेपाभिधेऽधिकारे त्रीणि द्वाराणि भवन्ति । **कोऽर्थः** ? वृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धविशेषाणां त्रयाणां जघन्योत्कृष्टलक्षणे पदद्वये निक्षेपणात् चिन्तनात् प्रकृताधिकारोऽपि पदनिक्षेप इत्यभिधीयते ।

इदमभिहितं भवति—"पुव्वसमयाउ समये अणंतरे" इत्यादिना भूयस्काराधिकारप्रारम्भेऽनन्तरपूर्वसमयादनन्तरोत्तरसमये प्रभूततरां स्थितिं बध्नतो या स्थितिबन्धवृद्धिस्तामपेक्ष्य भूयस्कारबन्ध इत्यभिहितम् । एवमल्पतरां स्थितिं बध्नतो या स्थितिबन्धहानिः सैवाल्पतरबन्धतया प्रतिपादिता । इत्थमेवानन्तरसमये तावन्मात्रामवस्थितां बध्यमानस्थितिमवस्थितबन्धतया प्ररूपितवान् ग्रन्थकारः । नवरं तत्र भूयस्कारादिबन्धतयाऽभिहितवृद्ध्यादीनि सामान्यतो जघन्यादिभेदमनधिकृत्यैव दर्शितानि । तानि पुनरुत्कृष्टादिपदे विशेषरूपेण यत्र चिन्त्यन्ते स प्रकृताधिकारः पदनिक्षेप उच्यते । तत्र त्रीणि द्वाराणि सन्ति, (१) सत्पदम्, (२) स्वामित्वम्, (३) अल्पबहुत्वं च । तान्येवाह—"**संतपय**"मित्यादि, गतार्थम्, केवलं पदनिक्षेपस्य प्रारब्धत्वात् तत्तद्द्वारे उत्कृष्टादिपदगतभूयस्कारादिरूपवृद्ध्यादेः सत्पदादिकं चिन्तयिष्यत इति ॥६८९॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवं कृतमधिकारप्रारम्भेऽधिकारगतानां द्वाराणां नामोत्कीर्तनं सक्रमम् । साम्प्रतं तेषु सत्पदादिद्वारेषु मूलप्रकृतिस्थितिबन्धमधिकृत्य पदनिक्षेपं प्रचिकीर्षुः प्रथमे सत्पदद्वारे सत्पदानि प्रतिपादयन्नाह—

परमा वड्ढी परमा हाणी परमं तहा अवट्ठाणं ।
अत्थि य सत्तण्हेवं सव्वासु मग्गणासु भवे ॥६९०॥

(प्रे०) "**परमा वड्ढी**" इत्यादि, सामान्यतोऽनन्तराधिकारे त्रयोदशद्वारेषु चिन्तिता भूयस्कारलक्षणा स्थितिबन्धवृद्धिः 'परमा'-उत्कृष्टा, अस्य च "**अत्थि य सत्तण्ह**" इति परेणान्वयः, ततश्च सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनामस्ति-विद्यते, उत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धिपदं सदिति भावः ।

कुतः ? इति चेत्, समयाद्यधिकस्थितिबन्धरूपानुत्कृष्टवृद्धिभ्यो भिन्नस्य सर्वाधिकस्थितिबन्धवृद्धिरूपस्य भूयस्कारस्याऽत्रोत्कृष्टवृद्धितयाऽधिकृतत्वात्।

किमुक्तं भवति–यदि ज्ञानावरणादीनामन्तर्मुहूर्तादिलक्षणाज्जघन्यस्थितिबन्धादुत्प्लुत्याऽनन्तरसमये त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिमानामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नत उत्कृष्टा वृद्धिरभिप्रेता स्यात्, एवं यदि वैपरीत्येन त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणोत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्यानन्तरसमय एवाऽन्तर्मुहूर्तादिमानं जघन्यस्थितिबन्धं कुर्वत उत्कृष्टा हानिरभिमता स्यात्तथैवैतादृशोत्कृष्टवृद्धि-हान्योर्मध्येऽधिकतरस्या उत्कृष्टवृद्धेरुत्कृष्टहानेर्वाऽनन्तरसमयात्प्रवर्तमानस्य तावन्मात्रस्थितिबन्धलक्षणस्यावस्थानस्य यद्युत्कृष्टावस्थानतया ग्रहणमभिमतं स्यात्तदा तथाविधवृद्ध्यादीनामाकालमनुपलब्धेस्तेषां सत्त्वप्रतिपादनं व्योमकुसुमादिसत्त्वप्रतिपादनवद्विरुध्येत्। न चात्रैवम्, किन्तु याः काश्चित्समयद्विसमयादिवृद्धिलक्षणा वृद्धयस्तासु सर्वाधिकवृद्धिलक्षणायाः शेषानुत्कृष्टवृद्धिभिन्नाया वृद्धेरेवोत्कृष्टवृद्धित्वमभिप्रेतम्, ततश्च सा सामान्यतो मार्गणास्थानेषु च सर्वत्र सम्भवति; अत ओघतो मार्गणास्थानेषु च सर्वत्र ज्ञानावरणस्योत्कृष्टवृद्धिपदं सत्पदतयोक्तम्, एवमेव शेषाणामाऽऽयुर्वर्जदर्शनावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धिपदस्य सामान्यतो विशेषतश्च सत्त्वमवसातव्यम्, एवमेव वक्ष्यमाणोत्कृष्टहान्यादिविषयेऽपि विज्ञेयम्।

अथ स्थितिबन्धवृद्ध्यादीनां यथोक्तलक्षणानामभिप्रेतत्वाज्ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टवृद्धिवदुत्कृष्टहान्यादेरपि सत्त्वं प्रतिपादयन्नाह–"**परमा हाणी**" इत्यादि, अस्यापि प्रत्येकम् "**अत्थि य सत्तण्ह**" इति परेणान्वयस्तत आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टहानिपदं तथैव तासामुत्कृष्टावस्थानपदं च प्रत्येकं सत्। अत्र सप्तानां प्रकृतीनां सर्वेष्वल्पतरस्थितिबन्धेषु यस्मिन्नल्पतरस्थितिबन्धे सर्वाधिकस्थितिबन्धहानिः स परमहानिरूपो बोद्धव्यः। भूयस्काराल्पतरस्थितिबन्धेषु यत्र पूर्वसमयापेक्षयाऽधिकं स्थितिबन्धतारतम्यं तादृशस्य भूयस्कारस्याऽल्पतरस्य वाऽनन्तरसमयेष्ववस्थितस्थितिबन्धस्तदा स उत्कृष्टावस्थानलक्षणं पदमवसेयम्।

लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदेशद्वारेणाह—"**एवं सव्वासु**" इत्यादि, सुगमं गतार्थं च। अत्रौघतो मार्गणास्थानेषु चोक्तसत्पदानां भावना तु लाघवार्थं स्वामित्वद्वारे करिष्यत इति।

इदं तु बोद्धव्यम्–अनन्तरोक्ते '**अत्थि य सत्तण्ह**' इत्यत्र चकारस्स्वल्पाभिधेयत्वाद् भूयस्कारप्ररूपणयैव गतार्थत्वाद्वाऽनुक्तस्याऽवक्ष्यमाणस्य चायुषः समयमात्रतयाऽजघन्यानुत्कृष्टलक्षणस्य हानिपदस्य सत्पदादेः संग्रहार्थमनुक्तसमुच्चये व्याख्येयः। **इदमुक्तं भवति**–आयुःकर्मणो भूयस्कारस्थितिबन्धलक्षणस्य सामान्यस्याभावान्न विद्यते तद्विशेषलक्षणमुत्कृष्टवृद्धिपदमपि, सामान्यस्य निवृत्तौ तत्सकलविशेषनिवृत्तेरनिवार्यत्वात्, दुःखसामान्यनिवृत्तौ मौल्युदरवेदनादितत्प्रत्येकविशेषनिवृत्तिवत्, एवमायुषोऽवस्थितस्थितिबन्धस्याभावात्तद्विशेषलक्षणमुत्कृष्टावस्थानपदमप्यसदेव। अवशिष्टं हानिपदं तु वेद्यमानायूरूपाया बध्यमानायुषोऽबाधायाः प्रतिसमयं परिगलनात् समय-समय-

हानिलक्षणाया एकविधाया हानेरेव प्राप्तेर्यदजघन्यानुत्कृष्टहानिलक्षणं पदं तदेव सत्, नान्यत् । तस्य चौघतो मार्गणास्थानेषु च सर्वे आयुर्बन्धकाः स्वामिनः, सर्वेषां वेद्यमानायुर्हान्या अबाधाहानेस्तत्प्राप्तेः । तथा च तदीयस्वामित्वप्ररूपणायां न काचिद्विशेषवक्तव्यता, अल्पबहुत्वस्य त्वसम्भव एव, जघन्यतोऽपि पदद्वयसद्भावे तत्सम्भवात् । अत ओघतोऽनुक्तं मार्गणास्थानेष्ववक्ष्यमाणमप्यायुषो हानिपदं चकारेण समुच्चितमवगन्तव्यम् ।

यद्वा चकार उक्तसमुच्चय एव, आयुषो हानेः समयमात्रत्वेनोत्कृष्टहानिपदस्य जघन्यहानिपदस्य वाऽसम्भवेनानुक्तसमुच्चेयस्यैवाभावात् । किमुक्तं भवति–उत्कृष्ट-जघन्यलक्षणपदद्वये निक्षेपः प्रवृत्तः, न पुनरनुत्कृष्टाजघन्यलक्षणे पदेऽपि, उक्तपदद्वयं तु विजातीयहीनाधिकस्थितिबन्धद्वयसद्भावे एव सम्भवति, नान्यथा, उत्कृष्टजघन्यपदयोः परस्परं सापेक्षत्वात्, आयुषस्तु समयमात्रस्थितिबन्धहानिप्रयुक्तमेकमेव हानिपदं, ततश्चापेक्ष्यमाणस्य पदान्तरस्याभावादजघन्यानुत्कृष्टपदात्मकं सत् तत्प्रकृतोत्कृष्टादिपदनिक्षेपविषयभूतमेव न भवति । इत्थं च तस्योत्कृष्टजघन्यलक्षणपदद्वयानन्तर्गतत्वेन समुच्चेयस्याऽनुक्तस्याभावाच्चकारोऽपि तत्समुच्चायकतया न भवत्येवातोऽसावुक्तसमुच्चये व्याख्येय इति ॥६९०॥

अथोत्कृष्टपदे मूलकर्मणां स्थितिबन्धवृद्ध्यादिसत्पदानि प्रतिपाद्य साम्प्रतं तान्येव जघन्यपदे दर्शयन्नाह—

हस्सा वड्ढी हस्सा हाणी हस्सं तहा अवट्ठाणं ।
अत्थि उ सत्तण्हेवं सव्वासु मग्गणासु भवे ॥६९१॥

(प्रे०) "हस्सा वड्ढी" इत्यादि, 'ह्रस्वा'-जघन्या, द्विसमयाद्यजघन्यवृद्धिभिन्ना समयलक्षणेत्यर्थः । अस्य चान्वयः "अत्थि उ सत्तण्ह" इति परेण, तत आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यवृद्धिपदं सदित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योजना कार्या । तथैव 'ह्रस्वा'-जघन्या हानिः, "हस्सं तहा अवट्ठाणं" ति तथा वृद्धि-हान्योरनन्तरं प्रवर्तमानावस्थितस्थितिबन्धलक्षणेष्ववस्थानेषु यद् 'ह्रस्वं'- जघन्यवृद्ध्याद्युत्तरप्रवृत्तत्वाज्जघन्यमवस्थानं तदपि सप्तप्रकृतीनां सदेव ।

इदमुक्तं भवति–ज्ञानावरणादेः कश्चिद्भूयस्कारः समयमात्राधिकस्थितिबन्धलक्षणः, कश्चित्पुनर्द्विसमयाधिकस्थितिबन्धलक्षणः, एवं कश्चित् त्रिसमयाधिकस्थितिबन्धलक्षणः, एवमुत्तरत्रापि वाच्यम्; इत्थमेव समय-द्विसमय-त्रिसमयादिहीनस्थितिबन्धलक्षणा अल्पतरबन्धा अपि जायन्ते । तत्र भूयस्कारबन्धाः स्थितिबन्धवृद्ध्याऽल्पतरबन्धास्तु स्थितिबन्धहान्या च प्राप्यन्ते, तत्रोभयत्राऽपि ह्रस्वपदे समयमात्रा वृद्धिर्हानिश्च लभ्यते, ततश्च पदद्वयमपि सद्भूते । अथ कुत्रचित्सूक्ष्मसम्परायसंयमादिलक्षणेषु मार्गणास्थानेषु समयमात्राधिकस्थितिबन्धलक्षणा वृद्धिर्न भवति, किन्त्वन्तर्मुहूर्त-

मात्राधिकस्थितिबन्धलक्षणा भवति,तत्राऽप्यन्यवृद्ध्यपेक्षया या लघ्वन्तर्मुहूर्तमात्राधिकस्थितिबन्धरूपा वृद्धिः सैव जघन्या वृद्धिर्भवति, एवं च जघन्यहानिविषयेऽपि विज्ञेयम् ।

जघन्यावस्थानं तु यस्यावस्थानस्य प्रागनन्तरसमये जाता या स्तोका वृद्धिर्हानिश्च तयोर्यदि वृद्धिः स्तोका, हानिरधिका, तदा वृद्ध्युत्तरमवस्थानं सर्वजघन्यम् । यदि हि हानिः स्तोका, वृद्धिस्तु ततोऽधिका । तदा हान्युत्तरमवस्थानं सर्वजघन्यम् यत्र पुनर्वृद्धिहानी परस्परं तुल्ये समयमात्रे, तत्र त्वन्यतमस्या उत्तरमवस्थानं सर्वजघन्यमिति ।

तथ्यथा-ओघतो जघन्या वृद्धिर्जघन्या हानिश्च तुल्ये समयमात्रे । कुतः ? सर्वेषां जीवानां पूर्वसमयादुत्तरसमये समयमात्रेणाधिकस्थितिबन्धस्य हीनस्थितिबन्धस्य च प्रवर्तनसम्भवात् । ततश्चौघतो जघन्यवृद्धिहान्यन्यतरस्या अनन्तरोत्तरं प्रवृत्तमवस्थानं जघन्यावस्थानतया प्राप्यते । आदेशतः सर्वमार्गणासु प्रायः प्रत्येकं जघन्यवृद्धि-हान्योरोघवन्मिथस्तुल्यभावाज्जघन्यवृद्धि-हान्यन्यतरोत्तरजायमानमवस्थानं जघन्यावस्थानतया प्राप्यते । कुत्रचिदपगतवेदादिमार्गणादौ पुनर्जघन्यवृद्ध्यपेक्षया जघन्या हानिः स्तोका प्राप्यते । कुतः ? तत्र जघन्यहानेः श्रेणिमारोहतां क्षपकाणां भावात् , जघन्यवृद्धेस्तु प्रपततामुपशमकानां प्रवर्तनात् । ततश्च तत्रावेदादिमार्गणादौ तु केवलं जघन्यहान्युत्तरं प्रवृत्तमवस्थानं जघन्यावस्थानतया प्राप्यते, अर्थादोघत आदेशतश्च समानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यवृद्धि-जघन्यहानि-जघन्यावस्थानलक्षणं पदत्रयमपि सदेव, एतच्च स्वामित्वप्ररूपणेनाल्पबहुत्वप्ररूपणेन च सूपपन्नं भवेदिति नात्र प्रपञ्च्यते । इत्थमोघवदादेशतोऽपि ह्रस्ववृद्ध्यादीनां त्रयाणामपि सद्भूतपदत्वात् सर्वमार्गणास्वतिदेशेनाह-"**एवं सव्वासु**"इत्यादि, गतार्थमिति ॥६९१॥

तदेवं दर्शितमोघत आदेशतश्च मूलप्रकृतिस्थितिबन्धविषयकोत्कृष्टजघन्यवृद्ध्यादिपदानां सत्त्वम् , इत्थं च गतमाद्यं सत्पदद्वारम् ।

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

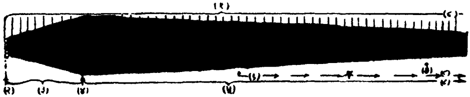
॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं स्वामित्वद्वारावसरः । तत्रादावुत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिन ओघतः प्रतिपादयन्नाह—

मज्झाहिन्तो उवरिं यवस्स चउठाणियस्स वट्टंतो ।
अंतोकोडाकोडिं ठिइबंधं यो कुणेमाणो ॥६९२॥
लहिऊणं उक्कोसं डायं उक्कोससंकिलेसेणं ।
जेट्ठठिइ बंधंतो वड्ढिं सो कुणइ उक्कोसं ॥६९३॥ (युग्मम्)

(प्रे०) **"मज्झाहिन्तो"** इत्यादि, चतुःस्थानिकस्य यवस्य मध्यादुपरि वर्तमानोऽन्तःकोटीकोटिस्थितिबन्धं कुर्वन् यो वर्तते स तत उत्कृष्टसंक्लेशेन उत्कृष्टं डायं लब्ध्वा ज्येष्ठस्थितिं बध्नन् उत्कृष्टां वृद्धिं करोतीति सान्वयः पदसंस्कारः ।

अथ पदार्थोऽभिधीयते-मूलप्रकृतिरसबन्धविधानग्रन्थे विस्तरेणाभिधास्यमानस्वरूपस्य निम्बघोषातकीप्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजो भागचतुष्टयप्रमाणो भाजनान्तरे क्वथितचतुर्थभागावशिष्टोऽतिकटुकतमो यो रसस्तत्कल्पोऽशुभप्रकृतीनां यश्चतुःस्थानिको 'रसः'-अनुभागस्तस्य चतुःस्थानिकरसस्य यो 'यवः'-चतुःस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्यायाः जघन्यायाः स्थितेरारभ्य सागरोपमशतपृथक्त्वाधिकस्थितिबन्धं यावद्यथोत्तरं प्रतिस्थितिबन्धस्थानेषु विशेषाधिकविशेषाधिकक्रमेण वर्धमानसंख्याकानां बन्धकजीवराशीनां, ततः पुनः समय-समयादिस्थितिबन्धवृद्धया निष्पन्नेषूपरितनस्थितिबन्धस्थानेषु ज्ञानावरणादीनां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिबन्धं यावद् विशेषहीनविशेषहीनक्रमेण हीयमानसंख्याकानां बन्धकजीवराशीनां स्थापनामपेक्ष्य या **यवाकृतिः**—



(१) चतु स्थानिकरसबन्धकानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि ।
(२) तत्र सर्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानम् , अत्र स्तोका बन्धका ।
(३) जघन्यस्थितेरारभ्य सागरोपमशतपृक्त्वप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानानि , अत्र समयसमयोत्तरेषु स्थितिस्थानेषु विशेषाधिका विशेषाधिका बन्धकाः,इमानि यवमध्यादधस्तनानि स्थितिबन्धस्थानानि ।
(४) यवमध्यलक्षणं स्थितिबन्धस्थानम् , अत्र सर्वाधिकबन्धकाः ।
(५) इमानि यवमध्यादुपरितनानि स्थितिबन्धस्थानानि, अत्र समय-समयस्थितिवृद्धौ विशेषहीनविशेषहीनबन्धका यावत् त्रिंशत्कोटिकोट्यादिमाना ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टा स्थितिः ।
(६) यत्र स्थितिबन्धस्थाने वर्तमानो जीव उत्कृष्टडायेनोत्कृष्टस्थितिबन्धं कर्तुं शक्नोति तत्स्थानम् ।
(७) उत्कृष्टपदगतान्तःकोटिकोटीसागरोपमलक्षणं स्थितिबन्धस्थानम् ।
(८) यावज्ज्ञानावरणादिमूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिबन्धः ।
★ एकहेलया उत्कृष्टस्थितिं गच्छन्नुत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धेः स्वामी ।
।।।।।। स्थितिबन्धस्थानप्रदर्शकानि चिह्नानि ।

तदपेक्षया यो यवः स चतुःस्थानिको यवस्तस्य चतुःस्थानिकस्य यवस्य यत् 'मध्यम्'-यत्र स्थितिबन्धस्थाने सर्वाधिकबन्धकाः सन्ति,तज्जघन्यस्थितिबन्धात्सागरोपमशतपृथक्त्वस्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरवर्तमानस्थितिबन्धस्थानलक्षणम् ,तस्माद्यवमध्यलक्षणस्थितिबन्धस्थानाद् 'उपरि'-उप-

तनस्थितिबन्धस्थाने वर्तमानः । एवम्भूतो ह्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रभृतेः सर्वोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकोऽपि स्यात् ,मध्यमस्थानादनन्तरस्थितिबन्धस्थानप्रभृत्या उत्कृष्टस्थितिबन्धपर्यन्तानां सर्वस्थानानामुपरितनस्थानरूपत्वात्, अत उक्तम्–अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्निति ।

ननु यद्येवं तर्ह्यन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्नित्येतावतैव सागरोपमकोटिकोट्यादि-तदधिकस्थितेर्बन्धकानां व्यवच्छेदमात्रात्तावदेव पर्याप्तं स्यात्, किं पुनर्यवमध्यादुपरि वर्तमानस्येत्यनेनाऽपि ? **इति चेद्, न,** चतुःस्थानिकयवमध्यादधस्तादप्यन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकानां बन्धस्थानानां सद्भावेन तद्व्यवच्छेदस्यावश्यकत्वात् । **इदमुक्तं भवति**–अन्तःसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणस्थितेरसंख्येयभेदभिन्नतया यथा यवध्यादुपरितनस्थानेषु बध्यमानेष्वन्तःसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणा स्थितिर्बध्यते,तथा यवमध्ये यवमध्यादधस्तनस्थितिबन्धस्थानेष्वपि चतुःस्थानिकरसबन्धं कुर्वद्भिर्जीवैः सा निर्वर्त्यते, इत्यश्च यवमध्यादुपरीत्यनुक्ते यवमध्यादधस्तनवर्तिन्या अन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणायाः स्थितेर्बन्धकस्याऽपि ग्रहणं सम्भवेत्; न च तदिष्टम्, तद्बन्धकस्य तत उत्प्लुत्यैकया हेलयोत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसम्भवेनोत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वाऽसम्भवात्, अतो यस्मात् स्थितिबन्धस्थानादनन्तरसमय एकया हेलयैवौघोत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवस्तादृशमोघोत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानात् सर्वदीर्घान्तरेण वर्तमानं यदन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकं बन्धस्थानं तन्निर्वर्त्याऽनन्तरसमये तत उत्प्लुत्योत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतः प्रकृतोत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वं भवतीत्येतदर्शनार्थमन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिं निर्वर्तयन्नित्यस्येव चतुःस्थानिकयवमाध्यादुपरिवर्तमान इत्यस्याऽपि ग्रहणमावश्यकमिति ।

इत्थं च चतुःस्थानिकरसयवमध्यादुपरि वर्तमानस्तत्प्रायोग्यजघन्यपदगताऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमलक्षणां स्थितिं बध्नन् यः स **'उत्कृष्टेन'**–उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्येन संक्लेशेन 'उत्कृष्टां'-दीर्घाम्, उत्कृष्टस्थितिबन्धस्पृशामित्यर्थः । एवम्भूतां **'श्रायां'**-फालां 'लब्ध्वा'-प्राप्य, अनन्तरोक्तान्तःकोटिकोटिसागरोपमलक्षणस्थितिबन्धादूर्ध्वमेकमपि स्थितिबन्धमकृत्वेति भावः । तर्हि किं कुर्वन्नित्याह–**"जेट्ठठिइं बंधंतो"** त्ति मूलप्रकृतिसत्कौघोत्कृष्टां ज्ञानावरणादीनां प्रागुक्तत्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिलक्षणां स्थिति बध्नन् **"वड्ढिं सकुणइ उक्कोसं"** ति स उत्कृष्टां वृद्धिं करोति,उत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः । सप्तप्रकृतीनामिति शेषः । अत्र जातावेकवचनम्, ततस्तादृशा ये केचन ते सर्वेऽप्युत्कृष्टवृद्धिस्वामिन इति ॥६१२-६१३॥

अथौघत एवोत्कृष्टस्थितिबन्धहानेः स्वामिनो दर्शयन्नाह—

परमठिइं बंधंतो यो मरियेगिंदिये समुप्पण्णो ।
तप्पाउग्गजहण्णं गओ स कुणइ परमं हाणिं ॥६१४॥

(प्रे०) **"परमठिई"**मित्यादि, भवचरमसमये ज्ञानावरणादेस्त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमादिलक्षणामौघिकीं 'परमस्थितिं'-उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् यो जीवः **"मरियेगिंदिये समुप्पण्णो"**

त्ति अनन्तरसमये मृत्वैकेन्द्रियजातावेकेन्द्रियतया समुत्पन्नः । एतादृशो हीशानकल्पान्तवासी देव एव भवति, नान्यः, भवचरमसमय उत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामनन्तरसमये नरकगतावेवोत्पादात्, शेषदेवनारकाणां तु स्वभावत एवैकेन्द्रियतयाऽनुत्पादाच्चेति । अथैकेन्द्रियतया समुत्पन्नः सन्नसौ किं करोतीत्याह--'**तप्पाउग्गे**'त्यादि, तत्र चैकेन्द्रियभवप्रथमसमय एव "**तप्पाउग्गजहण्णं गओ**" त्ति 'तस्य'-ओघोत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्यैकेन्द्रियभवप्रथमसमये वर्तमानस्य बन्धप्रायोग्यो यः पल्योपमासंख्यभागेन न्यूनः सागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणो ज्ञानावरणादेर्जघन्यः स्थितिबन्धः स तत्प्रायोग्यजघन्यस्तं 'गतः'-प्राप्तः, तावत्स्थितिबन्धं कुर्वन्नित्यर्थः । "**स कुणइ परमं हाणिं**" त्ति सः तथा कुर्वन् जीवः 'परमां'-उत्कृष्टां हानिं करोति । आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धहानेः स्वामी भवतीत्यर्थः ।

ननु यथा ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् मृत्वैकेन्द्रियेषूत्पद्य तत्र पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणां स्थितिं बध्नन् जीव उत्कृष्टहानेः स्वामी भवति, तथा वैपरीत्येनैकेन्द्रियतया तत्प्रायोग्यजघन्यां स्थितिं बध्नन् मृत्वा संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवः कथमुत्कृष्टवृद्धेः स्वामी नोच्यते ? **इति चेद्**, **न**, तथाऽसम्भवात्, यत एकेन्द्रियतश्च्युत्वा यः संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे प्रथमं स्थितिबन्धं करोति, तस्यासौ प्रथमस्थितिबन्ध उत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाण एव जायते, तदानीं तत्स्वामिनोऽपर्याप्तत्वात् । इत्थमेकेन्द्रियतश्च्युत्वा संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्य नैकहेलयौघोत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवः, तत्कुत उत्कृष्टवृद्धेरप्यवकाशः; संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमुत्कृष्टस्थितिबन्धभावे तूत्कृष्टतोऽपि यथोक्ता चतुःस्थानिकरमबन्धककृता वृद्धिरुत्कृष्टवृद्धितया सम्पद्यते, इति नास्त्युत्कृष्टहानिवद् वैपरीत्येनैकेन्द्रियतश्च्युत्वा पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां भवप्रथमसमयवर्तिनामुत्कृष्टवृद्ध्यवकाशः, अतो न उत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वमपि नेषामिति ॥१४॥

अथोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनः प्रकटयन्नाह—

सागारखयेण गओ जेट्ठा तज्जोगहस्सठिइबंधं ।
स कुणइ अणंतरखणे उक्कोसं खलु अवट्ठाणं ॥६९५॥

(प्रे०) "**सागारखयेणे**"त्यादि, "**जेट्ठा**" त्ति 'ज्येष्ठाद्'-उत्कृष्टस्थितिबन्धात्, सप्तानामौघिकमुत्कृष्टं स्थितिबन्धं कृत्वेत्यर्थः । "**सागारखयेण**" त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रयोजकीभूतस्य साकारोपयोगस्य 'क्षयेण'-भ्रंशनाद्, अनाकारोपयोगतया परावृत्येत्यर्थः । "**तज्जोग्गहस्सठिइबंधं**" त्ति तस्योत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतो मिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवस्यानाऽकारोपयोगप्राप्तौ यः प्रायोग्यः 'ह्रस्वः'-सर्वस्तोकः स्थितिबन्धः स तत्प्रायोग्यह्रस्वस्थितिबन्धस्तं "**गओ**" त्ति 'गतः'-प्राप्तः, अनाकारोपयोगप्राप्त्या तावान् जघन्यस्थितिबन्धो येन कर्तुमारब्ध इत्यर्थः । "**स कुणइ**" त्ति स करोति । किमित्याह-**उक्कोसं खलु अवट्ठाणं**" त्ति उत्कृष्टमवस्थानम्,

स्वल्पवधारणे। किं तदानीमेवाऽन्यदा वेत्याह–"अणंतरखणे" त्ति उक्तजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये, उपलक्षणत्वात्तृतीयादिसमयेषु, यावदसौ जघन्यस्थितिबन्धः प्रवर्तते तावदित्यर्थः। साकारोपयोगक्षयेणोत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्याऽनन्तरं स्वप्रायोग्यं जघन्यस्थितिबन्धं प्रारम्य तद्बन्धस्य द्वितीयादिसमयेषु वर्तमानो जीव एवोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवतीति पिण्डार्थः ॥६९५॥

तदेवमुक्त्वा ओघतः सप्तानामुत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिनः। अथ तानेवादेशतो विभणिषुराह—

सव्वणिरयेसु तिरिये पणिंदियतिरियतिगे णरतिगे य।
देव-सहस्सारावहिसुर-दुपणिंदियतसेसुं य ॥६९६॥
पणमणवय-उरल-विउव-थी-पुरिस-णपुम-विभंग-चक्खुसुं।
तेउ-पम्हा-सण्णीसु हवेज्ज वड्ढीअ ओघव्व ॥६९७॥
सागारखयेण गओ जेट्ठा तज्जोग्गहस्सठिइबंधं।
स कुणइ हाणिं परमं अणंतरखणे अवट्ठाणं ॥६९८॥

(प्रे०) "सव्वे" त्यादि, सर्वेषु नरकगतिभेदेषु, तिर्यग्गत्योघभेदे, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदत्रिके, नरमार्गणाभेदत्रिके, एते द्वेऽपि त्रिकेऽपर्याप्तभेदवर्जिते बोद्धव्ये। चः समुच्चये, देवगत्योघभेदे, सहस्रारकल्पावधिकान्यदेवगत्युत्तरभेदेषु, तथा प्राग्वदपर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोः, द्विशब्दस्य त्रसेत्यनेनाऽपि योजनात् तथैव द्वयोस्त्रसकायभेदयोः, पञ्चशब्दस्य मनोवचसोः प्रत्येकं योजनात्पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिक-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनेषु, तेजः-पद्मलेश्या-संज्ञिमार्गणाभेदेष्वित्येवमेकपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं "हवेज्ज वड्ढीअ ओघव्व" त्ति सप्तप्रकृतिसत्कवृद्धेः स्वामिन ओघवद्भवन्ति, एतासु प्रत्येकं 'चउट्ठाणियरसे' त्यादिनाऽभिहितस्वरूपाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया जीवाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धेः स्वामिनो भवन्तीति भावः।

एतास्वेवोत्कृष्टस्थितिबन्धहान्यवस्थानयोः स्वामिन आह–"सागारखयेण"त्यादि, अस्याऽप्यक्षरार्थो दर्शितप्रायः। भावार्थस्त्वेवम्–अधिकृतमार्गणासु कुत्रचित्पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणागतजीवानामेकेन्द्रियतयोत्पादे मार्गणाविच्छेदप्रसङ्गात्, कुत्रचिन्नरकगत्योघादिमार्गणागतजीवानां त्वेकेन्द्रियतयोत्पत्तेरेव प्रतिषिद्धत्वादुत्कृष्टहानेः स्वामिन ओघवन्न सम्पद्यन्ते, अतो याः सर्वोत्कृष्टहानिवर्जाः शेषाः हानयस्तासु या संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जात्यन्तरेऽनुत्पत्त्या स्वस्थान एव जायमानोत्कृष्टहानिरौघिकोत्कृष्टावस्थानप्रयोजकतया गृहीता सैवात्रोत्कृष्टहानितया लभ्यते। सा तु साकारोपयोगक्षयेण ज्येष्ठस्थितिबन्धादुत्तीर्य स्वप्रायोग्यसम्भवदन्तःकोटीकोटीसागरोपमलक्षणजघन्यस्थितिबन्धं कुर्वतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवस्य जायते, तद्द्वितीयादिसमयेषु चौघवदुत्कृष्टावस्थानमपि लभ्यते, इत्येत औघिकोत्कृष्टावस्थानस्वामिन एव समयमर्वाग् जघन्यस्थितिबन्धप्रथमसमयमधिकृत्य प्रस्तुतमार्गणा-

स्थानेषूत्कृष्टहानेः स्वामिनः, द्वितीयादिसमयेषु तावन्मात्रस्थितिबन्धं कुर्वन्तः पुनस्त एवौघवत् प्रकृतेऽप्युत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनो भवन्तीति ॥६९६-६९७-६९८॥

सर्वथा तुल्यत्वादन्यत्रौघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वा काय-कसाय-दुअणाण-अयतेसुं ।
अणयण-भवियेसु तहा अभविय-मिच्छेसु आहारे ॥६९९॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, ओघवज्ज्ञातव्याः, उत्कृष्टवृद्धयादित्रयाणामपि पदानां स्वामिन इति तु प्रक्रमाद्गम्यते। कासु मार्गणास्वित्याह-"कायकसाये"त्यादि, काययोगसामान्ये,तथा विशेषतोऽनभिहितत्वात् क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्के, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणासु, तथाऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोः । तथाशब्दः समुच्चयार्थः, स च भिन्नक्रमेणानन्तरमेव योजितः । अभव्य-मिथ्यात्व-मार्गणयोराहारिमार्गणायामित्येतासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। एतासु प्रत्येकं मिथ्यादृग्देव-जीवानामेकेन्द्रियजीवानां च समावेशाद् देवेभ्यश्च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामौघिकोत्कृष्टहानि-स्वामिनामनन्तरोक्तमार्गणानिचयवत् नाधिकृतमार्गणाबहिस्त्वापत्तिः । अर्थात् सर्वथैवौघवदुपपत्तेः प्रस्तुतत्रिविधस्वामिनोऽपि सर्वथैवौघवदतिदिष्टा इति ॥६९९॥ कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोराह—

कम्मा-ऽणाहारेसुं तज्जोग्गलहूउ संकिलेसेणं ।
तप्पाउग्गुक्कोसं गओ स कुणए परमवड्ढिं ॥७००॥
तज्जोग्गजेट्ठबंधा यो साकारक्खयेण पडिभग्गो ।
तप्पाउग्गजहण्णे पडिओ स कुणइ परमहाणिं ॥७०१॥
तज्जोग्गजेट्ठबंधा गुरुहाणिं करिअ बायरेगिंदी ।
कुणइ अणंतरसमये उक्कोसं खलु अवट्ठाणं ॥७०२॥

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु" इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणास्थानयोः प्रत्येकं "तज्जोगलहूउ" त्ति सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा प्रथमसमयक्रियमाणात् मिथ्यादृक्संज्ञि-पञ्चेन्द्रियाणामनुपदमुत्कृष्टस्थितिबन्धे गमनप्रायोग्याल्लघुस्थितिबन्धात् "संकिलेसेणं" ति अनन्तरसमये कार्मणकाययोगिनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशेन, तादृशसंक्लेशस्योत्पत्तेरिति भावः । "तपाउग्गुक्कोसं गओ" त्ति पूर्ववत् कार्मणकाययोगिमिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्य-सम्भवदुत्कृष्टस्थितिबन्धं 'गतः'-प्राप्तः "स कुणए परमवड्ढि" ति स तादृशः संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-जीवस्तथा कुर्वन् सप्तप्रकृतीनामधिकृतामुत्कृष्टां स्थितिबन्धवृद्धिं करोतीत्यर्थः ।

ननु 'तज्जोगलहूउ' इत्यनेनैकेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धः कथं न गृह्यते ? उच्यते, तद्ग्रहणे सत्यनन्तरोक्तेन 'तप्पाउग्गुक्कोस' मित्यनेनाऽप्येकेन्द्रियबन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्ध एव

प्राप्तः स्यात्, तथा चोत्कृटा वृद्धिर्न सम्पद्येत । कुतः ? एकेन्द्रियप्रायोग्यस्थितिबन्धं कुर्वतामुत्कृष्ट-तोऽपि पल्योपमासंख्यभागमात्रस्थितिबन्धवृद्धेरेव सम्भवात् । न च द्वितियसमये 'तप्पाउग्गुक्कोस'-मित्यनेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव ग्रहणेऽधिकतमा वृद्धिः सम्पद्येतेति वाच्यम् । एकजीवमाश्रित्य विग्रहगतावेकेन्द्रियादिजातिद्वयप्रायोग्यस्थितिबन्धस्यैव विरोधात् । इत्थं हि कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोर्यथोक्तस्वरूपाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामेवोत्कृष्ट-स्थितिबन्धवृद्धिस्वामित्वं बोद्धव्यमिति ।

अधिकृतमार्गणाद्वय एवोत्कृष्टहानिस्वामिनो दर्शयन्नाह–"तज्जोग्गजेट्ठबंधा"इत्यादि, पूर्व-वदनाहारकावस्थायां प्रथमसमये मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यसम्भवज्ज्येष्ठस्थितिबन्धात् "यो सागारखयेण पडिभग्गो" त्ति यः साकारोपयोगक्षयेण 'प्रतिभग्नः'-उक्तोत्कृष्टस्थितिबन्धाच्च्युतः, अत एवानाकारोपयोगं प्राप्त इत्यपि गम्यम् । पुनः कथम्भूतोऽसावित्याह–"तप्पाउग्गजहण्णे पडिओ" त्ति पूर्ववदनाहारकावस्थायां सम्भवन्मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यस्थिति-बन्धे पतितः, तादृशं जघन्यस्थितिबन्धं कर्तुमारब्धवानित्यर्थः । "स कुणइ परमहाणिं" त्ति अनन्तरोक्तस्वरूपः स तथा कुर्वन् 'परमां'-उत्कृष्टां हानिं करोतीत्यर्थः । निरुक्तस्वरूपाः संज्ञि-पञ्चेन्द्रियजीवा अधिकृतमार्गणाद्वये सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धहानेः स्वामिन इति भावः ।

अथ प्रस्तुतमार्गणाद्वय एवोत्कृष्टावस्थानस्वामिनः प्रदर्शयन्नाह–"तज्जोग्गजेट्ठबंधा" इत्यादि, तत्राऽनाहारक-कार्मणकाययोग्यवस्थायां कस्याऽपि त्रिसमयकायस्थितिकजीवस्य बन्ध-प्रायोग्यात्सम्भवज्ज्येष्ठस्थितिबन्धादवतीर्य "गुरुहाणिं करिअ" त्ति मार्गणाया द्वितीयसमये 'गुरुं'-उत्कृष्टां स्थितिबन्धहानिं कृत्वा, तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धमारभ्येत्यर्थः । कोऽसावित्याह– "बायरेगिंदि" त्ति तादृशोऽसौ बादरैकेन्द्रियजीवः ।

नन्वधिकृतोत्कृष्टवृद्धि-हानी संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवाभिहिते, अर्थाच्छेषाणां कार्मणकाययोगिनां प्रतिषिद्धा उत्कृष्टहानिः, तत्कथं पुनर्बादरैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टहानिरभिधीयते ? इति चेत् न, यतोऽधुनोत्कृष्टावस्थानस्वामित्वमभिधातव्यम्, तच्चोत्कृष्टहानेरूर्ध्वमवस्थाने सति सम्भवति, न चास्ति संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टहानेरूर्ध्वमवस्थानम् । कुतः ? तेषामुत्कृष्टहान्यनन्तरसमये प्रस्तुत-मार्गणायामेवानवस्थानात् । ततः किम् ? ततो येषां प्रकृतमार्गणायां समयत्रयमवस्थानं सम्भवति, तेषु यस्योत्कृष्टहानिलाभस्तस्यैवोत्कृष्टहान्युत्तरसमयभाव्युत्कृष्टावस्थानसम्भवात् संज्ञिपञ्चेन्द्रिया-दीन् विहाय बादरैकेन्द्रियजीवस्यैव प्रकृतोत्कृष्टावस्थानप्रयोजिकोत्कृष्टहानिरभिहितेति न कश्चिद्दोषः । एतादृशः कार्मणकाययोगद्वितीयसमये उत्कृष्टहानिनिर्वर्तको बादरैकेन्द्रियस्तदनन्तरसमये उत्कृष्ट-मवस्थानं करोतीत्येतदेव दर्शयन्नाह–"कुणइ अणंतरसमये" इत्यादि गतार्थमिति ॥७००-७०१-७०२॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायामुत्कृष्टवृद्धयादेः स्वामिनः प्रतिपादयन्नाह—

गयवेए से बंधे होज्ज सवेओ त्ति स परमं वड्ढि ।
उवसामगो कुणइ से काले परमं अवट्ठाणं ॥७०३॥
पढमा ठिइबंधाओ वट्टंतो उ दुइअम्मि ठिइबंधे ।
स कुणइ परमं हाणिं तहेव सुहुमे वि णायव्वं ॥७०४॥

(प्रे०) **"गयवेए"** इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां **"से"** त्ति अनन्तरे, यस्यानन्तरे स्थितिबन्धे **"हवेज्ज सवेओ"** त्ति सवेदो भविष्यति, यः प्रपतन्नुपशमक इति गम्यते । **"स परमं वड्ढि उवसामगो कुणइ"** त्ति स सवेदावस्थायाः प्रागवेदावस्थायां द्विचरमस्थितिबन्धादुत्तीर्य चरमं स्थितिबन्धं कुर्वन्नुपशामकस्तस्य चरमस्थितिबन्धस्य प्रथमे समये 'परमाम्'-उत्कृष्टां वृद्धिं करोतीत्यर्थः । **"से काले परमं अवट्ठाणं"** त्ति **"से"** त्ति प्राग्वत्तस्यानन्तरे काले, उक्तचरमस्थितिबन्धस्य द्वितीयादिसमयेषु तावन्मात्रस्थितिबन्धं कुर्वन्नित्यर्थः । **"परमं"**-उत्कृष्टमवस्थानम्, करोतीत्यनुवर्तत इति । उत्कृष्टावस्थानस्वामी भवतीति भावः ।

अपगतवेदमार्गणायामेवोक्तशेषाया उत्कृष्टहानेः स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह—**"पढमा ठिइबंधाओ"** इत्यादि, सोऽनन्तरोक्तोपशामक एव, नवरमुपशमश्रेणिमारोहन्नवेदावस्थायाः प्रारम्भे क्रियमाणात् प्रथमात्स्थितिबन्धात् **"वट्टंतो उ दुइअम्मि ठिइबंधे"** त्ति द्वितीये स्थितिबन्धे, द्वितीयस्थितिबन्धप्रथमसमये वर्तमानः सन्नित्यर्थः । **"स कुणइ परमं हाणिं"** ति स उपशमश्रेणिमारोहन् द्वितीयस्थितिबन्धप्रारम्भक उपशमकः 'परमां'-उत्कृष्टां हानिं करोति, सप्तप्रकृतिसत्कस्थितिबन्धविषयामिति गम्यत एवेति । अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां बहुसाम्यादतिदिशति— **"तहेव सुहुमे वि णायव्वं"** त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपि 'तथैव'-अपगतवेदमार्गणावदेव ज्ञातव्यं प्रकृतवृद्धयादिस्वामित्वमित्यर्थः ॥७०३-७०४॥

चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
ओहिम्मि सम्म-वेअग-उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥७०५॥
तप्पाउग्गजहण्णा दुचरमबंधा गुरुं चरमबंधं ।
कुणमाणो गुरुवुड्ढि कुणए मिच्छाइगाहिमुहो ॥७०६॥
तयणंतरं गुरुमवट्ठाणं तज्जोग्गजेट्ठठिइबंधा ।
तज्जोग्गलहुं पत्तो सागारखयेण गुरुहाणिं ॥७०७॥

(प्रे०) **"चउणाणे"** त्यादि, केवलज्ञानमार्गणास्थाने स्थितिबन्धस्यैवाभावात्तद्वर्जेषु चतुर्षु

मत्यादिज्ञानेषु, संयमौघ–सामायिक–छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु, देशसंयमा–ऽवधिदर्शन–सम्यक्त्वौघ–क्षायोपशमिकौ–पशमिकसम्यक्त्व–सासादन–सम्यग्मिथ्यात्वेष्वित्येवं समुदितासु पञ्चदशमार्गणासु प्रत्येकं "तप्पाउग्गजहण्णा दुचरमबंध" त्ति तत्तन्मतिज्ञानादिमार्गणाविच्छेदादर्वाग्भावी यश्चरमः प्रस्तुतत्वाज्ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्तदपेक्षया यो 'द्विचरमः'–उपान्त्यः स्थितिबन्धः स द्विचरमस्थितिबन्धः, स च न सर्वेषां जीवानां तुल्य एव, किन्तु परस्परं हीनाधिकोऽपि भवति, तत्राऽधिकतरादिस्थितिबन्धं कुर्वतामनन्तरे चरमस्थितिबन्धे तत्र बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवेऽपि तेषामुत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धेरप्राप्तेस्तत्र जघन्येति विशेषणमुपादत्तम् । ननु द्विचरमस्थितिबन्धे प्रायोग्यसर्वस्तोकस्थितिबन्धं कृत्वाऽनन्तरे चरमस्थितिबन्धे प्रायोग्यसर्वाधिकस्थितिबन्धं कुर्वतामुत्कृष्टवृद्धेः सम्भवेन तावदेव पर्याप्तं स्यात्, किंपुनस्तत्र तत्प्रायोग्यत्वविशेषणेन ? इति चेत्, तत्राऽपि सर्वस्तोकस्थितिबन्धं कुर्वतामनन्तरे चरमस्थितिबन्धे तत्र बन्धप्रायोग्यसर्वाधिकस्थितिबन्धस्यासम्भवेन "गुरुं चरमबंधं कुणमाणो" इत्यस्यानुपपत्तेर्न स्यादुत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वमित्यतो द्विचरमस्थितिबन्धतया प्रायोग्यस्थितिबन्धेषु सर्वस्तोकस्थितिबन्धप्रतिषेधार्थम् 'जहण्णा' इत्यत्र तत्प्रायोग्यत्वविशेषणमावश्यकमेव, तथा च चरममुत्कृष्टं स्थितिबन्धं कुर्वतामनन्तरपूर्वस्थितिबन्धतया यावन्तः स्थितिबन्धविकल्पाः बन्धप्रायोग्यास्तन्मध्ये यः सर्वजघन्यस्थितिबन्धस्थानं तं बद्ध्वाऽनन्तरोत्तरे चरमे स्थितिबन्धे बन्धप्रायोग्याधिकतमस्थितिबन्धं कुर्वन् जीवः "गुरुवुड्ढि कुणए" त्ति उत्कृष्टवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः ।

अत्र मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणादौ देवत्वाभिमुखानां मुमूर्षूणां महात्मनामपि चरम-द्विचरमस्थितिबन्धयोः सम्भवेन तत्र चरमस्थितिबन्धतया प्रायोग्यमधिकतमं स्थितिबन्धं कुर्वतामपि न प्रस्तुतवृद्धिस्वामित्वमिति तेषामुत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वनिवृत्तये पुनरपि स्वामिविशेषणमाह–"मिच्छाइगाहिमुहे." त्ति तत्रादिपदात् तथाविधसंयम-छेदोपस्थापनसंयमाभिमुखानां परिग्रहः, यस्तादृशो मिथ्यात्व-तथाविधसंयमाद्यभिमुखः स एव प्रस्तुतवृद्धिस्वामी भवतीत्यर्थः । ननु मनःपर्यवज्ञानिनो मिथ्यात्वाभिमुखा एव न सन्तीति कथं न विरोधः ? न च मिथ्यात्वाभिमुखत्वविशेषणस्य मतिज्ञानादिमार्गणास्वेव योजनीयत्वान्नास्ति कश्चिद्विरोध इति वाच्यम् । मार्गणाविच्छेदादर्वाग्भाविचरमस्थितिबन्धं कुर्वतां मतिज्ञानादिमार्गणाप्रविष्टजीवानां सर्वेषामपि मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्र तस्य निरर्थकत्वात् ? इति चेद्, सत्यम्, मतिज्ञानादिमार्गणास्थानेषु यथोक्तलक्षणे उत्कृष्टवृद्धिस्वामिनि मिथ्यात्वाभिमुखविशेषणस्य व्यर्थत्वेऽपि समुदितमार्गणास्थानेषु मतिज्ञानादिमार्गणानामेवादौ न्यस्तत्वान्मनःपर्यवज्ञानादेस्तु तत्पश्चान्न्यस्तत्वाच्च मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वपयुज्यमानं विशेषणान्तरमेवादौ कृत्वा 'मिच्छाइगाहिमुहे' इत्यनुक्त्वाऽन्यथैवाभिधाने स्याद् भ्रमः, यन्मतिज्ञानमार्गणादौ तथाविधसंयमाभिमुखः प्रस्तुतस्वामीत्यतस्तदपोहाय प्रथमतया गृहीतमार्गणायां युज्यमानं विशेषणमादौ कृत्वा 'मिच्छाइगाहिमुहे' इत्येवमेव प्रयोक्तव्यमुचितम् । एवं हि

मतिज्ञानादिमार्गणासु मिथ्यात्वाभिमुख इति विशेषणं स्वरूपदर्शकपरम्, अन्यत्र मनःपर्यवज्ञान-परिहारविशुद्धिकसंयमयोस्तु 'मिच्छाइगमहिमुहो' इत्यत्राऽऽदिपदग्राह्यानां तथाविधसंयम-छेदोप-स्थापनसंयमाभिमुखाः' इति विशेषणानां व्यवच्छेदकपरत्वं तु व्याख्यानगम्यमिति न कुत्र-चित्कस्यचिद्विरोधः, प्रत्युताऽसामञ्जस्यपरिहार एवेति ।

अथोत्कृष्टावस्थानस्वामिनः प्राह-"तयणं तरं गुरुमवट्ठाणं" त्ति तस्या उत्कृष्टवृद्धेः'अन-न्तरम्'-अनन्तरसमयेषु तमेव चरममुत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्नसावुत्कृष्टवृद्धिस्वाम्युत्कृष्टावस्थानस्वामी भवतीति भावः । सुगमम्, मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थाभाविनां प्रत्येकस्थितिबन्धानामान्तर्मुहूर्तिक-तयोत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्ध्या जायमानस्य चरमस्थितिबन्धस्याऽपि नियमतोऽन्तर्मुहूर्तमवस्थाना-दिति । अथोत्कृष्टस्थितिबन्धहानिस्वामिनमाह-"तज्जोग्ग"इत्यादि, सुगमम्, प्राग्वद् व्या-ख्येयमिति ॥७०५-७०६-७०७॥

अथाऽप्रशस्तलेश्यामार्गणात्रये प्रागुक्तमतद्वयेन प्रस्तुतस्वामिनः प्राह—

अपसत्थतिलेसासुं तिण्ह गुरुपयाण अत्थि ओघव्व ।
सामी भणंति अण्णे तिण्हं वि पयाण निरयव्व ॥७०८॥

(प्रे०) "**अपसत्थे**"त्यादि, कृष्ण-नील-कपोताख्यासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु "**तिण्ह गुरुपयाण**" त्ति त्रयाणां 'गुरुपदानाम्'-उत्कृष्टपदानाम्, उत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थान-लक्षणानां प्रत्येकमित्यर्थः । प्रस्तुतत्वात्स्वामी "**अत्थि ओघव्व**" त्ति ओघवत् 'मज्झाहिन्तो उवरि-यतरसे'त्यादिगाथा(६९२-६९५)चतुष्टयेनाभिहितस्वरूपो भवति । सुगमः । अथ महाबन्धकाराभि-मतमाह-"**सामी भणंति**" इत्यादि, महाबन्धकारैर्देवानां पर्याप्तावस्थायामशुभलेश्याया अस्वीकृत-त्वेन तन्मते केवलानां नारकाणामेवाजीवनं कृष्णादिलेश्याया अवस्थानादिति भावः ॥७०८॥

असंज्ञिमार्गणायां प्रकृतत्रिविधबन्धस्वामित्वमाह—

अमणे कुणइ पणिंदी जाओ एगिंदिया गुरुं वड्ढिं ।
तव्विवरीओ हाणिं पणिंदियो चिअ अवट्ठाणं ॥७०९॥

(प्रे०) "**अमणे**" इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां "**पणिंदिया**" त्ति एकेन्द्रियाच्च्युत्वा "**पणिंदीजाओ**"त्ति यः पञ्चेन्द्रियो जातः,असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमान इत्यर्थः । स किं करोती-त्याह-"**गुरुं वड्ढिं**" ति 'गुर्वीम्'-उत्कृष्टां वृद्धिं, करोतीति पूर्वेण योग इति । "**तव्विवरीओ हाणिं**"ति'तद्विपरीतः'-उक्तविपरीतो योऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाच्च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पद्यमानः सः'**हाणिं**' ति सप्तप्रकृतिसत्कामुत्कृष्टां स्थितिबन्धहानिं करोतीत्यर्थः । "**पणिंदियो चिअ अवट्ठाणं**" ति पञ्चेन्द्रिय एवोत्कृष्टावस्थानस्वामी भवति । तत्र एवकार एकेन्द्रियादिरूपात्परस्थानात्पञ्चेन्द्रिय-तयोत्पद्यमानानां व्यवच्छेदार्थः, एकेन्द्रियाच्च्युत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानो योऽनन्तरमुत्कृष्ट-

वृद्धिस्वामी दर्शितः सोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय उत्कृष्टवृद्ध्यनन्तरसमयेषूत्कृष्टावस्थानस्वामी न भवति, किन्तु स्वस्थानगतः पञ्चेन्द्रिय एव साकारोपयोगक्षयेण हान्यनन्तरसमयेषूत्कृष्टावस्थानस्वामी भवतीति भावः। अत्रापि तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धादुत्तीर्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य प्रारम्भकः, एवं वैपरीत्येन तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धादुत्तीर्येत्यादि प्राग्वत्स्वयमेव योज्यमिति ॥७०९॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतोत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिनः प्रतिपिपादयिपुराह—

सेसासु तज्जोग्गा लहुठिइबंधा उ संकिलेसेणं।
तज्जोग्गजेट्ठबंधं गओ स कुणए परमवड्ढिं ॥७१०॥
तज्जोग्गलहुम्मि गओ साकारखयेण जेट्ठठिइबंधा।
स कुणइ हाणिं परमं अणंतरखणे अवट्ठाणं ॥७११॥

(प्रे०) "**सेसासु**" मित्यादि, उक्तशेषास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसा-ऽऽनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धान्तोक्तेशेनाष्टादशदेवभेद-सर्वैकेन्द्रियभेद-सर्वविकलेन्द्रियभेद-पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कमूलोत्तरसर्वभेद-त्रिमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-क्षायिकसम्यक्त्व-शुक्ललेश्यारूपासु त्र्यशीतिमार्गणासु प्रत्येकम् "**तज्जोग्गा लहुठिइबंधा उ**" त्ति 'तत्प्रायोग्यात्'-तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याल्लघुस्थितिबन्धात् "**संकिलेसेणं तज्जोग्गजेट्ठबन्धं गओ**" त्ति संक्लेशवृद्ध्या तत्प्रायोग्यं 'ज्येष्ठ'-उत्कृष्टं स्थितिबन्धं 'गतः'-प्राप्तः "**स कुणए परमवड्ढिं**" त्ति उक्तस्वरूपः स तदानीं तथा कुर्वन् 'परमां'-उत्कृष्टां स्थितिबन्धवृद्धिं करोति। अत्र तत्प्रायोग्यमित्यनेन तत्तदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाप्रायोग्यमिति बोद्धव्यम्। एवमुत्तरत्रापीति।

अथोत्कृष्टहान्य-वस्थानयोः स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह—"**तज्जोग्गलहुम्मि**" इत्यादि, "**जेट्ठठिइबंधा**" त्ति तत्प्रायोग्यज्येष्ठस्थितिबन्धादित्यर्थः। ततः किमित्याह—"**सागारखयेण**" त्ति साकारोपयोगक्षयेण, साकारोपयोगस्याऽनाकारोपयोगतया परावर्तनादित्यर्थः। "**तज्जोग्गलहुम्मि गओ**" त्ति प्राकृतत्वेन द्वितीयायाः स्थाने सप्तम्याः विभक्तेः प्रयुक्तत्वाद् यस्तद्योग्यलघुस्थितिबन्धस्तं 'गतः'-प्राप्तः "**स कुणइ हाणिं परमं**" ति, सुगमम्। "**अणंतरखणे अवट्ठाणं**" ति स एवानन्तरोक्तउत्कृष्टहानेः स्वामी हानेरनन्तरसमयेषु तावन्मात्रं स्थितिबन्धं कुर्वन् सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टावस्थानं करोति, अवस्थानस्य स्वामी भवतीत्यर्थः ॥७१०-७११॥

तदेवमभिहिताः सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिनः। साम्प्रतं तासामेव जघन्यवृद्ध्यादेः स्वामिनः प्रतिपिपादयिषुराह गाथात्रितयम्—

उक्कोसं समयूणं ठिइबंधं किरिअ संकिलेसेणं।
जेट्ठठिइं बंधंतो सो वड्ढिं कुव्वइ जहण्णं ॥७१२॥

जो कुज्जा ठिइबंधाऽणंतरपुव्वसमया विसोहीए ।
समयूणं ठिइबंध सो कुणइ जहण्णगं हाणिं ॥७१३॥
हस्साए वड्ढीए हाणीए वा अणंतरद्धाए ।
कुणइ लहुमवट्ठाणं, णेयं एमेव सव्वासु ॥७१४॥

(प्रे०) "**उक्कोसं समयूणं**" इत्यादि, यः कश्चिज्जीवः समयोनमुत्कृष्टं स्थितिबन्धं कृत्वा "**संकिलेसेणं**" ति संक्लेशवृद्ध्या, उत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यसंक्लेशं प्राप्येत्यर्थः। 'ज्येष्ठाम्'-उत्कृष्टां-पूर्वसमयकृतस्थितिबन्धापेक्षया समयेनाधिकां स्थितिं "**बंधंतो**" त्ति बध्नन्, समयाधिकस्थितिबन्ध-प्रथमसमये वर्तमान इत्यर्थः। "**सो वड्ढिं कुणइ जहण्णं**" ति तादृशः स जीवस्तथा कुर्वन् जघन्यां वृद्धिं करोति । जघन्यस्थितिबन्धवृद्धेः स्वामी भवतीति भावः । सप्तप्रकृतीनामिति तु गम्यत इति ।

जघन्यहानेः स्वामिन आह-"**कुज्जा जो ठिइबंधा**" इत्यादि, 'अनन्तरपूर्वसमयात्'-अनन्तरपूर्वसमये निर्वर्तितात् स्थितिबन्धाद् "**विसोहीए**" त्ति 'विशुद्धया'-विशुद्धेर्वर्धनादिति भावः । समयोनं स्थितिबन्धं "**कुज्जा जो**" त्ति यः कुर्यात्, यः करोतीति भावः । स किमित्याह-"**सो कुणइ जहण्णगं हाणिं**" ति स तथा कुर्वन् सप्तानां जघन्यामेव जघन्यकां-सर्वलघ्वीं हानिं करोति, जघन्यस्थितिबन्धहानिस्वामी भवतीत्यर्थः । सुगमम् ।

अथ जघन्याऽवस्थानस्वामिन आह-"**हस्साए वड्ढीए**" इत्यादि, अनन्तरोक्ताया जघन्याया हानेर्वृद्धेर्वा "**अणंतरद्धाए**" त्ति अनन्तराद्धायां,अनन्तरोत्तरसमयेषु येषु जघन्यवृद्ध्या जघन्यहान्या वा प्रवृत्तस्थितिबन्ध एव प्रवर्तते तेष्वित्यर्थः । "**कुणइ लहुमवट्ठाणं**" ति, तस्यामनन्तराद्धायां वर्तमानः सन् 'लघु'-जघन्यमवस्थानं करोति, सप्तप्रकृतिसत्कमिति गम्यते । इत्थमेवोत्तरत्रापि सप्तप्रकृतीरधिकृत्यैव विज्ञेयमिति । गतमोघतः जघन्यवृद्ध्यादिस्वामित्वम् ।

अथादेशतो दिदर्शयिषुर्बहुसाम्यात् सापवादमतिदिशति—"**णेयं एमेव सव्वासु**" इत्यादि, सर्वमार्गणास्वपि "**एमेव**" त्ति 'एवमेव' ओघसदृशमेव ज्ञेयं, विहाय वक्ष्यमाणापवाद-पदानीति ॥७१२-७१३-७१४॥ अथ लाघवार्थं सामस्त्येनातिदिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्दिधीर्षुरार्याद्वयेनापवादपदान्याह—

णवरं अवगयवेए सुहुमे उवसामगो परिवडंतो ।
ठिइबंधे खलु दुइए कुणए उ जहण्णगं वड्ढिं ॥७१५॥
वट्टंतो ठिइबंधे चरमे खवगो जहण्णगं हाणिं ।
कुणइ अणंतरसमये जहण्णगं खलु अवट्ठाणं ॥७१६॥

(प्रे०) "णवर"मित्यादि, नवरं-परमपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकम् "उवसामगो परिवडंतो" त्ति प्रतिपतन्नुपशमकः "ठिइबंधे खलु बुड्ढए" त्ति उपशान्तमोहगुणस्थानेऽबन्धप्राप्तानां ज्ञानावरणादिसत्कस्थितिबन्धानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानादौ यः प्रथमः स्थितिबन्धस्तत उत्तीर्य तदनन्तरभाविनि द्वितीये स्थितिबन्धे, द्वितीयस्थितिबन्धं कुर्वन्नित्यर्थः । खलुशब्दोऽवधारणे, ततश्चोक्तद्वितीयस्थितिबन्धस्य प्रारम्भक एव, न पुनस्तदन्ये तृतीयादिस्थितिबन्धस्य प्रारम्भका अपि । कुतः ? अधोऽधो यथोत्तरस्थितिबन्धेष्वधिकाधिकतरस्थितिवृद्धेर्भाविनाऽजघन्यवृद्धेरेव भावादिति । तदानीमसावुपशमकः किं करोतीत्याह–"कुणइ उ जहण्णगं वुड्ढि" ति सुगममिति ।

अथ प्रकृतमार्गणाद्वय एव जघन्यहानेर्जघन्यावस्थानस्य च स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह–वट्टंतो ठिइबंधे" इत्यादि, "चरमे" त्ति यस्योत्तरं न कदाचिदपि ज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धसम्भवः, तथाविधौघिकजघन्यस्थितिबन्धरूपे 'चरमे'-अपश्चिमे स्थितिबन्धे वर्तमानः, चरमं स्थितिबन्धं कुर्वन्नित्यर्थः, चरमस्थितिबन्धप्रथमसमये वर्तमान इति यावत् । तादृशो यः क्षपक स जघन्यां स्थितिबन्धहानिं करोतीत्युत्तरार्धेऽन्वयः । "अणंतरसमये" त्ति अनन्तरोक्तहानिसमयादनन्तरो य उत्तरसमयः सोऽनन्तरसमयस्तस्मिन्ननन्तरसमये पूर्वसमयतुल्यस्थितिबन्धं कुर्वन् स एवानन्तरोक्तः क्षपकः "जहण्णगं खलु अवट्ठाणं" ति जघन्यमेव जघन्यकमवस्थानं करोतीत्यर्थः । खलुशब्दः पादपूर्त्यै । इत्थं व्यपोदितेऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाद्वयवर्जशेषसर्वमार्गणासु जघन्यवृद्ध्यादिस्वामित्वं यद्यपि सर्वथौघवत्प्राप्तं, तथापि तयोः मार्गणासूत्कृष्टस्थितिबन्ध औघिको न भवति, यासु च जघन्यस्थितिबन्ध एकेन्द्रियप्रायोग्यो न भवति, तास्वन्यथा स्वबन्धप्रायोग्यजघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धानुसारेण बोद्धव्यमिति ॥७१५-७१६॥

तदेवं भणितमोघत आदेशतश्च जघन्यस्थितिबन्धवृद्ध्यादिस्वामित्वमपि । तस्मिंश्च भणिते भणितं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे
चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे द्वितीयं
स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तेऽल्पबहुत्वद्वारे उत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदुत्कृष्टपदे प्राह—

सत्तण्हं सव्वप्पा परमा वड्ढी तओ अवट्ठाणं ।
उक्कोसं अब्भहियं तो गुरुहाणी विसेसहिया ॥७१७॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं "**सव्वप्पा परमा वड्ढ**"त्ति अनन्तरवक्ष्यमाणपदद्वयादल्पा, अत एव 'सर्वाल्पा'-सर्वस्तोका स्थितिबन्धसत्का 'परमा'-उत्कृष्टपदगता वृद्धिः, "**तओ अवट्ठाणं उक्कोसं अब्भहियं**"ति 'ततः'-अनन्तरोक्तवृद्ध्यपेक्षया तासामेव सप्तानां प्रत्येकमुत्कृष्टमवस्थानमभ्यधिकं, विशेषाधिकमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते, ओघचिन्तायां संक्लेशवृद्ध्या जाता उत्कृष्टा वृद्धिरुत्कृष्टदायस्थितिप्रमाणा भवति, उत्कृष्टावस्थानं तूत्कृष्टस्थितिबन्धोत्तरं साकारोपयोगक्षयेण स्वप्रायोग्यान्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणजघन्यस्थितिं बध्नतां प्राप्यते, सा चान्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिर्यस्मात् स्थितिबन्धस्थानादुत्कृष्टवृद्धिः क्रियते,तत्स्थितिबन्धस्थानापेक्षया बहुसागरोपमशतपृथक्त्वहीना विद्यते । ततः किम् ? ततः पूर्वमुत्कृष्टवृद्धिं कुर्वता यावती स्थितिर्लङ्घिता तदपेक्षयोत्कृष्टावस्थानस्वामी बहुसागरोपमशतपृथक्त्वाधिकां स्थितिमुल्लङ्घ्यावस्थानं करोति,ततश्चोत्कृष्टवृद्ध्यपेक्षयोत्कृष्टमवस्थानं विशेषाधिकं भवतीति । "**तो गुरुहाणी विसेसहिअ**"त्ति तस्मादुत्कृष्टावस्थानात् सप्तानां 'गुरुहानिः'-उत्कृष्टा हानिर्विशेषाधिका भवतीत्यर्थः । कुतः ? उत्कृष्टस्थितिबन्धादूर्ध्वमेकेन्द्रियतयोत्पद्य तत्र तत्प्रायोग्यस्तोकस्थितिबन्धकरणे पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणस्थितिबन्धभावेन पल्योपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिना हीनानां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिस्थितिनामेकहेलया हीनभावात्, तासां चोत्कृष्टावस्थानपूर्वसमयभाविहान्यपेक्षया विशेषाधिकत्वादिति ॥७१७॥

तदेवमभिहितमुत्कृष्टपदगतानां सप्तमूलप्रकृतिसत्कवृद्ध्यादित्रयाणामल्पबहुत्वमोघतः । अथ तदेवादेशतः प्रदर्शयन्नाह—

ओघव्व अत्थि काये कसायचउग-दुअणाण-अयतेसु ।
अणयण-भवियेसु तहा अभविय-मिच्छेसु आहारे ॥७१८॥

(प्रे०) "**ओघव्व**" इत्यादि, ओघवदस्ति-भवति, उत्कृष्टपदगतवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमिति प्रक्रमाद्गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह-"**काये**" इत्यादि, काययोगसामान्ये, क्रोधादिकषायचतुष्कमत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमेषु तथाऽचक्षुर्दर्शन-भव्ययोरभव्यमिथ्यात्वयोराहारिमार्गणायां चेत्यर्थः ।

कुतः ? प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिभवनपत्यादिदेवानामेकेन्द्रियाणां च प्रवेशेनोत्कृष्टवृद्ध्यादिपदत्रयस्वामिनां सर्वथैवौघतुल्यत्वात् । उक्तं च प्रागेव स्वामिनः प्रदर्शयता मूलकृता यत्–'ओघव्व जणियव्वा काय-कसाय-दुअणाण-अयतेसुं । अणयण-भवियेसुं तहा अभविय मिच्छेसुं आहारे' ॥६९९॥ इत्थं चाल्पबहुत्वमपि सर्वथौघवदेव लभ्यत इति ॥७१८॥

अथ कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोः प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—

कम्मा-ऽणाहारेसु गुरुं अवट्ठाणमप्पमत्थि तओ ।
वड्ढी असंखियगुणा तत्तो हाणी विसेसहिया ॥७१९॥

(प्रे०) "**कम्माणाहारेसु**"मित्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकम् "**गुरुं अवट्ठाणमप्पमत्थि**" त्ति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं 'गुरु'-उत्कृष्टं स्थितिबन्धावस्थानम् 'अल्पं'-स्तोकं भवति, एकेन्द्रियस्य तत्स्वामित्वेन पल्योपमासंख्येयभागमात्रत्वात् । "**तओ**" त्ति 'ततः'-उक्तोत्कृष्टावस्थानात् "**वड्ढी असंखियगुणा**" त्ति तेषामेव सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्धिरसंख्येयगुणा भवति । सुगमम्, उत्कृष्टवृद्धेर्मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वात्, तेषां पञ्चेन्द्रियाणां तु पल्योपमसंख्येयभागादिवृद्धेरपि सम्भवाच्च । "**तत्तो**" त्ति उक्तोत्कृष्टवृद्धेः "**हाणी विसेसहिय**" त्ति उत्कृष्टा स्थितिबन्धहानिर्विशेषाधिका भवति, अस्या अपि मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वाद्विशेषाधिकता बोद्धव्या । यदि च 'उत्कृष्टवृद्धिहान्योर्द्वयोरपि मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वे कथं विपर्ययेणोत्कृष्टहान्यपेक्षयोत्कृष्टवृद्धिर्विशेषाधिका नोक्ता, द्वेऽपि तुल्ये नोक्ते वा' इत्याशङ्का स्यात्, तदा तु सोत्कृष्टवृद्धेः संक्लेशवृद्ध्या लभ्यमानतया हानेस्तूत्कृष्टायाः साकारोपयोगप्रच्यवनेन सम्पद्यमानत्वान्निवर्तनीयेति ॥७१९॥

अथ गतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोराह—

गयवेए सुहुमम्मि य सव्वत्थोवा हवेज्ज उक्कोसा ।
हाणी तत्तो वड्ढी उक्कोसा होइ संखगुणा ॥७२०॥
णवरं अवगयवेए तिघाईणं भवे असंखगुणा ।
परमा वड्ढी तत्तो तुल्लं जेट्ठं अवट्ठाणं ॥७२१॥

(प्रे०) "**गयवेए**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरणाद्यन्यतमप्रकृतीनां "**सव्वत्थोवा हवेज्ज उक्कोसा हाणी**" त्ति, निरुक्तलक्षणा उत्कृष्टपदगता स्थितिबन्धहानिः सर्वस्तोका भवेदित्यर्थः । "**तत्तो**" त्ति तस्या उत्कृष्टहानेस्तत्तज्ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टा वृद्धिः संख्येयगुणा भवति । "**णवरं**"–परमयं विशेषः; कोऽसावित्याह–"**अवगयवेए**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां त्रयाणा-

मघातिनां "भवे असंखगुणा" त्ति उत्कृष्टहान्यपेक्षयोत्कृष्टवृद्धिरसंख्येयगुणा भवेत्, न तु शेषज्ञानावरणादीनामिव संख्येयगुणेति भावः। मार्गणाद्वयेऽपि ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टवृद्ध्यपेक्षयोत्कृष्टमवस्थानं तुल्यमेव, अतस्तत्तथैव दर्शयन्नाह–"तत्तो तुल्लं जेट्ठं अवट्ठाणं" ति गतार्थम्, हेतुस्तु श्रेणौ प्रत्येकं स्थितिबन्धानामन्तर्मुहूर्तमवस्थानस्य सम्भवादिति द्रष्टव्य इति ॥७२०-७२१॥

अथ यास्तूत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनां मिथ्यात्वाद्यभिमुखतया तदपेक्षयोत्कृष्टवृद्धेस्तदनन्तरमुत्कृष्टावस्थानस्य च सम्भवस्तासु मतिज्ञानादिमार्गणासु सममेव प्रस्तुताल्पबहुत्वं प्राह—

चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं।
ओहिम्मि-सम्म-वेअग-उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥७२२॥
सव्वत्थोवा जेट्ठा हाणी तत्तो हवेज्ज संखगुणा।
जेट्ठा वड्ढी तत्तो तुल्लं जेट्ठं अवट्ठाणं ॥७२३॥

(प्रे०) "चउणाणे"त्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघौ-पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गणास्वित्येवं समुदितासु पञ्चदशमार्गणासु प्रत्येकं "सव्वत्थोवा जेट्ठा हाणी" त्ति आयुर्वर्जसप्तकर्मणां 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा 'हानिः'-स्थितिबन्धहानिः सर्वस्तोका। "तत्तो हवेज्ज संखगुणा जेट्ठा वड्ढी" त्ति 'ततः'-उत्कृष्टस्थितिबन्धहानेस्तेषामेव सप्तानां 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा स्थितिबन्धवृद्धिः संख्येयगुणा भवेत्। सुगमम्, प्रस्तुतैकैकमार्गणासूत्कृष्टवृद्धेर्मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाभावित्वात्। उक्तञ्च प्राक् स्वामित्वद्वारे—

'चउणाणसंयमेसु समइअ-छेअ-परिहारेसुं। देसो-हि-सम्म-वेअग-उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥७०५॥
तप्पाउग्गजहण्णा दुचरमबंधा गुरुं चरमबंधं। कुणमाणो गुरुवड्ढिं कुणइ मिच्छाइगाहिमुहो' ॥इति॥

"तुल्लं जेट्ठं अवट्ठाणं" त्ति उत्कृष्टवृद्धिस्वामिनामेवानन्तरोत्तरसमयेषूत्कृष्टाऽवस्थानस्वामित्वादुत्कृष्टमवस्थानमुत्कृष्टवृद्धेस्तुल्यमेव स्यादिति सुगममिति ॥७२२-७२३॥

अथ सास्वादनमार्गणायामुक्तमप्यल्पबहुत्वं मतविशेषेणाऽन्यथा दर्शयन्नाह—

अहवाऽत्थि सासाणेऽप्पा जेट्ठा वड्ढी तओ विसेसहिया।
हाणी परमा तत्तो तुल्लं णेयं अवट्ठाणं ॥७२४॥

(प्रे०) "अहवा" इत्यादि, अथवा द्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारेऽभिहितात् मिथ्यात्वाभिमुखानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धं स्वीकुर्वतामभिप्रायाद्भिलक्षणेन रसबन्धविधाने वक्ष्यमाणेन स्वस्थानगतानामुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वमङ्गीकुर्वतां मतेन "त्थि सासणेऽप्पा जेट्ठा वड्ढी" त्ति

सासादनमार्गणायां सप्तानां 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा वृद्धिः 'अल्पा'-सर्वस्तोका भवति। **"तओ विसेसहिया हाणी परमा"** त्ति ततः परमा हानिर्विशेषाधिका भवति, साकारोपयोगक्षयेण प्राप्यमाणत्वात्। **"तत्तो तुल्लं णेयं"** त्ति ततस्तुल्यं ज्ञेयम्। किम्? **"अवट्ठाणं"** ति अवस्थानम्, उत्कृष्टपदगतानां वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टमवस्थानमित्यर्थः ॥७२४॥

अथाऽप्रशस्तलेश्यामार्गणात्रये मतद्वयेन स्वामित्वस्य प्रदर्शितत्वादल्पबहुत्वमपि तदनुसारेण प्रदिदर्शयिषुरतिदिशन्नाह—

अपसत्थतिलेसासुं तिण्ह गुरुपयाण अत्थि ओघव्व।
अप्पाबहुगं अण्णे भणन्ति निरयव्व विण्णेयं ॥७२५॥

(प्रे०) **"अपसत्थे"**त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः। **भावार्थस्त्वयम्**—अप्रशस्तलेश्यात्रये 'अपसत्थतिलेसासुं तिण्ह गुरुपयाण ओघव्व। सामी भणंति अण्णे तिण्हं वि पयाणं निरयव्व' ॥७०८॥ इत्यनेन तत्तः मते प्रस्तुतस्थितिबन्धवृद्ध्यादिस्वामिनामप्योघवन्निरयगतिमार्गणावच्चाभिहितत्वात्तदधीनं प्रस्तुताल्पबहुत्वमपि तेन तेन मतेनौघवन्निरयगतिमार्गणावच्च लभ्यत इति तथैवाऽतिदिष्टम्। तच्च **"ओघव्व"** इत्यनेन 'सत्तण्णं सव्वप्पा परमा वड्ढी तओ अवट्ठाणं। उक्कोसं अब्भहियं तो गुरुहाणी विसेसहिया' ॥७१८॥ इत्यनया गाथया दर्शितस्वरूपं ज्ञेयम्। **"निरयव्व"** इत्यनेन तु 'सेसासु उक्कोसा वड्ढो थोवा तओ विसेसहिया। परमा हाणी तत्तो णेयं तुल्लं अवट्ठाणं' ॥७२७॥ इत्यनया गाथया वक्ष्यमाणस्वरूपमवसातव्यमिति ॥७२५॥

अमणम्मि अवट्ठाणं गुरुमप्पं ताउ अत्थि संखगुणा।
जेट्ठा वड्ढी तत्तो परमा हाणी विसेसहिआ ॥७२६॥

(प्रे०) **"अमणम्मि"** इत्यादि, न विद्यते मनो येषां ते 'ऽमनसः'-असंज्ञिनः, तत्राऽसंज्ञिमार्गणास्थाने **"अवट्ठाणं गुरुमप्पं"** ति उत्कृष्टमवस्थानम् 'अल्पं'-वक्ष्यमाणपदद्वयापेक्षया स्तोकं भवति, पञ्चेन्द्रियाणां स्वस्थान एव तत्स्वामितयोत्कृष्टस्याऽपि तस्य पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वसम्भवात्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धापेक्षयाऽप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य पल्योपमसंख्येयभागमात्रेणाधिकत्वादिति भावः। **"ताउ अत्थि संखगुणा जेट्ठा वड्ढी"** त्ति तस्माज्ज्ञानावरणादीनां सप्तानामुत्कृष्टाऽवस्थानात्तेषामेव ज्ञानावरणादीनां 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा 'वृद्धिः'-स्थितिबन्धवृद्धिः संख्येयगुणा भवति। कुतः? एकेन्द्रियाच्च्युत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां परस्थाने तत्स्वामितया सागरोपमस्य किञ्चिदूनसहस्रत्रयादिसप्तभागप्रमाणत्वात्तस्याः। तत्र किञ्चिदूनत्वेन पल्योपमसंख्येयभागाभ्यधिकसागरोपमत्रिसप्तादिभागा एव विज्ञेया। **तथाहि**—यो ह्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सुरेकेन्द्रियः स न सर्वसंक्लिष्टः, स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशवतामेकेन्द्रियाणामनन्तरसमये मृत्वा एकेन्द्रियतयैवोत्पत्तेः, अत एव नेषन्मध्यमसंक्लिष्टो मध्यमसंक्लिष्टो वा, तथाविधा-

नामनन्तरसमये मृत्वा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियादितयोत्पत्तेः। अयन्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सुरिति विशुद्धप्रायः, ततश्चासौ स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धादभ्यर्णवर्तिनं पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिमानं स्थितिबन्धं करोति, ततश्च्युत्वाऽनन्तरसमयेऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे तु सागरोपमस्य पल्योपमसंख्येयभागन्यूनसहस्रत्रयादिसप्तभागप्रमाणं स्थितिबन्धं करोति, न पुनः सागरोपमस्य परिपूर्णसहस्रत्रयादिसप्तभागमानम्, तदानीमपर्याप्तावस्थायामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्याऽसम्भवात्। इत्थञ्च यथोक्तमाना स्थितिबन्धवृद्धिः प्राप्ता, सा पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणोत्कृष्टावस्थानापेक्षया संख्येयगुणैवेति। **"तत्तो परमा हाणी विसेसहिया"** त्ति यथोक्तज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धवृद्ध्यपेक्षया ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिबन्धहानिर्विशेषाधिका भवति। कथम्? अस्याः पञ्चेन्द्रियाच्च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पद्यमानस्य परस्थाने भावात्।

ननु परस्थाने भावादस्या उत्कृष्टहानेरुत्कृष्टवृद्ध्यपेक्षया विशेषाधिकत्वं चेद् व्यत्ययेनोत्कृष्टहान्यपेक्षया उत्कृष्टवृद्धिरेव विशेषाधिका भवतु, तस्या अपि परस्थाने एव लाभाद्, यद्वोभयोरपि परस्थाने भावादुभयोरप्युत्कृष्टावस्थानापेक्षया संख्येयगुणे परस्परं तुल्ये च। **न चोभयोः** परस्थाने लाभेऽपि विद्यते विशेषो येनोत्कृष्टवृद्ध्यपेक्षयोत्कृष्टहानिर्विशेषाधिका भवतीति **वक्तुं युज्यते**, एकेन्द्रियात्पञ्चेन्द्रियतया, पञ्चेन्द्रियादेकेन्द्रियतया, एवं पर्याप्तत्वादपर्याप्ततयोत्पादे वाणारस्या अयोध्यामयोध्याया वाणारस्यां गच्छतामागच्छतामिवाऽविशेषेण तुल्यान्तरस्यैव सम्भवात्, तदपेक्षयैवोत्कृष्टवृद्धिहान्योः सम्पद्यमानत्वाच्च। यदि स्याद् द्वीन्द्रियात्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामुत्कृष्टवृद्धिः, पञ्चेन्द्रियादेकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां चोत्कृष्टहानिः, **यद्वा**ऽपर्याप्तैकेन्द्रियादपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामुत्कृष्टवृद्धिः, पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादपर्याप्तैकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां हानिश्च, तदा परस्थाने लभ्यमानयोरप्युत्कृष्टवृद्धिहान्योः परस्परं विलक्षणत्वाद् यथोक्ताल्पबहुत्वम्; किन्तु नास्ति तथा विशेष इत्यनोऽनयोः परस्परं तुल्यत्वमेव वक्तव्यम्? **इति चेद्, न,** भवदुक्तविशेषाभावेऽप्येकेन्द्रियतयोत्पित्सूनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां सर्वसंक्लिष्टप्रायःतया विशेषान्तरस्य सद्भावात्।

किमुक्तं भवति? एकेन्द्रियतयोत्पित्सवोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धकाः, ते च यद्यपि तदानीं न सर्वसंक्लिष्टाः, तथापि सर्वसंक्लेशात्किञ्चिन्न्यूनसंक्लेशभाज एव, यतः सर्वसंक्लिष्टा एते नरकप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्ति, ततः किञ्चिन्मात्रविशुद्धा एकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन्ति, ततोऽपि विशुद्ध-विशुद्धतरा द्वीन्द्रियादिप्रायोग्या बध्नन्ति, यावत्सर्वविशुद्धा देवप्रायोग्या बध्नन्ति। यत उक्तं **शतकचूर्णौ**–'अच्चंतसंकिलिट्ठो णिरयपाओग्गं बंधइ त्ति, तओ विसुद्धो तिरियपाओग्गं, तओ विसुद्धो मणुयपाओग्गं, तओ विसुद्धो देवपाउग्गंति।' इति।

इत्थं चैकेन्द्रियतयोत्पित्सवोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सर्वसंक्लिष्टप्रायाः सन्तः स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिमबध्नन्तोऽपि पल्योपमस्य लघुतरसंख्येयभागेन न्यूनामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्ति, सा तु

भवप्रथमसमयासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां बन्धप्रायोग्यस्थितितः पल्योपमसंख्येयभागेनाभ्यधिकैव; तां बद्ध्वाऽनन्तरसमये एकेन्द्रियतयोत्पद्यैकेन्द्रियबन्धप्रायोग्यस्थितिं बध्नतां तेषां पूर्वोत्तरसमययोर्बद्ध-स्थित्योरन्तरमुत्कृष्टवृद्ध्यपेक्षया विशेषाधिकं भवति । इत्येवं प्रकृताल्पबहुत्वमपि यथोक्तमेव लभ्यत इत्यलं विस्तरेण ॥७२६॥

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुतोत्कृष्टपदगतवृद्ध्यादिविषयकाल्पबहुत्वमाचष्टे—

सेसासु उक्कोसा वड्ढी थोवा तओ विसेसहिआ ।
परमा हाणी तत्तो णेयं तुल्लं अवट्ठाणं ॥७२७॥

(प्रे०) "सेसासु"ति भणितशेषासु मार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टा वृद्धिः स्तोका:, । ततः 'परमा'-उत्कृष्टा हानिर्विशेषाधिका,ततस्तूत्कृष्टमवस्थानं तुल्यं ज्ञेयम् । एतासु प्रत्येकमनन्तरं सासादनमार्ग-णायां मतान्तरेण स्वस्थाने उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमपेक्ष्याऽल्पबहुत्वमुक्तं तथैव विज्ञेयम् ,प्रत्येकं स्वस्थाने उत्कृष्टस्थितिबन्धस्याभिहितत्वात् ; केवलं मिश्रयोगमार्गणात्रये स्वस्थान इव मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वागपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमयवर्तिनामप्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमभिहितमेव, अतस्तत्र मतद्वयेन विलक्षणं विलक्षणमल्पबहुत्वं भवति, अतस्तास्तिस्रो मार्गणा विहाय शेषमार्गणा-स्वेवेदं विज्ञेयम् । शेषमार्गणास्त्विमाः—सर्वगतिमार्गणास्थानानि, तानि च सप्तचत्वारिंशत् , सर्वेन्द्रियमार्गणास्थानानि, तानि त्वेकोनविंशतिः, सर्वकायमार्गणास्थानानि, तानि पुनर्द्विचत्वा-रिंशत् ,पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिक-तन्मिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोग--वेद-त्रयी-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-प्रशस्तलेश्यात्रिक-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणास्थानानि चेति ॥७२७॥

तदेवमुक्तमुत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वम् । साम्प्रतं जघन्यवृद्ध्यादीनां तदभिधित्सुराह—

वड्ढी जहण्णगा खलु हाणी य जहण्णगा अवट्ठाणं ।
हस्सं तुल्लाइं, अह णेयं एमेव सव्वासु ॥७२८॥
णवरि अवेए सुहुमे सव्वत्थोवं लहु अवट्ठाणं ।
तो लहुहाणी तुल्ला तो संखगुणा लहू वड्ढी ॥७२९॥

(प्रे०) "वड्ढी जहण्णगा" इत्यादि, खलुशब्दो वाक्यालङ्कृतये, स च व्युत्क्रमेण 'हस्सं' इत्यस्योत्तरं योज्यः, जघन्यैव जघन्यका स्वार्थे कप्रत्ययश्च, ततः प्रकृतानां ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं जघन्या वृद्धिर्जघन्या हानिः 'हस्सं'-जघन्यमवस्थानं च त्रीणि खलु तुल्यानि, एकैकस्य समय-प्रमाणत्वात् । अथादेशतो दिदर्शयिषुः सापवादमतिदिशति-"अह णेयं एमेव सव्वासु"मिति, अथशब्द आनन्तर्ये, तत ओघप्ररूपणानन्तरमादेशप्ररूपणायां "सव्वासु" त्ति नरकगत्योघाद्यना-हारकपर्यन्तासु सर्वमार्गणासु "एमेव" त्ति ओघवदल्पबहुत्वं 'ज्ञेयं'-ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

ओघाऽऽदेशत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे स्थितिबन्धवृद्ध्यादीनां सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् ।

कुत्र मार्गणादौ ?	अल्पबहु०	सत्पद०	स्वामिनः
ओघत. काययोगौघ-कषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-★ऽप्रशस्तलेश्यात्रय-भव्याऽभव्य-मिथ्यात्वाऽऽहारकेषु च, १६	स्तोक०	वृद्धि०	चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरितनस्थितिबन्धस्थानेऽन्तःकोटीकोटिसागरोपमस्थितिं बद्ध्वाऽनुपदमुत्कृष्टदायेनोत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तः ।
	विशेषाधिक०	अवस्थान०	उत्कृष्टस्थितिबन्धात्साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्ध कुर्वन्त पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया ।
	" (गाथा०-७१७-७१८)	हानि०	देवत्वे उत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने सति च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पन्न भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिं बध्नन्तो जीवाः । (गाथा-६९९)
मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकछेद-परिहार-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकौ-पशमिक-मिश्र △-सास्वादनेषु, १५	स्तोक०	हानि०	तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धात्साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्ध कुर्वन्तो जीवाः ।
	तुल्य०	वृद्धि०	तत्प्रायोग्यद्विचरमस्थितिबन्धान्मार्गणाप्रान्ते चरममुत्कृष्टं स्थितिबन्ध कुर्वन्तो मिथ्यात्वाद्यभिमुखा जीवाः ।
	संख्यातगुण (गा ७२२-७२३)	अवस्थान०	मिथ्यात्वाद्यभिमुखा उत्कृष्टवृद्धिस्वामिन एव तदनन्तरसमयेषु तावन्मात्रस्थितिबन्धं कुर्वन्त । (गाथा-७०५-७०६-७०७)
अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तमनुष्या-ऽऽनतादि-सर्वार्थसिद्धान्त (१८) देवभेद सर्वैकेन्द्रियविकलेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पृथिव्यादिपञ्चकायसर्वभेदा ऽपर्याप्तत्रस-त्रिमिश्रयोगा-हारकयोग-क्षायिक-शुक्लासु. ८३	स्तोक०	वृद्धि०	तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धात् संक्लेशेन तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवा ।
	विशेषाधि०	हानि०	उत्कृष्टस्थितिबन्धात् साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिं बध्नन्तो जीवाः ।
	तुल्य० (गा-७२७)	अवस्थान०	उत्कृष्टहान्यनन्तरसमयेषु तावन्मात्रस्थितिबन्ध कुर्वन्तो जीवा । (गाथा-९१०-९११)
कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयो, २	स्तोक०	"	उत्कृष्टहान्यनन्तरसमये तावन्मात्रस्थितिं बध्नन्त एकेन्द्रियाः ।
	असंख्यगुण०	वृद्धि०	तत्प्रायोग्यजघन्यात् स्थितिबन्धात्संक्लेशवृद्ध्या तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्ध कुर्वन्त. संज्ञिपञ्चेन्द्रिया ।
	विशेषाधि० (गा-७१९)	हानि०	तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धात्साकारोपयोगक्षयेण तत्प्रायोग्यजघन्य स्थितिबन्ध कुर्वन्त. संज्ञिपञ्चेन्द्रिया । (गा-७००-१-२)
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराय-संयममार्गणयो., २	स्तोक०	"	उपशमश्रेणिमारोहन्तो मार्गणाप्रथमस्थितिबन्धाद् द्वितीयस्थितिबन्ध कुर्वन्तस्तत्प्रथमसमये ।
	● संख्यगुण	वृद्धि०	श्रेणितः प्रतिपतन्तो मार्गणाद्विचरमस्थितिबन्धाच्चरमस्थितिबन्धं कुर्वन्तस्तत्प्रथमसमये .
	तुल्य० (गा-७२०)	अवस्थान०	अनन्तरोक्तोत्कृष्टवृद्धिस्वामिन एव वृद्ध्यनन्तरसमयेषु तावत्स्थितिं बध्नन्तः । (गाथा-७०३-७०४)

★ अप्रशस्तलेश्यात्रये मतान्तरेण-ऽल्पबहुत्व स्वामित्व च निरयगत्योघमार्गणावदिति (७०८-७२५) ।

△ सास्वादने मतान्तरेण--उत्कृष्टवृद्धि. स्तोका, तत उत्कृष्टहान्यवस्थाने तुल्ये विशेषाधिके चेति (गाथा-७२६) ।

● अपवाद:--अपगतवेदे तिसृणामघातिप्रकृतीनामुत्कृष्टवृद्धिरसंख्येयगुणाः, ततस्तुल्य तदीयावस्थानमिति (गा-७२१) ।

असञ्ज्ञीमार्गणायाम्, १	स्तोक०	अवस्थान०	तत्प्रायोग्यजघन्यात्तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्तः पञ्चेन्द्रियाः।
	सं ख्येयगुण०	वृद्धि०	एकेन्द्रियात्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमये।
	विशेषाधिक०	हानि०	पञ्चेन्द्रियादेकेन्द्रियतयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमये। (गाथा-७०६)
निरयगत्योघादिशेषमार्गणासु, ५१	स्तोक०	वृद्धि०	ओघवत्।
	विशेषाधि०	हानि०	उत्कृष्टात्तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धं कुर्वन्तः।
	तुल्य०	अवस्था०	उत्कृष्टहानिस्वामिनस्तमेव स्थितिबन्धं कुर्वन्तः। (६९६-९७-९८)

ओघाऽऽदेशत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यपदे स्थितिबन्धवृद्ध्यादीनां सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम्

कुत्र मार्गणादौ ?	अल्पबहु०	सत्पद०	स्वामिन
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराय-संयमयोः, २	स्तोक०	हानि०	द्विचरमस्थितिबन्धाच्चरमस्थितिबन्धं कुर्वन्त क्षपका।
	तुल्य०	अवस्था०	जघन्यहान्यनन्तरसमयेषु तदवस्थितिबन्धं कुर्वन्तः क्षपका।
	संख्यगुण० (गा-७२६)	वृद्धि०	उपशान्ताद्धाक्षयेण पतन्तो **मार्गणाप्रथमस्थितिबन्धाद्द्वितीय-** स्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवा। (गाथा-७१५-७१६)
ओघत, शेषसर्वमार्गणासु च, १६८	तुल्य० (गा-७२८)	वृद्धि० हानि० अवस्था०	यथासम्भवं क्षपको-पशमक-मिथ्यात्वाद्यभिमुखजीवान् विहाय अन्य-तमा समयमात्रेण हीनाधिकस्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवाः। (गाथा-७१२)

अत्रैवापवदन्नाह–'**णवरि**' इत्यादिना, नवरम् "**अवेए सुहुमे**" त्ति अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकं "**सव्वत्थोवं लहु अवट्ठाणं**" ति सर्वस्तोकं 'लघु'-जघन्यमवस्थानं। "**तो लहुहाणी तुल्ला**" त्ति ततो 'लघुहानिः'-जघन्यहानिस्तेन जघन्यावस्थानेन तुल्या। "**तो संखगुणा लहू वड्ढी**" त्ति ततो 'लघुः'-जघन्या वृद्धिः संख्येयगुणा, यत इमा चारित्रमोहोपशमकस्य जायते, प्राक्तने जघन्यावस्थानहानी तु क्षपकस्येति ॥७२८-७२९॥

तदेवमभिहितं जघन्यपदेऽपि वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमोघादेशतः, तथा च कृते निष्ठितमल्प-बहुत्वद्वारम्। तस्मिँश्च निष्ठिते निष्ठामितः "**पयणिक्खेवो**" इत्यनेनोद्दिष्टश्चतुर्थाधिकारः॥

आप्तं हि मया कृत्वा पदनिक्षेपाधिकारवृत्तिमिमां।
तत्सुकृतात्कर्मरिपोः पदनिक्षेप्यस्तु शिरषि जगत् ॥ (गीतिः)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे तृतीयमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम्॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे चतुर्थः पदनिक्षेपाधिकार ॥

॥ वृद्ध्यधिकारः ॥

साम्प्रतं "वड्ढी" इत्यनेन स्थितिबन्धग्रन्थप्रारम्भे उद्दिष्टस्य वृद्ध्याख्यस्य पञ्चमाधिकारस्यावसरः । अत्राप्यधिकारे प्राग् द्वितीयगाथावृत्तौ भणितस्वरूपायाः पदनिक्षेपद्वारविषयाद्विलक्षणाया भूयस्कारविशेषात्मिकायाः संख्येया-ऽसंख्येयगुण-संख्येया-ऽसंख्येयभागभेदभिन्नायाः मूलाष्टकर्मणां स्थितिबन्धवृद्धेस्तथोपलक्षणात् तथाविधायाः स्थितिबन्धहानेः स्थितिबन्धावस्थानस्य च सत्पदादिद्वारेषु प्ररूपणा कर्तव्या, अतोऽधिकारप्रारम्भे प्रथमस्तावत्प्राक् संख्यामात्रेणाभिहितानि द्वाराणि नामतः क्रमतश्च ज्ञापयन्नाह—

> णेयाणि वड्ढिबन्धे अहिगारे पंचमे दुआराइं ।
> तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं य ॥७३०॥
> भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत-फोसणाउ तहा ।
> कालो अंतर-भावा अप्पाबहुगं जहाकमसो ॥७३१॥

(प्रे०) "णेयाणि वड्ढिबंधे" इत्यादि, मूलप्रकृतिस्थितिबन्धमधिकृत्य-'मूलपयडिठिइबंधे अहिगारा पढमबीअभूगारा। पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवसाणसमुदाहारो'॥२॥ इत्यादिनोद्दिष्टषडधिकारान्तःप्रविष्टे पञ्चमे "वड्ढिबंधे" त्ति वृद्धिबन्धाधिकारे त्रयोदश द्वाराणि यथाक्रमशो ज्ञेयानीति क्रियान्वयः । तान्येव येन क्रमेण ज्ञातव्यानि तेन क्रमेणैवाह-"संतपय"मित्यादि, प्रथमं सत्पदद्वारम्, ततो द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्, ततः पुनस्तृतीयं कालद्वारम्, तदनन्तरं तु चतुर्थमन्तरद्वारम्, इत्थमेव पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम्, षष्ठं भागद्वारम्, सप्तमं परिमाणद्वारम्, अष्टमं क्षेत्रद्वारम्, नवमं स्पर्शनाद्वारम्, दशमं कालद्वारम्, एकादशमन्तरद्वारम्, द्वादशं भावद्वारम्, त्रयोदशं पुनरल्पबहुत्वद्वारम् । अत्रापि द्वितीयाधिकारवद् भूयस्काराधिकारवद्वा भङ्गविचयप्रभृतीनि द्वाराणि तु नानाजीवानाश्रित्य विज्ञेयानि, व्याख्याऽप्येतेषां सत्पदद्वारवर्जानां स्वामित्वादिद्वाराणां प्रत्येकं द्वितीयाधिकारप्रारम्भेऽभिहितस्य"दुइए अहिगारे अहे" त्यादिगाथा-(३२-३३) द्वयस्य वृत्त्यनुसारेण द्रष्टव्या, केवलं तत्र सा उत्कृष्टादिस्थितिबन्धमधिकृत्य दर्शिता, अत्र तु संख्येयाऽसंख्येयगुणवृद्धि-हान्यादिकमधिकृत्य वक्तव्या । सत्पदद्वारे तु संख्येयगुणादिवृद्धिहानिषु केषां मूलकर्मणामोघतो मार्गणास्थानेषु च कियन्ति पदानि सद्भूतानीत्येतत्प्ररूपयितव्यमिति ॥७३०-७३१॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवमधिकारप्रारम्भे द्वारनामधेयानि व्याहृत्य साम्प्रतं तेषु सत्पदादिद्वारेषु मूलाष्टप्रकृतिविषयकस्थितिबन्धस्य संख्येयगुणाऽसंख्येयगुणवृद्ध्यादीनां सत्पद-स्वामित्वादिकं चिचिन्तयिषुरादौ

तावद् भूयस्कारादिप्ररूपणया तुल्यत्वादल्पवक्तव्यत्वाच्चाऽऽयुषः सत्पदादित्रयोदशद्वारविषयां प्ररूपणामेकयाऽऽर्ययाऽतिदेशादिना समापयन्नाह—

अत्थि अवत्तव्वत्तं बंधस्स असंखभागहाणी य ।
भूगारव्वाऽऽउस्स उ संतपयाईसु दारेसुं ॥७३२॥

(प्रे०) "**अत्थि अवत्तव्वत्त**"मित्यादि, 'अस्ति'-विद्यते, सदित्यर्थः। किमित्याह-"**अवत्तव्वत्त**"मित्यादि, 'बन्धस्य'-स्थितिबन्धस्याऽवक्तव्यत्वम्, अवक्तव्यस्थितिबन्धपदमिति भावः। "**असंखभागहाणी य**" त्ति स्थितिबन्धस्याऽसंख्यभागहानिश्च अस्य, च 'आउस्स' इति परेण योगस्तत आयुःकर्मणोऽवक्तव्यलक्षणस्थितिबन्धोऽसंख्यभागस्थितिबन्धहानिश्च द्वे पदे सती, अन्यपदानि त्वसन्त्येवेत्यर्थः। **इदमुक्तं भवति**–आयुषोऽवक्तव्यबन्धस्तु **भूयस्काराधिकारे** उक्तस्तथैव, भूयस्कारा-ऽवस्थितस्थितिबन्धौ तु तत्राप्यसन्तावेवाभिहितौ, यत् पुनस्तत्राल्पतरस्थितिबन्ध उक्तः सोऽत्र हानितया गृह्यते, आयुश्चावस्थानयोग्यतालक्षणस्थितिकमधिकृतम्, तच्च बध्यमानं जघन्यत उत्कृष्टतो वाऽसंख्येयसमयस्थितिकमेव बध्यते। कुतः? साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणां साधिकषट्पञ्चाशदधिकशतद्वयावलिकानां चाऽसंख्येयसमयमात्रत्वात्। ततश्च तद्बन्धाद्धाया द्वितीयादिसमयेषु समयसमयाऽबाधाहानौ जायमानस्थितिबन्धहानिमपेक्ष्याऽल्पतरबन्धरूपा हानयोऽप्येकैकसमयप्रमाणा भवन्ति, ताश्च पूर्वसमयबद्धस्थित्यपेक्षयाऽसंख्यभागमात्रहीनस्थितिबन्धरूपा इत्येकविधा हानिरेव सत्तया प्रतिपादितेति। इत्येवं **भूयस्काराधिकारोक्त** आयुषोऽल्पतरस्थितिबन्ध एव प्रकृतेऽसंख्यभागहानितया प्राप्यते, तथा च सति तत्रोक्तायुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिबन्धविषया सर्वा प्ररूपणात्र वृद्ध्यधिकारेऽपि निर्विशेषेणोपपद्यत इति कृत्वा लाघवार्थी सर्वां तथैवाऽतिदिशन्नाह-"**भूगारव्वाउस्स उ**" इत्यादि, तत्र तुशब्दः शेषसप्तकर्मणां प्रकृताधिकारविषयायाः सर्ववक्तव्यताया भूयस्काराधिकारोक्तवक्तव्यतयाऽतुल्यत्वेन तदपेक्षयाऽऽयुषः प्रकृताधिकारविषयायाः सर्ववक्तव्यताया भूयस्काराधिकारोक्तवक्तव्यतया तुल्यत्वरूपविशेषस्य द्योतनार्थः। ततो भूयस्काराधिकारेण साम्याद् 'आयुषः'-आयुःकर्मणः स्थितिबन्धवृद्ध्यादिविषये "**संतपयाईसु दारेसु**" ति सत्पदाद्यल्पबहुत्वान्तेषु त्रयोदशद्वारेषु "**भूगारव्व**" त्ति भूयस्काराधिकारवद्, वक्तव्यमिति शेषः। **अयमत्र विशेषो विज्ञेयः**–तत्र भूयस्काराधिकारे यत्स्थानेऽल्पतरस्थितिबन्धाभिलापेनाऽऽयुषः सत्पदादिवक्तव्यता कृता, अत्र तु तत्स्थाने साऽसंख्यभागहान्यभिलापेन द्रष्टव्या। **तद्यथा–सत्पदप्ररूपणायामोघतो**ऽवक्तव्या-ऽसंख्यभागहान्योः सत्त्वं तु मूलकृतैवाभिहितम्। **आदेशतः**–सर्वासु त्रिषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वपि निर्विशेषेण तथैव बोध्यम्। **स्वामित्वद्वारे–ओघत आदेशतश्च** सर्वासु मार्गणास्वायुषोऽवक्तव्यस्याऽसंख्यभागस्थितिबन्धहानेश्चाऽन्यतमो जीवः स्वामी। **एकजीवाश्रयकालद्वारे–ओघत** आयुषोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च काल एक समय एव। असंख्यभागहानेर्जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तम्।

आदेशतः—सर्वमार्गणास्ववक्तव्यस्थितिबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः प्रत्येकमोघवदेकसमय एव। असंख्यभागस्थितिबन्धहानेर्बन्धकालस्तु सप्तचत्वारिंशद्गतिमार्गणाभेदेषु, एकोनविंशतिजातिमार्गणाभेदेषु, द्विचत्वारिंशत्पृथिव्यादिकायमार्गणाभेदेषु, औदारिकमिश्रकाययोग-स्त्र्यादिवेदत्रय-मतिज्ञानादिचतुर्ज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शनमार्गणाभेद-षल्लेश्याभेद-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ्य-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणाभेदेष्वित्येतेषु चतुश्चत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमोघवज्जघन्यत उत्कृष्टतश्चोभयथाऽप्यन्तर्मुहूर्तम्, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-क्रोधादिकषाय-चतुष्करूपेष्वेकोनविंशतिमार्गणाभेदेषु तु जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तमिति। इत्थमेव शेषाऽन्तराद्यनुयोगद्वारेष्वपि दर्शिताभिलापवद् **भूयस्काराधिकारवक्तव्यतानुसारेण** स्वयमेवाभिधातव्यमिति।

तदेवं समाप्ताऽऽयुषः सत्पदादित्रयोदशानुयोगद्वारविषया वक्तव्यता। साम्प्रतमुक्तन्यायेनैवाऽऽयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्याऽवस्थितस्थितिबन्धविषयकवक्तव्यतामप्यतिदिशन्नाह—

भूओगारव्व भवेऽवत्तव्वत्तं तहा अवट्ठाणं।
बंधस्स उ सत्तण्हं संतपयाईसु दारेसु ॥७३३॥

(प्रे०) **"भूओगारव्व भवेऽवत्तव्वत्त"**मित्यादि, **'भूओगारव्व भवे'** त्ति भूयस्काराधिकारोक्तप्ररूपणावद् भवेत्। किं तद् यदप्यायुषोऽल्पतराऽवक्तव्यत्ववद्भूयस्कारादिप्ररूपणया तुल्यं भवेदित्याह—**"वत्तव्वत्त"**मित्यादि, तत्रादौ लुप्ताकारदर्शनादवक्तव्यत्वं तथाऽवस्थानमित्येतत्पदद्वयविषयकप्ररूपणा, सा च **"बंधस्स उ सत्तण्हं"** ति आयुर्विषयकवक्तव्यताया अनन्तरमेव समापितत्वादायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनां 'बन्धस्य'-स्थितिबन्धस्य ज्ञेयेत्यर्थः। तुकारस्तु प्राग्वत्, सप्तानामवस्थाना-ऽवक्तव्यप्ररूपणाया भूयस्काराधिकारोक्तावस्थिता-ऽवक्तव्यस्थितिबन्धप्ररूपणया तुल्यत्वेन शेषवृद्धिहानिप्ररूपणापेक्षया विशिष्टत्वादिति। नन्वेते आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां स्थितिबन्धाऽवक्तव्यत्वाऽवस्थानयोः प्ररूपणा किं सर्वद्वारेषूत सत्पदद्वार एव भूयस्काराधिकारवज्ज्ञेयेत्याह—**"संतपयाईसु दारेसु"** ति प्राग्वत्सत्पदादिषु द्वारेषु। अत्र **'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति'**-रिति न्यायेन भावद्वारान्तेषु द्वादशद्वारेष्विति विज्ञेयम्, न पुनः प्राग्वत् त्रयोदशेऽल्पबहुत्वद्वारेऽपि, त्रयोदशेऽल्पबहुत्वद्वारे भूयस्काराधिकारापेक्षया विशेषवक्तव्यत्वस्य सद्भावेनात्रैवाधिकारेऽभिधास्यमानत्वादिति। **इदमत्र हृदयम्**—यो हि **भूयस्काराधिकारे** सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धः स एव प्रकृतेऽपि, न च तद्विषये संख्येयाऽसंख्येयगुणत्वादिकं किञ्चिद्विशेषेण चिन्तनीयम्; एवं तत्र भूयस्काराधिकारोक्तसप्तानामवस्थितस्थितिबन्धः स एवात्रानुवर्तते, तद्विषयेऽपि विशेष-

भवति। वेदनीयस्य पुनरसंख्येयवार्षिक एव। तस्मिंश्च स्थितिबन्धे पूर्णे सति अन्यो द्वितीयस्थितिबन्धो वेदनीयस्यापि संख्येयवार्षिको भवति। तथा च सति सर्वेषामपि कर्मणां ततः प्रभृति संख्येयवार्षिक एव स्थितिबन्धः पूर्वस्माच्च पूर्वस्माच्चान्योऽन्यः स्थितिबन्धः प्रवर्तमानः संख्येयगुणहीनः प्रवर्तते। ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु सप्तापि नोकषाया उपशान्ता भवन्ति ॥४६॥' इति।

एवमुपशमकस्यैतोऽपि यथोत्तरं संख्येयगुणहीनक्रमेण प्रवर्तमानाः स्थितिबन्धा मोहनीयस्य तु वेदोदयं यावत्प्रवर्तन्ते, न पुनस्तदूर्ध्वमवेदावस्थायामपि, शेषाणां षण्णां तु तदूर्ध्वं क्रमेणाश्वकर्णाद्धामतिक्रम्य किट्टीकरणाद्धाप्रवेशेऽपि निरवच्छिन्नतया तेन संख्येयगुणहीनक्रमेणैव प्रवर्तन्ते, किट्टीकरणाद्धाया ऊर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानाख्यकिट्टीवेदनाद्धाप्रवेशे तु नैकस्यापि कर्मणः प्राग्वत्संख्येयगुणहीनक्रमेण स्थितिबन्धाः प्रवर्तन्ते, किन्तु सर्वेषामपि संख्येयभागहीनक्रमेणैव प्रवर्तन्ते, । इत्थं ह्यनिवृत्तिकरणगुणस्थानक एव सप्तानामसंख्येयगुणहानिः प्राप्यते, न पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने। एवमेवासंख्येयगुणवृद्धिविषयेऽपि भावनीयम्, सामान्यतः प्रतिपतत उपशामकस्यापि सूक्ष्मसम्परायाऽनिवृत्तिबादरसम्परायादिगुणस्थानेषूक्तक्रमेणैवाऽनुलोमं स्थितिबन्धादीनां भावादित्यलं विस्तरेण। विस्तरार्थिना तु कर्मप्रकृतिकषायप्राभृतचूर्ण्यादिग्रन्था अवलोकनीया इति। अथवैषा सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिस्त्वन्यथा उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवतयोत्पद्यमानस्य जीवस्य देवभवप्रथमसमयस्थितिबन्धमपेक्ष्यापि प्रसिद्ध्यति। **तद्यथा**--यः कश्चिदुपशमश्रेणिगतोऽन्तर्मुहूर्तप्रभृतिपल्योपमासंख्येयभागप्रमाणान्तस्थितिबन्धविकल्पेषु कमपि स्थितिबन्धविशेषं निर्वर्तयन् जीवो भवक्षयाद्देवगतावुत्पद्यते तदा तस्य तत्रान्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणस्थितिबन्धः प्रवर्तते, स च पूर्वसमयजातस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्यगुणाधिकः, इत्येवं देवभवप्रथमसमयजातस्थितिबन्धमपेक्ष्याऽप्योघतः सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धिः सत्त्वं बिभर्ति। न चैवं प्रतिपतदुपशमकस्य भवक्षयेणासंख्येयगुणहानेः सत्त्वाविष्करणाय यतनीयम्। प्रतिपतत आरोहतश्च प्रत्येकमपि भवक्षयेऽधिकस्थितिबन्धस्यैव प्रवर्तनेन हानेरेवासम्भवात्कुतोऽसंख्येयगुणहानिसम्भवः, न कुतश्चिदपीति।

तदेवमभिहितं सप्तानां सम्भवद्वृद्ध्यादेरस्तित्वमोघतः। साम्प्रतमादेशतो तदभिधातव्यम्, तत्र यासु मार्गणास्वोघवच्चत्वार्यपि संख्येयगुणवृद्ध्यादिपदानि सङ्गतानि तासु तथैव दिदर्शयिषुरतिदिशति-"**एमेव जाणियव्वं**" इत्यादि, तत्र "**एमेव**" त्ति 'एवमेव'-यथौघतः सप्तकर्मस्थितिबन्धविषयकचतुर्विधवृद्धि-चतुर्विधहानीनां सत्त्वमभिहितं तथैवानुपदं वक्ष्यमाणमनुष्यगत्योघादित्रिचत्वारिंन्मार्गणास्वपि ज्ञातव्यमित्यर्थः। मनुष्यगत्योघादिमार्गणा एव नामत आह-"**णरतिगे**" त्यादिना, अपर्याप्तभेदवर्जानां मनुष्यगतिमार्गणाभेदानां त्रिके-मनुष्यत्रिके, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणास्वित्यर्थः। "**दुपणिंदि**"त्ति द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोः, द्वयोस्त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदयोरित्यर्थः। अन्यमार्गणाः संचिन्त्वन् गाथाद्वयमाह-"**पंचसु मणवयणेसु**" इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचनयोगभेदेषु,

काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगयोः, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु,मत्यादि-ज्ञानचतुष्क-संयमौघभेदयोः। चः समुच्चये, स चोत्तरगाथाप्रान्ते योज्यः,ततः सामायिक-छेदोपस्था-पनसंयमा-ऽवधिदर्शनेषु, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनयोः, शुक्ललेश्या-ऽभव्यमार्गणयोः, सम्यक्त्वौघे, औपशमिकसम्यक्त्वे,क्षायिकसम्यक्त्वे, संज्ञिमार्गणायामाहारिमार्गणायां चेत्येतासु प्रत्येकं श्रेणिगत-जीवानां समावेशादसंख्यगुणवृद्धिहान्योः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे सुलभानां शेषाणामसंख्यभाग-संख्य-भाग-संख्यगुणवृद्धिहानीनां च यथोक्तनीत्याऽस्तित्वमावेदनीयमिति ॥ ७३४-७३५-७३६ ॥

अथ यासु मार्गणास्वेका वृद्धिरेका च हानिस्तासु तथैव दर्शयन्नाह—

सत्तण्हं कम्माणं अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीओ ।
बंधम्म उ सव्वेसुं एगिंदिय-पंचकायेसुं ॥७३७॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं कम्माण**"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां "**बंधस्स उ**" त्ति प्रस्तुतत्वात् स्थितिबन्धस्य,तुशब्दोऽत्रावधारणार्थो व्युत्क्रमेण गाथापूर्वार्धस्य प्रान्ते योज्यः। "**अत्थि-असंखंसवड्ढिहाणीओ**" त्ति 'अंशो भागश्च वण्ट स्यादि' त्यभिधानचिन्तामणिवचनादंश-भागादिशब्दानामेकार्थकतया एकाऽसंख्यभागवृद्धिरेका चासंख्यभागहानिस्ते द्वयेव स्तः, न पुनरन्या वृद्धि-हानय इत्यर्थः। कासु मार्गणास्वित्याह-"**सव्वेसुं एगिंदियपंचकायेसु**" त्ति एकेन्द्रियसत्कसर्वभेदेषु पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणासत्कसर्वभेदेष्वित्येवं षट्चत्वा-रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः। सुगमं चैतत्, स्थावरभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धाज्जघन्य-स्थितिबन्धस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्राधिकत्वेनोक्तान्यवृद्धयादेरसम्भव एवेति ॥ ७३७ ॥

अथ विकलेन्द्रियभेदेषु द्वे वृद्धी द्वे च हानीति दर्शयन्नाह—

सव्वविगलेसु अत्थि उ असंख-संखंसवड्ढिहाणीओ ।

(प्रे०) "**सव्वविगलेसु**" इत्यादि, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय-लक्षणविकलेन्द्रिय-सत्कौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदनिष्पन्नेषु सर्वभेदेषु "**अत्थि उ असंखसंखंसवड्ढिहाणीओ**" त्ति एवकारार्थकस्य तु शब्दस्य प्रागवत्प्रान्ते योजनात्प्रस्तुतज्ञानावरणादिसप्तकर्मसत्कस्थितिबन्ध-स्याऽसंख्यांश-संख्यांशलक्षणे द्वे वृद्धी द्वे च हानीति चत्वारि पदान्येव "**अत्थि**" त्ति सन्ति-विद्यन्ते, न पुनरन्यानीत्यर्थः। कुतः ? एतेषु नवभेदेषु प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धयोरुत्कृष्टान्तरालस्य पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणत्वेनोक्ताधिकवृद्धिहानीनामसम्भव एव। भावना त्वोघवदेव कर्तव्येति॥

अथान्यविलक्षणत्वात् सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां पृथगाह—

संखंसवड्ढिहाणी सुहुमे छण्हऽत्थि बंधस्स ॥७३८॥

(प्रे०) "**संखंसवड्ढिहाणी**" इत्यादि, "**सुहुमे**" त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां "**ऊणह**" त्ति मोहनीयायुर्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादीनां षण्णां मूलकर्मणां प्रत्येकं "**बंधस्स**" त्ति प्रक्रमात्स्थितिबन्धस्य "संखंसवड्ढिहाणी"त्ति संख्येयांशवृद्धिः संख्येयांशहानिश्च द्व एव "**त्थि**" त्ति पूर्वमकारस्य दर्शनात् 'अत्थि' त्ति स्त इत्यर्थः, सद्भूत इति यावत् । अत्र षण्णां संख्येयभागमात्रवृद्धिहान्योरेवास्तित्वं न पुनस्तदन्यासामसंख्यभागादिवृद्धिहानीनामित्येतत्सर्वमौघिकासंख्येयगुणवृद्धि-हानिविवरणानुसारेण भावनीयमिति ॥ ७३८ ॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

गयवेए संखेज्जंस-गुण-असंखगुणवड्ढिहाणीओ ।
एगा दो तिण्णि कमा मोह-तिघाइ-इयराण कमा ॥७३९॥

(प्रे०) "**गयवेए संखेज्ज**"मित्यादि, "**गयवेए**" त्ति अपगतवेदमार्गणायां "**संखेज्जंस-गुण-असंखगुणवड्ढिहाणीओ**" त्ति 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यते' इति न्यायेन वृद्धिहानिपदस्य संख्येयांशादिना प्रत्येकं योजनात् संख्येयभागवृद्धिहानी, तथा प्रथमोक्तसंख्येय-शब्दस्यांशशब्देनेव गुणशब्देनाऽपि योजनात् संख्येयगुणवृद्धिहानी, असंख्यगुणवृद्धिहानी चेत्यर्थः । ततः किमित्याह–'**एगा दो तिण्णि कमा**" त्ति क्रमाद् 'एका'-संख्येयभागवृद्धिहान्यात्मिका, क्रमाद् 'द्वे'-संख्येयभागवृद्धिहानि-संख्येयगुणवृद्धिहान्यात्मिके, क्रमात् 'तिस्रः'-संख्येयभाग-संख्येय-गुणा-ऽसंख्यगुणात्मकत्रिविधवृद्धिहानयश्चेत्यर्थः । ताश्च '**मोहतिघाइइयराण कमा**' त्ति क्रमात् '**मोह**' त्ति मोहनीयकर्मणः, "**तिघाइ**" त्ति मोहनीयस्यानन्तरमुक्तत्वात्तद्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणाम् , "**इयराण**" त्ति उक्तेतरेषां गतवेदमार्गणायां बध्यप्रायोग्यानां वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां च क्रमाद्विज्ञेयाः ।

इदमुक्तं भवति–पुंवेदान्यवेदवतो वेदोदयविच्छेदादूर्ध्वं सप्तनोकषायोपशमनाऽद्धायां यथोत्तरं संख्येयभागहीनक्रमेण प्रवर्तमानान् मोहनीयस्थितिबन्धानपेक्ष्य मोहनीयस्यैका संख्येय-भागहानिः । तस्यामेव सप्तनोकषायोपशमनाद्धायां यथोत्तरं संख्येयगुणहीनक्रमेण प्रवर्तमानान् ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणां स्थितिबन्धानपेक्ष्य तेषामेका संख्येयगुणहानिः, अन्यास्तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानभाविन्यसंख्येयभागहानिश्च । एवमेव शेषवेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणामपि द्वे हानी, नवरं तेषां सप्तनोकषायोपशमनाद्धायाः प्रारम्भे कतिपयस्थितिबन्धा यथोत्तरमसंख्येयगुणहीनक्रमेण प्रवर्तन्ते, अतस्तृतीयाऽसंख्येयगुणहानिरपि लभ्यते । एता हि श्रेणिमारोहतो भवन्ति, प्रपततस्तु ततो वैपरीत्येन मोहनीयस्थितिबन्धस्यैका संख्येयभागवृद्धिः, ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं स्थितिबन्धस्य संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिश्चेति द्वे वृद्धी, शेषाणां वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां प्रत्येकं तृतीयाऽसंख्यगुणवृद्धिरपीति तिस्रो वृद्धयो भवन्ति । ननु पुंवेदेन श्रेणिमारोहन्तं जीव

मादायैतास्तिस्रो हानयो वृद्धयश्च नोपपाद्यन्ते, किन्तु तदन्यवेदिनमधिकृत्योपपाद्यन्ते ? **उच्यते**, पुंवेदेन श्रेणिं समारोहतः सप्तनोकषायोपशमनाद्धायामपि सवेदितयैवावस्थानेन सप्तनोकषायोपशमनाद्धाभाविनी वेदनीय-नाम-गोत्र-कर्मणां स्थितिबन्धविषयाऽसंख्यगुणहानिः, तथा तस्यैव प्रतिपततो याऽसंख्यगुणवृद्धिश्च साऽपि प्रकृतमार्गणाबहिर्भाविनीति कृत्वा लाघवार्थं पुंवेदान्यवेदिनमादाय त उपपाद्येते, तस्य पुरुषेतरवेदिनो वेदनीयादीनामसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धि-हानिकालेऽपि प्रस्तुतमार्गणायामवस्थानात् । विस्तरार्थिना तु **कर्मप्रकृत्युपशमनाकरणग्रन्थो**ऽनुसर्तव्य इति ॥७३९॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

सत्तण्हं कम्माणं असंख-संखंसवड्ढिहाणीओ ।
संखगुणवड्ढिहाणी अत्थि उ बंधस्स सेसासुं ॥७४०॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं कम्माण**"मित्यादि, आयुःकर्माधिकृत्य सर्वविधप्ररूपणायाः प्रागतिदिष्टत्वात्तद्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां "**बंधस्स**"त्ति स्थितिबन्धस्य "**असंख-संखंसवड्ढिहाणीओ संखगुणवड्ढिहाणी अत्थि उ**" त्ति अंशवृद्धिहानीति शब्दस्य प्रत्येकं योजनादसंख्यांशवृद्धिहानी संख्येयांशवृद्धिहानी तथा संख्येयगुणवृद्धिहानीति षट्पदान्येव सन्ति, अन्ये द्वे पदे त्वसतीत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह–"**सेसासु**" ति उक्तशेषासु नरकगत्योघादिसप्ततिमार्गणासु । ताश्च **मार्गणा इमाः**–अष्ट नरकगतिभेदाः,पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः,त्रिंशद्देवगतिभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः,औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्या-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य--ऽनाहारिमार्गणाश्चेति । **नन्वेतासु** कुतः षण्णां पदानामेवास्तित्वम् ,न पुनरन्ययोर्वृद्धिहान्योः ? **इति चेद्**,**उच्यते**, एतासु प्रत्येकं श्रेणिगतजीवानामलाभादसंख्यगुणवृद्धिहानिरूपे पदे न प्राप्येते, तादृग्वृद्धिहान्योः श्रेण्यधीनत्वात् , तदन्यवृद्धिहानीनां सत्त्वं तु प्रत्येकमन्तःसागरोपमकोटीकोट्यादिप्रमाणस्थितिबन्धस्य लाभात्तदपेक्षया प्रसिद्धयति । यद्यप्यसंज्ञिमार्गणायामेवं नास्ति, तथाऽपि तत्रैकेन्द्रियादिभिन्नभिन्नजातीयानां जीवानामपि प्रवेशात् परस्थानापेक्षया संख्येयगुणवृद्धिहान्यपि प्राप्येते । शेषवृद्धिहानयस्तु द्वीन्द्रियादीनां स्वस्थानभाविस्थितिबन्धापेक्षया ज्ञेया इति ॥७४०॥

तदेवमभिहितानि शेषमार्गणास्वपि ज्ञानावरणादीनां सम्भवत्संख्येयगुणादिस्थितिबन्धवृद्धिहानिसत्पदानि । तेषु चाभिहितेषु गतमाद्यं सत्पदद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

एतर्हि क्रमप्राप्ते स्वामित्वद्वारे ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनां दर्शितसंख्येयगुणादिस्थिति-बन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां स्वामिनः प्रचिकटयिषुरादौ तावदोघतः प्रतिपादयन्नाह—

सत्तण्हं अण्णयरो अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
तह बंधगो खलु तसोऽण्णयरो संखंसवड्ढिहाणीणं ॥७४१॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'सत्तण्ह' इत्यादि, आयुःकर्मणः सर्ववक्तव्यतया गतद्वारेऽतिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां प्रत्येकम् "**असंखंसवड्ढिहाणीणं**" ति स्थितिबन्धविषययोरसंख्यांशवृद्धि-हान्योः "**अण्णयरो अत्थि**" त्ति त्रसः स्थावरो वाऽन्यतरो जीवः "**बंधगो**" इति गाथोत्तरा-र्धादत्राऽपि योज्यते, ततः 'बन्धकः'—स्वामी भवतीत्यर्थः । अत्रान्यतरग्रहणात् पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा कश्चिदपि निर्विशेषेण बोद्धव्यः, एवमुत्तरत्रापि । अथ सप्तानामेव संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामिनं दर्शयन्नाह-"**तह बंधगो**" इत्यादि, तथा "**संखंसवड्ढिहाणीणं**" ति खलुशब्दस्यावधारणार्थ-त्वादन्यतरस्त्रसजीव एव 'बन्धकः'-स्वामी, भवतीति शेषः । इत्थं च संख्येयांशवृद्धिहानिस्वा-मितया स्थावरजीवानां व्यवच्छेदः कृतो विज्ञेयः । स्थावरजीवेषु संख्येयभागवृद्धिहान्योरसम्भवस्तु सत्पदद्वारे भावित एवेति ॥ ७४१ ॥

अथौघत एव सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामिनं दर्शयन्नाह—

सत्तण्हं सत्थाणे सण्णी संखगुणवड्ढिहाणीणं ।
तह होएइ असण्णी परठाणे बंधगोऽण्णयरो ॥७४२॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं सत्थाणे**" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां "**संखगुणवड्ढिहा-णीणं**" ति स्थितिबन्धविषययोः संख्येयगुणवृद्धि-संख्येयगुणहान्योः प्रत्येकं "**सत्थाणे स-ण्णी**" ति स्वस्थाने वर्तमानः संज्ञी, अस्य च "**बंधगोऽण्णयरो**" इत्यनेन गाथाप्रान्तेऽन्वयः । अत्र स्वस्थानं जात्यपेक्षया बोद्धव्यम् , ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे वर्तमानो यः कश्चिज्जीवः स सप्तानां स्थितिबन्धविषययोः संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामी भवतीत्यर्थः । अथान्येषामपि प्रकृतवृद्धिहान्योः स्वामित्वमस्तीति तानपि संगृह्णन्नाह-"**तह होएइ**" इत्यादि, तथाशब्दः समुच्चये । "**होएइ असण्णी परठाणे**" त्ति एकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपोऽन्यतरोऽसंज्ञिजीवः 'परस्थाने' जात्य-न्तरे उत्पद्यमानः सन् प्रस्तुतयोर्द्वयोः संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामी भवति, तत्रासंज्ञिपञ्चेन्द्रि-यादितोऽधश्चतुरिन्द्रियादितयोत्पादे संख्येयगुणहानेः स्वामी, एकेन्द्रियादित ऊर्ध्वं द्वीन्द्रियादितयो-त्पादे स एवासंज्ञी संख्येयगुणवृद्धिस्वामी भवति, न तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियवत्स्वस्थानेऽपीति ॥७४२॥

अथौघत एवासंख्येयगुणवृद्धेः स्वामिनं प्रकटयन्नाह—

उवसामगो पडंतो सेढीअ सुरो य पढमसमयत्थो।
सत्तण्ह बंधगो खलु होइ असंखगुणवड्ढीए ॥७४३॥

(प्रे०) "उवसामगो पडंतो" इत्यादि, "सेढीअ" त्ति उपशमश्रेणेः पतन्नुपशमकः, "सुरो य पढमसमयत्थो" त्ति उपशमश्रेणौ सप्तानामुत्कृष्टतः पल्योपमासंख्यभागप्रमाण-स्थितिबन्धं कुर्वन्नायुःक्षयात् च्युत्वा यो देवतयोत्पन्नः सः 'प्रथमसमयस्थ':-भवप्रथमसमयवर्ती सुर-जीवश्च तदानीं सप्तानामसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः। ननु देवस्यापि सप्ता-नामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिस्वामित्वसम्भवे कथं प्राग् देवगत्योघादिमार्गणास्वसंख्येयगुणवृद्धि-पदं नाभिहितम्? उच्यते,प्राग् भूयस्काराद्यधिकारेऽवक्तव्यबन्धलक्षणाप्रवेशेन यथा देवगत्योघा-दिमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धो नाङ्गीकृतः, तेनैव न्यायेन मार्गणाप्रथमक्षणे भूयस्कारा-दिबन्धोऽपि नाभिमतः। कुतः? अधिकृतविवक्षया भूयस्कारादेरप्यवक्तव्यबन्धवन्मार्गणाभाविपूर्वक्षण-बन्धसव्यपेक्षत्वात्, पूर्वक्षणवर्तिबन्धस्तु न मार्गणाभावी, किन्तु मार्गणान्तरभाव्येवेति सुप्रतीतम्। भूयस्कारादिविशेषा एव पदनिक्षेपवृद्ध्यादयः, अतस्तेनैव नीत्या प्रकृतेऽप्योघतो लभ्यमानाऽप्य-संख्येयगुणवृद्धिर्देवगत्योघादिमार्गणासु नोक्ता। निपतत उपशमकस्यासंख्यगुणवृद्धिस्वामित्वं तु सत्पदद्वारे विस्तरतो भावितमिति तत एवावसातव्यमिति ॥ ७४३ ॥

अथौघत एव सप्तप्रकृतिस्थितिबन्धविषयाया असंख्यगुणहानेः स्वामिनमाह—

वट्टंतो गुणठाणे णवमे उवसामगो तहा खवगो।
सत्तण्ह बंधगो खलु अत्थि असंखगुणहाणीए ॥७४४॥

(प्रे०) "वट्टंतो गुणठाणे" इत्यादि, नवमेऽनिवृत्तिबादरसम्परायाख्ये गुणस्थाने "वट्टंतो" त्ति वर्तमानः "उवसामगो" त्ति चारित्रमोहनीयोपशामकः "तहा खवगो" त्ति तथा तत्रैव नवमे गुणस्थाने वर्तमानः 'क्षपकः'-चारित्रमोहनीयक्षपक आयुर्वर्जानां सप्तमूल-प्रकृतीनाम् "असंखगुणहाणीए" त्ति स्थितिबन्धविषयाया असंख्यगुणहानेर्बन्धकः-स्वामी, भवतीति शेषः। खलुशब्दोऽवधारणे, स च व्युत्क्रमेण 'खवगो' इत्यस्योत्तरं योज्यः; ततस्तावेवा-ऽसंख्यगुणहानिस्वामिनावित्यर्थः। 'उवसामगो तहा खवगो' इत्यत्रैकवचनं जात्यपेक्षया प्रयु-क्तमितिकृत्वा तज्जातीयाः-तत्सदृशा ये केचनापि जीवास्ते सर्वेऽपि स्वामिन इति बोद्धव्यम्। एव-मेव पूर्वोत्तरग्रन्थे एकवचनान्तप्रयोगो जातिविवक्षया बोद्धव्य इति। अत्र भावना त्वनन्तरं सत्पदद्वारे ओघचिन्तायामपगतवेदमार्गणायां च दर्शिता तथैव द्रष्टव्येति ॥७४४॥

तदेवमुक्तमोघतः शेषाणां सप्तप्रकृतीनां स्थितिबन्धविषयकासंख्यभागवृद्ध्यादेः स्वामित्वम्। साम्प्रतमादेशतस्तत्प्रदर्शनावसरः। तत्र लाघवार्थं यासु मार्गणासु यस्या वृद्ध्यादेः स्वामिन ओघ-सदृशास्तासु तस्यास्तथैवातिदिदिक्षुराह—

जासु खु मग्गणासु अत्थि असंखगुणवड्ढिहाणीओ ।
सत्तण्हं कम्माणं तासु खलु ताण ओघव्व ॥७४५॥
णवरि सुरो णत्थि तिणर-पणमणवय-उरल-थी-णपुंसेसु ।
गयवेए मणणाणे संयम-सामइअ-छेएसु ॥७४६॥

(प्रे०) **"जासु खु"** इत्यादि, आदेशचिन्तायां यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु **"सत्तण्हं कम्माणं"** ति आयुर्वर्जसप्तान्यतमानां मूलकर्मणाम् **"अत्थि असंखगुणवड्ढिहाणीओ"** त्ति असंख्यगुणवृद्धिरसंख्यगुणहानिश्च स्तः, असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्राक् **सत्पदद्वारे**ऽस्तित्वं प्रतिपादितमिति भावः । **"तासु खलु ताण ओघव्व"** त्ति तासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु **"ताण"** त्ति बहुवचनान्तनिर्देशः प्राकृतत्वात् , ततस्तयोः सप्तप्रकृतिस्थितिबन्धविषययोरसंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकम् **"ओघव्व"** त्ति ओघवत् , स्वामिन इति गम्यते, स्वामित्वप्ररूपणस्याधिकृतत्वात् । इत्थमतिदिष्टे कासुचिन्मार्गणासु याऽतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुराह–**"णवरि सुरो णत्थि"** त्यादि, 'नवरं'-परमयमत्रापवादः । क इत्याह–**"सुरो णत्थि"** त्ति ओघप्ररूपणायां सप्तानामसंख्यगुणवृद्धेर्बन्धकः प्रपतन्नुपशमक इव भवप्रथमसमयवर्ती सुरोऽपि कथितः, किन्तु सः 'सुरः'-देवः प्रकृतेऽसंख्यगुणवृद्धेः स्वामी 'नास्ति'-न भवति । किं मनुष्यगत्योघादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणास्वप्युत कासुचिदेवेत्याह–**"तिणरपणमणवये"**त्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु नरगतिमार्गणाभेदेषु, पञ्चशब्दस्य मनोवचसोः प्रत्येकं योजनात्पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिककाययोग-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमार्गणाभेदेषु, गतवेदमार्गणायां, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां, संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणास्वित्येतास्वेकविंशतिमार्गणास्वेव, न पुनस्तदन्यासु पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-पुंवेद-कषायचतुष्क-मत्यादित्रिज्ञान-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्लेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिरूपासु त्रयोविंशतिमार्गणास्वपीत्यर्थः । एतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु तु सर्वथैव निरपवादमोघवदिति भावः । कुत एवम् ? उच्यते, उपशमश्रेण्यां भवक्षयेण देवगतावुत्पादेऽपि तत्रानन्तरोक्तपञ्चेन्द्रियोघादित्रयोविंशतिमार्गणानामविच्छिन्नतया प्रवर्तनात् , पूर्वोक्तानां मनुष्यगत्योघादिमार्गणानां तु मनुष्यभवसमाप्त्या सममेव विच्छेदाच्चेति ॥७४५-७४६॥

तदेवं यासु मार्गणासु ज्ञानावरणादीनामन्यतमस्यासंख्यगुणवृद्धिहानिपदे सद्भूते तासु तयोः स्वामिनोऽभिहिताः । साम्प्रतमुक्तशेषवृद्धिहानीनां स्वामिनोऽपि यासु मार्गणास्वोघवद्भवन्ति तास्वपि लाघवार्थमतिदेशेन तान् दर्शयन्नाह—

तिरिये तसम्मि काये णपुंसगम्मि य कसायचउगे य ।
अण्णाणदुगे अयते अणयण-अपसत्थलेसासु ॥७४७॥

भवियेयर-मिच्छेसुं असण्णि-आहारगेसु ओघव्व ।
तिविहाण वड्ढिहाणीण णवरि अमणम्मि ण उ सण्णी ॥७४८॥

(प्रे०) **"तिरिये तसम्मि"** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, त्रसकायौघे, काययोगौघे, नपुंसकवेदे । चः समुच्चये । कषायचतुष्के । चः प्राग्वत् । मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानयोर्द्विके, **"अयते"** त्ति असंयमे, **"अणयण"** त्ति अचक्षुर्दर्शने, कृष्णादिषु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यासु, भव्ये, भव्यादितरस्मिन्नभव्ये, मिथ्यात्वे, असंज्ञ्या-ऽऽहारकयोरित्येतासु विंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् **"ओघव्व"** त्ति ओघवदभिधातव्यम्, ओघवत् "सत्तण्हं अण्णयरो" इत्याद्यभिलापः कर्तव्य इति भावः । ननु सर्वोऽप्यभिलाप ओघवत्कर्तव्य उत किञ्चिन्मात्र इत्याह–**"तिविहाण वड्ढिहाणीण"** त्ति प्रकृतसप्तकर्मणामुक्तशेषाणां स्थितिबन्धसत्कानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणलक्षणानां त्रिविधानां वृद्धीनां त्रिविधानां हानीनां च । त्रिविधवृद्धिहानिविषयो य आद्यगाथाद्वयरूप औघिकोऽभिलापः स एव कर्तव्यः, न पुनरशेषोऽपीत्यर्थः ।

एवमभिधानातिदेशेऽपि या किञ्चिन्मात्राऽतिव्याप्तिस्तां निराचिकीर्षुराह–**"णवरि अमणम्मि ण उ सण्णी"** त्ति 'नवरं'-परमसंज्ञिमार्गणायां संज्ञिजीवानामभावात् 'सत्थाणे सण्णी' इत्येवं यो द्वितीयगाथाऽवयवरूपोऽभिलापः स न कर्तव्य इत्यर्थः ।

❀ **ननु** 'ओघव्व' इत्यस्य कथमभिधानातिदेशपरत्वं व्याख्यायते, न पुनरर्थातिदेशपरकत्वम् ? **इति चेद्, उच्यते,** तस्य पदार्थातिदेशपरत्वेऽसंज्ञिमार्गणायां 'णवरि अमणम्मि ण उ सण्णी' इत्यपवादाभिधानेनाऽसामञ्जस्यदोषपरिहारेऽपि त्रसकायौघमार्गणायां स्थावरजीवानामप्रवेशेन तत्र तु तद्दोषतादवस्थ्यमेव स्यात् । **न च** 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति'रिति न्यायेन तत्र स्थावराणामसंख्यभागवृद्ध्याद्यस्वामित्वस्य व्याख्याविषयत्वात्, तेषां तत्राऽप्रवेशेन सुज्ञेयत्वाद्वा

❀ घट-पटादितत्तदर्था., तद्वाचकान्यभिधानानि, तज्ज्ञानरूपा प्रत्ययाश्च घट-पटादिपदेनैव लोके व्यपदिश्यन्त इत्येवमर्थाऽभिधान-प्रत्ययानां लोके तुल्यनामधेयत्वनियमात् 'त्रस-स्थावरणामन्यतरस्यायुर्वर्जसप्तप्रकृत्यसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्ध्यादिस्वामित्व'लक्षणस्यौघिकार्थस्य, तत्प्रतिपादकस्य **'सत्तण्णं अण्णयरो'** इत्याद्यभिधानस्य, तादृगर्थविषयकान्तःस्फुरायमानप्रत्ययस्य च तुल्यः **'ओघ'** इति व्यपदेशो भवितुमर्हति । तथा च संस्थितौ मूलोक्त–**'ओघव्व'** इत्यत्र **'ओघ'** इति नामधेयं यथा 'य कश्चित् त्रसो वा स्थावरो वा जीव. स आयुर्वर्जसप्तप्रकृत्यसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्ध्यादिस्वामी'त्येवंरूपस्यार्थस्य प्रतिपादकं तथा तादृगर्थाभिधायकस्य **'सत्तण्णं अण्णयरो'** इत्यादिपूर्वलिखितवर्णावलिमात्रस्याऽपि प्रतिपादकं भवत्येव । तन्मध्ये मूलोक्त'-**'ओघव्व'** इत्यत्र **'ओघ'** इतिनामधेयं तादृग्वर्णावलिमात्रप्रतिपादकं ज्ञेयम, न पुन'स्त्रसादीनां तादृक्स्वामित्वादि'लक्षणस्याऽर्थस्य प्रतिपादकम् । तथा च **'ओघव्व'** इत्यनेन भव्यादिमार्गणायामायुर्वर्जसप्तानामसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्ध्यादीनां स्वामित्वस्य प्रतिपादनं **'सत्तण्णं ओघव्व'** इत्याद्यात्मकौघिकाभिधानेन सदृशाभिधानेन भवतीत्यर्थके **'ओघव्व त्ति ओघवदभिधातव्यम्'** इति व्याख्याने कृते कश्चिदाशङ्कते-'ननु' इत्यादि ।

न किञ्चिदसामञ्जस्यमिति वाच्यम् । तथैवाऽसामञ्जस्यपरिहारेऽसङ्गतत्वाभावे वाभिमते तु तुल्यन्यायेनाऽसंज्ञिमार्गणायामपि तथा सम्भवात्तत्राऽपवादपदमनभिहितं स्यात् । एवमप्यसंज्ञिमार्गणास्थानेऽपवादपदमभिधाय त्रसकायौघमार्गणायां तदनभिधानम् 'ओघव्व' इत्यनेनैव तत्र स्थावराणामसंख्येयभागवृद्धयादिस्वामितया परिहृतत्वेनाऽसामञ्जस्याभावेनापवादाभिधानस्यानावश्यकत्वात्। 'ओघव्व' इत्यनेनैव स्थावराणामसंख्येयभागवृद्धयादिस्वामितया परिहारस्तु तस्याऽभिधानातिदेशपरकत्वे सत्येव सम्भवति, न त्वर्थातिदेशपरकत्वे, अर्थस्य तु त्रसानां स्थावराणां चासंख्येयभागवृद्धयादिस्वामित्वरूपस्य तत्रौघिकचिन्तायां घटमानत्वेऽपि त्रसकायौघमार्गणायामघटमानतयाऽसामञ्जस्यापत्तेः । 'ओघव्व' इत्यस्य 'सत्तण्णं अण्णयरो' इत्यादिरूपौघिकाभिधानातिदेशपरकत्वे तु न काचिदसङ्गतिः, त्रसकायौघमार्गणायामन्यतरपदेन मार्गणाप्रविष्टानां त्रसकायिकानामन्यतमस्य त्रसकायिकस्य सप्तानामसंख्यभागवृद्धयादिस्वामित्वस्य बुध्यमानत्वात् ,तस्य तत्राविरोधेनोपपद्यमानत्वाच्च । इत्यतो 'ओघव्व' इत्यस्याभिधानातिदेशपरकत्वं व्याख्यायते। इत्येवमन्यत्रापि कृतेऽतिदेशे यथासम्भवं स्वयमभ्यूह्यमिति ॥७४८॥

अथापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः प्रकृतस्वामित्वमाह—

गयवेए सुहमम्मि य हवेइ उवसामगो वड्ढीणं ।
उवसामगो व खवगो वा हाणीए मुणेयव्वो ॥७४९॥

(प्रे०) "**गयवेए**" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकं भवति, स्वामीति गम्यते । कः कस्याः कस्याः स्वामी भवतीत्याह-"**उवसामगो उ**" इत्यादि, प्रपतन्नुपशमक एव "**वड्ढीणं**" ति 'जासु खु'इत्यादि(७४६)गाथयाऽसंख्यगुणवृद्धिहानिस्वामिनामपगतवेदमार्गणायामपि प्रागतिदिष्टत्वादसंख्यगुणवृद्धिहानी विहाय ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयनाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धयोर्मोहनीयकर्मणः संख्येयभागवृद्धेस्तथा सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जानां षण्णां संख्येयभागवृद्धेश्चेत्यर्थः । तथा "**उवसामगो व खवगो व**" त्ति वाकारश्चकारार्थस्ततः श्रेणिमारोहन्नुपशमकश्च क्षपकश्चोभावपि "**हाणीए मुणेयव्वा**" त्ति पूर्ववदपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नामगोत्रा-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणहान्योर्मोहनीयकर्मणः संख्येयभागहानेः, सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि संख्येयभागहानेश्च ज्ञातव्यावित्यर्थः । एनयोस्तत्तत्संख्येयभागवृद्धिहान्यादिस्वामित्वं ह्यनन्तरं **सत्पदद्वारे** सत्पदानां सत्त्वव्युत्पादनावसरे दर्शितभावनानुसारेण स्वयमेव भावनीयमिति ॥ ७४९ ॥

अथोक्तशेषमार्गणासु सप्तकर्मसत्कवृद्धयादिसत्पदानां स्वामिनं बिभणिषुराह—

सेसासु बंधगोऽत्थि सपयाण तिविहाउ वड्ढिहाणीओ ।
सत्तण्हं अण्णयरो सविसेसो पुण मुणेयव्वो ॥ ७५० ॥

प्रे०) "**सेसासु बंधगो**"इत्यादि, असंख्यगुणवृद्धिहानी परिहृत्य शेषाणां त्रिविधानां वृद्धिहानीनां स्वामिनो यास्वनन्तरमभिहितास्तास्तिर्यग्गत्योघादिद्वाविंशतिमार्गणा विवर्ज्य शेषासु नरकगत्योघाद्यष्टचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धको भवति । केषां क इत्याह—"**सपयाण तिविहाउ वड्ढिहाणीओ**"इत्यादि,आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणभेदभिन्नत्रिविधवृद्धित्रिविधहानिभ्यो नरकगत्योघादिशेषमार्गणायां यत्र यावन्त्येकद्व्यादीनि पदानि **सत्पदद्वारे** सङ्गतानि प्रतिपादितानि,तत्र तेषां सर्वेषामेकद्व्यादीनामसंख्येयभागवृद्ध्यादिसत्पदानां प्रत्येकं मार्गणागतो "**अण्णयरो**" त्ति अन्यतरो नारकादिजीव इत्यर्थः ।

इत्थमप्यपर्याप्तत्रसकायादिमार्गणासु द्वीन्द्रियादिजीवैः संख्येयगुणवृद्ध्यादेरनिर्वर्तनेन तत्र 'अण्णयरो' इत्यनेन मार्गणागतान्यतरपदवाच्याऽपर्याप्तद्वीन्द्रियादिजीवग्रहणेऽतिप्रसङ्गात्तद्दोषमुद्धर्तुमनाऽऽह—"**सविसेसो पुण मुणेयव्वो**" त्ति स पुनरन्यतरजीवः 'सविशेषः'- यथासम्भवं विशेषेण सहितो ज्ञातव्यः । **तद्यथा**—अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः स्वामी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियवर्जोऽन्यतमाऽपर्याप्तजीवः । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः स्वाम्येकेन्द्रियवर्जोऽन्यतम औदारिकमिश्रकाययोगिजीवः । कार्मणकाययोगमार्गणायां पुनरन्यतमः संज्ञिपञ्चेन्द्रियकार्मणकाययोगिजीवः सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः संख्येयगुणहानेश्च स्वामी, न पुनरन्यतम एकेन्द्रियादिकार्मणकाययोगिजीवोऽपि । कुतः ? एकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्तानां जीवानां स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहान्योरसम्भवात् । अत एवाधिकृतकार्मणकाययोगमार्गणायां सप्तानां संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामितयाऽप्येकेन्द्रियजीवा वर्जनीयाः । असंख्यभागवृद्धिहान्योस्त्वन्यतमस्त्रसः स्थावरो वा जीवः स्वामी भवतीति **दिग्** । अनया दिशौदारिककाययोगादिमार्गणादौ स्वयमेव विशेषो द्रष्टव्य इति ।

शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियजातिभेदाः, त्रसकायौघभेदवर्जाः पृथिव्यादिषट्कायसत्कशेषसर्वभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, औदारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्र-कार्मणकाययोगभेदाः, स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ, मत्यादिचतुर्ज्ञानभेदाः, विभङ्गज्ञानम्, सूक्ष्मसम्परायसंयमाऽसंयमवर्जाः षट्संयमभेदाः, चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनभेदौ, तेजः-पद्म-शुक्ललेश्याभेदाः, मिथ्यात्ववर्जाः सम्यक्त्वौघादिषड्भेदाः संज्ञ्य-ऽनाहारकभेदौ चेति ॥ ७५० ॥

तदेवं प्ररूपिताः शेषमार्गणास्वपि संख्येयगुणादिस्थितिबन्धवृद्धयादिसत्पदानां स्वामिनः । तेषु च प्ररूपितेषु गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते एकजीवाश्रिते कालद्वारे मूलकर्मणां संख्येयभागादिस्थितिबन्धवृद्धयादीनां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमपि निरन्तरं कालं प्रतिपिपादयिषयाऽऽदौ तावदोघत उक्तशेषाणां सप्तकर्मणामसंख्येयभागादिस्थितिबन्धवृद्धयादेस्तमाह—

समयो लहू खणा दो गुरू चउविहाण वड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्ह णवरि समयो गुरू असंखगुणहाणीए ॥ ७५१ ॥

(प्रे०) "**समयो लहू**" इत्यादि, "**सत्तण्ह**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां "**चउविहाण वड्ढिहाणीणं**" ति असंख्यभागा-ऽसंख्यगुण-संख्येयभाग-संख्येयगुणलक्षणानां चतुर्विधानां वृद्धीनां हानीनां च "**समयो लहू खणादो गुरू**" त्ति 'समयः'-एकसमयो 'लघुः'-जघन्यः कालः, 'द्वौ 'क्षणौ'-समयौ 'गुरुः'-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयो निरन्तरकालश्चेत्यर्थः । अयं हि लाघवकृतः सामान्यो निर्देशः, तत्र काचिदतिप्रसक्तिरपि, अतस्तां निराकुर्वन्नाह-"**णवरि**" इत्यादि, नवरं सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धहानेः 'गुरुः'-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयः कालः समयः, न पुनः सामान्यवचनगम्यौ द्वौ समयाविति भावः । अत्र हि चतुर्विधानां वृद्धीनां हानीनां च जघन्यकालः समयस्तु सुगमः, समयमेकं तत्तद्वृद्धयादेरनन्तरं प्रायेणावस्थानस्यैव प्रवर्तनात्, यतस्तथास्वाभाव्येन प्रवर्तमानौ द्विसमयनिरन्तरभूयस्कारौ द्विसमयनिरन्तराल्पतरौ च कादाचित्कावेव, अवस्थानस्थितिबन्धा बाहुल्येनान्तर्मुहूर्तिकाश्चेति ।

असंख्यगुणस्थितिबन्धहानेः समयमात्रोत्कृष्टकालस्तु देवानामतत्स्वामित्वात् । अयम्भावः—उपशमश्रेणौ मरणव्याघाताभावे प्रत्येकं स्थितिबन्धा आन्तर्मुहूर्तिकाः सन्ति, न पुनः शेषजीवानामिव कदाचित्केचन सामयिका अपि । किञ्च ये केचनोपशान्ताद्धाक्षयेण प्रपतन्तः सप्तानामसंख्यगुणवृद्धिस्वामिनो यमसंख्यगुणवृद्धं स्थितिबन्धं कुर्वन्ति, ते तं पल्योपमासंख्यभागप्रमाणस्थितिकं कुर्वन्ति, न पुनस्तदधिकस्थितिकम् । ततश्च समयमेकमसंख्यगुणवृद्धिं कृत्वाऽनन्तरसमये भवक्षयेण ये केचन देवतयोत्पद्यन्ते तेऽपि तत्र देवभवप्रथमसमयेऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्तो निरन्तरद्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणवृद्धिस्वामिन एव भवन्ति, न पुनर्हानिस्वामिनः; इत्येवमसंख्यगुण-

वृद्धेर्मनुष्यदेवोभयस्वामिकत्वाद्यथाऽसंख्यगुणवृद्धिकाल उत्कृष्टतो द्विसमयस्तथा नाऽसंख्यगुणहानेरपि, श्रेणिमारोहतां मनुष्याणां तत्स्वामित्वेऽपि देवानामतत्स्वामित्वेन समयमेकमसंख्यगुणहानेरनन्तरमेव मनुष्यभवक्षयेण देवगतावुत्पादेऽपि तत्र देवभवप्रथमसमये हानेरेवाऽप्रवर्तनात् । कालाऽकरणे तु तावन्मात्रस्थितिबन्धप्रवर्तनरूपमवस्थानमेव प्रवर्तेत इत्येवमसंख्येयगुणहानेरुत्कृष्टोऽपि बन्धकालः समयमात्रः प्राप्यत इति ।

असंख्यगुणवृद्धेर्द्विसमयोत्कृष्टकालस्त्वनुपदं प्रसङ्गाद्दर्शितस्तथैव समयमेकमुपशमश्रेणौ पतदवस्थायाम् , तदनन्तरसमये कालकरणेन देवावस्थायां समयमेकम् , न पुनस्तदूर्ध्वं तृतीयसमयेऽपि ।

शेषाणां त्रिविधानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धीनां तथाविधानां त्रिविधहानीनां च द्विसमयोत्कृष्टकालस्तु निरन्तरे समयद्वये ताथास्वाभाव्येनाऽसंख्यभागाधिकस्थितिबन्धं कुर्वतां , तथैव संख्येयभागाधिकस्थितिबन्धं कुर्वतां, संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धं कुर्वतां तत्तत्स्थितिबन्धस्वामिनां निरन्तरप्रवृत्तासंख्येयभागवृद्ध्यादिस्थितिबन्धद्वयमपेक्ष्य प्राप्यते ।

ननु वृद्धिबन्धो भूयस्काररूप एव, हानिबन्धोऽल्पतरबन्धरूप एव, यद्येवं तदा यथौघतः सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धकालोऽल्पतरस्थितिबन्धकालश्च समयद्वयादधिकोऽभिहितस्तथा श्रेण्यधीनमसंख्येयगुणवृद्ध्यसंख्येयगुणहानिलक्षणं पदद्वयं विहाय शेषत्रिविधान्यतमवृद्ध्यादिपदानां त्वसौ समयद्वयादधिकः स्याद् ? इति चेद्, उच्यते, एकविधाऽपि वृद्धिर्हानिर्वा जात्यन्तरपरावृत्त्यादिनिमित्तस्य सद्भावेऽसद्भावे वा निरन्तरसमयद्वयादधिककालं ताथास्वाभाव्येनैव न प्रवर्तते,अतस्तस्योत्कृष्टोऽपि कालो द्वौ समयावेव प्राप्यते । यदा द्विसमयवृद्धेरनन्तरसमये जात्यन्तरपरावृत्त्यादिनिमित्तं वर्तते, तदा तु पूर्वसमयजातवृद्ध्यपेक्षया विलक्षणवृद्धिरूपो भूयस्कारस्थितिबन्धोऽल्पतरस्थितिबन्धो वा नियमेन प्रवर्तते,तत्राऽपि यदि तत्रवाप्येकेन्द्रियादिभ्यश्च्यवनेन द्वीन्द्रियादिरूपजात्यन्तर उत्पद्यते, तदा भूयस्कार एव । इत्थश्च भूयस्कारस्यान्यविधवृद्धिरूपतया तद्बन्धकालसमयद्वयादधिको यावच्चतुःसमयोऽपि सम्पद्यते, इत्थमेव वैपरीत्येनाल्पतरस्थितिबन्धकालस्य त्रिसमयप्रमाणत्वे द्रष्टव्यम्, अन्यविधहानेरल्पतरस्थितिबन्धरूपत्वात् । एवं हि न भवति सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धकालस्योत्कृष्टतश्चतुःसमयत्वेऽप्येकविधवृद्धेरुत्कृष्टकालः समयद्वयादधिकः, सप्तानामल्पतरस्थितिबन्धकालस्योत्कृष्टतस्त्रिसमयत्वेऽप्येकविधहानेरुत्कृष्टकालः समयद्वयादधिकश्च । इत्थमेव वक्ष्यमाणमार्गणास्थानेष्वप्यसंख्येयगुणवृद्धिहानिवर्जत्रिविधान्यतमवृद्धिहानिकालस्य समयद्वयादनधिकत्वमभ्यूह्यम् ; यत्र त्वसौ द्विसमयोऽपि न, तत्र तु यथासम्भवमुपपत्तिमार्गं प्रदर्शयिष्याम इति ॥७५१॥

तदेवमभिहित ओघतः शेषाणामायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यभागवृद्ध्यादिलक्षणानामष्टविधानामपि स्थितिबन्धविशेषाणामेकजीवाश्रितो जघन्योत्कृष्टद्विविधः कालः । इदानीं तमेवादेशतो विभणिषुरोघप्ररूपणया बहुसाम्यात्सापवादमतिदिशति—

सव्वासु सत्तण्हं सपयाणोघव्व वड्ढिहाणीणं । (गीतिः)
णवरि असण्णिम्मि गुरू समयो संखगुणवड्ढिहाणीणं ॥७५२॥
तिणर-पणमणवयु-रल-णपुम-थी-मणणाण-संयमेसु तहा ।
समइअ-छेएसु गुरू खणो असंखगुणवड्ढीए ॥७५३॥
कम्मण-गयवेएसु सुहुमा-ऽणाहारगेसु सत्तण्हं ।
समयो परमो णेयो सपयाणं वड्ढिहाणीणं ॥७५४॥

(प्रे०) "**सव्वासु**"मित्यादि, नरकगत्योघादनाहारकपर्यन्तासु सप्तत्युत्तरशतसंख्याकासु सर्वासु मार्गणासु "**सत्तण्हं**" ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**सपयाणोघव्व वड्ढिहाणीणं**" ति स्थितिबन्धस्याधिकृतत्वादसंख्येयभागादिस्थितिबन्धवृद्धिहानिलक्षणानां 'स्वपदानां'-**सत्पदद्वारे** तत्तन्मार्गणायामभिहितानां सत्पदाना'मोघवद्'-औघिककालतुल्यः, एकजीवाश्रयो जघन्योत्कृष्टकाल इति प्रक्रमाद्गम्यते । इत्थं चातिदिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्धरन्नाह-"**णवरि**" इत्यादि सार्धगाथाद्वयम् । 'नवरं'-परं तत्रायं विशेषः । कोऽसावित्याह-"**असण्णिम्मि**" इत्यादि, ओघतः सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः संख्येयगुणहानेश्चोत्कृष्टबन्धकालो यः समयद्वयमभिहितः सोऽसंज्ञिमार्गणायां समयमात्रो विज्ञेयः । कुतः ? संख्येयगुणवृद्धेरेकेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा द्वीन्द्रियादितयोत्पद्यमानानामसंज्ञिजीवानां परस्थानत एव भावात् , जात्यन्तरपरावृत्त्या परस्थानत एव लभ्यमानायाः संख्येयगुणाद्यन्यतमाया वृद्धेः समयादधिककालस्यासम्भवात् । एतदपि कुतः ? इति चेत् , सकृज्जाताया जात्यन्तरपरावृत्तेर्जघन्यतोऽपि क्षुल्लकभवग्रहणादर्वागसम्भवादिति । इत्थमेव संख्येयगुणहानेः समयमात्र उत्कृष्टकालोऽपि व्युत्पादनीयः, केवलं वैपरीत्येनासंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा चतुरिन्द्रियादितयोत्पद्यमानानां परस्थानत एव संख्येयगुणहानेः सम्भवात्तदपेक्षयेति ।

अथ मार्गणान्तरेष्वसंख्यगुणवृद्धिविषयेऽपवदन्नाह-"**तिणरे**"त्यादि, 'तिणर' इत्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जा मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो नरगतिमार्गणाभेदा गृह्यन्ते, तेषु त्रिनरभेदेषु, तथा पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्पञ्चमनोयोगभेदाः, पञ्चवचोयोगभेदाश्च तेषु, औदारिककाययोग-नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणासु, तथा सामयिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयमयोश्चेत्येतासु विंशतिमार्गणासु प्रत्येकं "**गुरू खणो असंखगुणवड्ढीए**" त्ति 'सत्तण्ह' इति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, ततः सप्तानां मूलप्रकृतीनामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धेः 'गुरुः'-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयकालो नैरन्तर्येण 'क्षणः'-समयः, समयमात्रः प्राप्यते, न पुनर्यथातिदेशमोघवद् द्वौ समयाविति भावः । कुतः ? इति चेत्, सप्तानां निरन्तरद्वितीयसमयभाविन्यसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिरुपशमश्रेणावसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिं कृत्वाऽनन्तरसमये भवक्षयेण देवगतावुत्पन्नस्यैव

जा.ते, नान्यथा । अतः सा निरन्तरद्वितीयसमयासंख्यगुणवृद्धिः प्रस्तुतमनुष्यगत्योघादिविंशति-मार्गणास्वुपादातुं न युज्यते, प्रथमसमयासंख्यगुणवृद्धेरनन्तरसमये कालकरणे मनुष्यगत्योघादि-प्रत्येकमार्गणानां विच्छेदेन तत्स्वामिनां प्रस्तुतमार्गणानां बहिर्भावादिति ।

अथान्यमार्गणासु सर्वसत्पदविषयकापवादमाह—"**कम्मणगयवेएसु**"मित्यादि, कार्मण-काययोगाऽपगतवेदमार्गणयोः सूक्ष्मसम्परायसंयमाऽनाहारकमार्गणयोश्च प्रत्येकं सप्तानामायुर्वर्जमूल-प्रकृतीनां 'परमः'-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयकालः 'समयः'-समयमात्रो भवति । असंख्यभागवृद्धयादीनां कियतां पदानामित्याह—"**सपयाणं वड्ढिहाणीणं**" ति प्राग्वत्तत्कार्मणकाययोगादिमार्गणासु **सत्पदद्वारे** सत्तयाऽभिहितत्वात्स्वपदभूतानां संख्येयभागादिस्थितिबन्धवृद्धिहानीनाम् । कुत एक एव समयः, न पुनर्द्वौ समयौ ? इति चेत्, प्रत्येकमायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां भूयस्कार-स्थितिबन्धकालस्याल्पतरस्थितिबन्धकालस्य चाप्युत्कृष्टतः समयमात्रत्वात् न भवति द्वौ समयौ, सामान्यनिवृत्तौ विशेषनिवृत्तेरवश्यम्भावित्वात् । **किमुक्तं भवति**—सामान्यो हि भूयस्कारः स्थिति-बन्धः, असंख्यभागवृद्धयादयस्तु तद्विशेषा एव । यदि हि प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के निरन्तरद्वितीयसमये भूयस्कार एव न प्राप्यते तत्कुतस्तद्विशेषरूपाया असंख्यभागवृद्धयादेः प्राप्तिः, न कुतश्चिदपि । इत्थं हि मार्गणाचतुष्के सर्वेषां वृद्धयादिसत्पदानामुत्कृष्टोऽपि कालः समयमात्रः प्राप्यते, न तु द्विसमय-स्तदधिको वेति ॥७५२-७५३-७५४॥

तदेवं प्रतिपादितो मार्गणास्थानेष्वपि तत्तन्मार्गणोक्तासंख्यभागवृद्धयादिसत्पदानां जघ-न्योत्कृष्टभेदभिन्नो द्विविधोऽप्येकजीवाश्रितः कालः । तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं तृतीयं कालद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे तृतीयमेकजीवाश्रितं कालद्वारं समाप्तम् ॥

●

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

अथ चतुर्थमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारम् । तत्रायुषः स्थितिबन्धहान्यादिसत्पदविषयकान्तरस्यापि प्रागेवातिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धयादिसत्पदानामन्तरं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघतो जघन्यमन्तरमाह:—

सत्तण्ह अंतरमणुं चउविहवड्ढीण तिविहहाणीणं ।
समयो भिन्नमुहुत्तं लहुं असंखगुणहाणीए ॥ ७५५ ॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह अंतरमणु**"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामन्तरमेक-जीवाश्रितम् 'अणु'-जघन्यम्, अस्य च गाथोत्तरार्धे "**समयो**"इत्यनेनान्वयः, ततस्तज्जघन्यमन्तरं समयः, समयमात्रमित्यर्थः । कासां वृद्धिहानीनामित्याह—"**चउविहवड्ढीण**"त्ति 'चतुर्विधा-

नाम्'-असंख्येयभाग-संख्येयभागा-ऽसंख्येयगुण-संख्येयगुणवृद्धिलक्षणानां स्थितिबन्धविशेषाणां तथा "तिविहहाणीणं" ति त्रिविधानामसंख्यगुणहानिवर्जानां शेषाणामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणहानिलक्षणानां स्थितिबन्धविशेषाणां च प्रत्येकमित्यर्थः। अवशेषाया असंख्यगुणहाने-र्जघन्यमन्तरमाह-"भिन्नमुहुत्त"मित्यादि, 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं 'लघु'-जघन्यमन्तरमसंख्य-गुणहान्या इति।

अत्रा-ऽसंख्यगुणवृद्धिवर्जानां त्रिविधवृद्धीनां श्रेणिबहिर्वर्तिजीवानामपि सम्भवात् साम-यिकावस्थानादिनाऽन्तरितत्वे जघन्यमन्तरं प्राप्यते। इदमुक्तं भवति—श्रेणिबहिर्भाविस्थिति-बन्धा न नियमतोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्रवर्तन्ते, ततश्च त्रिविधवृद्धीनामन्यतमां वृद्धिं कृत्वा समयमवस्थाय तत्स्वामी पुनरप्यनन्तरसमये समयान्तरकृतसदृशीमेव त्रिविधान्यतमां स्थितिबन्धवृद्धिं करोति तदा एकसमयान्तरं प्राप्यते। इत्थमेव त्रिविधहान्यन्तरविषयेऽपि विज्ञेयम्, तासामपि श्रेणिबहिर्वर्ति-जीवानां सद्भावात्। असंख्यगुणवृद्धिस्तु यद्यपि श्रेणिबहिरपि भवति, तथाऽपि न सा येषां केषा-मपि पञ्चेन्द्रियाणां, किन्तु ये केचिदुपशमश्रेणौ भवक्षयाद्देवतयोत्पन्नास्तेषां देवभवप्रथमसमय-वर्तिनां केषाञ्चिदेव, ततश्च यः कश्चित्प्रपतच्चारित्रमोहोपशमकस्तत्तत्क्रमेणामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिं समयमेकं कृत्वा समयमेकं तावन्मात्रस्थितिं बध्नन् तत्रैवावस्थायाऽनन्तरसमये भवक्षयाद्देवतयोत्प-द्यते, तस्य श्रेणिभावि-देवभवभाव्यसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्ध्योः समयमात्रेणावस्थितस्थितिबन्धेनान्त-रितत्वादोघतो जघन्यमन्तरं समयमात्रं प्राप्यते, नान्येन केनापि प्रकारेणेति। असंख्यगुणस्थिति-बन्धहानेः स्वामिनस्तु केवलाः श्रेणिं समारोहन्त उपशमकाः क्षपका वैव, न पुनर्भवप्रथमसमयवर्तिनो देवा अन्ये वा, किञ्च श्रेणौ प्रत्येकं स्थितिबन्धा आन्तर्मुहूर्तिकाः, ततश्च एकमसंख्यगुणहीनस्थिति-बन्धं कृत्वा पुनरप्यसंख्यगुणहीनस्थितिबन्धं कुर्वतो जीवस्याऽसंख्यगुणहानिद्वयमध्ये जघन्यतोऽप्यन्त-र्मुहूर्तकालोऽतिगच्छति, इत्थं चासंख्यगुणस्थितिबन्धहानेर्जघन्यः कालः शेषवृद्धिहानिवत् समय-मात्रो न प्राप्यते, किन्तु जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति ॥ ७५५॥

अथैतासामेवोत्कृष्टमन्तरमोघतः प्रचिकटयिषुर्गाथाद्वयमाह—

उक्कोसमंतरं उ असंखेज्जइभागवड्ढिहाणीणं।
सत्तण्हं कम्माणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥ ७५६॥
परममसंखपरट्टा संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं।
देसूणोऽद्धपरट्टो असंखगुणवड्ढिहाणीणं॥ ७५७॥

(प्रे०) "उक्कोसमंतर"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामसंख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येक-मुत्कृष्टमेकजीवाश्रयमन्तरं 'तु'-पुनः 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यम्। संख्येयभागवृद्धिहान्योराह-"परममसंख" इत्यादि, सप्तानां संख्येयभागसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानीनां प्रत्येकं 'परमम्'-

उत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः "परट्टा" त्ति पदैकदेशे पदोपचारात्पुद्गलपरावर्ता इत्यर्थः । उक्तशेषयो-राह–"देसूणो" इत्यादि, सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकं पुनः प्रकृतमेकजीवा-श्रितमुत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तं इत्यर्थः ।

इयमत्रोपपत्तिः–श्रेणौ बन्धप्रायोग्यं स्थितिबन्धं विहायैकेन्द्रियादिषु प्रमत्तसंयतान्तेषु जीवेषु यस्य यस्य जीवस्यैकाधिका यावत्यः सप्तकर्मसत्कस्थितिबन्धवृद्धयो हानयश्च स्वस्थान एव सम्भवन्ति तस्य तस्य जीवस्य तासु समुदितासु वृद्धिहानिष्वेकैकविधा वृद्धयो हानयो वोत्कृष्टतः संख्येयान् स्थितिबन्धानतिक्रम्यातिक्रम्य जायमाना अपि भिन्नमुहूर्तादधिकव्यवधाना न भवन्ति । न च यद्येवं तदाऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्तरमिव शेषद्विविधवृद्धिहान्यन्तरमपि कथमन्तर्मुहूर्तमात्रं नोक्तमित्याशङ्क्यम् । यतः शेषद्विविधवृद्धिहानीनां नैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाद्योऽपि स्वस्थानतः स्वामिनः, तथा च संज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थायां शेषद्विविधवृद्धिहान्यन्यतरां निर्वर्त्यानन्तरमेव कालं कृत्वा य एकेन्द्रियादिषु गच्छति, तत्र चोत्कृष्टामेकेन्द्रियादिकायस्थितिं निर्गमयति, तावत्कालं न भवति तस्य तादृशी पूर्वकृतवृद्ध्यादिसदृशी वृद्धिहानिर्वा । इत्थं चान्तर्मुहूर्ताभ्यधिकैकेन्द्रियादिकाय-स्थितितुल्यमन्तरमुत्कृष्टतः सम्पद्यते ।

तथाहि–कश्चित् त्रसकायजीवो भवचरमान्तर्मुहूर्ते स्वस्य स्वस्थाने प्रायोग्यं संख्येयभागवृद्ध-स्थितिबन्धं कृत्वा तदनन्तरं चान्तर्मुहूर्तं यावत् स्वप्रायोग्याः संख्येया अन्यविधवृद्धिहानीर्निर्वर्त्यै-केन्द्रियतयोत्पन्नः, न च तत्र तस्य संख्येयभागवृद्धेरवकाशः, अतोऽसौ प्रत्यन्तर्मुहूर्तं तत्र प्रायोग्या-मसंख्येयभागवृद्धिं तादृशीं हानिमवस्थानं च कुर्वन् कुर्वन्नेकेन्द्रियस्योत्कृष्टां कायस्थितिमसंख्येय-पुद्गलपरावर्तप्रमाणां तत्रैव निर्गमयति । समाप्तायां चैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितौ पुनरपि त्रसत्वेनोत्प-द्यान्तर्मुहूर्तमतिक्रम्य संख्यभागाधिकं स्थितिबन्धं कुर्वन् संख्येयभागवृद्धिं करोति, न त्वर्वाक् । इत्थं तादृशजीवेनानन्तरैकेन्द्रियभवैरन्तरितयोस्त्रसभवयोर्निर्वर्तितसंख्येयभागस्थितिबन्धवृद्धिद्वयस्या-न्तरं यथोक्तमसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणं प्राप्यते, तच्चोक्तनीत्याऽन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकैकेन्द्रियोत्कृष्ट-कायस्थितिप्रमाणं विज्ञेयम् । इत्थमेव संख्येयभागवृद्धिस्थाने संख्येयभागहानिद्वयं कुर्वन्तं जीव-मादायोत्कृष्टं संख्येयभागहान्यन्तरमपि भावनीयम् । एवमेव संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्तरेऽपि भावनीये, केवलं पूर्वं विवक्षितवृद्धिहानिद्वयान्तराल एकेन्द्रियकायस्थितिर्दर्शिता, अत्र तु संख्येयगुण-वृद्धिहान्योर्विकलेन्द्रियाणामपि स्वस्थानेऽसम्भवात्तदपेक्षया लभ्यमानः कियत्कालोऽपि तदन्तरालेऽ-धिकतया द्रष्टव्यः, तथा च सत्यन्तरमपि पूर्वापेक्षया दीर्घतरं प्राप्येतेति ।

असंख्यगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्या उत्कृष्टमन्तरं तु श्रेणिद्वयस्योत्कृष्टान्तरालमपेक्ष्य प्राप्यते, श्रेणिद्वयस्योत्कृष्टमन्तरं त्वेकजीवापेक्षया देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणम् । विशेषतस्तु जीवविशेषं दृष्टान्तीकृत्य स्वयमेव भावनीयमिति ।। ७५६-७५७ ।।

गतमेवत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामसंख्येयभागादिचतुर्विधवृद्धि-चतुर्विधहानिलक्षणानां स्थिति-बन्धविशेषाणां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्येकजीवाश्रयमन्तरम् । इदानीं तदेवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ तावज्जघन्यपदे गाथात्रयेणाह—

सव्वासु लहुं अंतरमोघव्व सगसगवड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्ह णवरि कम्मेऽणाहारे अंतरं णत्थि ॥७५८॥
हस्सं भिन्नमुहुत्तं णेयं सपयाण वड्ढिहाणीणं ।
गयवेए सुहमम्मि य तहा असंखगुणवड्ढीए ॥७५९॥
तिणर-पणमणवयेसुं ओरालिय-थी-णपुंसगेसुं य ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेएसु णायव्वं ॥७६०॥

(प्रे०) "**सव्वासु लहुं**"इत्यादि, निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु 'लघु'-जघन्यमेकजीवाश्रितमन्तरमोघवत् , भवतीति शेषः । केषां कर्मणां कस्याः कस्या वृद्धयादेरित्याह—"**सगसगवड्ढिहाणीण**"मित्यादि, तत्तन्मार्गणायां **सत्पदद्वारे**ऽभिहितानां सप्तकर्मणामसंख्येयभागवृद्धयादिस्थितिबन्धमत्पदानामित्यर्थः ।

किं निर्विशेषं सर्वमार्गणास्वोघवदुतास्ति किञ्चिद्विशेषोऽपीत्याह–"**णवरि**"इत्यादि, 'नवरं' परं "**कम्मे**" त्ति कार्मणकाययोगे "**णाहारे**" त्ति लुप्ताऽकारस्य दर्शनादनाहारकमार्गणायां चैकस्या अपि वृद्धेर्हानेर्वाऽन्तरं नास्ति । कुतः ? इति चेद् , उत्कृष्टपदेऽधिकृतायामेकेन्द्रियजीवसत्कायां त्रिसामयिक्यां कार्मणकायोग्यवस्थायां ※विवक्षाविशेषेणाऽपि प्रथमसमयेऽवस्थितान्यस्थितिबन्धस्यैवास्वीकृतत्वात् , शेषसमयद्वयमपेक्ष्य तु भूयस्कारस्याल्पतरस्य वाऽन्तरस्यैवासम्भवेनासंख्येयभागवृद्धिहान्यन्तरस्याप्यसम्भव एवेति । यदि च प्रथमसमयेऽवस्थितस्थितिबन्धस्यैव विवक्षान्तरेण भूयस्कारादिबन्धोऽपि स्वीक्रियेत तदाऽपि केवलाया असंख्यभागवृद्धेरसंख्यभागहानेश्चान्तरं समयमात्रं सम्पद्येत, न शेषवृद्धिहानीनामिति सूक्ष्मधिया स्वयमेवोह्यमिति ।

अन्यमपि विशेषमाह–"**हस्सं भिन्नमुहुत्तं णेय**"मित्यादि, सामान्यत ओघवदतिदिष्टमप्येकजीवाश्रयं 'ह्रस्वं'-जघन्यमन्तरं 'भिन्नमुहूर्तम्'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् । कस्यां कस्यां मार्गणायां कस्या वृद्धेर्हानेर्वेत्याह–"**सपयाणे**"त्यादि, गतवेद सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोः सर्वेषां सत्पदानां, तथाऽपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिभेदेषु पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिककाययोग-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणास्वित्येवं विंशतिमार्ग-

※ विवक्षाविशेषविमर्शो ह अत्रैव स्थितिबन्धग्रन्थे भूयस्काराधिकारैकजीवाश्रयकालद्वारे 'कम्मऽणाहारेसु' इत्यस्या (५७५) गाथाया वृत्तौ व्यधायि, जिज्ञासुना तत्रत्या प्रेमप्रभा प्रविलोकनीया ।

णासु तु प्रत्येकमसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धेरित्यर्थः । तत्रा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः केवलानां श्रेणिगतजीवानामेव प्रवेशेन स्वप्रायोग्यानां सर्वविधवृद्ध्यादिसत्पदानामौघिकासंख्यगुणहानेर्जघन्यान्तरवदन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेव प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, न पुनः समयमात्रम् ; इत्यत ओघवद्-तिदिष्टमप्यपोद्यान्तर्मुहूर्तमभिहितम् । मनुष्यगत्योघादिविंशतिमार्गणास्वपि देवानामप्रविष्टत्वात्सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धेः प्रपतदुपशमकस्यैव जायमानत्वाच्चौघिकासंख्येयगुणहानेरन्तरवत्सप्तानामसंख्यगुणवृद्धेरप्यन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यत इत्यपोद्य तथैवाभिहितम् । मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु सप्तकर्मणां शेषस्थितिबन्धवृद्धिहानिसत्पदानां तथा मनुष्यगत्योघादिविंशतिमार्गणाः कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणेऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणे च परिहृत्य शेषसर्वमार्गणासु सर्वेषां स्थितिबन्धवृद्धिहानिसत्पदानां जघन्यमन्तरं सर्वथैवौघवद्भावनीयमिति ॥७५८-७५९-७६०॥

तदेवमभिहितं सर्वमार्गणास्थानेषु सप्तानामसंख्येयभागवृद्ध्यादिस्थितिबन्धसत्पदानां जघन्यमन्तरम् । सम्प्रति तदेवोत्कृष्टतः प्रचिकटयिषुराह—

पुव्वा कोडिपुहुत्तं गुरुं असंखगुणवड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्हं तिणरेसुं ओघव्व अचक्खु-भवियेसुं ॥७६१॥

(प्रे०) "**पुव्वा कोडिपुहुत्त**"मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामसंख्यगुणवृद्धिहानिलक्षणद्विविधस्थितिबन्धयोः प्रत्येकं 'गुरु'-उत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वम् । कासु मार्गणास्वित्याह-"**तिणरेसु**" त्ति अपर्याप्तभेदवर्जासु तिसृषु मनुष्यगतिमार्गणास्वित्यर्थः । इदं हि भूयस्काराधिकारे प्रकृतमार्गणात्रये उपपादितावक्तव्यस्थितिबन्धोत्कृष्टान्तरवदुपपादनीयम्, प्रत्येकं मार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितेः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणत्वेऽपि 'सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा' इत्यनेन तावत्या उत्कृष्टायाः कायस्थितेः पूरकभवेषु चरमे युग्मिभवे एकविधाया अपि श्रेणेरसम्भवेनाऽसंख्यगुणवृद्धिहानीनामप्यसम्भवात् युग्मिभवं विहाय शेषभवनिष्पन्नोत्कृष्टकायस्थित्यनुसारेण तस्य लाभादिति ।

"**ओघव्व अचक्खुभवियेसु**" ति ओघवदचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोः, सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरमित्यनुवृत्त्या विज्ञेयम् । ततश्च मार्गणाद्वयेऽपि सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकमन्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं प्राप्तम्, तच्चाविशेषेणौघवद्भावनीयम्, प्रकृतमार्गणाद्वयगतानां सप्तप्रकृतिसत्कासंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानिस्वामिनामोघापेक्षयाऽविशेषादोघवन्मार्गणाद्वयस्यैकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितेरनादित्वाच्चेति ।७६१।

अथ यासु मार्गणासु प्रस्तुतमायुर्वर्जसप्तप्रकृत्यसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्यन्तरमुत्कृष्टतो मार्गणोत्कृष्टकायस्थितितुल्यं ताः संगृह्य तत्राह—

दुपणिंदितस-पुरिस-चउणाण-णयण-ओहि-संयमेसु तहा ।
सम्म-खइअ-सण्णीसुं आहारे ऊणकायठिई ॥७६२॥

(प्रे०) "**दुपणिंदि**" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोः '**दु**' शब्दस्य '**त्रस**' इत्यत्रापि योजनाद् द्वयोरपर्याप्तभेदवर्जितयोस्त्रसकायभेदयोः, पुरुषवेद-मत्यादि-चतुर्ज्ञानेषु, "**णयण**"त्ति चक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदे, अवधिदर्शने, संयमौघे, तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-सम्यक्त्व-संज्ञित्वाहारकमार्गणायां चेत्येवं समुदितासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकम् "**ऊणकायठिई**" त्ति अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेनोना तत्तत्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणानामत्रैव स्थितिबन्धग्रन्थे **द्वितीयाधिकारगतैकजीवाश्रितकालद्वारे**ऽभिहितोत्कृष्टा कायस्थितिः, सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरमिति प्राग्वदनुवृत्त्या विज्ञेयम् । एवमेवोत्तरत्रापि बोद्धव्यम् ।

अत्र भावना तु प्रत्येकमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रारम्भप्रान्तसमासन्नभाविश्रेणिद्वयान्तरानुसारेण कर्तव्या, सप्तकर्मणामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानीनां श्रेण्यधीनत्वात् । तद्यथा–पञ्चेन्द्रियौघमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः साधिकं सागरोपमसहस्रम् । सा च नानापञ्चेन्द्रियभवैरेव पूरयितुं शक्यते । तत्र ये केचन मार्गणान्तरादागत्य संख्येयवर्षस्थितिकमनुष्यतयोत्पद्याऽविलम्बेन यथाकालमुपशमश्रेणिमारुह्य क्रमेणानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने ज्ञानावरणादीनां तत्तत्कर्मणां प्रथमतोऽसंख्येयगुणहीनस्थितिबन्धान् कृत्वा उपशान्तमोहगुणस्थानकं स्पृशन्ति; ततस्तूपशान्ताद्धाक्षयात्क्रमेण पतन्ति, न पुनः भवक्षयेण देवगतावुत्पद्यन्ते; पश्चात्तु नानाभवैः पञ्चेन्द्रियौघमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थिति निर्वाह्योत्कृष्टकायस्थितेश्चरमे संख्येयवर्षस्थितिके भवे मनुष्यतया वर्तमानाः सन्तो भवप्रान्त्यान्तर्मुहूर्ते क्षपकश्रेणिमारुह्य पुनरपि ज्ञानावरणादीनां तत्तत्कर्मणामसंख्येयगुणस्थितिबन्धहानिं कुर्वन्ति, तैर्जीवविशेषैः कायस्थितिप्रारम्भसमासन्नप्रवृत्तोपशमश्रेणौ निर्वर्तितासंख्यगुणस्थितिबन्धहानेस्तथा कायस्थितिप्रान्तसमासन्नवर्तिक्षपकश्रेणौ विहितासंख्यगुणस्थितिबन्धहान्योर्यदन्तरं तदुत्कृष्टान्तरतया प्राप्यते, तच्च देशोनपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमिति कृत्वा तथैवाभिहितम् । इत्थमेव शेषपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिपञ्चदशमार्गणास्वपि यथासम्भवं देशोना उत्कृष्टकायस्थितिः प्रकृतोत्कृष्टान्तरं विज्ञेयम् । भावनाऽपि तत्र यथोक्तरीत्या स्वयमेव कर्तव्येति । एतासु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धेरुत्कृष्टान्तरमप्युक्तरीत्यैवोपपादनीयम्, केवलं कायस्थितिप्रान्तभागे द्वितीयवारमप्युपशान्ताद्धाक्षयेण प्रपतत एवासंख्यगुणवृद्धिर्द्रष्टव्या । क्षपकश्रेणौ वृद्धेरसम्भवादिति भावः ॥७६२॥ अथ यासु मार्गणासु सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्यन्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रं ता उपचित्याह—

पणमणवय-काय-उरल-थी-णपुम-अवेअ-चउकसायेसुं ।
समइअ-छेअ-सुहल-उवसमेसु णेयं मुहुत्तंतो ॥७६३॥

(प्रे०) "पणमणवये" त्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु, सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-शुक्ललेश्यौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु चेत्येवं समुदितासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं "णेयं मुहुत्तंतो" त्ति प्रकृतत्वादायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृत्यसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योरुत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् ।

तत्र पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगा-ऽपगतवेद-कषायचतुष्कौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणानां प्रत्येकमुत्कृष्टकायस्थितेरेवान्तर्मुहूर्तत्वात्प्रकृतान्तरं तदधिकं न सम्भवतीति कृत्वाऽन्तर्मुहूर्तमुक्तम् । एवमेव काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-शुक्लेश्यामार्गणानां सामान्यतो दीर्घकायस्थितिकत्वेऽपि यैरेकेन्द्रियादिभवैस्तादृशदीर्घकायस्थितिः पूर्यते तासु प्रस्तुतासंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्येव सकृद् द्विर्वा न भवतः, तदभावे कुतोऽन्तरमपि भवेत्, अन्तरस्य तादृशहानिद्वयाद्यधीनत्वात् । एकेन्द्रियादिभ्योऽन्यजीवापेक्षया लभ्यमानं तु तदन्तर्मुहूर्तमेव भवेत्, तेषामन्तर्मुहूर्तादधिकं प्रस्तुतमार्गणायामेवानवस्थानात् ।

किमुक्तं भवति—काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगयोर्दीर्घकायस्थितिप्रयोजका एकेन्द्रियभवा एव, न त्वन्ये, अन्यभवेषु प्रत्यन्तर्मुहूर्तं योगानां परावर्तनात्, इत्थं हि देवमनुष्यभवसम्भव्यसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धेरन्तरं मनुष्यभवसम्भव्यसंख्यगुणस्थितिबन्धहानेरन्तरं च काययोसामान्यौदारिककाययोगमार्गणयोरुक्ताधिकं न प्राप्यते । शुक्लेश्यामार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिप्रयोजके देवभवेऽसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेः सम्भवेऽपि सा देवभवप्रथमसमये सकृदेव सम्भवति । भवप्रथमसमये सकृदेव तद्भावे तु कुतोऽन्तरं भवेत् । स्थितिबन्धकानां मनुष्याणां तु योगानामिव तत्तल्लेश्यानामप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वाच्छुक्ललेश्याऽप्यन्तर्मुहूर्तादधिककालं नैरन्तर्येण न प्रवर्तते, अतः प्रकृतवृद्ध्यन्तरमपि प्रोक्ताधिकं न प्राप्यते ।

शेषासु स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयमरूपासु चतसृषु मार्गणासु तु केषामपि जीवानां मार्गणाविच्छेदादर्वाक् तत्तन्मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्त एवाऽसंख्यगुणहीनस्थितिबन्धानां सम्भवात्, तथा तत्तन्मार्गणाप्रारम्भान्तर्मुहूर्त एवाऽसंख्यगुणवृद्धस्थितिबन्धानां सम्भवाच्च प्राप्यतेऽसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्यन्तरमन्तर्मुहूर्तादधिकम् । तद्यथा—केनाऽपि स्त्रीवेदिजीवेनोपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा समारब्धायां क्रमेणैव तस्याऽसंख्यगुणस्थितिबन्धहानयो भवन्ति, नान्यत्र । श्रेणिमारोहन् स यदि मृत्युं न प्राप्नोति तदाऽन्तमुहूर्तेऽतिक्रान्तेऽवेदीभवन् प्रकृतमार्गणातो बहिर्भवति । यदि च कालं करोति तदा त्वनुपदमेव देवत्वे पुंवेदीभवन् प्रकृतमार्गणाया बहिर्निर्याति; इत्थं चोभयथाऽपि मार्गणाप्रान्तान्तर्मुहूर्त एव तस्य नानाऽसंख्यगुणहीनस्थितिबन्धाः सम्भवन्ति, ततश्च न भवति सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धहान्यन्तरमन्तर्मुहूर्तादधिकम् । तच्चान्तरं प्रकृतमार्गणाभाव्यसंख्यगुणहीनस्थितिबन्धद्वयमध्यवर्त्युत्कृष्टावस्थानकालप्रमाणमवसातव्यम् । इत्थमेव-

शेषनपुंसकवेदादिमार्गणात्रयेऽप्युत्कृष्टान्तरं विशेषम् , भवक्षये भवक्षयाभावे वा स्त्रीवेदमार्गणावन्नपुंसकवेदादिमार्गणात्रयस्याऽपि नियमतो विच्छेदात् ।

असंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्ध्यन्तरं तु प्रपतदुपशमकजीवापेक्षया भावनीयम् । तद्यथा— कश्चित् स्त्रीवेदी जीव उपशमश्रेणिं समारुह्योपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्तः, न च तदानीमसौ स्त्रीवेदमार्गणायाम् , तदानीं तस्य वेदोदयाभावात् । पश्चात्तु स उपशान्ताद्धाक्षयात्प्रपत्य यदा वेदोदयं प्राप्नोति, ततः प्रभृति स्त्रीवेदमार्गणायां वर्तते, ततस्तु प्रपतन् निरन्तरवर्धमानसंक्लेशोऽसौ मुहूर्ताभ्यन्तरे एव ज्ञानावरणादीनां यथोत्तराऽसंख्यगुणवृद्धस्थितिबन्धान् करोति, एतच्च तदा भवति यद्यसौ मृत्युं नैति; यदि चासौ मृत्युमेति तदा तु प्राग्वन्नियमतो मार्गणान्तरं प्रतिपद्यते, इत्थं तस्य क्रमेण प्रतिपतत उत्कृष्टावस्थानकालान्तरितयोरसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्ध्योर्यदन्तरं तदेव स्त्रीवेदमार्गणायां मूलोक्तोत्कृष्टान्तरतया विज्ञेयम् ।

न च यः कश्चिदुपशमश्रेणितः प्रपतन् चरमासंख्येयगुणवृद्धस्थितिबन्धं कृत्वा स्त्रीवेदितयैव देशोनपूर्वकोटीकालं श्रेणेर्बहिरेवापगमयति,भवप्रान्ते पुनरप्युपशमश्रेणिं समारुह्य प्राग्वदसंख्येयगुणवृद्धस्थितिबन्धं च करोति तस्योक्ताधिकमन्तरमपि प्राप्येतेति वाच्यम् । यतः क्रमशः प्रतिपाते कालकरणे वा तस्याऽसंख्यगुणवृद्धस्थितिबन्धसम्भवः, तत्र कालकरणेन लभ्योऽसंख्यगुणवृद्धस्थितिबन्धस्तु प्रकृतान्तरप्रयोजक एव न भवति, प्रकृतमार्गणाबहिर्भाविनत्वात्तस्य । क्रमशः प्रपततोऽपि यो देशोनपूर्वकोटिकाऽमतिक्रम्य द्वितीयवारमसंख्यगुणवृद्धस्थितिबन्धोऽभिहितः, स यद्यपि स्त्रीवेदमार्गणायामेव,तथाऽपि नासौ पूर्वकोटिकायाः पूर्वं निर्वर्तितादसंख्यगुणवृद्धस्थितिबन्धादारभ्य निरवच्छिन्नप्रवृत्तायां स्त्रीवेदमार्गणायामेव; किन्तु मध्ये विच्छिद्य पुनः प्रवृत्तायां स्त्रीवेदमार्गणायामेव । यतो यः क्रमेण पतितः स उपशान्ताद्धां निर्वाह्य, स च नियमतो मध्येऽन्तर्मुहूर्तमवेद्यासीत्, तथा च मध्येऽन्तर्मुहूर्तं स्त्रीवेदमार्गणाया विच्छेदान्नाद्यापि देशोनपूर्वकोटिकालान्तरितगतप्रतिपातप्रवृत्तैव निरवच्छिन्ना स्त्रीवेदमार्गणा, तदभावे कुत उक्ताधिकान्तरस्य सम्भवः, न कुतश्चिदिति । शेषनपुंसकवेदादिमार्गणास्वपि प्रकृतवृद्ध्यन्तरं सर्वथैव स्त्रीवेदमार्गणावद्भावनीयमिति ।।७६३।।

तदेवं भणितो यासु मार्गणासु सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरमोघापेक्षया विशेषस्तासु तथैव । अधुना यासु संख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरविषय ओघापेक्षया विशेषस्तासु तं दर्शयन्नाह—

> आहारे कायठिई संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।
> सत्तण्हं कम्माणं उक्कोसं अंतरं णेयं ॥७६४॥
> होइ असंखपरट्टा उक्कोसं तिरिय-काय-णपुमेसुं ।
> दुअणाणा-ऽयत-अणयण-भवियेयर-मिच्छ-अमणेसुं ॥७६५॥

होइ तिपणिंदितिरिय-दुपणिंदितस-इत्थि-पुरिस-चक्खूसुं ।
पुव्वा कोडिपुहुत्तं संखियगुणवड्ढिहाणीणं ॥७६६॥

(प्रे०) "**आहारे कायठिई**"त्यादि, आहारिमार्गणायामायुर्वर्जसप्तकर्मणां संख्ययेयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानीनां प्रत्येकमुत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं "**कायठिई**" त्ति आहारिमार्गणाया एकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेयम् । यत आहारिमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिरङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणक्षेत्रगताकाशप्रदेशेषु निरन्तरं प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशस्यापहारे यावान् कालोऽतिगच्छति तावत्योऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, सा च नानैकेन्द्रियभवैरपि पूरयितुं शक्यते, एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् । किञ्चैकेन्द्रियावस्थायां स्वस्थाने सप्तानां संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेः संख्येयगुणस्थितिबन्धहानेश्चान्तराऽन्तरा नास्ति सम्भवः, द्वीन्द्रियादिभ्य उत्पद्यमानैकेन्द्रियस्य भवप्रथमसमयभाविसंख्येयगुणहानिं विहायोत्कृष्टकायस्थितिं यावदसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्धिहानीनां तथाऽवस्थितस्थितिबन्धानामेव परावर्त्य परावर्त्य प्रवर्तनात् ।

भावना त्वेवम्—यः कश्चिद्वक्रगत्याऽनाहारको भूत्वा क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणजघन्यस्थितिकलब्ध्यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पन्नः, उत्पत्तिस्थानं प्राप्याऽऽहारको चाभूत्, स चानन्तरभवेऽविग्रहेणैकेन्द्रियतयोत्पित्सुर्भवचरमान्तर्मुहूर्तेऽवशिष्टे सप्तानां संख्येयगुणवृद्धस्थितिबन्धं करोति, तदनन्तरं तु संख्येयगुणवृद्धस्थितिबन्धान् विहाय शेषस्वप्रायोग्याऽसंख्ययेभाग-संख्येयभागवृद्धि-संख्येयभागा-ऽसंख्येयभाग-संख्येयगुणहानिभिरवस्थितबन्धैश्च शेषमायुरनुभूयाऽवक्रगत्यैवैकेन्द्रियतयोत्पद्यते, तत्र च नानाभवैराहारकस्योत्कृष्टां कायस्थितिं निर्गमयति, यदा चाऽऽहारककायस्थितिः क्षुल्लकभवप्रमाणाऽवशिष्यति तदाऽसात्रायुःक्षयादृजुगत्या द्वीन्द्रियादितयोत्पद्यमानः सन् सप्तानां संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिं करोति, इत्थं तादृशजीवेन पूर्वं संज्ञिपञ्चेन्द्रियावस्थायां भवचरमान्तर्मुहूर्ते कृतायाः संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेस्तथोत्कृष्टाऽऽहारककायस्थितिं निर्गमय्य द्वीन्द्रियादिभवप्रथमसमयं निर्मितायाः संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेश्च यदन्तरं तदाहारकमार्गणायां सप्तानां संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेरुत्कृष्टान्तरतया प्राप्तम्, तच्च यद्यपि देशोनक्षुल्लकभवद्वयलक्षणेनैकदेशेनोनाऽऽहारकोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणम्, तथाऽपि वर्जनीयदेशस्य स्वल्पतया तमविवक्ष्य लाघवार्थमाहारकोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमेवाभिहितम् । एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवमेकदेशेनोनत्वमधिकत्वं वा स्वयमेव द्रष्टव्यम् ।

यथा हि सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेरुत्कृष्टमन्तरं भावितं तथा संख्येयगुणहानेरन्तरमपि भावनीयम्, केवलं प्रथमा हानिः क्षुल्लकभवस्थितिकसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यन्यतमरूपत्रसभवादनन्तरे एकेन्द्रियभवे भवप्रथमसमये द्रष्टव्या, आहारकोत्कृष्टकायस्थितिसम्बन्धिचरमभवे द्वीन्द्रियादितयोत्पादो न द्रष्टव्यः, किन्तु तत्स्थाने क्षुल्लकभवस्थितिकलब्ध्यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पादो द्रष्टव्यः, तत्र भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते गते एव संख्येयगुणहानिश्च द्रष्टव्या, न तु तदर्वागिति ।

संख्येयभागवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरेऽप्यनया दिशैव भावनीये, यत एकेन्द्रियाणां स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहानी इव संख्येयभागवृद्धिहानी अपि न भवतः, ततश्च सर्वं तद्वदुपपद्यत इति ।

अथ मार्गणान्तरेषु प्रकृतवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरमाह—"**होइ असंखपरट्टा**" इत्यादि, सप्तानां संख्येयगुण-संख्येयभागस्थितिबन्धवृद्धिहान्यन्तराण्युत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणानि भवन्ति । कासु मार्गणास्वित्याह—"**तिरिये**" त्यादि, तिर्यग्गत्योघ-काययोगसामान्य-नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिरूपास्वेकादशमार्गणास्वित्यर्थः । एतास्वपि प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमनन्तरोक्तनीत्यैवाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भावनीयम् , केवलमृजु-वक्रगत्यादिनोत्पादनिर्बन्धो न कार्यः, स्वस्थानतः परस्थानतो वा येषु भवेषु संख्येयगुण-संख्येयभागस्थितिबन्धवृद्धिहानयो नियमतो भाविन्यस्तादृशभवेष्वेकेन्द्रियकायस्थित्यसंख्येयपुद्गल-परावर्तान् यावदनुत्पादो द्रष्टव्यश्चेति ।

मार्गणान्तरेषु संख्यातगुणवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरमाह—"**होइ तिपणिंदि**" इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदेषु, द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनाद-पर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेदयोः स्त्रीवेद-पुरुषवेद-चक्षुर्दर्शन-मार्गणास्थानेषु चेत्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकं पुनः संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य प्रत्येक-मुत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वप्रमाणं भवति । कुतस्तावन्मात्रम् , न पुनरधिकम् ? इति चेद् , प्रत्येकं निरन्तरमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितया निर्बाधोत्कृष्टकालस्य पूर्वकोटीपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । इदमुक्तं **भवति**—पञ्चेन्द्रियतया निरन्तरसम्भवद्भवेषु यो जीवः प्रथमचरमभवद्वयं संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयाऽनु-भवति, मध्यमभवैस्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं पूरयति, तादृशजीवमपेक्ष्य प्रकृतोत्कृष्टान्त-रमुत्पद्यते । कुतः ? असंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवेषु स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहानीनामभावात् , उत्कृष्ट-स्थितिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवस्थितेः पूर्वकोटिप्रमाणत्वात् , असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतया निरन्तरं संख्येय-वारानेवोत्पत्तेः सम्भवाच्च । एवमेव त्रसकायौघादितत्तन्मार्गणामादायाऽपि वक्तव्यम् , केवलं तत्रा-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामिव चतुरिन्द्रियादीनामपि प्रवेशेनाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थाने चतुरिन्द्रियादयो-ऽपि वक्तव्याः । विस्तरभावना तु प्रागिव स्वयमेव कर्तव्येति ।।७६४-७६५-७६६।।

अथ शेषमार्गणासु सप्तानां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानीनां तथा सर्वमार्गणास्वसं-ख्यभागवृद्धिहान्योरुत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

सेसासु मुहुत्तंतो संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।
उक्कोसं सव्वासुं होइ असंखंसवड्ढिहाणीणं ।।७६७।। (गीतिः)

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, उक्तशेषासु यासु संख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धि-संख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिबन्धहानिलक्षणानि चत्वारि पदानि सद्भूतानि प्रतिपादितानि तासु

नरकत्योघादिष्वेकनवतिमार्गणासु तेषां चतुर्णां पदानां, तथोक्तशेषासु यासु संख्येयभागस्थितिबन्ध-वृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्यान्तरमद्यापि नाभिहितं तासु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघादिविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं तासां सप्तकर्मसत्कसंख्येयभागादिस्थितिबन्धवृद्धिहानीनामुत्कृष्टमन्तरं "**मुहुत्तंतो**" त्ति सुगमम् ।

तत्र निरयगत्योघाद्या द्विनवतिमार्गणास्तु नामत इमाः—ओघसहितत्वादष्टौ निरयभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदौ,काययोगसामान्यभेदवर्जाः सप्तदश योगभेदाः, अपगतवेद-कषाय-चतुष्क--मत्यादिज्ञानचतुष्क--विभङ्गज्ञान-संयमौघ--सामायिक--छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽवधिदर्शनकृष्णादिषल्लेश्याभेद-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक--क्षायोपशमिकौ--पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञिमार्गणाश्चेति । **तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघादिविंशतिमार्गणाः पुन-रिमाः**--तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-तिरश्ची-सर्वविकलेन्द्रियभेद-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ-तत्पर्याप्त-स्त्रीवेद-पुंवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुर्दर्शनानीति । एतासु प्रायः प्रत्येकं प्रकृततत्तद्वृद्धि-हानिसत्पदानां मार्गणागतसर्वजीवस्वामिकत्वात् कदाचिदवस्थानस्थितिबन्धाद्यादिलक्षणमन्तर्मुहूर्तं प्रस्तुतवृद्धिहानीनामप्रवर्तनाच्च तादृगन्तर्मुहूर्तं विहाय प्रत्यन्तर्मुहूर्तं तत्तद्वृद्धिहानयः परावृत्त्य परावृत्त्य नियमेन जायन्ते, इत्थं च प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरं संख्येयस्थितिबन्धप्रमाणं भवदप्यौघिकाऽसंख्य-भागवृद्धिहान्यन्तरवदन्तर्मुहूर्तादधिकं न भवति । अत्र प्रायोग्रहणमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणादौ कुत्रचित् तत्रप्रविष्टाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम् , अपर्याप्तत्रसकायौदारिककाययोगादिमार्गणासु तत्र-प्रविष्टद्वीन्द्रियादीनां तत्तत्संख्येयगुणवृद्ध्यादिस्वामित्वाभावात् । एवमपि तत्र प्रस्तुतान्तरम-न्तर्मुहूर्तमात्रं तु तादृशासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थाया उत्कृष्टत आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् , औदारिककाय-योगमार्गणायां त्वेकेन्द्रियाद्यवस्थाया दीर्घत्वेऽपि संख्येयगुणवृद्ध्यादिस्थितिबन्धं कृत्वैकेन्द्रियादि-तयोत्पत्तिमात्रेणौदारिककाययोगमार्गणाया विच्छेदेन तादृशावस्थायाः संख्येयगुणवृद्ध्यादिस्थिति-बन्धद्वयमध्यपतितत्वाभावादिति ।

अथ मार्गणास्थानेष्वेव सप्तानां शेषाऽसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः सत्पदयो-रुत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—"**उक्कोसं सव्वासु**" इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः,केवलं "**सव्वासु**" मित्यनेन कार्मणकाययोगा-ऽनाहारका-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमवर्जाः षट्षष्ट्यधिकशतमार्गणा ग्राह्याः । कुतः ? कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य सत्त्वे-ऽपि तयोः 'कम्मेऽणाहारे अंतरं णत्थि' इत्यनेन सम्भवत्सर्वविधवृद्धिहान्यन्तरस्यैव प्रतिषिद्धत्वात्, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमयोस्तु प्रकृतपदद्वयस्यैवाऽसत्त्वाच्चेति । भावना तु प्रत्येकमोघोक्तरीत्या यथासम्भवं स्वयमेव कर्तव्येति ॥७६७॥

तदेवं भणितमादेशतोऽपि तत्तत्पदानां नानाजीवाश्रयमन्तरम् । तथा च गतमन्तरद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे चतुर्थमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रिते भङ्गविचयद्वारे भङ्गविचयप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावद्भङ्गविचयोत्पत्तावुपयोगि तत्तद्वृद्ध्यादिबन्धकानां ध्रुवत्वादिकमोघत आह—

सत्तण्हं णियमाओ अत्थि असंखंमवड्ढिहाणीओ ।
णेया भयणीयाओ सेसाओ वड्ढिहाणीओ ॥७६८॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं णियमाओ**"इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**असंखंसवड्ढिहाणीओ**" त्ति प्रकृतत्वात्स्थितिबन्धविषयेऽसंख्यांशवृद्ध्यसंख्यांशहानी इति द्वे अपि "**णियमाओ अत्थि**" त्ति नानाजीवानाश्रित्य'नियमतः स्तः'-नियमेन विद्येते. न कदाचित्तयोर्बन्धकानामभाव इतिभावः। सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपि तत्स्वामित्वाद् द्वे अपि पदे ध्रुवे इति यावत्। "**णेया भयणीयाओ**" इत्यादि, 'सत्तण्ह'मित्यनुवर्तते, ततः सप्तप्रकृतीनां स्थितिबन्धविषयाः "**सेसाओ वड्ढिहाणीओ**" त्ति अनन्तरोपात्तशेषाः संख्येयगुणवृद्धिहानिसंख्येयभागवृद्धिहान्यसंख्यगुण-वृद्धिहानयो "**भयणीयाओ**" त्ति 'भजनीयाः'-भाज्या विकल्पयितव्या इत्यनर्थान्तरम्। एकेन्द्रियाणामतत्स्वामित्वाद्,एकेन्द्रियवर्जानां चासंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वात्प्रागुक्तनीत्यैतानि शेषाणि षट् पदान्यध्रुवाणि, कदाचित्तासां प्रत्येकं बन्धकाः सम्पद्यन्ते कदाचित्तु नेति। इत्थमेवोत्तरत्रापि सर्वेषां तत्तद्वृद्ध्यादिपदानां भजनीयाभजनीयत्वेऽपि तद्बन्धकानामेव तद् द्रष्टव्यम्, एकाऽनेकबन्धकजीवसम्बन्धिभिन्नभिन्नकाललभ्यभङ्गविचयस्याऽधिकृतत्वात्, बन्धस्य भजनीयाऽभजनीयत्वप्रदर्शनं पुनर्बन्धस्य बन्धकाविनाभावित्वेन बन्धकभजनीयाऽभजनीयत्वस्य तेनैव गम्यमानत्वाल्लाघवार्थमिति ॥७६८॥

तदेवमुक्तं भङ्गविचयोपयोगि सप्तानां स्थितिबन्धवृद्ध्यादेर्ध्रुवत्वादिकमोघतः। साम्प्रतं तदेवादेशतो मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअ-सेससुहुमेसु वणकाये ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसुं ॥७६९॥
पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।
कम्मण-णपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥७७०॥
अयता-ऽचक्खूसुं तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७७१॥ (गीतिः)

सत्तण्हं णायव्वा ओघव्व सगसगवड्ढिहाणीओ ।
सेसासु भयणीआ णेया सगड्ढिहाणीओ ॥७७२॥

(प्रे०) **"तिरिये सव्वेगिंदिये"**त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरं **"सगसगवड्ढि-हाणीओ"**इत्यत्र स्वपदेन तिर्यग्गत्योघादितत्तन्मार्गणा बोद्धव्येति। **भावार्थः पुनरयम्**—आयुर्वर्ज-सप्तप्रकृतीनामसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्धिहानिवर्जाः शेषत्रिविधा वृद्धयो हानयश्च यद्योघचिन्तायामप्य-ध्रुवा लभ्यन्ते, तदा मार्गणास्थानेषु का वार्ता । अर्थाद् येषु मार्गणास्थानेष्वसंख्यभागवृद्धिहानि-वर्जशेषषड्विधवृद्धिहानिषु यावन्त्यो वृद्धिहानयः **सत्पदद्वारे** सत्तया प्ररूपितास्तेषु मार्गणास्थानेषु तावन्त्योऽपि ता वृद्धिहानयोऽध्रुवा एव । अत एव **"णायव्वा ओघव्व"** इत्यनेन तिर्यग्गत्यो-घादिमार्गणासु, तथा **"भयणीआ णेया"** इत्यनेन तिर्यग्गत्योघादिमार्गणावर्जशेषमार्गणास्वपि तासां षड्विधवृद्धिहानीनां भजनीयत्वमेवोक्तम्। असंख्यभागवृद्धिहानिपदे तु यासु मार्गणास्वोघवद-संख्यलोकाकाशप्रदेशतुल्या अनन्ता वा जीवास्तास्वोघवद् ध्रुवे । तादृश्यो मार्गणास्तु **"तिरिये सव्वेगिंदिये"**त्यादिना नामत उपात्तास्तिर्यग्गत्योघाद्याश्चतुःषष्टिः, न पुनः शेषा नरकगत्योघादि-षडुत्तरशतमार्गणाः । अत एव तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु **"ओघव्व"**त्यनेनाऽसंख्यभागवृद्धिहान्यो-र्ध्रुवत्वमतिदिष्टम्, शेषमार्गणासु तु **"भयणीया णेया सगवड्ढिहाणीओ"**इत्यनेन संख्येय-भागादिवृद्धिहानीनामिवासंख्यभागवृद्धिहान्योरप्यध्रुवत्वमभिहितमिति ॥७६९-७७२॥

सप्तप्रकृतीनां स्थितिबन्धसत्कयोरवस्थाना-ऽवक्तव्यात्मकयोः द्वयोः सत्पदयोर्ध्रुवत्वादिकमा-युषः स्थितिबन्धसत्कयोर्द्वयोः सत्पदयोर्ध्रुवत्वादिकं च प्रागत्रैवाधिकारे **सत्पदद्वारे**—'भूगारव्वाउस्स उ संतपयाईसु दारेसु ॥भूओगारव्व भवेऽवत्तव्वत्तं तहा अवट्ठाणं। बंधस्स उ सत्तण्हं संतपयाईसु दारेसु'॥७२३॥ इत्यनेन **भूयस्काराधिकारोक्तप्ररूपणावदतिदेशद्वारेण** कथितम्, ततश्च **प्राग्भूयस्काराधिका-रोक्तभङ्गविचयोत्पादकान्यतरकरणेनैव** प्राग्वत्स्वयमेव भङ्गा उत्पादयितुं युज्यन्ते तथाऽपि स्वल्प-तरायासेनैव भङ्गोत्पादनायान्यत् किञ्चित् करणमाह—

अधुवपयस्स धुवजुआ तिविगप्पा एगऽणेगभेयाओ ।
पयवड्ढीए तिगुणा एगूणा हुन्ति धुवरहिया ॥७७३॥

(प्रे०) **"अधुवपयस्स"** इत्यादि, संख्येयगुणवृद्ध्यादिरूपस्यैकस्याऽध्रुवपदस्य **"धुवजुआ"** त्ति अन्येषामवस्थानादिध्रुवपदानां य एको 'ध्रुवभङ्गः'-ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गस्तेन युताः**"तिविगप्पा"** त्ति 'त्रिविकल्पाः'-त्रिभङ्गाः,भवन्तीति परेणान्वयः । कुतस्त्रयो भङ्गा इत्याह—**"एगऽणेगभेयाओ"** त्ति तस्यैकस्य संख्येयगुणवृद्ध्यादेरध्रुवत्वेन कदाचिदेकबन्धकस्य कदाचिदनेकबन्धकानां सद्भावात् ।

एकस्मादधिकेष्वध्रुवपदेषु पुनः कियन्तो भङ्गाः स्युरित्याह—**"पयवड्ढीए तिगुणा"** त्ति

तेऽनन्तरपदप्राप्ता भङ्गाः प्रत्येकाध्रुवपदवृद्धौ त्रिगुणाः, भवन्तीति परेणान्वयः। अर्थात्-यत्र द्वे पदे अध्रुवे तत्रैकस्याध्रुवपदस्य वर्धनादनन्तरप्राप्तास्त्रयो भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तो (३×३=९) नव भङ्गा भवन्ति, तेऽपि प्राग्वदेकेन ध्रुवभङ्गेन सहिता एव बोद्धव्याः। यत्र त्रीणि पदान्यध्रुवाणि तत्र तेऽनन्तरप्राप्ता नव भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (९×३=२७) सप्तविंशतिर्भवन्ति, अमी अपि ध्रुवभङ्गसहिता एव ज्ञातव्याः, एवमुत्तरत्रापि। पुनरपि पदवृद्धौ यत्र चत्वार्यध्रुवपदानि तत्र तेऽनन्तरप्राप्ताः सप्तविंशतिर्भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः(२७×३=८१) एकाशीतिर्भवन्ति। पुनरपि पदवृद्धौ यत्र पञ्चाऽध्रुवपदानि तत्र तेऽनन्तरप्राप्ता एकाशीतिर्भङ्गास्त्रिगुणाः सन्त-(८१×३=२४३) स्त्रिचत्वारिंशदभ्यधिकशतद्वयं भवन्ति। पुनरपि पदवृद्धया यत्र षट् पदानि भाज्यानि तत्र'**पयवड्ढीए तिगुणा**'इति वचनात् तेऽनन्तरप्राप्तास्त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतद्वयभङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (२४३×३=७२९) एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतानि भवन्ति। यत्र पुनः सप्त पदानि भजनीयानि तत्र पुनरपि पदस्य वर्धनात् तेऽनन्तरप्राप्ता एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतभङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (७२९×३=२१८७) सप्ताशीत्यभ्यधिकशतान्वितसहस्रद्वयं भङ्गा भवन्ति। यत्र त्वष्टौ पदानि भजनीयानि तत्र पुनरपि पदस्य वृद्धेस्तेऽनन्तरप्राप्ता भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (२१८७×३=६५६१) एकषष्ट्यभ्यधिकपञ्चशतान्वितषट्सहस्राणि। ततः पदवृद्धौ यत्र भाज्यपदानि नव तत्रोक्तनीत्या (६५६१×३=१९६८३) त्र्यशीतियुतषट्शतान्वितैकोनविंशतिसहस्राणि भङ्गा जायन्ते। पुनरपि भाज्यपदवृद्धया यत्र भाज्यपदानि दश तत्र (१९६८३×३=५९०४९) एकोनपञ्चाशदधिकैकोनषष्टिसहस्राणि भङ्गाः प्रभवन्ति। इत्थमेवोत्तरत्रापि प्रतिभजनीयपदवृद्धौ यथोत्तरं त्रैगुण्यं द्रष्टव्यम्, अस्माभिस्तु प्रकृतोपयोग्येवाभिहितम्।

एते सर्वे भङ्गा ध्रुवपदसद्भावापेक्षयाऽभिहिताः, यद्येकमपि ध्रुवपदं न स्यात्तदा ते कियन्तः स्युरित्येतदपि दर्शयन्नाह-"**एगूणा हुन्ति धुवरहिआ**"त्ति 'ध्रुवरहिताः'-ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गेन रहिताः, ध्रुवपदाभावे केवलाध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गा इति भावः। 'एकोनाः'-एकभङ्गेनोना भवन्ति। यत्र यावन्तो ध्रुवाध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गास्तत्र तेष्वेको ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गः; तेन ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गेनोनाः शेषाः सर्वेऽध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गा इति भावः। **तद्यथा**-एकपदेऽध्रुवे ध्रुवाध्रुवपदनिष्पन्नास्त्रयो भङ्गा उक्ताः, अतस्तत्रैको ध्रुवपदनिष्पन्नो भङ्गः, द्वौ पुनरध्रुवपदनिष्पन्नौ भङ्गौ। यत्र तु द्वे पदे अध्रुवे तत्र ध्रुवाध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गा नवोक्ताः, तेष्वेको ध्रुवपदनिष्पन्नो भङ्गः, अष्टौ त्वध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गाः। अतो यत्र न स्यादेकमपि ध्रुवपदं तत्रैकं भङ्गं विरहय्य द्वयादयो भङ्गा एव द्रष्टव्या इति भावः। इत्थमेवोत्तरत्रापि त्रि-चतुः-पञ्चाद्यध्रुवपदेषु योज्यमिति।

अथास्य प्रकृते योजना क्रियते-ओघतः सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमसंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे ध्रुवे अभिहिते, शेषाणि संख्येयभागवृद्धिहानिसंख्येयगुणवृद्धिहान्यसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट पदानि पुनरध्रुवाणि दर्शितानि; द्वे पदे तु प्राग्विहितातिदेशलब्धे, तत्राऽवस्थानलक्षण-

मेकं पदं ध्रुवम्, अवक्तव्यलक्षणमेकं पदं त्वध्रुवम्, इत्थं ह्योघप्ररूपणायां त्रीणि पदानि ध्रुवाणि, सप्त पदानि त्वध्रुवाणि, ततश्चोक्तकरणानुसारेण ध्रुवभङ्गरहिताः षडशीत्यभ्यधिकशतोत्तरसहस्रद्वयभङ्गा जाताः तत्र ध्रुवपदत्रयसत्कयेकभङ्गे प्रक्षिप्ते जाताः सर्वेऽपि (२१८७) सप्ताशीत्यभ्यधिकशतोत्तरसहस्रद्वयभङ्गा आयुर्वर्जज्ञानावरणादेः प्रत्येकमेकानेकवृद्धयादिबन्धकनिष्पन्ना इति ।

ओघत आदेशतश्च आयुर्विषये तु सर्वथैव भूयस्काराधिकारोक्तभङ्गविचयप्ररूपणावद्भङ्गा द्रष्टव्याः। तद्यथा–ओघत एक एव भङ्गः । कुतः ? असंख्यभागहान्यवक्तव्यस्थितिबन्धलक्षणस्य पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वात्, तदन्यपदस्यैवाभावाच्च । आदेशतोऽपि यासु मार्गणास्वसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यास्तदधिका वा जीवाः सन्ति तासु तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणास्वोघवदेक एव भङ्गः । यासु पुनरुक्तापेक्षया स्तोकजीवास्तासु नरकगत्योघादिष्वेकोत्तरशतमार्गणासु तु पदद्वयस्याप्यध्रुवत्वाद् ध्रुवपदस्याभावाच्चोक्तकरणेना-(३×३=९–१=८)ऽष्टौ भङ्गाः प्राग्वज्ज्ञेयाः ।

आदेशतः सप्तप्रकृतीनां तु प्रत्येकं नरकगत्योघमार्गणाभेदे उक्तकरणानुसारेण (७२९) एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतानि भङ्गा निष्पद्यन्ते, तत्रैको ध्रुवपदनिष्पन्नः शेषास्त्वध्रुवपदजाः । कुतः ? असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां षट्पदानामध्रुवत्वात्, अवस्थानलक्षणस्यैकपदस्य ध्रुवत्वाच्च। इत्थमेव सप्तसु शेषनरकभेदेषु, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणयोः, वैक्रियकाययोग-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाभेदेष्वित्येतासु नरकौघभेदसहितासु पञ्चाशन्मार्गणासु विज्ञेयम् । कुतः ? प्रत्येकमुक्तषड्विधपदानामध्रुवत्वादुक्तैकपदस्य ध्रुवत्वाच्चेति ।

तिर्यग्गत्योघमार्गणायां पुनः संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां पदानामध्रुवत्वात्, असंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरवस्थानपदस्य च ध्रुवत्वा–(८१) देकाशीतिर्भङ्गाः प्राप्यन्ते, एतेष्वप्येको ध्रुवः, शेषास्त्वध्रुवाः । यथा तिर्यग्गत्योघमार्गणायां तथैवौदारिकमिश्रकाययोग–कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान–श्रुताज्ञाना–ऽसंयम–कृष्णलेश्या-नीललेश्या–कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकभेदात्मकासु द्वादशमार्गणास्वपि ध्रुवाध्रुवपदानां तथात्वात् सप्तप्रकृतिस्थितिबन्धस्य वृद्धयादेरेकानेकबन्धकनिष्पन्ना एकाशीतिर्भङ्गा बोद्धव्याः ।

मनुष्यगत्योघमार्गणायां त्वसंख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानामष्टानां पदानामवक्तव्यपदस्य चेत्येवं नवानां पदानामध्रुवत्वम्, अवस्थानलक्षणस्यैकपदस्य ध्रुवत्वं च, तत उक्तकरणानुसारेण (१९६८३) त्र्यशीत्यभ्यधिकषट्शतान्वितैकोनविंशतिसहस्राणि भङ्गकाः समुत्पद्यन्ते, अत्राप्येको ध्रुवः, शेषा अध्रुवा इति । इत्थमेवाऽपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोः, द्वयोस्त्रसकायभेदयोः, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचनयोगभेदेषु, चतुर्षु मत्यादिज्ञानभेदेषु, संयमौघ-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या–सम्यक्त्वौघ–क्षायिकसम्यक्त्व–संज्ञिमार्गणाभेदेष्वित्ये-

तेषु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेष्वपि त्र्यशीत्युतरषट्शतान्वितैकोनविंशतिसहस्राणि (१९६८३) भङ्गा बोद्धव्याः । कुतः ? उक्तनवपदानामत्राप्यध्रुवत्वात्, अवस्थितपदस्य ध्रुवत्वाच्चेति ।

अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदान्यवस्थानलक्षणमन्यदेकं पदं चेत्येवं सप्त पदान्यध्रुवाणि, ततः(२१८६)षडशीतियुतशताभ्यधिकसहस्रद्वयं भङ्गा लभ्यन्ते, ते च सर्वेऽध्रुवपदनिष्पन्ना बोद्धव्याः । कुतः ? प्रकृते एकस्यापि ध्रुवपदस्याऽसत्त्वेनैकरूपस्य वियोज्यत्वात् । एकरूपे वियोजिते तु शेषा अध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गा एव भवन्ति, "एगूणा हुन्ति धुवरहिआ" इति वचनात् । इत्थमेव वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोग-परिहारविशुद्धिकसंयम-सासादन-मिश्रदृष्टिरूपास्वन्यासु षण्मार्गणास्वपि विज्ञेयम् । कुतः ? एतासु प्रत्येकमुक्तसप्तपदानामध्रुवत्वात्, ध्रुवपदस्याभावाच्चेति ।

सप्तैकेन्द्रियमार्गणाभेदाः, सप्त साधारणवनस्पतिकायमार्गणाभेदाः, शेषद्वादशसूक्ष्मपृथिवीकायादिभेदाः, वनस्पतिकायौघभेदः, पृथिव्यादिवायुकायान्ताश्चत्वार ओघभेदाः, तेषामेव चत्वारो बादरौघजीवभेदाः, चत्वारोऽपर्याप्तबादरपृथिव्यादिभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ चेत्येतास्वेकचत्वारिंशन्मार्गणासु पुनः सप्तप्रकृतीनामसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे, अवस्थानलक्षणमेकमिति त्रीणि पदान्येव सन्ति, तानि च त्रीण्यपि ध्रुवाणि, ततो ध्रुवपदनिष्पन्न (१) एको भङ्ग एव प्रत्येकं प्राप्यत इति ।

विकलेन्द्रियमन्केषु नवमार्गणास्थानेषु प्रत्येकमसंख्येयभाग-संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणानि चत्वारि पदान्यध्रुवाणि, एकमवस्थितपदं च ध्रुवम्, तत उक्तरीत्या सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिबन्धवृद्ध्यादेरेकानेकबन्धकनिष्पन्ना (८१) एकाशीतिर्भङ्गा उत्पद्यन्ते ।

बादरपर्याप्तपृथिवीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकायभेदाः पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदश्चेत्येतासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकं पुनः सध्रुवा (९) नवैव भङ्गा उक्तरीत्या लभ्यन्ते । कुतः ? असंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरध्रुवत्वात्, अवस्थानलक्षणस्यैकपदस्य ध्रुवत्वाच्च ।

काययोगसामान्यमार्गणाभेदे संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदानि, अवक्तव्यपदं चेत्येतानि सप्तपदान्यध्रुवाणि, असंख्येयभागवृद्धिहानी लक्षणे द्वे पदे अवस्थितपदं चेति त्रीणि ध्रुवाणि, ततो भङ्गका अप्युक्तनीत्या सप्ताशीत्यभ्यधिकशतान्वितसहस्रद्वयं (२१-८७) प्राप्यन्ते, तत्रैको ध्रुवः, शेषा अध्रुवा इति प्राग्वदवसातव्याः । यथा काययोगसामान्यमार्गणास्थाने तथौदारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणास्थानेष्वप्युक्तसप्तपदानां भजनीयत्वादुक्तपदत्रयस्याभाज्यत्वाच्च (२१८७) सप्ताशीत्यभ्यधिकशतोत्तरसहस्रद्वयं भङ्गका ज्ञेयाः ।

स्त्रीवेद-पुरुषवेद-सामायिकसंयमलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु तु प्रत्येकमसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणान्यष्टौ पदानि भाज्यानि, अवस्थितपदं च ध्रुवमिति-

कृत्वा भङ्गा (६५६१) एकषष्ट्यभ्यधिकपञ्चशतोत्तरषट्सहस्राण्युत्पद्यन्ते, एतेऽपि प्राग्वत्सम-ध्रुवा ज्ञेयाः ।

नपुंसकवेदमार्गणायां चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येय-गुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदानि भाज्यानि, असंख्येयभागवृद्धिहानी अवस्थितपदं चेति पदत्रयं ध्रुवम्, ततः समस्ता भङ्गका एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतानि (७२९) प्राप्यन्ते ।

अपगतवेदमार्गणायां पुनर्ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्माण्यधिकृत्याष्टाविंशत्यभ्यधिक-सप्तशतानि (७२८) भङ्गाः प्राप्यन्ते । कुतः ? संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णा-मवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणयोर्द्वयोरित्येतेषां षण्णां पदानामध्रुवत्वात्, ध्रुवपदस्याभावाच्च । वेदनीय-नाम-गोत्रकर्माण्याश्रित्य प्रत्येकं पुनः संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट्, पूर्ववदवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणे द्वे इत्येवमष्टौ पदान्यध्रुवाणि, ध्रुवपदाभावश्च, ततो भङ्गका अपि (६५६०) षष्ट्यभ्यधिकपञ्चषष्टिशतान्यवाप्यन्ते । प्रकृतमार्गणायामेव मोहनीयकर्माधिकृत्य संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे, अवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणे द्वे इति चत्वारि पदान्यध्रुवाणि, प्राग्वद् ध्रुवपदाभावश्च; ततो भङ्गका (८०) अपि सर्वेऽशीतिर्भवन्ति । अमी गतवेदमार्गणायां दर्शिताः सर्वे भङ्गा अध्रुवपदनिष्पन्ना एव । कुतः ? ध्रुवपदस्याभावादिति ।

छेदोपस्थापनसंयममार्गणायामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धि-हानि-लक्षणान्यष्टौ पदान्यवस्थितपदं चेति नवापि पदान्यध्रुवाणि, ध्रुवपदाभावश्च, ततः सप्तानां कर्मणां प्रत्येकमेकानेकबन्धकनिष्पन्नभङ्गा (१९६८२) द्व्यशीत्यभ्यधिकषट्शतान्वितैकोनविंशतिसहस्रा-ण्युत्पद्यन्ते, ते च ध्रुवरहिता अध्रुवा एव मन्तव्याः, प्रकृत एकस्यापि ध्रुवपदस्याऽसत्त्वादिति ।

सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां संख्येयभागस्थितिबन्धवृद्धिहानी तथाऽवस्थितस्थितिबन्ध इत्येतेषां त्रयाणां सत्पदानामध्रुवत्वात्, ध्रुवपदस्याभावाच्च भङ्गविचयेऽपि ध्रुवभङ्गरहिताः (२६) षड्विंशतिभङ्गकाः सम्पद्यन्ते ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिबन्धवृद्ध्यादेः कालभेदेनैकानेक-बन्धकसद्भावप्रयुक्ता भङ्गका दर्शितरीत्याऽष्टचत्वारिंशदभ्यधिकैकोनषष्टिसहस्राणि (५९०४८) जायन्ते, ते च सर्वेऽध्रुवा एव मन्तव्याः । कुतः ? असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्ये-यगुणवृद्धिहानिलक्षणानामष्टानां पदानामवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरित्येवं दशानामपि सत्पदानामध्रुवत्वात्, तदन्यपदस्यैवाऽभावाच्चेति ॥७७३॥

तदेवं दर्शितस्तत्तद्वृद्ध्यादिबन्धकानां ध्रुवा-ध्रुवत्वं प्रदर्श्य भङ्गोत्पादकरणप्रदर्शनद्वारेण भङ्ग-विचयः, तस्मिंश्च दर्शिते गतं पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्ध्यधिकारे पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रये भागद्वारे सप्तप्रकृतिसत्कतत्तत्स्थितिबन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां बन्धकभागान् चिकथयिषुरादौ तावदोघत आह—

भागो असंखियतमो अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्ह बंधगा खलु अणंतभागो उ सेसाणं ॥ ७७४ ॥

(प्रे०) "**भागो असंखियतमो**" इत्यादि, आयुर्विषययोः स्थितिबन्धहान्यवक्तव्ययोर्बन्धकभागानां प्राक् प्रकृताधिकारप्रारम्भे **सत्पदद्वार** एव भूयस्काराधिकारवदतिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां शेषाणां "**सत्तण्ह**" त्ति सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम् "**असंखंसवड्ढिहाणीणं**" ति स्थितिबन्धविषययोरसंख्यांशवृद्धिहान्योः प्रत्येकम् "**बंधगा खलु**"त्ति 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । "**भागो असंखियतमो अत्थि**" त्ति सर्वबन्धकानामसंख्येयतमो भागः, असंख्याततमैकभागप्रमाणाः सन्ति । कुतः ? उच्यते, सप्तप्रकृतीनामवस्थानस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्यासंख्येयसमयत्वात् तद्बन्धकाः सर्वबन्धकानामसंख्येयबहुभागप्रमाणाः सन्ति । तदन्यासां सर्वविधवृद्धिहानीनां समुदितोऽप्येकजीवाश्रय उत्कृष्टकालः संख्येयसमयमात्रः, स चावस्थानकालापेक्षयाऽसंख्येयभागप्रमाणः, अतः स्वल्पकालसमुच्चिताः सर्वविधवृद्धिहानीनां बन्धकाः समस्ता अपि सर्वबन्धकानामेकमसंख्येयतमं भागं पूरयन्ति । तेषु च शेषबन्धकेष्वसंख्यभागवृद्धि-हान्योरेव स्वामिन एकेन्द्रियाः, न पुनरन्यासां वृद्ध्यादीनाम् , अतः शेषबन्धकेष्वनन्ता बन्धका असंख्येयभागवृद्धि-हान्योर्भवन्ति, संख्येयभागवृद्ध्यादीनां तु समुदिता अप्यसंख्येया एव । इत्थं ह्यसंख्यभागवृद्धि-हान्योरेकेन्द्रियस्वामिकत्वात् , तयोरेकजीवाश्रयबन्धकालस्याऽवस्थितबन्धैकजीवाश्रयकालापेक्षयाऽसंख्येयैकभागमात्रत्वाच्च तयोर्बन्धका अपि सर्वबन्धकानामसंख्येयैकभागप्रमाणा लभ्यन्त इति ।

"**अणंतभागो उ सेसाणं**"ति तुशब्दः पुनरर्थः पूर्वापेक्षया प्रकृते वैलक्षण्यद्योतनपरः । शेषाणां संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धि-हानीनां प्रत्येकं पुनरनन्तभागः, सर्वबन्धकानामनन्ततमैकभागवर्तिन इत्यर्थः, बन्धका इति गम्यते । पूर्वं त्वसंख्यतमैकभागवर्तिन उक्ताः, अत्र त्वनन्ततमैकभागवर्तिन इत्यनयोर्विलक्षणता । यद्वा तुशब्दः शेषषड्विधवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धकानामनन्ततमैकभागवर्तित्वेऽपि स्वस्थाने नानात्वद्योतनपरः, अतोऽनन्ततमैकभागवर्तिनोऽप्येते प्रत्येकं न तुल्या एव, किन्तु परस्परं हीनाधिका वर्तन्त इत्यर्थः । एतच्चाऽल्पबहुत्वप्रदर्शनेन स्फुटीभविष्यति । अनन्ततमैकभागवर्तित्वं त्ववस्थानाऽसंख्यभागवृद्धिहानीनामेकेन्द्रियस्वामिकत्वे सति प्रकृतषड्विधवृद्धिहानीनां तत्स्वामित्वाभावाद् बोद्धव्यमिति ॥ ७७४ ॥

कृतौघतः सप्तकर्मणां शेषाष्टविधस्थितिबन्धवृद्धिहानीनां बन्धकविषया भागप्ररूपणा । सम्प्रति मार्गणास्थानेषु तां कुर्वन्नाह—

तिरिये वणप्फइम्मि य सव्वेगिंदियणिगोअगेसुं य ।
काय-उरालदुगेसुं कम्म-णपुम-चउकसायेसुं ॥ ७७५ ॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-अपसत्थ-लेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७७६॥
सत्तण्ह असंखंसो अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
णेयो अणंतभागो सेसाणं वड्ढिहाणीणं ॥७७७॥

प्रे०) "**तिरिये वणप्फइम्मि ये**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, वनस्पतिकायौघे । चशब्दः समुच्चये । सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वेकेन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु निगोदवनस्पतिभेदेषु । "**णिगोअगेसुं य**"इत्यत्र कः स्वार्थिकः, चस्तु प्राग्वत् । तथा काययोगसामान्यौ-दारिकतन्मिश्रकाययोगमार्गणासु, कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्केषु मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वयरूपेऽज्ञानद्विके, "**अयते**" त्ति असंयममार्गणायां, तथाऽचक्षुर्दर्शना-प्रशस्तकृष्णादित्रिलेश्या-भव्यमार्गणासु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः, असंज्ञ्या-ऽऽहारि-तदितराऽनाहारिमार्गणास्वित्येतास्वष्टत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**सत्तण्ह**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां "**असंखंसवड्ढिहाणीणं**" ति असंख्यांशवृद्धिहान्योः "**असंखंसो अत्थि**" त्ति सर्वबन्धकानाम् 'असंख्यांशः'-असंख्यतमैकभागप्रमाणाः सन्ति, बन्धका इति गम्यते । "**सेसाणं वड्ढिहाणीणं**" ति प्रकृताष्टत्रिंशन्मार्गणास्वेवानन्तरोक्ताऽसंख्यभागवृद्धिहानी विवर्ज्य शेषाणां तत्तन्मार्गणोक्तवृद्ध्यादिसत्पदानामित्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति–अनन्तरोक्ताऽसंख्यभागवृद्धिहानी परिहृत्य यस्यां मार्गणायां यस्य कर्मणो यावन्ति वृद्धिहानिमत्पदान्यवशिष्यन्ते, यथा तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगा-ऽज्ञानद्वया-ऽसंयम–कृष्णादिलेश्यात्रया–ऽभव्य–मिथ्यात्वा-ऽनाहारकमार्गणासु संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिपदानि, काययोगौ-दारिककाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिपदानि, तावतां सर्वेषामवशिष्टवृद्धिहानिपदानाम् । तेषां किम् ? "**णेयोऽणंतभागो**" त्ति अनन्ततमैकभागप्रमाणा ज्ञेयाः, बन्धका इत्युभयत्रानुवृत्त्या द्रष्टव्यम् । भावना पुनः सर्वास्वौघिकभावनानुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्या । ओघवदेतास्वपि प्रत्येकमनन्तानां जीवानां सद्भावादिति भाव इति ॥७७५-७७६-७७७॥

अथ संख्येयजीवराशिकेषु मार्गणास्थानेष्वाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणपज्जव-जइ-समइअ-छेअग-परिहार-सुहुमेसुं ॥७७८॥

सत्तण्ह संखभागो सव्वाण सगसमवड्ढिहाणीणं ।

(प्रे०) "पज्जमणुस" इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदयोः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगाऽपगतवेदमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं "सत्तण्ह" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मौलकर्मणाम् "सव्वाण सगसगवड्ढिहाणीणं" त्ति अत्र स्वपदेन तत्तन्मार्गणाया विवक्षितत्वात् पर्याप्तमनुष्यादितत्तन्मार्गणासम्बन्धिन्यो यावत्यो वृद्धिहानयस्तासां "सव्वाण" त्ति सर्वासाम् । किमित्याह–"संखभागो" त्ति बन्धकास्तत्तन्मार्गणागतसर्वस्थितिबन्धकानां 'संख्येयभागः'-संख्येयतमैकभागवर्तिन इत्यर्थः । कुतः ? अवस्थानबन्धकानां संख्येयबहुभागगतत्वेन तदन्य एते संख्येयैकभागप्रमाणा एव भवन्तीति ॥७७८॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकभागानाह—

सेसासु बंधगा खलु णेया भागो असंखयमो ॥७७९॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, उक्तशेषासु विंशत्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । तत्र किमित्याह–"णेया भागो असंखयमो" त्ति 'सव्वाण सगसगवड्ढिहाणीणं' इत्यस्य डमरुकमणिन्यायेनात्रापि योजनात्, सप्तप्रकृतीनां शेषतत्तन्मार्गणासम्भविस्थितिबन्धवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धका असंख्यतमैकभागप्रमाणा ज्ञेया इत्यर्थः । शेषमार्गणा नामत इमाः–अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद् देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियजातिभेदाः, सप्त पृथिवीकायभेदाः, एवं सप्ताप्कायभेदाः, सप्त तेजस्कायभेदाः, सप्त वायुकायभेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रियवैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकं बन्धकजीवा असंख्येयाः, तत्राप्यवस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकानामसंख्येयबहुभागगतत्वेन सम्भवत्सर्वविधवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धकाः प्रागुक्तनीत्याऽसंख्येयैकभागप्रमाणा एव प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति ॥७७९॥

तदेवं कथिता मार्गणास्थानेष्वप्यतिदिष्टशेषसप्तप्रकृत्यसंख्येयभागवृद्ध्यादिसत्पदानां बन्धकभागाः । तथा च सति गतं षष्ठं भागद्वारम् ॥

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्ध्यधिकारे षष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ परिमाणद्वारे मूलप्रकृतिस्थितिबन्धवृद्ध्यादेर्बन्धकानामुत्कृष्टपदगतं परिमाणं प्रादुश्चिकीर्षुरादौ तावदोघत आह—

अह बंधगा अणंता अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्ह असंखेज्जा दुविहाणं वड्ढिहाणीणं ॥७८०॥

(प्रे०) "अह बंधगा अणंता" इत्यादि, अथशब्द आनन्तर्ये, भागप्ररूपणाऽनन्तरं परिमाणप्ररूपणायामिति तदर्थः । तत्र किमित्याह—"बंधगा अणंता अत्थि" त्ति मार्गणास्थानान्यनधिकृत्य सामान्यतो बन्धका अनन्ताः सन्ति । कस्याः कस्या इत्याह—"असंखंसवड्ढिहाणीणं सत्तण्ह" त्ति आयुःकर्मणः स्थितिबन्धहान्यवस्थानयोर्बन्धकानां परिमाणस्य सत्पदद्वार एवातिदिष्टत्वात्तच्छेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां मूलकर्मणामसंख्यांशवृद्धिहान्योः प्रत्येकम् । साधारणजीवानामपि तत्स्वामित्वादिति भावः । "असंखेज्जा" त्ति असंख्येया बन्धकाः सन्ति । कासामित्याह—"दुविहाणं वड्ढिहाणीणं" ति असंख्यगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकपरिमाणस्यानन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् संख्येयगुण-संख्येयभागलक्षणयोः शेषद्विविधवृद्धिहान्योरित्यर्थः । आयुर्वर्जसप्तकर्मणामित्यनुवर्तते । सुगमं चैतत्, यत आसां संख्येयगुणवृद्धिहानि-संख्येयभागवृद्धिहानीनां स्वामिन एकेन्द्रियवर्जजीवाः, ते चाऽसंख्येया इति ॥७८०॥

अथोक्तशेषयोरसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकानामुत्कृष्टपदगतपरिमाणमोघतो दिदर्शयिषुर्लाघवार्थं सममेवादेशतोऽपि प्रतिपादयन्नाह—

सत्तण्हं संखेज्जा अत्थि असंखगुणवड्ढिहाणीणं ।
जासु खलु बंधगा सिं तासु ते अत्थि संखेज्जा ॥७८१॥

(प्रे०) "सत्तण्हं संखेज्जा" इत्यादि, प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां प्रत्येकम् "असंखगुणवड्ढिहाणीणं" ति असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकं "संखेज्जा अत्थि" त्ति संख्येयाः सन्ति, बन्धका इत्यनुवर्तते । सुगमम्, श्रेणिगतान् तत्र वाऽऽयुःक्षयाच्च्युत्वा देवभवप्रथमसमयस्य वेदकान् जीवान् विवर्ज्याऽन्येषां केषाञ्चिदधिकृतवृद्धिहान्योरसम्भवात्, श्रेणिगतानां ततश्च्युत्वा देवभवप्रथमसमये वर्तमानानां च कस्मिँश्चिदपि समये संख्येयानामेव लाभाच्चेति ।

अथ लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वपि प्रकृतासंख्यगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकपरिमाणमादावेवाह—"जासु खलु" इत्यादि, तत्र खलुशब्दोऽवधारणे, स च "तासु" इत्यस्योत्तरं योज्यस्ततो यासु मार्गणासु "बंधगा सिं" ति तयोरनन्तराभिहितयोः सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योर्बन्धकाः "अत्थि" त्ति 'सन्ति'-विद्यन्ते, तासु मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चे-

न्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगौ-दारिककाययोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनामपगतवेदमार्गणायां च वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणामेव 'ते'-प्रस्तुतवृद्धिहानिबन्धकाः **"संखेज्जा"** त्ति सुगमम् । ओघतः संख्येयानां लाभे मार्गणासु तदधिकानामसम्भव एवेति भावः ॥७८१॥

अथोक्तशेषवृद्धिहानीनां बन्धकपरिमाणं दिदर्शयिषुराह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणपज्जव-जइ-समइअ-छेअग-परिहार-सुहुमेसुं ॥७८२॥
सत्तण्हं संखेज्जा णेया सगसेसवड्ढिहाणीणं ।
सेसासु असंखेज्जा संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ॥७८३॥ (गीतिः)

(प्रे०) **"पज्जमणुसमणुसीसु"** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येवं द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं **'सत्तण्ह'** त्ति प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां **"सगसेसवड्ढिहाणीणं संखेज्जा णेया"** त्ति स्वपदेन प्राग्वन्मार्गणाया विवक्षितत्वात् 'स्वकानां'-पर्याप्तमनुष्यादितत्तन्मार्गणामन्कानां 'शेषवृद्धिहानीनाम्'-अनन्तरोक्तासंख्यगुणवृद्धिहानी विवर्ज्य यत्र ज्ञानावरणादेर्यावन्ति वृद्धिहानिपदानि सत्पदद्वारे नक्कूतानि प्रतिपादितानि तत्र तेषां सर्वेषां वृद्धिहानिसत्पदानां संख्येया ज्ञेयाः, बन्धका इति गम्यते ।

अयम्भावः—एतासु पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयानामेव जीवानां सद्भावादपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमवर्जशेषमार्गणासु ज्ञानावरणादीनां सप्तानामसंख्येयभाग-संख्येयभागा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां षण्णां सत्पदानां बन्धकाः संख्येयाः, अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणदर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां सत्पदानाम् , मोहनीयस्य संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः सत्पदयोस्तथा वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां तु संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां शेषसत्पदानां संख्येयाः । अत्र वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणामसंख्येयगुणवृद्धि-हानिलक्षणयोर्द्वयोस्सत्पदयोरपि बन्धकाः संख्येया एव सन्ति, नवरं ते प्रागेव 'सत्तण्हं संखेज्जा अत्थि असंखगुणे' इत्यादिगाथोत्तरार्धेनाभिहिता इत्यतोऽत्र पुनर्न परिगणिताः, उक्तशेषपदानां बन्धकपरिमाणस्यात्र भणनीयत्वात् । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः सत्पदयोः प्रत्येकं संख्येया बन्धकाः सन्तीति ।

"सेसासु" त्ति अनन्तरोक्तद्वादशमार्गणा विवर्ज्य शेषासु मार्गणासु सप्तकर्मणां **"संखिय-भागगुणवड्ढिहाणीणं"** ति संख्येयशब्दस्य भागगुणयोः प्रत्येकं योजनात्संख्येयभागसंख्येय-गुणवृद्धिहानिलक्षणचतुःपदानां **"असंखेज्जा"** त्ति बन्धका असंख्येयाः । **अयम्भावः**—उक्तचतुः-पदानां स्वामिन एकेन्द्रियवर्जजीवा एव, ते चासंख्या इतिकृत्वाऽसंख्येयजीवराशिकास्वनन्तजीवराशि-कासु च मार्गणासु यत्रैतेषामन्यतमपदानामस्तित्वं तत्र तेषां बन्धका अप्यसंख्येया एव लभ्यन्ते ।

तद्यथा—नरकगत्योघादिचतुस्त्रिंशत्युत्तरशतमार्गणासु यथासम्भवं ज्ञानावरणादेस्तत्तत्कर्मणः संख्यानभागवृद्धिहानिपदे सद्भूते उक्ते । तत्र पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु जीवानामेव संख्येयत्वा-त्तासु तयोर्बन्धका अप्यनन्तरमेव संख्येया अभिहिताः, अतस्ताः द्वादशमार्गणा विवर्ज्य शेषासु द्वादशोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं संख्यातभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयाः । संख्यातगुणवृद्धिहानी तु विकलेन्द्रियसत्कनवमार्गणास्वपि न भवतः, अतो द्वादशोत्तरशतमार्गणाभ्यस्ता विकलेन्द्रियसत्क-नवमार्गणाः परिहृत्य शेषासु त्र्युत्तरशतमार्गणास्वेव तयोर्बन्धका असंख्येया ज्ञेया इति ।७८२-७८३।

अथोक्तपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणा विहाय शेषासु सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योर्बन्धकानां परिमाणं प्रकटयन्नाह—

तिरिये वणप्फइम्मि य सव्वेगिंदियणिगोअकायेसुं ।
उरलदुग-कम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥७८४॥
अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-अपसत्थलेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७८५॥
सत्तण्ह खलु अणंता अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
सेसासु बंधगा सिं जाणयव्वा असंखेज्जा ॥७८६॥

(प्रे०) **"तिरिये"** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे, वनस्पतिकायौघे, चः समुच्चये, सर्वशब्दस्यै-केन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियजातिभेद-सर्वनिगोदवनस्पतिभेद-काययोगौघेषु, औदारिकौदारिकमिश्र-कार्मणकाययोगेषु, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानद्वये, असंयममार्गणायाम्, अचक्षुर्दर्श-ना-ऽप्रशस्तकृष्णादित्रिलेश्या-भव्यमार्गणासु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः, असंज्ञ्या-ऽऽहारि-तदितरा-नाहारिमार्गणास्वित्येतास्वष्टत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् **"असंखंस-वड्ढिहाणीणं"** ति असंख्यांशवृद्धिहान्योः **"खलु अणंता अत्थि"** त्ति खल्वधारणे, ततो-ऽसंख्यांशवृद्धिहान्योरेव बन्धका अनन्ताः सन्ति । कुतः ? साधारणवनस्पतिकायजीवानामप्यसंख्यांश-स्थितिबन्धवृद्धि-हानिस्वामित्वात् तेषां चैतास्वष्टत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं प्रवेशादिति । **"सेसासु"** त्ति प्रागुक्ताः पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणा अनुपदमुक्तास्तिर्यग्गत्योघाद्यष्टत्रिंशन्मार्गणाश्च विवर्ज्य

शेषासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं **"बंधगा सिं"** ति तयोरनन्तराभिहितयोः सप्तकर्मस्थिति-बन्धसत्कयोरसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धकाः **"जाणेयव्वा असंखेज्जा"** त्ति असंख्येया ज्ञातव्याः । गतार्थमिति ॥७८४-७८६॥

तदेवमभिहितं मार्गणास्थानेष्वपि शेषसप्तानामसंख्यभागादिस्थितिबन्धवृद्धिहानिसत्पदानां प्रत्येकमुत्कृष्टपदगतं परिमाणम् , तस्मिँश्चाभिहिते गतं सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे सप्तमं परिमाणद्वारं समाप्तम् ॥

★

॥ अथाऽष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं क्षेत्रद्वारम् । तत्रायुषः स्थितिबन्धविषययोर्हान्यवक्तव्ययोर्द्वयोरपि सत्पदयोः शेषज्ञानावरणादीनां सप्तानामवस्थानावक्तव्ययोर्द्वयोः सत्पदयोश्च बन्धकक्षेत्रस्य प्रागत्रैव वृद्धयधि-कारे **सत्पदद्वारे**ऽतिदिष्टत्वात् सप्तकर्मणां शेषवृद्धिहानीनां बन्धकक्षेत्रं दर्शयन्नाह–

सत्तण्ह सव्वलोगे अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
लोगाऽसंखियभागे सेसाणं वड्ढिहाणीणं ॥७८७॥

(प्रे०) **"सत्तण्ह"**मित्यादि, आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकम् **"असंखंसवड्ढिहाणीणं"** ति प्रकृतत्वादसंख्यांशस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकं **"सव्वलोगे अत्थि"** त्ति 'सर्वलोके'-सम्पूर्णे जगति सन्ति, बन्धका इत्यनुवर्तते । सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानामपि प्रकृतवृद्धिहानिद्वयस्वामित्वात् तेषां सर्वलोकव्यापित्वाच्च सुष्ठूक्तम् **"सव्वलोगे"** इति । अत्र क्षेत्रप्ररूपणाधिकारभृतं क्षेत्र तु 'कालं उ वट्टमाणं पडुच्च खेत्त परूवणा णेया' इति ग्रन्थोक्तसमयमात्रकालसम्बन्धि विज्ञेयम् ।

अथ शेषवृद्धिहानीनां बन्धकक्षेत्रमाह–**"लोगासंखियभागे"** त्ति लोकस्यासंख्येयतमैक-भागे **"सेसाणं वड्ढिहाणीणं"** ति आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुक्तवृद्धिहानिपदद्वयवर्जानां शेषाणां संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानिरूपाणां षण्णां पदानां प्रत्येकम् , बन्धकाः सन्तीत्यनुवर्तते । कथम् ? उच्यते, प्रस्तुतशेषवृद्धिहानीनां स्वस्थानस्वामिन एकेन्द्रियेतरजीवा एव सन्ति, असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकैस्तैः कस्मिन्नप्येकस्मिन् समये समग्रो लोको लोकबहु-भागा वा पूरयितुं न शक्यन्ते, किन्तु समुद्घातादिनापि लोकासंख्येयभाग एव पूर्यते । एतच्च विस्तरतो **द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारप्रेमप्रभायां** भावितमेव । इत्थमेवोत्तरत्रापि **द्वितीयाधि-कारक्षेत्रद्वारप्रेमप्रभा**प्रदर्शितरीत्या विस्तरतः स्वयमेव भावनीयमिति ॥७८७॥

गतमोघतः । अथादेशतः प्रकृतस्थितिबन्धवृद्धयादिबन्धकानां क्षेत्रं व्याचिकीर्षुराह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहुमेसु वणकाये ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसु ॥७८८॥
पत्तोअवणे तस्स अपज्जत्तो कायु-रालियदुगेसु ।
कम्मण-णपुंसगेसु कसायचउगे अणाणदुगे ॥७८९॥
अयता-ऽचक्खूसु तह अपसत्थतिलेस-भवियेसु ।
अभविय-मिच्छत्तेसु असण्णि-आहारगियरेसु ॥७९०॥ (उपगीतिः)
मत्तण्ह सव्वलोगे अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

(प्रे०) "**तिरिये सव्वेगिंदिये**"त्यादि, प्राग्वत् तिर्यग्गत्योघे, सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-शेषद्वादशसूक्ष्मपृथिव्यादिमार्गणाभेदेषु, वनस्पतिकायौघे, पृथिव्यादिवायुकायान्तेषु चतुर्ष्वोघभेदेषु, "**तेसिं**" ति तेषां पृथिव्यादीनां चतुर्णाम् "**बायरबायरअपज्जेसु**" ति ये चत्वारो बादरौघ-भेदाश्चत्वारश्च बादरापर्याप्तभेदास्तेषु बादरबादरापर्याप्तपृथिव्यादिरूपेष्वष्टभेदेषु, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगेषु, कार्मणकाययोग-नपुंसकवेदयोः, क्रोधादिकषायचतुष्के, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानद्वयरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनयोः । तथाशब्दः समुच्चये । अप्रशस्तकृष्णादित्रि-लेश्या-भव्येषु, अभव्य-मिथ्यात्वयोः, असंज्ञ्या-ऽऽहारि-तदितरानाहारिमार्गणास्वित्येतासु चतुःषष्टि-मार्गणासु कुत्रचित् स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां प्रवेशात्, कुत्रचिद्बादरपृथि-व्याद्योघभेदेषु तेषामप्रवेशेऽपि मारणसमुद्घातेन सर्वलोकव्यापिनामपर्याप्तबादरपृथिवीकायादीनां प्रवेशात् तेषां सप्तकर्मसत्कासंख्येयभागस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः स्वामित्वाच्च तद्बन्धकक्षेत्रं सर्व-लोकः प्राप्यत इत्यत उक्तम्–"**सत्तण्ह सव्वलोगे**" इत्यादि, गतार्थमिति ॥७८८-७९०॥

बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायामधिकृतवृद्ध्यादिबन्धकक्षेत्रमाह—

बायरसमत्तवाउम्मि हुन्ति देसूणलोगम्मि ॥७९१॥

(प्रे०) "**बायरसमत्ते**"त्यादि, सप्तकर्मणां स्थितिबन्धविषययोरसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धका बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां देशोनलोके भवन्ति । कुतः ? असंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्य-पेक्षया स्तोकानामपि बादरपर्याप्तवायुकायानां स्वस्थानक्षेत्रस्य देशोनलोकत्वादिति ॥७९१॥

अथोक्तशेषवृद्धिहानिबन्धकक्षेत्रं दिदर्शयिषुरेकां गाथामाह—

सेसासु असंखंसे लोगस्स हवन्ति जासु सेसाओ ।
अत्थि खलु वड्ढिहाणी तासुं तासिं वि एमेव ॥७९२॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, अनन्तरोक्तास्तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणास्तथा बादरपर्याप्तवायुकाया-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाः परित्यज्य शेषासु नरकगत्योघादिषु ग्युत्तरशतमार्गणासु सप्तानामसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः "असंखंसे लोगस्स हवन्ति" त्ति लोकस्यासंख्येयतम एकस्मिन्नंशे=भागे भवन्ति, यत आसु शेषमार्गणासु सर्वलोकक्षेत्रप्रयोजकानां सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानां देशोनलोकक्षेत्रप्रयोजकानां बादरपर्याप्तवायुकायजीवानां वा प्रवेशो नास्ति, शेषास्तु प्रविष्टजीवा मारणान्तिकसमुद्घातादिनाऽपि लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनः, अतः प्रस्तुतबन्धकक्षेत्रमपि लोकासंख्येयभागादधिकं नैव प्राप्यते। विशेषतस्तु द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारप्रेमप्रभानुसारेण स्वयमेव भावनीयम्। सप्तप्रकृतिसत्कोक्तशेषाणां संख्येयभागसंख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धकक्षेत्रमोघतो लोकासंख्यभागमात्रं प्राप्यतेऽतो मार्गणास्थानेष्वपि तासां बन्धकक्षेत्रं लोकासंख्यभागप्रमाणादधिकप्रमाणं न सम्भवतीत्यतस्तत्तथैव दर्शयन्नाह–"जासु सेसाओ" इत्यादि, नरकगत्योघादिषु यासु यासु मार्गणासु "सेसाओ" त्ति सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योर्बन्धकक्षेत्रस्यानन्तरमेवाभिहितत्वात् ते असंख्यभागवृद्धिहानी परित्यज्य याः शेषान्यतमा वृद्धयो हानयश्च "अत्थि" त्ति सन्ति, प्राक्सत्पदद्वारे सत्तया प्रतिपादिता इत्यर्थः। खलुशब्दोऽवधारणे, स च "तासु" इत्यस्योत्तरं योज्यस्ततस्तासु नरकगत्योघादिमार्गणास्वेव "तासिं" त्ति तासां सत्तयाऽभिहितानां शेषान्यतमवृद्धिहानीनामपि प्रत्येकम् "एमेव" त्ति एवमेव, बन्धका लोकस्यासंख्येयतमैकभागे भवन्तीत्यर्थः।

अत्र शेषमार्गणासु सप्तानां शेषवृद्धिहानिसत्पदानि पुनरित्थमवसेयानि– सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, सर्वे देवगतिभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायौ, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्र-कार्मणकाययोगाः, अज्ञानत्रयम्, परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयममार्गणाभेदाः, कृष्णादिलेश्यापञ्चका-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकमार्गणाभेदाश्चेत्येतासु निरयगत्योघादिसप्ततिमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धि-तादृग्हान्यात्मकानि चत्वारि पदानि।

मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तत्रसौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौदारिककाययोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीयसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारकमार्गणारूपासु मनुष्यगत्योघादित्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु तु संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धि-तादृग्हानिलक्षणानि षट् पदानि।

ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणविकलेन्द्रियसत्कनवमार्गणास्थानेषु पुनः प्रत्येकं संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे।

सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपि तथैव द्वे पदे, नवरं षण्णां कर्मणाम् ।

अपगतवेदमार्गणायां पुनर्मोहनीयवर्जानां घातिकर्मणां प्रत्येकं निरयगत्योघादिमार्गणावच्च-त्वारि पदानि, मोहनीयकर्मणस्तु संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे, अघातिनां तु मनुष्य-गत्योघादिवत्षट् पदान्यवशिष्टसत्पदतया भवन्तीति ॥७९२॥

तदेवं प्रतिपादितं मार्गणास्थानेष्वपि ज्ञानावरणादेर्वृद्ध्यादिस्थितिबन्धसत्पदानां बन्धक-क्षेत्रम् । तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतमष्टमं नानाजीवाश्रितं क्षेत्रद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारेऽष्टमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

●

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अथ क्रमलब्धे स्पर्शनाद्वारे ज्ञानावरणादीनामसंख्यभागादिस्थितिबन्धवृद्ध्यादिबन्धकानाम् 'आमिज्ज अईअद्धं परूवणा उण फरिसणाए' इत्यनेनात्र ग्रन्थेऽधिकृतां स्पर्शनां प्रतिपिपादयिषुर्लाघवार्थ-मादौ तावदसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानिवर्जपदानां तामतिदेशेनाह—

ओघेणाएसेण वि हवेइ तिविहाण वड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्ह बंधगाणं भूओगारव्व उ फरिसणा ॥७९३॥

(प्रे०) "**ओघेणाएसेण वि**" इत्यादि, 'ओघेन'-सामान्येन स्पर्शनाचिन्तायाम् । न केवलमोघेन । किं तर्हि ? "**आएसेण वि**" त्ति 'आदेशेन'-विभागेन, मार्गणास्थानान्यधिकृत्य चिन्ताविषयीकृतेऽपीत्यर्थः । उभयथाऽपि किमित्याह—"**हवेइ**" इत्यादि, "**सत्तण्ह**" त्ति शेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् "**तिविहाण वड्ढिहाणीणं**" ति स्थितिबन्ध-विषयानामसंख्यगुणवृद्धिहानिवर्जानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणभेदभिन्नानां त्रिविधानां वृद्धीनां त्रिविधानां हानीनां च "**बंधगाणं**" ति 'बन्धकानां'-निर्वर्तकानाम् "**भूओगारव्व उ फरिसणा**" त्ति 'कालं उ वट्टमाणं'इत्यादिगाथोत्तरार्धेन प्रागुक्तस्वरूपा प्रस्तुतग्रन्थेऽधिकृता **क्षेत्रद्वारोक्त**क्षेत्रापेक्षया विलक्षणा नानाजीवनानाकालसव्यपेक्षा स्पर्शना भूयस्कारवदेव, भवतीति पूर्वेण योगः । यथा भूयस्काराधिकारे सप्तानां भूयस्कारस्थितिबन्धकानां स्पर्शनोक्ता तथा प्रकृते सप्तानां त्रिविधवृद्धिबन्धकानां, यथा च तत्राल्पतरबन्धकानां स्पर्शनाऽभिहिता तथाऽत्र त्रिविधहानिबन्धकानां प्रत्येकं सा भवतीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—आयुर्वर्जसप्तकर्मणां भूयस्काराल्पतरस्थितिबन्धवदोघत आदेशतश्चाधिकृत-वृद्धिहानयोऽपि मारणसमुद्घाताद्यवस्थाविशेषेष्वपि जीवानां संभवन्ति,ततश्च मारणान्तिकसमुद्घाता-दिप्रयुक्ताऽपि स्पर्शना भूयस्काराल्पतरस्थितिबन्धवत् प्रस्तुतवृद्धिहानिबन्धकानां प्राप्यते । तद्यथा-

ओघतः प्रस्तुतत्रिविधवृद्धिहानिबन्धकैः प्रत्येकं सर्वलोकः स्पृष्टः। आदेशतस्तु नरकगत्योघमार्गणायां तैस्त्रिविधवृद्धिहानिबन्धकैः प्रत्येकं त्रसनाड्याः षट्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः। एवमेव सप्तमपृथिवीनरकभेदे, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्परूपेषु चतुर्षु देवगतिमार्गणाभेदेषु शुक्ललेश्यामार्गणायां च बोद्धव्यम्। प्रथमपृथिवीनरकभेदे पुनरधिकृतस्थितिबन्धकानां स्पर्शना लोकासंख्यभागमात्रा प्राप्यते। यथा प्रथमपृथिवीनरकभेदे तथा नवसु ग्रैवेयकभेदेषु, पञ्चस्वनुत्तरविमानभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोः, अपगतवेदमार्गणायाम्, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वपि त्रिविधवृद्धिहान्यन्यतमस्य बन्धकैः कृता स्पर्शना लोकासंख्यभागमात्रा बोद्धव्या। द्वितीयपृथिव्यादिषष्ठपृथिव्यन्तेषु पञ्चसु नरकभेदेषु पुनः क्रमेणैका, द्वे, तिस्रः, चतस्रः, पञ्च च रज्जवः स्पर्शना त्रिविधवृद्धिहानिबन्धकानामपि भवति। देवगत्योघे भवनपत्यादीशानकल्पान्तेषु देवगतिभेदेषु तेजोलेश्यामार्गणायां च त्रिविधवृद्ध्यादिबन्धकानां प्रत्येकं त्रसनाड्या नव चतुर्दशभागाः स्पर्शना लभ्यते। वैक्रियकाययोगमार्गणायां तु तेषां त्रिविधवृद्धिहान्यन्यतमबन्धकानां प्रत्येकं त्रयोदश रज्जवः स्पर्शना सम्पद्यते। देशसंयममार्गणायां पञ्च रज्जवः, सासादनमार्गणायां द्वादश रज्जवः स्पर्शना, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्सु देवगतिभेदेषु मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिरूपासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकं त्रिविधवृद्धिहान्यन्यतमबन्धकानां स्पर्शना त्रसनाड्या अष्ट चतुर्दशभागाः, अर्थादष्टौ रज्जवः प्राप्यते। उक्तशेषासु तिर्यग्गत्योघादिषु सप्ताभ्यधिकशतमार्गणासु तु प्रस्तुतासंख्यगुणवृद्धिहानिवर्जान्यतमवृद्धिहानिबन्धकानां स्पर्शनौघवत्सर्वलोको भवति। इदं ह्यतिदेशफलं दर्शितम्; भावना तु प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरस्थितिबन्धकस्पर्शनावृत्त्यनुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्येति ॥७९३॥

अथातिदिष्टशेषयोः सप्तानामसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकानां स्पर्शनामाह—

सत्तण्ह बंधगेहिं होइ असंखगुणवड्ढिहाणीणं।
लोगाऽसंखियभागो पुट्ठो एमेव जहि ताऽत्थि ॥७९४॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह**" इत्यादि, आदेशत आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां "**असंखगुणवड्ढिहाणिणं**" ति असंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योर्बन्धकैः "**लोगाऽसंखियभागो पुट्ठो**" त्ति लोकस्याऽसंख्येयतमैकभागः स्पृष्टः, भवतीति पूर्वेणान्वयः। अथ मार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतद्विविधबन्धकानां स्पर्शनौघतुल्यैवाऽतोऽतिदेशेनाह–"**एमेव**" त्ति 'एवमेव' ओघवल्लोकासंख्यभागः प्रस्तुतवृद्धिहान्योर्बन्धकैः स्पृष्ट इत्यर्थः। कासु मार्गणास्वित्याह–"**जहि ताऽत्थि**" 'यत्र'-यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु ते द्वे वृद्धिहानी 'स्तः'-विद्येते, **सत्पदद्वारे** तयोरस्तित्वं प्रतिपादितं तासु मनुष्यगत्योघादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणास्वित्यर्थः ॥७९४॥।

तदेवं दर्शितौघादेशभेदतो मूलकर्मणां स्थितिबन्धवृद्धयादिसत्पदानां स्पर्शना, तथा च कृते गतं नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे नवमं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥

★

॥ अथ दशमं कालद्वारम् ॥

अधुना नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् । तत्रातिदिष्टशेषज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिस्थितिबन्धासंख्य-भागादिवृद्धिहानीनां नानाजीवाश्रितं कालं जघन्योत्कृष्टभेदतो विभणिषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्हं सव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
समयो होइ कणिट्ठो सेसाणं वड्ढिहाणीणं ॥७९५॥
आवलिआऽसंखंसो संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।
परमो संखियसमया असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥७९६॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं सव्वद्धा**" इत्यादि, आयुषो द्विविधयोरपि स्थितिबन्धसत्पदयोर्नाना-जीवाश्रयकालस्यात्रैवाऽधिकारे प्रथमे **सत्पदद्वारे** लाघवार्थमतिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं"**सव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं**"ति असंख्यांशस्थितिबन्धवृद्धयसंख्यांश-स्थितिबन्धहानिलक्षणयो द्वयोः पदयोर्नानाजीवाश्रयकालः 'सर्वाद्धा'-अनाद्यनन्तो भवति।

अथ शेषवृद्धिहानीनां कालो न सर्वाद्धा, किन्तु सावधिकः, ततोऽसौ जघन्यादिभेदेनाह— "**समयो**" इत्यादि,प्रस्तुतसप्तप्रकृतीनामेव"**सेसाणं वड्ढिहाणीणं**"ति उक्तशेषाणां संख्येयभाग-संख्येयगुणाऽसंख्येयगुणभेदभिन्नानां त्रिविधवृद्धीनां त्रिविधहानीनां च प्रत्येकं नानाजीवाश्रयः "**कणिट्ठो**" त्ति 'कनिष्ठः'-जघन्यः कालः'समयः'-समयमात्रो भवति। उक्तो जघन्यतः, अथोत्कृष्टत आह—"**आवलिआऽसंखंसो संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं परमो**" त्ति संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धि-संख्येयभाग-संख्येयगुणहानिलक्षणानां चतुर्णां स्थितिबन्धसत्पदानां 'परमः'-उत्कृष्टो नानाजीवाश्रयः काल आवलिकाऽसंख्यभागप्रमाणः, भवतीत्यावर्तते । "**संखियसमया असंखगुणवड्ढिहाणीणं**" ति उक्तशेषयोः सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकं नानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः संख्येयाः समया भवतीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—ओघतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र कुत्रचिज्ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमप्रकृते-रन्यतमवृद्धयादिसत्पदस्य बन्धका **भङ्गविचयद्वारवृत्तौ** दर्शितरीत्या ध्रुवं प्राप्यन्ते तत्र मार्गणादौ तस्याः प्रकृतेस्तस्याऽसंख्येयभागस्थितिबन्धवृद्धयादिपदस्य नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा प्राप्यत

इति तु सुगमः । बन्धकानां ध्रुवत्वस्य सर्वाद्धाया अन्तराभावस्य च कथञ्चिदनतिरेकात् । अत एव ओघतः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रयकालः सर्वाद्धा प्रतिपादितः । तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणास्थानेषु भङ्गविचयद्वारे– '........सत्तण्णं णायव्वा ओघव्व सगसगवड्ढिहाणीओ' इत्यनेन तद्बन्धकानामतिदेशेनौघवदभिधानात् 'तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहुमेसु षणकाये । पुहवाइचउसु नेमि बायर-बायरअपज्जेसु ॥७९८॥ पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायुरालियदुगेसु । कम्मण-णपुंसगेसु कसायचउगे अणाणदुगे ॥७९८॥ अयताऽचक्खू सु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसु । अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७९९॥ सत्तण्हं सव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं' । इत्यनेन तत्रापि सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहानीनामसौ सर्वाद्धा प्रतिपादयिष्यते च ।

यत्र पुनर्मार्गणादावुक्तान्यतमवृद्ध्यादिपदस्य बन्धका भङ्गविचयद्वारे ध्रुवा न कथिताः, किन्तु तदीयबन्धकपरिमाणस्याऽसंख्यलोकप्रदेशपरिमाणात्स्तोकतयाऽध्रुवा प्रतिपादिताः, तत्र तु तस्य वृद्ध्यादिपदस्य नानाजीवाश्रयकालः सावधिकः, सादिसान्तभङ्गगत एवेति भावः । तथा सति स जघन्योत्कृष्टभेदेन लभ्यते, स च तस्य वृद्ध्यादिपदस्य बन्धकपरिमाणमसंख्येयं भवतु संख्येयं वा तदाऽपि जघन्यतस्तदीयैकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवत्समयमात्र एव प्राप्यते, न पुनरधिकः । अत एवौघतः सप्तानामसंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जशेषवृद्धिहानिसत्पदानामसौ समयमात्रोऽभिहितः, मार्गणास्थानेष्वपि– 'सेसाण लहु समयो' इत्यादितत्तद्ग्रन्थेनासौ जघन्यकालः समयमात्रोऽभिधास्यते च । स च द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयकालद्वारे उत्कृष्टस्थितिबन्धस्य जघन्यकालोपपत्तौ दर्शितनीत्याऽभ्यूह्यः । तस्यैवोत्कृष्टकालस्तु तदीयबन्धकपरिमाणाद्यधीनः सन् पूर्वोक्तरीत्यैव कुत्रचिदावलिकाऽसंख्यभागः, कुत्रचित्संख्येयाः समया इत्येवं यथासम्भवं प्राप्यते ।

एतदुक्तं भवति–यत्र मार्गणादौ तस्याऽसंख्येयभागवृद्ध्याद्यध्रुवपदस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टकालः संख्येयसमयमात्रः, तदीयबन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽसंख्येयं च तत्र तदीयनानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः कार्मणकाययोगमार्गणोक्ताऽऽयुर्वर्जसप्तकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालज्ञातेनाऽऽवलिकाऽसंख्यभागमात्रः सम्पद्यते । यत्र पुनस्तादृग्वृद्ध्याद्यध्रुवपदस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य संख्येयसमयत्वेऽपि तदीयबन्धकपरिमाणं नाऽसंख्येयम् , किन्तु संख्येयमेव, तत्र तु तदीयनानाजीवाश्रय उत्कृष्टबन्धकालः संख्येयाः समया एव प्राप्यते, नाधिकः । अत एवौघत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धिहानि-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणचतुर्विधस्थितिबन्धकानां प्रत्येकं नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्यभागस्तथा तासामेव सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः सत्पदयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः संख्येयाः समया एव कथितः, मार्गणास्थानेष्वपि 'परमो समया उ संखेज्जा पज्जमणुस-मणुसीसु' मित्यादितत्तत्सन्दर्भेण तत्तद्वृद्ध्यादिपदानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः संख्येयसमयादिः प्रतिपादयिष्यते च, सोऽपि द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयकालद्वारप्रमेयप्रसादर्शितनीत्या विभावनीयः स्वयमेवेति ॥७९५-७९६॥

भणितोऽतिदिष्टशेषः ज्ञानावरणादीनां सप्तानामसंख्येयभागस्थितिबन्धवृद्ध्यादितत्पदानां नानाजीवाश्रयो बन्धकाल ओघतः । अथ स एवादेशतो व्याजिहीर्षुरादौ यास्वसंख्यभागवृद्धि-हान्योः स सर्वाद्धा, तासु तयोस्तथैव दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहुमेसु वणकाये ।
पुहवाइचउसु तेसिं बायर-बायरअपज्जेसुं ॥७९७॥
पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।
कम्मण-णपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥७९८॥
अयता-ऽचक्खूसु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।
अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७९९॥ (उपगीतिः)
सत्तण्हं मव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

(प्रे०) "तिरिये सव्वेगिंदिये" इत्यादि, तत्राद्यगाथात्रयेण तिर्यग्गत्योगादिचतुःषष्टि-मार्गणाः संगृहीताः, चतुर्थगाथापूर्वार्धेन तु तासु चतुःषष्टिमार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्तानां स्थितिबन्ध-विषययोरसंख्यांशवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धाऽस्तीति प्रतिपादितम् ; तत्राद्यगाथा-त्रयस्याक्षरार्थस्त्वत्रैवाधिकारे क्षेत्रद्वारोक्तद्वितीय-तृतीय-चतुर्थगाथाक्षरार्थेन तुल्य एव,तस्मात्तत एव द्रष्टव्यः । चतुर्थगाथापूर्वार्धस्य तूक्तः । भावार्थोऽप्यौघिकगाथाद्वयविवरणाद्व्याख्यातप्राय इति ॥७९७-७९८-७९९॥

अथ शेषमार्गणासूक्तकालोऽसर्वाद्धेत्यर्थाद्गम्यते, न पुनर्गम्यतेऽसौ जघन्यतः कियान् उत्कृष्टतश्च कियानिति, अतस्तज्जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयन्नाह—

सेसासु लहू समयो परमो समया उ संखेज्जा ॥८००॥
पज्जमणुस-मणुमीसुं सव्वत्था-ऽऽहारजुगलजोगेसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥८०१॥
सेसासुं सत्तण्हं अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
परमो कालो भागो आवलिआए असंखयमो ॥८०२॥

(प्रे०) "सेसासु लहू" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणा विवर्ज्य सेसासु यासु सप्तान्यतमानामसंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयं सत्तासु तस्याऽसंख्यभागवृद्धिहानिपदद्वयस्य प्रत्येकं 'लघुः'- जघन्यो नानाजीवाश्रितः कालः समयो भवतीत्यर्थः । अयं हि सर्वथैवौघवद्भावनीयः ।

अथोत्कृष्टकालमाह-"**परमो समया**" इत्यादि, उक्तासंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकं 'परमः'-उत्कृष्टः कालस्तु संख्येयाः समयाः भवति । कासु मार्गणास्वित्याह-"**पज्जमणुस**" इत्यादि पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-कसंयममार्गणासु चेत्येवं समुदितासु दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कथम् ? इतिचेद्, पदद्वय-स्याध्रुवत्वे सति तदीयैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य संख्येयसमयत्वाद्बन्धकपरिमाणस्याऽप्युत्कृष्टतः संख्येयत्वाच्चेति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुताऽसंख्यभागवृद्धिहानिपदद्वयस्याध्रुवत्वेऽपि तदीयैकजीवाश्रयोत्कृष्ट-कालस्य संख्येयसमयमात्रत्वेऽपि च न तद्बन्धकपरिमाणं संख्येयम्, किन्त्वसंख्येयम्, अतस्तदीय-नानाजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकाल औधिकसंख्येयभागवृद्धिहानिनानाजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालवदावलि-काऽसंख्येयभागप्रमाणः प्राप्यत इत्यतस्तथैवाह-"**सेसासु सत्तण्ह**"मित्यादि, गतार्थम् ।

शेषमार्गणानामानि त्वेवम्-सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सर्वे विकले-न्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्ताः पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवन-स्पतिकायभेदः, त्रयोऽपि त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोग-पुरुष-वेद-स्त्रीवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्र-संज्ञिमार्गणाश्चेति ८००-८०२

तदेवमभिहितः सर्वमार्गणास्थानेषु सप्तानामसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य नाना-जीवाश्रयजघन्योत्कृष्टद्विविधकालः । इदानीं संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानिरूपपदानां तमाह—

सव्वासु सत्तण्हं संखियभाग-गुणवड्ढिहाणीणं ।
समयो होइ जहण्णो परमो समया उ संखेज्जा ॥८०३॥
पज्जमणुस-मणुसीसु सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसु ।
मणपज्जव-जइ-समइअ-छेअग-परिहार-सुहुमेसु ॥८०४॥
सेसासु सत्तण्हं संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।
परमो णेयो भागो आवलिआए असंखयमो ॥८०५॥

(प्रे०) "**सव्वासु सत्तण्ह**" मित्यादि, यासु निरयगत्योघादिमार्गणासु "**सत्तण्ह**" त्ति आयुर्वर्जानां सप्तान्यतमानां बन्धप्रायोग्यमूलप्रकृतीनां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानीना-मन्यतमपदानि सत्पदद्वारे सद्भूतान्यभिहितानि तासु निरयगत्योघादिसर्वमार्गणासु तासां सप्ता-

न्यतमानां बन्धप्रायोग्यमूलप्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धयादिचतुर्विधान्यतमसत्पदानां प्रत्येकम् **"समयो होइ जहण्णो"** त्ति नानाजीवाश्रितो जघन्यो बन्धकालः 'समयः'-समयप्रमाणो भवति । एष समयमात्रो जघन्यकाल ओघोक्तनीत्यैवोपपादनीयः । अत्र **"सव्वासु"** इत्यनेन सप्तैकेन्द्रिय-भेदान् , तथैकोनचत्वारिंशत्पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तमूलोत्तरभेदान् विहाय शेषासु चतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहानिपदयोरसौ जघन्यतः समयो बोद्धव्यः, संख्येयगुणवृद्धि-हान्योस्त्वसावनन्तरोक्तचतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणाभ्योऽपि नवविकलेन्द्रियमार्गणास्थानानि सूक्ष्म-सम्परायसंयमभेदं च विहाय चतुर्दशोत्तरशतमार्गणास्वेव तथा, तत्राप्यपगतवेदमार्गणायां मोहनीय-वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामेव, न तु मोहनीयस्याऽपि, मोहनीयस्य संख्येयभागवृद्धिहानिवर्जपदाना-मपगतवेदमार्गणायामसत्त्वादिति ।

अथ प्रस्तुतानां संख्येयगुणभागवृद्धिहानीनां बन्धकालमुत्कृष्टत आह–**"परमो समया उ संखेज्जा"** इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं 'परमः'-उत्कृष्टो नाना-जीवाश्रितः कालः संख्येयाः समयाः, ज्ञानावरणादितत्तत्प्रकृतीनां **सत्पदद्वारे**ऽभिहितसंख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतमसत्पदानामिति तु प्रक्रमाद्गम्यते । अयमप्यौघिकसप्तकर्मसत्कासंख्य-गुणवृद्धयादेरुत्कृष्टबन्धकालवद्बोद्धव्यः । कुतः ? ओघवदत्रापि पदचतुष्कस्याऽध्रुवत्वात् , बन्धक-परिमाणादेः संख्येयत्वादिरूपेणाविशेषाच्चेति ।

शेषमार्गणासु प्रस्तुतोत्कृष्टकालमाह– **"सेसासु सत्तण्ह"**मित्यादि, सुगमम् । अय-मपि सप्तानां संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानीनामुत्कृष्टबन्धकालः सप्तानामौघिकसंख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धयादेरावलिकाऽसंख्यभागप्रमाणोत्कृष्टबन्धकालवद्विभावनीयः, तद्वदधिकृतनिरयगत्योघादि-शेषमार्गणासु बन्धकपरिमाणादेरसंख्येयत्वादिरूपेण समानत्वादिति ॥८०३-८०४-८०५॥

अथोक्तावशिष्टयोः सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धिहान्योर्मार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रितं बन्धकालं जघन्यादिभेदत आह—

जासुं खलु सत्तण्हं अत्थि असंखगुणवड्ढिहाणीओ ।
तासु लहू सिं समयो परमो समया उ संखेज्जा ॥८०६॥

(प्रे०) **"जासुं खलु"** इत्यादि, यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु **"सत्तण्णं"** ति सप्ता-न्यतमानां मूलप्रकृतीनामसंख्यगुणवृद्धिहानी **"अत्थि"** त्ति स्तः, **सत्पदद्वारे** सत्तयाऽभिहिते इत्यर्थः । तासु किमित्याह–**"तासु लहू सिं समयो"** त्ति तासु मनुष्यगत्योघादिचतुश्चत्वारिंश-

न्मार्गणासु प्रत्येकम् "**सिं**" ति तयोः सप्तान्यतमानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योः 'लघुः'-जघन्यो नानाजीवाश्रितकालः 'समयः'- ओघवत्समयमात्र इत्यर्थः ।

तयोरेवोत्कृष्टकालमाह-"**परमो समया उ संखेज्जा**" त्ति 'परमः'-उत्कृष्टः कालस्तु संख्येयाः समयाः । एषोऽप्योघवदेवाविशेषेण विज्ञेय इति ॥८०६॥

तदेवं दर्शितः सप्तानामसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहान्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो नानाजीवाश्रयः कालः, तस्मिँश्च दर्शिते गतं नानाजीवाश्रयं कालद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे दशमं नानाजीवाश्रय कालद्वारं समाप्तम् ॥

●

॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रितेऽन्तरद्वारे मूलप्रकृतीनामुक्तशेषस्थितिबन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां नानाजीवाश्रयमन्तरं प्ररूपयितुमना आदौ तावदोघत आह-

सत्तण्ह अंतरं खलु णत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
समयो होइ जहण्णं सेसाणं वड्ढिहाणीणं ॥८०७॥
परमं भिन्नमुहुत्तं संखियभाग-गुणवड्ढिहाणीणं ।
वासपुहुत्तछमासा कमा असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥८०८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**सत्तण्ह अंतरं**" इत्यादि, पूर्वं **सत्पदद्वारे** "अत्थि अवत्तव्वत्तं बंधस्स असंखभागहाणी य भूगारव्वाउस्स" इत्यादिनाऽऽयुषोऽवक्तव्या-ऽसंख्यभागहानिलक्षणद्विविधपदस्य तथा 'भूओगारव्व भवे' इत्यादिना सप्तानामवक्तव्यावस्थानपदयोर्नानाजीवाश्रितान्तरस्याप्यतिदेशेनैव कथितत्वादायुर्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां मूलप्रकृतीनामतिदिष्टशेषेष्वसंख्येयभागादिचतुर्विधवृद्धिहानिलक्षणसत्पदेषु "**अंतरं खलु णत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं**"ति खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वेनासंख्यांशस्थितिबन्धवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरेव नानाजीवानाश्रित्यान्तरं नास्ति, न पुनः शेषत्रिविधवृद्धिहानिपदानामन्तरमपीत्यर्थः । सुगमं चैतत् , यतो यस्य यस्य सत्पदस्य नानाजीवाश्रितकालः सर्वाद्धा भवति, तस्य तस्य पदस्य नानाजीवाश्रितमन्तरं न भवति, सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रयः कालस्त्वनन्तरं **कालद्वारे** 'सत्तण्हं सव्वद्धा अत्थि असंखसवड्ढिहाणीण'-मित्यनेन सर्वाद्धा प्रतिपादितः । इत्थं चौघतः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहानिपदयोरन्तरमपि नैव प्राप्यत इति तथैव दर्शितम् । एवमेवोत्तरत्र मार्गणास्थानेष्वपि यत्र सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्यन्तरप्रतिषेधस्तत्रासावनेन प्रकारेणैवोपपादनीय इति ।

अथौघतः सप्तानामसंख्यांशवृद्धिहान्यन्तरं प्रतिषिध्य शेषवृद्धिहानीनां तज्जघन्यादिभेदेन प्रदिदर्शयिषुरादौ जघन्यत आह–"**समयो होइ**"इत्यादि, शेषाणामुक्तवृद्धिहानिद्वयवर्जानां सप्तकर्मणां संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धिहानीलक्षणानां षण्णां सत्पदानां प्रत्येकं 'जघन्यम्'–ह्रस्वमन्तरं 'समयः'–समयमात्रं भवतीत्यर्थः ।

ननु भवतु सख्येयभागसंख्येयगुणवृद्धिहान्यसंख्यगुणवृद्धिपदानामेकजीवाश्रितजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वान्नानाजीवानाश्रित्याऽपि तत्तथैव, कथं पुनरसंख्यगुणहानेरपि तत्समयमात्रमुच्यते, तदीयैकजीवाश्रितजघन्यान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन विरोधाद् ? **इति चेद्, न,** यतो यस्या वृद्धेर्हानेर्वा बन्धकपरिमाणस्यासंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकतया नानाजीवानाश्रित्य तद्बन्धस्यान्तरं भवति तस्या वृद्धेर्हानेर्वा कदाचिदेकद्व्यादयो बन्धका अपि सम्भवन्ति, अतो यदा कदाचिदेकद्व्यादयो यावन्तो बन्धकास्तावन्तो युगपद् विवक्षितां वृद्धिं हानिं वा कृत्वा तावन्मात्रस्थितिबन्धं कुर्वन्तोऽवस्थितस्थितिबन्धका भवन्ति, तदनन्तरसमयेऽन्ये केचन पूर्वतो निर्वर्त्यमानावस्थितस्थितिबन्धा जीवा अवस्थितस्थितिबन्धं समाप्य विवक्षितां तादृशीमेव वृद्धिं हानिं वा कुर्वन्ति तदा तस्या विवक्षिताया वृद्धेर्हानेर्वा नानाजीवाश्रयमन्तरं समयमात्रं प्राप्यते, अत एवासंख्यगुणहीनस्थितिबन्धस्यैकजीवाश्रितान्तरस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि तस्य नानाजीवाश्रितमन्तरं जघन्यतः समयमात्रमुक्तम् ।

तच्चैवं भावनीयम्–सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धहानिर्हि क्षपकश्रेणावुपशमश्रेणौ वा जायत इत्यनेकश आवेदितम्, ततो यदा कदाचिन्न वर्तत एकोऽपि जीव उपशमश्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा तादृशकालादूर्ध्वं पञ्चभिर्मुनिप्रवरैर्युगपत्क्षपकश्रेणिः समारोढुं समारब्धा, समयस्याऽन्तरेणान्यैः पञ्चभिर्यतिमुख्यैर्युगपत्क्षपकश्रेणिमारोढुमारब्धम्, इत्थं तदानीं क्षपकश्रेणौ दशैव महात्मानो वर्तन्ते, अन्तर्मुहूर्ते गते संख्येयान् स्थितिबन्धानतिक्रम्य तेभ्यः पञ्चभिः पूर्वारब्धश्रेणिभिर्यदा प्रथमोऽसंख्यगुणहीनः स्थितिबन्धः कृतस्तत्समयात्तृतीये समयेऽन्यैः पश्चादारब्धश्रेणिभिः पञ्चभिर्महात्मभिः प्रथमोऽसंख्यगुणहीनः स्थितिबन्धः कृतः, द्वितीयसमये तु न केनाऽपि, इत्थं हि पूर्वोत्तरसमययोः पञ्चानां पञ्चानामसंख्येयगुणहीनस्थितिबन्धकानां सद्भावात्, मध्ये द्वितीयसमये तु दशानामप्यवस्थितस्थितिबन्धस्यैव भवनाच्च तादृशजीवविशेषान् समाश्रित्य सप्तानां नानाजीवाश्रितमसंख्यगुणहान्यन्तरं जघन्यतः समयमात्रमुत्पद्यते । इदमेवैकद्व्यादिजीवान् समाश्रित्योक्ताधिकजीवान् वा प्रतीत्यान्यथाप्युपपत्तिमृच्छतीति तेन तेन प्रकारेण स्वयमेव योज्यम् ।

यथा समयमात्रमसंख्यगुणहान्यन्तरमुपपादितं तथा समयमात्रमसंख्यगुणवृद्ध्यन्तरमपि स्वयमेवोपपाद्यम्, केवलमसंख्यगुणवृद्ध्यन्तरमेकजीवाश्रितासंख्यगुणवृद्ध्यन्तरवदपि भावयितुं युज्यते, यदि तदानीं विवक्षितजीवस्य भवचरमसमयजातासंख्यगुणवृद्ध्यनन्तरं देवगतावुत्पत्तेः पूर्वसमये कश्चिदपि जीवोऽसंख्येयगुणवृद्धेर्बन्धको न स्यादित्येवं प्रकारान्तरेणापि भावनीयम् ।

शेषाणां चतुर्विधवृद्धिहानीनां समयमात्रमन्तरमुक्तनीत्यैव भावनीयम्, तत्र च भावनायां विवक्षितजीवानामन्याऽन्यजीवानां वोक्तनीत्या समयस्यान्तरेण जातयोर्विवक्षितवृद्ध्योर्विवक्षितहान्योर्वा सामयिकेऽन्तराले सर्वेषामपि जीवानां तादृशवृद्धिहान्यबन्धकत्वं द्रष्टव्यमिति ।

अथैतासामेवोत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह–"**परमं भिन्नमुहुत्त**"मित्यादि, सप्तानां संख्येयभाग-संख्येयगुणलक्षणयोर्द्वयोर्वृद्ध्योस्तादृशयोर्द्वयोर्हान्योश्चेत्येवं चतुर्णां पदानां प्रत्येकं 'परमम्'-उत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं 'भिन्नमुहूर्तं'-अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । कुतः? इति चेत्, चतुर्विधान्यतरवृद्धिहानिबन्धार्हजीवानां सर्वदैव प्राप्तेः, स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यानां तत्तद्वृद्ध्यादिपदानां प्रत्यन्तर्मुहूर्तं नियमेन बन्धभावाच्च । किमुक्तं भवति–ओघत आदेशतो वा तत्तन्मार्गणास्थानेषु सप्तकर्मणां यस्य वृद्ध्यादिपदस्य बन्धकपरिमाणमसंख्येयलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा विद्यते तत्र तु तद्बन्धकानां निरन्तरं प्राप्तेस्तादृशवृद्ध्यादिपदस्य नानाजीवानाश्रित्यान्तरमेव न प्राप्यते, अत एवौघतः सप्तानामसंख्यभागवृद्धि-हान्यन्तरं प्रतिषिद्धम्, उत्तरत्र मार्गणास्थानेषु प्रतिपेत्स्यति च । असंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जपदेषु तु केषामपि बन्धकपरिमाणमोघतोऽप्यसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा न विद्यते, अत एव मार्गणास्थानेष्वपि तदसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा न भवति, ओघापेक्षया मार्गणास्थानेष्वधिकपरिमाणस्याऽसंभवात् । इत्थं चासंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जानां शेषपदानां नानाजीवाश्रितमन्तरं नियमेन भवति, तच्च तत्तत्पदानामप्रवर्तनस्यावधिभूतमसाधितमेव । तत्र तज्जघन्यतः समयमात्रमिति कथितमुपपादितं च । शेषवृद्धिहानिष्वसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे तु श्रेणिभाविस्थितिबन्धाधीने इत्यतस्तदीयोत्कृष्टान्तरमपि नानाजीवाश्रितश्रेण्युत्कृष्टान्तरानुसारेण प्राप्यते, अतस्तत्तदनुसारेण वक्ष्यति । शेषसंख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां पदानां त्वोघतो मार्गणास्थानेषु वा यदि तद्बन्धार्हजीवानामन्तरं भवति तदाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावन्मार्गणोत्कृष्टान्तरानुसारेण पल्योपमासंख्येयभागादिप्रमाणं प्राप्यते, यदि च तद्बन्धार्हजीवानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं न भवति तदा तु निरन्तरं लभ्यमानैस्तैः स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यत्वाच्चतुर्विधान्यतमवृद्ध्यादेर्बन्ध उत्कृष्टतः प्रत्यन्तर्मुहूर्तं नियमेन क्रियते, ततो नानाजीवानाश्रित्य चतुर्विधान्यतमवृद्ध्यादेरुत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तादधिकं नैव प्राप्यते । ओघचिन्तायां हि सप्तानां स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहानिबन्धार्हाः जीवाः सर्वे पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धार्हास्तु सर्वे त्रसजीवाश्च, ते च निरन्तरं प्राप्यन्ते, अत ओघतः संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानीनां प्रत्येकं नानाजीवाश्रितमन्तरमप्यन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यत इति ।

सप्तानामसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितमन्तरं दर्शयन्नाह–"**वासपुहुत्तछमासे**"त्यादि, क्रमाद् वर्षपृथक्त्वं षण्मासाश्च सप्तानामसंख्यगुणवृद्धेरसंख्येयगुणहानेश्चान्तरं भवति । कुतः? इति चेत्, असंख्येयगुणवृद्धेरुपशमश्रेणितः प्रतिपाते एव सम्भवात्, उपशमश्रेणेर्नानाजीवाश्रितोत्कृष्टा-

न्तरस्य वर्षपृथक्त्वात्। उक्तं च **जीवसमासवृत्तौ श्रीमन्मलधारीयहेमचन्द्रसूरिपादैः**—

'मोहनीयं कर्मोपशमयन्तीत्युपशमकाः-उपशमश्रेणिवर्तिनः संयताः, तेष्वपि वर्षपृथक्त्वप्रमाणमन्तरं समवसेयम्, कदाचिद्वर्षपृथक्त्वं यावल्लोके उपशमश्रेणिं न कोऽपि प्रतिपद्यत इत्यर्थः।' इति।

सप्तानामसंख्यगुणहानिस्तु क्षपकश्रेणावपि जायते, क्षपकश्रेणेर्नानाजीवाश्रितमन्तरं तु षण्मासा एव। उक्तं चैतदपि तत्र– 'मोहनीयं कर्म क्षपयन्तीति क्षपकाः-क्षपकश्रेणिवर्तिनश्चारित्रिण एव, तेषु पुनः षण्मासमानमन्तरं विज्ञातव्यम्' इति। इत्थं हि सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धहान्यन्तरं नानाजीवानाश्रित्य षण्मासप्रमाणमेव भवति, नाधिकम्, कस्मिन्नपि महात्मनि क्षपकश्रेणिं समारूढे क्रमेण तस्य नियमतोऽसंख्यगुणहानीनां प्रवर्तनादिति ॥८०७-८०८॥

तदेवमभिहितमोघतः सप्तप्रकृतीनां शेषसंख्येयभागादिस्थितिबन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां नानाजीवाश्रितमन्तरं यथासम्भवं जघन्योत्कृष्टभेदतः। अथ तदेवादेशतो विभणिषयाऽऽह—

सत्तण्हं सव्वद्धा जासु असंखंसवड्ढिहाणीणं।
तासुं ण अंतरं सिं सेसासु भवे लहुं समयो ॥८०९॥

(प्रे०) "**सत्तण्ह**"मित्यादि, ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां सप्तानां "**सव्वद्धा जासु असंखंसवड्ढिहाणीणं**" ति 'तिरिये सव्वेगिंदिये' त्यादिसार्धगाथात्रयेण तिर्यग्गत्योघादिषु यासु मार्गणास्वनन्तरं नानाजीवाश्रिते **कालद्वारे** सप्तानामसंख्यभागस्थितिबन्धवृद्धिहानिलक्षणयोः सत्पदयोर्नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्धाऽभिहितः "**तासुं**" ति तासु तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणासु "**ण अंतरं सिं**"ति "**सिं**"-तयोः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योरन्तरं नानाजीवानाश्रित्य न भवतीत्यर्थः। सुगमम्, केवलं **तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणानामानीमानि**—तिर्यग्गत्योघसर्वैकेन्द्रिय–सर्वनिगोदभेद--शेषद्वादशसूक्ष्मपृथिव्यादिभेद-पृथिव्यप्तेजोवायुकायौघ - तद्बादरौघ-बादराऽपर्याप्तभेद-वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पत्योघ-तदपर्याप्तभेद-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यज्ञान--श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारका-ऽनाहारकमार्गणाभेदा इति।

अथ शेषमार्गणास्वसंख्यभागवृद्धिहान्योर्नानाजीवानाश्रित्याध्रुवत्वाद्भवति तत्राऽन्तरमतस्तदादौ जघन्यत आह–"**सेसासु भवे लहुं समयो**" त्ति तिर्यग्गत्योघादिचतुःषष्टिमार्गणावर्जासु नरकगत्योघादिमार्गणासु ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमस्य कर्मणोऽसंख्यभागवृद्धिहानिसत्पदयो'र्लघु'-जघन्यमन्तरं समयो भवेत्। एतच्च सप्तानामोघिकसंख्येयभागादिवृद्ध्यादेः समयमात्रजघन्यान्तरवदेव भावनीयमिति ॥८०९॥

अथैतासु नरकगत्योघादिशेषमार्गणास्वेव सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्यन्तरमुत्कृष्टतो दर्शयन् गाथायुग्ममाह—

पल्लासंखियभागो अपज्जणर-मीस-सासणेसु गुरु ।
विक्कियमीसे बारमुहुत्ता-ऽऽहारजुगले सरपुहुत्तं ॥८१०॥ (गीतिः)
छेए परिहारम्मि य अट्ठारह अयरकोडिकोडिओ ।
सत्तदिवसा उवसमे सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥८११॥

(प्रे०) **"पल्लासंखियभागो"** इत्यादि, अपर्याप्तनरमार्गणास्थाने मिश्रदृष्टि-सास्वादन-मार्गणास्थानयोश्च प्रत्येकं 'गुरु'-उत्कृष्टमन्तरं पल्योपमस्याऽसंख्यभागप्रमाणम्, सप्तानामसंख्यभाग-वृद्धिहान्यो'रिति प्रक्रमाद्गम्यते। कुतः ? इति चेद्, नानाजीवानाश्रित्य प्रत्येकं मार्गणायाः सान्तरत्वात्, तस्या उत्कृष्टान्तरस्य पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वाच्च । **इदमुक्तं भवति**–मार्गणायाः सान्तरत्वे सति तदीयेऽन्तरे प्रवर्तमाने तत्र जीवानां सर्वथाऽभावेन तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यसप्त-कर्मसत्कवृद्ध्यादीनां बन्धोऽपि न प्राप्यते, बन्धस्य बन्धकाऽविनाभावित्वात्, इत्थं चोत्कृष्टतो यावन्तं कालं नानाजीवानाश्रित्य मार्गणान्तरं तावत्कालमवस्थानवृद्ध्याद्येकविधस्याऽपि बन्धस्या-ऽभावादवस्थितबन्धोत्कृष्टान्तरवद् वृद्ध्यादीनामन्तरमप्युत्कृष्टतो नानाजीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टान्तरा-पेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तादिनाऽधिकं प्राप्यते, अपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टि-सासादनरूपाणां तिसृणां मार्गणानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं तु पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणम् । उक्तं च **जीवसमासे**—

'पल्लाऽसंखियभागं सासणमिस्सासमत्तमणुएसु' । इति ।

इत्थं च प्रस्तुतान्तरमपि सामान्येनाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणात्रये तथैवाभिहितम्, विशेषतस्तु तदन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकं स्वयमभ्यूह्यमिति ।

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाह–**"विक्कियमीसे बार"**इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोग-मार्गणायां सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं द्वादश मुहूर्ता भवति । कुतः ? अपर्याप्त-मनुष्यादिमार्गणावत् वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाया अपि सान्तरत्वात्, तस्या नानाजीवाश्रितोत्कृ-ष्टान्तरस्य द्वादशमुहूर्तप्रमाणत्वाच्च । उक्तं चैतदपि **जीवसमासे**–'विउव्वमिस्सेसु बारस हुंति मुहुत्ता' इति । विशेषतस्तु प्राग्वदेव भावनीयम् ।

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये आह–**"आहारजुगले सरपुहुत्तं"** ति आहारक-तन्मिश्रकाययोगद्वयलक्षणे आहारकयुगले सप्तानां प्रस्तुतयोरसंख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टं नानाजीवाश्रयमन्तरं **"सरपुहुत्तं"** ति 'शरत्पृथक्त्वम्'-वर्षपृथक्त्वं भवतीत्यर्थः, शरद्वर्षाब्दादिशब्दा-नामेकार्थकत्वात् । तदुक्तं **श्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रैरभिधानचिन्तामणौ**-'वत्सरः, स-सं-पर्य्य-नूद्भ्यो वर्ष, हायनोऽब्दं समाः शरत्' (१५९) इति । इदमपि पूर्ववन्मार्गणोत्कृष्टान्तरानुसारेणोपपादनीयम् । मार्गणोत्कृष्टान्तरं तु–'आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्तं' इति **श्रीजीवसमासवचनाद्वर्षपृथक्त्वं** ज्ञायते, **श्रीप्रज्ञापनासूत्रवचनेन** तु तत्प्राग्वदन्यथाऽपि द्रष्टव्यमिति ।

अथ छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः प्रस्तुतपदद्वयस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमाह--"**छेए परिहारम्मि य**" इत्यादि, सुगमम् , अन्तरोपपत्तिस्तु प्राग्वत्तन्मार्गणाया अष्टादशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणनानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरद्वारेणैव कर्तव्या ।

अथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरमाह-"**सत्तदिवसा उवसमे**" इति, सुगमम् , केवलमुपपत्तिर्द्वितियाधिकारदर्शितसप्तमूलप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिबन्धनानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरोपपत्तिवत् प्रतिपद्यमानसम्यक्त्वानां जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणोत्कृष्टान्तरानुसारेण द्रष्टव्येति ।

अथोक्तशेषमार्गणासु यद्यप्यपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणे स्थितिबन्धकनानाजीवानाश्रित्य सान्तरे तथाऽपि तासु प्रस्तुतासंख्येयभागवृद्धिहानिपदद्वयमेव सम्भ भवति, शेषनिरयगत्योघादिमार्गणास्तु नानाजीवानाश्रित्य निरन्तरा एव, तथा च सति तासु शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं सप्तानां संख्येयभागवृद्ध्यादेराधिकोत्कृष्टान्तरवदन्तमुहूर्तप्रमाणमेव प्राप्यत इति तासु तत्तथैव दर्शयन्नाह-"**सेसासु भवे मुहुत्तंतो**" त्ति सेसासु नरकगत्योघादिपञ्चनवतिमार्गणासु सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रस्तुतं नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं 'मुहूर्तान्तः'-अन्तमुहूर्तं भवति। गतार्थम् , केवलं **शेषमार्गणाभिधानानि त्वेवम्**--सर्वे निरयभेदाः, मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदाः, सर्वे देवभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, बादरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरूपाः पञ्च मार्गणाभेदाः, सर्वे त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगः, स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ, मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥८१०-८११॥

तदेवमभिहितं सप्तानामसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टतोऽपि सर्वमार्गणास्थानेषु । अथ तासामेव सप्तप्रकृतीनां संख्येयभागसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां सत्पदानां जघन्योत्कृष्टभेदतो तद्दर्शयन्नाह—

सव्वासु लहु समयो संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।
पल्लाऽसंखियभागो अपज्जणर-मीस-सासणेसु गुरु ॥८१२॥(गीतिः)
विक्कियमीसे बारमुहुत्ता-ऽऽहारजुगले सरपुहुत्तं ।
वासपुहुत्त-छमासा अवेअ-सुहुमेसु वड्ढि-हाणीणं ॥८१३॥
छेए परिहारम्मि य अट्ठारस जलहिकोडिकोडीओ ।
सत्त दिवसा उवसमे सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥८१४॥

(प्रे) **"सव्वासु लहु"** मित्यादि, यासु मार्गणासु **सत्पदद्वारे** आयुर्वर्जसप्तान्यतमप्रकृतीनां **संख्येयभाग**-संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतमपदानां सत्त्वमाविष्कृतं तासु नरकगत्योघादिसर्वमार्गणासु तासां संख्येयभागवृद्ध्यादिचतुरन्यतमपदानां प्रत्येकं नानाजीवाश्रितं बन्धान्तरं 'लघु'-जघन्यं 'समयः' समयमात्रमित्यर्थः । एतच्चौघवदेव विज्ञातव्यम् ।

अथैतेषामेव सत्पदानामुत्कृष्टान्तरं दर्शनीयम्, तत्र या मार्गणा नानाजीवान् समाश्रित्य सान्तरा-स्तास्वपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तदसंख्यभागवृद्धिहान्यन्तरत्वन्मार्गणोत्कृष्टान्तरप्रमाणं लभ्यतऽतेस्तासु तत्तथैव दर्शयन्नाह–**"पल्लाऽसंखिय भागो"** इत्यादि, प्राग्वदपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टि-सासादन-मार्गणानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात्तासाम् सप्तानां संख्येय-भाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां स्थितिबन्धविशेषाणामेकैकस्य नानाजीवाश्रितं 'गुरु'-उत्कृष्ट-मन्तरं पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं भवति। इत्थमेव **"विक्कियमीसे बारमुहुत्ता"** त्ति वैक्रिय-मिश्रकाययोगमार्गणाया नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य द्वादशमुहूर्तमानत्वात् तस्यां प्रस्तुतानां चतसृणां वृद्धिहानीनामुत्कृष्टान्तरं द्वादश मुहूर्ता भवति । तथैव **"ऽऽहारजुगले सरपुहुत्तं"** ति आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वये प्रस्तुतानां चतसृणां वृद्धिहानीनामुत्कृष्टान्तरं 'शरत्पृथक्त्वं' वर्षपृथक्त्वं भवति । **"वासपुहुत्तछमासा"** इत्यादि,अत्र क्रमादिति वाक्यशेषः, ततश्चापगत-वेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः प्रत्येकं प्रस्तुतान्यतरवृद्धिसत्पदस्योत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम् ,प्रस्तु-तान्यतरहानिसत्पदस्य तु तत्षण्मासाः ।

अयम्भावः– मार्गणाद्वये वृद्धिपदानां प्रपतदुपशमकस्वामिकत्वात् पादुपशमकानामुत्कृष्टा न्तरस्य वर्षपृथक्त्वाच्च प्रस्तुतान्तरमप्योघवदुत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वं भवति, मार्गणाद्वयेऽपि हानिपदानां तु क्षपकापेक्षयाऽपि संपत्तिर्विद्यते, क्षपकाणामुत्कृष्टान्तरं तु न उपशमकानामिव वर्षपृथक्त्वम् ,किन्तु षण्मासा एव । उक्तं च **श्रीजीवसमासे**—'वासपुहुत्तं उवसामएसु खवगेसु छम्मासा' इति । इत्थं क्षपकोत्कृष्टान्तराधीनं प्रस्तुतान्तरमप्योघवत्षण्मासा एव भवति । तथा चापगतवेदे मोहनीयवर्जानां षण्णां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रस्तुतद्विविधवृद्धिपदस्य, मोहनीयस्य तु संख्येयभागवृद्धिलक्षणस्यैक-विधसत्पदस्य चोत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां तु षण्णामपि प्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धिपदस्य तद्वर्षपृथक्त्वम् ,तत्तद्धानिपदस्य तु मार्गणाद्वये षण्मासा इति विज्ञेयम्।

"छेए परिहारम्मिय" त्ति छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयममार्ग-णायां च प्रस्तुतानां ज्ञानावरणादेः संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां सत्पदानां प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाणि भवति, एतत्तु प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽनन्तरमेव दर्शितासंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरान्तरवद्विज्ञेयम् । एवमेव **"सत्त दिवसा उवसमे"** त्ति सुगमम् । केवलं प्रस्तुतत्वाज्ज्ञानावरणादीनां सप्तानां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धि-हानिलक्षणानां

चतुर्णां पदानामुत्कृष्टान्तरम् । एतदप्यन्तरमधिकृतमार्गणायां दर्शितासंख्येयभागवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरवज्ज्ञेयम् ।

दर्शितं सान्तरमार्गणासु प्रस्तुतान्तरम् । अथ शेषमार्गणासु तु मार्गणानामेव नानाजीवानाश्रित्य ध्रुवत्वेन सर्वदैव प्रस्तुतवृद्धिहानिबन्धार्हजीवानां समुपलब्धेस्तैरुत्कृष्टतः सप्तत्यन्तर्मुहूर्तम्ऽन्तरान्तरा स्वप्रायोग्यप्रस्तुतवृद्धिहानीनां निर्वर्तनाच्च नानाजीवानाश्रित्य तदीयोत्कृष्टमन्यान्तरमोघवदत्रमार्गणास्थानेष्वप्यन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिकमितिकृत्वा तत्तन्मार्गणासु तथैव दर्शयति—"सेसासु भवे मुहुत्तंतो" त्ति गतार्थम्, केवलं शेषमार्गणा इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, तिर्यग्गत्योघः, सर्वे तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः त्रयस्त्रसकायभेदाः, वैक्रियमिश्राऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदवर्जाः सर्वे योगभेदाः, त्रयो वेदभेदाः, चत्वारः क्रोधादिकषायभेदाः, चत्वारो मत्यादिज्ञानभेदाः, त्रयोऽज्ञानभेदाः, संयमौघ-सामायिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयममार्गणाः, चक्षु-रचक्षु-रवधिदर्शनानि, कृष्णादिषड्लेश्याः, भव्या-ऽभव्यौ, सम्यक्त्वौघ-क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वानि, मिथ्यात्वम्, तथा संज्ञि-ऽसंज्ञिभेदौ, आहारका-ऽनाहारकभेदौ चेत्येवं त्रयोदशोत्तरशतम् । तत्राऽपि विकलेन्द्रियभेदनवके सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहानिपदयोरसत्त्वात् ते विहाय संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरेव प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयमिति ।८१४।

तदेवं दर्शितं सप्तानां संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां स्थितिबन्धविशेषाणामपि मार्गणास्थानेषु नानाजीवममाश्रितमुत्कृष्टान्तरम् । अथ शेषयोरसंख्येयगुणवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितमन्तरं मार्गणास्थानेष्वाह—

जत्थऽत्थि तत्थ समयो लहुं असंखगुणवड्ढिहाणीणं ।
जेट्ठं मणुमि-त्थि-णपुम-अवेअ-मणणाणु-वसमेसु ॥८१५॥
वासपुहत्तं छेए अट्ठारस जलहिकोडिकोडीओ ।
सेसासुं वड्ढीए विण्णेयं हायणपुहुत्तं ॥८१६॥
पुरिसे साहियवासो णेयं हाणीअ चउकसायेसुं ।
अब्भहियो वासो उअ छम्मासा अंतरं होइ ॥८१७॥
ओहिदुगे विण्णेयं अहियसमा केइ हायणपुहुत्तं ।
अवसेसमग्गणासुं छम्मासा अंतरं णेयं ॥८१८॥

(प्रे०) "जत्थऽत्थि" इत्यादि, 'यत्र'- यासु मार्गणासु 'स्तः'-सत्यौ, के ? असंख्येयगुणवृद्धिहानी, सप्तकर्मणामसंख्येयगुणवृद्धिहानिपदद्वयं सत्पदद्वारे सदभिहितमिति भावः । "तत्थ" त्ति

'तत्र'-तासु मार्गणासु "समयो लहु' असंखगुणवड्ढिहाणीणं" ति तयोरसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितं 'लघु'-जघन्यं बन्धान्तरं समयः, ओघवत्समयप्रमाणं भवतीत्यर्थः। भावनाप्योघवदेव द्रष्टव्येति। अथाऽनयोरेवोत्कृष्टान्तरमाह-"जेट्ठ"मित्यादि, असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकं 'ज्येष्ठम्'-उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवतीति परेणान्वयः। कासु मार्गणास्वित्याह-"मणुसित्थी"-त्यादि, मानुषी-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञानौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्वित्यर्थः। न च 'वासपुहुत्तमुवसामगे्सु' इति वचनादौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुतहान्यन्तरस्योत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वेऽपि मानुष्यादिमार्गणासु नैतद्युज्यते,तासु क्षपकाणामपि प्रस्तुतहानेर्भावात्,क्षपकाणामुत्कृष्टान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वाच्चेति वाच्यम्। तत्तद्वेद-तत्तज्ज्ञानादिनाऽविशिष्टानां क्षपकसामान्यानां नानाजीवाश्रयान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽपि तत्तद्वेदज्ञानादिभेदेन विशिष्टानां स्त्र्यादितत्तल्लिङ्गिनामवध्यादितत्तज्ज्ञानीनां सिद्ध्यन्तरवद्यथा मानुष्यादिमार्गणासु स्त्रीवेदादिविशिष्टक्षपकनानाजीवान्तरापेक्षया सप्तानां जघन्यस्थितिबन्धान्तरं विलक्षणं विलक्षणं प्राप्यते तथैव प्रस्तुतहान्यन्तरमपि मानुष्यादिमार्गणाप्रविष्टक्षपकजीवाऽन्तरापेक्षया विलक्षणं वर्षपृथक्त्वादिकं प्राप्यते,न तु क्षपकसामान्योत्कृष्टान्तराक्षिप्तं षण्मासप्रमाणमेव, अत एव पुंवेदादिमार्गणास्थानेषु तत् षण्मासमनुक्त्वा साधिकवर्षादिमानमनुपदमेव वक्ष्यते, इत्थं जघन्यस्थितेर्बन्धकान्तरवदिदमप्यन्तरं मानुष्यादिमार्गणासु यथासम्भवं वेदितव्यमिति। अपगतवेदमार्गणायां तु वेदनीय-नामगोत्रलक्षणानां तिसृणां मूलप्रकृतीनामेव तद्वर्षपृथक्त्वम्, न पुनस्तदन्यासाम्, गतवेदमार्गणायां तदन्यासामसंख्येयगुणवृद्धिहान्योरेवाऽभावात्।

अथ छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां प्रस्तुतवृद्धिहान्योरुत्कृष्टान्तरमाह-"छेए अट्ठारस" इत्यादि, एतदपि सुगमम्, नानाजीवानाश्रित्य प्रस्तुतमार्गणाया एव सान्तरत्वात्, तदीयोत्कृष्टान्तरस्याऽष्टादशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणत्वाच्च। विशेषतस्तु-प्रस्तुतमार्गणायां सप्तकर्मणां जघन्यादिस्थितिबन्धस्य प्राग्दर्शितोत्कृष्टान्तरानुसारेण दर्शनीयम्।

इदानीं शेषमार्गणासु तत्रप्रविष्टनानाजीवाश्रितोपशमश्रेण्युत्कृष्टान्तराधीनमसंख्यगुणवृद्धेरुत्कृष्टान्तरं दर्शयति-"सेसासु वड्ढीए" इत्यादि, यासु मार्गणास्वसंख्यगुणवृद्धिपदं सत् तास्वनन्तरोक्ता मानुष्यादिषण्मार्गणाः संत्यज्य शेषासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु प्रत्येकं 'वृद्धेः'-असंख्यगुणवृद्धेरुत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति। कुतः ? असंख्यगुणवृद्धेरुपशमश्रेणावेव भावादिति।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वेव क्रमेण प्रस्तुतहानेरुत्कृष्टान्तरं दर्शयति-"पुरिसे साहियवासो णेयं हाणीअ" त्ति पुरुषवेदमार्गणायां सप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यगुणस्थितिबन्धहानेर्नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं साधिकवर्षप्रमाणम्, तथा क्रोधादिलक्षणासु चतसृषु कषायमार्गणासु प्रत्येकम्"अब्भहियो वासो" त्ति अभ्यधिकवर्षमानं प्रस्तुतान्तरं भवेत्,"उअ छम्मासा अंतरं होइ" त्ति 'उत'-अथवा मतान्तरेण कषायमार्गणाचतुष्के प्रस्तुतान्तरं षण्मासा भवति। "ओहिदुगे" त्ति

अवधिज्ञानदर्शनलक्षणेऽवधिद्विके प्रस्तुतं हान्यन्तरम् "**अहियसमा**" त्ति साधिकसमा,अभ्यधिक-वर्षमानमेवेत्यर्थः। अत्रैव मार्गणाद्वये **महाबन्धकाराभिप्रायेण** प्रस्तुतहान्यन्तरं दर्शयन्नाह-"**केइ हायणपुहुत्त**" ति 'केचित्'-**महाबन्धकारा** अवधिज्ञान-दर्शनलक्षणमार्गणाद्वये सप्तानामसंख्येय-गुणहानिलक्षणस्य स्थितिबन्धविशेषस्य नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं 'हायनपृथक्त्वं'—वर्षपृथक्त्वम्, वदन्तीति शेषः। अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुतं हान्यन्तरमाह-"**अवसेसमग्गणासु**"मित्यादि, यास्वन्यतमस्याऽपि कर्मणोऽसंख्यगुणहानिपदं सद्भूतमभिहितं ताभ्यो मार्गणाभ्योऽनन्तराभिहिता मानुष्यादिचतुर्दशमार्गणास्त्यक्त्वाऽवशेषासु मनुष्यगत्योघादित्रिंशन्मार्गणासु तस्या ज्ञानावरणा-देरसंख्यगुणहानेर्नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं षण्मासा भवति। **ताश्च मार्गणा इमाः**—मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यौ, तथैव पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, त्रसकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग--काययोगसामान्यौ--दारिककाययोग--मतिज्ञान--श्रुतज्ञान--संयमौघ--सामायिकसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन--शुक्ललेश्या--भव्य--सम्यक्त्वौघ--क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणाश्चेति ॥८१५-८१६-८१७-८१८॥

तदेवमभिहितं विभागेन मार्गणास्थानेष्वपि सप्तानामसंख्यभागवृद्ध्यादिसत्पदानां नानाजीवा-श्रितं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं बन्धान्तरम्, तथा च कृते गतमेकादशमन्तरद्वारम्।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्ध्यधिकारे एकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

एतर्हि क्रमप्राप्तस्य भावद्वारस्यावसरः, तत्र पूर्ववत् प्रस्तुतस्थितिबन्धवृद्ध्यादिरप्यौदयिकेन भावेन प्रवर्तत इत्येतन्निजिगदिषुरेकामार्यामाह—

भावेणोदइएणं बंधो सव्वाण वड्ढिहाणीण।
सत्तण्हमेव भवे सवड्ढिहाणीण सव्वासु॥ ८१९॥

(प्रे०) "**भावेणे**"त्यादि, सुगमम्, केवलं "**सव्वाण वड्ढिहाणीणं सत्तण्ह**" त्ति आयु-षोऽसंख्यभागहानेस्तदीयावक्तव्यबन्धस्य तथाऽऽयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनामवस्थिताऽवक्तव्यस्थिति-बन्धयोः सत्पदादिभावद्वारान्तद्वादशद्वारविषयायाः सर्वप्ररूपणायाः प्रस्तुताधिकारप्रारम्भे **सत्पदद्वारे** 'अत्थि अवत्तव्वत्त'मित्यादिगाथा- (७३२-७३३) द्वयेनाभिहितत्वादुक्तशेषाणां तत्तदसंख्येयभाग-प्रभृतिवृद्ध्यादिसत्पदानां बन्धोऽप्योघत आदेशतश्चोत्कृष्टादिस्थितिबन्धवदौपशमिकादिभावानां मध्ये औदयिकेन भावेन जायते। अत्राऽऽपत्त्युपपत्तयस्तु **भूयस्काराधिकारभावद्वारदर्शितनीत्या स्व-यमभ्यूह्या इति** ॥८१९॥

तदेवं कृतमतिदिष्टशेषस्थितिबन्धवृद्ध्यादिसत्पदेषु भावप्ररूपणम्, तथा च गतं भावद्वारम्।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्ध्यधिकारे द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

इदानीं त्रयोदशस्याल्पबहुत्वद्वारस्यावसरः । तत्रायुषः पदद्वयविषयकाल्पबहुत्वस्यापि सत्पद-द्वारे 'भूगारब्वाउस्स' इत्यादिनाऽतिदेशेनैव दर्शितत्वादायुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम-संख्यभागप्रभृतिवृद्धिहान्यवस्थानादिबन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्हं सव्वप्पाऽवत्तव्वस्स खलु बंधगा तत्तो ।
संखेज्जगुणा कमसो असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥८२०॥
तत्तो वि असंखगुणा हवन्ति संखगुणवड्ढिहाणीणं ।
ताउ असंखेज्जगुणा णेया संखंसवड्ढिहाणीणं ॥८२१॥ (गीतिः)
तान्हितोऽणंतगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
ताहिन्तोऽवट्ठाणस्स असंखगुणा मुणेयव्वा ॥८२२॥

(प्रे०) "**सत्तण्हं सव्वप्पा**" इत्यादि, आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यलक्षणस्थिति-बन्धस्य 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः "**सव्वप्पा**" त्ति अनुपदं वक्ष्यमाणासंख्येयगुणवृद्धयादिशेषसर्वपदा-नामेकैकस्य बन्धकापेक्षयाऽल्पत्वात् 'सर्वाल्पाः'-सर्वस्तोका भवन्ति, यत उपशमश्रेणितो निपततां स्थितिबन्धप्रथमसमये एवाऽवक्तव्यबन्धो भवति । "**तत्तो**" त्ति तेभ्यो ज्ञानावरणादीना-मेकैकस्यावक्तव्यस्थितिबन्धकेभ्यः "**संखेज्जगुणा**" त्ति 'बंधगा' इत्यस्यानुवर्तनात्तेषामेव ज्ञाना-वरणादीनामेकैकस्य बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । कस्य कस्य पदस्येत्याह-"**कमसो असंख-गुणवड्ढिहाणीणं**" ति 'क्रमशः'-यथाक्रममसंख्यगुणवृद्धेरसंख्यगुणहानेश्च ।

इदमुक्तं भवति–उत्कृष्टपदे ज्ञानावरणस्यावक्तव्यलक्षणस्थितिबन्धस्य यावन्तो बन्धकाः प्राप्यन्ते, तेभ्यस्तस्यैव ज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेर्बन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, तेभ्यो ज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणवृद्धिबन्धकेभ्यो ज्ञानावरणस्यैवाऽसंख्येयगुणहानेर्बन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते । तत्रावक्तव्यस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणवृद्धेश्चोपशमश्रेणितः प्रति-पतत एव जायमानत्वेऽप्यवक्तव्यबन्धस्य सकृदेव भावाद्, असंख्येयगुणवृद्धेः संख्येयशः सम्भवाच्चा-न्तर्मुहूर्त-द्वयन्तर्मुहूर्ताद्यन्तरेण प्रतिपततामप्यसंख्येयगुणवृद्धिर्नैरन्तर्येण सम्भवति, न पुनस्तेषां सर्वेषां नैरन्तर्येणावक्तव्यस्थितिबन्धः; प्रतिपातप्रथमसमये एव तत्सम्भवात्; इत्थं चावक्तव्यबन्धकेभ्योऽ-संख्यगुणवृद्धिबन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते । असंख्यगुणहानिस्तूपशमकानामिव क्षपका-णामपि जायते, असंख्यगुणवृद्धिस्तूपशमकानामेव, किञ्चोपशमकेभ्यः क्षपकास्तूत्कृष्टपदे संख्येय-गुणाः प्राप्यन्ते । यदाहुर्मलधारीयहेमचन्द्रसूरिपादा जीवसमासवृत्तौ—

'इहोपशमकग्रहणेन मोहोपशामका उपशान्तमोहाश्च गृह्यन्ते, क्षपकोपादानेनापि क्षपकाः क्षीणमोहाश्च स्वीक्रियन्ते, उपलक्षणव्याख्यानात् , ततश्च सर्वस्तोका एव उपशामकाः क्षपकास्त्वेतेभ्यः संख्येयगुणाः, एतेषां चोपशमकक्षपकाणामेतदल्पबहुत्वमुभयेषामप्युत्कृष्टपदसत्त्वे लभ्यमाने द्रष्टव्यम्' इति ।

इत्थं च ज्ञानावरणस्यासंख्यगुणवृद्धेर्बन्धकेभ्यो ज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते । इत्थमेव दर्शनावरणादीनां प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् ।

"तत्तो वि" त्ति तेभ्योऽनन्तरपदोक्तज्ञानावरणादिसत्कासंख्यगुणहानिबन्धकेभ्योऽपि **"असंखगुणा हवन्ति"** त्ति असंख्यगुणा भवन्ति,बन्धका इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्राऽपि बन्धका इत्यनुवृत्त्या द्रष्टव्यम् । कस्य कस्य पदस्येत्याह–**"संखगुणवड्ढिहाणीणं"** ति ज्ञानावरणादीनां तत्तत्प्रकृतीनां संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकपदस्येत्यर्थः,परस्परं तु तयोर्बन्धकास्तुल्या इति विज्ञेयम् , पदद्वयस्य युगपदुपादानात् । कुतोऽसंख्यगुणाः ? इति चेत् , सर्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां संख्येयगुणवृद्धिहानिस्वामित्वेन तेषां परिमाणतोऽसंख्येयत्वेन च संख्येयेभ्योऽसंख्यगुणहानिबन्धकेभ्यः सुतरामसंख्येयगुणत्वादिति । **न च** भवन्तु संख्येयगुणवृद्धिस्वामिन उत्कृष्टपदेऽसंख्यगुणाः । कथं पुनः संख्येयगुणहानिस्वामिनोऽप्यसंख्येयगुणा एव, ओघत एकेन्द्रियाणामपि संख्येयगुणहानिस्वामित्वेनाऽनन्तगुणत्वस्यैव युज्यमानत्वादिति **वाच्यम् , यत** एकेन्द्रिया न स्वस्थाने संख्येयगुणहानिस्वामिनः, किन्तु द्वीन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वोत्पद्यमाना भवप्रथमसमयवर्तिन एव,द्वीन्द्रियादयस्त्वसंख्येया एव, अतो द्वीन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमयवर्तिन एकेन्द्रिया अप्यसंख्येया एवोत्कृष्टपदे प्राप्यन्ते,तथा चानन्तेष्वप्येकेन्द्रियेषु केचनासंख्येया एव एकस्मिन् समये संख्येयगुणहीनस्थितेर्बन्धकतया प्राप्यन्ते, न पुनस्तदधिकाः, प्रस्तुताल्पबहुत्वं चैकसामायिकोत्कृष्टपदगतबन्धकानाम् , अत एकेन्द्रियाणां संख्येयगुणहानिस्वामित्वेऽपि संख्येयगुणहानिबन्धका एकस्मिन् समये उत्कृष्टपदे उत्कृष्टपदगतेभ्योऽसंख्येयगुणहानिबन्धकेभ्योऽनन्तगुणा नैव भवन्ति, किन्तु यथोक्ता असंख्येयगुणा एव भवन्ति ।

"ताउ" त्ति तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः **"असंखेज्जगुणा णेया"** त्ति असंख्येयगुणा बन्धकाः **"संखंसवड्ढिहाणीणं"** ति ज्ञानावरणादीनां सप्तानामन्यतमकर्मणः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या ज्ञेयाः । परस्परं तु तयोः प्राग्वत्तुल्या एव, प्राग्वदत्रापि पदद्वयस्य युगपदुपादानात् , एवमेवोत्तरत्रापि युगपत्संगृहीतेषु पदेषु बन्धकानां तुल्यत्वं स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अत्रानन्तरोक्तपदापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं तु स्वस्थानविकलेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि संख्येयभागवृद्धिहानिस्वामित्वाद्विज्ञेयम् । **इदमुक्तं भवति**–ज्ञानावरणादेः संख्येयगुणवृद्धिहानिस्वामिनः स्वस्थाने तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव, संख्येयभागवृद्धिहान्योस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियवद् विकलेन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि, संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तु ते एकेन्द्रियवर्जा अपि सर्वेऽसंख्येयगुणाः सन्ति, तदेवं विकलेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकत्वादनन्तरपूर्वपदोक्तबन्ध-

कापेक्षया संख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धका असंख्येयगुणाः प्राप्यन्त इति ।

"ताहिन्तो" त्ति तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः **"ऽणंतगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं"** ति असंख्यांशवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, स्व-स्थानसाधारणवनस्पतिकायिकानामपि तत्स्वामित्वात् ।

"ताहिन्तो" त्ति तेभ्योऽसंख्यांशवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः **"ऽवट्ठाणस्स असंखगुणा मुणेयव्वा"** त्ति ज्ञानावरणादेरवस्थानलक्षणस्य स्थितिबन्धस्य बन्धका असंख्यगुणा ज्ञातव्याः । **कुतः?** असंख्यभागवृद्धिहान्यवस्थानस्थितिबन्धानां प्रत्येकं सर्वजीवस्वामिकत्वेऽप्यसंख्यभागवृद्धि-हानेरेकजीवाश्रितोत्कृष्टकालस्य द्विसमयमात्रत्वात्, ततश्चावस्थानबन्धोत्कृष्टकालस्य त्वसंख्येयगुण-त्वात्। **अयम्भावः**—सामान्येन तत्तद्वृद्धिहानिबन्धार्हजीवराशीनामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-मनुष्यादि-रूपेण विजातीयत्वे तत्तद्राशीनां परस्पराल्पबहुत्वानुसारेण तत्तद्वृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्वं सम्प-द्यते, अतो द्विचरमत्रिचरमादिपदेषु तथैव दर्शितम्, उत्तरत्र तथा दर्शयिष्यते च । तत्तद्वृद्धिहानि-बन्धकानां नारक-तिर्यग् मनुष्य-देव-पञ्चेन्द्रिय-विकलेन्द्रियै-केन्द्रियादिरूपेण तुल्यत्वे तु संख्येयगुण-संख्येयभागादितत्तद्विजातीयवृद्ध्यादेर्बन्धकाः वक्ष्यमाणनीत्या यथोत्तरं संख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते, अत एव नरकगत्योघादिमार्गणासु ते यथोत्तरं संख्येयगुणा अभिधास्यन्ते, सजातीयसंख्येयगुण-वृद्ध्यादेर्बन्धकास्तु तत्तत्सजातीयसंख्येयगुणादिवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयकालानुसारेण तुल्या अतुल्या वा प्राप्यन्ते, एकजीवाश्रयकालस्य तुल्यत्वे तुल्याः प्राप्यन्ते, तस्यातुल्यत्वे त्वतुल्याः संख्येयगुणा लभ्यन्त इति भावः । अत एवौघतस्तत्तत्सजातीयवृद्धिहानिपदयोर्बन्धकास्तुल्या अभिहिताः, मार्ग-णास्थानेष्वभिधास्यन्ते च । अवस्थानबन्धकास्तु संख्येय-संख्येयातीतलक्षणस्वपरिमाणानुसारेण चरमपदे संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा सम्पद्यन्त इत्यत ओघतश्चरमपदे तेऽसंख्येयगुणा प्रति-पादिताः, नरकगत्योघादिमार्गणास्वसंख्येयगुणास्तथा पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु संख्येयगुणाश्च प्रतिपादयिष्यन्त इति ॥ ८२०-८२१-८२२ ॥

तदेवमभिहितमोघतो ज्ञानावरणादेरसंख्येयभागप्रभृतिवृद्ध्यादिमत्पदानां बन्धकाल्पबहुत्वम् । अधुना तदेवादेशतो द्रष्टव्यम्, तत्र प्रथमं निरयगत्योघभेदे दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादन्यमार्गणाभेदा-नपि संगृह्णाह—

सव्वेसुं णिरयेसुं पज्जपणिंदितिरिये तिरिच्छीए ।
असमत्तणरे सव्वत्थवज्जदेवेसु विउवदुगे ॥८२३॥
विब्भंगम्मि य देसे तेउ-पउम-वेअगेसु सासाणे ।
मिस्से सत्तण्हऽप्पा संखियगुणवड्ढिहाणीणं ॥८२४॥

तत्तो संखेज्जगुणा हवन्ति संखंसवड्ढिहाणीणं ।
तत्तो संखेजगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं ॥८२५॥ (गीतिः)
ताउ असंखेज्जगुणाऽवट्ठाणस्सेवमेव सव्वत्थे ।
आहारदुगम्मि तहा परिहारे णवरि संखगुणा ॥८२६॥

(प्रे०) "**सव्वेसु णिरयेसु**" इत्यादि, सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेष्वष्टसंख्याकेषु निरयगतिभेदेषु, तथा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, तिरश्चीभेदे, अपर्याप्तमनुष्ये, "**सव्वत्थवज्जदेवेसु**" त्ति सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जेष्वोघ-भवनपत्यादिभेदभिन्नेष्वेकोनत्रिंशद्देवगतिभेदषु, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगयोः, विभङ्गज्ञाने, देशसंयमे, तेजः-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्वेषु, सासादने, मिश्रदृष्टिमार्गणायां चेत्येतास्वेकोनपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं "**सत्तण्हऽण्णा संखियगुणवड्ढिहाणीण**"-मित्यादि, आयुर्वर्जसप्तान्यतममूलप्रकृतीनां संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्याः' अन्याः'-सर्वस्तोकाः, बन्धका इत्यनुवर्तते, इत्येवमुत्तरत्रापि, ततस्तासामेव सप्तानां प्रत्येकं संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरस्या बन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणा भवन्ति ।

ननु नरकगत्योघादिप्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकमेकजीवाश्रितो निरन्तर उत्कृष्टबन्धकालः संख्येयगुणवृद्धिहान्योः संख्येयभागवृद्धिहान्योश्च प्रत्येकं तुल्यो द्विसमयमात्रः, किञ्च नरकगत्योघादिमार्गणागताः प्रत्येकं जीवा उक्तवृद्ध्यादिचतुर्विधमन्यदबन्धार्हाः, इत्थं च यथा संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धका उत्कृष्टपदे तुल्याः प्राप्यन्ते तथा संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका अपि कथं तैस्तुल्या नोच्यन्ते, किन्तु संख्येयगुणा उच्यन्ते ? **इति चेद्**, भण्यतेऽत्रोत्तरम्, प्रत्यन्तर्मुहूर्तं जायमानासु स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यास्वसंख्येयगुणवृद्धिहानिवर्जासु संख्येयगुणादिषु त्रिविधवृद्धिषु त्रिविधहानिषु चैकैकस्या एकजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेऽप्युत्कृष्टतो यावदन्तरमसंख्येयभागवृद्धेर्भवति तदपेक्षया संख्येयभागवृद्धेस्तत्संख्येयगुणं भवति, ततोऽपि संख्येयगुणवृद्धेस्तत्संख्येयगुणं भवति, इत्थं चान्तर्मुहूर्तान्तरेण जायमानयोः संख्येयगुणवृद्ध्योरन्तरालेऽन्तर्मुहूर्तकालान्तरिताः संख्येयाः संख्येयभागवृद्धयस्तादृश्यो हानयश्च जायन्ते, तासामप्यान्तर्मुहूर्तिके एकैकस्मिन्नन्तराले संख्येया असंख्येयभागवृद्धिहानयः प्राप्यन्ते । इत्थमेव हानिविषयेऽपि विज्ञेयम् । एतच्च बाहुल्येन भवति, न पुनर्नियमतः, निरन्तरं सदृशवृद्धिद्वयमिव समयद्विसमयाद्यन्तरेणाऽपि संख्येयगुणादिसदृशवृद्धिहानीनां सम्भवात् , संख्येयगुणादिवृद्धिहानीनां बाहुल्येनान्तर्मुहूर्तमन्तरं तु प्रत्येकं वृद्धिहानीनामेकजीवाश्रितनिरन्तरकालस्योत्कृष्टतोऽपि द्विसमयमात्राऽभिधानात् तदीयोत्कृष्टान्तरस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणाभिधानाच्च, अत एव निरन्तराः स्तोकान्तरा वा वृद्धिहानयः कादाचित्क्य एवाऽऽवेदनीयाः ।

नन्वेतेन प्रकृते किमायातम् ? उच्यते, इत्थं हि प्रत्येकं जीवानां जीवनबहुभागे स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यवृद्धिष्वसंख्येयभागवृद्धयो यावन्त्यो जायन्ते तदपेक्षया संख्येयभागवृद्धयः संख्येयगुणहीना जायन्ते, ततोऽपि संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धरूपा वृद्धिर्बन्धप्रायोग्यास्तदा सा पुनरपि संख्येयगुणहीनवारान् संजायते, एवं संख्येयगुण-संख्येयभागादिवृद्धीनां प्रत्येकं बन्धार्हजीवानां पञ्चेन्द्रियत्वादिरूपेणाविशिष्टत्वे तासु दीर्घान्तरेण जायमानाया संख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकतया जीवानां स्तोकवारानेव परिणतेस्तद्बन्धका उत्कृष्टपदेऽपि स्तोकाः प्राप्यन्ते, संख्येयभागवृद्धिबन्धकतया तु तेषां जीवानां पूर्वापेक्षया संख्येयगुणाधिकवारान् परिणतेः संख्येयभागवृद्धिबन्धका उत्कृष्टपदे पूर्वापेक्षया संख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते, एवमुत्तरत्राऽप्यसंख्यभागवृद्धिबन्धकतया पूर्वापेक्षयाऽपि संख्येयगुणाधिकवारान् परिणतेस्तद्बन्धकास्तूत्कृष्टपदे पूर्वापेक्षयाऽपि संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, एवं हानिपदेष्वपि विज्ञेयम् । प्रस्तुते च नरकगत्योघादिमार्गणासु संख्येयगुण-संख्येयभागा-ऽसंख्येयभागवृद्धिहानिबन्धार्हजीवानां नारकत्वादिना तेन तेन रूपेण समानत्वात् संख्येयगुणवृद्धेस्तादृशहानेर्वा बन्धका उत्कृष्टपदे यावन्तः प्राप्यन्ते तदपेक्षया संख्येयभागवृद्धेस्तादृशहानेर्वा बन्धकाः संख्येयगुणा अवाप्यन्ते, तदपेक्षया च संख्येयगुणा असंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धका वक्ष्यन्ते । न च संख्येयगुणवृद्धयोरन्तर्मुहूर्तप्रमाणे एकस्मिन्नन्तरेऽन्तर्मुहूर्तान्तरिताः संख्येयाः संख्येयभागवृद्धिहानयोस्तासामपि प्रत्येकमान्तर्मुहूर्तिकेष्वन्तरेषु संख्येया असंख्येयभागवृद्धिहानय इत्येतत् कथं सङ्गच्छेदित्याशङ्कनीयम् । यतोऽन्तर्मुहूर्तकालस्याऽसंख्येयभेदभिन्नतयैकस्मिन् बृहत्यन्तर्मुहूर्ते संख्येयानां ह्रस्वान्तर्मुहूर्तानाम्, तेष्वपि प्रत्येकं पुनरपि संख्येयानां ह्रस्वतरानामन्तर्मुहूर्तानां सुखेन समावेशो जायते, इत्थं न काचिदसङ्गतिः ।

ननु यद्यन्तर्मुहूर्तकालस्यासंख्येयभेदभिन्नतयोत्कृष्टं संख्येयगुणवृद्ध्यन्तरमप्यसंख्येयैर्भेदैर्भिद्यते तदा तु तादृश्येकस्मिन्नन्तरेऽसंख्येयानां संख्येयभागवृद्धिहानीनां तथा तासामन्तरेष्वसंख्येयानामन्तर्मुहूर्तान्तरितानामप्यसंख्येयभागवृद्धिहानीनां सम्भवात् निरयगत्योघादिषु मार्गणास्थानेषु संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकापेक्षया संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकतया प्रत्येकं जीवानामसंख्येगुणाधिकवारान् परिणमनात् संख्येयभागवृद्धिबन्धका असंख्येयगुणाः सम्पद्येरन्, तेभ्यश्च वक्ष्यमाणासंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धका असंख्येयगुणा लभ्येरन् ? इति चेत्, न । यतो वृद्धयो हानयो वा विवक्षितस्थितिबन्धानामन्यविधाधिकस्थितिबन्धतया न्यूनस्थितिबन्धतया वा परावृत्तौ सत्यां जायन्ते, न पुनरवस्थितस्थितिबन्धानामिव तुल्यस्थितिबन्धे विद्यमान एव; अन्यान्यस्थितिबन्धपरावृत्तिस्त्वन्यूनेऽपि मुहूर्ते संख्येयवारानेव जायते, न पुनस्तदधिकवारान्, इत्थं च बृहत्यन्तर्मुहूर्तेऽपि संख्येयवारान् स्थितिबन्धपरावृत्तेर्भावेन तदधीनाः सर्वविधवृद्धिहानयः समुदिता अपि संख्येया एव भवन्ति, तथा च सति न सम्भवति कुतश्चिदपि निरयगत्योघादिजीवराशिषु

संख्येयगुणवृद्धिहानिबन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकानामसंख्येयगुणत्वम् , एवं संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका नाऽसंख्येयगुणाः, किन्तु यथोक्ता यथोत्तरं संख्येयगुणा एव सम्भवन्तीत्यलं विस्तरेण ।

अथ प्रस्तुतम् **"तत्तो संखेज्जगुणा हुन्ति"**इत्यादि, तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो ज्ञानावरणादितत्तत्प्रकृतेः **"असंखंसवड्ढिहाणीणं"** ति स्थितिबन्धविषयाया असंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरस्या बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । उपपत्तिस्त्वत्राऽनन्तरगतपदस्य संख्येयगुणत्वे या दर्शिता सैव द्रष्टव्या, मार्गणागतसर्वजीवानां संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानीनामिवाऽसंख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धेऽपि समर्थत्वात् । इत्थमेवोत्तरत्रापि निरन्तरोक्तपदद्वयस्य मार्गणागतस्वामिनां सदृशत्वेन संख्येयगुणत्वमवसेयमिति ।

"ताउ" त्ति तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः **"असंखेज्जगुणाऽवट्ठाणस्स"** त्ति अवस्थानलक्षणस्य स्थितिबन्धस्य निर्वर्तका असंख्येयगुणा भवन्तीत्यर्थः । अत्र हि प्रत्येकं मार्गणासु संख्यातीतानां जीवानां प्रविष्टत्वादसंख्येयगुणत्वमोघवद् द्रष्टव्यम् ।

तदेवमभिहितं नरकगत्योघादिमार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जानां सप्तानां संख्येयगुणवृद्ध्यादिबन्धकानामल्पबहुत्वम् । इदानीं सर्वार्थसिद्धविमानभेदादिकतिपयमार्गणासु चरमपदं विहाय शेषस्थानेष्वनन्तरोक्ताल्पबहुत्वेन साम्यात् तासु सापवादमतिदिशति–**"एवमेव सव्वत्थे"**त्यादि,अनुपदं नरकगत्योघादावुक्ताल्पबहुत्ववत् सर्वार्थसिद्धविमानभेदा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु तथा परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां चेत्येतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुताल्पबहुत्वं ज्ञातव्यम् , **"णवरि"** त्ति नवरमयं विशेषः, स च **"संखगुणा"** त्ति अनन्तरोक्ताल्पबहुत्वे यत्राऽसंख्येयगुणा बन्धका उक्तास्तत्र चरमपदेऽवस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्य बन्धकाः संख्येयगुणा इत्येवंरूपो विज्ञेयः । इत्थं च सर्वार्थसिद्धविमानभेदादिमार्गणाचतुष्के सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतरस्य बन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽवस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्य निर्वर्तका अपि संख्येयगुणा एवेत्येवमल्पबहुत्वं प्राप्तम् , अत्र चरमपदे संख्येयगुणत्वाभिधानं तु मार्गणाचतुष्केऽपि जीवानामेव संख्येयत्वाद्विज्ञेयम् । अयम्भावः–कस्यामपि मार्गणायामुत्कृष्टपदेऽसंख्येयानामनन्तानां वा जीवानां सद्भावेऽसंख्यभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्योऽवस्थितस्थितिबन्धका असंख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते, यस्यां तु न सम्भवन्त्युत्कृष्टपदे संख्यातीता जीवाः, किन्तूत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव तस्यां पुनरवस्थितस्थितिबन्धकाः संख्येयगुणा एव प्राप्यन्ते,तत्र सर्वबन्धकराशेरेव संख्येयत्वेनाऽन्यविकल्पानुपपत्तेः । शेषपदेषु तु नरकगत्योघवत्संख्येयगुणत्वमुपपाद्यमिति ॥८२३-८२६॥

तदेवमभिहितं नरकगत्योघेन साम्यादन्यमार्गणास्वपि युगपदेव सप्तानामसंख्यभागवृद्ध्यादि-

बन्धकानामल्पबहुत्वम् । अथ क्रमप्राप्ते तिर्यग्गत्योघे तद् दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादन्यमार्गणा अपि सङ्गृह्य सममेवाह—

तिरि-युरलमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासु ।
अभविय-मिच्छत्तेसु अमणा-णाहारगेसु च ॥८२७॥
सत्तण्ह बंधगा खलु थोवा संखगुणवड्ढिहाणीणं ।
ताउ असंखेज्जगुणा हवन्ति संखंसवड्ढिहाणीणं ॥८२८॥ (गीतिः)
तान्हितोऽणंतगुणा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
ताउ असंखेज्जगुणाऽवट्ठाणस्स हु मुणेयव्वा ॥८२९॥

(प्रे०) "**तिरियुरले**"त्यादि, तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगमत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादित्र्यशुभलेश्यासु, अभव्य-मिथ्यात्वयोः, असंज्ञ्य-ऽनाहारकयोश्चेत्येतासु समुदितासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानामेकैकस्य "**बंधगा खलु थोवा संखगुणवड्ढिहाणीणं**" ति संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकं बन्धकाः खलु 'स्तोकाः' वक्ष्यमाणपदेभ्यः स्तोकाः, परस्परं तु तुल्या इत्यपि विज्ञेयम् । कुतः स्तोकाः बन्धकाः ? स्वस्थाने तु पर्याप्ताऽपर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियैरेव तयोर्निर्वर्तनात् ,तेषां च मार्गणागतशेषवृद्धिहानिबन्धकेभ्योऽनन्तभागगतत्वात् । "**ताउ**" त्ति 'तेभ्यः'-उक्तान्यतरबन्धकेभ्यः संख्येयांशवृद्धिहान्योरेकैकस्यास्तेऽसंख्येयगुणा भवन्ति । कुतः ? पर्याप्ताऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामिव पर्याप्ताऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्वस्थाने संख्येयभागवृद्धिहान्योर्जायमानत्वात् । "**ताहिन्तो**" त्ति तेभ्यः संख्येयांशवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः सप्तानामसंख्यांशवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, स्वस्थानैकेन्द्रियाणामपि प्रस्तुतवृद्धिहानिद्वयस्वामित्वात् । परस्परन्त्वेते पूर्ववत् तुल्या एव विज्ञेयाः । "**ताउ**" त्ति तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्योऽवस्थानलक्षणस्थितिबन्धनिर्वर्तकाः "**असंखेज्जगुणा**" त्ति ओघवदसंख्येयगुणा ज्ञेया इति ।

अथ क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां प्रस्तुताल्पबहुत्वं बिभणिषुस्तत्साम्यादन्यत्राऽपि सममेव सापवादमतिदिशति—

णिरयव्व पणिंदितिरिय-तदपज्जा-ऽपज्जतसपणिंदीसु ।
णवरि असंखेज्जगुणा हवन्ति संखंसवड्ढिहाणीणं ॥८३०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**णिरयव्वे**" त्यादि, निरयगत्योघवत् प्रस्तुताल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , विहाय "**णवरि**" इत्यादिनोत्तरार्धेनाभिहितापवादपदम्, कासु मार्गणास्वित्याह– "**पणिंदितिरिये**" त्यादि, पञ्चे-

न्द्रियतिर्यगोघ-तदपर्याप्ता-ऽपर्याप्तत्रसकाया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणासु चतसृषु मार्गणास्वित्यर्थः। इत्थं च मार्गणाचतुष्के सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहानिबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकास्त्वसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहानिबन्धकास्तु निरयगत्योघवत् संख्येयगुणा एव, ततः पुनरवस्थानस्थितिबन्धका अपि तथैवाऽसंख्येयगुणा एवेति। अत्रापवादपदं विहाय शेषपदेषु यथोक्ताल्पबहुत्वहेतवोऽपि नरकगत्योघवदेव विज्ञेयाः, अपवादपदे तु निरयगत्योघापेक्षयाऽस्ति विशेषः, ततश्चाल्पबहुत्वमपि विशेषेणाभिहितम्, कः सः ? इति चेद्, निरयगत्योघमार्गणायां तया सहाभिहितमार्गणासु चान्यतमस्यामपि मार्गणायामपर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणा द्विविधजीवाः प्रविष्टा नासन्, अत्र तु प्रत्येकं तादृशा द्विविधजीवाः प्रविष्टाः सन्ति, अपर्याप्तेषु तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवापेक्षयाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा असंख्येयगुणा विद्यन्ते, ततश्च संख्येयगुणवृद्धिहानिबन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका असंख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, असंज्ञिभिः स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहान्योरनिर्वर्तनादिति ॥८३०॥ अथ पर्याप्तमनुष्यादिचतुर्मार्गणाः सङ्गृह्याह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं मणपज्जव-संयमेसु सत्तण्हं
ओघकमा संखगुणा जहुत्तरं बंधगा णेया ॥ ८३१ ॥

(प्रे०) "पज्जमणुसे" त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, मनःपर्यवज्ञान-संयममार्गणयोश्च प्रत्येकं सप्तनामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां "ओघकमा" त्ति 'ओघक्रमात्'—येन क्रमेण ओघप्ररूपणायामवक्तव्यासंख्येयगुणवृद्ध्यादिपदान्यभिहितानि तेन क्रमेणेत्यर्थः। तेन क्रमेण किमित्याह— "संखगुणा जहुत्तर" मित्यादि, 'यथोत्तरम्' उत्तरोत्तरस्थानेषु संख्येयगुणा बन्धका ज्ञेयाः। तद्यथा—सर्वस्तोका अवक्तव्यबन्धकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्याः संख्येयगुणाः; परस्परं तु तयोस्तुल्याः बन्धकाः, तेभ्योऽन्यतरस्या बन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परं तुल्याः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परन्तु प्राग्वत्तुल्याः, तेभ्यः पुनरवस्थानस्थितिबन्धकाः संख्येयगुणा इति। कुतः प्रतिपदं यथोत्तरं संख्येयगुणाः ? इति चेद्, पर्याप्तमनुष्यादिप्रस्तुतप्रत्येकमार्गणासूत्कृष्टजीवपरिमाणस्यैव संख्येयत्वेन यथोत्तरं संख्येयगुणादधिकबन्धकानामसम्भवादिति ॥८३१॥

अथ स्थावरभेदेषु प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—

सत्तण्ह वड्ढिहाणीण हुन्ति थोवा तओ असंखगुणा।
णेयाऽवट्ठाणस्स उ सव्वेगिंदिपणकायेसुं ॥ ८३२ ॥

(प्रे०) "सत्तण्हे"त्यादि, ओघ-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्षणानि सप्तैकेन्द्रियमार्गणास्थानानि, एवमेव पृथ्वीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवन-

स्पतिकायानां प्रत्येकं सप्त सप्त मार्गणास्थानानि, वनस्पतिकायौघ--प्रत्येकवनस्पतिकायौघ--तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्षणानि चत्वारि मार्गणास्थानानीत्येवं समुदितेषु सर्वेषु षट्चत्वारिंशत्संख्याकेष्वेकेन्द्रिय-पञ्चकायसम्बन्धिषु मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनामेकैकस्याः "वड्ढि-हाणीण" त्ति एतेषु मार्गणास्थानेष्वसंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जानां शेषवृद्धिहानीनामेवासम्भवात् , तयोरसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोः सत्पदयोरित्यर्थः । तयोः किमित्याह-"हुन्ति थोवा" त्ति प्रस्तुतत्वाद्बन्धकाः स्तोकाः सन्ति, वक्ष्यमाणावस्थानबन्धकेभ्य इति गम्यते । ततोऽवस्थानस्य बन्धकास्त्वसंख्येयगुणा ज्ञेयाः, प्रत्येकं संख्यातीतानां जीवानां सद्भावे सत्यकेजीवाश्रितावस्थान-बन्धकालस्यैकजीवाश्रयवृद्धिहानिबन्धकालापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादिति ॥८३२॥

अथ विकलेन्द्रियसम्बन्धिमार्गणास्थानेष्वाह—

सव्वेसुं विगलेसुं संखेज्जइभागवड्ढिहाणीणं ।
सत्तण्ह बंधगा खलु सव्वत्थोवा मुणेयव्वा ॥८३३॥
तत्तो संखेज्जगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं ।
ताउ असंखेज्जगुणाऽवट्ठाणस्स खलु होएज्जा ॥८३४॥

(प्रे०, "सव्वेसु" इत्यादि, ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-लक्षणेषु सर्वेषु नवसंख्याकेष्वपि "विगलेसु" ति विकलेन्द्रियसत्कमार्गणास्थानेषु सप्तानां संख्येय-भागवृद्धिहानिलक्षयोर्द्वयोः पदयोर्बन्धकाः खलु सर्वस्तोकाः ज्ञातव्याः । तेभ्यः संख्येयगुणा भवन्ति, कस्याः कस्या इत्याह-"असंखंसवड्ढिहाणीणं"ति तत्र ज्ञानावरणादेरसंख्यांशस्थितिबन्धवृद्धि-हान्योरेकैकस्याः,"ताउ" त्ति तेभ्योऽसंख्यांशवृद्धिहानिबन्धकेभ्यः "असंखेज्जगुणाऽवट्ठाणस्स खलु होएज्जा" त्ति सुगमं गाथार्थश्चेति ॥८३४॥ अथाऽपगतवेदमार्गणायामाह—

थोवाऽवत्तव्वस्स अवेए एत्तो कमेण संखगुणा ।
वड्ढीणं हाणीणं अवट्ठिअस्स य मुणेयव्वा ॥ ८३५ ॥

(प्रे०) "थोवा" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य बन्धकाः स्तोका भवन्ति । "एत्तो कमेण संखगुणा" त्ति अतः परं वक्ष्यमाणक्रमेण शेषपदेषु तु बन्धका यथोत्तरं संख्येयगुणाः, ज्ञातव्या इति गाथोत्तरार्धेऽन्वयः; क्रमेण शेषपदान्याह-"वड्ढीण" मित्यादि, 'वृद्धीनाम्'-यस्य कर्मणो यावत्यो वृद्धयो भवन्ति तासां समुदिताः, एवं ततो हानी-नामपि समुदिताः, ततोऽवस्थानस्य च । इदमुक्तं भवति—सर्वासां वृद्धीनां बन्धकास्तथा सर्वासां हानीनां बन्धकाः समुदिता एकैकस्मिन् पदे गृह्यन्ते तदा निर्विशेषेण 'गयवेएऽवत्त-व्वस्सऽप्पा तत्तो कमेण संखगुणा । भूओगारस्स तओऽप्पयरस्साऽवट्ठिअस्स तओ' ॥ इत्यनेनोक्तभूयस्कारा-

दल्पबहुत्वमेव सम्पद्यते, तथा च प्रस्तुताल्पबहुत्वमपि निर्विशेषेण भूयस्काराद्यल्पबहुत्ववद्योज्यम् । तत्तद्वृद्ध्यादीनां विशेषेण तु तदागमाविरोधेन बुद्ध्योपपादनीयं मनीषिभिरिति ॥ ८३५॥

अथ सामायिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोराह—

सामाइय-छेएसुं सत्तण्ह असंखगुणिअवड्ढीए ।
थोवाऽत्थि बंधगा तो पज्जत्तणरव्व विण्णेया ॥८३६॥

(प्रे०) "**सामाइयछेएसु**" इत्यादि, सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमलक्षणमार्गणाद्वये प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामसंख्यगुणवृद्धेः स्तोका बन्धकाः सन्ति, वक्ष्यमाणपदेभ्य इति गम्यते । "**तो**" ति तस्मात्पुनः पर्याप्तनरमार्गणावद्यथोत्तरं संख्येयगुणा विज्ञेयाः । **तद्यथा**– स्तोकेभ्योऽसंख्यगुणवृद्धेर्बन्धकेभ्योऽसंख्यगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धि-हान्योरेकैकस्याः संख्येयगुणा बन्धकाः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्याः संख्येयगुणा बन्धकाः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः संख्येय-गुणाः, तयोरन्यतरबन्धकेभ्योऽवस्थानबन्धकाः संख्येयगुणाः । **इदमत्र हृदयम्**–पर्याप्तमनुष्यादि-मार्गणावत् प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रविष्टजीवराशेः संख्येयत्वेनाल्पबहुत्वमप्यसंख्येयगुणवृद्ध्यादिबन्धकानां सर्वथा पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावत् प्राप्यते, यद्यप्येवं तथाप्यत्र मार्गणाद्वये पृथगभिधान-मत्राऽवक्तव्यपदस्यासत्त्वेनाद्यपदेऽसंख्येयगुणवृद्धेर्बन्धकानां स्तोकत्वदर्शनार्थमिति ॥ ८३६ ॥

अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामाह—

सुहुमे सव्वत्थोवा वड्ढीए हुन्ति ताउ हाणीए ।
णेया संखेज्जगुणा तोऽवट्ठाणस्स संखगुणा ॥ ८३७ ॥

(प्रे०) "**सुहुमे**" इत्यादि, सूक्ष्मसंपरायसंयमे बन्धप्रायोग्यानां मोहनीयायुर्वर्जानामेकैकस्य "**वड्ढीए**" त्ति संख्येयभागवृद्धिहानिवर्जान्यविधवृद्धिहानीनामसत्त्वेन संख्येयभागवृद्धेर्बन्धकाः सर्व-स्तोका भवन्तीत्यर्थः । "**ताउ**" त्ति तेभ्यः "**हाणीए**" त्ति संख्येयभागलक्षणायाः स्थितिबन्धहाने-र्बन्धकाः संख्येयगुणा ज्ञेयाः । "**तोऽवट्ठाणस्स संखगुणा**" इति सुगमम् । **भावना तु प्रथमपदे** प्रपतदुपशमकानाम्, द्वितीयपदे श्रेणिमारोहतामुपशमकानां क्षपकाणां च, तथा चरमपदे त्ववस्थान-योग्यजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वेन दीर्घकालसञ्चितानां श्रेणिं समारोहतां प्रपततां च क्षपकोप-शमकजीवानां लाभाद्यथोत्तरं संख्येयगुणत्वोपपादनेन कर्तव्येति ॥ ८३७ ॥

अथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

थोवाऽवत्तवस्सुवसमम्मि सत्तण्ह बंधगा णेया ।
तत्तो संखेज्जगुणा असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥८३८॥

ताउ असंखेज्जगुणा णेया संखगुणवड्ढिहाणीणं ।
तत्तो संखेज्जगुणा संखेज्जइभागवड्ढिहाणीणं ॥८३९॥ (गीतिः)
तत्तो संखेज्जगुणा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं
तत्तो असंखियगुणा अवट्ठिअस्स य मुणेयव्वा ॥८४०॥

(प्रे०) "थोवाऽवत्तवस्स" इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तानामायुर्वर्जानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य 'बन्धकाः'-स्वामिनः सर्वस्तोका ज्ञेयाः, सुगमम् । "तत्तो संखेज्जगुणा" त्ति तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकाः समुदिता अपि संख्येयगुणाः, एवमुत्तरत्रापि; ततश्च "ताउ असंखेज्जगुणा णेया" त्ति अनन्तरोक्तबन्धकेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धकाः समुदिता असंख्येयगुणा ज्ञेयाः । कुतः ? अनन्तरोक्तवृद्धिहान्योः श्रेणिमुपगतानामेव प्रभवनात् ते स्तोकाः सन्ति, प्रस्तुतवृद्धिहान्योस्तु चतुर्गतिकानामुपशमसम्यग्दृष्टीनामपि भवनादमी बहवो भवन्तीति । तेभ्योऽपि संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि संख्येयगुणा भवन्त्यसंख्यांशवृद्धिहान्योः समुदिता बन्धकाः, तेभ्यः पुनरवस्थितस्य बन्धका असंख्येयगुणा विज्ञेयाः । सुगमानि चैतच्छेषपदानि, विशेषतस्तु मनुष्यगत्योघादिमार्गणावद्व्याख्यानीति ॥८३८-८४०॥

अथ लाघवार्थमुक्तशेषमार्गणासु सापवादमतिदिशति—

सेसासुं सत्तण्हं णेया ओघव्व बंधगा णवरं
जहि णत्थि अवत्तव्वो तासुं वड्ढीअ सव्वऽप्पा ॥८४१॥
णर-पज्जपणिंदियतस-पणमणवय-पुरिस-थी-तिणाणेसुं
ओहि-णयण-सुक्कासुं सम्मत्ते खइअ-सण्णीसुं ॥८४२॥
संखेज्जगुणा णेया संखअसंखंसवड्ढिहाणीणं
हुन्ति पणिंदितसेसुं तहा असंखंसवड्ढिहाणीणं ॥८४३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, उक्तशेषासु मनुष्योघादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानामवक्तव्यासंख्येयगुणवृद्ध्यादिसत्पदेषु "ओघव्व" त्ति 'ओघवत्'-औधिकाल्पबहुत्वक्रमेण, यथौघतः प्रथमे पदे स्तोकाः, ततो द्वितीये संख्येयगुणा इत्येवंरूपेण बन्धका अभिहिता तथाऽत्रापि "बंधगा" त्ति अल्पबहुत्वचिन्ताविषयीकृता बन्धकाः स्तोक-संख्येयगुणादिरूपेण प्राप्यन्त इत्यर्थः ।

तदेवं बहुसाम्यात् लाघवार्थं सामस्त्येन कृतेऽतिदेशेऽतिप्रसङ्गवारणार्थमपवादपदान्याह—"णवर"मित्यादि, नवरमिमान्यपवादपदानि, तत्र प्रथमं तावत् 'जहि' इत्यादि, शेषमार्गणासु 'यत्र'-यासु स्त्रीवेदादिमार्गणासु "णत्थि अवत्तव्वो" त्ति सप्तान्यतमानामवक्तव्यलक्षणस्थिति-

बन्धो 'नास्ति'-सप्ताभिहितस्तासु **"बहूदीअ"** त्ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः प्रथमपदेऽसंख्येयगुणवृद्धेः **"सव्वप्पा"** त्ति बन्धकाः सर्वाल्पा वक्तव्याः ।

द्वितीयमपवादस्थानमाह— "णरपज्जे" इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-पुरुषवेद-स्त्रीवेद-मत्यादित्रिज्ञानेषु, अवधिदर्शन-चक्षुर्दर्शन-शुक्लेश्यासु, सम्यक्त्वौघे, क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणयोश्चेत्येवं समुदितासु चतुर्विंशतिमार्गणासु प्रत्येकं **"संखेज्जगुणा णेया"** त्ति संख्येयगुणा ज्ञेयाः, बन्धका इति गम्यते । केषां पदानामित्याह **"संख-असंखंसवड्ढिहाणीणं"** ति अंशवृद्धिहानिशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् संख्येयभागवृद्धिहान्योरसंख्येयभागवृद्धिहान्योरित्येवं चतुर्णां पदानाम् । **अयम्भावः—**एतेषु चतुर्विंशतिमार्गणास्थानेष्वपर्याप्तासंज्ञिनामप्रवेशेनाऽसंख्येयगुणत्वस्य, तथैकेन्द्रियाणामप्रवेशेनाऽनन्तगुणत्वस्य चाऽसम्भवादोघतो यत्रासंख्येयगुणा अनन्तगुणा वा बन्धका प्राप्यन्ते तेषु पदेष्वपि प्रस्तुतमार्गणासु तु संख्येयगुणा एव बन्धकाः प्राप्यन्ते, अतस्तादृशपदान्यधिकृत्यापोदितमिति ।

अथ तृतीयमपवादपदमाह—"इन्ति पणिंदिये" इत्यादि, तत्र तथाशब्दस्य समुच्चायकतया पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां त्रसकायौघमार्गणायां चापि संख्येयगुणा बन्धका वक्तव्याः, कस्य कस्य पदस्येत्याह—**"असंखंसवड्ढिहाणीणं"** ति असंख्येयांशवृद्धिहान्योर्द्वयोः पदयोः, न पुनर्मनुष्यगत्योघादिचतुर्विंशतिमार्गणावत् संख्येयभागवृद्धिहान्योरपि । कुतः ? अत्र मार्गणाद्वये एकेन्द्रियाणामप्रवेशेऽप्यपर्याप्तासंज्ञिजीवानां प्रविष्टत्वात् ।

इत्थमपवादत्रय्यामुक्तायां शेषमार्गणासु प्रस्तुताल्पबहुत्वमित्थं प्राप्तम्— मनुष्यौघमार्गणायां सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योऽसंख्यातगुणवृद्धेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानेर्बन्धका संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धका असंख्येयगुणाः, परस्परन्तु तुल्याः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योरन्यतरस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परन्तु तुल्याः, तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परन्तु तुल्याः, तेभ्योऽवस्थानलक्षणस्थितिबन्धस्याऽसंख्येयगुणा बन्धका इति । मनुष्यौघमार्गणावदेव पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-मत्यादित्रिज्ञानाऽवधिदर्शन--चक्षुर्दर्शन--शुक्ललेश्या--सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु विज्ञेयम् ।

पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसौघमार्गणयोस्तु प्रत्येकं सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धिबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानिबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्यभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, कुतः, ? मार्गणाद्वयगतसर्वजीवानां संख्येयभागवृद्धि-

हान्योरिवाऽसंख्येयभागवृद्धिहानिबन्धार्हत्वात् । तेभ्यः पुनरवस्थानबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

स्त्री-पुरुषवेदमार्गणयोस्तु सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धिबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानिबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहानिबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽवस्थानबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

नपुंसकवेदमार्गणायां सप्तप्रकृतीनामसंख्येयगुणस्थितिबन्धवृद्धेर्बन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्यभागवृद्धिहान्योर्बन्धका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽवस्थानबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्केऽपि नपुंसकवेदमार्गणावदेव विज्ञेयम्, केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यबन्धस्य सद्भावात् लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणः सर्वथैवौघवद् द्रष्टव्यम् ।

तद्यथा–सर्वस्तोका मोहनीयस्याऽवक्तव्यस्थितिबन्धकाः, तेभ्यस्तस्यैवासंख्यगुणवृद्धिबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्यगुणहानिबन्धकाः संख्येयगुणाः; तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धका असंख्येयगुणाः, परस्परन्त्वेते तुल्याः; तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहानिबन्धका अनन्तगुणाः तेभ्यः पुनस्तस्यैव मोहनीयस्याऽवस्थानस्थितिबन्धका असंख्येयगुणाः । इदं चाल्पबहुत्वं सर्वथैवौघिकाल्पबहुत्वानुसारेण भावनीयम् । एवमेव शेषमार्गणास्वपि ज्ञानावरणादिसप्तमूलकर्मणां प्रस्तुतस्थितिबन्धवृद्ध्याद्यल्पबहुत्वं सर्वथैवौघवद्विज्ञेयम्, शेषमार्गणासु प्रत्येकमोघवत् सप्तानामवक्तव्यस्थितिबन्धस्य भावात्, एकेन्द्रियपर्यन्तानामनन्तानां जीवानां तत्र प्रविष्टत्वाच्च । **शेषमार्गणानामानि त्वेवम्**–काययोगसामान्यौदारिककाययोगाऽचक्षुर्दर्शन-भव्याऽऽहारिमार्गणा इति ॥ ८४१-८४२-८४३ ॥

तदेवं प्रतिपादितं शेषमार्गणास्थानेष्वपि शेषाणामायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्ध्यादेर्बन्धकानामल्पबहुत्वम् तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम्, तस्मिँश्च गतेऽर्वासितस्त्रयोदशद्वारात्मकः 'वड्ढि' इत्यनेन प्रागुद्दिष्टो वृद्ध्यधिकारः ॥

इत्थं वृद्ध्यधिकारं वितत्य सद्बन्धसुकृतजलराशेः ।
क्षालितदुष्कर्मरजा भव्यौघो व्रजतु सिद्धिसुखम् ॥ (पथ्यार्या)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमे वृद्ध्यधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिस्थितिबन्धे पञ्चमो वृद्ध्यधिकार. ॥

❀ वृद्ध्यधिकारयन्त्रकाणि ❀

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्ध्यादिसत्पदप्रदर्शकं यन्त्रकम्

सत्पदानि	ओघबद्धसंख्यगुणभाग-संख्येयगुणभागवृद्ध्य-स्तादृग्हानयश्चेति ८ पदानि (अवस्थानाऽवक्तव्यपदे च)	असंख्य- संख्यभाग वृद्धि हानय इति ४ पदानि (अवस्थानंच)	असंख्यभाग-वृद्धिहानीति २ पदे (अवस्थान-पदं च)	संख्येयभाग-वृद्धिहानी इति २ पदे (अवस्थान-पदं च)	ओघवद्संख्य-संख्येयगुण-भागवृद्धिहानय इति ८ पदानि (अवस्थान च)	असंख्यभाग-संख्य-भाग-गुण-वृद्धि हानय इति ६ पदानि (अवस्थानपदं च)
गति०	मनुष्यौघ० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३					शेष० ४४
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्तौ, २	सर्वविकल० ९	सर्वैकेन्द्रिय० ७			शेष० १
काय०	त्रसौघ-तत्पर्याप्तौ, २		पृथिव्यादि-प अकायसर्व-भेद० ३६			शेष० १
योग०	सर्वमनोवचोभेदाः, काययोगौघ०औदारिक० १२					शेष० १
वेद०				अवेद० 卐 १	वेदत्रिक० ३	
कषाय०	लोभ० ★ १				शेष० ३	
ज्ञान०	मति-श्रुता ऽवधि-मन पर्य ४					अज्ञान० ३
संयम०	संयमौघ० १			सूक्ष्मसम्प० १	सामायिक० छेद० २	शेष० ३
दर्शन०	चक्षु०अचक्षु०अवधि० ३					
लेश्या०	शुक्ल० १					शेष० ५
भव्य०	भव्य० १					अभव्य० १
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वौघ० क्षायिक० औपशमिक० ३					शेष० ४
संज्ञी०	संज्ञी, १					असंज्ञी० १
आहारी०	आहारी, १					अनाहा० १
सर्वमार्गणा:–	३५	९	४६	१+१	८	७०
गाथाङ्काः—	७३४-७३५-७३६-७३३	७३८-७३३	७३७-७३३	७३८-७३९-७३	३ ७३४-७३३...	७४०-७३३

★ लोभमार्गणायां मोहनीयस्यैवाऽवक्तव्यपद सत्, न शेषज्ञानावरणादीनामिति ।

卐 अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणां संख्यातगुणवृद्धिहान्यवक्तव्यपदान्यपीति षट् पदानि सद्भूतानि, वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां तानि तथाऽसंख्यगुणवृद्धिहानिपदे चेति अष्टौ पदानि सद्भूतानि, मोहनीयस्य तु केवलमवक्तव्यपदमेवोक्ताधिकतयेति चत्वारि पदानि सद्भूतानीति ।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यभागादिस्थितिबन्धवृद्ध्यादिस्वामित्वप्रदर्शकं यन्त्रकम्

	कस्य पदस्य ?	के स्वामिनः ?
ओघतः	असंख्यभागवृद्धिहान्यो —	श्रेणिगतजीवान् विहाय ससारस्था अन्यतमजीवा. ।
	सख्येयभागवृद्धिहान्यो —	ससारस्था अन्यतमत्रसजीवा', न तु स्थावरा. ।
	संख्येयगुणवृद्धिहान्यो —	स्वस्थाने सज्ञिन., परस्थानेऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्याश्च ।
	असख्यगुणवृद्धे —	अपतदुपशमका., श्रेणौ यथास्थान मृत्वा देवतयोत्पन्ना भवप्रथमसमयदेवाश्च ।
	असख्यगुणहानेः —	श्रेणिं समारोहन्त उपशमका' क्षपकाश्चानिवृत्तिबादरगुणस्थाने ।
मार्गणास्थानेषु	असख्यगुणवद्धिहान्यो —	यत्र पदद्वय सत् तत्रौघवत्, **केवलम्** — मनुष्योघ-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्वमनोवचोभेदौ-दारिकयोग-स्त्रीक्लीबवेदा ऽपगतवेद-मन पर्यवज्ञानसयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनमार्गणासु भवप्रथमसमयस्था देवा न वक्तव्या' ।
	शेषत्रिविधान्यतमवृद्धि-हानिमत्पदयोः —	• अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसयमयो अपतदुपशमकास्तत्तद्वृद्धिस्वामिन, श्रेणिं समारोहन्त उपशमका क्षपकाश्च यथास्थाने तत्तद्धानिस्वामिनः । • तिर्यग्गत्योघ-त्रसौघ-काययोगौघ-नपुंसकवेद--कषायचतुष्क--मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽप्रशस्तलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य--मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहारकमार्गणासु (मार्गणाप्रविष्टजीवा) **ओघवद्ब**न्धका । • शेषनरकगत्योघादिमार्गणासु तत्र प्रविष्टान्यतमजीवा, **केवल**मपर्याप्तत्रसकायादिमार्गणासु यथासम्भव द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियादिवर्जा इति ।

* * *

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनमसंख्यभागादिस्थितिबन्धवृद्ध्यादीनामेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकं यन्त्रम्

कुत्र मार्गणायो ?	कस्य सत्पदस्य ?	जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
ओघत —	असंख्यगुणहानेः —	समय	समय'
	शेषवृद्ध्यादिसत्पदानाम् —	,,	२ समयौ
मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्वमनोवचोभेदौ-दारिककाय-योग-स्त्री-नपुंसकवेद-मन पर्यवज्ञान-सयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमेषु २०	असख्यगुणवृद्धे —	,,	समयः
	शेषवृद्धिहानिसत्पदानाम् —	ओघवत्	ओघवत्
कार्मणकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसयमा-ऽनाहारक-मार्गणासु — ४	सर्ववृद्धिहानिसत्पदानाम् —	समय	समय.
असंज्ञिमार्गणायाम् — १	संख्येयगुणवृद्धिहान्योः —	,,	,,
	शेषवृद्धिहानिसत्पदानाम् —	ओघवत्	ओघवत्
उपर्युक्तशेषसर्वमार्गणासु —	सर्ववृद्धिहानिसत्पदानाम् —	,,	,,

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्ध्यादेरेकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् *

	कस्य सत्पदस्य ?	जघन्यान्तरम्	उत्कृष्टान्तरम्
ओ	असंख्यगुणहाने —	अन्तर्मुहूर्तम्	देशोनापार्धपुद्गलपरावर्त०
घ	असंख्यगुणवृद्धेः —	एकसमयः	,,
त·	असंख्यभागवृद्धिहान्यो —	,,	अन्तर्मुहूर्तम्
	संख्येयभागगुणवृद्धिहानीनाम् —	,,	असंख्येयपुद्गलपरावर्त०

मार्गणास्थानानि	पदानि	जघन्यान्तरम्
मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्वमनोवचोभेदौ-दारिककाययोग-स्त्री--नपुंसकवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीयेषु—	असंख्यगुणवृद्धेः— शेषवृद्धिहानिसत्पदानाम्—	अन्तर्मुहूर्तम्, ओघवत्,
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणया —	सर्व ,, ,, ,,	अन्तर्मुहूर्तम् ,
कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणास्थानयो. —	,, ,, ,, ,,	अन्तर नास्ति,
शेषसर्वमार्गणास्थानेषु—	,, ,, ,, ,,	ओघवत्,

पद०	उत्कृष्टान्तरम्	मार्गणास्थानानि	
असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकम्	पूर्वकोटिपृथक्त्वम्	मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणमार्गणास्थानत्रये	३
	एकजीवाश्रयदेशोनोत्कृष्ट-कायस्थिति	पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त--त्रसौघ-तत्पर्याप्त-पुरुषवेद-मति--श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-संयमौघ-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-संज्ञ्या-ऽऽहारकेषु	१६
	अन्तर्मुहूर्तम्	पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगौघौ-दारिककाययोग स्त्री नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद क्रोधादिकषायचतुष्क-सामायिक-छेदोपस्थापन-शुक्ललेश्यो-पशमिकसम्यक्त्वेषु	२३
	ओघवत्	अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयो	२
संख्यगुणभागवृद्धिहानिसत्पदानां प्रत्येकम्	असंख्येया पुद्गलपरावर्ता	तिर्यग्गत्योघ-काययोगौघ-नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणासु	११
	संख्येयगुणवृद्धिहान्या पूर्वकोटिपृथक्त्वम्, संख्येयभागवृद्धिहान्यो स्त्वन्तर्मुहूर्तम् ।	तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त तिरश्ची-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त--त्रसौघ-तत्पर्याप्त-स्त्री-पुरुषवेद-चक्षुर्दर्शनमार्गणासु —	१०
	देशोनोत्कृष्टकायस्थिति	आहारिमार्गणायाम्—	१
	卐 अन्तर्मुहूर्तम्	सर्वविकलेन्द्रियभेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु—	१०
	अन्तरमेव न भवति	कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयो.	२
	अन्तर्मुहूर्तम्	शेषनरकगत्योघादिनवतिमार्गणासु	६०`
असंख्यभागवृद्धिहान्योः—अन्तर्मुहूर्तम्		अपगतवेद सूक्ष्मसम्परायसंयम-कार्मणा-ऽनाहारकवर्जसर्वमार्गणासु	१६६

卐 संख्येयभागवृद्धिहान्योरेवाऽन्तर्मुहूर्तम्, न तु संख्येयगुणवृद्धिहान्योः, तयोरेतासु दशमार्गणास्वसत्पदत्वादिति ।

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्ध्यादेरेकानेकबन्धकनिष्पन्नभङ्गविचययन्त्रम् *

कुत्र मार्गणादौ ?	ध्रुवा-ऽध्रुवपदविभागः	भङ्गकाः
सर्वनरक-सर्वदेव सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदा-ऽपर्याप्तत्रस-वैक्रिययोग-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-तेजोलेश्या पद्मलेश्या क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेषु— ५●	अवस्थानपद १ ध्रुवम्, असंख्यभाग संख्यभाग संख्यगुणवृद्धिहानय इति ६ पदान्यध्रुवाणि च	७२९
तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्र-कार्मणयोग मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्ण नील कापोतलेश्या ऽभव्य-मिथ्यात्वा -ऽसंज्ञ्य-ऽनाहारकेषु— १३	असंख्यभागवृद्धिहानी अवस्थानपद च ३ ध्रुव० संख्येयभागगुणवृद्धिहानय इति ४ अध्रुव०	८१
मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषी पञ्चेन्द्रियौघ तत्पर्याप्त त्रसौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन शुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघ क्षायिक संज्ञिषु २८	असंख्येयभाग-संख्येयभाग संख्येयगुणा-ऽसंख्यगुण-वृद्धिहानयोऽवक्तव्यमिति ९ पदान्यध्रुवाणि, अवस्थानपद १ ध्रुवम्।	१९६८३
अपर्याप्तमनुष्य वैक्रियमिश्रा ऽऽहारक-तन्मिश्रयोग ●परिहारविशुद्धिकसंयम मिश्रदृष्टि सास्वादनमार्गणासु ७	असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहान्य-वस्थानलक्षणानि ७ पदान्यध्रुवाणि,	२१८७
सर्वैकेन्द्रियभेद सर्वसाधारणवनभेद पर्याप्तबादरभेदवर्जपृथिव्य-प्तेजोवायुसर्वभेद-वनौघ प्रत्येकवनौघ तदपर्याप्तभेदेषु —४१	असंख्यभागवृद्धिहानी अवस्थानपद चेति ३ पदानि ध्रुवाणि,	१
विकलेन्द्रियसत्कसर्वमार्गणास्थानेषु — ९	अवस्थितपद १ ध्रुवम्, असंख्यभाग-संख्यभाग-वृद्धिहानय इति ४ पदान्यध्रुवाणि,	८१
पर्याप्तबादरेषु पृथिव्यप्तेजोवायुभेदेषु पर्याप्तप्रत्येकवने च ५	असंख्यभागवृद्धिहानी इति २ अध्रुवे, अवस्थानपद तु १ ध्रुवम्,	९
ओघत, काययोगौघौ-दारिककाययोगा ऽचक्षुर्दर्शन भव्या-ऽऽहारकमार्गणासु च — ५	संख्येयभाग संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानयो-ऽवक्तव्य च ७ अध्रुव० असंख्यभागवृद्धिहानी, अवस्थित पद चेति ३ ध्रुव०	२१८७
स्त्रीवेद-पुरुषवेद सामायिकसंयमेषु — ५	अष्टविधवृद्धिहानयोऽध्रुव० अवस्थित ध्रुवम्	६५६१
नपुंसकवेद-क्रोध मान माया लोभ★कषायेषु— ५	संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानय इति ६ अध्रुव० असंख्येयभागवृद्धिहानी अवस्थितपद चेति ३ ध्रुव०	७२९
अपगतवेद-मार्गणायाम्— १ { ज्ञानावरण दर्शनावरणा ऽन्तरायकर्मणाम् —	संख्येयभागगुणवृद्धिहान्यवस्थाना ऽवक्तव्यपदानि ९ अध्रुव०।	७२८
वेदनीय-नाम गोत्रकर्मणाम्	संख्येयभागगुणाऽसंख्येयगुणवृद्धिहान्यवस्थाना-ऽवक्तव्यपदानीति ८ अध्रुव०। [अध्रुव०	६५६०
मोहनीयकर्मण	संख्येयभागवृद्धि-हानी अवस्थाना-ऽवक्तव्ये च ४	८०
छेदोपस्थापनसंयममार्गणायाम्— १	अष्टविधवृद्धिहानयोऽवस्थित चेति ९ अध्रुव०	●१९६८२
सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायाम्— १	संख्येयभागवृद्धिहानी अवस्थित चेति ३ अध्रुव०	२६
औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायाम्— १	अष्टविधवृद्धिहानयोऽवस्थाना-ऽवक्तव्यपदे चेति १० पदान्यध्रुवाणि	५९०४८

● यद्वा मार्गणाद्वये 'संयमुज्झं परिहारे' इत्यादि (गाथा-२८४) ग्रन्थोऽनुसर्तव्य, एवमेव भूयस्कारेऽपीति।

★लोभकषाये मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिबन्धस्य सद्भावात्तस्याऽध्रुवत्वाच्च भङ्गा ओघवत् २१८७ ज्ञेया।

* आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धयादिबन्धकानां भागप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्यभाग-वृद्धिहान्यो	शेषवृद्धिहानि-सत्पदानाम्
ओघतः, तिर्यगोघ सर्वेकेन्द्रियभेद-वनस्पतिकायौघ सर्वसाधारणवनस्पति-कायभेद काययोगौघौ-दारिक तन्मिश्र-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद कषाय-चतुष्क-मत्यज्ञान श्रुताज्ञाना-ऽसयमा-ऽचक्षुर्दर्शना ऽप्रशस्तलेश्यात्रय-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसञ्ज्ञा-ऽऽहारकेषु च-	असंख्यतम एको भाग	अनन्ततम एको भाग
पर्याप्तमनुष्य-मानुषी सर्वार्थसिद्धदेवा-ऽऽहारकद्विक गतवेद-मनःपर्यवज्ञान-सयमौघ-सामायिक छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक सूक्ष्मसम्परायसयमेषु —	संख्याततम एको भाग	संख्याततम एको भाग
शेषमार्गणासु—	असं० एकभाग०	असं०एकभाग०

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धयादिबन्धकानां परिमाणप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

कुत्र मार्गणादौ ?	संख्येयभाग-वृद्धिहान्यो	संख्येयगुण-वृद्धिहान्योः	असंख्येयभाग-वृद्धिहान्योः	असंख्यगुणवृद्धिहानिपदे यत्र सन्ति तत्र तयोर्बन्धका ओघवत् संख्येया एव
ओघतोऽनन्तजीवराशिकमार्गणासु च—	असंख्येया	असंख्येया	अनन्ता	
असंख्येयजीवराशिकासु मार्गणासु—	,,	,,	असंख्येया	
संख्येयजीवराशिकासु मार्गणासु-	संख्येया	संख्येया	संख्येया	

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धयादिबन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्येयभाग-वृद्धिहान्यो	शेषवृद्धिहानि-सत्पदानाम्
ओघत, असंख्यलोक-तदधिकजीवराशिकमार्गणासु च —	सर्वलोक	लोकाऽसंख्यभाग
पर्याप्तबादरवायुकायमार्गणायाम्—	देशोनलोक	०
शेषमार्गणास्थानेषु —	लोकाऽसंख्यभाग	लोकाऽसंख्यभाग.

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धयादिबन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

असंख्यभागवृद्धयादिमध्ये कस्य पदस्य ?	कुत्र मार्गणादौ ?	कियती स्पर्शना ?
असंख्येयभाग-संख्येयभाग संख्येयगुणवृद्धिहानीनाम्-	**ओघत**, यत्र च सन् तत्र सर्वत्र	अनुत्कृष्टस्थितिबन्धकवत्
असंख्यगुणवृद्धिहान्यो —	,, ,, ,, ,,	लोकाऽसंख्यभागमात्रा

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धयादीनां नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्येयभाग संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणेषु षट्पदेषु	असंख्यगुणवृद्धिहानि सत्पदयो
ओघत, असंख्यलोक-तदधिकजीव राशिकमार्गणासु च—	असंख्यभागवृद्धिहान्यो —अजघन्यानुत्कृष्ट सर्वाद्धा । शेषचतुर्विधवृद्धिहानीनाम्-जघन्य समय., उत्कृष्ट आवल्यसंख्यभाग ।	यत्र सन् तत्र सर्वत्र जघन्य —समय उत्कृष्ट —संख्यसमयाः
संख्येयजीवराशिकासु मार्गणासु—	षण्णामपि पदानां जघन्य समय., उत्कृष्ट. संख्येया समया,	,,
उपर्युक्तशेषसर्वमार्गणासु—	सद्भूतपदाना जघन्य समय., उत्कृष्ट आवलिकाऽसंख्यभाग.,	,,

* आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्ध्यादीनां नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम् *

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्यभागवृद्धिहानि-सत्पदयोः		संख्येयगुण भागवृद्धि हानीनाम-यतमसत्पदस्य		असंख्यगुणवृद्धि-हानिसत्पदयो	
अन्तरम्—	जघन्यम	उत्कृष्टम	जघन्यम	उत्कृष्टम	जघन्यम	उत्कृष्टम
ओघत असख्यलोक-तदधिकजीवराशिकमार्गणासु	नास्ति	नास्ति	समय	अन्तर्मुहूर्तम्	समयः	卐
अपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टिसास्वादनेषु—	समय ,	पल्योपमासंख्यभाग ,	समय.,	पल्योपमासंख्यभाग	०	०
वैक्रियमिश्रकाययोगे—	,,	द्वादश मुहूर्ता ,	,	द्वादश मुहूर्ता ,	०	०
आहारक-तन्मिश्रयोगयो —	,,	वर्षपृथक्त्वम् ,	,	वर्षपृथक्त्वम्	०	०
छेदोपस्थापनसंयममार्गणायाम्—	,,	१८ कोटिकोटिसाग-रोपमाणि,	,,	१८ कोटिकोटिसाग-रोपमाणि,	समय	१८ कोटिकोटि-सागरोपमाणि
परिहारविशुद्धिकसंयम-मार्गणायाम्—	,	,,	,	,,	,,	,,
औपशमिकसम्यक्त्वमार्ग-णायाम्—	,,	सप्ताऽहोरात्र०	,,	सप्ताऽहोरात्र०	,,	वर्षपृथक्त्व०
सूक्ष्मसम्परायसंयममार्ग-णायाम्-	०	०	,,	**वृद्धे** वर्षपृथक्त्व, **हाने** -षण्मासा ,	०	०
अपगतवेदमार्गणायाम्—	०	०	,,	,,	समय	वर्षपृथक्त्वम्
मानुषी स्त्रीवेद मन पर्यव ज्ञानमार्गणात्रये—	समय	अन्तर्मुहूर्तम् ,	,,	अन्तर्मुहूर्तम् ,	,,	वर्षपृथक्त्व०
शेषमार्गणासु—	,,	,,	,,	,	,	★

卐काययोगौदारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकमार्गणासु वृद्धे -वर्षपृथक्त्वम् , हाने षण्मासा । नपुंसकवेदमार्गणाया वृद्धेर्हानेश्च वर्षपृथक्त्वम् । क्रोधादिकषायचतुष्के वृद्धे वर्षपृथक्त्वम् , हानिस्तु वर्षपृथक्त्व षण्मासा वा ।

★पुरुषवेदमार्गणाया वृद्धे -वर्षपृथक्त्वम् , हाने साधिकवर्षम् । अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणयोर्वृद्धे -वर्षपृथक्त्वम् , हाने -साधिकवर्षम् , केचित्तु हानेरपि वर्षपृथक्त्वम् । शेषासु मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्त-सर्वमनोवचोभेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान संयमौघ चक्षुर्दर्शन-शुक्लेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु वृद्धे -वर्षपृथक्त्वम् , हाने -षण्मासा इति ।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिबन्धवृद्धि-हान्य-वस्थिता-ऽवक्तव्यबन्धकानामल्पबहुत्वदर्शकं यन्त्रकम्

| असंख्यगुणवृद्धयादेः कस्य पदस्य ? यथोत्तरं कियद्गुणा बन्धकाः ? |

कुत्र मार्गणादौ ?	अवक्तव्य-बन्धका	असंख्येयगुणाया वृद्धे	असंख्येयगुणाया हाने	संख्येयगुणाया वृद्धे	संख्येयगुणाया हाने	संख्येयभाग- वृद्धे	संख्येयभाग- हाने	असंख्येयभाग- वृद्धे	असंख्येयभाग- हाने	अवस्थानबन्धकाः
ओघत, काययोगौघौ-दारिकयोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु च ५	स्तोका	संख्येयगुणा	संख्येयगुणा	असंख्येयगुणा	तुल्या	असंख्येयगुणा	तुल्या	अनन्तगुणा	तुल्या	असंख्येयगुणाः
सर्वनरकभेद-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-तिरश्ची अपर्याप्तमनुष्य-सर्वार्थसिद्धवर्जसर्वदेवभेद वैक्रिय-तन्मिश्रयोग-विभङ्गज्ञान देशसंयम-तेजःपद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-सासादनेषु— ४६	०	०	०	स्तोका	तुल्या	संख्येयगुणा	तुल्या	संख्येयगुणा	तुल्या	"
तिर्यग्गत्योघौ-दारिकमिश्र कार्मण-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना ऽसंयम कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्य मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञि-ऽनाहारकेषु— १३	०	०	०	"	"	असंख्येयगुणा	"	अनन्तगुणा	"	"
पञ्चेन्द्रियतिर्यगौघ-तदपर्याप्ता-ऽपर्याप्तत्रसा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० ४				"	"	"	"	संख्येयगुणा	"	"
मनुष्यौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रस-सर्वमनोवचोभेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन चक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु— २२	स्तोका	संख्येयगुणा	संख्येयगुणा	असंख्येयगुणा	तुल्या	संख्येयगुणा	तुल्या	संख्येयगुणा	तुल्या	"
सर्वार्थसिद्धदेवा-ऽऽहारक-तन्मिश्रयोग-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु- ४				स्तोका	तुल्या	संख्येयगुणा	तुल्या	संख्येयगुणा	"	संख्येयगुणा
एकेन्द्रियपृथिव्यादिपञ्चकाय-सर्वभेदेषु— ४६	०	०	०	०	०	०	०	स्तोका	"	असंख्येयगुणा
विकलेन्द्रियसर्वभेदेषु— ९						स्तोका	तुल्या	संख्येयगुणा	तुल्या	"
पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघभेदयो —२	स्तोका	संख्येयगुणा	संख्येयगुणा	असंख्येयगुणा	तुल्या	असंख्येयगुणा	"	"	"	"
पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणासु— ४	"	"	"	संख्येयगुणा	"	संख्येयगुणा	"	"	"	संख्येयगुणा

?	अवक्तव्य-बंधका	असंख्येयगुणाया वृद्धे	हाने.	संख्येयगुणायाः वृद्धे.	हाने	संख्येयभाग- वृद्धे.	हाने	असंख्येयभाग- वृद्धेः	हाने.	अवस्थान बन्धका
...स्थापनीयसंय- २	•	स्तोकाः	सख्ये-यगुणा	सख्येय-गुणा	तुल्या	सख्येय-गुणा	तुल्याः	सख्येय-गुणाः	तुल्या	संख्येय-गुणा
...द-*कषायचतुष्कयो.–५		,,	,,	असख्य-गुणाः	,,	असख्य-गुणा	,,	अनन्त-गुणाः	,,	असंख्य-गुणा.
...वेद-पुरुषवेदयोः— २		,,	,,	,,	,,	सख्येय-गुणा	,,	सख्येय-गुणा.	,,	,,
★ सूक्ष्मसम्परायसंयमे— १	०	०	०	०	०	स्तोका	सख्य-गुणा	०	०	सख्यगुणा
औपशमिकसम्यक्त्वे — १	स्तोका	सख्येयगुणा		असख्येयगुणाः		सख्येयगुणा		संख्येयगुणा.		असख्येय-गुणा
अपगतवेदमार्गणायाम्— १	स्तोका । ततः वृद्धिपदाना सख्येयगुणा					तत –ह निपदाना सख्येयगुणा , तत				सख्यगुणा

॥ इति वृद्ध्यधिकारयन्त्रकाणि समाप्तानि ॥



* लोभमार्गणायां मोहनीयस्यावक्तव्यस्थितिबन्धसद्भावादवक्तव्यस्थितिबन्धकाः सर्वस्तोका इत्यादि सर्वथा प्रोववज्ज्ञेयमल्पबहुत्वमिति । ★ मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जानां षण्णा प्रकृतीनाम् ।

॥ अध्यवसायसमुदाहारः ॥

अधुना "अज्झवसाणसमुदाहारो" इत्यनेनोद्दिष्टस्याऽध्यवसायसमुदाहाराख्यस्य चरमाधिकारस्यावसरः । तत्र त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तानि चाधिकारप्रारम्भे नामत उद्दिशनाह—

छट्ठे खलु अज्झवसणसमुदाहारे हवन्ति अहिगारे ।
तिण्णि कमा दारा ठिइ-पयडी-जीव-समुदाहारा ॥८४४॥

(प्रे०) "छट्ठे खलु" इत्यादि, मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थमनुरुध्यानुपूर्विक्रमेण 'षष्ठे'-चरमेऽधिकार इत्यर्थः; मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे षण्णामधिकाराणामेवोद्दिष्टत्वादिति भावः । अतश्चरमेऽध्यवसानसमुदाहाररूपेऽधिकारे "**तिण्णि कमा दारा**" त्ति क्रमात् त्रीणि द्वाराणि भवन्ति, तानि च "**ठिइपयडीजीवसमुदाहारा**" त्ति समुदाहारशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् स्थितिसमुदाहारः प्रकृतिसमुदाहारः, जीवसमुदाहारश्चेत्येवंलक्षणानि । तत्र स्थितीरधिकृत्याध्यवसायानां स्थितिबन्धकारणीभूतानां कषायोदयजन्यात्मपरिणामविशेषाणां प्रगणनादिद्वारैः प्ररूपणं स्थितिसमुदाहारः, इत्थमेव प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिलक्षणासु स्थितिबन्धाध्यवसायानां समुदाहरणं प्रकृतिसमुदाहारः, जीवसमुदाहारस्तु यत्र स्थितिबन्धस्थानेष्वेव जीवानां बन्धकतया समुदाहरणं भवति स विज्ञेयः । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णिविशेषविवृतौ श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिप्रकाण्डेन**—

'स्थितिबन्धस्थानेषु स्थितिबन्धाध्यवसायानां वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः प्रगणनादिभिर्द्वारैः समुदाहरणमाख्यानं स्थितिसमुदाहारः । प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिषु स्थितिबन्धस्थानानामेव समुदाहारः प्रकृतिसमुदाहारः । जीवानां स्थितिबन्धस्थानेष्वेव बन्धकत्वेन समुदाहारो जीवसमुदाहारः' **इति गाथार्थः ॥८४४॥**

॥ प्रथमः स्थितिसमुदाहारः ॥

अथ प्रथमे स्थितिसमुदाहारे त्रीण्यवान्तरद्वाराणि, तद्यथा–प्रगणना, अनुकृष्टिः, तीव्रमन्दता च । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–'ठितिसमुदाहारो त्ति-तत्थ इमाणि तिण्णि अणुओगदाराणि । तं जहा–पगणना, अनुकड्ढी, तिव्वमंदता' इति । तत्र प्रथमे प्रगणनाद्वारे आदौ तावत् मूलप्रकृतीनां तत्स्थितीरधिकृत्याध्यवसायान् प्रगणयन्नाह–

पइठिइबंधमसंखा लोगा अट्ठण्ह अज्झवसणाणं ।

(प्रे०) "**पइठिइबंध**"मित्यादि, प्रगणनाप्ररूपणायाम् "**अट्ठण्ह**" त्ति ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलप्रकृतीनामेकैकस्याः "**पइठिइबंधं**" ति जघन्यस्थितिबन्धादारभ्य समयद्विसमयादिवृद्धयोत्कृष्टस्थितिबन्धपर्यन्ता ये स्थितिबन्धाः-स्थितिबन्धविशेषाः, स्थितिबन्धस्थानानीति भावः । तेषु प्रत्येकम्–प्रतिस्थितिबन्धम् । जघन्यस्थितिबन्धे, समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धे, द्विसमयाधिक-

जघन्यस्थितिबन्धे, एवं समयसमयवृद्ध्या यावदुत्कृष्टस्थितिबन्ध इति भावः । प्रतिस्थितिबन्धं किमित्याह–**"असंखा लोगा"** इत्यादि, नानाजीवानाश्रित्य तेषामेकैकस्य जघन्यादिस्थितिबन्धस्य कारणीभूताः कषायोदयजन्या आत्मनः परिणामविशेषाः 'अध्यवसनानि'-अध्यवसायास्तेषामध्यवसायानामसंख्येया लोकाः, लोकप्रमाणेष्वसंख्येयेषु क्षेत्रखण्डेषु यावन्तो नभः प्रदेशाः सन्ति तावत्प्रमाणा अध्यवसाया भवन्तीति भावः । **इदमुक्तं भवति**–अतीतग्रन्थेऽभिहितानां कार्यरूपाणां जघन्यादिस्थितिबन्धानामसाधारणकारणानि "ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इतिवचनात् कषायोदयजन्या आत्मपरिणामविशेषा अध्यवसाया एव, ते च कषायानुभाववैचित्र्याज्जीवानां विविधाः सन्ति, तेषामसंख्यभागगतेष्वसंख्येयलोकप्रदेशराशितुल्येषु जघन्यस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायेष्वन्यतमाध्यवसाये वर्तमानो जीवो ज्ञानावरणस्य जघन्यामेव स्थितिं बध्नाति, अतस्तेऽसंख्येयलोकप्रदेशराशितुल्याः सर्वेऽध्यवसायास्तज्जघन्यस्थितौ हेतुतया प्रतिष्ठिताः । तान् विहाय पुनरसंख्येयभागगतेषु पूर्वापेक्षया विलक्षणेषु केवलिदृष्टनियताध्यवसायेष्वन्यतमाध्यवसाये वर्तमानो जीवस्तु समयाधिकजघन्यां स्थितिमेव बध्नातीति तेऽसंख्येयलोकप्रदेशराशितुल्याः सर्वेऽध्यवसाया द्वितीयायां समयाधिकजघन्यस्थितौ हेतुतया प्रतिष्ठिताः, एवं तृतीयादिषूत्कृष्टस्थितिबन्धपर्यन्तासु सर्वासु स्थितिषु भवतीत्यत उक्तम्–**"पइठिइबंधमसंखा लोगा"** इत्यादि । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

'णाणावरणियस्स जहण्णगाए ठितीए ठितिबंधज्झवसाणाणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । बितियाए ठितिए [याव] असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । ततियाए ठितिए असखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । एवं जाव उक्कस्सिया ठितित्ति । एवं सत्तण्ह वि कम्माण' इति ।

अमी प्रत्येकस्थितिबन्धस्थाने तत्कारणीभूताः कषायोदयरूपाः स्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमिताः सन्तोऽपि न सर्वत्र स्थितिबन्धस्थानेषु तुल्या एव, किन्तु हीनाधिका इत्यतस्ते समयाधिकस्थितिबन्धलक्षणेऽनन्तरस्थितिबन्धस्थाने कियन्तः, पल्योपमासंख्यभागाधिकस्थितबन्धलक्षणे परम्परस्थितिबन्धस्थाने च कियन्त इत्येतत्प्ररूपणार्थमनन्तरोपनिधया परम्परोपनिधया चाह—

आउस्स असंखगुणा हस्साओ जाव उक्कोसा ॥८४५॥
सत्तण्ह जहण्णाओ कमा विसेसाहियाणि आ चरमा ।
पलियासंखियभागं गंतुं गंतुं दुगुणवड्ढी ॥८४६॥

(प्रे०) **"आउस्स असंखगुणा"** इत्यादि, अनन्तरोपनिधया प्ररूपणायामायुःकर्मणः **"असंखगुणा"** त्ति प्रकृतत्वात् स्थितिबन्धाध्यवसाया अनन्तरस्थितिबन्धस्थानेऽसंख्यगुणाः सन्ति । कुत्रेत्याह–**"हस्साओ जाव उक्कोसा"** त्ति 'हस्वायाः'-जघन्यायाः स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा स्थितिस्तावदित्यर्थः । **अयम्भावः**–आयुषो जघन्यस्थितिबन्धादिरूपेषु स्थितिबन्धस्थानेषु प्रत्येकं

तत्कारणीभूताः स्थितिबन्धाध्यवसाया येऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अभिहिता तेऽपि जघन्यस्थितिबन्धात्मके स्थितिबन्धस्थाने 'स्तोकाः'-स्तोकासंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः सन्ति, अनन्तरे समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धरूपे द्वितीयस्थितिबन्धस्थाने जघन्यस्थितिबन्धात्मकप्रथमस्थितिबन्धस्थानापेक्षयाऽसंख्यगुणा स्थितिबन्धाध्यवसायाः सन्ति, तेभ्यस्तृतीये द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धरूपेऽनन्तरस्थितिबन्धस्थाने तत्कारणीभूताः स्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्यगुणाः सन्ति, एवं तावद् वाच्यं यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धात्मकं चरमं स्थितिबन्धस्थानम् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

'आउगस्स जहण्णिगाए ठितिए ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि थोवाणि । बितियाए असंखेज्जगुणाणि । ततिआए असंखेज्जगुणाणि । एवं जाव उक्कस्सिता ठिति त्ति' ॥८७॥ इति ।

"सत्तण्ह" त्ति आयुर्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां प्रत्येकं **"जहण्णाओ"** त्ति पूर्ववज्जघन्यायाः स्थितेरारभ्य **"कमा"** त्ति क्रमाद् विशेषाधिकानि, यावद् **"आ चरमा"** त्ति ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं 'चरमा'-सर्वोत्कृष्टा स्थितिः । स्थितिबन्धाध्यवसानानीति प्रक्रमाद्गम्यते ।

इदमुक्तं भवति–आयुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धात्मकात्प्रथमस्थितिबन्धस्थानादारभ्य यथोत्तरस्थितिबन्धस्थानेषु यथाऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अप्यध्यवसाया असंख्यगुणा असंख्यगुणाः प्राप्यन्ते, न तथा शेषकर्मणामपि, किन्तु ज्ञानावरणादीनां शेषकर्मणां जघन्यस्थितेरारभ्य यथोत्तरस्थितिबन्धस्थानेषु तत्कारणीभूता अध्यवसाया विशेषाधिका विशेषाधिका एव प्राप्यन्ते । **तद्यथा**–ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धरूपे प्रथमे स्थितिबन्धस्थाने तत्कारणीभूताः स्थितिबन्धाध्यवसायाः 'स्तोकाः'-स्तोकासंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः, तदनन्तरवर्तिनि द्वितीये स्थितिबन्धस्थाने तत्कारणीभूता अध्यवसायाः पूर्वापेक्षया विशेषाधिकाः, ततस्तदनन्तरवर्तिनि तृतीये स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धाध्यवसायाः पुनरपि विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद् वाच्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धात्मकं चरमं स्थितिबन्धस्थानम् । एवमेव दर्शनावरणादीनामपि प्रत्येकं वक्तव्यम् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

'णाणावरणिज्जस्स जहण्णियाए ठितिए ठितिबंधज्झवसाणाणि थोवाणि । बितियाए ठितिए ठितिबन्धज्झवसाणट्ठाणाणि विसेसाहियाणि । ततियाए ठितिए ठितिबन्धज्झवसाणाणि विसेसाहियाणि, एवं विसेसाहियाणि विसेसाहियाणि जाव उक्कस्सगा ट्ठितित्ति । एवं आउवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं' इति ।

तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा । अथ परम्परोपनिधया तां कुर्वन्नाह–**"पलियासंखियभाग"** मित्यादि, 'सत्तण्ह जहण्णाओ' इत्यस्यानुवर्त्तनादायुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यायाः स्थितेरारभ्य यावत् 'चरमा'-उत्कृष्टा स्थितिस्तावत् **"पलियाऽसंखियभागं"** ति 'पल्यस्य'-पल्योपमस्याऽसंख्यभागम्'-तदीयासंख्यप्रथमवर्गमूलमानम् , पल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलगतसमयप्रमाणनिरन्तरस्थितिबन्धस्थानसमूहमिति भावः । एतावद् **"गंतुं गंतुं"** ति 'गत्वा गत्वा'-अतिक्रम्याऽतिक्रम्याऽनन्तरे स्थितिबन्धस्थाने **"दुगुणवड्ढी"** त्ति स्थितिबन्धकारणीभूताध्यवसायानां द्विगुणवृद्धयो

भवन्ति । अयम्भावः–ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धस्थाने यावन्ति स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि सन्ति तेभ्यः पल्योपमासंख्येयभागमात्राणि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्य परस्मिन्ननन्तरे स्थितिबन्धस्थाने द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि सन्ति, तत आरभ्य पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागमात्राः स्थितीरतिक्रम्यानन्तरे स्थितिबन्धस्थाने पुनरपि द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि सन्ति, एवं द्विगुणवृद्धिस्तावद्वक्तव्या यावदुत्कृष्टा स्थितिः । एवमायुर्वर्जशेषकर्मविषयेऽपि द्रष्टव्यम् ।

उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

'परंपरोवणिहाए णाणावरणिज्जस्स जहण्णियाए ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणेहिंतो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं गंतूणं दुगुणवड्ढी । एवं दुगुणवड्ढित्ता दुगुणवड्ढित्ता जाव उक्कस्सिता ठितित्ति' इति ॥८४६॥

ननु यथोक्तस्थितिबन्धाध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानि ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिं यावत् कियन्ति, किं तानि द्विगुणवृद्ध्योरन्तरालवर्तिस्थितिबन्धस्थानेभ्योऽधिकान्यूनानि वेत्यत्राह—

अंगुलमूलच्छेयणअसंखभागो उ दुगुणठाणाणि ।
ताणि य थोवाणि तओ होज्जेगंतरमसंखगुणं ॥८४७॥

(प्रे०) **"अंगुलमूलच्छेयण"** इत्यादि, अङ्गुलवर्गमूलछेदनकासंख्येयभागप्रमाणानि, तुकारोऽवधारणे, तत एतावन्त्येव **"दुगुणठाणाणि"** त्ति ज्ञानावरणादेरेकैकस्य जघन्यस्थितेरारभ्योत्कृष्टां स्थितिं यावल्लभ्यमानानि स्थितिबन्धाध्यवसायानाम् **'द्विगुणस्थानानि'**–द्विगुणवृद्धिस्थानानि यथोक्तस्वरूपाणि सन्ति । **एतदुक्तं भवति**–एकाङ्गुलप्रमाणे क्षेत्रे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावतां यत्प्रथमं वर्गमूलं तदर्धार्धकरणप्रकारेण छेदनकविधिना तावच्छिद्यते यावद् भागं न सहते, तथा च कृते यावन्ति छेदनकानि प्राप्यन्ते तावतां तेषामसंख्येयानां छेदनकानामसंख्यतमभागप्रमाणानि ज्ञानावरणादेः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिं यावद्गमने स्थितिबन्धाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

'णाणागुणहिितिबंधज्झवसाणट्ठाणंतराणि अंगुलवग्गमूलच्छेयणगाणं असंखेज्जतिमो भागो । 'अंगुलमूलच्छेयणग' त्ति अंगुलवग्गमूलं छण्णउतिच्छेदणगविहीए ताव छिज्जति जाव 'भागं ण देति' इति ।

अत्राऽसत्कल्पनया–अङ्गुलप्रमाणक्षेत्रे षट्त्रिंशदभ्यधिकपञ्चशतयुतपञ्चषष्टिसहस्राणि (६५५३६) नभःप्रदेशानि कल्प्यन्ते, तेषां प्रथमे वर्गमूले षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयं (२५६) नभःप्रदेशाः प्राप्यन्ते, तेषां षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयसंख्याकानामर्धाऽर्धकरणप्रक्रियया—

[छेदनकम्-प्रथमम् ↓ द्वितीयम् ↓ तृतीयम् ↓ चतुर्थम् ↓ पञ्चमम् ↓ षष्ठम् ↓ सप्तमम् ↓ अष्टमम् ↓
२५६ ÷ २ = १२८ ÷ २ = ६४ ÷ २ = ३२ ÷ २ = १६ ÷ २ = ८ ÷ २ = ४ ÷ २ = २ — २ = १]

अष्टौ छेदनकानि लभ्यन्ते, असंख्येयानामप्यसत्कल्पनयाऽष्टसंख्याकानां तेषामसंख्येयभागगता-

न्यसंख्येयान्यपि छेदनकान्यसत्कल्पनया द्वे एव, एतावन्ति द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति । **"ताणि य थोवाणी"** त्ति तानि स्थितिबन्धाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानान्यनन्तरवक्ष्यमाणद्विगुणवृद्धयोरेकान्तरालवर्तिस्थितिबन्धस्थानापेक्षया स्तोकानि, यत इमानि पल्योपमप्रथमवर्गमूलासंख्यभागप्रमितानि सन्ति, वक्ष्यमाणानि त्वसंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि । चकारः पादपूर्त्यै । **"तओ"** त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तद्विगुणवृद्धिस्थानेभ्यः **"होज्जेगंतरमसंखगुणं"** ति द्विगुणवृद्धयोरेकमन्तरमसंख्यगुणं भवेत्, एकान्तरालवर्तिस्थितिबन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि सन्तीति भावः । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

'*णाणागुणहाणिट्ठाणंतराणि थोवाणि, एगं ट्ठितिबंधज्झवसाणगुणहाणिट्ठाणंतरं असखेज्जगुणं, सत्तण्ह कम्माणं*' इति ।

ननु "अंगुलसेढीमित्ते उस्सप्पिणीओ असंखिज्जा" इति वचनप्रामाण्यादङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशेभ्यः प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारेऽसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीनामिव तद्वर्गमूलसंख्यातोऽपि तेनैव नीत्या प्रदेशानामपहरणे पूर्वापेक्षया स्तोका अपि ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य असंख्येया एवापगच्छेयुः, यथा च ताः स्तोका अपि असंख्येयास्तथैव तासां छेदनकानि तदपेक्षया स्तोकतराणि सन्त्यपि स्तोकतरासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां समयप्रमाणानि सम्भवन्ति, किञ्च तदसंख्येयभागस्तद्राश्यपेक्षया बहुसंख्येयसागरोपमप्रमाण एव ग्राह्यः स्याद्, अन्यथा तेषामतिलघुतरभागस्यैव ग्राह्यत्वे मूले आवलिकाया असंख्येयभागः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागो वा उक्तः स्यात्, न च तथा उक्तः; मूलोक्तेन 'अङ्गुलमूलच्छेयणअसंखभागो' इत्यनेन बहुसंख्येयसागरोपमप्रमाणानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां ग्राह्यत्वे तु सर्वं दुर्विरुद्धमेव स्यात्, ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितेरपि त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिप्रमाणत्वेन तस्याः प्रतिपल्योपमासंख्येयभागमतिक्रम्यातिक्रम्योत्पद्यमानानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां पल्योपमासंख्येयभागगतसमयप्रमाणादधिकानामनुत्पत्तेः । न च सूक्ष्मतरपल्योपमासंख्येयभागप्रमाणस्थितिबन्धस्थानान्यन्तरीकृत्य तेषामध्यवसायस्थानद्विगुणवृद्धिस्थानानामुत्पादने तानि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणादत्यन्ताधिकानि बहुपल्योपमप्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति वाच्यम्, यतो तथाकल्पनेऽप्युपयुक्तदोषस्य दुर्वारत्वमेव; अन्यच्चाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानापेक्षयैकान्तरस्यासंख्येयगुणत्वं यन्मूले उक्तं तेनापि महान्विरोधः, अनन्तरोपनिधायां यथोत्तरस्थितिबन्धस्थानेषु या स्थितिबन्धाध्यवसायानामसंख्येयभागप्रमाणसंख्यावृद्धिरभिमता तेनापि विरोधश्च ? **इति चेत्, न,** यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगताकाशप्रदेशापहारप्रक्रिययाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनामिवाङ्गुलप्रथमवर्गमूलतया प्राप्तसंख्याराशितोऽपि प्रतिसमयमेकैकाकाशप्रदेशापहरणप्रक्रिययाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां लाभेऽपि तस्य छेदनकानि त्वतीवस्तोकानि-अद्धापल्योपमासंख्येयभागमात्राण्येव सम्पद्यन्ते, न पुनः स्तोकमात्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणानि, सागरोपमसमयप्रमाणानि पल्योपमसमयप्रमाणानि वा । कुतः ? इति चेत्, उच्यते, किञ्चिदधिकार्धरज्जुप्रमाण-

सूचिश्रेणिच्छेदनकानामपि साधिकसार्धद्वयोद्धारसागरोपमप्रमाणत्वेनाऽद्धापल्योपमासंख्येयभाग-मात्रत्वात्, अङ्गुलमात्रक्षेत्रगताकाशप्रदेशानां तु तादृशसूचिश्रेणेरसंख्येयभागगतत्वाच्च ।

ननु किञ्चिदधिकार्धरज्ज्वायतायाः सूचिश्रेणेः छेदनकानि साधिकसार्धोद्धारसागरोपमद्वय-समयप्रमाणान्येव भवन्ति, न पुनर्बहूनामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां समयप्रमाणानीत्यत्र का युक्तिः ? **इति चेत्**, भवत्यत्र युक्तिः, सा त्वेवंरूपा—जम्बूद्वीपमेरोर्मध्यभागादारभ्य दक्षिणायां दिश्यायता सर्वद्वीपसमुद्रदक्षिणदिग्द्वारस्पर्शिनी दक्षिणायां दिशि तिर्यग्लोकान्तपर्यन्ता याऽर्धरज्जुमाना एकप्रादेशिकी सूचिश्रेणिः साऽपि उत्तरस्यां दिशि लवणसमुद्रस्य मध्यं यावत् सार्धलक्षयोजनेनाऽभ्यधिका दीर्घा गृह्यते, अतः सा किञ्चिदधिकार्धरज्जुप्रमाणैव, तस्यास्तु छेदनकानि लक्षयोजनावशेषं यावत् सार्धद्वयोद्धारसागरोपमस्य समयप्रमाणानि प्राप्यन्ते, **तद्यथा**–निरुक्तोत्तरलवणमध्य-भागात्प्रारब्धा सूचिश्रेणिः ततः प्रभृति दक्षिणस्यां दिशि जम्बूलवणादिना क्रमेण यावत्तमस्य द्वीपस्य समुद्रस्य वा दक्षिणद्वारपर्यन्ता गृहीत्वा तस्या लक्षयोजनावशेषं यावत् छेदनकानि क्रियन्ते तावद्द्वीपसमुद्रसंख्याप्रमाणान्येव तानि प्राप्यन्ते ।

पश्यतामत्रोदाहरणानि–उत्तरलवणमध्यभागादारभ्य तस्यैव लवणसमुद्रस्य दक्षिणद्वारान्ता सूचिश्रेणिर्गृह्यते तदा सा जाता चतुर्लक्षयोजनायता, तस्याश्चैकलक्षयोजनावशेषं यावद् द्वे छेदनके, (लक्ष छे० प्रथम लक्ष छे द्विती ल शेष / यो.४ — २ = २ — २ = १) द्वीपसमुद्रावपि द्वावेव गृहीतावास्ताम्, छेदनके अपि द्वे इति तौल्यम् । अथ सा जम्बूलवणादिना क्रमेण पञ्चमस्य पुष्करवरद्वीपस्य दक्षिणद्वारपर्यन्ता गृह्यते तदा जाता द्वात्रिंशल्लक्षयोजनदीर्घा, तस्याश्च लक्षयोजनावशेषं यावत् पञ्चैव छेदकानि (लक्ष. छेद. लक्ष. छेद. लक्ष. छे. लक्ष छे लक्ष. छे. लक्ष शेष / ३२ — २ = १६ — २ = ८ — २ = ४ — २ = २ — २ = १), इत्येवं द्वीपसमुद्राणां पञ्चत्वे छेद-नकान्यपि पञ्चैव प्राप्तानि । इत्थमेव यद्यष्टमस्य वारुणिवरसमुद्रस्य दक्षिणद्वारपर्यन्ता सा यथोक्त-क्षेत्रप्रारब्धा श्रेणिर्गृह्यते तदा सा षट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतलक्षयोजनमाना भवति, तस्याश्च छेद-नकान्यपि लक्षयोजनावशेषं यावदष्टावेव प्राप्यन्ते । स्थापना तु प्रागिव स्वयमेव कार्या ।

इत्येवं तथाविधनियमवशात् तिर्यग्लोकस्य दक्षिणदिग्वर्तिप्रान्तभागपर्यन्ता सा गृह्यते तदा छेदनकान्यपि लक्षयोजनावशेषं यावद् द्वीपसमुद्राणां संख्यानुसारेण प्राप्यन्ते, द्वीपसमुद्रास्तु सार्धद्वयोद्धारसागरोपमसमयपरिमिताः । उक्तं च **भाष्यसुधाम्भोनिधिभिः**–

"उद्धारसागराणं अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया । दुगुणादुगुणपवित्थरदिवोदही । हुंति एवइया" इति ।

इत्येवं साधिकार्धरज्जुप्रमाणायाः सूचिश्रेणेरपि लक्षयोजनावशेषं यावच्छेदनकान्यपि तावन्ति सार्धद्वयोद्धारसागरोपमस्य समयप्रमाणानीतिकृत्वा भवता सम्भावितप्रमाणापेक्षयाऽतीवस्तोकान्य-द्धापल्योपमासंख्येयभागमात्राण्येव समधिगतानि । कुतः ? उद्धारसागरोपमापेक्षयाऽद्धापल्योपमस्या-ऽसंख्येयगुणत्वात् ।

इदमुक्तं भवति–संख्यातीतानां कालादीनां गणनायामागमोक्तानि पारिभाषिकाणि पल्योपमसागरोपमादीनि परिमाणान्याश्रीयन्ते, तत्र-उद्धारा-ऽद्धा-क्षेत्रपल्योपमभेदात् त्रिविधं पल्योपमम्, सूक्ष्म-बादरभेदादेकैकं पुनर्द्विधा। एवं सागरोपममपि। तत्रा-ऽऽयामविस्ताराभ्यामवगाहेन चोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनमानो वृत्ततया परिधिना किञ्चिन्न्यूनषड्भागैरभ्यधिकत्रियोजनमानः पल्यविशेषो मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कृष्टतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि यानि युग्मिवालाग्राणि तैः प्रचयविशेषाद् निबिडतरमाकण्ठं तथा भ्रियते यथा तानि वालाग्राणि वह्निना न दह्यन्ते, न वा वायुनाऽपनेतुं शक्यन्ते, न च तावन्मात्रम्, किन्तु जलमपि तानि न कोथयति, इत्येवं निबिडतरभृतात् तस्मात्पल्यात् प्रतिसमयमेकैकवालाग्रापहारे यावता कालेन स पल्यः सर्वात्मना निर्लेपो जायते तावान् संख्येयसमयप्रमाणकालो बादरोद्धारपल्योपमं प्रोच्यते, बादरोद्धारपल्योपमानां दशकोटिकोटिभिर्बादरोद्धारसागरोपमो जायते। सूक्ष्मोद्धारपल्योपमस्त्वेवंरूपोऽभिहितः–यथोक्ते पल्ये यानि वालाग्राणि भृतान्यासन् तानि प्रत्येकमत्राऽसंख्येयखण्डानि कृत्वा पूर्ववदेव सुबहुनिबिडं पल्ये भ्रियन्ते, एतानि च वालाग्राण्यतीवसूक्ष्माणि, द्रव्यतस्तु निर्मलनेत्रैः छद्मस्थैः सुबहुप्रयत्नेन यद् द्रव्यविशेषं चाक्षुसप्रत्यक्षविषयीकर्तुं पार्यते तद्द्रव्यादप्यसंख्येयभागमात्राणि प्रत्येकं सन्ति, क्षेत्रतस्तु तानि प्रत्येकं सूक्ष्मपनकशरीरस्यावगाहक्षेत्रादसंख्येयगुणं क्षेत्रमवगाहन्ते, एतेषां च पल्यभृतानां वालाग्राणामसंख्येयतया प्रतिसमयमेकैकस्योद्धारे संख्येया वर्षकोटिकोटयोऽपगच्छन्तीति कृत्वा संख्येयवर्षकोटिकोटिप्रमाणं सूक्ष्मोद्धारपल्योपमं समवसेयम्। तेषां दशकोटिकोटयः सूक्ष्मोद्धारसागरोपमम्। आभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां द्वीपाः समुद्राश्च मीयन्ते, यथा सर्वेऽपि द्वीपसमुद्राः सार्धद्वयोद्धारसागरोपमसमयप्रमिताः।

उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

'एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं? एएहिं दीवसमुद्दाणं उद्धारे घिप्पइ। केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता? गोयमा! जावइया णं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता॥' इति।

ननु बादरोद्धारपल्योपम-सागरोपमयोस्तर्हि किं प्रयोजनम्? न किञ्चिद्। एवं बादराद्धापल्योपम-सागरोपमयोर्बादरक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमयोरपि न किञ्चिद्विशेषप्रयोजनं विद्यते, केवलं सूक्ष्मोद्धारपल्योपमादीनां सुखावसेयार्थमादौ बादरोद्धारपल्योपमादीनामपि प्ररूपणं क्रियते। पूर्वं येषां वालाग्राणां प्रतिसमयमुद्धारेण बादरोद्धारपल्योपमं दर्शितं तेषामेव वालाग्राणामेकैकस्य वर्षशतान्तरेणोद्धरणे यावता कालेन पल्यनिर्लेपनं भवति तावान् संख्येयवर्षकोटिमानः कालो बादराद्धापल्योपमम्। तेषां दशकोटिकोटयो बादराद्धासागरोपमम्। सूक्ष्मे त्वेवम्—पूर्वोक्तस्वरूपादसंख्येयखण्डानि कृत्वाऽऽकण्ठं निबिडं भृतात् पल्यादेकैकस्य वालाग्रस्य वर्षशतेऽतिक्रान्ते निष्काशने यावान् निर्लेपनकालस्तावानसंख्येयवर्षकोटिमानः सूक्ष्ममद्धापल्योपमम्, तेषां दशकोटिकोटयः सूक्ष्म-

मद्धासागरोपमम् । एतेषां सूक्ष्माद्धासागरोपमाणां दशकोटिकोटय एका उत्सर्पिणी, तावत्प्रमाणै-वैकाऽवसर्पिणी, एकोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानं कालचक्रम् । तेषामनन्तैः पुद्गलपरावर्तः । सूक्ष्माद्धा-पल्योपम-सागरोपमयोः प्रयोजनं तु देव-मनुष्यादीनामायुःकर्मादिस्थितिपरिमाणम् ।

यद्यप्येतावता सूक्ष्मोद्धारा-ऽद्धापल्योपमसागरोपमाणां प्ररूपणेनैव स्वसमिहितं सिद्धं भवति, अधिकृतार्थस्य तेनैव गम्यत्वात्, तथाऽपि प्रसङ्गवशाद् द्विविधक्षेत्रपल्योपम-सागरोपममानं संक्षेपतो दर्श्यते-पूर्वोक्तस्वरूपात् पल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानामेकैकस्य प्रतिसमयमपहरणे यावान् निर्लेपन-कालोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्तावद्बादरक्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटिकोट्यो बादरसागरोपमम् । तथैवासंख्येयखण्डानि कृत्वा भृते यथोक्तपल्ये वालाग्रैः स्पृष्टानामस्पृष्टानां च नभःप्रदेशानां प्रति-समयमेकैकस्यापहरणे यावान् निर्लेपनकालो बादरपल्योपमादसंख्येयगुणकालमानस्तावत्सूक्ष्मं क्षेत्र-पल्योपमम् । तद्दशकोटिकोटयः सूक्ष्मं क्षेत्रसागरोपममिति ।

एवं संख्येयवर्षकोटीकोटीप्रमितसूक्ष्मोद्धारसागरोपमापेक्षयाऽसंख्येयवर्षकोटीमानस्य सूक्ष्मा-द्धापल्योपमस्याऽसंख्येयगुणाधिकतया सार्द्धद्वयोद्धारसागरोपमतुल्यान्यपि यथोक्तनीत्या लब्धछेद-नकान्यद्धापल्योपमस्यासंख्येयतमभागमात्रगतान्येव ।

शेषाया लक्षयोजनमानायाः सूचिश्रेणेर्निर्विभाज्यं प्रदेशं यावच्छेदनकानि तु लब्धछेदन-कापेक्षयाऽतीवस्तोकान्येव स्युः, तेषां च पूर्वलब्धछेदनकेषु प्रक्षेपणे साधिकार्धरज्जुप्रमाण-सूचिश्रेणिनिष्पन्नानि सर्वछेदनकान्यपि साधिकसार्धोद्धारसागरोपमद्वयस्य समयप्रमाणानीति कृत्वाऽद्धापल्योपमस्यासंख्येयभागमात्राण्येव, किं पुनरङ्गुलमात्रक्षेत्रनभःप्रदेशप्रथमवर्गमूलस्य छेदनकानि, तानि तेषामप्यसंख्येयभागगतान्येव स्युरिति भावः । कुतः ? अर्धरज्जुदीर्घसूचि-श्रेणेर्नभःप्रदेशराश्यपेक्षया घनाङ्गुलक्षेत्रगतनभःप्रदेशराशेरप्यसंख्येयभागमात्रगतत्वात् ।

ननु यदुक्तं शेषाया लक्षयोजनमितायाः सूचिश्रेणेर्निर्विभाज्यप्रदेशं यावन्निष्पद्यमानानि छेदनकानि तु पूर्वलब्धछेदनकापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राणि स्युरित्येतत्कथमुपपद्येत, यतो पूर्वलब्ध-छेदनकानि तु सार्धद्वयोद्धारसागरोपमसमयप्रमाणानां द्वीपसमुद्राणामेकैकस्य हान्या प्राप्तानि, इतस्तु निर्विभाज्यप्रदेशं यावच्छेदनकान्युत्पादयितव्यानि, तत्र तु ये आकाशप्रदेशास्ते द्वीपसमुद्रसंख्यापेक्ष-याऽतिबहवः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रेऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणानामाकाशप्रदेशानामभिहित-त्वात्, तेषां च द्वीपसमुद्रसंख्यापेक्षया बहुसंख्येयगुणत्वेन छेदनकानामपि तदनुसारेण पूर्वापेक्ष-या बहुसंख्येयगुणानामुत्पत्तेः सम्भवः । इत्येवमर्धरज्जुप्रमाणसूचिश्रेणेर्निर्विभाज्यप्रदेशं यावत् निष्प-द्यमानछेदनकानां पल्योमासंख्येयभागमात्राणां स्तोकानामसिद्धेस्तद्द्वारेणाङ्गुलक्षेत्रस्य तेषां स्तो-कत्वप्रसाधनम्, तेन च सर्वमुपपादनं मूलाभावे शाखादीनामुपपादनमिवाविमृश्यकार्येव ? इति चेत्, न, यतोऽत्र विद्यते उपपत्तिः, तथा च स्फुटं गम्यते यल्लक्षयोजनमानायाः शेषश्रेणेर्निर्विभाज्यप्रदेशं

यावदुत्पद्यमानानि छेदनकानि पूर्वोत्पन्नच्छेदनकापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राण्येव । **तथाहि**–कस्या अपि विवक्षितसंख्याया यावन्ति छेदनकानि जायन्ते, तदपेक्षया तदीयवर्गस्य तानि द्विगुणानि लभ्यन्ते, घनस्य तु तदीयस्य तानि त्रिगुणानि समुत्पद्यन्ते ।

अत्र उदाह्रियते—विवक्षिता चतुःप्रदेशदीर्घा श्रेणिरतः चतुःप्रदेशसंख्याकायास्तस्या निर्विभाज्यप्रदेशं यावद् (छे० छे० = २ / ४ ÷ २ = २ ÷ २ = १) द्वे छेदनके एवोत्पद्येते, तस्या एव चतुःप्रादेशिक्या वर्गं कृत्वा (४×४=१६) लब्धायाः षोडशप्रादेशिक्याश्छेदनकानि तु (छे० छे० छे० छे०=४ / १६÷२=८÷२=४÷२=२÷२=१) चत्वारि, अर्थात्पूर्वापेक्षया द्विगुणानि सम्पन्नानि, घनकरणेन (४×४×४=६४) लब्धायाश्चतुः-षष्टिप्रादेशिक्यास्तु तानि (छे० छे० छे० छे० छे० छे०=६ / ६४÷२=३२÷२=१६÷२=८÷२=४÷२=२÷२ = १) षट् समुपजातानि । तथैव मूलत एव षोडशप्रादेशिकीं श्रेणिमधिकृत्य यदा छेदनकानि आनीयन्ते तदा तानि चत्वारि लभ्यन्ते, वर्गीकृतायास्तु तस्यास्तानि अष्टौ प्राप्यन्ते, घनीकृतायास्तु तस्याः छेदकानि द्वादश समुद्भवन्तिः अत्र हीदं स्फुटं गम्यते यत्–घनीकरणेन प्राप्तप्रदेशसंख्याकायाः श्रेणेः मूलश्रेण्यवशेषं यावद् यावन्ति छेदनकानि तदपेक्षया घनकरणेन प्राप्तप्रमाणायाः श्रेणेर्निर्विभाज्य-प्रदेशं यावत् सर्वछेदनकानि विशेषाधिकान्येव, यथा प्रथमे उदाहरणे चतुःषष्टिसंख्याकायाः श्रेणे-श्चतुःप्रदेशावशेषं यावत् चत्वारि छेदनकानि, निर्विभाज्यप्रदेशं यावत्तु तानि षट्, अर्थाद् विशे-षाधिकानि, द्वितीयदृष्टान्तेऽप्येवमेव, तत्र घनकरणेन प्राप्तसंख्याकायाः श्रेणेर्यावद् मूलं तावदष्टौ छेदनकानि, अविभाज्यप्रदेशं यावत्तु द्वादशेत्येवं विशेषाधिकछेदनकलाभात् ।

एतेन किम् ? एतेन तथाविधनियमशादवशेषाया लक्षयोजनाऽऽयामायाः सूचिश्रेणेश्छेद-नकानि साध्यन्ते । **तद्यथा**–लक्षयोजनादारभ्याङ्गुलप्रायःप्रमाणश्रेण्यवशेषं यावत् संख्येयान्येव छेदनकानि समुद्भवेयुरिति तु सुगमम्, अवशिष्टाया अङ्गुलप्रायःप्रमाणश्रेणेस्तु छेदनकान्युक्तनिय-मात् तदीयप्रदेशसंख्यायां घनीकृतायां या संख्या प्राप्येत तत्संख्यायाः प्रारभ्य मौलाऽङ्गुलप्रायः-सूचिश्रेणिप्रदेशप्रमाणसंख्यावशेषं यावद् यावन्ति छेदनकानि सम्पद्येरन् तदपेक्षया स्तोकान्यर्धभाग-मात्राण्येव भवेयुः; किञ्च प्रागुक्तनीत्या साधिकार्धरज्जुप्रमाणश्रेण्यपेक्षया घनाङ्गुलस्य प्रदेशानि त्वसंख्येयभागमात्राणि, तेषां तु यथोक्तसूच्यङ्गुलप्रायःप्रमाणक्षेत्रावशेषं यावत् छेदनकान्यपि सार्ध-द्वयोद्धारसागरोपमसमयापेक्षया स्तोकान्येव प्राप्येरन्, तदपेक्षयाऽपि प्राग्गृहीततिर्यग्लोकदक्षिण-लोकान्तस्पृक्श्रेणितोऽवशेषाया अङ्गुलप्रायःप्रमाणायाः सूचिश्रेणेस्तु तानि स्तोकतराण्येव, तानि च संख्येयैः छेदनकैरभ्यधिकेषु सार्धद्वयोद्धारसागरोपमसमयप्रमाणेषु पूर्वावाप्तछेदनकेषु प्रक्षिप्यन्ते तदाऽपि सर्वाणि पूर्वापेक्षया किञ्चिन्मात्रसमधिकान्येव भवन्ति ।

इत्थं च तथाविधोपपत्तेः सद्भावात्, तया चावशेषसूचिश्रेणेर्निर्विभाज्यप्रदेशं यावत् पूर्वलब्धच्छेदनकापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राणां छेदनकानामुपपत्तेः स्तोकछेदनकवृद्ध्या यथोक्तसाधिकार्धरज्जुप्रमाणसूचिश्रेणेः सर्वच्छेदनकानामपि साधिकसार्धद्व्योद्धारसागरोपमसमयतुल्यत्वमेव, ततश्च तदसंख्येयभागमात्रस्य घनाङ्गुलक्षेत्रस्य छेदनकान्यतीवस्तोकानीत्यादि यत् प्रतिपादितं तन्न निर्मूलम्।

तदेवं सूचिश्रेणेरसंख्येयभागमात्रस्य घनाङ्गुलस्य छेदनकानां ह्रस्वपल्योपमासंख्येयभागमात्राणामुत्पत्तेरङ्गुलप्रथमवर्गमूलस्य तु तानि ततोऽपि स्तोकानि, तत्षड्भागमात्राण्येव, तेषां प्रथमवर्गमूलच्छेदनकानामप्यसंख्येयभागमात्राणि मूलोक्तानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां द्विगुणवृद्धिस्थानान्यविरुद्धान्येव, ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितौ प्रतिपल्योपमासंख्येयभागमन्तराऽन्तरा उत्पद्यमानानां तावतां द्विगुणवृद्धिस्थानानां सुखेनोपपत्तेः,इत्येवं प्रथमविरोधस्यानवकाश एव। किञ्च विकल्पान्तरं समालम्ब्याऽन्या या विरोधद्वयी उद्भाविता साऽप्यमीषामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां लघुतरपल्योपमासंख्येयभागमात्रत्वोपपत्तेरेव निरस्ता, द्विगुणवृद्धिस्थानानां स्तोकतया द्विगुणवृद्धिद्वयान्तरस्य महत्तरत्वेनाऽसंख्येयगुणत्वोपपत्तेः, अनन्तरोपनिधायामनन्तरस्थितिबन्धस्थानेऽसंख्येयभागप्रमाणानामध्यवसायस्थानानामभिमतवृद्धेरुपपत्तेश्च तादृशविकल्पस्यैवानवकाशादिति ॥८४७॥

तदेवं सप्रभेदतो दर्शिताऽध्यवसायानां प्ररूपणा। साम्प्रतं तेषामेव स्थितिबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टिं चिन्तयन्नाह—

अट्ठण्ह जहण्णाओ दुइआअ ठिईअ अज्झवसणाणं।
ठाणाणि अपुव्वाइं एमेव हवेज्ज जा परमा ॥८४८॥

(प्रे०) "अट्ठण्ह जहण्णाओ" इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामन्तरायपर्यन्तानामष्टानामपि मूलकर्मणां प्रत्येकं "जहण्णाओ" त्ति जघन्यायाः स्थितेः "दुइआअ ठिईअ" त्ति द्वितीयायां स्थितौ, अनन्तरे समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थानरूपे द्वितीयस्थितिबन्धस्थान इत्यर्थः। तत्र किमित्याह–"अज्झवसणाणं ठाणाणि" त्ति तस्या द्वितीयस्थितेर्बन्धप्रायोग्यानामध्यवसायानां स्थानानि-भेदाः "अपुव्वाइं" ति 'अपूर्वाणि' पूर्वे-पूर्वस्मिन् जघन्यस्थितिबन्धे यानि नासन् तथाविधानि, जघन्यस्थितिबन्धकारणीभूताध्यवसायेभ्यो विलक्षणानि, न पुनरेकमप्यध्यवसायस्थानं तत्सदृशमत्र समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु विद्यत इति भावः।

ननु द्वित्रिसमयाद्यधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थानेषु तर्हि किमित्याह–"एमेव हवेज्ज"त्यादि, एवमेव, यथा जघन्यस्थितिबन्धस्थानापेक्षया समयोत्तरे समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थाने तथैव समयसमयोत्तरेषु द्विसमय-त्रिसमयाद्यधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थानेषु स्थितिबन्धस्थानेषु यावच्चरमायां सर्वोत्कृष्टस्थिताविन्यर्थः।

इदमुक्तं भवति– जघन्यस्थितिबन्धो यैरसंख्यलोकप्रदेशप्रमितैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैर्निर्वर्तयितुं शक्यते, तदपेक्षया तीव्रैर्विलक्षणैरेव स्थितिबन्धाध्यवसायैः समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धो निर्वर्तयितुं शक्यते, इत्यतो जघन्यस्थितिबन्धस्थानापेक्षयाऽपूर्वाण्येव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धेऽभिहितानि । समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धो यैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैर्निर्वर्तयितुं शक्यते तदपेक्षयाऽधिकतीव्रैरत एवापूर्वैरध्यवसायस्थानैर्द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धो निर्वर्तयितुं शक्यते, एवं यैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैर्द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धो जायते तदपेक्षया तीव्रतरैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरेव त्रिसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धो जायते, न पुनः पूर्वैरपीति द्वित्रिसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धेऽप्यपूर्वाण्येव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि हेतुभूतानि सन्ति, एवं समयसमयवृद्धया यावदुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तावदपूर्वाण्यपूर्वाणि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्येव हेतुतया वर्तन्ते ।

अत्राऽसत्कल्पनया–ज्ञानावरणस्य स्थितिबन्धप्रायोग्यानि सर्वाण्यध्यवसायस्थानानि मन्द-तीव्र-तीव्रतरादिक्रमेण प्रथमद्वितीयादितया स्थाप्यन्ते, तानि च समुदितान्यसत्कल्पनया त्रिंशदुत्तरशतम्, स्थितिबन्धस्थानानि चाष्टौ, तत्र च प्रथमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानप्रभृतीनि पञ्चाध्यवसायस्थानानि जघन्यस्थितिबन्धे हेतुभूतानि, न पुनः षष्ठप्रभृतीन्यपि, तेषामुक्तपञ्चस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानापेक्षया तीव्रतया समयाद्यधिकजघन्यस्थितिबन्ध एव हेतुत्वात्, तत्राऽपि षष्ठप्रभृतीनि द्वादशपर्यन्तान्येव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धे हेतुभूतानि, न पुनस्तदुत्तरवर्तीन्यपि, तेषां तीव्रतर-तीव्रतमादिभावेन समयद्विसमयाद्यधिकजघन्यस्थितिबन्धे हेतुत्वात् । तत्राऽपि द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्त्रयोदशप्रभृतिभिर्द्वाविंशतितमपर्यन्तैः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरेव निर्वर्तयितुं शक्यते, न पुनर्द्वादशपर्यन्तेष्वेकेनापि, एवं त्रयोविंशतितममध्यवसायस्थानमपि तत्र न कारणम्, तस्य पूर्वापेक्षया तीव्रतया त्रिसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धहेतुत्वात्, त्रयोविंशतितमप्रभृतीनि पञ्चत्रिंशत्तमपर्यन्तानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तु त्रिसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्ध एव हेतुभूतानि, न तु ततः समयादिहीनस्थितिबन्धे समयाद्यधिकस्थितिबन्धे वा, एवमेवोत्तरत्रापि कल्पनीयम् । अत्रासत्कल्पनया स्थितिबन्धस्थानाष्टके मन्दतर-मन्दतमाद्यध्यवसायानां हेतुत्वे इयं स्थापना—

मन्दतम-मन्दतर-मन्द-तीव्र-तीव्रतरादिक्रमेण स्थापितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि—

		प्रथमम् द्विती० तृ० च० पञ्चमं	जघन्यस्थितिबन्धे	हेतुभूताध्यवसाय० ।	
प्रथमात्पञ्चमान्तानि		० ० ० ० ०			
षष्ठाद् द्वादशान्तानि	६ १२	००००००००	समयाधिके	जघन्यस्थितिबन्धे	,,
त्रयोदशाद् द्वाविंशतितमान्तानि	१३ २२	००००००००००	द्विसमयाधिके	जघन्यस्थितिबन्धे	,,
त्रयोविंशतितमात् पञ्चत्रिंशत्तमान्तानि	२३ ३५	०००००००००००००	त्रिसमयाधिके	,,	,,
षट्त्रिंशत्तमाद् द्विपञ्चाशत्तमान्तानि	३६ ५२	०००००००००००००००००	चतुःसमयाधिके	,,	,,
त्रिपञ्चाशत्तमात् त्रिसप्ततितमान्तानि	५३ ७३	०००००००००००००००००००००	पञ्चसमयाधिके	,,	,,
चतुःसप्ततितमान्नवनवतितमान्तानि	७४ ९९	००००००००००००००००००००००००००	षट्समयाधिके		,,
शततमात् त्रिंशदुत्तरशततमान्तानि	१०० १३०	००००००००००००००००००००००००००००००००	सप्त···		,, एवं यावत
		···· ···· · · ·· ··· ··· ···			उत्कृष्टस्थितिबन्धे ॥

नन्वनुकृष्टिप्रस्तावे किमनेन समयसमयोत्तरेषु स्थितिबन्धस्थानेष्वपूर्वाऽपूर्वस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां प्रतिपादनेन ? इति चेद्, उच्यते–अनुकृष्टिर्हि प्रस्तुतत्वात्स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानामन्यान्यस्थितिबन्धस्थानेष्वनुवर्तनरूपा, उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णिविशेषवृत्तौ श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरितल्लजैः**–"अनुकृष्टि अनुवर्तनाऽनुगम इत्येकोऽर्थः" इति । विवक्षितस्थितिबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानानि ततः समयाद्यधिके समयादिना हीने वा स्थितिबन्धेऽनुवर्तन्ते न वेत्यनुकृष्टिप्ररूपणाविषयः; स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तु तत्तद्बन्धप्रायोग्यमेकं किञ्चित् स्थितिबन्धस्थानं विहाय नान्यत्रानुवर्तन्ते, प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानेष्वपूर्वाणामेव स्थितिबन्धाध्यवसायानां हेतुत्वात् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिस्थितिबन्धचूर्णौ**—

"अणुकड्ढीए णाणावरणिज्जस्स जहण्णियाठितीए जाणि ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि तेहिंतो बितियाए ठितीए अपुव्वाणि, एवं अपुव्वाणि, अपुव्वाणि जाव उक्कस्सियाए ठितीए अपुव्वाणि ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि । एवं सव्वकम्माणं ।" इति ।

महाबन्धकारैरप्येवमेवोक्तम् । तथा च **तद्वचनम्**–

"अणुकड्ढीए णाणावरणियस्स जहण्णियाए ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि याणि ताणि बिदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि अपुव्वाणि । बिदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि याणि ताणि तदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि अपुव्वाणि य । एवं च अपुव्वाणि याव उक्कस्सियाए ट्ठिदित्ति । एवं सत्तण्हं कम्माणं ।" इति ।

इत्येवं पूर्वपूर्वस्थितिमत्कस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः स्तोकानामप्यध्यवसायानामुत्तरोत्तरस्थितावननुवर्तनात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां साऽनुकृष्टिर्न भवति । उक्तं च **श्रीमन्मलयगिरिपूज्यैः कर्मप्रकृतिस्थितिबन्धवृत्तौ**–"साम्प्रतमनुकृष्टिश्चिन्त्यते, सा च न विद्यते" इति । इत्थमुत्तरोत्तरस्थितावपूर्वाऽपूर्वाध्यवसायानां हेतुत्वप्रदर्शनस्यानुकृष्टिप्रतिषेधपर्यवसानात् प्रस्तुतमेव प्ररूपितम् ।

ननु जघन्यस्थितिबन्धप्रभृतेरुत्कृष्टस्थितिबन्धपर्यन्तेषु सर्वत्राऽप्रसिद्धसत्ताकाया अध्यवसायानुकृष्टेश्चिन्तनमेवाप्रकृतम् ? **इति चेद्, न,** तत्र स्थितिबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टेरसत्त्वेऽपि तेषु स्थितिबन्धस्थानेष्वेव रसबन्धाध्यवसायानां साऽनुकृष्टिर्विद्यत एव, ततश्च तस्या रसबन्धाध्यवसायानुकृष्टेर्ज्ञाता जिज्ञासति यत्– 'स्थितिबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टिर्भवति न वा', एतदर्थमनुकृष्टिद्वारमाश्रित्य सा प्रतिषिध्यते । **एतदुक्तं भवति**–किमपि स्थितिबन्धस्थानं निर्वर्तयन् जीवो रसबन्धमपि नियमेन बध्नाति, इत्थं च यथाऽसौ तादृशस्थितिं बध्नन् कस्मिन्नपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने वर्तते तथा कस्मिन्नपि रसबन्धाध्यवसायस्थानेऽपि वर्तत एव, तानि च रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यपि प्रतिस्थितिबन्धस्थानमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यान्येव विद्यन्ते ।

तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"जे एक्कं ट्ठितिं णिव्वत्तंति ट्ठितिबंधज्झवसाणा ते असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ता, एवं सव्वट्ठितिविगप्पेसु, तम्मि एक्केक्कम्मि ट्ठितिबन्धट्ठाणंमि अणुभागबंधाज्झवसाणट्ठाणाणि असंखेज्जलोगपदेसमेत्ताणि" **इति ।**

इत्थं हि प्रत्येकस्थितिबन्धस्थाने वर्तमानानां जीवानामध्यवसायस्थानानि द्विविधानि सन्ति, **तद्यथा**–स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानि च, तत्र स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानामुत्तरोत्तरस्थितिबन्धस्थानेष्वपूर्वाणामेव सद्भावेनानुत्कृष्टेरभावेऽपि रसबन्धाध्यवसायानां सा विद्यत एव; मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतीनां जघन्यादितत्तत्स्थितिबन्धस्थानेषु वर्तमानेभ्योऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्येभ्योऽनुभागाध्यवसायस्थानेभ्य एकभागप्रमाणानामनुभागाध्यवसायस्थानानां तदन्यस्थितिबन्धस्थानेष्वनुवर्तनात् ; कुतोऽवसीयते ? इति चेत् , मतिज्ञानावरणादेः समयद्विसमयाद्यधिकजघन्यादिस्थितिबन्धस्थानेष्वपूर्वाणामध्यवसायानामिव एकदेशमात्राणां पूर्वाणामध्यवसायस्थानानामप्यभिमतत्वात् । उक्तं च **कर्मप्रकृतिरसबन्धचूर्णौ**–

"एयासि पगतीणं जहण्णियं ट्ठितिं बंधमाणस्स 'जाणज्झवसाणाणि तदेगदेसो य अण्णाणि' त्ति जाणि अणुभागज्झवसाणट्ठाणाणि बितियाए ट्ठितीए तदेकदेसो य अण्णाणि य, तइयाए ट्ठितीए तदेगदेसो य अण्णाणि" **इत्यादि ।**

उक्तं च महाबन्धकारैरपि—

"एत्तो तिव्वमंददाए पुव्वं गमणिज्जं अणुकड्ढि वत्तइस्सामो । त जहा–सण्णीहिं पगदं । अब्भवसिद्धियपाओग्गं जहण्णगे बधगे मदियावरणस्स जहण्णट्ठिदिं बंधमाणस्स याणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि बिदियाए ट्ठिदीए तदेगदेसो वा अण्णाणि च । तदियाए ट्ठिदीए तदेगदेसो वा अण्णाणि च" **इति ।**

षट्खण्डकारैरपि स्थितिबन्धाध्यवसायानुकृष्टिचिन्तनप्रस्तावेऽनुकृष्टिसद्भावप्रतिपादनपरम्- 'मदियावरणस्स जहण्णाट्ठिदिं बधमाणस्स याणि ठिइबन्धज्झवसाणट्ठाणाणि बिदियाए ट्ठिदीए तदेगदेसो वा अण्णाणि य तदीयाए ट्ठिदीए तदेगदेसो' इत्यादिलक्षणं 'तदेगदेसो' इति पदघटितमालापकं विहाय तद-घटितस्य 'अणुकड्ढीए णाणावरणियस्स जहण्णियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि याणि बिदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि अपुव्वाणि । बिदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि याणि ताणि तदियाए ट्ठिदीए ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि अपुव्वाणि य ।' इत्यादि लक्षणस्याऽऽलापकस्योच्चारणात् तन्मतेऽपि स्थितिबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टिर्नाभिमतेति स्फुटेप्यनुकृष्टिप्रतिषेधे तत्सूत्रं स्थिति-बन्धाध्यवसायानुकृष्टिसद्भावप्रतिपादकपरकतया केचन व्याख्यानयन्ति तत्तु चिन्त्यमेवेति ।

अत्र जघन्या स्थितिरभव्यजीवबन्धप्रायोग्या ग्राह्या, न तु भव्यजीवबन्धप्रायोग्या । उक्तं चैतदपि कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"एत्तो तिव्वमंदयाए पुव्वं गमणिज्जा अणुकड्ढी सण्णिपंचिंदियंमि पज्जत्त अभवसिद्धिपाउग्गं बंधमाणंमि" इति ।

तदेवं स्थितिबन्धस्थानेषु स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टेरभावेऽपि रसबन्धाध्य-वसायस्थानानां तत्सद्भावात्स्थितिबन्धस्थानेष्वध्यवसायानुकृष्टिर्नाऽप्रसिद्धसत्ताका, ततः स्याज्जि-ज्ञासा– 'स्थितिबन्धस्थानेषु रसबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टेरिव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानाना-मनुकृष्टिर्भवति न वा भवती'त्यतोऽनुकृष्टिद्वारं समाश्रित्य सा प्रतिपिद्धेति न किञ्चिदप्रकृतम् ।

वस्तुतस्तु–वक्ष्यमाणस्य स्थितिबन्धाध्यवसायानां तीव्रत्व-मन्दत्वतारतम्यस्य सुखावबोधार्थ-मेव रसबन्धाध्यावसायानामिव स्थितिबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टेश्चिन्तनं विज्ञेयम् ,अन्यथा तु स्थिति-बन्धाध्यवसायानां प्रदर्शयिष्यमाणतीव्रत्व-मन्दत्वतारतम्येनैवानुकृष्टेरभावत्वमवभोत्स्यते, केवलं तथाप्ररूपणे दुरवबोधं स्यात्सर्वमित्यादावनुकृष्टिचिन्तनमधिकृतमिति ॥८४८॥

अथ स्थितिबन्धाध्यवसायानां तीव्रमन्दतां दर्शयन्नाह—

अट्ठण्ह लहुठिईए अणंतगुणिअं कमा लहुउ गुरुं ।
तो बिइआइ लहुं तो गुरुमेवं जा गुरूअ गुरुं ॥८४९॥

(प्रे०) "**अट्ठण्ह लहुठिईए**" इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलकर्मणां 'लघुस्थितेः'-जघन्यायाः स्थितेः "**लहुउ**" त्ति 'लघोः'-जघन्यादध्यवसायस्थानाद् "**अणंतगुणिअं कमा**" त्ति क्रमादनन्तगुणितम् , तीव्रमिति गम्यते । किमनन्तगुणितं तीव्रमित्याह–"**गुरुं**" त्ति, तस्या एव लघुस्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टमध्यवसायस्थानम् , "**गुरुं बिइआइ लहुं**" त्ति, तस्मादनन्तरोक्ताज-घन्यस्थितिसत्कजघन्याध्यवसायस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणतीव्राज्जघन्यस्थितिबन्धकारणीभूतादुत्कृष्टाध्य-वसायस्थानात् 'द्वितीयायाः'-समयाधिकजघन्यस्थितिस्थानरूपायाः स्थितेः 'लघु'–जघन्यमध्यवसा-यस्थानम् , अनन्तगुणितं तीव्रमित्यनुवर्तते । इत्येवमुत्तरत्राप्यनुवृत्तिबलात् "**तो गुरु**" त्ति

तस्मात् समयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थानकारणीभूताजघन्याध्यवसायस्थानात् तस्या एव समयाधिकजघन्यस्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टमध्यवसायस्थानम्, अनन्तगुणितं तीव्रम्, "**एवं जा गुरुअ गुरु**" ति 'एवम्'-उक्तरीत्या यथोत्तरस्थितिबन्धस्थानानां जघन्योत्कृष्टाद्यध्यवसायस्थानक्रमेण यावत् 'गुरुस्थितेः'-सर्वोत्कृष्टायाः स्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टमध्यवसायस्थानं तस्या एवोत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्याध्यवसायस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणतीव्रं भवति। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

"णाणावरणीयस्स जहण्णियाए ठितिए जहण्णयं ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणं सव्वमंदाणुभागं। तस्सेवुक्कस्सयं अणंतगुणं। बितियाए जहण्णयं ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणं अणंतगुणं। तस्सेवुक्कस्सयं अणंतगुणं। एवं ततियाए जहण्णयं ठितिबंधज्झवसायट्ठाणं अणतगुणं, तस्सेवुक्कोसं अणंतगुणं। एवं अणंतगुणं जाव उक्कस्सिता ठितित्ति।" इति ॥८४९॥

तदेवं दर्शिता स्थितिबन्धाध्यवसायानां तीव्रमन्दता, तस्यां च दर्शितायां गतः प्रथमः स्थितिसमुदाहारः ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे षष्ठेऽध्यवसायसमुदाहारे प्रथमः स्थितिसमुदाहारः समाप्तः ॥

॥ अथ द्वितीयः प्रकृतिसमुदाहारः ॥

तदेवमुक्तो नानाऽवान्तरद्वारैः स्थितिसमुदाहारः। साम्प्रतं प्रकृतिसमुदाहारे ज्ञानावरणाद्येकैकां प्रकृतिमपेक्ष्य समस्तानां स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां प्रमाणं दर्शयन्नाह—

सव्वठिईणऽट्ठण्हं अज्झवसाया असंखिया लोगा।

(प्रे०) "**सव्वठिईणं**" त्यादि, "**ट्ठण्हं**" ति पूर्वमकारस्य दर्शनाज्ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलकर्मणां प्रत्येकं "**सव्वट्ठिईण**" त्ति जघन्यायाः स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा स्थितिस्तावद् यावन्तः स्थितिबन्धविकल्पास्तावतां 'सर्वस्थितीनाम्'-सर्वस्थितिबन्धविकल्पानाम् "**अज्झवसाया असंखिया लोगा**" त्ति तत्कारणीभूताः समस्तस्थितिबन्धाध्यवसायाः असंख्येया लोकाः, असंख्येयलोकाकाशप्रमाणक्षेत्रखण्डानां प्रदेशराशिप्रमाणा इत्यर्थः। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

"पमाणाणुगमेणं णाणावरणीज्जस्स असंखेज्जलोगागासपदेशमेत्ताणि ठितिबंधज्झवसाणठाणाणि सव्वट्ठितीणं। एवं सव्वकम्माणं" ॥८८॥ इति।

अत्र हि एकस्थितिबन्धस्थानकारणीभूताध्यवसायप्रगणनायां दर्शितासंख्यलोकाकाशापेक्षया बृहत्तरमसंख्यातं बोद्धव्यमिति ॥ ॥

तदेवं ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं सर्वस्थितिबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितत्वे प्रतिपादिते किं ज्ञानावरणादीनामेकैकस्य परस्परमेते स्थितिबन्धाध्यवसायास्तुल्या हीनाधिका वेत्याशङ्कायां तेषामल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

ठिइदीहत्तेण कमा असंखियगुणा मुणेयव्वा ॥८५०॥

(प्रे०) "**ठिइदीहत्तेण कमा**" इत्यादि, स्थितिदीर्घत्वेन "**कमा**" त्ति क्रमाद्यथोत्तरम-संख्येयगुणाः स्थितिबन्धाध्यवसाया ज्ञातव्याः । **अयम्भावः**— ह्रस्वस्थितिककर्मणः सर्वस्थिति-बन्धाध्यवसायापेक्षया दीर्घस्थितिककर्मणः सर्वस्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः, ततोऽपि दीर्घतरस्थितिकस्य तेऽसंख्येयगुणाः, एवं तावद्वक्तव्यं यावत्सर्वाधिकस्थितिकस्याऽसंख्येयगुणाः ।

तथाहि—शेषकर्मणामुत्कृष्टस्थित्यपेक्षयाऽऽयुष उत्कृष्टा स्थितिर्ह्रस्वाऽतस्सर्वस्तोका आयुषः सर्वस्थितिबन्धाध्यवसायाः, ततो नामगोत्रयोरेकैकस्य सर्वस्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः, परस्परन्तु तुल्याः । नामगोत्रयोरेकैकस्य समस्तस्थितिबन्धाध्यवसायापेक्षया दीर्घस्थितिकानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामेकैकस्य समस्तस्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः सन्ति । कुतः ? उच्यते—प्राक् पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानां स्थितिबन्धस्थानानामतिक्रमणेना-नन्तरस्थितिबन्धस्थानेऽध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिरभिहिता, ततश्च पल्योपममात्रस्थितिवृद्धावसंख्ये-यानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां प्राप्तेश्चरमद्विगुणवृद्धौ स्थितिबन्धाध्यवसाया अप्यसंख्येय-गुणा भवन्ति, तथा च सति नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां दशसा-गरोपमकोटिकोटीप्रमाणाधिकस्थितिबन्धे तु स्थितिबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणता निर्विवादमि-द्धेति । ज्ञानावरणादेः समस्तस्थितिबन्धाध्यवसायापेक्षया मोहनीयस्य समस्ताः स्थितिबन्धाध्यव-साया असंख्येयगुणाः अत्राप्यसंख्येयगुणताऽनन्तरोक्तनीत्यैव ज्ञेया । इति ।

ननु आयुषः स्थितिबन्धस्थानानां स्तोकत्वेऽपि समयद्विसमयाद्युत्तरेषु तेषु प्रत्येकं स्थिति-बन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः सन्ति, नामगोत्रयोस्तु यथोत्तरं विशेषाधिकाः, तत्कथमायुरपेक्षया नामगोत्रयोः स्थितिबन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः स्युः ? **इति चेद्, उच्यते**, आयुषो जघन्यस्थिति-बन्धस्थानेऽपि तत्कारणीभूताः स्थितिबन्धाध्यवसाया अतीवस्तोकतराः सन्ति, नामगोत्रयोर्जघन्यस्थि-तिबन्धस्थाने पुनरतिप्रभूततराः सन्ति, अन्यच्चायुषः स्थितिबन्धस्थानानि स्तोकानि, नामगोत्र-योस्तु बहूनि, **ततो यथोत्तरं** विशेषाधिका अपि नामगोत्रयोः समस्तस्थितिबन्धाध्यवसाया आयुषः समस्तस्थितिबन्धाध्यवसायापेक्षयाऽसंख्येयगुणा भवन्ति । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

"सव्वत्थोवाणि आउगस्सठितिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि । णामगोआणं ठितिबंधज्झवसाणाणि असखेज्ज-गुणाणि । आउगस्स ठितिबंधे अज्झवसाणट्ठाणाणं वड्ढी असंखेज्जगुणा दिट्ठा, णामगोयाणं विसेसहिगा दिट्ठा, एत्थ **कहं असंखेज्जगुणा ? भण्णइ**—*आउगस्स जहण्णियाए ठितिए अज्झवसाणट्ठाणाणि अतिथोवा-णित्ति नामगोआणं जहण्णिगाए ठिईए ठितिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि अति बहुगाणित्ति काउं, तेण आउगस्स

---

* अत्र हि जेसलमेरग्रन्थागारस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्ण्यक्षराणि, मुद्रितप्रतौ तु—"आउगस्स जहण्णियाए ठितीए अज्झवसाणट्ठाणाणि अतिबहुगाणित्ति(थोवाणित्ति)काउ, तेण आउगस्स थोवाणि आदिउत्तर गच्छति, सेसाणं वाराखेज्जा" इति पाठः । अनयोः पाठयोर्मध्ये तालपत्रीयपाठ एव सम्यगिति ।

थोवाणि आदिल्लतरं गच्छविसेसेण वा साहेज्जा। णाणावरणदंसणावरणवेयणिज्जअंतराइयाणं असंखेज्जगुणाणि। कहं ? भण्णइ–पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं गंतूणं दुगुणवड्ढी दिट्ठा। एवं पलिओवमस्स थते असंखेज्जगुणाणि लब्भंति। मोहणिज्जस्स ठितिबंधज्झवसाणाणि असंखेज्जगुणाणि।" इति ॥ ८५० ॥

तदेव प्रतिपादितं ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीरधिकृत्य स्थितिबन्धाध्यवसायानामल्पबहुत्वम् , तस्मिँश्च प्रतिपादितेऽवमितो द्वितीयः प्रकृतिसमुदाहारः ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे षष्ठेऽध्यवसायसमुदाहारे द्वितीय प्रकृतिसमुदाहार ॥

★ ★ ★

॥ अथ तृतीयो जीवसमुदाहारः ॥

साम्प्रतं चरमस्य जीवसमुदाहारस्यावसरः। तत्र हि शुभाऽशुभाद्यध्यवसायभेदादनेकधा विभक्तानां कियन्तां बन्धकजीवानां कथंभूतस्थितेर्बन्धकत्वमित्येतत् प्रदिदर्शयिषुरादौ शुभाशुभाद्यध्यवसायाध्यवसितान् जीवान् भिन्नभिन्नरसबन्धकतया विभाजयन्नाह—

सायस्स सुद्धमज्झिमसंकिट्ठा बंधिरे रसं कमसो।
चउतिबिठाणगयं खलु तव्विवरीअं असायस्स ॥ ८५१ ॥

(प्रे०) "**सायस्स सुद्धे**"त्यादि, सातस्य परावर्तमानशुभप्रकृतिलक्षणस्य, अस्य चान्वयः "**बंधिरे रसं कमसो चउतिबिठाणगयं खलु**" इति परेण, ततः परावर्तमानशुभप्रकृतिलक्षस्य मातवेदनीयस्य क्रमशः "**चउतिबिठाणगयं**" ति चतुःस्थानगतं, त्रिस्थानगतं, द्विस्थानगतं च 'रसम्'-अनुभागं बध्नन्ति, इह तावत् सातवेदनीयादिशुभप्रकृतीनां रसः क्षीरादिरसोपमः, तत्रापि स्वाभाविकक्षीरादिरसोपम एकस्थानिकरस उच्यते, द्वयोः कर्षयोरावृत्तः सन्नवशिष्टैककर्षप्रमाणो यः क्षीरादिरसस्तदुपमस्तु द्विस्थानिकरसो भण्यते, त्रिकर्षप्रमाण आवृत्तः सन्नैककर्षप्रमाणो योऽवशिष्टस्तदुपमस्तु त्रिस्थानिकः कथ्यते, एवं चतुर्णां कर्षाणामावर्तने कृते य उद्धरित एककर्षप्रमाणः क्षीरादिरसस्तदुपमश्चतुःस्थानिकोऽभिधीयते। यदुक्तं **श्रीमन्मलयगिरिपादैः कर्मप्रकृतिवृत्तौ–**

"क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानिक उच्यते। द्वयोस्तु कर्षयोरावर्तने कृते सति योऽवशिष्यते एक कर्ष स द्विस्थानिक.। त्रयाणां कर्षाणामावर्तने कृते सति य उद्धरित एकः कर्ष स त्रिस्थानगतः। चतुर्णां तु कर्षाणामावर्तने कृते सति योऽवशिष्ट एकः कर्ष स चतुःस्थानगतः।" इति।

के पुनरेनं सातवेदनीयसत्कं चतुस्त्रिद्विस्थानगतं त्रिविधरसं क्रमशो बध्नन्तीत्याह–"**सुद्धमज्झिम-संकिट्ठा**" त्ति मन्दतरकषायोदयत्वाद् ये 'शुद्धाः'–विशुद्धाध्यवसाया जीवाः, तथैव कषायोदयजन्यमध्यमसंक्लेशोपेतत्वात् 'मध्यमाः'–मध्यमपरिणामा जीवाः, ये तु तीव्रकषायोदयात् 'संक्लिष्टाः'–संक्लिष्टतरपरिणामा जीवास्ते। **इदमुक्तं भवति**—विशुद्धपरिणामा जीवाः सातवेदनीयस्य चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्ति, मध्यमपरिणामा जीवा पुनस्तस्य त्रिस्थानगतं रसं निर्वर्ते-

यन्ति, संक्लिष्टपरिणामास्तु द्विस्थानगतमेवेति । संक्लेशो हि अत्र तत्प्रायोग्यो विज्ञेयः, न तु सर्वसंक्लेशः, सातवेदनीयबन्धकानां सर्वसंक्लेशाऽसम्भवात् । असातवेदनीयस्योत्कृष्टानुभागस्य त्वशुभत्वात् तद्रसं पुनरेते वैपरीत्येन द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकक्रमेण बध्नन्ति, एतदेव दर्शयन्नाह–"**तव्विवरीअं असायस्स**" त्ति एतेऽनन्तरोक्ताः शुद्ध-मध्यम-संक्लिष्टजीवा अशुभपरावर्तमानरूपस्याऽसातवेदनीयस्य 'तद्विपरीतम्'–तं चतु-स्त्रि-द्विस्थानगतं रसं विपरीतक्रमगतम्, द्वि-त्रि-चतुःस्थानक्रमेणेत्यर्थः, बध्नन्तीत्यावर्तते । **अयम्भावः**–तत्प्रायोग्यविशुद्धपरिणामा असातवेदनीयस्य द्विस्थानगतं रसं बध्नन्ति, मध्यमपरिणामास्तु तस्य त्रिस्थानगतं रसं बध्नन्ति, संक्लिष्टपरिणामाः पुनश्चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तीति । अत्राप्यसातवेदनीयस्यैकद्व्यादिस्थानगतरसानां परस्परं तारतम्यं पूर्ववद्भावनीयम्, केवलमसातवेदनीयस्याऽशुभप्रकृतित्वाद् इक्षुरसादिस्थाने घोषातक्यादिरसमादायोपमा द्रष्टव्या । यत उक्तम्–"घोसाडइनिंबुवमो असुभाण" इति ।

इहाऽनन्तरोक्ताः साता-ऽसातवेदनीययोः प्रत्येकं बन्धका ज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवप्रकृतीर्बध्नन्तो ग्राह्याः । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

"एवं णाणावरणदंसणावरणमिच्छत्त सोलसकसाय भयं दुगुंछा तेजोकम्मइगा वण्णगंधरसफासअगुरुलहुय उवघाय णिम्मेण पचण्हं अंतराइयाण एयासिं सत्तचत्तालीसाए धुवपगतीणं बंधंता" इत्यादि ॥८५१॥

तदेवं परावर्तमानशुभाशुभप्रकृतीनां द्वि-त्रि-चतुःस्थानकरसबन्धकभेदात्स्थितिबन्धकजीवाः षोढा विभक्ताः । साम्प्रतमेते एकैकविधा जीवाः कीदृशं स्थितिबंधं कुर्वन्तीत्येतत्प्रतिपादयन्नाह–

पढमस्स ठिइं कमसो सायस्स चउतिबिठाणिये बंधे ।
बंधंति लहुं अलहुं सट्ठाणम्मि खलु उक्कोसं ॥ ८५२ ॥

(प्रे०) "**पढमस्से**"त्यादि, 'सातस्य'-सातवेदनीयस्य परावर्तमानोत्तरशुभप्रकृतिलक्षणस्य "**चउतिबिठाणिये**" त्ति 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यत' इति न्यायाच्चतुःस्थानिके त्रिस्थानिके द्विस्थानिके "**बंधे**" त्ति तत्तद्रसबन्धे प्रवर्तमाने तस्य प्रवर्तकाः "**पढमस्स ठिइं कमसो**" त्ति प्रथमस्य ज्ञानावरणस्याऽपरावर्तमानाऽशुभमूलप्रकृतेर्वक्ष्यमाणां त्रिविधां स्थितिं क्रमशो बध्नन्तीति परेणान्वयः । एतां त्रिविधस्थितिमेव क्रमश आह-"**लहुं अलहुं**" इत्यादिना ।

इदमुक्तं भवति–अनन्तरोक्तात् 'सायस्स सुद्धमज्झिम' इत्यादिवचनात् सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा विशुद्धपरिणामा इति कृत्वा "**लहुं**" ति ज्ञानावरणस्य 'लघुं'तत्प्रायोग्यजघन्यां स्थितिं बध्नन्तीत्यर्थः । न चैते केवलं विवक्षितां जघन्यां स्थितिमेव बध्नन्ति, किन्तु चतुःस्थानिकेऽपि मन्दमन्दतरादिरसे बध्यमाने समयद्विसमयादिनाऽभ्यधिकां यावत् केचनात्यन्तमन्दतमचतुःस्थानिकरसबन्धका उक्तजघन्यस्थित्यपेक्षया प्रभूतसागरोपमशते-

रधिकामपि जघन्यां स्थितिं बध्नन्ति, ततश्च "लहु" इत्यनेनोपलक्षणात् समयादिनाऽधिकां यावत् प्रभूतसागरोपमशतैरधिकामपि स्थितिमेते प्रस्तुताश्चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा बध्नन्तीत्यपि विज्ञेयम्, एवमेवाग्रेऽपि द्रष्टव्यम्। तथथा-सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा मध्यमपरिणामा इति कृत्वोक्तजघन्यां वक्ष्यमाणोत्कृष्टां च स्थितिमपेक्ष्य "अलहु" ति या ज्ञानावरणस्य 'अलघु'-अजघन्या, मध्यमा इति यावत्, तां मध्यमां स्थितिं बध्नन्ति। अत्राप्युपलक्षणाद् विवक्षितां मध्यमस्थितिमपेक्ष्य समयादिनाऽधिका बहुसागरोपमशतप्रमाणा याः स्थितयस्ता अपि बध्नन्तीति बोद्धव्यम्। एवमेव सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवाः पुनः "सट्ठाणम्मि खलु उक्कोसं" ति 'स्वस्थाने'-स्वसंक्लेशभूमिकानुसारेणैव ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पुनरोघिकोत्कृष्टस्थितिमिति खलुशब्दार्थः; अत्राप्युत्कृष्टस्थित्युपलक्षणात् समयद्विसमयादिहीनोत्कृष्टां यावत् प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वहीनामुत्कृष्टां स्थितिमपि बध्नन्तीति बोद्धव्यम्। यद्वा स्वपदेन सातवेदनीयं ग्राह्यम्, ततश्च सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवाः सातवेदनीयस्यैवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, अत्र च पक्षे खलुशब्दोऽवधारणार्थे विशेष्यानुगामितया च व्याख्येयः।

इदमुक्तं भवति–अवधारणार्थो हि एवकारस्त्रिधा, विशेष्यसङ्गतः, विशेषणसंगतः क्रियासङ्गतश्च भवति, अवधारणं च व्यवच्छेदफलम्, तत्र विशेष्यसङ्गतेनैवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदः क्रियते, यथा–'चतुर्दशपूर्वविद एवाऽऽहारकशरीरिणः' इत्यत्र चतुर्दशपूर्विभ्योऽन्येषामाहारकशरीरित्वयोगो व्यवच्छिद्यते; अर्थाच्चतुर्दशपूर्विव्यतिरिक्त आहारकशरीरी न भवति। विशेषणानुगामिनैवकारेण त्वयोगव्यवच्छेदो विधीयते, यथा–'अभव्यो मिथ्यादृष्टिरेव' इत्यत्राऽभव्ये मिथ्यादृष्टित्वाऽयोगो व्यवच्छिद्यते; अर्थादभव्यमात्रेऽवश्यं मिथ्यात्वपरिणामः। क्रियासङ्गतैवकारेण पुनरत्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते; यथा–'भव्यः संयतो भवत्येव' इत्यत्र भव्ये संयतभावस्याऽत्यन्ताऽयोगो व्यवच्छेद्यः, अर्थात् केचन भव्या असंयता अपि म्रियन्ते। प्रस्तुतेऽवधारणार्थखलुशब्दस्य विशेष्यसंगततया विधाने सातवेदनीयस्य, तदुपलक्षणात् परावर्तमानशुभप्रकृतीनां चोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पुनर्ज्ञानावरणादीनामपरावर्तमानानाम्, परावर्तमानाऽशुभप्रकृतीनां वेत्यर्थः ॥८५२॥

अथ शेषासातवेदनीयत्रिविधरसबन्धकजीवानधिकृत्याह—

पढमस्स ठिइं कमसो असायचउतिगबिठाणिये बंधे ।
बंधंति गुरुं अगुरुं सट्ठाणे चेव य जहण्णं ॥८५३॥

(प्रे०) "**पढमस्स**" इत्यादि, प्राग्वदसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिके त्रिस्थानिके द्विस्थानिके रसबन्धे प्रवर्तमाने सति तद्बन्धकाः 'प्रथमस्य'-ज्ञानावरणस्य 'गुरुम्'-उत्कृष्टाम्, 'अगुरुम्'-अनुत्कृष्टाम्, मध्यमामित्यर्थः, स्वस्थाने एव जघन्यां च स्थितिं बध्नन्तीत्यर्थः। **इयमत्र भावना**–

'तव्विवरीयं असायस्स' इत्यनन्तरोक्तवचनादसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवाः संक्लिष्टाध्यवसायाः, किञ्च तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जानां शेपसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः संक्लेशाधिक्ये निर्वर्त्यते, तत एतेऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्ति, चतुःस्थानिकादिरसानां प्रत्येकं स्वस्थानेऽसंख्येयभेदभिन्नत्वात् मन्दमन्दतरादिचतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा नातिसंक्लिष्टा इति कृत्वा समयादिना हीनां हीनतराद्यां यावदन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणामपि स्थितिं बध्नन्ति, अत उत्कृष्टस्थित्युपलक्षणादन्या अपि स्थितीरेते बध्नन्तीति प्राग्वदत्रापि द्रष्टव्यम् । नन्वेवं तर्हि कस्मादुत्कृष्टैव मूले गृहीता ? उच्यते, त्रिस्थानिकं रसं बध्नद्भिर्द्विस्थानिकरसं बध्नद्भिर्जीवैश्चैवा त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा स्थितिर्न बध्यते इत्येतद्दर्शनार्थम्, असातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धकैरेव ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते, न पुनस्त्रिस्थानिक-द्विस्थानिकरसबन्धकैरिति भावः ।

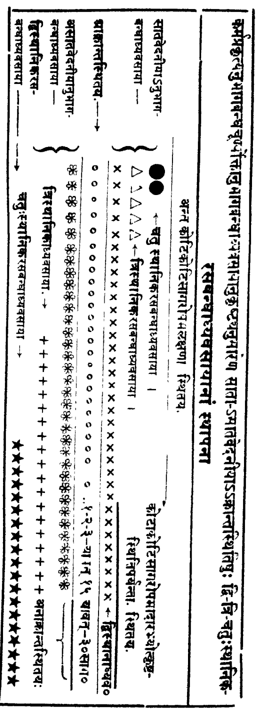
असातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवास्तु ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्यां अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां मध्यमां स्थितिं बध्नन्ति, असातवेदनीयस्य द्विस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवाः पुनर्ज्ञानावरणस्य 'स्वस्थाने एव'—स्वविशुद्धिभूमिकानुसारेणैव जघन्यां तदुपलक्षितां समयद्विसमयादिमात्रेणाऽभ्यधिकां यावत् प्रभूतसागरोपमशताधिकां जघन्यस्थितिमपि बध्नन्ति, इत्थमनन्तरोक्तस्थानेऽप्युपलक्षणात् प्रभूतसागरोपमप्रमाणाः स्थितिविकल्पा असातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्यतया द्रष्टव्या इति ।

ननु कर्मप्रकृतिसंग्रहण्यनुभागबन्धचूर्णौ रसबन्धाध्यवसायानुकृष्टिप्रतिपादनावसरे—'सायस्स ओक्कसियं ठिइं बन्धमाणस्स जाणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि समयूणाए उक्कसियाए ठितीए ताणि य अण्णाणि य । बिसमयूणाए उक्कसियाए ठितीए ताणि य अण्णाणि य । एवं जाव असायस्स जहण्णिया ठिती ।' इत्यनेन सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिप्रभृतेः यावदसातवेदनीयजघन्यस्थित्या समं सातवेदनीयस्याऽऽक्रान्तस्थितिस्तावत् 'तान्यन्यानि' लक्षणाया रसबन्धाध्यवसायानुकृष्टेरभिहितत्वात् पञ्चदशसागरोपमकोटिकोटिलक्षणसातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिप्रभृतेः समयसमयोनायां समयाधिकजघन्याऽऽक्रान्तस्थितिपर्यन्तायामुत्तरोत्तरस्थितौ ये रसबन्धाध्यवसायास्तेषामध्यवसायानामाक्रान्तजघन्यस्थिति यावत्पूर्वपूर्वस्थितावनुवृत्तस्तत्रापि तादृगध्यवसायनिबन्धनस्सातवेदनीयद्वित्रिस्थानिकरसबन्धोऽपि भवत्येव, अत एव तत्राऽनुभागतीव्रमन्दताप्रतिपादनावसरे- सायस्स उक्कसियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णा-

णुभागो थोवो। समयूणाए उक्कस्सियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागो तत्तिओ चेव। एवं बिसमयूणाए उक्कस्सियाए ठितीए जहण्णपए जहण्णाणुभागो तत्तिओ चेव। तिसमयूणाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागो तत्तिओ चेव। एवं उस्सारेयव्वं जाव जहण्णओ असायबंधो ताव तत्तिओ चेव'। इत्यनेन सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितौ यावान् जघन्यानुभागोऽभिहितस्तावान् एव समयसमयोनानां यावदसातवेदनीयेन सहाऽऽक्रान्तानां तदीयजघन्यस्थितावपि जघन्यानुभागोऽभिहितः, न च तावन्मात्रम्, किन्तर्हि ? 'असायस्स जहण्णयं ट्ठितिं बंधमाणस्स जाणि अणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणाणि तत्तो समयाहियाए ठितीए ताणि य अण्णाणि य। एवं बिसमयाहियाए ताणि य अण्णाणि य। एवं जाव सागरोवमसयपुहुत्तं। सागरोवमसयपुहत्तं णाम जाव सायस्स उक्कोसिया ट्ठिती ताव ताणि य अण्णाणि य।' इत्यनेन सातवेदनीयेन समसमक्रान्ताया असातवेदनीयजघन्यस्थितेरारभ्य यावत् सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिस्तावत् 'तान्यन्यानि' लक्षणाया रसबन्धाध्यवसायानुकृष्टेरभिधानात्, तथा तदीयतीव्रमन्दताभिधानावसरेऽपि 'असायस्स जहण्णियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागो थोवो। बितियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागो तत्तिओ चेव। ततियाए ठितीए जहण्णाणुभागो तत्तिओ चेव। एवं चेव सागरोवमसतपुहुत्तं ताव तत्तिओ चेव (जाव) सातउक्कोसट्ठितीत्ति भणितं होइ।' इत्यनेनाऽसातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिप्रभृतेस्तदीयपञ्चदशसागरोपमकोटिकोटिलक्षणाऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिं यावज्जघन्यपदगतानुभागस्य तुल्याभिधानाच्च पूर्वपूर्वस्थितौ बन्धप्रायोग्यस्याऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसस्याऽपि उत्तरोत्तरस्थितौ यावत्सातवेदनीयेन सह परावर्त्य बन्धप्रायोग्यायां चरमायामसातवेदनीयाऽऽक्रान्तस्थितावपि समुद्भवसद्भाव एव।

ततः किम् ? ततः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानामिव तदीयद्वित्रिस्थानिकरसबन्धकानामपि तदीयोत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थितिवज्जघन्यस्थित्युपलक्षिता याः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यतयाऽभिहिता आक्रान्ताः सागरोपमशतपृथक्त्वस्थितयस्ता अपि बन्धप्रायोग्या एव, एवमेवासातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्याः सातवेदनीयेन समं परावर्त्य बन्धप्रायोग्या अत एवाऽऽक्रान्ता याः पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमान्ता असातवेदनीयस्थितयस्ता अपि असातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्या एव। तथा च **'पढमस्स ठिइं कमसो सायस्स'** इत्याद्यनुपदोक्तगाथा-(८९२-८९३)-द्वयेन तत्तज्जघन्याऽजघन्यादिस्थितीनां तथा तदुपलक्षितानां सागरोपमशतपृथक्त्वस्थितीनामेव सातवेदनीयचतुस्त्रिस्थानरसबन्धकप्रायोग्यतया-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानरसबन्धकप्रायोग्यतया च प्रतिपादितत्वाच्चूर्णिग्रन्थेन व्यक्तो विरोधः।

न च यथोक्तानुभागबन्धाध्यवसायानुकृष्टितत्तीव्रमन्दताग्रन्थानुसारेणाऽसातवेदनीयेन सममाक्रान्तसातवेदनीयजघन्यस्थितिं यावदधः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामिव सातवेदनीयद्वि-त्रि-स्थानिकरसबन्धाध्यवसायानां प्रादुर्भावसद्भावस्ततश्च सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानामिव तदीयद्वि-त्रि-स्थानिकबन्धकानामपि ता आक्रान्तजघन्यस्थितिपर्यन्ताः सातवेदनीयस्थितयो बन्धप्रायोग्याः, एवं सातवेदनीयेन सहाऽऽक्रान्तामसातवेदनीयस्य पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणामुत्कृष्टस्थितिं यावदूर्ध्वमसातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामिवा-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामनुकृष्टेस्सद्भावादसातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानामिव तदीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानामपि आक्रान्तोत्कृष्टस्थितिपर्यन्ताः सातवेदनीयस्थितयो बन्धप्रायोग्याः, न पुनर्ज्ञानावरणस्य तावत्स्थितीनामपि तत्तद्रसबन्धकप्रायोग्यतया भवितव्यम्, तत्र ग्रन्थे ज्ञानावरणस्थितिषु साताऽसातवेदनीयाऽनुभागबन्धाध्यवसायानुकृष्टेरेवाऽप्रतिपादितत्वात्। तथा च ज्ञानावरणस्य यथोक्तसागरोपमशतपृथक्त्वस्थितीनां सातवेदनीयादेस्तत्तद्रसबन्धकप्रायोग्यतयाऽभिधाने न कश्चिद्विरोधः, सातवेदनीयादेर्यथोक्तसागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणस्थितीनां सातवेदनीयादितत्तद्रसबन्धकप्रायोग्यतयाऽभिधाने एवोक्तविरोधसम्भवादिति वाच्यम्। सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोरिव ज्ञानावरणस्याऽपि जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रायोग्यत्वेनोत्कृष्टस्थितेः संक्लेशप्रयोग्यत्वेन च संक्लेशवृद्धौ यथा सातवेदनीयस्याऽसातवेदनीयस्य वा स्थितिबन्धवृद्धिर्भवति, तथा ज्ञानावरणस्याऽपि स्थितिबन्धवृद्धिर्भवति, यथा च विशुद्धिवृद्धौ तयोः स्थितिबन्ध-



हानिर्भवति तथा ज्ञानावरणस्यापि स्थितिबन्धहानिर्भवति; तथा च यदा सातवेदनीयाऽऽक्रान्तजघन्यस्थितिबन्धस्तदा ज्ञानावरणस्याऽपि तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्ध एव, एवं यदा सातवेदनीयाऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदा ज्ञानावरणस्यापि तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भव एव; एवं च स्थितमिदम् , यत्—सातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानामपि यथा सातवेदनीयाऽऽक्रान्तजघन्यस्थितिपर्यन्ताः स्थितयो बन्धप्रायोग्यास्तथा ज्ञानावरणस्याऽपि तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिपर्यन्ताः स्थितयः सातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानां बन्धप्रायोग्या एव । एवमेवाऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानामपि यथाऽसातवेदनीयाऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिपर्यन्ताः स्थितयो बन्धप्रायोग्यास्तथा ज्ञानावरणस्याऽपि तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिपर्यन्ताः स्थितयोऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानां बन्धप्रायोग्या एव ।

तदेवं साता ऽसातवेदनीयाक्रान्तजघन्योत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां स्थितीनां साता-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यत्ववत् ज्ञानावरणस्याऽपि तत्तदाक्रान्तजघन्योत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां **'पढमस्स ठिइं कमसो'** इत्यादि(गाथा-८५२-८५३)नाऽभिमतस्थित्यपेक्षयाऽधिकानामेकत्राऽऽक्रान्तजघन्यस्थितिपर्यन्तानाम्,अन्यत्राऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां च स्थितीनामपि साता-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यत्वे संस्थिते तद्दोषतादवस्थ्यमेव ? **इति चेद्** ,

भण्यतेऽत्रोत्तरम्—यथोक्तानुभागबन्धचूर्णिवचनात् तत्तत्स्थितिबन्धस्थानेषु तत्तद्रसबन्धाध्यवसायानां पृथक्पृथग्भावेऽपि, तत एव अनुभागतीव्रमन्दताया भेदेनाधिकृतत्वेऽपि च तत्र तत्र स्थितिबन्धस्थानेषु रसबन्धस्य द्वि-त्रिस्थानिकादिभेदेन नियमनं तु स्थितिबन्धप्रमाणनियमनथा उत्कृष्टपदगतानुभागेनैव कर्तव्यम्; तथा च न दोषलेशोऽपि । **एतदुक्तं भवति**—ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने स्थितिबन्धमानं यथा तदानीं बध्यमानेषु येषु केषु दलिकेषु शेषबध्यमानदलिकापेक्षयाऽधिकतमकालं यावत्तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभाव उत्पद्यते तच्चरमदलिकनिषेकस्याधीनं सत् त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिलक्षणमभ्युपगतम् , न पुनर्द्विचरमादिदलिकनिषेकाधीनं समय-द्विसमयादिन्यूनत्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिरूपम् । यथा उत्कृष्टस्थितिबन्धमानं तथा जघन्यस्थितिबन्धमानमपि तस्मिन् जघन्यस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने बध्यमानशेषदलिकापेक्षयाऽधिकतमकालं यावत्तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभावो येषु दलिकेषु समुत्पद्यते तस्य चरमदलिकनिषेकस्याधीनं सद् अन्तर्मुहूर्तादिकं प्रागुक्तम् ; न पुनर्येषु दलिकेषु बध्यमानशेषदलिकापेक्षया स्तोकतमकालं यावत्तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभावः समुत्पन्नस्तादृक्प्रथमनिषेकाधीनम् , यतस्तथात्वे वेदनीयादितत्तत्कर्मणामौघिकं जघन्यस्थितिबन्धमानं द्वादशमुहूर्तादिकमनुक्त्वाऽन्तर्मुहूर्तमेव कथितं स्यात् , कुतः ? तस्य जघन्यस्थितिबन्धेऽन्तर्मुहूर्तमात्राया एवाबाधायाः सत्त्वेनाऽबाधाऽनन्तरवर्तिनि प्रथमदलिकनिषेकेऽन्तर्मुहूर्तकालं यावदेव तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभावानां दलिकानां जघन्यपदे लाभात् । यथा जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धे तथा मध्यमस्थितिबन्धेऽपि ज्ञेयम् ।

स्थितिबन्धप्रमाणनियमनवद् द्वि-त्रिस्थानिकादिभेदभिन्नरसबन्धप्रमाणमपि तत्र तत्र स्थिति-बन्धस्थाने उत्कृष्टपदे बन्धप्रायोग्येनानुभागेन नियम्यते तदा यत्र स्थितिबन्धस्थानेषु चतुस्था-निकरसबन्धाध्यवसायानां सद्भावेनोत्कृष्टपदे सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकरसो बन्धप्रायोग्यस्तानि स्थितिबन्धस्थानानि सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यानि, एवं येषु स्थितिबन्धस्थानेषु न विद्यते चतुःस्थानिकरसबन्धप्रायोग्या अध्यवसायाः, किन्तूत्कृष्टपदेऽपि त्रिस्थानिकरसबन्धप्रायो-ग्या एव तानि स्थितिबन्धस्थानानि त्रिस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यानि, शेषस्थितिस्थानेषु तु चतुः-स्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामिव त्रिस्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामप्यभावेन तानि तु परिशेषादपि द्विस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यानीति तु सुखेन गम्यते । इत्थं हि चूर्णिग्रथाऽविरोधेनोपपद्यते **'पढमस्स ठिइं कमसो'** इति गाथाद्वयोक्तार्थ इति ।।८५३।।

तदेवं दर्शिताः सातवेदनीयाऽसातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकादित्रिविधत्रिविधरसबन्धकतया **षड्धा** विभक्तानां जीवानां विशुद्धाविशुद्ध्याद्यध्यवसायानुसारेण बन्धप्रायोग्या मूलप्रकृतीनां स्थितिविकल्पाः। साम्प्रतं जघन्यादिभेदभिन्नेष्वेतेष्वसंख्येयेषु स्थितिविकल्पेषु प्रत्येकं बन्धकतया वर्तमानाः षड्विधा जीवा उत्कृष्टपदे कियन्तः प्राप्यन्त इत्येतदादावनन्तरोपनिधयाऽऽह—

पढमस्स जहण्णाए थोवा जीवा तओ कमाऽब्भहिया ।
जलहिसयपुहुत्तं जा तत्तो उड्ढं विसेसूणा ।।८५४।।
सायस्स चउतिठाणे तहा असायस्स हुन्ति बितिठाणे ।
अयरसयपुहुत्तं जा सेसदुठाणेसु सगुरुठिइं ।।८५५।।

(प्रे०)**"पढमस्स जहण्णाए"** इत्यादि, तत्र **"जीवा"** ति अनन्तरोक्ताः सातवेदनीय-स्याऽसातवेदनीयस्य च चतुःस्थानिकादितत्तद्रसं बध्नन्तः षड्विधा जीवा प्रत्येकं **'प्रथमस्य'**-ज्ञाना-वरणस्य **"जहण्णाए"** त्ति जघन्यायां स्थितौ **"थोवा"**त्ति 'स्तोकाः'-समयाद्यधिकस्थितेर्बन्धका-पेक्षया स्तोकाः, भवन्तीति परेणान्वयः । **"तओ कमाऽब्भहिया जलहिसयपुहुत्तं जा"**त्ति ततः समयद्विसमयाद्यधिकस्थितिस्थानेषु क्रमाद् 'अभ्यधिकाः'-विशेषाधिका जीवा भवन्ति यावत् 'जलधिशतपृथक्त्वं'-सागरोपमशतपृथक्त्वमित्यर्थः, बहूनि सागरोपमशतानीति यावत् । **"तत्तो उड्ढं विसेसूणा"** त्ति अस्य चान्वयः **"अयरसयपुहुत्तं जा"** इति परेण, ततोऽनन्तरोक्ताः प्रभूत-सागरोपमशतसमयप्रमाणाः स्थितीरतिक्रम्य तदनन्तरस्थितिस्थानादारभ्योर्ध्वं 'विशेषोनाः'-उत्तरोत्तर-स्थितिस्थानेषु तद्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषहीना विशेषहीना भवन्ति यावत् **"अयरसयपुहुत्तं"** ति अतरशतपृथक्त्वम्, प्रभूतानि सागरोपमशतानीत्यर्थः । किं षड्विधरसस्थाने उत कतिपय-रसस्थाने एवेत्याह—**"सायस्स चउतिठाणे"** इत्यादि, सातवेदनीयस्य चतुस्त्रिस्थानिकभेदभिन्ने

द्विविधरसस्थानेऽसातवेदनीयस्य द्वित्रिस्थानिकभेदभिन्ने द्विविधरसस्थाने च, न पुनः शेषद्विविधरसस्थानेऽपि । तर्हि तत्र किमित्याह–"सेसदुठाणेसु" इत्यादि, शेषे सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धेऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धे च "सगुरुठिइं" ति स्वप्रायोग्यां 'गुरुम्'-उत्कृष्टां स्थितिं यावद्विशेषहीना विशेषहीना बन्धका भवन्तीति गम्यते ।

इदमुक्तं भवति–सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणीयस्य स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः सन्ति, समयाधिकजघन्यस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिका भवन्ति, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्वाच्या यावद् बहूनि सागरोपमशतान्यतियन्ति, अतः परं समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमानाः सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवा विशेषहीनाः सन्ति, द्विसमयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषहीनाः सन्ति, एवं विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वाच्या यावत्प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रम्य यत्र सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्योत्कृष्टा स्थितिरिति । इत्थमेव सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नतो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, समयाधिकजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, द्विसमयाधिकजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि, ततः परं समयसमयस्थितिवृद्धौ पूर्ववद् विशेषहीना विशेषहीना वाच्या यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रम्य सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां प्रायोग्या उत्कृष्टा स्थितिरिति । सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, द्विसमयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिका यावत् बहूनि सागरोपमशतान्यतिक्रामन्ति, ततः परं समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा पुनर्विशेषहीनाः, एवं समयद्विसमयादिवृद्धौ विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वाच्या यावत् पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा ज्ञानावरणस्य सातवेदनीयेन समं बन्धप्रायोग्या उत्कृष्टा स्थितिरिति ।

इत्थमेवाऽसातवेदनीयचतु-त्रि-द्विस्थानिकतत्तद्रसं बध्नतां जीवानां विषयेऽप्यनन्तरोपनिधया द्रष्टव्यम् ,नवरं सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानां स्थानेऽसातवेदनीयसत्कद्विस्थानिकरसबन्धका वक्तव्याः, ततोऽसातवेदनीयस्यापि त्रिस्थानिकरसस्य निर्वर्तका एव, ततः पुनः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसस्य बन्धकानां स्थानेऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवा द्रष्टव्याः, तत्रापि ते विशेषहीना विशेषहीनास्तु तावद्वक्तव्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमाणि । तद्यथा–असातवेदनीयस्य द्विस्थानगतं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रा-

योग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततः समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, पुनरपि समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्वाच्या यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति, ततः परं समयाधिकस्थितेर्बन्धकाः पूर्वापेक्षया विशेषहीनाः,इतस्तु पूर्ववद् विशेषहानिर्वाच्या यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि व्यतिक्रमन्ति । असातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकं रसं निर्वर्तयन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततः समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, पुनरपि समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा ततो विशेषाधिकाः, एवं तावद्वाच्यं यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति, ततः परं बहूनि सागरोपमशतानि यावदुत्तरोत्तरस्थितौ तु प्राग्वद् विशेषहीना विशेषहीना बन्धका वाच्याः । असातवेदनीयस्य चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततः समयाधिकस्थितौ विशेषाधिकाः, एवं समयसमयवृद्ध्या विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद् द्रष्टव्या यावद् बहूनि सागरोपमशतान्यतिक्रमन्ति, ततस्तु समयसमयवृद्ध्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्कोटिकोटीसागरोपमाणि तावदुत्तरोत्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषहीना विशेषहीना अभिधातव्याः । उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**–

'अणंतरोवणिहिताए सुभपगतीण परियत्तमाणिगाणं चउट्ठाणबन्धगा णाणावरणीयस्स जहण्णिगाए ट्ठितीए जीवा थोवा । बितियाए ठिईए जीवा विसेसहिया, एवं ततियाए विसेसहिया । एवं विसेसहिया जाव सागरोवमसतं ति । 'उदहिसयं'ति बहूणि सागरोवमाणि । 'जीवा विसेसहीणा उदहिसयपहुत्त मो जाव' त्ति तेण परं विसेसहीणा विसेसहीणा जाव सागरोपमसतपुहुत्तं ति । पुहुत्तसद्दो बहुत्तवाची । एवं तिट्ठाणबन्धगजीवा भाणियव्वा । परियत्तमाणिगाणं सुहाणं बिट्ठाणबन्धगा णाणावरणीयतप्पाउग्गजहण्णिगाए ठितीए जीवा थोवा । बिइयाए ठितीए जीवा विसेसाहिया, ततियाए विसेसाहिया, एवं विसेसाहिया विसेसाहिया जाव सागरोवमसतंति । तेण परं विसेसहीणा विसेसहीणा 'आसुभुक्कोसं' ति जाव परियत्तमाणिगाणं सुभाणं उक्कस्सिगा ठितित्ति । 'असुभाणं बिट्ठाणे तिचउट्ठाणे य उक्कस्स' त्ति परियत्तमाणिगाणं असुभपगतीणं बिट्ठाणिय-तिट्ठाणिय-चउट्ठाणबन्धगा वत्तव्वा । णाणावरणीयस्स सट्ठाणजहण्णिगाए ठितीए जीवा थोवा,बितियाए जीवा विसेसाहिया, ततियाए विसेसाहिया, एवं विसेसाहिया विसेसाहिया जाव सागरोवमसतं ति । तेण परं विसेसहीणा जाव असुभपरियत्तमाणिगाणं उक्कोसिया ठितित्ति' इति ॥८५५॥

तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा । साम्प्रतं परम्परोपनिधयाऽऽह—

अह दुगुणवड्ढिहाणी गंतूणमसंखपल्लमूलाणि ।
ताओ जाणेयव्वा पल्लासंखेज्जमूलंसो ॥८५६॥

(प्रे०) **"अह दुगुणवड्ढिहाणी"** इत्यादि, अथशब्द आनन्तर्ये,ततश्चानन्तरोपनिधयाऽभिधानान्तरं परम्परोपनिधायां **"गंतूणमसंखपल्लमूलाणि"** त्ति असंख्येयानि पल्योपमसत्कप्रथमवर्गमूलानि 'गत्वा'-अतिक्रम्यानन्तरे स्थितिबन्धस्थाने **"दुगुणवड्ढिहाणी"** त्ति सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानादितत्तद्रसं बध्नतां जीवानां द्विगुणवृद्धिर्द्विगुणहानिश्च भवतीति शेषः । **इदमुक्तं**

भवति–सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकादितत्रसं बघ्नतां जीवानां प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेरारभ्य प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वस्थितिबन्धस्थानेष्वसंख्यपल्योपमप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य जीवाः द्विगुणा द्विगुणा भवन्ति, ततः परं तत्तच्चतुःस्थानिकादिरसबन्धकानां प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धं यावत् पल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य बन्धकजीवविषया द्विगुणहानयः प्राप्यन्ते।

तथाहि–सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तस्तत्प्रायोग्याया ज्ञानावरणस्य जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना ये जीवास्तेभ्यः समयसमयवृद्धया पल्योपमस्यासंख्येयप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा द्विगुणाः सन्ति, ततः पुनरपि तावन्ति पल्योपमस्यासंख्येयप्रथमवर्गमूलगतसमयप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा अनन्तरोक्तद्विगुणवृद्धजीवापेक्षया द्विगुणाः सन्ति, निरुक्तजघन्यस्थितेर्बन्धकतया वर्तमानजीवापेक्षया तु चतुर्गुणाः सन्ति, ततः परं तावन्ति स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्य पुनरपि द्विगुणा भवन्ति, एवं द्विगुणा द्विगुणास्तावद्वाच्या यावत् चतुःस्थानिकरसबन्धप्रायोग्योक्तजघन्यस्थितिबन्धात्प्रारभ्य प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रमन्ति। इतस्तु यथोत्तरस्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धकजीवा विशेषहीना विशेषहीनाः सन्तः पल्योपमस्यासंख्येयप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरे स्थितिबन्धस्थाने तद्बन्धकतया वर्त्तमाना जीवा यथोक्तचरमद्विगुणवृद्धिस्थानलक्षणस्थितेर्बन्धकतया वर्त्तमाना ये जीवा उक्तास्तदपेक्षया द्विगुणहीनाः=अर्धा भवन्ति, ततः पुनरपि तावन्ति पल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलसमयप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा अनन्तरोक्तद्विगुणहीनजीवापेक्षयाऽर्धा भवन्ति, एवमुक्तप्रमाणानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य द्विगुणहानयोऽपि तावद्भवन्ति यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रम्य सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्या ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिरिति। इत्थमेव सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसबन्धकानां द्विस्थानिकरसबन्धकानामसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धकानां त्रिस्थानिकरसबन्धकानां द्विस्थानिकरसबन्धकानां विषयेऽपि वृद्धिहानयो वाच्याः, नवरं सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धं कुर्वत्सु जीवेषु द्विगुणहानयस्तावद्वाच्या यावत्संख्येयकोटिकोटिसागरोपमाणि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्य सातवेदनीयस्य पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमोत्कृष्टस्थित्या समं ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति, इत्थमेवासातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां द्विगुणहानिविषयेऽपि द्रष्टव्यम्, नवरं तत्र द्विगुणहानयस्तावद् द्रष्टव्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटिप्रमाणः। उक्तं च **कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—

'परित्तमाणिगाणं सुभाणं चउट्ठाणबन्धगा णाणावरणीयस्स जहण्णिगाए ठिईए जीवेहिंतो ततो असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुगुणवड्ढिया जीवा। ततो पुणो तत्तियं चेव गंतूणं दुगुण-

वड्ढिया जीवा। एवं दुगुणवड्ढिता जीवा दुगुणवड्ढिता जीवा जाव सागरोवमसतं ति। तेण परं असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुगुणहीणा दुगुणहीणा। एवं दुगुणहीणा दुगुणहीणा जाव सागरोवमसय-पुहुत्तं ति। एवं तिट्ठाणिगा वि जीवा। परियत्तमाणिगाणं सुभाणं बिट्ठाणबन्धगा णाणावरणीयस्स तप्पाउग्गा जहण्णिगाए ठितीए जीवेहिंतो ततो असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुगुणवड्ढिता जीवा। ततो पुणो तत्तियं चेव गंतूणं दुगुणवड्ढिता जीवा। एवं दुगुणवड्ढिता जाव सागरोवमसतं ति। तेण परं असंखे-ज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुगुणहीणा। ततो तत्तियं चेव गंतूण पुणो दुगुणहीणा जीवा। एवं दुगुणहीणा दुगुणहीणा जाव परित्तमाणिगाणं सुभाणं उक्कस्सिगा ठिति त्ति' इति। तथा—

'परियत्तमाणिगाणं असुभाणं बिट्ठाणियतिट्ठाणियभंगो जहा परियत्तमाणिगाणं सुभाणं चउट्ठाणभंगो। असुभपगतीणं परियत्तमाणिगाणं चउट्ठाणिभंगो जहा परियत्तमाणिगाणं सुभाणं बिट्ठाणियभंगो। णवरं परियत्तमाणिगाणं उक्कस्सिगा ठितित्ति ॥९५॥' इति।

एतादृशा वृद्धयो हानयश्चैकैकत्रिधं रसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्यस्थितिषु कियत्यो भवन्तीत्येतद् दर्शयन्नाह–"ताओ जाणेयव्वा" इत्यादि, अनुपदं परंपरोनिधया दर्शिताः पल्यो-पमस्यासंख्येयानि प्रथमवर्गमूलान्यतिक्रम्यातिक्रम्योत्पद्यमानाः सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकाद्येके-कविधरसं बध्नतां जीवानां द्विगुणवृद्धयो द्विगुणहानयश्च प्रत्येकमेताः "पल्लासंखेज्जमूलंसो" त्ति पल्योपमस्य प्रथमवर्गमूलस्यासंख्याततमभागगतसमयप्रमाणा ज्ञातव्या इति ॥८५६॥

अथोक्तबन्धकद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानां द्विगुणवृद्धिहान्यन्यतरान्तरस्य च परस्परं स्तोका-धिकत्वं दर्शयन्नाह—

ठाणाइं थोवाइं णेयाइं दुगुणवड्ढिहाणीणं।
ताउ असंखेज्जगुणं णायव्वं अंतरं एगं ॥८५७॥

(प्रे०) "**ठाणाइं थोवाइं**" इत्यादि, सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकादिरसबन्धकानां द्विगुण-वृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वाऽनन्तरवक्ष्यमाणैकान्तरालमपेक्ष्य "**दुगुणवड्ढिहाणीणं**" ति सर्वस्थितिभाविन्यामुक्तद्विगुणवृद्धि-द्विगुणहानीनाम् "**ठाणाइं थोवाइं णेयाइं**" ति स्था-नानि स्तोकानि ज्ञेयानि, "**ताउ**" त्ति तेभ्यः "**असंखेज्जगुणं णायव्वं अंतरं एगं**" ति चतुःस्थानि-कादितत्तद्रसबन्धकानां द्विगुणवृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वा एकमन्तरमसंख्येयगुणं ज्ञेयम्, यत उत्कृष्टस्थितिपर्यन्तासु सर्वास्वप्यधिकृतस्थितिषु जीवानां द्विगुणवृद्धिस्थानानि द्विगुणहानिस्थानानि वा पल्योपमस्य सम्बन्धिनः प्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि सन्ति, एकस्मिन् द्विगुणवृद्ध्यन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यानि स्थितिबन्धस्थानानि तानि तु पल्यो-पमस्यासंख्येयेषु प्रथमवर्गमूलेषु यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि सन्ति। उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ-

'एगं जीवगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखेज्जाणि पलितोवमवग्गमूलाणि। णाणाजीवगुणहाणिट्ठाणंतराणि 'णाणंतराणि पल्लस्स मूलभागो असंखतमो' त्ति पलिओवमवग्गमूलस्स असंखेज्जतिभागो। णाणाजीव-गुणहाणिठाणंतराणि थोवाणि, एगं जीवगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखेज्जगुणं' इति।

तदेवं दर्शितमनन्तरोपनिधादिना तत्तद्रसबन्धकतया विभक्तानां कियन्तां जीवानां कीदृक्-

स्थितेर्बन्धकत्वं बध्यमानस्थितिस्थानेषु तादृशजीवानां द्विगुणवृद्धिहानि-तदेकान्तराल्पबहुत्वं च । साम्प्रतं तु वक्ष्यमाणाल्पबहुत्वविषयकपदान्युत्पादयितुं स्थितिबन्धस्थानेषु बन्धकवृद्धिहानि-विषयतया द्विधा द्विधा विभक्तानि सातवेदनीयादेर्द्विस्थानिकादिरसबन्धकप्रायोग्यतया दर्शितस्थिति-बन्धस्थानानि साकाराद्युपयोगप्रायोग्यत्वभेदात् पुनरपि विभाजयन्नाह—

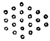
उवओगेऽणागारे बंधंति बिठाणियं च्च अणुभागं ।
सागारे उवजोगे बितिचउठाणगयमणुभागं ॥८५८॥

(प्रे०) "उवओगेऽणागारे" इत्यादि, अनाकारे उपयोगे वर्त्तमानाः सन्त एतेऽनन्तरोक्ता जीवाः' 'बिठाणियं च्च अणुभागं''ति सातवेदनीयस्याऽसातवेदनीयस्य च द्विस्थानिकम्'अनुभागम्'-रसमेव बध्नन्ति, न पुनस्त्रिस्थानिकं चतुस्थानिकं वेत्यर्थः। "सागारे उवओगे" त्ति साकारे उपयोगे वर्त्तमानाः पुनरेते "बितिचउठाणगयमणुभागं" ति 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येक-मभिसम्बध्यते' इति न्यायात् सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोर्द्विस्थानगतं त्रिस्थानगतं चतुःस्थानगतं त्रिविधान्यतममनुभागम् ,बध्नन्तीत्यनुवर्तते। अनेन ह्यनाकारोपयोगे वर्तमानानां शुभाशुभपरावर्त्तमान-प्रकृत्योर्द्विस्थानगतो रस एव बन्धप्रायोग्यः, साकारोपयोगे वर्तमानानां तु जीवानां तयोर्द्वि-त्रि-चतुः-स्थानिकभेदभिन्नास्त्रिविधा अपि रसा बन्धप्रायोग्या इत्यावेदितमिति ॥८५८॥

अथ साकाराद्युपयोग-तत्तद्रसबन्धादिपदार्थान्तरयोगेनानेकधा विभक्तानां स्थितिबन्धस्थाना-दीनामन्येषां जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धादिपदार्थानां च परस्परमल्पबहुत्वं प्रचिकटयिषुराह—

[1]चउठाणे यवमज्झा हेट्ठाऽप्पाणि ठिइबंधठाणाणि ।
सायस्स हुन्ति [2]एत्तो संखगुणाणि उवरि हवेज्जा ॥८५९॥
[3]तो तिट्ठाणेऽह [4]तओ उवरिं [5]तत्तो अहो य बिट्ठाणे ।
सागारे [6]तो मीसे हवन्ति [7]तत्तो उवरिं मीस्से ॥८६०॥
[8]ताउ लहू संखगुणो [9]तोऽब्भहिया जट्ठिई [10]तओऽब्भहियो ।
होइ असायस्स लहू [11]तोऽब्भहिया जट्ठिई णेया ॥८६१॥
[12]तत्तो संखगुणाइं हवन्ति बिट्ठाणगेऽह सागारे ।
[13]तो मीसे[14]ताउ उवरि मीसे [15]तो हुन्ति सागारे ॥८६२॥
[16]तोऽह तिठाणे [17]तो उवरि[18]तओ चउठाणगेऽह[19]तो जच्चो ।
परमं डायं गच्छइ सा उ ठिई होइ संखगुणा ॥८६३॥

[२०]तो संखगुणा अंतोकोडाकोडी[२१]तओ बिठाणम्मि ।
सायस्स हुन्ति उवरिं सागारे संखियगुणाणि ॥८६४॥
[२२]तत्तो विसेसअहियो सायस्स गुरू हवेज्ज ठिइबंधो ।
[२३]तत्तो जाणेयव्वा अब्भहिया जट्ठिई तस्स ॥८६५॥
[२४]तो डायठिई अहिया [२५]ताउ असायस्स उवरि चउठाणे ।
अहियाणि [२६]तओ परमो अहियो [२७]तो जट्ठिई अहिया ॥८६६॥

(प्रे०) "चउट्ठाणे यवमज्झा" इत्यादि, अनन्तरं सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोश्चतुःस्थानादित्रिविधत्रिविधरसबन्धकानां स्वस्वप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्थानादारम्य प्रभूतसागरोपमप्रमाणस्थितिपर्यन्तमुत्तरोत्तरस्थितिबन्धस्थानेषु तद्बन्धकजीवानां विशेषवृद्धयोऽभिहिताः, ततश्चरमविशेषवृद्धिस्थानात्पुनस्तत्तद्रसबन्धकानां प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानं यावत्तु यथोत्तरं तत्तत्स्थितेर्बन्धकजीवानां विशेषहानयोऽभिहिताः, इत्थं सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोश्चतुःस्थानिकाद्येकैकविधरसबन्धं कुर्वतां जीवानां या जघन्यस्थितिर्बन्धप्रायोग्या ततः प्रभूतसागरोपमशतसमयप्रमाणाः स्थितीरुल्लङ्घ्य बन्धकजीवानां विशेषवृद्धिसत्कं यच्चरमं स्थितिबन्धस्थानं यत्र पूर्वोत्तरस्थितिबन्धस्थानवर्तिजीवापेक्षयाऽधिकतमा जीवाः प्राप्यन्ते, तस्मान्मध्यस्थानादुभयपार्श्वयोः समयद्विसमयादिना हीनाधिकस्थितिस्थानेषु पुनर्विशेषहीना विशेषहीना जीवाः प्राप्यन्ते, एतेषु च सर्वेषु स्थाप्यमानेषु यवः– धान्यविशेषस्तस्याकृतिरुद्भवति, यतो यवस्य मध्यं यथा पृथुलमुभय पार्श्वे च हीने हीनतरे तथा प्रकृतेऽपि मध्यस्थाने बन्धकानां बाहुल्यात् मध्यं स्थाप्यमानं पृथुलमुभयपार्श्वयोर्यथोत्तरस्थितिस्थानेषु बन्धकानां हीयमानत्वात् पार्श्वे स्थाप्यमाने हीने हीनतरे; स्थापना–  इत्येवं चतुःस्थानिकादित्रिविधरसबन्धकानां विशेषवृद्धिहानीनां यवमद्दर्शी स्थापनामपेक्ष्य ये सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकादित्रिविधरसबन्धकानां यवा इव त्रिविधा यवाः, एवमसातवेदनीयबन्धकानामपि ये त्रयो यवाश्च तेषां मध्ये [१]"सायस्स" त्ति सातवेदनीयस्य "चउट्ठाणे जवमज्झा हेट्ठा" त्ति 'चतुःस्थानिकयवमध्यादधः' यश्चतुःस्थानगतरसबन्धकविषयकयवस्तत्र यत्सर्वाधिकजीवानां बन्धप्रायोग्यं 'मध्यं'-मध्यमस्थितिबन्धस्थानं तस्मात् समयादिना हीनहीनतरादिस्थितिबन्धस्थानरूपेऽधस्तने भागे इत्यर्थः, तत्र किमित्याह- "ऽप्पाणि ठिइबंधठाणाणि" त्ति स्थितिबन्धस्थानान्यल्पानि–स्तोकानि । [२]"हुन्ति एत्तो संखगुणाणि" त्ति एतेभ्योऽनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिबन्धस्थानानीत्यनुवर्तते । कुत्र इत्याह–"उवरि" त्ति "चउठाणे यवमज्झा" इत्यस्यानुवृत्त्याऽधिकृतस्य सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धविषयकदर्शितयवमध्यस्य 'उपरि'-समयादिनाऽधिकाधिक-

स्थितिबन्धलक्षणे उपरितने भागे इत्यर्थः । [3]**'तो तिट्ठाणेऽह'** त्ति अत्राऽपि 'यवमज्झा' इति पदमनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि यथायोगं तस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या, ततः सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरितनस्थितिबन्धस्थानेभ्यः 'त्रिस्थाने'—तस्यैव सातवेदनीयस्य त्रिस्थानरसबन्धे यवमध्याद् 'अधः'-समयादिना हीन-हीनतरादिस्थितिबन्धस्थानरूपेऽधस्तनभागे, स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते । [4]**"तओ उवरिं"** ति ततः सातवेदनीयस्य प्रस्तुतत्रिस्थानिकरसयवमध्यस्य 'उपरि'-समयादिनाऽधिकाधिकतरादिस्थितिबन्धस्थानरूपे उपरितने भागे, स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीत्यत्रापि पूर्ववदनुवृत्त्या बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि तदनुवृत्तेः[5] **"तत्तो अहो य बिट्ठाणे सागारे"** त्ति प्राग्वत् तेभ्योऽनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः प्रस्तुतस्य सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धयवमध्याद् 'अधः'—समयादिना हीन-हीनतरादिस्थितिबन्धलक्षणे यवस्याधोभागे 'साकारे'—साकारोपयोगे सति बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीत्यर्थः ।

अयम्भावः—प्राक् साता-ऽसातवेदनीययोस्त्रिविधोऽपि रसः साकारोपयोगोपयुक्तानां बन्धप्रायोग्यो दर्शितः, तथा च त्रिविधान्यतमं रसं बध्नतां प्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानान्यपि साकारोपयोगेन बन्धप्रायोग्याणि प्राप्तानि, तत्रापि द्विस्थानिकरसस्य साकारोपयोगस्येवाऽनाकारोपयोगस्यापि बन्धप्रायोग्यतया न सर्वाणि स्थितिबन्धस्थानान्येकान्तेन साकारोपयोगप्रायोग्यानि, किन्तु कतिपयान्येव, कतिपयानि तु साकाराऽनाकारोभयप्रायोग्यानि, द्विस्थानिकरसं बध्नद्भिर्जीवैः कदाचित् साकारोपयोगे सति बध्यन्ते कदाचित्त्वनाकारोपयोगे सति बध्यन्त इति भावः । इत्येवं सातवेदनीयस्यासातवेदनीयस्य च प्रत्येकं द्विस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां प्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि द्विधा द्विधा विभक्तानि, एतेषु द्विविधद्विविधस्थानेषु कतिपयानि द्विस्थानिकयवमध्यादुपरिवर्तीनि, कतिपयानि त्वधःस्थितानि, तथा च सन्त्युक्तकेवलसाकार-साकारानाकारोभयोपयोगभेदाद्विभक्तानि साता-ऽसातवेदनीययोर्द्विस्थानिकरसं बध्नतां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि प्रत्येकं पुनरपि द्विधा द्विधा विभक्तानि, इत्थं हि साता-ऽसातवेदनीययोर्द्विस्थानिकरसं बध्नतां प्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानान्यष्टविधानि जातानि, तद्यथा—सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यादध एकान्तसाकारोपयोगप्रायोग्याणि स्थितिबन्धस्थानानि, तथा द्विस्थानिकरसयवमध्यादध एव साकारा-ऽनाकारोभयप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि । इत्थमेव द्विविधानि द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरितनवर्तिस्थितिबन्धस्थानेषु लभ्यन्ते । तदेवं सातवेदनीयद्विस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि चतुर्विधानि जातानि । यथा सातवेदनीयद्विस्थानिकरसं बध्नतां तथाऽसातवेदनीयस्यापि द्विस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानान्यपि चतुर्विधानि बोद्धव्यानि । एतेष्वष्टविधेषु स्थितिस्थानेषु यानि सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यस्याधस्तनानि साकारोपयोगे एव बन्धप्रायोग्यानि तानि शेषसप्तविधस्थितिबन्धस्थानेभ्यः स्तोकानि सन्त्यपि सातवेदनीय-

त्रिस्थानिकरसयवमध्यस्योपरितनवर्तिस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणानि सन्ति, एतदेव दर्शनार्थमभिहितम् 'तत्तो अहो य विट्ठाणे सागारे' इति ।

[६]"**तो मीसे हवन्ति**" त्ति अत्रापि पूर्ववत् 'सायस्स जवमज्झा' तथा 'अहो य विट्ठाणे' 'ठाणाणि संखगुणाणि' चेति पदत्रयस्यानुवृत्त्या 'ततः'-अनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यादधः 'मिश्रे'-मिश्रोपयोगे, साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगे प्रवर्तमाने यानि बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि तानि संख्येयगुणानीत्यर्थः । ततः [७]"**उवरि मीस्से**" त्ति तत्रैव द्विस्थानिकरसे यवमध्यस्योपरि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [८]"**ताउ लहू संखगुणो**" त्ति तेभ्यः प्रस्तुतस्य सातवेदनीयस्य 'लघुः'-जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः,स च व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरत्रैव ग्रन्थे **द्वितीयाधिकारवृत्तौ** प्रोक्तस्वरूपोऽबाधारहितोऽनुभवयोग्यो ज्ञेयः । ननु सातवेदनीयस्यानुभवयोग्यो जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्स्यात् , स चाऽनन्तरोक्तस्थितिस्थानापेक्षया संख्येयभागमात्रः, अत्र त्वसौ संख्येयगुण उक्त इति कथं न विरोधः ? **इति चेद्, न,** संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभव्यजीवबन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानादीनामिव जघन्यस्थितिबन्धस्याऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभव्यजीवबन्धप्रायोग्यस्याऽधिकृतत्वात्, तस्य चान्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणतयाऽनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणत्वाऽविरोधादिति । [९]'**तो अब्भहिया**' त्ति ततोऽभ्यधिकाः-विशेषाधिका अधिकृतस्य सातवेदनीयस्य "**जट्ठिई**" त्ति 'लहू' इत्यनुवर्तते, ततो 'लघु'-जघन्या 'यत्स्थितिः'-जघन्यस्थितिबन्धसमये बन्धतः प्राप्तदलिके या स्थितिर्भवति सा, सा च कर्मरूपतयाऽवस्थानलक्षणाऽत्रैव ग्रन्थे **द्वितीयाधिकारे**ऽभिहितस्वरूपा ज्ञेयेत्यर्थः ।

[१०]"**तओऽब्भहियो होइ असायस्स**" त्ति 'ततः'-सातवेदनीयजघन्ययत्स्थितितोऽभ्यधिकः-विशेषाधिको भवत्यसातवेदनीयस्य "**लहू**"त्ति जघन्यः स्थितिबन्धः, स च व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरत्रापि प्राग्दर्शितानुभवयोग्य-कर्मरूपतावस्थानलक्षणद्विविधस्थितिबन्धयोर्मध्ये योऽनुभवयोग्यः स्थितिबन्धः सोऽवगन्तव्य इति । [११]"**तोऽब्भहिया जट्ठिई णेया**" त्ति प्रागिव "लहू" इत्यस्यानुवृत्तेस्ततोऽभ्यधिकाऽसातवेदनीयस्य जघन्या यत्स्थितिः, कर्मरूपतावस्थानलक्षणजघन्यस्थितिबन्ध इति भावः, कुतः ? जघन्याबाधाया अत्र प्रवेशात् । [१२]"**तत्तो संखगुणाइं हवन्ति**" त्ति तस्या अनन्तरोक्ताया असातवेदनीयजघन्ययत्स्थित्याः संख्येयगुणानि भवन्ति, कानीत्याह–"**विट्ठाणगेऽह सागारे**" त्ति पूर्ववत् प्रस्तुतस्यासातवेदनीयस्य द्विस्थानकरसबन्धकविषययवमध्यादध एकान्तसाकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानीत्यर्थः । [१३]"**तो मीसे**" त्ति पूर्ववदनुवृत्त्याऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानकरसयवमध्यादधो 'मिश्रे' मिश्रोपयोगे–साकारा-ऽनाकारान्यतरोपयोगे सति बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । इत्थमेव

[१४]"**ताउ उवरि मीसे**" त्ति ततोऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि 'मिश्रे'-साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तथैव [१५] "**तो हुन्ति सागारे**" त्ति तस्यैवाऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यादुपर्येकान्तसाकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः । [१६]"**तोऽह तिठाणे**" त्ति ततः प्रकृतस्याऽसातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसविषययवमध्यस्याधः,स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीति प्राग्वत् । एवं [१७]"**तो उवरि**" त्ति ततोऽसातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसविषयकयवमध्यस्योपरि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१८]"**तओ चउठाणगेऽह**" त्ति ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसविषययवमध्यादधः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१९]"**तो जत्तो परमं डायं गच्छइ सा उ ठिई होइ संखगुणा**" त्ति ततो यस्याः स्थितेर्मण्डूकप्लुतिन्यायेन 'परमाम्'-उत्कृष्टां 'डायां'-फालां 'गच्छति'-प्राप्नोति तद्बन्धकः सा तु स्थितिः संख्येयगुणा भवति ।

किमुक्तं भवति-प्रागस्मिन्नेव मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे **पदनिक्षेपाधिकारे** यस्मात् स्थितिबन्धादेकहेलया उत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वतो जीवस्योत्कृष्टवृद्धिरभिहिता तस्मात्स्थितिबन्धादनुपदमुत्कृष्टस्थितिबन्धकरणे जीव उत्कृष्टां डायां प्राप्नोति,सा उत्कृष्टवृद्धिस्वामिना उत्कृष्टस्थितिबन्धात्प्रागव्यवधानेन बद्धा स्थितिरसातवेदनीयस्य चतुःस्थानकयवमध्यस्याधोवर्तिस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणा भवतीति ।

एतेन प्राक् **पदनिक्षेपाधिकारस्वामित्वद्वारे**-

'मज्झाहिन्तो उवरिं चउठाणियस्स वट्टंतो । अंतो कोडाकोडिं ठिइबंधं यो कुणेमाणो ॥ ६९२ ॥
लहिऊणं उक्कोसं डाय उक्कोससकिलेसेणं । जेट्ठठिइं बंधंतो वड्ढि सो कुणइ उक्कोसं ॥ ६९३ ॥

इत्यत्र यदन्तःकोटिकोटिसागरोपमलक्षणस्थितिस्थानं निर्वर्तयन् जीवोऽनन्तरसमये उत्कृष्टवृद्धिस्वामी भवितुमर्हति तच्चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरि वर्तमानमन्तःकोटिकोटिसागरोपमलक्षणं स्थितिस्थानं तस्मादेव चतुःस्थानिकयवमध्यादधो यावन्ति स्थितिबन्धस्थानानि तेभ्यः संख्येयगुणानि स्थितिबन्धस्थानानि यवमध्यादुपरि गत्वा लभ्यते, अर्थतस्तु यथोक्तं चतुःस्थानिकयवमध्यलक्षणस्थितिस्थानं बध्नन् जीवो यावतीं स्थितिं बध्नाति ततः संख्येयगुणाधिकां स्थितिं बध्नन् जीव उत्कृष्टवृद्धिस्वामी भवितुमर्हति, न तु ततः स्तोकामिति स्फुटमभवत् । ननु तर्हि एषा एवोत्कृष्टपदगताऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिः स्याद् ? इति चेद्, न, तस्यास्त्वेतत्स्थितेरपि संख्येयगुणाधिकस्थितिबन्धं कुर्वतो भावात् ।

तदेवाह-[२०]"**तो संखगुणा अंतोकोडाकोडी**" त्ति तस्या अनन्तरोक्ताया अन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितेरपि समयपरिभाषया या उत्कृष्टपदे सागरोपमाणामन्तःकोटीकोट्यस्ताः संख्येयगुणा इत्यर्थः । [२१]"**तओ बिठाणम्मि**" इत्यादि, ततः सातवेदनीयस्य द्विस्थानकरसयवमध्य-

स्योपरि 'साकारे'-एकान्तसाकारोपयोगे सति बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः। [२२]"**तत्तो विसेसअहियो**" इत्यादि, तेभ्योऽनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः सातवेदनीयस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टोऽनुभवयोग्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिको भवति, कुतः ? -उच्यते, अनन्तरोक्तानि सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यादुपरिवर्तीन्येकान्तसाकारोपयोगेन बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानान्यन्तःकोटिकोटिसागरोपमन्यूनपञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणानि, सातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यतालक्षणस्थितिबन्धस्त्वयं पञ्चदशशतवर्षन्यूनपञ्चदशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणः, तथा च भवत्यनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानापेक्षया विशेषाधिकः। [२३]"**तत्तो जाणेयव्वा**"तस्मात् सातवेदनीयस्यानुभवयोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धात् तस्य सातवेदनीयस्यैवोत्कृष्टा कर्मरूपतावस्थानलक्षणा यस्थितिर'भ्यधिका'-विशेषाधिका ज्ञातव्या, कुतः ? अबाधाया प्रवेशेनाऽस्याः सम्पूर्णपञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणत्वात्। [२४]"**तो डायठिई अहिया**"इत्यादि, सातवेदनीयस्योत्कृष्टयत्स्थितेरुत्कृष्टा डायस्थितिर्विशेषतोऽभ्यधिका ज्ञातव्या, कुतः ? सातवेदनीयस्योत्कृष्टा यत्स्थितिः पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपममात्रा, उत्कृष्टडायस्थितिस्त्वनन्तःकोटिकोटिसागरोपमन्यूनत्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा, तथा चोत्कृष्टा डायस्थितिर्द्विगुणाऽपि न भवत्यतो विशेषाधिकाऽभिहितेति।

ननु कुत उत्कृष्टा डायस्थितिरेतावत्येव भवति ? उच्यते, यतः स्थितिबन्धस्थानादुत्कृष्टांकालां दत्वा या स्थितिर्बध्यते ततः प्रभृति तदन्ता तावती स्थितिरुत्कृष्टा डायस्थितिरुच्यते, उत्कृष्टडायविषयत्वात्तस्याः; एषैव **कर्मप्रकृतिचूर्णौ** बद्धडायस्थिततयाऽभिहिता, एषा ह्युत्कृष्टवृद्धा यावती—अन्तःकोटिकोटीसागरोपमन्यूनत्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणा प्राक् **पदनिक्षेपाधिकारे**ऽर्थतोऽभिहिता तावती एकहेलया उल्लङ्घ्यस्थितिषूत्कृष्टपदगता स्थितिर्मन्तव्येति।

[२५]"**ताउ असायस्स उवरि**" इत्यादि, ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिके यवे उक्तलक्षणान्मध्यमस्थानादुपरि वर्तमानानि यानि स्थितिबन्धस्थानान्यद्यापि नोक्तानि तानि 'अधिकानि'-विशेषाधिकानि भवन्ति, यतोऽनन्तरोक्तानीमानि च प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानि सन्त्यप्यनन्तरोक्तानि चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरि बहुसागरोपमशतानि स्थितिबन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरस्थितिबन्धस्थानप्रभृतीनि, इमानि तु यवमध्यानन्तरस्थितिबन्धस्थानप्रभृतीनि तथा च बहुसागरोपमशतप्रमाणानां स्थितिबन्धस्थानानामत्राऽधिकानां प्रविष्टत्वाद्भवतीमान्यनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानापेक्षया विशेषाधिकानीति।

[२६]"**तओ परमो**" त्ति 'असायस्स' इत्यनुवर्त्तते, ततोऽसातवेदनीयाख्याया उत्तरप्रकृतेः 'परमः' उत्कृष्टः स्थितिबन्धः 'अधिकः'-त्रिसहस्रवर्षोनान्तःकोटिकोटीसागरोपमप्रमाणस्थित्याऽभ्यधिक इत्यर्थः। कुतः ? उच्यते. 'गुरू' इत्यनेनाऽसातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्योत्कृष्टस्थिति-

बन्धो विवक्षितः, स च तथाभूतोऽसातवेदनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टाबाधात्रिवर्षैस्त्रिसहस्र-वर्षैरूनत्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीप्रमाणः सञ्चनन्तरोक्तयत्स्थित्यपेक्षया त्रिसहस्रवर्षोनान्तःकोटि-कोटीसागरोपमैरधिको भवतीति । [२७]"तो जट्ठिई अहिया" त्ति ततोऽसातवेदनीयस्याऽनुभव-योग्योत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षया तस्यंत्राऽसातवेदनीयस्य कर्मरूपतावस्थानलक्षणयत्स्थितिरुत्कृष्टपदे तिसहस्रवर्षैरधिका भवति । कुतः ? उत्कृष्टाबाधाया अत्र प्रवेशादिति ।

इदं हि मुख्यवृत्त्या संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽभव्यजीवबन्धप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानान्यधिकृत्य दर्शितं सप्त-विंशतिपदसत्कमल्पबहुत्वं सर्वथा **कर्मप्रकृतिचूर्णा**वभिहितद्वाविंशतिपदसत्काल्पबहुत्वानुसार्येवाव-गन्तव्यम्, केवलं तत्र साताऽसातवेदनीययोर्जघन्योत्कृष्टयत्स्थितिलक्षणानि चत्वारि पदानि तथाऽसातवेदनीयचतुःस्थानिकयवमध्योपरितनस्थानसमूहलक्षणमेकं पदमित्येवं पञ्च पदानि न सङ्गृहीतानि,अत्र तु तान्यपि सङ्गृहीतानि । **कर्मप्रकृतिचूर्ण्योक्ताल्पबहुत्वपाठस्त्वेवम्—**

"इयाणिं सव्वट्ठितिट्ठाणाण अप्पाबहुगं भण्णइ-'हेट्ठा थोवाणि जवमज्झा ठाणाणि चउट्ठाण' त्ति परियत्तमाणिगसुभाणं चउट्ठाणियजवमज्झस्स हेट्ठओ ठितिठाणाणि थोवाणि । 'संखेज्जगुणाणि उवरिं' ति चउट्ठाणे य जवमज्झस्स उवरिं ट्ठितिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि 'एमेव तिट्ठाणे सुभाणं' ति परियत्तमा-णिगाणं तिट्ठाणियजवमज्झस्स हेट्ठओ ठितिठाणाणि संखेज्जगुणाणि, तस्सेव जवमज्झस्स उवरिं ठितिठाणाणि (वि संखेज्जगुणाणि) । 'बिट्ठाणे सुभाणमेगंत' त्ति परियत्तमाणिगाण सुभाणं बिट्ठाणे य जव-मज्झस्स हेट्ठतो एगंतसागारपाउग्गाणि ठितिट्ठाणाणि सखेज्जगुणाणि । (तओवि बिट्ठाणअणुभागजवमज्झस्स हेट्ठओ पुव्वओ उवरिं ठिइट्ठाणाणि मिस्साणि संखेज्जगुणाणि, तओवि बिट्ठाणरसजवमज्झस्स उवरिं मिस्साणि ठिइट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि, तओ) परियत्तमाणिगाणं सुहाण जहण्णट्ठितिबन्धो संखेज्जगुणो । 'ततो विसे साहितो होइ असुभाण जहण्णो' त्ति परियत्तमाणिगाणं असुभाणं जहण्णओ ठितिबन्धो विसेसाहिगो । 'सखेज्जगुणाणि ठाणाणि बिट्ठाणे जवमज्झा हेट्ठा एगते त्ति परियत्तमाणिगाणं असुभाणं बिट्ठाणियजवमज्झस्स हिट्ठओ एगतसागारपाउग्गाणि ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । 'मिस्सगाणं'ति ततो बिट्ठाणिगजवमज्झस्स हेट्ठउ मिस्सगाणि ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । 'उवरिं' त्ति परियत्तमाणिगाणं असुभाणं बिट्ठाणिगजवमज्झस्स उवरिं मिस्सगाणि ठितिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । तस्सेवुवरिं एगंतसागारपाउग्गाणि ठितिठाणाति संखेज्ज-गुणाणि । 'एव तिचउट्ठाणे' त्ति तत्तो परियत्तमाणिगाणं असुभाणं तिट्ठाणियजवमज्झस्स उवरिं ठितिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि तओ वि तिट्ठाणजवमज्झस्स उवरिं ठितिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । ततो वि असुभाण परि-यत्तमाणिगाण चउट्ठाणियजवमज्झस्स हिट्ठओ ठितिठाणाणि संखेज्जगुणाणि । तओ) 'जवमज्झाओ य डाय-ट्ठिति' त्ति जवमज्झाउ जओ ट्ठाणा उक्कोसं डायं इच्छइ सा ठिति संखेज्जगुणा, जओ ट्ठितिओ उक्कोसं ट्ठितिं जातित्ति भणियं भवति । 'अंतोकोडाकोडि' त्ति अन्तोकोडाकोडी संखेज्जगुणा । 'सुभबिट्ठाणजवमज्झाओ उवरिं एगंतिग' त्ति ततो परियत्तमाणिगाणं सुभाण बिट्ठाणियजवमज्झउवरिं एगंतसागारोवउग्गाणि ठितिट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । 'विसिट्ठा सुभजिट्ठ' त्ति परियत्तमाणिगाणं सुभाणं उक्कोस्सगो ठितिबंधो विसेसाहितो । 'डायट्ठिति'त्ति परियत्तमाणिगाणं असुभाणं डायं गंतूण जा ठिति बज्झ सा ठिति विसेसाहिगा । 'जेट्ठ' त्ति परियत्तमाणिगाणं असुभाणं उक्कोसगो ठितिबन्धो विसेसाहितो" इति ।

अल्पबहुत्वयन्त्रचित्रके त्वेवम्— ★ । इति गाथाष्टकार्थः ॥ ८५९-८६६ ॥

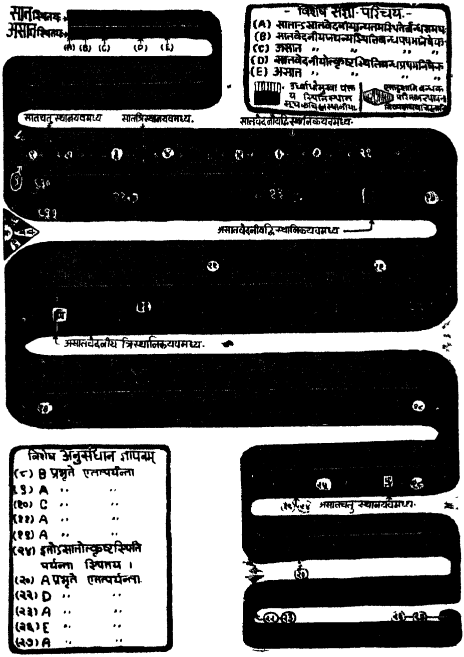
★ यन्त्रं चित्रं चाऽनन्तरोत्तरपृष्ठद्वये लिखिते इति ।

अल्पबहुत्वयन्त्रकम्

क्रमाङ्काः	पदानि	अल्पबहुत्वम्
१.	सातवेदनीय-चतुःस्थानिक-यवमध्याद् अधस्तनवर्तीनि स्थितिबन्धस्थानानि	स्तोकानि
२. ततः	,, ,, ,, उपरितनवर्तीनि ,, ,,	संख्येयगुणा०
३. ,,	,, त्रिस्थानिक ,, अधस्तनवर्तीनि ,, ,,	,,
४. ,,	,, ,, ,, उपरितनवर्तीनि ,, ,,	,,
५. ,,	,, द्विस्थानिक ,, अधस्तनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि ,,	,,
६. ,,	,, ,, ,, ,, अन्यतरोपयोगे ,, ,,	,,
७. ,,	,, ,, ,, उपरितनवर्तीनि ,, ,, ,,	,,
८. ,,	सातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धमानम्	,,
९. ,,	,, जघन्ययत्स्थितिः	विशेषाधिक
१०. ,,	असातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धमानम्	,,
११. ,,	,, जघन्ययत्स्थितिः	,,
१२. ,,	,, द्विस्थानिकयवमध्याद् अधस्तनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि	संख्येयगुण
१३. ,,	,, ,, ,, ,, अन्यतरोपयोगे ,,	,,
१४. ,,	,, ,, ,, उपरितनवर्तीनि ,, ,,	,,
१५. ,,	,, ,, ,, ,, साकारोपयोगे ,,	,,
१६. ,,	,, त्रिस्थानिकयवमध्याद् अधस्तनवर्तीनि ,,	,,
१७. ,,	,, ,, ,, उपरितनवर्तीनि ,,	,,
१८. ,,	,, चतुःस्थानिकयवमध्यादधस्तनवर्तीनि ,,	,,
१९. ,,	,, यतः स्थितिबन्धस्थानादुत्कृष्टडायं गम्यते सा स्थितिः	,,
२०. ,,	अन्तःकोटिकोटिलक्षणस्थितिबन्धस्थानेषु सर्वाधिकस्थितिबन्धस्थानम्	,,
२१. ,,	सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकयवमध्यादुपरितनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि	,,
२२. ,,	,, उत्कृष्टा अनुभवयोग्या स्थितिः	,,
२३. ,,	,, ,, यत्स्थितिः	विशेषाधिक०
२४. ,,	उत्कृष्टडायेनोल्लङ्घ्यस्थितिः	,,
२५. ,,	असातवेदनीयस्य चतुःस्थानयवमध्यादुपरिवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यस्थानानि	,,
२६. ,,	असातवेदनीयस्य उत्कृष्टा अनुभवयोग्या स्थितिः	,,
२७. ,,	,, ,, यत्स्थितिः	,,

साता-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसबन्धकयवादिनानाविषयभेदभिन्नस्थितिबन्धस्थान-
साता-ऽसातवेदनीय-जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धादिपदार्थनिष्पन्नानां सप्तविंशतिपदानाम्—

अल्पबहुत्व-चित्रकम्



अथाऽन्यमते प्रस्तुतं दिदर्शयिषुर्गाथाष्टकमाह—

केइ उ [1]यवमज्झाऽहो चउठाणेऽप्पाणि उ ठिइठाणाणि ।
सायस्स हुन्ति [2]एत्तो संखगुणाणि उवरिं हुन्ति ॥८६७॥
[3]तो तिट्ठाणेऽह [4]तओ उवरिं [5]तत्तो अहो य बिट्ठाणे ।
सागारे [6]तो मीसे हवन्ति [7]तत्तो उवरि मीसे ॥८६८॥
[8]ताउ असायस्स अहो बिट्ठाणम्मि य हवन्ति सागारे ।
[9]तो मीसे [10]ताउ उवरि मीसे [11]तो हुन्ति सागारे ॥८६९॥
[12]तो तिट्ठाणेऽह [13]तओ उवरिं [14]ता चउठाणिये हेट्ठा ।
[15]तत्तो संखेज्जगुणो सायस्स लहू मुणेयव्वो ॥८७०॥
[16]तत्तो विसेसअहिया णायव्वा जट्ठिई [17]तओऽब्भहियो ।
होइ असायस्स लहू [18]तोऽब्भहिया जट्ठिई णेया ॥८७१॥
[19]एत्तो संखेज्जगुणा जम्हा गच्छेइ डायमुक्कोसं ।
सा य ठिई णायव्वा [20]तो अंतोकोडिकोडिठिई ॥८७२॥
[21]तत्तो संखगुणाइं हवन्ति सायस्स उवरि बिट्ठाणे ।
सागारे [22]तोऽब्भहियो गुरू [23]तओ जट्ठिई अहिया ॥८७३॥
[24]तो डायठिई अहिया [25]ताउ असायस्स उवरि चउठाणे ।
अहियाणि [26]तओ परमो अहियो [27]तो जट्ठिई अहिया ॥८७४॥

(प्रे०) "**केइ उ यवमज्झा**" इत्यादि, तत्र "**केइ उ**" त्ति 'केचित्'-महाबन्धकारादयस्तु-पुनः, प्रस्तुताल्पबहुत्वमित्थं वदन्तीति वाक्यशेषः । कथं वदन्तीत्याह–"**यवमज्झाऽहो चउ**" इत्यादि गाथाष्टकम् ,अस्याऽक्षरार्थस्त्वनन्तरोक्ताल्पबहुत्वेन तुल्यप्रायोऽतस्तदवत् स्वयमेव योज्यः, भावार्थोऽपि बहुधा तादृश एव, केवलं तत्र यानि सातवेदनीयजघन्यस्थितिबन्ध-जघन्ययत्स्थित्य-सातवेदनीयअघन्यस्थितिबन्ध-जघन्ययत्स्थितिलक्षणानि चत्वारि पदान्यष्टम-नवम-दशमै-कादशपदेषु क्रमेणाभिहितानि तान्यत्र पञ्चदश-षोडश-सप्तदशा-ऽष्टादशपदतया निक्षिप्तानि ।

इत्थं हि तदभिप्रायेण– '[1]सर्वस्तोकानि सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसयवमध्यादधस्तनानि स्थितिस्थानानि। [2]ततस्तस्यैव चतुःस्थानिकरसयवमध्यस्योपरितनानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [3]ततः सातवेदनीयत्रिस्थानिकरसस्य यवमध्यादधस्तनानि स्थितिबन्धस्थानानि

संख्येयगुणानि । [४]ततोऽस्यैव यवमध्यस्योपरितनानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [५]ततः सातवेदनीयद्विस्थानिकरसस्य यवमध्यादध एकान्तसाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [६]ततस्तस्मादेव यवमध्यादधः साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्ध स्थानानि संख्येयगुणानि । [७] ततोऽनन्तरोक्तस्यैव सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [८] ततोऽसातवेदनीयद्विस्थानिकरसस्य यवमध्यादधः केवलसाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [९] ततस्तस्मादेव यवमध्यादधः साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१०]ततस्तस्यैवाऽसातवेदनीयद्विस्थानिकरसस्य यवमध्यस्योपरि साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [११]ततस्तत्रैव द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि केवलसाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१२]ततोऽसातवेदनीयस्यैव त्रिस्थानिकरसस्य यवमध्यादधः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१३]ततस्तस्यैव यवमध्यस्योपरि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१४]ततोऽसातवेदनीस्य चतुःस्थानिकरसयवमध्यादधः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [१५]ततः पुनः सातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यः स्थितिबन्धो जघन्यः संख्यातगुणः । [१६]ततस्तस्यैव सातवेदनीयस्य कर्मरूपतावस्थानलक्षणा यत्स्थितिर्जघन्या विशेषाधिका । [१७]ततोऽसातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यो जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः । [१८]ततस्तस्यैवाऽसातवेदनीयस्योक्तस्वरूपा यत्स्थितिर्जघन्याऽप्यधिका । [१९]ततो यस्मात् स्थितिबन्धादुत्कृष्टां डायां जीवो गच्छति स प्रागुक्तस्वरूपः स्थितिबन्धः संख्येयगुणः । [२०]तत उत्कृष्टपदगताऽन्तःकोटिकोटीसागरोपमस्थितिः संख्येयगुणः । [२१]ततः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपर्येकान्तसाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । [२२] ततः सातवेदनीयस्याऽबाधापेतो योऽनुभवयोग्यः स्थितिबन्धः स उत्कृष्टो विशेषाधिकः । [२३]ततस्तस्यैव सातवेदनीयस्य कर्मरूपतावस्थानलक्षणा यत्स्थितिरुत्कृष्टा विशेषाधिका । [२४]तत उत्कृष्टा डायस्थितिर्विशेषाधिका । [२५]ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि स्थितिबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । [२६]ततोऽसातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यस्थितिबन्ध उत्कृष्टपदे विशेषाधिकः । [२७]ततस्तस्यैवोक्तलक्षणोत्कृष्टा यत्स्थितिर्विशेषाधिका इति ॥८६७……८७४॥

तदेवमभिहितं सातवेदनीया-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसबन्धादिनानावस्तुसम्बन्धादनेकधा विभक्तानां विवक्षितानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभव्यजीवबन्धप्रायोग्यानां स्थितिबन्धस्थानानामन्येषां सातवेदनीयाऽसातवेदनीयजघन्यस्थितिबन्धादिलक्षणानां पदानां चाल्पबहुत्वम् । साम्प्रतं तत्रैव स्थितिस्थानेषु द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसभेदेन षोढा विभक्तानां बन्धकानामल्पबहुत्वं प्रचिकटयिषुराह—

सायस्स हुन्ति थोवा जीवा चठाणबंधगा तत्तो ।
तिदुठाणबंधगा खलु कमसो होअन्ति संखगुणा ॥८७५॥

ताउ असायस्स कमा हुन्ति दुचउठाणबंधगा तत्तो ।
तिट्ठाणबंधगा खलु होअन्ति विसेसओऽब्भहिया ॥८७६॥

(प्रे०)"**सायस्स हुन्ति थोवा**" इत्यादि, सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धका जीवाः "**हुन्ति थोवा**" त्ति अनन्तरवक्ष्यमाणपदगतजीवेभ्यः 'स्तोकाः'-अल्पाः सन्ति । "**तत्तो**" त्ति तेभ्यः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकेभ्यः सातवेदनीयस्यैव "**तिदुठाणबंधगा खलु**" त्ति त्रिस्थानकरसबन्धका द्विस्थानकरसबन्धकाश्चैते एकैकविधबन्धकजीवा इत्यर्थः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । कियन्त इत्याह–"**कमसो होअन्ति संखगुण**" त्ति 'क्रमशः'-यथासंख्यं संख्येयगुणा भवन्ति । "**ताउ**" त्ति तेभ्योऽनन्तरपदोक्तसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकेभ्यः "**असायस्स कमा हुन्ति**" इत्यादि, अनन्तरोक्तस्य 'संखगुणा' इत्यस्य घण्टालालान्यायेनात्रापि योजनात् असातवेदनीयस्य द्विस्थानकरसबन्धकास्तथाऽसातवेदनीयस्यैव चतुःस्थानकरसबन्धकाः क्रमात् संख्येयगुणा भवन्तीत्यर्थः । "**तत्तो**" त्ति तेभ्योऽनन्तरपदोक्तेभ्योऽसातवेदनीयचतुःस्थानकरसबन्धकेभ्यः "**तिट्ठाणबंधगा खलु**" त्ति असातवेदनीयस्यैव त्रिस्थानकरसबन्धकाः पुनः "**होअन्ति विसेसओऽब्भहिया**" त्ति 'विशेषतोऽभ्यधिकाः'-विशेषाधिका भवन्तीत्यर्थः ।

ननु असातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानेभ्यः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यस्थितिबन्धस्थानान्यनन्तरोक्तात्पबहुत्वेऽर्थतोऽनेकक्रत्वः संख्येयगुणानि दर्शितानि; अत्र तु वैपरीत्येन सातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकापेक्षयाऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकाः संख्येयगुणा उक्तास्तत्कथं न विरोधः ? **इति चेद्, न,** एकजीवमाश्रित्य सातवेदनीयस्योत्कृष्टबन्धकालापेक्षयाऽसातवेदनीयस्योत्कृष्टबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वेनाऽसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकसमूहस्यापि उत्कृष्टपदगतसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकापेक्षया संख्येयगुणत्वसम्भवेनाऽविरोधादिति ॥८७५-८७६॥

तदेवमभिहितं चरमे जीवसमुदाहारे जीवाल्पबहुत्वम् , तथा च समाप्तं जीवसमुदाहाराख्यं चरमं द्वारम् , तस्मिंश्च समाप्ते समाप्तश्चरमोऽध्यवसायसमुदाहारः, तत्समाप्तौ चावसितो मूलप्रकृतिस्थितिबन्धः ।

क्रियते स्म मयाऽध्यवसन-समुदाहारं विवृण्वता यत्पुण्यम् ।
सुविशुद्धाध्यवसाया भवन्तु भव्या विगतभवभयास्तेन ॥ (आर्यागीतिः)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे षष्ठेऽध्यवसायसमुदाहारे तृतीयं जीवसमुदाहाराख्यं द्वारं समाप्तम्

॥ इति श्री बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे षष्ठोऽध्यवसायसमुदाहारः ॥

॥ अथ टीकाकृत्प्रशस्तिः ॥

भव्यानां भवसागरे प्रपततां निस्तारकं यत्कृतं,
तीर्थं सम्प्रति राजते जलनिधौ बोहित्थवद्धैर्यदम् ।
सिद्धार्थत्रिशलाङ्गजो विभवकृत् कारुण्यरत्नाकरः,
स श्रीमान् शिवदः सदैव भवतु श्रीवर्धमानोऽपि* वः ॥१॥ (शार्दूल०)

भव्येभ्यः सुखदां जिनेन्द्रमुखजां वाचं निशम्योन्नतां,
प्रव्रज्यां प्रतिपद्य वीरविभवे येनाऽर्पितं जीवनम् ।
यन्नामाऽपि निहन्ति पापतिमिरं मार्तण्डरश्म्योघवद्,
वन्देऽहं गुरुगौतमादिगणिनां वृन्दं सदा तन्मुदा ॥२॥ (शार्दूल०)

सर्वोऽपि संविग्नमुनिव्रजोऽयं, येषां प्रविष्टः पृथुसंततौ हि ।
ते पञ्चमाः संयतवृन्दताताः, पान्तु सुधर्माख्यगणाधिपा वः ॥३॥ (इन्द्रवज्रा०)

येन स्वभार्या-जनकादिना वै, साकं गृहीतं चरणं जिनोक्तम् ।
जम्बूः स कम्बूप्रभशुभ्रकीर्तिः, कैवल्यधामा चरमः पुना तु ॥४॥ (इन्द्रवज्रा०)

प्रभवविभवो जम्बूहर्म्यं प्रविश्य निशि ध्रुवां,
ध्रुवपदविदां सम्यग्रत्नत्रयीमुपलेभिरे ।
मनकजनकाः श्रीमच्छय्यम्भवाश्च भवच्छिदः,
शशधरसितश्लोका भद्रं दिशन्तु सतां सदा ॥५॥ (हरिणी०)

※तत्पट्टमण्डनो विद्वान् , महिमगुणभाजनम् । भद्रं तनोतु सर्वेषां,यशोभद्रगुरुध्रुवम् ॥६॥

※सम्भूतिविजयस्तस्य,विनेयोऽभूच्छिवङ्करः । प्रव्राजको हतानङ्ग-स्थूलभद्रस्य पातु वः ॥७॥

※सूत्ररत्नाकरे येन, निर्युक्तितीर्थमारचि । जयतु भद्रबाहुः स, भगवान् श्रुतकेवली ॥८॥

वेश्यासङ्गेऽप्यविचलचरणः प्लुष्टकामो हि योऽभूत् ,
पूर्वाणां हि प्रकरमविकलं ज्ञातवान् सूत्रतश्च ।
सिद्धान्ताब्धेरपरतटमितः कामयोधं विहन्तुं,
शक्तिस्तोमं स वितरतु सतां श्रीयुतस्थूलभद्रः ॥ ९ ॥ (चित्रलेखा०)

---

* अपिशब्दोऽन्येषां तीर्थपतीनां समुच्चये । ※ अनुष्टुब्वृत्तम् ।

आद्यशिष्यस्तदीयो यो, जिनकल्पं तुतोल सः ।
महागिरिः शिवं दद्यात् , सुहस्तिगुरुबान्धवः ॥१०॥ (अनुष्टुब्वृत्तम्)

सुस्थित-सुप्रतिबद्धौ, कोटिक-काकन्दिकौ ततो जातौ।
श्रीवीरनवमपट्टे, यत उदितः कोटिकाभिधगणोऽयम् ॥११॥ (गीति०)

इन्द्रदिन्नगुरुस्तत्र, श्रीदिन्नगुरवस्तथा ।
श्रीसिंहगिरिनामानो, जाताः क्रमाज्जयन्तु ते ॥१२॥ (अनुष्टुब्वृत्तम्)

जातिस्मृत्या शिशुरपि भृशं संयमार्थं रुरोद,
प्रव्रज्योच्चैर्दश भणितवान् सार्थपूर्वाणि यश्च ।
तीर्थोद्योतं व्यधित च यतो वज्रशाखोत्थितेयं,
वज्रस्वामी स भवतु सतां वज्रिवन्द्यो विरक्त्यै ॥१३॥(मन्दाक्रान्ता०)

श्रीवज्रसेनो जितमोहसेनो, ज्ञाताख्यसूत्रप्रतिवादिजेता ।
सोपारके यश्चतुरो दिदीक्षे, वित्ताढ्यपुत्रान् स ददातु मेधाम् ॥१४॥ (इन्द्रवज्रा०)

जातं हि कुलचतुष्कं, तच्छिष्येभ्यः सुविस्तृतं तत्र ।
यस्माच्चान्द्रमिदं निर्गतं स चन्द्रगुरुरवतु सदा ॥१५॥ (गीति०)

चन्द्रनाम्नि कुले येऽस्मिन्, जातास्तीर्थधुरंधराः ।
नैके सामन्तभद्राद्याः, सूरयस्ते पुनन्तु वः ॥१६॥ (अनुष्टुब्०)

वीरादभूत्तत्र युगाब्धि(४४)संख्ये, पट्टे तपोगच्छसुवृक्षमूलम् ।
स श्रीजगच्चन्द्रगुरुस्तपस्वी, पातु क्रियोद्धारवतां पुरोगः ॥१७॥ (इन्द्रवज्रा०)

पट्टे गजेषु(५८)प्रमिते हि वीराद्, गच्छेऽत्र जातः प्रभुहीरसूरिः ।
प्राबोधयद्यो यवनाधिराजं, प्रेक्षावदर्च्यः स तनोतु धाम ॥१८॥ (इन्द्रवज्रा०)

पट्टपरम्परयैवं, बभूव पावकहय(७३)परिमिते हि पट्टेऽत्र ।
धीरो वीरो विबुधः, श्रीविजयानन्दसूरीन्द्रः ॥१९॥ (आर्या०)

लुम्पाकाख्यं कुमतमसकृत् खण्डखण्डं विधाय,
मूर्त्यर्चा श्रीसमयवचसा येन सिद्धान्तिता च ।
आत्मारामेति मधुरगिरा संस्तुतो यस्तु लोकैः,
स न्यायाम्भोनिधिरिति बुधैर्व्याहृतः पातु युष्मान् ॥२०॥ (मन्दाक्रान्ता)

तत्पट्टमण्डनसुधीर्मुनिवृन्दसेव्य-,श्चारित्रवार्धिशमकृद्धृतनिःस्पृहत्वः ।
सूरीन्द्र इन्दुवदनः कमलाभिधानः, श्रेयः सदाऽपि वितनोतु स देहभाजाम् ॥२१॥ (वसंत०)

वीराच्छरोदधि(७५)मिते श्रुतहार्दवेदी, ज्योतिष्कवित्त्व कमलाभिधसूरिपट्टे ।
श्रीवीरपूर्वविजयोत्तरपाठकानां, सूरीन्द्रदानविजयो हि बभूव शिष्यः ॥२२॥ (वसंत०)

स श्रेयसेऽस्तु सततं ममजायतोच्चैः, सच्चूर्णि-भाष्य-विवृतिप्रमुखं प्रमथ्य ।
यद्तत्त्वसारममूहनिबद्धमाला, तत्त्वं बुभुत्सुकृतिनां वरपाठमाला ॥२३॥ (वसंत०)
(युग्मम्)

तत्पट्टे जयति प्रशस्तचरणः श्रीप्रेमसूरिप्रभुः,
सेव्यः सार्धशतत्रयाधिकमुनिव्रातेन वात्सल्यभूः ।
कर्मव्रातविदारणैकसुभटः सर्वत्र वै सम्मतः,
कर्मग्रन्थविचारणेऽतिचतुरः सिद्धान्तपारङ्गतः ॥२४॥ (शार्दू०)

काणादैरसुमद्गुणानतिगतं सांख्यैः प्रधानोद्भवं,
योगाचारमते किमप्यभिमतं यद्वासनासंज्ञकम् ।
मायाह्वं तु मतं कथञ्चिदपि यद् वेदान्तिकैश्चात्मनो,
मुक्ता-ऽमुक्तविधेः प्रणायकमसत् तत्त्वं हि यस्यां तकत् ॥२५॥ (शार्दू०)

हृद्याद्युक्तिभरादपाकृतमतिप्रौढप्रतिज्ञायुतात् ,
सूक्त्या पौद्गलिकं जिनेन्द्रवचनाज्ज्ञातं च संस्थापितम् ।
स्याद्वादप्रतिभाभृता विरचिता सा कर्मसिद्धिस्तथा,
सृष्टं चारु च येन यन्त्रकलितं सत्संक्रमग्रन्थनम् ॥२६॥ (शार्दू०)
(युग्मम्)

दृब्धं च मार्गणाद्वार-विवरणं सुविस्तृतम् । अन्यान्यग्रन्थकृत्प्रोक्त-नियुक्त्यादिसमन्वितम् ॥७२ (अनु०)

किं बहुना भणितेन खलु प्रथितेन हि येन बुधप्रभुणा,
स्वीयमनोजमतिश्रमगुम्फ्यमिदं वरबन्धविधानमरम् ★ ।
गुम्फयितुं मुनिवर्गमिहाऽध्ययनादियुतं सततं प्रणतं,
वीक्ष्य नियुज्य निजे च करे प्रविधाय कुशां □ रचितं विशदम् ॥२८॥ (मदिरा०)

गृहस्थितस्त्वपित्रेऽपि, सद्गतेरनुबन्धिनी । संस्तारकस्य दीक्षा हि, दापिता येन धीमता ॥२९॥ (अनु०)

येन व्यधायि जिनबिम्बगृहप्रतिष्ठा, दीक्षाविरोधनियमस्य विरोधनं च ।
अन्यत्कृतं बहुविधं प्रवचःप्रभावि, ब्रूमः कथं यदनलो धिषणोऽपि यत्र ॥३०॥ (वसंत०)

शिष्यस्तदीयोऽपि हि भानुनामा, पंन्यासमुख्यो जितभानुधामा ।
नक्तंदिवं तत्त्वविभासकत्वात् , भव्योपकारव्यसनीव भाति ॥३१॥ (इन्द्रवज्रा०)

★ झटितीत्यर्थः, उक्तं च–"द्राक् स्रागरं झटित्याशु" इत्यादि । □ सूत्रम् , व्यवस्थामिति यावद्

येनाऽप्यनेके सरलाः समर्था, बालावबोधा रचिता हि हृद्याः ।
श्रीपञ्चसूत्रप्रमुखस्य भाषा,-टीकाश्च भाष्यादिक दोहनाद्याः ॥३२॥ *

ग्रन्थाः स पातु प्रगुरुर्यशस्वी, व्याख्याविधाने निपुणस्तपस्वी ।
त्यक्तप्रमादो गुरुपादवासी, सत्तर्कवेदी सततं हि युष्मान् ॥३३॥ *
(युग्मम्)

आसीत्तदीयोऽपि य आद्यशिष्यो, भ्राता कनीयान् सहदीक्षितश्च ।
सारल्यकृष्टाऽखिलसाधुचित्तो, वैराग्यदीप्त्या सततं च दीप्तः ॥३४॥ *

गच्छस्य भक्त्यै कृतसुप्रयासः, संप्राप्तगच्छाधिपचित्तवासः ।
दोहं निशीथप्रभृतेर्व्यधाद्यः, पंन्यासपद्माख्यगुरुः स पातु ॥३५॥ *
(युग्मम्)

मुमुक्षुप्रजायाश्चरित्रस्य शुद्ध्यैरनन्यस्य तस्य प्रभोः पद्मनाम्नः ।
जगच्चन्द्रनाम्ना विनेयेन हृद्याऽनवाप्तेऽपि तत्त्वे गुरूणां प्रभावात् ॥३६॥भुजङ्गप्र०

पूज्यानुरोधेन तदीयतुष्ट्यै, अन्यान्यशास्त्रादुपलब्धतत्त्वम् ।
आदाय सम्यग् रचिता मयैषा, प्रेमप्रभाख्या स्थितिबन्धटीका ॥३७॥ *
(युग्मम्)

निष्ठापितेयं खलु वीरवर्षे हस्तीभवेदाक्षि(२४८८)मिते सुरम्ये ।
मासे च शुक्रे मरुदेशमध्ये, बेडाख्यपुर्यां समता सुखेन ॥३८॥ *

संशोधितेयं तु गणाधिपैर्हि, श्रीप्रेमसूरिप्रभुभिश्च तज्ज्ञैः ।
शिष्यैस्तदीयैः समयार्थविद्भिः, सुगीन्द्रजम्बूविजयैः परैश्च ॥३९॥ *

आगमकर्मप्रकृतिप्रमुखेषु च तेषु तेषु शास्त्रेषु ।
सूक्ष्मधियां गम्येषु विहितातिशायिप्रयत्नैर्हि ॥४०॥ (पथ्या०)

ऐश्च जयघोष-धर्मानन्दविजय-वीरशेखरप्रमुखैः ।
महवर्तिमुनिप्रवरैः कृतयत्नैः सोपयोगैश्च ॥४१॥ (पथ्या०)
(त्रिभिर्विशेषकम्)

दृष्टा पुनः सा हि मयोपयोगात्, तथाप्यवश्यं स्खलनाः स्युरत्र ।
छाद्मस्थ्यसख्यो मतिमान्द्यजा वा, ज्ञात्वाऽपनेयाः कृपया बुधैस्ताः ॥४२॥ *

यतः—

"गच्छतस्स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः । हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥१॥" इति ।

---

* इन्द्रवज्रावृत्तम् ।

मुद्रापिता मरुधरस्थितपिण्डवाडा-
संज्ञे सुरम्यनगरे वसताऽऽर्हतेन ।
ज्ञानार्थसञ्चितधनात् खलु सङ्घकेन
श्रीतीर्थकृत्-सुगुरुषूदितभक्तिकेन ॥४३॥ (वसन्त०)

तथाहि–

यत्पादभक्त्या भुवि भव्यलोकाः, सत्कीर्तिकान्त्यादियुता भवन्ति ।
पुष्णातु शं वो जिनवर्धमानः, श्रीपिण्डवाडापुरमण्डनः सः ॥४४॥ (इन्द्रवज्रा०)

विक्रमीयपञ्चदशशताब्दौ धर्मकर्मव्यसनिना प्रस्फुरद्देहकान्तिना धनाढ्येन संघपतिना [1]कुंर-पालेन तथा सुगुणगणनिभृतेन सुनयाप्तवित्तेन सज्जनश्रेणिधुर्येण श्रीमता लींबाभिधानेन व्यव-

---

[1] "प्राग्वाटवंशे व्यवहारिसांगासूनुः, प्रसूनोज्ज्वलकान्तकीर्तिः ।
श्रीपुण्यपूर्णोऽजनि पूर्णसींहस्तस्य प्रिया जाल्हणदेवीनाम्नी ॥ १ ॥
(?) तदूरचंद्रास्ततरुद्गम क्रियाकलापः किल कुंरपाल ।
जाया च मायादिकदोषमुक्ता तस्याभवन कामलदेवीनाम्नी ॥ २ ॥
सूदयौ सदयौ धामामृतैः सुहितौ लोकहितौ सतां मतौ ।
सुनयौ विनयौचितीचणौ विजयेते तनयौ तयोरिमौ ॥ ३ ॥
तत्राद्य सुजनश्रेणीरत्नं रत्नाभिधो धनी । वदान्यजनमूर्द्धन्यो राजमान्यो धियां निधिः ॥ ४ ॥
द्वितीयस्तु द्वितीयेदुकान्तिकान्तगुणावहः । धरण शरणं श्रीणां प्रवीणः पुण्यकर्मणि ॥ ५ ॥
रत्नादेवी-धारलदेव्यौ जन्यौ (पत्न्यौ) नयोरनुक्रमतः । समभूतामतिनिर्मलशीलालङ्कारधारिण्यौ ॥६॥
रत्नस्य पुत्रा एते लाषा-सलषा मनाह्व-सोनाख्या । शांतस्वभावकलिता गुणतरुमलयाः कलानिलया ॥७॥
इतश्च—
श्रीप्राग्वाटाभिधज्ञातिशृङ्गशृङ्गारशेखरः । पूराऽभून्महुणानामा व्यवहारी वरस्थितिः ॥ ८ ॥
तस्य जोलाभिध. सूनस्तत्पुत्रो भावठोऽशठः । तस्यामीज्जाउणादेवी भार्या चार्या स्वभावतः ॥९॥
तदीयपुत्रः सुगुणैः पवित्र, सौजन्यचित्तः सुनयाप्तवित्तः ।
लींबाभिधान. सुकृतिप्रधानः, सत्कार्यधूर्यो व्यवहारवर्यः ॥ १० ॥
नयणादेवी नामलदेवीति ख्यातसंज्ञिके तस्य । दयिते दययोपेते शीलाद्युद्दामगुणकलिते ॥ ११ ॥
नयणादेवीतनुजो मनुजोचितचारुलक्षणोपेत. । भ्रमरो भ्रमरो गुरुजन-जननी-जनकादिपदकमले ॥१२॥
भीनकान्तगुणख्याते प्रजापालनलालसे । हाजाभिधे धराधीशे प्राज्यराज्यं च कुर्वति ॥१३॥
आभ्यामुभाभ्यां धनिकुंरपाल-लींबाभिधाभ्यां सदुपासकाभ्यां ।
ग्रामेऽस्मिन्मे पिण्डरवाटकाख्ये प्रासादभूमिरुदधारि सारः ॥ १४ ॥
विक्रमाद्व्रा गतर्कांकिधभूमिते (१४६५) वत्सरे तथा । फाल्गुनाख्ये शुभे मासे शुक्लायां प्रतिपत्तिथौ ॥१५॥
कल्याणवृद्ध्यभ्युदयैकदायकः श्रीवर्धमानश्चरमो जिनेश्वरः ।
श्रीमत्तपःसंयमधारिसूरिभिः प्रतिष्ठितः स्पष्टमहामहादिह ॥ १६ ॥
भारवींदुसमयादनया श्रीवर्द्धमानजिननायकमूर्त्या । राजमानमभिनंदतु विश्वानंददायकमिदं वरचैत्यम् ।१७।श्रीः॥"
इति पिन्डवाडाश्रीमहाविरजिनप्रासादभित्तिगतप्राच्यो लेखः ॥
(अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोहे लेखांकः ३७४)

हारिवर्येण तथैव संघपतिकुंरपालपुत्रेण नलिनीगुल्मविमानानुकारि-जगज्जनचेतोहारि-'त्रैलोक्यदीपकनामप्रासादाद्यनेकनव्यजिनप्रासादविधायका--ऽजाहरीप्रमुखबहुस्थानजीर्णजिनभवनोद्धारणा--ऽऽचार्यप्रमुखपदवीप्रदापन-त्रिषमसमयसत्रागारप्रवर्तनादिनानाविधसत्कार्यप्रवणेन प्राग्वाटवंशमण्डनेन परमार्हतेन संघपतिना श्रीधरणाकेन* व्यवहारिवर्य-वदान्यजनमूर्धन्य-राजमान्य-रत्नाभिधस्वज्येष्ठबन्धुसहितेन मरुधरधरणीसीमन्तिनीललाटतिलकायमाने सन्कृत्यसंचितपुण्यप्रचयैर्भव्याशयंभूरिभिर्भव्यजनैः संकुलिते पिण्डवाडानामसुग्रामे पूरा जीर्णशीर्णतां गतस्य यस्य विश्वानन्ददायकस्य त्रिभुवनपतिश्रीवर्धमानस्वामिप्रासादस्य उद्धारः कारितः÷, यत्र च प्रासादे पञ्चषष्ट्यधिकचतुर्दशशतसंख्याके (१४६५) विक्रमाब्दे फाल्गुन-प्रतिपत्तिथौ शुभे मुहूर्तेऽर्हदाज्ञापरिपालनैस्तैर्जिनशासनप्रभावनाप्रवणैस्तपसंयममूर्तिभिर्गुरुवर्यैः कल्याणवृद्ध्यभ्युदयैककारणस्य चरमतीर्थपतेः प्रभोः श्रीमहावीरदेवस्य मनोहरमूर्तेर्महता महेन प्रतिष्ठा विहिता, तं तदा तदा स्वात्मकल्याणकामिभिस्तैस्तैर्भव्याङ्गिभिः कारिताभिरनेकाभिर्देवकुलिकाभिर्वेष्टितं कालप्रभावेन पुनरपि जीर्णशीर्णतामुपगतं विश्वानन्ददायकं जिनप्रासादं पिण्डवाडावास्तव्येनेदानीन्तनेन सङ्घेनानेन विद्वद्वर्याचार्यदेवश्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरविनेयरत्नोपाध्यायश्रीभुवनविजयानां^ सदुपदेशादनेकलक्षद्रव्यव्ययेन समुद्धार्य नवमिव रमणीयतमदेवभवनमिव निर्निमेषं निरीक्षणीयमिव वज्रिवज्रमिव सुदृढमभिनवसमवसरण-द्वारत्रिक-त्रिचत्वारिंशदुत्तुङ्गशृङ्गकलितदेवकुलिकादिविभूषितं कारयित्वा विविधकलाकलापकलितवरमण्डप-ध्वज-पताका-तोरणमाला-शोभाप्रतोलीप्रमुखविधापनम्, निरपायशुभमुहूर्तान्वेषणम्, दूरान्तिकग्रामनगरस्थचतुर्विधसङ्घानां निमन्त्रणहेतोः कंकुमपत्रिकादिप्रेषणम्, उपस्थितानां च तेषां सत्करणम्, यथायोग्योत्तारकप्रदानम्, घृतपूरा-ऽपूपादिस्वादुनानाविध-मिष्टान्नपूपिका-शाल्योदनादिप्रमुखभोज्यसामग्रीमुपस्कार्य तया विविधसुखवासद्रव्यैश्च चेतश्चमत्कारिण्या हृदयस्थ-

---

"१ . . अजाहरी पिंडरवाटक-सालेरादिबहुस्थाननवीनजैनविहार-जीर्णोद्धार-पदस्थापना विषमसमयसत्रागार-नानाप्रकारपरोपकार श्रीसंघसत्काराद्यगण्यपुण्यमहार्थक्रयाणकपूर्यमाणभवार्णवतारणक्षममनुष्यजन्मयानपात्रेणप्राग्वाटवंशावतंस सं० सांगणसुत सं० कुरपाल भा० कामलदे पुत्र परमार्हत सं० धरणाकेन ज्येष्टभ्रातृ स० रत्ना भा० रत्नादे पुत्र सं० लाषा-मजा-सोना-सालिग स्वभा० सं० धारलदे पुत्रजाज्ञा (जा)-जावडादिप्रवर्द्धमानसंतानयुतेन राणकपुरनगरे राणाश्रीकुंभकर्णनरेन्द्रेण स्वनाम्ना निवेशिते तदीयसुप्रसादादेशतस्त्रैलोक्यदीपकाभिधानः श्रीचतुर्मुखयुगादीश्वरविहारः कारितः, प्रतिष्ठितः श्रीबृहत्तपागच्छे श्रीजगच्चन्द्र [सू]रिश्रीदे]वेन्द्रसूरिसंताने श्रीमत् श्रीदेवसुन्दर] सूरि [पट्टप्रभा] कर परमगुरु सुविहितपुरंद [रगच्छा]धिराजश्रीसो [म] सुंदरसूरि [भिः] ॥ ॥ [कृत] मिदं च सूत्रधारदेपाकस्य। अयं च श्रीचतुर्मुखप्रासाद आचन्द्रार्क] नंद [ता] त ॥ शुभं भवतु ॥" इति ॥

(प्राचीनलेखसंग्रहे राणकपुरलेखाः, लेखाङ्कः ३०७)

* धनाशापोरवाड इति लोके प्रसिद्धनाम्ना।

÷ प्रासादस्यास्य मूलनिर्मापकास्तु प्रासादगततथाविधलक्षणप्रवृत्तलोकवचनात् श्रीसम्प्रतिनृपतय ज्ञायन्ते।

^ इदानीं त्वेते आचार्यविजयभुवनतिलकसूरीति ख्याताः।

भक्त्यावेगावेदिन्या पद्धत्या सङ्घाग्रणीभिः स्वहस्तेन साधर्मिकवात्सल्यादिलक्षणानां जेमनवाराणां प्रवर्तनम् , भावुकबालमुग्धजनप्रबोधनहेतुनामार्द्रकुमारप्रतिबोध–इलाचीकुमारकेवलज्ञान–मेघरथनृपकृतजीवरक्षण–त्रिशलादेवीस्वप्नदर्शन–श्रीवीरविभुकेवलज्ञान-धरणेन्द्रपद्मावतीकृतश्रीपार्श्वजिनभक्तिप्रमुखानां नानाविधप्रसङ्गानां चलाऽचलपुत्तलिका-चित्रादिना विरचनम् , समग्रजिनप्रतिमादीनां बहुमूल्याङ्गरचनाविस्तारणम् , तदग्रेऽनेकविधाऽशनद्रव्य-फलादिढौकनपूर्वकं बहुविधवाजिन्त्रशरवयुतप्रभुगीतगानादिना सह भावपूजादीनां निर्वर्तनम् , दीना-ऽनाथप्रमुखजनानामाहारादिप्रदानेन संतोषणम् , सर्वदिगमारिप्रवर्तनम् , अनेकविधवर्धापनादिना देवद्रव्यादीनां वृद्धिकरणमित्यादिलक्षणेन त्रयोदशाह्निकेन महता महेन वैराग्यवारिधिपूज्याचार्यदेवश्रीमद्विजययशोदेवसूरिवर-पंन्यासप्रवर-श्रीमानविजयगणीन्द्र-पंन्यासश्रीकान्तिविजयगणिवर-पंन्यासश्रीभद्रंकरविजयगणिवर-पंन्यासश्रीचिदानंदविजयगणिवर-पंन्यासश्रीमलयविजयगणिवर-पंन्यासश्रीहेमन्तविजयगणिवर-पंन्यासश्रीमुक्तिविजयगणिवर–पंन्यासश्रीत्रिलोचनविजयगणिवर---पंन्यासश्रीहिमांशुविजयगणिवर–पंन्यासश्रीभानुविजय--गणिवर–पंन्यासश्रीपद्मविजयगणिवरप्रमुखाऽनल्पगुणगरीष्ठस्थविरबालवृद्धशतातीतशिष्य-प्रशिष्यमुनिवृन्दपरिवृतैर्न्यायाम्भोनिधिश्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वरपट्टप्रभाकरनिस्पृहशिरोमणिसुविहिताग्रण्या--चार्यदेवश्रीमद्विजयकमलसूरीश्वरपट्टालङ्कार–वाचकवरश्रीमद्वीरविजयविनेयरत्न-सकलागमरहस्यवेदि-परमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरपट्टविभूषणैः वचनवारिवर्षणाधरीकृतहिमानीशैत्यैर्विश्वविख्यातनिष्कलङ्कचरणविभवैः सर्वजनसम्मतैः स्वदर्शनेन प्रायो दुष्टानामपि प्रीतिकारकैरहर्निशमनेकविबुधश्रमणश्राद्धसंसेवितपादपद्मैः कारुण्यनीराऽऽपूरितहृत्सरैः भव्यजनचकोरचेतश्चन्द्रैः कामकथाशितव्यथामथनैकसूरैः सुविशालगच्छाधिपतिभिः **श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरैः** गुरुवर्यैः श्रीवीरप्रभोः मूलबिम्बं षोडशाभ्यधिकसहस्रद्वयाङ्किते (२०१६) विक्रमाब्दे वैशाखमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठ्यां तिथौ शुभे मुहूर्ते प्रतिष्ठापितम् । प्रतिष्ठापितानि च तदानीमेवान्यानि श्रीगोडीपार्श्वनाथस्वामि-श्रीसम्भवनाथस्वामिप्रभृतीनां जिनपतीनां पुरातनानि तथा तैस्तैः श्राद्धवर्यैः कारितानि यथोक्तलक्षणे महामहे प्रवर्तमाने वैशाखशुक्लतृतीयाया रजन्यां प्रशस्ते मुहूर्ते तैरेव गच्छाधिपगुरुवर्यैः कृतप्राणप्रतिष्ठानि भव्यजननयनानंददायीनि श्रीशान्तिनाथस्वामिप्रमुखानां तीर्थपतीनां पञ्चपञ्चाशदभ्यधिकान्यभिनवानि बिम्बान्यपि तत्रैव देवकुलिकादिषु भवजलधिं तिस्तरितुं कामेन सङ्घेनानेन । आरब्धं च तेषामेव गुरुवर्याणामुपदेशाज्जीर्णप्रायस्य संनिहितवर्त्यजारीग्रामस्थद्विपञ्चाशज्जिनप्रासादस्योद्धारकार्यमविलम्बेन । कारितानि च सुबहुमुनिगणपरिकरितानां तेषामाचार्यदेवानामन्येषां मुनिपुङ्गवानां च वर्षावासावस्थानान्यपि कल्याणकामेन, ढौकितानि च तदानीं स्वगृहाङ्गणे निमन्त्र्य निमन्त्र्य विपुलवस्त्र-पात्रा-ऽशन-पानौ-षधादीनीव स्वकीयानि लब्धपत्यानि चरणासेवनसमुत्सुकीकर्तुं जिनवचनश्रवणप्रवणेन सङ्घेनानेनाचार्यदेवपादमूले, किं बहुना प्रव्राजितान्यपि निजलघुबालरत्नानि तद्गतैः कैश्चिद् श्राद्धसत्तमैः ।

इह च-

सप्तदशशतसहस्रद्वयमिते (२०१७) विक्रमाब्दे सङ्घाग्रहातिरेकाद् वर्षावासं स्थितवति बहु-शिष्यप्रशिष्यादिसमन्विते गच्छाधिपतौ भगवति आचार्यदेवे श्रीमति प्रेमसूरीश्वरप्रभौ, ज्ञात्वा दृष्ट्वा चामीषां बन्धविधान-तट्टीकाप्रभृतीनां ग्रन्थरत्नानामभिनवाऽऽलेखनादौ प्रवणं मुनिवर्गमालोच्य च तेषां ग्रन्थरत्नानां संरक्षण-प्रसारणताऽऽवश्यकतां पूर्वसञ्चिताज्ज्ञानद्रव्यादस्य सटीकमूलप्रकृति-स्थितिबन्धग्रन्थस्य मुद्रणाद्यर्थं विहिता परिपूर्णद्रव्यसहायता निजाऽज्ञानकल्मषप्रक्षालनेप्सुना सङ्घसङ्घारकेणेति ।

आदौ मध्येऽन्त्ये वा कुत्राप्यस्यां समस्तटीकायाम् ।
यज्जिनवचनातीतं किमपि स्याद्भवतु तन्मिथ्या ॥४५॥ (पथ्या०)

याद्भूकजकर्णिकात्वममरप्राप्त्या समाचर्यते,
यावद्भूकमलाकटौ जलधिना काञ्चीत्वमारच्यते ।
यावच्चेन्दुदिवस्करौ विलसतस्तावद्धि नन्दत्वियं,
श्रीमूलस्थितिबन्धवृत्तिरनघा प्रेमप्रभासंज्ञका ॥४६॥ (शार्दूल०)

मूलस्थितिबन्धविधेर्विधाय टीकामिमां मयाऽऽप्तं यत् ।
कुशलं तेनोच्छिन्नस्थितिबन्धं भवतु भव्यजगत् ॥ ४७ ॥ (पथ्या०)

सयन्त्रवृत्तिके ह्यस्मिन् , ग्रन्थे सहस्रविंशतिः । अनुष्टुब्वृत्तमानाद्धि, ग्रन्थाग्रमनुमीयते ॥

। तदेवं श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिस्थितिबन्धटीकायां प्रशस्तिः समाप्ता ।

॥ तदेवं श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रेमप्रभाटीका समाप्ता ॥

तत्समाप्तौ च

समाप्तः

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावकसिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पवित्रनिश्रायां तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मिते मुनिश्री-जयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-वीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थके मुनिश्रीवीरशेखर-विजयविरचितमूलगाथाके प्रेमप्रभाटीकाविभूषिते

बन्धविधाने

मुनिश्रीजगच्चन्द्रविजयविरचितप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

मूलप्रकृति-

स्थितिबन्धः

★ 卐 परिशिष्टानि 卐 ★

❁ प्रथमं परिशिष्टम् ❁

बन्धविधान मूलप्रकृति-स्थितिबन्धप्रेमप्रभाटीकागत-ग्रन्थान्तरावतरणानां स्थानानि ।

॥ इति प्रथमं परिशिष्टम् ॥

❀ द्वितीयं परिशिष्टम् ❀

'उवओगेऽणगारे' इत्यादि (८५८) गाथोक्तमाकारा-ऽनाकारोपयोगपदार्थविषयकशङ्कासमाधानप्रतिपादकः श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिपादप्रणीतकर्मप्रकृतिचूर्णिटीप्पनस्य 'अणगारप्पाओगे' त्यादि-कर्मप्रकृतिबन्धनकरणगाथावलम्ब्येकदेशः ।

"अथ 'अणगारप्प(प्पा)ओगे' त्यादि प्रकृतिव्यतिरिक्ता(←?) गाथा किञ्चिद् भाव्यते,—अत्र कश्चिदाह—अनाकारोपयोगे प्रायोग्याणि स्थितिबन्धस्थानानि शुभास्वशुभासु च प्रकृतिसु द्विस्थानिकरसगतान्येवाऽनया गाथया निरूपितानि सन्ति, अथ च शुभप्रकृतिद्विस्थानिकरसबन्धकाले-ऽशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानि स्थितिस्थानानि बध्यन्ते, अशुभप्रकृतिद्विस्थानिकरसबन्धकाले च शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानीति । साकारानाकारोपयोगयोश्च मध्ये एकस्मिन् काले एक एवोपयोगो जीवस्य, तत्कथमनाकार[ोप]योगेन द्विस्थानिकरसविशिष्टेषु स्थितिस्थानेषु बध्यमानेषु विपक्षप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानां बध्यमानत्वेन तदैव साकारोपयोगसम्भव इति । उच्यते—इह द्विधा व्यवसाया, एके तावत् कषायपरिणतिविशेषरूपाः, ये ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽष्टविधतया बध्यमानानामुत्तरप्रकृत्यपेक्षया तु पञ्चविध–नवविधादितया बन्धमागच्छन्तीनां स्थितिभेद-रसभेदविधा(न)यिनः पृथक् पृथग्वर्तन्ते । अन्ये तु सामान्या(न्य)रूपस्य विशेषरूपस्य चार्थस्य ग्राहकत्वेन प्रवर्तमाना जीवचैतन्यविशेषाः प्रतिपाद्यन्ते इति । कषायपरिणतिविशेषा एवाऽध्यवसाया गृह्यन्ते, न तु चैतन्या(न्य)विशिष्टिवृत्तिरूपाः । साकारानाकारभावश्चानयो रसबन्धविशेषात्, तथाहि—ये आकारेण विशेषेण विशिष्टरसबन्धकत्वरूपेण सह वर्तन्ते ते साकाराः कषायपरिणामः (माः) । सामान्यस्यात्यन्तमनुत्कटरूपस्य रसस्य ये बन्धकत्वेन वर्तन्ते तेऽनाकाराः । उपयोगश्चामीषां स्वकार्यकरणलक्षणो ग्राह्यः । साकाराणामध्यवसा[या]नामुपयोगस्योक्तलक्षणस्य बन्धप्रायोग्याणि यानि स्थितिबन्धस्थानानि तानि साकारोपयोगबन्धप्रायोग्याणीत्युच्यन्ते, तद्विपरीतानि चानाकारोपयोगबंधप्रायोग्याणीति । न चैवंलक्षणस्य साकारोपयोगस्य अनाकारोपयोगस्य च युगपत् प्रवृत्तावपि कश्चिद्विरोध इति ।"

॥ इति कर्मप्रकृतिचूर्णिविषमटीप्पनैकदेशः ॥

॥ इति द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

❀ तृतीयं परिशिष्टम् ❀

परिमाणादितत्त्वद्वारेषु तद्वृत्त्यादौ निरयगत्योघादिसप्तत्युत्तरशतमार्गणास्वविशेषेणाभिहितस्य संख्येयाऽसंख्येयादिलक्षणस्य बन्धकपरिमाणस्य विशेषेणाऽवबोधार्थं

सावचूरिकं द्रव्यप्रमाणप्रकरणम्

नमिउं अरिहंताई सगुरुपसाया सुयाणुसारेणं । गइआइट्ठाणेसुं भणिमो जीवाण परिमाणं ॥ १ ॥
णिरये य पढमणिरये भवणवइसुरम्मि आइमदुकप्पे । अंगुलअसंखभागप्पएसमित्ताउ सेढीओ ॥ २ ॥
सेसणिरय-तइआइछकप्प-नरेसुं अपज्जमणुसे य । सेढिअसंखंसो सुर-वंतर-जोइससुरेसुं य ॥ ३ ॥
सव्वेसु पणिंदितिरिय-विगल-पणिंदि-तसकाय-मण-वयणेसु । बायरसमत्त-भू-दग-पत्तेअवणेसु विकियदुजोगेसुं
थी-पुरिस-विभंग-णयण-सुहलेसतिगेसु तह य सण्णिम्मि । पयरअसंखंसट्ठिअसेढिगयपएसतुल्लाऽत्थि ॥५॥
संखेज्जा मणुसी-नरपज्जा-ऽवेअ-मणणाण-सव्वत्थे । संयम-छेअ-समाइअ-सुहुमा-ऽऽहारदुग-परिहारे ॥ ६ ॥
सेसाणताइसुर-मइ-सुय-ओहिदुग-देसविरय-सम्मेसुं उ । पल्लासंखंसो उवसम-वेअग-खइअ-मीस-सासाणेसुं ॥७॥
बायरसमत्तअविजअ-भू-दग-गणि-वाउकायभेएसुं । पत्तेअवणम्मि य तदपज्जे लोगा असंखिज्जा ॥ ८ ॥
बायरपज्जागिम्मि उ देसूणघणावलीअ समयमिआ । बायरपज्जाणीले संखंसो हुन्ति लोगस्स ॥ ९ ॥
सेसाट्ठतीसठाणऽणंता जीवा हवन्ति इइ रइय । अप्पाववहारणट्ठा रज्जे सिरिपेमसूरीणं ॥ १० ॥
ताण पसीसाण पउमविजयगणिंदाण सीसलेसेण । दव्वपमाणपगरणं नन्दउ जा वीरजिणतित्थं ॥ ११ ॥

(अवचूरि)

चरमं तीर्थपतिं नत्वा, गच्छेशं स्वगुरूंस्तथा ।
ग्रन्थे द्रव्यप्रमाणाख्ये व्याख्या किञ्चिद्वितन्यते ॥१॥

इह लघु अवधारणाय यथार्थाभिधानस्य द्रव्यप्रमाणप्रकरणस्याऽऽरिप्सया प्रथमं तावन् मङ्गलादिप्रतिपादिका गाथाभिधीयते—'नमिउं' इत्यादि,

इह पूर्वार्धेन मङ्गल-सम्बन्धौ साक्षादुक्तौ, उत्तरार्धेन त्वभिधेयम्, प्रयोजनं तु सामर्थ्यगम्यम् । तत्र अरीणां-रागद्वेषाद्यान्तरशत्रूणां हननात्, यद्वा चतुस्त्रिंशतमतिशयान् देवेन्द्रादिकृतां पूजां वाऽर्हन्तीत्यर्हन्तस्ते आदौ येषामर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधूनां तेऽर्हदादयस्तानर्हदादीन् 'नत्वा' कायवाङ्मनोयोगैः प्रणम्य 'स्वगुरूणां' भवविरागजनक-सम्यग्दर्शनज्ञानादिप्रापकपोषकप्रव्रज्याप्रदायकादीनां गच्छाधिपति श्रीमत्प्रेमसूरीश्वरतातपादप्रभृतीनां प्रसादात् 'श्रुतानुसारेण' आगमार्थमनतिक्रम्य 'गइआइट्ठाणेसुं' ति गत्यादीनि गतीन्द्रियकायादिलक्षणानि निरयगत्योघप्रथमद्वितीयपृथिव्यादिनिरयभेदादितदुत्तरभेदलक्षणानि च यानि सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानानि तानि मध्यमपदलोपाद्गत्यादिस्थानानि तेषु 'जीवाण' त्ति अस्मदादीनां कर्मनिगडनिबद्धानां प्राणिनाम्, अनेन सिद्धानां व्यवच्छेदो बोद्धव्यः । तेषां 'परिमाणं' संख्येयत्वा-ऽसंख्येयत्वादिलक्षणं संख्यामानं 'भणामि' त्ति 'सत्सामीप्ये' इत्याद्यनुशासनादनुपद भणिष्यामीत्याद्यगाथार्थः ॥ १ ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह—'णिरये'त्यादि, निरयगत्योघे, प्रथमपृथिवीनिरयभेदे, भवनपतिसुरभेदे, सौधर्मे-शानकल्पद्वयलक्षणे आद्यकल्पद्वये चेत्येवं पञ्चमार्गणास्थानेषु प्रत्येकम् 'अंगुले'त्यादि, अङ्गुलस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्संख्याकासु सप्तरज्ज्वायतासु सूचिश्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्तो जीवाः सन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

'सेसणिरये' त्यादि, शेषेषु द्वितीयादिपृथिवीभेदभिन्नेषु षट्सु निरयेषु, तृतीयादिषु सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-लान्तक-शुक्र-सहस्राराख्येषु षट्सु कल्पेषु, 'नर' त्ति मनुष्यगत्योघे, अपर्याप्तमनुष्ये चेत्येवं चतुर्दशमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'सेढिअसंखंसो'

त्ति सप्तरज्ज्वायताश्च एकप्रादेशिक्याः श्रेणेः 'असंख्यांशः'-असंख्यभागगताकाशप्रदेशैः परिमिता जीवाः सन्तीत्यर्थः ।

'सुरवंतरे'त्यादि, देवगत्योघे,व्यन्तरसुर-ज्योतिष्कसुरयोः, सर्वेष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-तिरश्चीभेदभिन्नेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु,सर्वेष्वोघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु 'विकल' त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियास्तेषामेकैकस्य त्रिषु त्रिषु भेदेषु, तथैव सर्वेषु त्रिसंख्याकेषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु, सर्वेषु त्रिसंख्याकेषु त्रसकायभेदेषु, सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, तथैव पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, तथा 'बायरसमत्ते'त्यादि, तत्र समाप्तशब्दः पर्याप्तवाची, ततो बादरपर्याप्तपृथिवीकाया-ऽप्काययोः, बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये,वैक्रियतन्मिश्रयोगलक्षणयोर्द्वयोर्योगयोः, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-विभङ्गज्ञानेषु, 'णयण' त्ति चक्षुर्दर्शने, तेज-पद्म-शुक्ललेश्यालक्षणे शुभलेश्यात्रिके तथा संज्ञिनीत्येवं पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'पयरे'त्यादि, घनीकृतलोकस्य यत्प्रतरं तस्यासंख्यांशस्थितासु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावद्भिर्नभःप्रदेशैस्तुल्या जीवाः सन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

'संखेज्जा' इत्यादि, मानुषी, पर्याप्तमनुष्यः, अपगतवेदः, मनःपर्यवज्ञानम् , सर्वार्थसिद्धदेवः, संयमौघः, सामायिकसंयमः, छेदोपस्थापनसंयमः, परिहारविशुद्धिकसंयमः,सूक्ष्मसम्परायसंयमः,आहारक-तन्मिश्रयोगलक्षणमाहारकद्विकं चेत्येवं द्वादशमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं संख्येया जीवाः सन्ति ॥६॥

'सेसाणंताई'त्यादि, भणितशेषेष्वानतकल्पादिषु चतुरनुत्तरविमानान्तेषु सप्तदशसु सुरभेदेषु, मतिज्ञान—श्रुतज्ञाना—ऽवधिद्विक—देशविरत-सम्यक्त्वौघेषु, तथा 'पल्लासंखंसो उवसमे'त्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वे क्षायिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-सासादनदृष्टिष्वित्येवमष्टाविंशतिमार्गणास्थानेषु पल्योपमस्याऽसंख्यभागो जीवा ज्ञेया. । इह हि 'सम्मेसु उ' इत्यत्र तुकारो विशेषद्योतनार्थः, अर्थात्'पल्लाऽसंखंसो' इति सामान्येनोक्तेऽपि आनतकल्पादिसप्तदशदेवगतिमार्गणास्थानेषु क्षायिकसम्यक्त्वे च 'पल्ल' इत्यनेनाद्धापल्योपमो ग्राह्यः, शेषमतिज्ञानादिदशमार्गणास्थानेषु तु तेन क्षेत्रपल्योपमो ग्राह्य इति ॥ ७ ॥

'बायरसमत्ते'त्यादि, तत्र समत्तशब्दः प्राग्वत्, ततश्च बादरपर्याप्तभेदवर्जितेषु ओघ-बादरौघ-तदपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु 'भूदगगणिवाउकायभेएसु'' त्ति षट्सु पृथ्विकायभेदेषु, षट्सु अप्कायभेदेषु, षट्सु अग्निकायभेदेषु, षट्सु वायुकायभेदेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकायौघे तदपर्याप्तभेदे चेत्येवं षड्त्रिंशतिमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'लोगा असंखिज्जा' त्ति असंख्येयेषु लोकप्रमाणेषु क्षेत्रखण्डेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्तो जीवाः सन्तीत्यर्थ. ॥ ८ ॥

'बायरपज्जाग्गिम्मि' इत्यादि, बादरपर्याप्ताग्निकायमार्गणास्थाने पुनः 'वेसूणे'त्यादि, आवलिकायाः समयेषु घनीकृतेषु यावन्तः समया भवेयुस्ततः स्तोकमात्रेणैकदेशेन न्यूना जीवा भवन्तीत्यर्थः ।

'बायरपज्जाणीले' त्ति बादरपर्याप्ते'ऽनीले' वायुकाये लोकस्य संख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशाः सन्ति तावन्तो जीवा. सन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

'सेसाऽट्ठ'इत्यादि, उपर्युक्तशेषेषु तिर्यग्गत्योघादिष्वष्टत्रिंशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'णंता'त्ति अनंता जीवाः सन्ति । अष्टात्रिंशच्छेषमार्गणास्थानानि त्विमानि—तिर्यग्गत्योघः, ओघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः सप्त एकेन्द्रियभेदाः, तथैव सप्त साधारणवनस्पतिकायभेदाः, वनस्पतिकायौघः, काययोगौघः, औदारिक-तन्मिश्र-कार्मणकाययोगाः, नपुंसकवेदः, क्रोधादिकषायचतुष्कम् , मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने,असंयमः, अचक्षुर्दर्शनम्, कृष्णादिकाशुभलेश्याः, भव्या-ऽभव्यौ, मिथ्यात्वम् , असंज्ञी, आहारका-ऽनाहारकौ चेति ।

अथोपसंहरन्नाह—'इय रइय'मित्यादि, अस्य चान्वय उत्तरगाथोत्तरार्धे 'बन्धपमाणे'त्यादिना, तथा च 'इति' सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानेषु जीवपरिमाणकथनद्वारेण'रज्जे सिरिपेमसूरीण'ति चतु-

विधसङ्घकौशल्याधारसुविहितशिरोमणिकर्मशास्त्र-पारङ्गसिद्धान्तमहोदधीनां श्रीमतां प्रेमसूरीणां 'राज्ये'-साम्राज्ये प्रवर्तमाने 'तारा' त्ति तेषां पूज्य-पादानां 'पसीसारा' त्ति प्रशिष्याणां-शिष्यशिष्याणाम् ,तत्र प्रेमसूरीश्वरपूज्यपादानां स्वशिष्याः सुविख्यातनामधेयाः स्वात्मसाधनाऽविकलभव्यजन्तुहित-करानेकविधकुशलप्रवृत्तिपरायणाः पं०श्रीमद्भानुविजय-गणीन्द्राः,तच्छिष्यास्तु स्वभावसरलाः प्रशान्तप्रकृतयः सौम्यवदनाः स्वर्गताः श्रीमन्तः पं०पद्मविजयगणीन्द्राः, एतदेवाह—'पउमविजये' त्यादि, तेषां पद्मविजय-गणीन्द्राणां 'सीसलेसेण' त्ति शिष्यलेशेन, समयोक्तशिष्यगुणानां यथावदभाजनतया नामशिष्य-प्रायेण जगच्चन्द्रविजयेन मुनिना 'अप्पावहारणट्ठा' त्ति आत्मनोऽवधारणार्थं रचितमिदं द्रव्यप्रमाण-प्रकरणं यावच्छ्रीवीरस्वामिनस्तीर्थं तावन्नन्दतु,भव्य-जन-नयन--वदन-मानसादीन्यानन्दयन्त्याधाराण्यवाप्येति शेषः ॥ १०–११ ॥ इति ॥ समाप्ता स्वोपज्ञा द्रव्यप्रमाणप्रकरणावचूरिः । शुभं भूयात्सर्वेषाम् ॥

॥ इति तृतीयं परिशिष्टम् ॥

॥ समाप्तानि परिशिष्टानि ॥



अशुद्धिप्रमार्जनम् ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२	६	ससर्जु०	प्रणिन्यु०
४	२३	महत्काय०	महाकाय०
५	२०.	प्रार्श्वप्रभो०	पार्श्वप्रभो०
,,	२७	०मभिधित्सया	०स्याभिधित्सया
६	८.	०सुधर्मा०	सुधर्म०
७	१४	०तोऽअबन्धा०	०तोऽबन्धा०
९	९	मध्मम०	मध्यम०
,,	१०	यो समय०	यः समय०
,,	२८	निषिक्त्य०	निषिच्य०
१०	१९	विशुद्धि०	विसुद्धि०
११	६	गुणाणी'ति	गुणानी'ति
,,	२३	पल्योपमसं०	पल्योपमाऽसं०
१२	८	गन्तव्यः कुतः !	गन्तव्यः । कुतः ?
,,	११	अवह्नाकण्ड०	अबाहाकण्ड०
१३	१	तत्राङसत्०	तत्राऽसत्०
,,	८	अपर्तान्त०	अपर्याप्त०
,,	११	सः/ प्रमाण;	स/ प्रमाणः
,,	१९	स्थानाषेक्षया	स्थानापेक्षया
,,	२९	०थिति०	०स्थिति०
१४	१४	षड्शीत्य०	षडशीत्य०
१५	१९	सक्लेशा	संक्लेशा
,,	२८	बन्धे	बन्वे
१७	३	सु	तेसु
,,	४	तन्त्रातन्रे	तन्त्रान्तरे
,,	१०	०वृध्यंशो	०वृद्धयंशो
,,	२६	षष्ठे	षष्ठे
१८	२२	विवक्षितेनैकेना०	विवक्षितैका०
,,	३१	आलेखिता	आलिखिता
२०	२	पञ्चाशत्०	चतुःपञ्चाशत्०
,,	५	पल्पल्योपमा०	पल्योपमा०
,,	२५	षोडषभिः	षोडशभिः
,,	२७	०प्रमेदान०	०प्रभेदान०
२१	५	०कमसो	०कमा
,,	२५	षष्ट्यन्तानां	षष्ठ्यन्तानां
२२	२	अमनाऽसंज्ञी	अमना-असंज्ञी
,,	८	०श्चतुरिन्द्रियस्य	चतुरिन्द्रियस्य
,,	२२	०गुणो अतो"	०गुणोऽतो"
२३	११	पंचिंदियस्स	पचिंदियस्स
२४	८	चोत्तरत्तर०	चोत्तरोत्तर०
,,	३०	महतीस्थिति०	महती स्थिति०
२८	१९	पिज्जत्ता	पज्जत्ता
,,	२०	याऽऽबाधा	याऽबाधा
,,	२१/२३	निषिक्त्य०	निषिच्य०
,,	२७	त्ति	ति
२९	१०	तुरियस्य	तुरियस्स
३०	२१	सागरोपशतस्य	सागरोपमशतस्य
३१	२	ज्ञानाव्रणादि०	ज्ञानावरणादि०
,,	१०	षोडषाहोरात्र०	षोडशाहोरात्र०
,,	१९	पंचंदियाणं	पचिंदियाणं
,,	२७	वितिय०	बितिय०
,,	३२	अय	अयं
३२	८	चतारि	चत्तारि
,,	१४	लितोवमस्स	पलितोवमस्स
,,	२२	णिसत्तं	णिसित्तं
३३	१	अनन्तरोपनिधा	परम्परोपनिधा
३४	९	पल्योपम०	पल्योपमा०
,,	१७/२७	षोडष०	षोडश०
,,	२९	कोटी काटी०	कोटीकोटी०
,,	२२	त्वसंख्येय०	त्वसंख्येय०
३५	१	अनन्तरोप०	परम्परोप०
३६	९	प्रमथ०	प्रथम०
,,	,,	विशेषाधिक०	संख्येयगुण०
,,	१५	ऽनत्न०	ऽनन्त०
३७	१	०ल्पहु०	०ल्पबहु०
,,	८	संख्येयगुण०	संख्येयभाग०
,,	११	स्थानेभ्यस्तो०	स्थानेभ्यस्तो०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
३८	२८	ऽऽयुषी०	ऽऽयुषो०
,,	३१	तदन्तस्थं	तदन्तःस्थं
३९	२६	पदेऽपि	पदे अपि
,,	,,	संख्येयगुण	संख्येयगुणे
४०	११	अबाहाकड	अबाहाकंडं
,,	१२	स्नानान्यानय०	स्थानानामानय०
,,	१३	०कण्डकमानय०	कण्डकस्यानय०
,,	१४	०स्तुल्यत्वे	०स्तुल्यप्रायत्वे
,,	१७	ठिइबघो	ठिइबंधो
४१	१०	असंख्येयगुणनि	संख्येयगुणानि
४२	२३	द्वेऽपि	द्वे अपि
,,	२७	वैपरित्येना०	वैपरीत्येना०
४४	२	असंखणागुड	असंखगुणाइं
४५	१३	पल्योपमस०	पल्योपमासं०
,,	१४	पल्योपमासं०	पल्योपमसं०
४६	९	दशवस्तुनां	दशवस्तूनां
४७	७	वर्गमूललक्षण०	वर्गमूलासंख्य-भागलक्षण०
	१६	अबाहा।	जहण्णिया अबाहा।
४७	१७	जहन्नगो	जहण्णगो
४८	३	पुव्वुत्तं।	पुव्वुत्तं। तओ एग-गुणहाणिट्ठाणंतरं असंखिज्जगुणं,कारणं पुव्वुत्तं।
,,	२०	स्तत्वम्	स्तत्त्वम्
,,	२२	ऽसंक्षेप्यद्धा०	ऽसंक्षेप्याद्धा०
५०	१५	०काटाकोटी-	०कोटाकोटी-
,,	२५	०प्रकृतेरुत्कृष्ट-	प्रकृत्युत्कृष्ट-
५१	२	०चतुर्णां	चतुर्णां
,,	१५	०बाधाविशेषा०	०बाधा विशेषा०
,,	२४	स्वमेव	स्वयमेव०
,,	३१	०चतुर्णां	०चतुर्णां
५२	१०	०लक्षणा	०सागरोपमलक्षणा०
५३	६	०कण्डकानि	०कण्डकानि च
,,	१०	ज्ञानावराणा०	ज्ञानावरणा०
,,	३०	रुत्कृष्ट बाधा	रुत्कृष्टाबाधा
५४	६	०मसंसयेय०	मसंख्येय०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
५४	२४	०पर्याप्तसंज्ञि०	०पर्याप्ताऽसंज्ञि०
५५	९	(१२)	(१३)
,,	२६	जघन्यबाधा	जघन्याबाधा
५६	२५	दुवीन्द्रिया०	द्वीन्द्रिया०
६५	३	०विर्चिकीर्षु रांह-	०विश्चिकीर्षु राह-
,,	७	॥ ३ ॥	॥ ३३ ॥
,,	१४	बनधक०	बन्धक०
,,	१५	०रोसु ओ०	०रो सुओ०
६६	९	तुकारो	तुकारः
६७	१३	०ससुहेन	०समूहेन
६८	३०	०भावदिति।	०भावादिति।
६९	१०	मुंहूर्तान्तः-	मुहूर्तान्तः-
,,	१९	॥ ३६ ॥	॥३६॥ (गीतिः)
,,	२८	०युश्चरमे	०युषश्चरमे
७०	८	नैर्रायिकानां	नैरयिकाणां
,,	२२	सत्वत्र	स त्वत्र
,,	२३	मुहुत्ततो	मुहुत्तंतो
७१	५	०बाधा प्रक्षे०	०बाधां प्रक्षि०
,,	८	भेदन्नि	भेदभिन्नं
,,	२०	उक्तं च	उक्ता
७२	८	०क्षयो	०क्षयो(पशमो)
,,	१३	प्रागवत्	प्राग्वत्
,,	१९	मानयनाय	स्थानयनाय
७३	२०	द्वादशषु	द्वादशसु
,,	२४	चर्तुषु	चतुर्षु
,,	२७	गृहितत्वाद्	गृहीतत्वाद्
७५	४	जेट्ठ०	जेट्ठ०
,,	५	स. विभक्तः	स विभक्तः
,,	५	कः भवे०	को भवे०
,,	७	०केन्द्रियोघ	०केन्द्रियौघ-
,,	१७	ओघ-	ओघ-
,,	३०	ह्रते	हृते
७६	२	बन्धप्राणं	बन्धप्रमाणं
,,	५	प्राप्तास्तस्मिन्	प्राप्तस्तस्मिन्
,,	१७	मानयनाय	यानयनाय
,,	१९/२३	त्रि०	त्रीणि

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
७६	१६	०केन्द्रियोघा०	०केन्द्रियौघा०
७७	६	,,	,,
,,	२५	ऽऽनितः	ऽऽनीतः
७९	१३	संदोह०	संदेह०
,,	१७	०मार्गणस्वपि	०मार्गणास्वपि
८०	२१	देवनिरय०	देवनारक०
,,	२४	०केन्द्रियोघा०	केन्द्रियौघा०
८१	७	०रान्तद्वारे	०रान्तरद्वारे
,,	१३	०युष्कस्तस्या०	युष्कं तस्या०
८२	१६	भवन्तीति	भवतीति
८३	१८	सङ्कच्छेत्	सङ्क्रच्छेत
,,	१९	तस्येवायमपि	तदिवेदमपि
,	२०	मतान्तरो	मतान्तरं
,,	२५	०प्रायोग्यत्वेन	०प्रायोग्यत्वेन
,,	,,	देवनरकप्रायोग्य०	देवनरप्रायोग्य०
८४	१४	०च्यच्युत्कल्पे	०च्यच्युतकल्पे
,,	२५	न्मार्गणाषु	न्मार्गणासु
८५	१८	हीनकर्म०	हीनजघन्यकर्म०
८६	२४	यद्यसंज्ञिनां गति०	यद्यसंज्ञिनामागति०
८७	२९	कर्मग्रन्थाप्रायेणै०	कर्मग्रन्थाभिप्रायेणै०
८८	२	सासादनभाव	सासादनभावः
९२	११	मुहूर्त्त०	मुहुत्त०
,,	१७	मु हूर्त०	मुहूर्त०
,,	२९	दिटठो	दिट्ठो
९५	१७	गत्यान्तरे	गत्यन्तरे
,,	२०	"लंतम्मि दपुव्विस्स"	"उववाओ लंतगम्मि उ चउद्दसपुव्विस्सउ जहन्नो" ॥१६९॥
९६	१०	पुहुत्तं" त्ति	पुहुत्तं" ति
,,	१६	प्रथमत्रयाणां	प्रथमानां त्रयाणां
,,	२१	पथक्त्व०	पृथक्त्व०
,,	२७	प्रकृततिसृषु	प्रकृतासु तिसृषु
९७	३	संज्ञि	सञ्ज्ञि
१०४	३	तावान् दशवर्षसहस्राणि	तावान्
१०५	१४	किं विशिष्ट	किंविशिष्ट
१०८	२०	हीनाहीनतरा०	हीना हीनतरा०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
१०८	२५	तयणुव०	तयणुरुव०
१०९	२२/३३	०प्रमत्ता०	०प्रमत्ता०
११०	२५	षोडष-	षोडश-
१११	१५	०पञ्चेन्द्रिति०	०पञ्चेन्द्रियति०
,,	१८	उत्कृष्टः संक्लिष्टः	उत्कृष्टसंक्लिष्ट
,,	२८	पणिदि०	पंणिदि०
११५	१२	०मिथ्याष्टि०	०मिथ्यादृष्टि०
,,	२२	०श्रुतसत्वे	०श्रुतसत्त्वे
११८	६	विमङ्ग०	विभङ्ग०
,,	१२	०मेवोत्तोरत्रापि	०मेवोत्तरत्रापि
१२२	९	सम्यक्तौघ-	सम्यक्त्वौघ-
१२४	२३	आहारकऽऽहार०	आहारका-ऽऽहार०
,,	२९	त्रिस्रो	तिस्रो
१२६	५	जघन्याः	जघन्यायाः
१२८	१७	०श्च्युत्पासंज्ञि०	०श्च्युत्वा संज्ञि०
१३०	२३	इत्यादि० गाथा-	इत्यादिगाथा-
१३१	१७	०भेदष्वपि	भेदेष्वपि
१३२	५	अपमतो	अप्रमत्तो
१३३	७	०नन्तर भावि-	०नन्तरभावि-
,,	२२	०मुपश्रेणि-	०मुपशमश्रेणि-
१३४	९	सुगम इति	सुगममिति
,,	१९	तथा संख्ये०	तथाऽसंख्ये०
,,	२०	देवायुषः	देवायुषः
१३५	७	अष्टाष्वपि	अष्टस्वपि
१४४	२३-२६	नचा—पर्याप्त··· ··· ··· त्यादिनि॥१३७॥	॥१३७।
१४४	२७	०ममहिता	०मभिहिता
१४६	२०	स्थितिन्धे	स्थितिबन्धे
१४७	२९	०चक्षुदर्शन०	०चक्षुर्दर्शन०
१५०	५	०तयोस्पिसु०	०तयोस्पित्सु०
,,	२१	०णामाणि"	०माणाणि"
१५१	१७	०सापेक्ष०	०सव्यपेक्ष०
,,	२७	०श्रित प्रकृति०	०श्रितप्रकृति०
१५५	१२	दिस पढमे	दिसं पढमे
१५६	७	०द्विविधोऽ-	०द्विविधोऽ-
,,	१८	०निंदेशः	०निर्देशः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५८	११	०न्तानापि	०न्तानामपि
,,	१३	०ग्योत्क्रुटस्थिति०	०ग्योत्कृष्टस्थिति०
,,	१६	०याणा भव०	०याणां च भव०
,,	१८	०त्पिसूनां	०त्पित्सूनां
१६०	१२	०मुत्पत्वाऽपि	०मुत्पत्त्याऽपि
,,	२१	देससंयम०	देशसंयम०
१६१	३	उत्पत्याऽपि	उत्पत्त्याऽपि
१६२	१०	तूक्तदीशा	तूक्तदिशा
,,	१३	निरगत्योघ०	निरयगत्योघ०
,,		०पहीय०	०पहिय०
१६६	२५	०मुहूर्त्तं,	०मुहुर्त्तं,
,,	२८	०व्याजिहिषु०	०व्याजिहीर्षु०
१६८	३	पणवय–	पणमण–वय–
१६९	२	कायस्थिर०	कायस्थितिर०
,,	५	०यादधिका,	०यादधिका न लभ्यते तदीयोत्कृष्टकायस्थितिः,
१६९	६	कायकोग०	काययोग०
१७१	१५ १६	हीय०	हिय०
१७२	१६	"सेखेज्ज"	"संखेज्जे"
,,	२४	ऽचक्क्वूण	चक्खू ण
१७३	२०	०परार्वर्तो०	०परावर्तो०
१७४	२१	केवलि	केवलिरं
१७६	३	इमा तु	इयं तु
,,	४	०र्द्वयोर्विधयो०	द्विविधयो०
,,	३०	द्वेऽष्टादशेनि	द्वे अष्टादशेति
,,	३१	ऽधिकांशस्य	ऽधिकांशस्या-
१७८	१०	काऊसु	काऊणं
१७९	१०	०लक्षणास्ता	०लक्षणा ता
,,	२९	०ग्येकोनपञ्चाश०	०द्विपञ्चाश०
१८१	२५	जलचयः	जलचय
,,	३०	तंत्तीसा	तेत्तीसा
१८४	१७	कायः	कायाः
,,	२८	०स्त्रिवधो	०स्त्रिविधो
१८५	११	भेदाद्विधा	भेदाद् द्विधा
,,	,,	सम्भवति, ?	सम्भवति,
१८६	१८	चतुषु	चतुर्षु
,,	१९	षोडष०	षोडश०
१८७	६	०संयमार्गणायां	०संयममार्गणायां
१८८	१७/२३	जघन्याः	जघन्यायाः
१९२	४	ऽवधि०	ऽबाध०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	१५	ऽन्तमुहूर्तं	ऽन्तर्मुहूर्तं
,,	१८	०अयजंघन्य०	अयजघन्य०
१९३	२	०मर्गणा०	०मार्गणा०
१९४	१५	देवगत्योघः,	देवगत्योघः,
१९५	११	तिर्यगोघ०	तिर्यगोघ०
२००	१९	०कालयुत्कृष्ट०	०कालस्योत्कृष्ट०
२०१	२६	प्रवर्तयितुं	प्रवर्तितुं
२०२	१७	तुत्कृष्ट०	तूत्कृष्ट०
,,	३१	संगच्छेन,	संगच्छेत,
२०४	२६	संगृहितुं	संग्रहीतुं
२०५	९	०स्थितेबन्धे	०स्थितिबन्धे
,,	१९	जागेसुं	जोगेसुं
,,	२९	०कालिनः	०कालिकः
२०७	२५	०रुपासु	०रूपासु
२०८	९	०मनुष्यमेदः	०मनुष्यभेदः
,,	१६	देशनोना	देशोनोना
,,	२१	०तथाऽप्रारम्भ०	०तथा प्रारम्भ०
,,	२२	०वदन्तर्मुहूर्तं च	०वानन्तर्मुहूर्तकालश्च
२१०	११	इतरम्	इतरत्
२१२	१४	प्रकत०	प्रकृत०
,,	२५	उद्वर्त्त्यं	उद्वृत्य
२१४	१९	॥१२५॥	॥२१५॥
२१५	११	मूत्कृष्टतस्तं	सूत्कृष्टतस्तद्
,,	२२	०षट–	०षट्–
२१६	१४	समयोना०	समयाधिका०
,,	१५	दीशा	दिशा
२१७	५/८	०प्रायोग्यां	०प्रायोग्यायां
,,	१२	तम०	तद०
,,	,,	०प्रमाणाबाधा०	०प्रमाणजघन्याबाधा०
,,	२३	०मुहूर्तेनोन०	०मुहूर्तोन०
२१८	९	प्रारम्यते	प्रारभ्यते
२१९	५	०कायकोगो०	०काययोगो०
२२०	१०	०त्येतासु	०-येतासु
,,	,,	षण्मार्गसु	षण्मार्गणासु
२२२	१७	जघन्याः	जघन्यायाः
२२३	४	,,	,,
२२५	११	०सर्पिणि–	०सर्पिणी–
,,	१८	जघन्याः	जघन्यायाः
२२६	८	०कल्पोपम०	०कल्पोपपम०
,,	१५	०स्थितिरुत्कृष्ट	स्थितिमुत्कृष्ट

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	२६	उत्कृष्टस्थिति०	जघन्यस्थिति०
२२७	२७	०मजघन्या:	०मजघन्याया:
२२८	८	सेसासू	सेसासु
२२९	२	सप्तार्विशति०	सप्तविंशति०
२३१	१९	०त्वेत्रोत्पद्य	०त्वेनोत्पद्य
२३२	४	मार्णणायां	मार्गणायां
२३३	१८	–ऽऽहारेसुं	–ऽऽहारेसु
,,	२८	तत्वम्	तत्त्वम्
२३४	१५	सेसासूं	सेसासुं
,,	१९	०दलिक्षणे०	०दिलक्षणे०
,,	२१	भावाना	भावना
,,	२३	चतुरिन्द्रि–	चतुरिन्द्रिय–
२३५	।	सागरोपम०	१८ सागरोपम०
,,	उपान्त्या	२०४–५	२०३–४
२३७	अन्त्या	विलिखित इति	विलिखितमिति
२४१	८	भणन्ति	भणन्ति
,,	२२	०कर्षाश्व	०कर्षाश्च
,,	२३	यावत्सप्त–	यावदष्ट––
,,	२८	ऽऽयुबन्धा०	ऽऽयुर्बन्धा०
२४२	२	मर्याप्त०	मपर्याप्त०
,,	२०	ऽनुत्कृष्ट०	ऽजघन्य०
२४३	७	रस्परं	परस्परं
,,	२३/२६	०स्यादिप्रमा०	०स्यादिसाग- रोपमप्रमा०
२४४	१४	भवतित्यर्थ:	भवतीत्यर्थ:
,,	२६	०नुत्कृष्टावेति	०नुत्कृष्टैवेति
२४५	८	ऽणुक्कोसाश्र	ऽणुक्कोसाए
२४६	२०	बन्धन्	बध्नन्
२४८	४	निरगत्यो०	निरयगत्यो०
,,	२५	सखंसुणा	सव्वमूणा
,,	,,	॥२६१॥	॥२६१॥(गीतिः)
२४९	२४	०यन्तीति संख्ये०	०यन्तीत्यसंख्येय०
२५१	४	०सम्मेसु	०सम्मेसुं
२५३	५	त्वजन्या०	त्वजघन्या०
२५७	७	०गुणअहीया"	०गुणअहिय"
,,	२२	विभंगेसुं	विभंगेसु
२५९	९	॥२७९॥	॥२७९॥(गीतिः)
,,	११	॥२८०॥	॥२८०॥(गीतिः)
,,	१६	बन्धक' एवेति	'बन्धक एवे'ति
२६०	२	मङ्गोत्कऽबन्ध०	मङ्गोत्काऽबन्ध०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	१५	जघन्या:	जघन्याया:
,,	१६	घन्या:	घन्याया:
२६१	१७	'इतराया.'	'इतरस्या:'
२६४	१०	०नात्मकस्या०	०नात्मका०
,,	१६	तथा	तदा
२६८	२९	जघन्यास्तदितराया	जघन्यायास्तदितरस्या
२६९	७	क्षपकानां	क्षपकाणां
,,	२५	सेसमार्गणा०	शेषमार्गणा०
२७०	अन्त्या	०द्भुक्ता,	०द्भुक्ता:
२७४	१३	अणाणदुगे	अण्णाणदुगे
,,	२१	॥२९६॥	॥२९६॥(गीतिः)
२७५	२५	०कषायेसुं	०कसायेसुं
२७६	५	आयुः कर्मण:	आयुःकर्मण.
,,	२८	०प्रकृतैकक०	०प्रकृतैकैक०
२७८	१९	॥३०४॥	॥३०४॥(गीतिः)
,,	२७	-दारिमिश्र-	-दारिकमिश्र-
,,	२९	०षल्लेश्या-	षड्लेश्या-
२८१	४	स्थानात्वासंख्ये- यभागरूपदे-	स्थानासंख्येय- भागरूपत्वादे-
,,	७	अथऽऽयु०	अथाऽऽयु०
२८२	४	उक्कोमाअए	उक्कोसाअ
२८४	४	तिअहल्लेमासु	तिअसुहल्लेसासु
२८७	१३	रभिहित्वात	रभिहितनत्वात्
२९०	१९	०पुरुत्कृष्ट०	०पुरनुत्कृष्ट०
२९०	३०	निरगत्यादि०	निरयगत्योघादि०
२९१	६	ऽऽयेया ।	ऽऽयेया
,,	१२/१३	(इद पङ्क्तिद्वयमत्र नैव वक्तव्यम्)	
,,	१६	इतिगाथाचतुष्टयेन	इतिगाथाद्वयेन
२९४	४	स्तूऽक्त–	स्तूक्त–
,,	५	०र्बन्धार्हानां	०र्बन्धार्हाणां
२९५	८	०क्षेत्र०	०क्षेत्र०
२९६	२६	०भिना०	०भिन्ना०
२९७	११	षट्जीव०	षड्जीव०
२९८	२९	ऽपर्याप्तन्यतर०	ऽपर्याप्तान्यतर०
२९९	१३	त्रिसषु	तिसृषु
३००	२	सव्वेगिंदि–	सव्वेगिंदिय–
,,	१०	०त्यदि,	०त्यादि,
,,	१५	बायरापज्जेसुं	बायरअपज्जेसु
३०१	५	सेसासु	सेसासुं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	२३	निरगत्योघ०	निरयगत्योघ०
३०३	२३	सत्तण्ह्	सत्तण्हं
,,	२६	जघन्याः	जघन्यायाः
,,	२९	पद्म-अजघन्याः	अजघन्यायाः
३०४	९	णाहारगेसु	णाहारगेसु०
३०६	७	व्याप्नुवन्ति	व्याप्नुवन्ति
,,	१४	०मलयगिरिय०	०मलयगिरीय०
३११	६	स्वप्रायग्यो०	स्वप्रायोग्यो०
,,	१३	आयमतो	आयामतो
,,	२८	सर्वक्षेत्रं	सर्वक्षेत्रं यथा
३१२	७	०तिर्यग्मिश्र	०तिर्यग्मिश्र
,,	११	पथिवीं	पृथिवीं
,,	१६	सम्पद्यते	सम्पद्यन इति समस्ता नव रज्जवः स्पर्शना ।
,,	२५	वर्तमानाकाला०	वर्तमानकाला०
,,	२६	पणऽच्चुए	पणऽच्चुए
३१३	११	अच्चुमपरओ	अच्चुअपरओ
,,	१५	ग्रैवेकदेवा०	ग्रैवेयकदेवा०
३१४	२६	०भिखानां	०भिमुखानां
,,	३०	द्दष्टव्या	द्रष्टव्या
३१५	६	०पञ्चे न्द्रितिर्य०	०पञ्चेन्द्रियतिर्य०
,,	७	तयोत्सित्रो	तयोत्पित्सवो
,,	१६	तसन डीभ	तमनाडीश्र
,,	३१	॥ ३८४ ॥	॥ ३४८ ॥
३१६	४	भावार्थः न-	भावार्थ. पुन-
,,	१४	तिरयम्भि	तिरियम्भि
३१७	४	ऽपिषड्	ऽपि षड्
,,	१०	प्रसुत०	प्रस्तुन०
,,	२०	--इसाणंत०	--ईसाणंत०
३१८	३	०नाड्या	०नाड्या
,,	७	०प्रायोग्यत्कृष्ट०	प्रायोग्योत्कृष्ट०
,,	१७	०तयोत्पिसूनां	०तयोत्पित्सूनां
,,	२३	सप्तपृथिवी०	सप्तमपृथिवी०
,,	२४	षष्ठपर्थिवी०	षष्ठपृथिवी०
३१९	१२	०प्रदेशैः	०प्रदेशै.
,,	१९	सहस्रार०	सहस्रार०
,,	२१	चेत्येषु	चेत्येतेषु
,,	२८	अभिमुखावस्थायां	मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायां

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३२०	८	०नेनत्र सकार्योघ-	०नेन त्रसकायौघ-
,,	२९	सप्तनामु०	सप्तानामु०
३२१	२८	भेदश्चेवं	भेदेष्वेवं
३२२	२१	सामणेसु	सासणेसु
,,	२४	द्विषष्ठि०	द्विषष्ठि
,,	२५	०बन्धकनां	बन्धकानां
३२३	२६	०यांमा रण०	यां मारण०
३२४	१६	प्रागेवभि०	प्रागेवाभि०
,,	२३	०बन्के०	बन्धके०
,,	२४	०भेदष्वि०	ऽभेदेष्वि०
,,	२६/२७	सहस्त्रारा०	सहस्रारा०
,,	२९	स्पष्टं	स्पृष्टं
३२५	६	ओघ०	ओघ०
,,	१७	चत्वारोऽपि	पृथिवीकायवच्चत्वारोऽपि
,,	२४	०संक्लिष्टानां	०संक्लिष्टादीनां
३२६	१८	–दुअण्णाण–	–दुअणाण–
,,	१९	–यियर-ऽऽहार-	यियरा-ऽऽहार–
३२८	१२	०स्थितेबन्धक०	०स्थितिबन्धक०
,,	१३	०एगिंदिय०	एगिंदिय०
,,	२६	भेदा द्ध्वेति	भेदाश्चेति
३२९	७	असख्याशः	असंख्यांशः
,,	८	स्थितिकबन्धस्य	स्थितिबन्धस्य
,,	१२	०जघन्यन्यस्थित्यो०	०जघन्यस्थित्यो०
,,	१७	०णेसुं / ०गेसु	०णेसु / ०येसु
३३०	२४	जघन्या	जघन्यायाः
,,	२८	ओघ०	ओघ०
३३१	५	०मार्गणभेदाः	०मार्गणाभेदाः
,,	९	०भागेऽऽगच्छ०	०भागे आगच्छ०
,,	२९	०भावेन्	०भावेन
३३२	८	गणानामुत्कृष्ट०	गणानामनुत्कृ०
,,	१०	निरगत्यो०	निरयगत्यो०
,,	२४	चतुर्दश०	चतुर्दश०
,,	२९-३०	सर्व०	सर्वे०
३३३	१६	जघन्याः	जघन्यायाः
,,	१८	सर्वलोकस्पर्शनाया एतासु	सर्वलोकभावना त्वेतासु स्पर्शना तु
३३५	१	प्रदर्शक०	प्रदर्शक०
३३५	२५	सज्ञी	संज्ञी

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३३९	५	एगर्गिदिय-	एगिंदिय-
,,	७	०सत्कोत्कृष्ट०	०सत्कानुत्कृष्ट०
,,	१५	०त्कृष्टस्त्यो०	०त्कृष्टस्थित्यो०
३४०	६	०कालस्यपि	०कालस्यापि
,,	१४	दीघातिदीर्घः	दीर्घातिदीर्घः
३४१	४	वाच्य तया	वाच्यतया
,,	७	जघन्यनो	जघन्यतो
,,	९	निष्ठासमयं	निष्ठासमये
३४२	२८	मूलसप्त०	तथा च मूलसप्त०
३४४	३	छन्दानुलोम्या	छन्दोऽनुलोम्या
३४४	५	द्वात्रिंशत्स्वपि	द्वात्रिंशत्यपि
,,	२२	उत्कशेपा	उत्कशेषासु
३४५	१	तीयाधिकारे	द्वितीयाधिकारे
,,	१२	त्रिसृषु	त्रिसृषु
,,	१२	आहरका-	आहारका-
,,	१५	बोद्धयम्-	बोद्धव्यम्-
,,	२७	०बन्धका चौ०	०बन्धकाश्चौ०
३४६	२०	भिन्न भवति	भिन्नमुहूर्तं भवति
३४७	११	ओपशशमिक०	औपशमिक०
३४९	३०	०जीवाश्रययो०	०जीवाश्रयो०
३५०	१४	कोडिओ	कोडीओ
,,	२४	–ओहिसु	–ओहीसु
३५१	५	०दशषु	०दससु
,,	१२	०वद्धिद्भावनीयः	०वद्धिभावनीय.
,,	१३	०पेक्षयास्तोक०	०पेक्षया स्तोक०
३५२	६	सुगमाः	सुगमा
३५३	उपान्त्या	हस्सासु	हस्साए
३५४	९	अकारस्य	आकारस्य
३५५	४	परिमाद्वारे	परिमाणद्वारे
,,	२३	जघन्याः	जघन्यायाः
३५६	३	भिन्नं/मुहुत्तंतो	भिन्न०/मुहुत्तंतो
,,	१४	०पर्याप्तस्त्रस०	०पर्याप्तत्रस०
३५८	१०	०र्नानार्बन्धका०	०र्नानाबन्धका०
३५९	३	उत्कृष्टश्च	उत्कृष्टतश्च
,,	२४	०वायुकायोघ०	०वायुकायौघ०
,,	२९	सर्वद्वैव	सर्वाद्वैव
३६०	१६	–छेदोपस्थान–	–छेदोपस्थापन–
३६३	१४	०घओ–	०ओघ–
३६६	१०	ऽपहीव०	ऽपद्धि व०
,,	१९	स्थितेर्वन्धका०	स्थितेर्बन्धका०
३६७	२२	सर्पिण्य भव०	सर्पिण्यो भव०
३६८	१२	सत्तण्ण	सत्तण्हं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	२५	णाष्व०	णात्व०
३७०	२०	हेशके	हे शके
३७१	१२	-पर्याप्त०	सर्वैकेन्द्रियभेद-पर्याप्त०
,,	१३	०यौघा-ऽपर्याप्त०	०यौघ-पर्याप्त०
,,	१५	मिथ्यात्व-ऽसंज्ञ्य-	मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-
,,	२६	०पेक्षया विव०	०पेक्षया, विष०
३७२	३	च्यवनान्तस्य	च्यवनान्तरस्य
,,	८	बन्धा०	बन्धा०
,,	१५	०मात्रायां	०मात्रत्वे
,,	२३	निविशेन,	निवेशेन,
३७३	६	च्चवना०	च्यवना०
,,	१७	०मश्यं	०मवश्यं
,,	३०	तदन्तस्य	तदन्तरस्य
३७४	४	०जीवश्रया०	०जीवाश्रया०
,,	५	०धिकत्वेऽपि	०धिकत्वलक्षणे तारतम्येऽपि
,,	६	मात्रेण हीना०	०मात्रहीना०
,,	,,	०धिकयाम्नाना०	०धिक्यलक्षणतारतम्यसद्भावाम्नाना०
,,	,,	०न्नल्प०	०त्तुल्य०
३७५	२९	–कायसु	–कायेसु
३७७	२६	पेक्षयाविलक्ष०	पेक्षया विलक्षण०
,,	२८	बुवन्ति	ब्रुवन्ति
,,	३०	०कोडिओडीओ	०कोडिकोडीओ
३७९	९	कुतोऽजघन्य०	कुतो जघन्य०
,,	१०	नामिव	नामपि
,,	२२	द्विषष्ठ्यु–	त्रिषष्ठ्यु –
३८३	३	परिणामिक०	पारिणामिक०
,,	२४	गत्याद्योदयिक०	गत्याद्यौदयिक०
३८४	१३	ऽन्वव्यथभिचार०	ऽन्वयव्यभिचार०
,,	१५	०भावस्य	०भावे
३८६	७	०तरायाः	०तरस्याः
,,	१२	सुहुम्मि	सुहुमम्मि
३८७	९	वाच्यम् ।	चेद् , न,
३८८	३	सर्वेष्वेएके०	सर्वेष्वेके०
,,	१५	उक्कसाए	उक्कोसाए
,,	२४	०शेपाष्वष्ट०	०शेषास्वष्ट०
३८९	२१	–संयमेसु	–सयमेसु
,,	२९	अजघन्याः	अजघन्यायाः
३९०	३	णपुसेसु	णपुंसेसु
३९१	४	पञ्चमनो०	सर्वकायभेदाः,पञ्चमनो०
,,	२८	त्वसंख्येय०	त्वसंख्येय०
३९२	४	मिणकसेसु	मिच्छसेसु

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	२३	सम-	पण-
३९३	१४	०ध्यवसनानां	०ध्यवसानानां
,,	२३	रूपजघन्य०	रूपोत्कृष्ट०
३९६	१९	०गुणाः, सन्ति	०गुणाः सन्ति,
३९७	,,	-मचक्खुसु	-मचक्खूसु
३९९	१५	०द्वारणैव	०द्वारेणैव
४००	११	०प्यबहुत्वं	०प्यल्पबहुत्वं
,,	१५	आयुषो	मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः स्तोक ,स चान्तर्मुहूर्तमानः, ततश्चोत्कृष्टोऽसंख्यगुणः, सप्ततिकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणत्वात् । आयुषो
४०१	१४	संख्येय०	ऽसंख्येय०
,,	१९	चतुर्णां	चतसृणां
४०२	१४	सामाइएसु	सामइएसु
,,	२१	०दाकिमिश्र-	०दारिकमिश्र-
४०३	९	०षल्लेश्या	०षड्लेश्या.
४०५	१२	०कोटोकोट्यो०	०कोटाकोट्यो०
४०६	११	०मार्गणाद्वये	०मार्गणासु
४०७	२७	षल्लेश्या-	षड्लेश्या-
४०८	४	तिघाइणं	तिघाईणं
४०९	३	॥४९८॥	॥४९८॥ (गीति.)
,,	२८	इत्यात्रापि	इत्यत्रापि
४१०	२०	तत्तो	तो
४११	१४	०छेएसु	०छेएसु
४१२	४	०येकोननवति-	येकनवति-
४१८	२	वैक्रियकाय०	वैक्रियमिश्रकाय०
४२१	५	त्रयर्त्रिशत्	त्रयस्त्रिंशत्
४२२	१३	चतुर्णा	चतुर्णां
४२३	२१	निष्ठत:	निष्ठितः
,,	२३	०ग्गिदवसतु	०ग्गिदवसितु
४३४	१३	॥५५६॥	॥५५५॥
,,	१५	॥५५७॥	॥५५६॥
,,	२३/२४	तावश्यां	तावश्यं
४३५	११	भूयोरपि	भूयोऽपि
४३६	१३	तथेवा०	तथैवा०
४३७	१४	मनुष्य०	देवगतिमुत्पत्स्यमाना मनुष्य०
,,	२६	त्रिणि	त्रीणि
४३८	१३	बन्धात् वै	बन्धादूर्ध्वं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४३९	६	आयुवर्ज०	आयुर्वर्ज०
४४०	१५	देशसंयतादि-	देशसंयतादिमार्गणा-
४४२	३	॥५६२॥	॥५६२॥ (गीतिः)
४४३	१५	भूयस्कादि०	भूयस्कारादि०
४४४	१०	०नुकृष्टान्त०	०नुत्कृष्टान्त०
४४७	३	परावृत्यादि०	परावृत्त्यादि०
,,	,,	विनेव	त्रिनेव
,,	२१	असोऽन्तः	असावन्तः
४४९	७	०चरमद्विचरम०	०द्विचरमचरम०
४५१	१७	ऽऽन्तर्मुहूर्तिक०	ऽऽन्तर्मौहूर्तिक०
४५२	७	समुदितासु	समुदितेषु
,,	१६	तथाऽपि	तथाऽपि प्रस्तुते
४५३	२०	कम्म-ऽणाहारेसु	कम्माऽणाहारेसु उ
,,	२२	कम्मणाहा०	कम्माणाहा०
४५४	६	प्रतिपदानं	प्रतिपादन
,,	३०	केवलेऽक्तव्य०	केवलेऽवक्तव्य०
,,	चरमा	पनः	पुनः
४५५	,,	७५	५७०
४५६	१०	०दवक्तव्य०	०दावक्तव्य०
४५७	१७	०वस्थायां प्रत्या०	०वस्थायामप्रत्या०
४५८	२५	उपशश्रे०	उपशमश्रे०
४५९	८	०प्रमाणैरेक०	०प्रमाणैक०
,,	२१	प्रारमते	प्रारभते
४६१	१	द्वितीयाधि०	भूयस्काराधि०
४६२	९	०द्वादश०	०नव०
,,	१२	लमपेक्षया	लापेक्षया
,,	२७	०योगादिचतुःपञ्चा-	योगाद्येकपञ्चा-
,,	२८	०दिषोडषोत्तर०	०येकोनविंशत्युत्तर०
४६३	४	०कोनत्रिंशत्०	०कोनचत्वारिंशत्०
,,	७	षोडशाभ्य०	एकोनविंशत्यभ्य०
४६४	२	निषद्धे	निषिद्धे
,,	६	बन्धो सन्	बन्धः सन्
,,	१२	मिति	तंमिति
,,	१९	त्रिसृणां	तिसृणां
,,	२०	०दियरियाणं	०दियतिरियाणं
,,	२४	०निष्पनायां	०निष्पन्नायां
४६५	६	०योगोदि०	०योगादि०
,,	८	०केकाजीवा०	०केकजीवा०
,,	१२	०र्दर्शन-	०र्दर्शना-ऽवधिदर्शन-

पृष्ठम्	पंक्ति.	अशुद्धम्	शुद्धम्
४६९	१	०बन्स्यैक०	०बन्धस्यैक०
,,	द्विचरमा	मार्गत्रय	मार्गणात्रय
४७०	२१	०मार्गस्वपि	०मार्गणास्वपि
४७१	२	०नोदिष्टे	०नोद्दिष्टे
,,	१६	०त्वोपत्ति०	०त्वोपपत्ति०
४७२	२१	०बन्धकानापद०	०बन्धकपद०
,,	चरमा	नैरन्तेर्येण	नैरन्तर्येण
४७३	८	०भागेष्वस्थिन०	०भागेष्ववस्थित०
,,	१८	०ऽवस्थित०	०ऽवक्तव्य
४७४	२	०मनुष्य-काययोगौघ-	मनुष्य-
,,	१५	-सामयिक०	-सामायिक०
,,	२१	स्थितिबन्धक०	बन्धक०
४७५	१५	०मानयनाय	०स्यानयनाय
४७६	१२	उक्ता,	उक्ता.,
४७७	१	द्वितीयाधिकारे०	भूयस्काराधिकारे०
,,	५	०स्थितबन्धको०	०स्थितिबन्धको०
४७९	१०	लब्धया	लब्ध्या
,,	२०	पढामाईओ	पढमाईओ
४७९	२१	फलानि०	फलानी०
४८०	४	द्वितिया:	द्वितीया:
४८२	१५	भावनात्वो०	भावना त्वो०
४८४	१०	सेसासुं	सेसासु
,,	१५	तुइत्यर्थः	इत्यर्थः
४८५	१०	०सर्व०	०त्रिविधस्थिति-
,,	२०	सर्वेस्वे०	सर्वेष्वे०
४८६	७	०कातन्मिश्र	०कतन्मिश्र०
,,	११	पदद्वयस्या०	पदद्वयस्या०
४८७	१	द्वितीयाधिकारे	भूयस्काराधिकारे
४८८	८	०स्कारदि०	०स्कारादि०
४८९	२४	स्वस्थानस्तु	स्वस्थानतस्तु
४९०	२०	अथोक्त शेष०	अथोक्तशेष०
४९२	११	इत्येनोद्दिष्टे	इत्यनेनोद्दिष्टे
४९३	८	कासुचिन्मा-	मा-
४९५	३	पञ्चस्व०	पञ्चस्व०
४९६	२६	-दारिक०	-हारिकौ-दारिक०
४९७	१	द्वितीयाधिकारे	भूयस्काराधिकारे
,,	१४	०त्येवमेक	०त्वेवं द्वि०
४९९	७	भूमाराईणं	भूगाराईण
५००	१४	०जीर्विका०	०जीविता०
,,	२८	०माणं संख्येयं	०माणमसंख्येयं
५०१	३	तद्बन्धकना०	तद्बन्धकाना०
५०३	१८	ऽस्ति	ऽस्थि
,,	१९	सेसासु,	सेसासुं
,,	२६	ऽवस्थिता०	ऽल्पतरा०
,,	२७	तिरये	तिरिये
५०४	१४	०पादनीयेति	०पादनीय इति
,,	२१	प्रतिषिद्धः,	प्रतिपादितः,
५०५	४	ऽवस्थित०	ऽल्पतर०
,,	११	०स्तथाऽपर्याप्त०	स्तथा पर्याप्त०
,,	१६	बन्धकाना	बन्धानां
,,	,,	जीवाश्र०	जीवाश्रय०
५०७	१५	वेउवमीस०	वेउव्वमीस०
५०९	६	निरयगति-	निरयदेवगति-
५१०	यन्त्रे	२ मुहूर्ता	१२ मुहूर्ता.
,,	यन्त्रे	सव्वाद्धा	नास्ति
,,	चरमा	सव्वह	सव्वह होइ
५११	३	प्रकृतेभूयस्का०	प्रकृतेर्भूयस्का०
,,	६	न च	ननु
,,	१०	०हानलक्षणस्थिति०	हानि स्थिति०
,,	१०	०भावरूप	०भावरूपा.
,,	१६	प्रकृतिबन्ध	प्रकृतिबन्धे
५१३	१९	चः पादपूर्त्यै	चः समुच्चये
,,	१९	। चः प्राग्वत् ।	तथा
५१५	२४	अवत्तव्वस्स	ऽवत्तव्वस्स
,,	२६	०इत्यादि	०त्यादि
५१६	७	०हारगदुग-	०हारदुग-
,,	८	'भूयस्काराद्यो'	'भूयस्काराद्योः'
,,	१०	०हारदुगे"	०हारगदुगे"
,,	१७	ततोऽल्पतरस्य ।	तेभ्योऽल्पतरस्य,
,,	१८	अवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽल्पतरस्य	संख्येयगुणाः, तेभ्योऽवस्थितस्य
५१७	२०	समईअ	समइअ
५१८	२	स्यत्वसंख्येय-	स्यसंख्येय-
	४	मार्गस्थानेषु	मार्गणास्थानेषु
५२०	१०	विरुध्येत्	०विरुध्येत
,,	२५	बोद्धम्	बोद्धव्यम्

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५२१	२८	सद्भूते	सद्भूतम्
५२२	अन्त्या	जेट्ठठिइ	जेट्ठठिइ
५२३	अन्त्या	–उप–	–उवरि–
५२४	९	यवध्या०	यवमध्या०
,,	१७	०यवमाध्या०	०यवमध्या०
,,	२१	०स्पृशामि०	०स्पृशामि०
,,	२४	सकुणइ	स कुणइ
५२५	१	ओघत्	ओघत
,,	२६	०त्सुकृष्टं	०मुत्कृष्टं
,,	२८	०स्यानाऽकारो–	०स्याऽनाकारो–
५२६	१०	–पम्हा–सण्णीसु	-पउम–सण्णीसु
,,	अन्त्या	०मर्वाग	०मर्वाग्
५२७	१७	साकारक्खयेण	सगारक्खयेण
५२८	१८	सम्भवज्येष्ठ०	सम्भवज्ज्येष्ठ०
५२९	१६	द्वितियो	द्वितीयो
५३०	९	०मुपादत्तम्	०मुपात्तम
,,	१६	यः/ तं/	यत / तत् /
५३१	५	०ऽसामञ्जस्यपरि०	०ऽसामञ्जस्य परि०
,,	१६	–कपोता०	–कापोता०
,,	२४	"पणिंदिया"	"पणिंदिया"
५३२	२१	त्ति साका०	साका०
,,	२८	किरिअ	करिअ
५३३	२	जो कुब्जा	कुब्जा जो
,,	१९	मनन्तरद्धायां	मनन्तराद्धायां
५३५	६	सत्तण्ह्	सत्तण्ह्
,,	७	वड्ढ	वड्ढी
,,	२०	स्थितिनामेक०	स्थितीनामेक०
५३६	३	जणियव्वा	जाणियव्वा
,,	७	०णाहारेसु	०णाहारेसु
,,	२३	तिघाईणं	तिअघाईणं
५३७	१३	०मार्गणयोः	०मार्गणासु
,,	१४	०सम्यक्त्वौघो०	सम्यक्त्वौघ-वेदको०
५३९	११	हानेरुत्कृष्ट०	हानेरुत्कृष्ट०
,,	१६	वाणारस्यं	वाणारसीं
,,	२०	०त्वादू	०त्वाद्वेदू
५४०	११	०मपेक्ष्याऽल्प०	०मपेक्ष्य यथाऽल्प०
,,	२३	सखगुणा	संखगुणा
५४१	१०	तुल्य०	संख्यातगुण०
,,	११	संख्यातगुण०	तुल्य०
५४४	८	हानिश्च अस्य,	हानिश्च, अस्य

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५४५	२१	मूल०	समानां मूल०
५४६	१८	ऽ-वक्तव्ये	-ऽवक्तव्यलक्षणे पदक्रमे
,,	२१	चउविहा	चउव्विहा
,,	२४	–सयमेसु	संयमेसु
५४९	४	०लेश्या-ऽभव्य०	०लेश्या-भव्य०
५४९	१४	द्वेव	द्वे एव
५५०	२०	बध्यप्रायो०	बन्धप्रायो०
,,	२०	क्रमाद्विज्ञेया	विज्ञेयाः
,,	२४	अन्यास्तु	अन्या तु
,,	१८	०मात्राधिक०	०मात्रहीन०
५५०	४	द्व एव	द्वे एव
,,	५	सद्भूत इति	सद्भूते इति
,,	३०	ननु	ननु किमर्थं
५५१	६	त उपपाद्येते	ते उपपाद्येते
,,	१५	त्वसती–	त्वसती इ–
,,	२५	०ह्रान्यपि	हानी अपि
५५३	१२	न मार्गणाभावी,	नोक्तमार्गणाभावी
५५४	१३	त्यादि,	इत्यादि,
५५५	२६	०वृद्धयादि	०वृद्धयादि०
५५६	५	०भागवृद्धयादि०	०भागवृद्धयादि०
,,	१५	उवसामगो	उवसामगो उ
५५७	६	मागणासु	मार्गणासु
,,	१३	मनाऽऽह–	मना आह–
,,	२८	पट्सयम०	पञ्चसंयम०
५५९	१६	स्याद् ?	किं न स्याद् ?
,,	१७	अतस्तस्यो–	अतस्तस्या उ–
,,	२१	०कालसमय०	०कालः समय०
५६१	२३	०न्तरमाह –	०न्तरमाह–
५६२	२१	जघन्यः काल.	जघन्यमन्तरं
,,	२१	निकालवत्	न्यन्तरवत्
,,	२२	मात्रो	मात्रं
,,	२९	वृद्धिहान्योराह	०गुणवृद्धिहानीनामाह
५६४	५	वड्ठिहाणीणं	वड्ढिहाणीणं
,,	१८	०कायोग्य०	०काययोग्य०
,,	२८	'कम्म–	'कम्मा–
५६७	१५	०योसामान्यौ-	०योगसामान्यौ-
,,	१६	शुक्लेश्या०	शुक्ललेश्या०
५६८	२४	तदेवं····यन्नाह-	तदेवं भणितं सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धि- हान्युत्कृष्टान्तरमादेशतः, अधुना सं- ख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिबन्ध-

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
			वृद्धिहान्योस्तद्दर्शयन्नाह-
५६९	९/१०	संख्येयगुण०	संख्येयभागगुण
,,	१२	परावर्त्य परावर्त्य	परावृत्य परावृत्य
,,	१६	ऽसख्येयभाग-	ऽसंख्येयभाग-
५७१	२	नरकत्यो०	नरकगत्यो०
,,	४	भागादि/नीनामु०	भाग/निपदद्वयस्यो
,,	५	द्विनवति०	एकनवति०
५७२	७	वड्ढिढणीओ०	वड्ढिहाणीओ
,,	२५	ऽचक्खूसु	ऽचक्खूसु
५७३	३	सगड्ढिहाणीओ	सगवड्ढिहाणीओ
५७५	१५	०भेदेषु,अपर्याप्त०	०भेदेषु,सर्वदेव- भेदेषु, सर्वपञ्चेन्द्रिय- तिर्यग्भेदेषु, अपर्याप्त०
,,	२८	०द्वयोः,	द्वयोर्मनुजगतिभेदयोर्द्वयोः
५७६	२	०भेदष्वपि	०भेदेष्वपि
५८०	१७	अपर्याप्त०	मनुष्यौघ,अपर्याप्त०
,,	२६	०व्यतिदिष्टि०	०व्यतिदिष्ट०
५८२	२०	संख्येयभागा-ऽ	-संख्येयभाग-
५८३	२३	०योगेषु,	०योगेषु नपुं- सकवेदकपायचतुष्कयोः,
,,	२४	-ऽप्रस्त०	ऽप्रशस्त०
,,	२६	खल्वधारणे	खल्ववधारणे
५८४	२	त्रिंशदुत्तर०	त्रिंशत्युत्तर०
५८५	६	तह	तह्रा
,,	१२	काययोग०	प्रत्येकवनस्पतिकायौघ- तदपर्याप्तयोः, काययोग०
५८६	२	बादरा-	बादर-
५८८	६	नवषु/ पञ्चरव०	नवसु/पञ्चस्व०
५९१	१२	०गत्योगादि०	०गत्योघादि०
,,	२५	सेसासु	शेषासु
५९२	१९	०भागवढ्ढि०	०भागवृद्धि०
५९६	७	मेकजीवा०	मनेकजीवा०
६००	७	लभ्यतऽते०	लभ्यतेऽत०
६०१	५	मप्रत्यन्तसु हूर्तम्-	प्रत्यन्तर्मुहूर्तम्-
,,	१३	०षल्लेश्याः	षड्लेश्याः
६०४	९	तान्हितो	ताहिन्तो
६०७	८	०भेदषु,	०भेदेषु,
६०८	४	०बन्धकपा	०बन्धरूपा

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६१०	८	तान्हितो	ताहिन्तो
६११	१६	सप्तनामा०	सप्तानामा०
,,	२५	०यवेत्न	०यत्वेन
६१२	८	सत्यके०	सत्येक०
,,	२०	गतपदे०	गतवेद०
६१६	५	तेभ्यो संख्येय०	तेभ्योऽसंख्येय०
६१८	८	पदद्वयं	पदद्वयं
,,	१८	०प्रकृतीनम०	०प्रकृतीनाम०
६१९	त्रिचरमा	६०	९१
६२५	३	उद्दिशनाह-	उद्दिशन्नाह-
,,	४	अञ्सवसण०	अज्झवसण०
६२६	४	०वसनानि	०वसानानि
,,	२६	गंतु गतु	गंतुं गंतुं
६३०	२१	षट्पञ्चाद०	षट्पञ्चाशद०
६३३	१८	०नियमशाद०	नियमवशाद०
६३७	१०	'स्थति०	'स्थिति०
६३८	३	बधमाणस्स	बंधमाणस्स
,,	१६	०मनुकृष्टेरिव	मनुकृष्टेरिव
६४१	१५	०लक्षस्य	०लक्षणस्य
,,	१८	०वृत्तः सन्न	०वृत्तयोः सतोर०
६४६	२२	ऽभिधान	ऽभिधाने
,,	२७	०प्रयोग्य०	०प्रायोग्य०
६४८	९	चूर्णिप्रथा०	चूर्णिग्रन्था०
६५०	२८	०वड्डिठ०	०वड्ढि०
६५२	१३	परंपरोनिधया	परम्परोपनिधया
,,	१४	०बंकै	वंकै-
६५३	१५	बन्धाप्रायोग्या	बन्धप्रायोग्या
,,	२१	उवरिं मीस्से	उवरि मीसे
,,	२३	होइ	होइ
६५५	२१	०सातवदनीय०	०सातवेदनीय०
६५६	८	स्थिति०	मिश्रोपयोगे बन्ध- प्रायोग्यानि स्थिति०
,,	२७	०रोपोयोगे	०रोपयोगे बन्ध,
६५९	११	०चूर्णोक्त०	०चूर्ण्युक्त०
६६२	६	ता	ताउ
६६३	१६	०गुणः	०गुणा
६६३	३०	चठाण०	चउठाण०
६७०	चरमा	०सूरीति	०सूरिरिति
६७२	७	ने सुना	नेप्सुना
,,	११	यादृमू०	यावद्मू०

